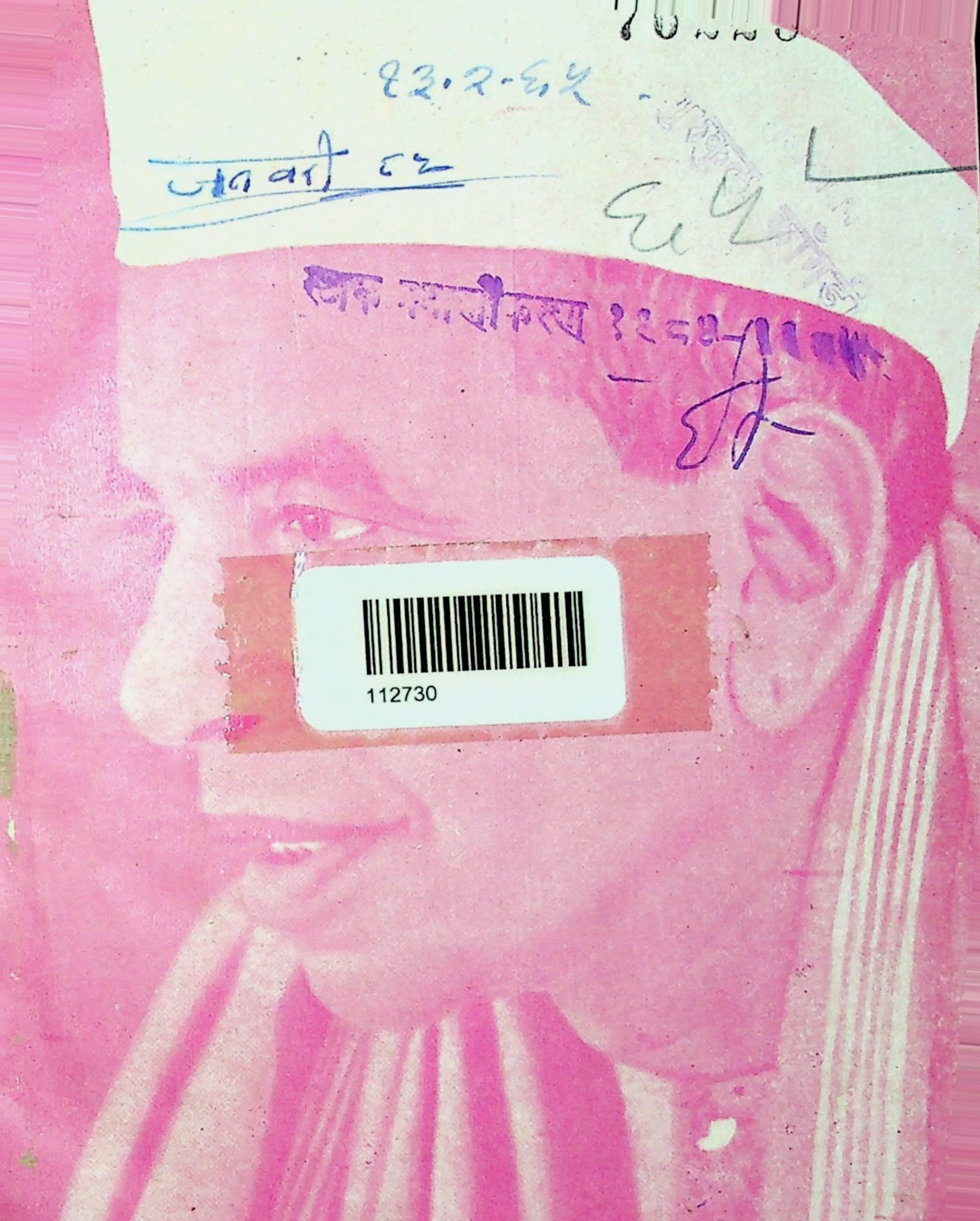


राम तुम्हारा वृत्त स्वयं ही काव्य है,
कोई कवि बन जाय, सहज सम्भाव्य है।

१ रुपया

——मैथिलीशरण

एक भाषा – एक लिपि

अब एक लिपि से ही अधिकतर एक भाषा इष्ट है ।
जिसके बिना होता हमारा सब प्रकार अनिष्ट है ।
अतएव है ज्यों एक लिपि के योग्य केवल नागरी
त्यों एक भाषा योग्य है 'हिन्दी' मनोज्ञ उजागरी ।

× × ×

एक भाषा के बिना हम एक हो सकते नहीं ।

——श्री मैथिलीशरण गुप्त

सप्त-सिन्धु

(मासिक प्रकाशन---दिसम्बर-जनवरी, १९६५)

सम्पादक—डा० परमानन्द

परामर्श समिति

*** श्री कृष्ण मधोक**
(सहायक निदेशक, अनुवाद)

***श्री त्रिलोकी नाथ 'रञ्जन',**
(सहायक निदेशक, कोश)

***श्री ओम्प्रकाश भारद्वाज, संयोजक**
(सहायक निदेशक, विकास)

*** श्री गुरुदत्त शर्मा**
(सहायक निदेशक, अनुवाद)

*** श्री हरिचन्द पाराशर**
(सहायक निदेशक, अनुवाद)

हिन्दी विभाग, पंजाब, पटियाला

सम्पादकीय

२६ जनवरी १९६५--हिन्दी दिवस

भारत ने गान्धी जी के नेतृत्व में स्वातन्त्र्य-संग्राम में पूर्ण विजय प्राप्त की। इसीलिये शहीदों ने अमर बलिदान दिये थे। अंग्रेजी राज्य यहां से चला गया। भारत में भारतीयों का शासन हुआ। परन्तु चिर-दासता के कारण स्वतन्त्र भारत अपनी भारती को राज्य सिंहासन पर न बिठा सका। अंग्रेजी का आधिपत्य यहां उसी प्रकार बना रहा। शासन व्यवस्था में भारतीय भाषाओं को स्थान देना नेताओं का कर्त्तव्य था। स्वर्गीय प्रधान मन्त्री पूज्य श्री जवाहरलाल जी के नेतृत्व में एक स्वर में भारत की राज्य–भाषा हिन्दी घोषित की गई परन्तु हिन्दी को सर्व-समृद्ध बनाये बिना वह कैसे सफल शासन-भाषा बन सकती थी। संविधान में सभी क्षेत्रीय भाषाओं को राष्ट्र–भाषाएं घोषित किया गया। हिन्दी को भारत की राष्ट्र-भाषा का सर्वोच्च स्थान मिला। राजर्षि पुरुषोत्तमदास, मान्य डा० राजेन्द्र प्रसाद तथा सभी हिन्दी प्रेमी इससे हर्षित हुए और सभी ने इस निर्णय को स्वीकार किया कि २६ जनवरी १९६५ को हिन्दी को इस उच्च आसन पर आसीन कर दिया जाय।

बड़े सौभाग्य का विषय है कि २६ जनवरी १९६५ का वह पुण्य पर्व आ रहा है। भारत सरकार ने घोषणा की है सभी हिन्दी–भाषी प्रदेशों में सभी राज काज, पत्र–व्यवहार आदि हिन्दी में किये जाएं, राज्य सरकारों ने भी इस कर्त्तव्यप्रधान आदेश का पूर्ण स्वागत किया है। इसलिये इस वर्ष आने वाला गण-तन्त्र दिवस एक ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। इस दिन हिन्दी प्रेमियों के लिए आत्म-निरीक्षण का अवसर है। उन्हें यह अपने व्यवहार से सिद्ध करना होगा कि वे हिन्दी के प्रचार और प्रसार में कितना योगदान देते हैं। यद्यपि शासक वर्ग

इसे अपनाने को प्रस्तुत हो रहा है परन्तु हिन्दी को तो जनवाणी का स्थान लेना है । हम इसे केवल राज-भाषा का स्थान देकर अपने आपको कृतकृत्य नहीं समझ सकते । देखना है हिन्दी प्रेमी अपनी साधारण दिनचर्या में इसे स्थान देते हैं या नहीं । अभी तक तो देखने में यही आता है कि बहुत से हिन्दी प्रेमी भी मिथ्या गौरव को प्राप्त करने के लिये या अपनी बहुज्ञता बताने के लिए--हिन्दी को छोड़ कर अंग्रेज़ी में भाषण देने में गौरव समझते हैं, यहां तक कि घरेलू बोल-चाल में--अपने बाल-बच्चों, सगे सम्बन्धियों-- के साथ--बात करते हुए अंग्रेज़ी या अंग्रेज़ी-बहुल हिन्दी का प्रयोग करते हैं । ऐसे अव्यवस्थित व्यक्तियों से हिन्दी को कोई साहाय्य मिल सकता है-- यह वे ही जान सकते हैं । ये तो एक प्रकार से अंग्रेज़ी के प्रचारक और अपनी बहुज्ञता के प्रसारक ही हैं । यदि हिन्दी को जनवाणी का स्थान देना है तो हमें उचित है कि इसे वह स्थान अवश्य मिले जो आजकल न्यूनातिन्यून अंग्रेज़ी को प्राप्त है ।

इसके लिए कुछ सुझाव नीचे दिये जाते हैं जो हिन्दी प्रेमियों को अपनाने चाहिए :-

(१) हमें चाहिए कि अपना सभी पत्र-व्यवहार हिन्दी में ही करें ।

(२) डाकघरों या बैंकों में जो आपका निजी लेखा हो तत्सम्बन्धी सभी पत्र-व्यवहार हिन्दी में करें ।

(३) चैकों को हिन्दी में भरें । अपने हस्ताक्षर भी उन पर हिन्दी में करें ।

(४) अपने नाम-पट्ट यह सभी हिन्दी में लिखवाइए ।

(५) जो साहित्यिक या सामाजिक आयोजन एवं समारोह आप करते हैं तदर्थ निमन्त्रण-पत्र हिन्दी में भेजें और उन समारोहों में कार्यक्रम भी हिन्दी में चलाया जाय ।

(६) जो आप लिखते हैं वह पहले ही हिन्दी में लिखें । यह नहीं कि पहले अंग्रेज़ी में लिख कर पुनः उसका हिन्दी अनुवाद करें । इसके बिना आप अंग्रेज़ी की दासता से उन्मुक्त नहीं हो सकते ।

(७) हिन्दी को अपनी विचारधाराओं के व्यक्त करने का प्रथम साधन बनाएं। ऐसी कोई विचारधारा नहीं हो सकती जिसको आप अपनी भाषा में तो ठीक न कह पायें प्रत्युत विदेशी भाषा में सुविधा से कह सकें।

(८) भाषा ही किसी देश की संस्कृति का आधार होती है उससे राष्ट्र अथवा व्यक्ति अपनी विचारधारा, चरित्र-निर्माण या आदर्श बनाते हैं। यदि हम विदेशी भाषा को अभिव्यक्ति का साधन बनायेंगे तो हम उसकी संस्कृति को भी अज्ञात रूप से अपना रहे होंगे। हमारा आदर्श राम और कृष्ण—गुरु नानक या समर्थ गुरु राम दास नहीं हो सकेंगे। हम तब अज्ञात रूप से सेण्ट पाल या अन्य तद्देशीय महापुरुषों को अपना रहे होंगे। उर्दू में लिखने वाला भारतीय भी कहता है कि "रुस्तम के समान बलवान्" उसे भीम के बल को स्मरण रखना कठिन हो जाता है। भाषा, संस्कृति और देश तीनों का अटूट सम्बन्ध है। अतः हमें हिन्दी को मुख्यतया अपनाना होगा। बोलचाल या दैनिक व्यवहार से भाषाएं समृद्ध बनती हैं, अन्यथा वे बन्धन-ग्रस्त होकर विलुप्त हो जाती हैं।

कितने सौभाग्य का दिन यह १९६५ का जनतन्त्र दिवस है जो हमें भारत के जनजन में एकता लाने के लिये प्रोत्साहित कर रहा है। काश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक के निवासी जब एक भाषा के द्वारा वार्तालाप करेंगे तो प्रान्तीयता के संकुचित विचार जो विघटन-कारक हैं——स्वयं नष्ट हो जायेंगे।

हमारा पाठकों से निवेदन है कि वे राष्ट्र-एकता के लिये एक भाषा के महत्त्व को जानें और हिन्दी के प्रति अपना कर्त्तव्य निभा कर स्वतन्त्रता को अपने देश में अमर बनाएं।

५/ ??

शोक समाचार

राष्ट्रकवि का निधन

मां भारती पर मृत्यु का एक और वज्राघात! रांगेय राघव, गोपालसिंह नेपाली, पण्डित राहुल सांकृत्यायन और गजानन मुक्तिबोध के आकस्मिक विछोह ही असहनीय लग रहे थे। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त भी अचानक ही हमें छोड़ कर चले गए। हम उनके बिना कितना असहाय अनुभव कर रहे हैं। दैवेच्छा वलीयसी। मां भारती के गीतों का अनुपम रचयिता चला गया।

--सम्पादक

श्री पूज्य आचार्यवर पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु का आकस्मिक निधन

'सप्तसिन्धु' के समस्त पाठकों को यह जानकर अत्यन्त दुःख होगा कि श्री पूज्य पण्डित ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु का पौष कृष्ण ३, सोमवार सं० २०२१ तदनुसार २१ दिसम्बर १९६४ रात्रि सवा दो बजे हृदय-गति के अवरोध से अचानक स्वर्गवास हो गया।

--सम्पादक

पद्म-भूषण पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु

डा० परमानन्द

गत २२ दिसम्बर के दिन एक ऐसे वेद-विद्या के विद्वान् पण्डित का देहावसान हो गया है जिसकी क्षति-पूर्त्ति निकट भविष्य में सर्वथा असम्भव है। तपस्या की मूर्त्ति संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित श्री ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु का भौतिक शरीर अब इस संसार में नहीं रहा परन्तु उनकी दिगन्त-व्यापिनी निर्मल कीर्त्ति-चन्द्रिका अब भी भुवन-मण्डल को आलोकित कर रही है।

पं० ब्रह्मदत्त जी मेरे पूज्य पिता श्री पं० परशुराम जी (अमृतसर निवासी) के अभिन्न-हृदय-मित्र थे। विचार-सादृश्य, शास्त्र-चर्चा और ऋषि दयानन्द की विचार, धारा के प्रति अगाध श्रद्धा में ये दोनों विद्वान सहमत थे। इनकी वैदिक तथा अन्य मीमांसा शास्त्र सम्बन्धी चर्चा इतनी गम्भीर होती थी कि साधारण विद्वानों की ज्ञान-परिधि से बाहर होती थी। मैं उन दिनों में छात्रावस्था में था—जब ये चर्चाएं होती थीं। इनका मुझ पर स्थायी प्रभाव अब तक है। साधारण रूप में शास्त्र चर्चा करते हुए विद्वानों में वैमत्य के कारण विरोध और मात्सर्य आ जाता है परन्तु मैंने इन दोनों की प्रीति में उत्तरोत्तर वृद्धि और घनिष्ठता ही पाई। पं० ब्रह्मदत्त जी जब अमृतसर या पंजाब में आते तो हमारे घर को अवश्य पवित्र करते थे। अभिमान तो उनमें नाम मात्र भी न था। पाण्डित्य की वे मूर्त्ति थे और यावदायु ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करके उन्होंने तन-मन से वेदों के परिशीलन में समय व्यतीत किया।

मेरे साथ पं० ब्रह्मदत्त जी का सम्पर्क भी बहुत देर से रहा है। उनका मेरे प्रति अक्षय स्नेह रहा है। अपने हृदय में वैदिक वाङ्मय के प्रति मेरी धारणा देख कर वे प्रसन्न होते थे।

मेरा पण्डित जी से सम्बन्ध तबसे है जब वे लाहौर में रावी के रम्य तट पर श्री विरजानन्द ब्रह्मचर्य आश्रम के अधिष्ठाता थे। मैं उन दिनों में डी०ए०वी० कालेज कमेटी के अधीन ब्रह्म महाविद्यालय लाहौर का आचार्य था। साथ ही मैं आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा लाहौर का उपमन्त्री था और सभा के मुख्यपत्र आर्य जगत् का अवैतनिक सम्पादक भी था। सभा के प्रधान उन दिनों में महात्मा

खुशहाल चन्द जी, जो अब महात्मा आनन्द स्वामी जी के नाम से ख्यात हैं,थे । मेरे मन में इच्छा हुई कि पंजाब यूनिवर्सिटी की शास्त्री तथा संस्कृत एम० ए० की परीक्षाओं में जहां सायण का वेदभाष्य नियत है या संस्कृत एम०ए० में अन्य देशी विदेशी विद्वानों के भाष्य नियत हैं--उन के साथ ऋषि दयानन्द का भी भाष्य नियत हो, चाहे वह विकल्प रूप में ही हो । जो छात्र पढ़ना चाहें वे पढ़ सकें ; तब मैंने पूज्य पं० ब्रह्मदत्त जी से परामर्श किया । वे एतदर्थ तत्काल मान गये । हम दोनों एतदर्थ पंजाब यूनिवर्सिटी संस्कृत विभाग के अध्यक्ष मान्यवर डाक्टर लक्ष्मण सरूप जी से मिले । यह बात १९३७ या १९३८ की है । हमारी बात सुन कर डाक्टर साहब ने कहा कि आप का कहना ठीक है परन्तु अभी शास्त्री परीक्षा में ऐसा कर दिया जाय और एम०ए० के विषय में तदनन्तर देखा जायेगा । साथ में उन्होंने यह भी कहा कि अन्य बोर्ड के सदस्यों को भी मिल लें । मैं तो यत्न करूँगा । तब हम दोनों अन्य सदस्यों को मिले । परन्तु उन को इस विषय में सहमत कराना कठिन हो गया । वास्तव में बात यह थी कि उनका ऋषि दयानन्द के प्रति श्रध्दा-भाव तो था नहीं और न उन्होंने उसे पढ़ने का प्रयत्न ही किया था । केवल एम०ए० परीक्षा में विदेशी विद्वानों के भारतीय परम्परा-विरोधी भाष्य ही पढ़े थे--और उनकी धारणा बनी हुई थी कि सायण महीधर या विदेशी विद्वान् ही वेद का ठीक अर्थ जानते हैं--हमने बहुत समझाया और पं० ब्रह्मदत्त जी ने कुछ मन्त्र भी दिखाए जिनका महीधर कृत भाष्य सर्वथा घृणित तथा त्याज्य है । परन्तु पक्षपात के कारण सहमत न हो सके । तथापि डा० लक्ष्मण सरूप जी की सहायता से विकल्प रूप में हम दयानन्द का भाष्य शास्त्री परीक्षा में नियत करा पाये । इसके लिये हमें कितनी बार सदस्यों के घर जाना पड़ा--यह हम ही जानते हैं ।

उन दिनों में पं० ब्रह्मदत्त जी ने ऋषि दयानंद के यजुर्वेद भाष्य का वैज्ञानिक शैली पर सम्पादन प्रारम्भ किया हुआ था और देश विभाजन से पूर्व एक भाग उन्होंने प्रकाशित भी कर दिया था ।

ऋषि दयानन्द के अनन्त अनेकों विद्वानों ने वेद पर लिखा परन्तु उन में ऋषि दयानन्द के मन की बात न होती थी और न ही उन में वह विद्वत्ता थी । पं० जिज्ञासु जी ने अपने शरीर को तप की अग्नि में तपा कर वह ज्योति प्राप्त कर ली थी कि उन्हें वेद के तत्त्व साक्षात् भासित होने लगे । मैं तो यह समझता हूँ कि ऋषि दयानन्द के भाष्य को यदि किसी ने उन की मृत्यु के अनन्तर समझने का प्रयत्न किया है तो वे पं० ब्रह्मदत्त जी थे । शास्त्रों का उन्होंने गम्भीर अध्ययन किया हुआ था । पाणिनि शैली से व्याकरण पढ़ाने में

वे महाप्रवीण तथा निष्ठावान् थे ।

कहते हैं कि स्वामी श्रद्धानन्द जी ने गुरुकुल कांगड़ी का उद्घाटन केवल इसी आशय से किया था कि देश में विदेशी शिक्षा प्रणाली प्रचलित थी और उससे वह देश का उद्धार होना असम्भव समझते थे । साथ में ही ऋषि दयानन्द ने जो सत्यार्थ प्रकाश में शिक्षा प्रणाली लिखी थी, उसे प्रचलित किया जाय : परन्तु यह स्वामी श्रद्धानन्द जी की गौरवमयी भावना आज तक भी सफल न हो सकी । गुरुकुलों में भी पौराणिक ढंग से ही व्याकरण शिक्षा दी जाने लगी । स्वामी दयानन्द का सुनहरा स्वप्न साकार होने को न था । उस समय श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट को एक ऐसा वीतराग निष्ठावान् बाल ब्रह्मचारी और ऋषि भक्त विद्वान् मिला जो ऋषि के स्वप्न को साकार रूप देने में समर्थ हो सका है । वह पं० ब्रह्मदत्त जी थे । कितने विद्वान् और कितने निरहंकार !! अभिमान और अहमन्यता तो उन्हें छू ही नहीं पाई थी । राम लाल ट्रस्ट अवश्य धन्यवाद का पात्र है जो ऐसे ऋषितुल्य विद्वान् का सफल सहयोग प्राप्त कर सका । पं० ब्रह्मदत्त जी ने पाणिनि महाविद्यालय में व्याकरण पढ़ाना शुरू किया तो केवल तीन वर्षों में वे छात्रों को व्याकरण का मर्मज्ञ बना देते थे । इनके छात्रों की बहुज्ञता अखिल भारतीय संस्कृत सम्मेलनों के अवसरों पर शलाका परीक्षाओं द्वारा प्रमाणित हो चुकी है । यदि यह कहा जाय कि इनके छात्रों की छोटी आयु और ऊंची शिक्षा को देख कर विद्वान् मन्त्र-मुग्ध हो जाते थे तो अत्युक्ति नहीं ।

इसके अतिरिक्त इन्होंने वेदों पर बहुत कुछ लिखा और जो लिखा वह स्वामी साहित्य का अंग बन चुका है । ऋषि भाष्य (यजुर्वेद) का सम्पादन विद्वत्तापूर्ण नोटों सहित किया । अष्टाध्यायी पर ऋषि भाष्य को प्रकाशन में इन्होंने ही लाने का प्रयास किया ।

इनकी इस अभूतपूर्व विद्वत्ता को देख कर भारत सरकार ने राष्ट्रपति के द्वारा इन्हें सम्मानित करवाया । इन्हें पद्म-भूषण की उदात्त पदवी प्रदान की गई । पंजाब यूनिवर्सिटी एवं वाराणसी विश्वविद्यालय के वे वर्षों तक परीक्षक बनते रहे । जो कुछ मिलता वह अपने पास कभी न रखते ।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के अनन्तर वाराणसी में रहते हुए पं० ब्रह्मदत्त जी ने वेद विज्ञान के प्रसार के लिए एक मासिक पत्रिका 'वेद वाणी' नाम से निकालनी प्रारम्भ की । यह अपने ढंग की एक निराली पत्रिका है । वेद के विषय में इससे अच्छी कोई पत्रिका भारत भर में नहीं निकल रही । इसके विशेषांक 'वेदांग' के नाम से निकलते हैं जिनमें उच्च कोटि के विद्वानों के लेख होते हैं ।

ऐसे तपस्वी महा विद्वान् के निधन से देश को जो हानि हुई है—वह स्थायी है । अतः संस्कृत जगत् विशेषतः वैदिक विद्वान् इससे दुःखी हैं । ○○○

राष्ट्र कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त : एक साहित्यिक मूल्यांकन

प्रो० बलराज

जन्म : ३ अगस्त, १८८६ ।

साकेतवास १२ दिसम्बर, १९६४

'कनक ने' मैथिलीशरण गुप्त के जन्म के समय वह देश व्यापी वैचारिक आंदोलन पर्याप्त प्रगति कर चुका था जिसे पुनरुत्थान के नाम से अभिहित किया जाता है । परतंत्रता की शृंखलाओं में जकड़ा हुआ राष्ट्र अपनी पुरातन सभ्यता, संस्कृति तथा विचार सरणियों से पराङ्मुख और उदासीन होकर पाश्चात्य सभ्यता की भौतिक प्रगति और ऐन्द्रजालिक तड़क भड़क तथा तज्जन्य बौद्धिकता से अभिभूत हो कर असमंजस में पड़े हुए विस्मय विमुग्ध व्यक्ति के समान चौराहे पर दिग्भ्रमित सा खड़ा था । ब्रह्म समाज के प्रवर्त्तक राजा राम मोहन राय ने बंगाल में अपने देशवासियों के समक्ष एक संतुलित दृष्टिकोण रखा जिसमें उन्होंने यह प्रचारित किया कि भारत तभी संसार की जातियों में गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त कर सकता है यदि उसके एक हाथ में उपनिषदों का गूढ़ सत्य तथा दूसरे हाथ में पाश्चात्य विज्ञान का दीपक होगा । "पौर्वात्य तथा पाश्चात्य ज्ञान वैभव का संकलन करें" (Gather ye the wisdom of East and West) यही उनका सारगर्भित मूल मंत्र था । लगभग उनके साथ ही उत्तर भारत में महर्षि दयानन्द ने "वेदों की ओर लौटो" (Back to the Vedas) का सिंहनाद किया । पूर्ण विश्वास और शक्ति के साथ उन्होंने यह सिद्ध किया कि वेदों और उपनिषदों को भारत नहीं छोड़ सकता क्योंकि भारत की आत्मा इन्हीं में सन्निहित है, अतएव उन्हें खो कर भारत भारत ही नहीं रहेगा । स्वामी जी के समकालीन तथा परवर्ती मनीषियों, तत्त्व-चिन्तकों और विद्वानों जैसे केशव चंद्र सेन, परमहंस राम कृष्ण, स्वामी विवेकानंद महा देव गोविन्द रानाडे, श्रीमती एनी बेसैंट, लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, अरविंद, महर्षि रमण , पं० मालवीय, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, महात्मा गांधी और

डा० राधाकृष्णन् आदि ने इनकी तथा राम मोहन राय की धारणाओं में ही थोड़ा परिवर्तन, परिवर्धन और संशोधन करके अपने अपने क्षेत्र में प्रसारित किया।

पुनरुत्थान के फलस्वरूप बौद्धिकता (जो कई धाराओं में विभक्त होकर परिलक्षित होती रही) तथा विचार स्वातन्त्र्य (साहित्यिक, राजनैतिक, सामाजिक तथा चिंतन के क्षेत्रों में) को प्रोत्साहन मिला और समाज निवृत्ति से प्रवृत्ति की ओर उन्मुख हुआ। इसी बौद्धिकता के माध्यम से लेखकों ने अवतारों, देवी–देवताओं, पौराणिक प्रसंगों, घटनाओं, कहानियों और अतिमानुषिक कृत्यों की नई व्याख्याएं प्रस्तुत कीं जो तर्क की कसौटी पर खरी उतरती थीं तथा पुरातन सभ्यता, संस्कृति और रीति-नीति के प्रति निष्ठा तथा श्रद्धा के बीज वपन करती थीं। पुरातन के प्रति इस परिवर्तित दृष्टिकोण ने साहित्यकारों को एक नयी गरिमामयी अनुभूति से आवृत्त करके उन्हें प्राचीन गौरव-गाथाओं के गाने तथा वर्तमान अध:पतन पर अश्रु बहाने के लिए प्रेरित किया। प्रवृत्ति मार्ग विवेकानन्द द्वारा प्रतिपादित वेदान्त की व्याख्याओं तथा तिलक के गीता रहस्य द्वारा पुष्ट होकर कर्मठता तथा लेखक और कलाकार की अपने साहित्य में स्वयं के प्रतिष्ठित करने की प्रवृत्ति को प्रश्रय देने लगा। सामाजिक क्षेत्र में स्वातंत्र्य प्रवृत्ति नारियों, दीन दलितों, शोषितों तथा तिरस्कृतों तथा उपेक्षितों के प्रति परिवर्तित और सहानुभूतिमय दृष्टिकोण में परिलक्षित होने लगी। राजनैतिक क्षेत्र में उपरिलिखित भावनाओं का रूप कांग्रेस, जिसका आगे चल कर नेतृत्व महात्मा गांधी ने अहिंसात्मक ढंग से किया, की स्थापना में दृष्टिगोचर हुआ। कांग्रेस के माध्यम से महात्मा गांधी ने अपने शक्तिशाली तथा अप्रतिम व्यक्तित्व द्वारा अनेकों लेखकों की कल्पना शक्तियों को चमत्कृत करके एक नया प्रेरणा स्रोत उपस्थित किया।

पुनरुत्थान के साथ साथ गुप्त जी पर उनके पिता जी जो परम वैष्णव होने के कारण राम भक्ति शाखा से सम्बन्धित सखी सम्प्रदाय में दीक्षित और 'कनकलता' उपनाम से मर्यादा पुरुषोत्तम तथा श्री सीता जी (युगल सरकार) की भक्ति से ओतप्रोत कविताएं लिखा करते थे, का भी यथेष्ठ प्रभाव राम के प्रति अड़िग आस्था के रूप में लक्षित होता है। मुन्शी अजमेरी जी के सम्पर्क, पथ-प्रदर्शन तथा प्रोत्साहन से प्रेरित होकर समस्या पूर्तियों की आरंभिक दशा को पार करके उन्होंने पहले निम्नलिखित छप्पय से जो उन्होंने चोरी चोरी उनकी कापी में लिखा था पिता जी को चमत्कृत कर दिया और उनसे यह आशीर्वाद प्राप्त किया, "तू आगे

चल कर हम से हजार गुणी अच्छी कविता करेगा ।"

(सीता राम पातु । छप्पय)

लखण आदि सब भ्रात और श्रुति कीरत आदिक ।।
सुमिर राम सह सीय चित्त अति आनन्द दायक ।
जिन की कृपा कटाक्ष रहत शेखत संहारक ।
कमला सन जग रचत और नारायण पालक ।
भज अरुण पाल श्रम अति सुभग चरण शीघ्र रघुपति भगत ।
हिय कनक लता अति हरष लख जन्म सफल हरि हर करत ।

बालक गुप्त ने अपने कंठ में स्थित काक काकिली के कारण गायन विद्या से निराश हो कर तथा क्लक्ट्री की आशा में स्कूल में प्रविष्ट कराया जाने पर भी गेंद बल्ले की ओर उन्मुख होकर और इस प्रकार पिता की आकांक्षा को कुचल कर घर पर ही संस्कृत, बंगला और फारसी का ज्ञान अर्जित किया । उपरिलिखित सूत्रों की परिधि में हम कवि का साहित्यिक मूल्यांकन करने में प्रवृत्त होते हैं ।

गुप्त जी का साहित्य रचना-क्रम के अनुसार निम्नांकित है :—

अनूदित रचनाएँ :—

(१)——बंगला से——पलासी का युद्ध (२) विरहिणी व्रजांगना (३) मेघनाद वध (४) चित्रांगदा । संस्कृत से——(५) स्वप्न वासवदत्ता । (६) फारसी से————रूबाई यात उमर खैयाम ।

मौलिक रचनाएँ :—

(१) रंग में भंग (२) जयद्रथ वध (३) पद्य प्रबन्ध (४) भारत भारती, (५) तिलोत्तमा (६) चन्द्रहास (७) किसान (८) वैतालिक (९) शकुंतला (१०) पत्रावली (११) पंचवटी (१२) अनघ (१३) स्वदेश संगीत (१४) हिन्दू-त्रिपथगा (१५) वक संहार (१६) वनवैभव (१७) सैरंध्री (१८) शक्ति (१९) गुरुकुल (२०) विकट भट (२१) झंकार (२२) साकेत (२३) यशोधरा (२४) मंगल घट (२५) द्वापर, (२६) सिद्ध राज (२७) नहुष (२८) कुणाल गीत (२९) अर्जन और विसर्जन (३०) काबा और कर्बला (३१) विश्व वेदना (३२) अजित (३३) प्रदक्षिणा (३४) पृथ्वी पुत्र (३५) हिडिम्बा (३६) अंजलि (३६—क) अर्घ्य (३७) जय भारत (३८) युद्ध (३९) राजा प्रजा (४०) विष्णु प्रिया ।

(१) रंग में भंग में चित्रित किया गया है कि किस प्रकार राजपूत स्व-कल्पित मान—अपमान की भावना से तथा प्रतिशोध की भावना से प्रेरित होकर अपनी शक्ति का ह्रास करते थे जिसके फलस्वरूप विदेशियों के सामने आपसी फूट के कारण उन्हें घुटने टेकने पड़ते थे । पहली रचना

होने के कारण इसमें गुप्त जी के भावी जीवन दृष्टि, अतीत के प्रति मोह का आभास प्राप्त हो जाता है। अतीत के द्वारा अपने समय के प्रश्नों का समाधान खोजने और प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति जो इनके सम्पूर्ण काव्य जीवन की चिर सहचरी रही लक्षित होती है।

(२) जयद्रथ वध में महाभारत का प्रसिद्ध प्रसंग चुना गया है। वीर रस की अभिव्यक्ति के साथ साथ उसमें नारियों के प्रति गुप्त जी का दृष्टिकोण तथा उनकी करुण भावना इसमें स्पष्ट झलकते हैं। इस खण्ड काव्य की भाषा पर्याप्त रूप से परिमार्जित तथा सशक्त है।

(३) पद्य प्रबन्ध में फुटकल कविताओं का संकलन है। इनमें उपदेशात्मकता तथा इतिवृत्तात्मकता का प्राधान्य है। और इसमें भारत भारती के पूर्व रूप का आभास मिलता है।

(४) भारत भारती का उद्देश्य कवि ने इन पंक्तियों में व्यक्त किया है:—

हम कौन थे, क्या हो गए और क्या होंगे अभी,
आओ विचारें आज मिलकर यह समस्याएं सभी।

इस रचना में कवि 'मुसद्दसे हाली' से कदाचित् प्रभावित हुआ था। इस रचना में ऐसी ओजपूर्ण मार्मिक स्फूर्ति तथा प्रेरणादायक अभिव्यक्ति थी जिसने समस्त जाति की हृत्तन्त्रियों को झंकृत कर दिया। जिससे वह शीघ्र ही जनता के हृदय का कंठहार हो गई। गुप्त जी के हाथों में पड़ कर भाषा की सशक्तता और लचीलापन विस्मित कर देने की क्षमता रखते थे।

(६) शकुंतला में कालिदास की जगत् विख्यात कृति को पद्य बद्ध आख्यान के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

(५) तिलोत्तमा में बुद्धिवादी युग चेतना के फलस्वरूप कवि ने कांट छांट करके मूल आख्यान का परिवर्तित रूप प्रस्तुत किया है जिससे वह सहज ग्राह्य हो सके।

(६) चन्द्रहास नामक रूपक में नियति की क्रूर शक्ति का परिचय दिया है।

(१०) पत्रावली में सात ऐतिहासिक पत्रों का संग्रह है। भारत भारती के समान इसका उद्देश्य भी भारतीयों का उद्बोधन करना है।

(७) किसान तथा (८) वैतालिक का उद्देश्य भी भारतवासियों को जगाना है।

(११) पंचवटी कवि की राम काव्य संबंधी पहली रचना है। इसमें कवि ने परम्परा का पालन करते हुए युग धर्म के अनुकूल राम, लक्ष्मण, सीता तथा शूर्पनखा के चरित्रों का मानवीय स्तर पर ले आने का सफल प्रयास करना है। साकेत की भूमिका मानी जाने के कारण इसमें लक्ष्मण के चरित्र को प्राथमिकता

देना है। इसमें कवि की सौन्दर्यवादी चेतना कलात्मक दृष्टिकोण, प्रकृति का स्वतंत्र चित्रण, सम्वादों में नाटकीयता, चरित्र चित्रण में मनोवैज्ञानिकता और परिमार्जित भाषा सभी अपनी विशिष्ठता से चकित कर देते हैं। सुखी पारिवारिक जीवन की झांकी बड़े कौशल से चित्रित की गई है।

(१२) अनघ–बौद्ध कथानक को आधार बना कर लिखा गया गीति नाट्य है। जिसमें मानवता को प्रश्रय मिला है तथा गान्धीवाद ध्वनित होता है।

(१३) स्वदेश संगीत–– (१४) हिन्दू भारत भारती की परम्परा को ही पुष्ट करती है। स्वदेश संगीत से जिसमें ६५ कविताएं हैं उपदेशातमकता आदर्शात्मकता, तथा समन्वय भावना की ध्वनि सुनाई पड़ती है। जय हिन्दू जय हिन्दुस्तान का भैरव घोष हिन्दू में मुखरित हुआ है।

(१५) वक संहार। (१६) वन-वैभव और (१७) सैरंध्री–त्रिपथगा के तीन खण्ड काव्य हैं, जिनमें महाभारत के आख्यान काव्यों का आधार बनाये गए हैं। सैरंध्री में कीचक और द्रोपदी की कथा है। वन वैभव का नायक युधिष्ठिर है, जिसकी वाणी में गान्धीवाद मुखरित होता है। १०० तथा ५ और १०५ के द्वारा हिन्दू-मुस्लिम एकता पर बल दिया गया है। वक संहार में कुन्ती का कर्त्तव्य पालन, द्रवण-शीलन हृदय तथा वात्सल्य भाव का सरलता से चित्रण किया गया है।

(१८) शक्ति के पौराणिक आवरण के द्वारा कवि ने 'संघे शक्ति कलौ युगे' को चरितार्थ करने का प्रयत्न किया है, क्योंकि व्यष्टि से ही समष्टि का रूप निर्मित होता है तथा प्रत्येक व्यक्ति की शक्ति को संगठित करके दानवत्व पर मानवत्व की विजय हो सकती है।

(१९) गुरुकुल में सिख गुरुओं के जीवन चरित्रों तथा वीरतापूर्ण वृतियों का उल्लेख किया गया है।

(२०) विकट भट––का उपजीव्य राजपूत इतिहास है। जिसमें वीर और करुण रस की अभिव्यक्ति है।

(२१) झंकार–गतिकाव्य है। जिसमें छायावाद की सारी विशेषताएं उपलब्ध होती हैं। यह प्रयास सिद्ध करता है कि कवि का प्रत्येक काव्य शैली पर अधिकार है तथा भाषा उसके प्रत्येक इंगित पर नर्तन करती है।

(२२) साकेत––कवि की रचनाओं में श्रेष्ठतम कही जा सकती है कदाचित इसको अपनी अन्तिम वृति मान कर ही निवेदन में कवि लिखता है कि इच्छा थी सबके अन्त में अपनी सहृदय पाठकों और साहित्य बन्धुओं के सम्मुख साकेत समुपस्थित कर के अपन धृष्ठता और चपलताओं के लिये क्षमापूर्वक विदा लूंगा। अतः इसकी रचना कवि ने पूर्ण मनोयोग और

सतर्कता से की है। चरित्र चित्रण, कथा-वस्तु नियोजन, कथोपकथन रस परिपाक, पारिवारिक जीवन, प्रवृ‌ति चित्रण, अलंकार तथा छंद विधान, करुण तथा नारी भावना इन सबका अप्रतिम तन्मयता सौष्ठव कलात्मकता और शक्ति से कवि ने इस कृति में विन्यसन किया है। लक्ष्मण तथा उर्मिला के सुखद वैवाहिक जीवन और नवम सर्ग में विप्रलम्भ शृंगार कैकई का मनोविज्ञान, सुमित्रा का वीर क्षत्राणि रूप कवि द्वारा लाई गई मौलिकताओं को प्रगट करते हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने जिस स्वप्न को अपने लेख में साकार किया था और महाप्रसाद द्विवेदी ने जिसको काव्यत्व का बाना पहनाने के लिये कवि को प्रेरित किया, वही साकेत के रूप में प्रस्फुटित हुआ। मथिलीशरण का वैष्णव हृदय ही इन भूले बिसरे पात्रों को जीवन्त शक्ति प्रदान कर सकता था जो काल के गर्त में समा चुके हैं।

(२३) यशोधरा नायिका प्रधान आख्यान काव्य या गीतात्मक प्रबन्ध काव्य है। जिसका आधार बुद्ध देव की जीवन गाथा है। गुप्त की समन्वयात्मक भावना जिसके अनुसार काव्य के मंगलाचरण में कवि ने इस प्रकार राम और अमिताभ के ऐक्य की घोषणा की ।

राम तुम्हारे इसी धाम में नाम रूप गुण
लीला लाम
इसी देश में हमें जन्म दो लो प्रणाम
हे नीरज नाम
धन्य हमारा भूमि भार भी जिसमें तुम
अवतार धरो
मुक्ति मुक्ति मांगे क्या तुम से हमें भक्ति दो
ओ अमिताभ ।

साकेत की उर्मिला ने ही कवि को गोपा की ओर प्रेरित किया। यशोधरा और राहुल के संवादों में वात्सल्य का सुन्दर परिपाक हुआ है।

(२४) मंगल घट—में अनेक कथात्मक कविताएं संगृहीत हैं। जो भिन्न भिन्न कालों म सरस्वती में प्रकाशित होती रही हैं। अधिकांश रचनाओं में स्वदेश-प्रेम, तथा मानव जीवन संबन्धी उदात्त भावनाएं मुखरित हुई हैं। इन गीतों में ओजस्विता तथा स्फूर्तिदायक प्रेरणा है—

कुछ हो न तजो निज साधन को,
नर हो न निरास करो मन को।

कइयों में मन को वर्तित करने वाली एक लय और प्रवाह है।

विचार लोक की मृत्यु है न मृत्यु से डरो कभी
मरो, परन्तु यों मरो, कि याद जो करें सभी।

(२५) द्वापर का आधार भागवत है। इसमें उर्मिला और यशोधरा की कोटि की नारी, विधृता है, जो हमारी करुणा को उभारती है। इसकी निम्नलिखित पंक्तियों

में मनुष्य समाज पर तीखी और गहरी व्यंग्यमय और तिलमिलाने वाली चोट है :-

हाय, वधु ने क्या वर विषयक एक वासना पाई ?
नहीं और कोई क्या उसका पिता पुत्र या भाई ?
नर के बांटे क्या नारी की नग्न मूर्त्ति हो आई ?
मां बेटी या बहिन हाय, क्या संग नहीं वह लाई ?

इस कथा--काव्य का उद्देश्य भागवत के आधार पर कृष्ण भगवान के चरित्र का गायन करना है। सर्गों का विभाजन पात्रों के नामों पर हुआ है और प्रत्येक पात्र आत्मकथा के द्वारा अपनी चारित्रिक विशेषताओं का उद्घाटन करता है। मंगलाचरण की ये पंक्तियां **"धनुर्वाण या वेणु लो श्याम रूप के संग मुझ पर चढ़ने से रहा राम दूसरा रंग।** कवि के समन्वय भावना की सूचक हैं।

(२६) सिद्ध राज में मध्य कालीन भारतीय संस्कृति का सजीव तथा आदर्श-वादी चित्रण किया गया है। अतुकान्त होने के कारण शिल्प की दृष्टि से इसमें नवीनता है।

(२७) नहुष--में राजा नहुष के उत्थान और पतन की पौराणिक कहानी है, जिसमें युग की अभिव्यक्ति के अनुकूल गिर कर ही आगे बढ़ने की आशावादी प्रगति लक्षित की गई है। अधःपतित नहुष कहता है:--

गिरना क्या उसका उठा ही नहीं जो कभी
मैं ही तो उठा था आप गिरता हूँ जो अभी
नर हू, पुरुष हूँ, मैं चढ़ के रहूँगा।

व्यक्तिगत उन्नति नहीं, बल्कि राष्ट्र की उन्नति ही कवि को काम्य है। शची एक प्रतिनिष्ठा के आदर्श की प्रतीक है।

(२८) कुणाल गीत के शिल्प की विशेषता गीति शैली तथा कथा शैली के संबंध में समन्वय में निहित है। लोक मंगल की भावना से प्रदिप्त कुणाल का चरित्र पर्याप्त मात्रा में निखार को प्राप्त हुआ है।

(२९) अर्जन और विसर्जन--दो खण्ड काव्यों का युगमक है जिसमें आशा और निराशा के भाव ध्वनित हुए हैं।

(३०) काबा और कर्बला नामक युगमक में मुस्लिम इतिहास संबंधित घट-नाओं का उल्लेख हुआ है। इसका उद्देश्य कवि के शब्दों में इस प्रकार है। अपने देश में आन्तरिक शान्ति के लिये हिलमिल कर रहना होगा। एक दूसरे के प्रति उदार और सहिष्णु होना होगा। एक दूसरे से परिचय और प्रेम बढ़ाना होगा।

(३१) विश्व वेदना में सर्व विध्वंस-कारी द्वितीय महायुद्ध पर कवि के उद्गारों की अभिव्यक्ति है।

(३२) अजित में कवि ने आत्म-कथा के सूत्रों को खोजने का प्रयास किया है।

(३३) प्रदक्षिणा—का उद्देश्य ही राम भक्ति है ।

(३४) पृथ्वी पुत्र में केवल तीन सम्वाद हैं, जिनमें युद्धोन्माद ग्रस्त आधुनिक नर की आलोचना उसकी माता द्वारा करवाई है। युद्ध से ही युद्ध को समाप्त कर दूंगा (War to end War) पर मर्मबेधी कटाक्ष किया गया है और कहा गया है कि युद्ध से युद्ध का अन्त नहीं होगा। मार्क्स के विचारों और भावों को भी कवि ने अपने काव्य में संजोया है। क्योंकि कवि का भावुक हृदय दीनों और शोषितों की दशा से विगलित हो चुका था। क्योंकि वैष्णव जन वही है जो परायी पीर को जानता है। मार्क्स कहता है :—

धन रूपी फल का परिश्रम ही मूल है ।
किन्तु श्रमिकों को फल मिलता है कितना,
पूंजी पतियों का नहीं जूठन भी जितना,
..........पूंजी नहीं, लूट है इसे कहो
..........बच्चे, उस ओर जब भूखे ऊंघजाते हैं
कुत्ते उस ओर के मलाई सूंघ जाते हैं ।

(३५) हिडिम्बा में कवि ने अपने पूर्व के मानवतावादी दृष्टि कोण के अनुसार राक्षसी हिडिम्बा के व्यक्तित्व को पूर्ण तथा परिमार्जित किया है तथा उसे सामान्य धरातल पर अंकित किया है।

(३६) अंजलि और अर्घ्य में राष्ट्र पिता महात्मा गान्धी के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की है।

(३७) जय भारत विशालकाय प्रबन्ध काव्य है। जिसका आधार महाभारत है। यह उपयुक्त ही था कि अपने पथ-प्रदर्शक महावीर प्रसाद द्विवेदी जिसने महाकाव्य का रूपान्तर गद्य में किया था के अनुकरण पर उनका यह शिष्य महाभारत का रूपान्तर पद्य में करता । गुप्त जी की सभी विशेषताएं काव्यगत, पात्रगत, तथा शैली और शिल्प गत इसमें लक्षित होती हैं। उद्देश्य है समाज-मंगल। सारे महाभारत को कवि ने आधुनिक युग चेतना के अनुरूप ढालने का भगीरथ प्रयत्न किया है जिसमें वह पर्याप्त सफल रहा है।

(३८) युद्ध जैय भारत का अंग है।

(३९) राजा प्रजा में राज तंत्र और प्रजा तंत्र का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत किया गया है। (४०) विष्णुप्रिया कवि की नवीनतम रचना है। जिसमें विष्णु प्रिया जिसको चैतन्य महाप्रभु छोड़ कर सन्यास ले लेते हैं के विद्रोह की अभिव्यक्ति है। विष्णुप्रिया—मूर्त्ति मन्तकरुणा है, जो अपनी इस करुणा के द्वारा नर के पाषाण हृदय को द्रवित करना चाहती है। गुप्त जी का ममतामय अन्तस्तल पुरुषों के अत्याचार तथा मनमानी पर व्यथा और आक्रोश के कारण क्रन्दन कर उठता है और वह नारी के लिये अन्य कोई मुक्ति का मार्ग नहीं देख सकता, अतिरिक्त इसके कि

वह विद्रोह करने के लिये इसे ललकारे।
व्यथित हो रहा मेरे कारण सारा स्त्री संसार है।

० ० ० ०

कहता है नारी पर नर का कितना अत्याचार है।
लगता है, विद्रोह मात्र हो अब उसका प्रतिकार है।

गुप्त जी ने जब खड़ी बोली को अपनाया तो उस समय भाषा अभी अपनी बाल्यावस्था में थी। अव्यवस्था, शुष्कता और व्याकरण की अशुद्धियों ने उसके स्वरूप को विकृत बनाया हुआ था। ब्रजभाषा के रसिकों का विरोध उसे पंगु बना रहा था और चारों ओर से यह लांछन लगाया जाता था कि ब्रजभाषा का माधुर्य इसमें आ ही नहीं सकता। समय ने यह सिद्ध कर दिया कि खड़ी बोली के विरोधियों की आशंकाएं निर्मूल और वैमनस्य से दूषित थीं। मैथिलीशरण गुप्त ने खड़ी बोली को खड़ा कर के उसमें सरसता, मधुरता, कोमलता, तथा पेशलता का संचार करके इस महान कार्य में सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। बंगला, फारसी और संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रन्थ के अनुवादों के द्वारा उनकी शैली में निखार और प्रवाह संचरित हुए। निस्संदेह गुप्त जी खड़ी बोली के प्रयोक्ता ही नहीं प्रत्युत उसके निर्माता भी थे।

गुप्त जी की नस नस में राम की अनन्य भक्ति व्याप्त थी। उनके राम-काव्यों में राम का स्तवन तो है ही कृष्ण के चरित्र से सम्बन्धित रचनाओं में भी मंगलाचरणों में उन्होंने राम की ही वन्दना की है। अपनी इस दृढ़ भक्तिभावना के कारण गुप्त जी कबीर, सूर, जायसी और तुलसी की परम्परा में रखे जा सकते हैं। वैसे तो हिन्दी साहित्य की यह विशेषता ही रही है कि उसमें कवि धर्म और संत का समन्वय रहा है। बीसवीं शताब्दी में इस विशेषता को अक्षुण्ण बनाये रखने का श्रेय केवल इन्हें ही दिया जा सकता है। गुप्त जी सच्चे वैष्णव थे। उनकी अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णुता जो सब प्रकार की संकीर्णताओं से सर्वथा मुक्त थी उदारता और विशाल हृदयता इस तथ्य के द्योतक हैं कि 'वसुधैव कुटुम्बुकम्' 'वाली 'उक्ति' का वह अक्षरशः पालन करते थे तभी उनकी काव्य की परिधि में राम, कृष्ण, सिद्धार्थ, ईसा मसीह, मुहम्मद, सिक्ख गुरु, मार्क्स और बापू समाहित हुए हैं।

उनके काव्य में राष्ट्रीय जागरण की पूर्णतम अभिव्यक्ति हुई है। वे कट्टर राष्ट्रीयवादी थे। अपने देश के प्रति उनके हृदय में असीम प्यार छलकता था अतएव अधिकांश काव्यों में बारम्बार उन्होंने भारतीयों को उन्नति के पथ पर अग्रसर होने के लिये प्रेरित किया है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये भारत के प्राचीन

और मध्यकालीन इतिहास, रामायण, महाभारत और पुराणों, बौद्ध ग्रन्थों आदि से उन्होंने कथानक चुन चुन कर हमें जाग्रत और सतर्क करने का प्रयत्न किया है क्योंकि भूत से प्रेरणा पाकर ही हम साहस बटोर कर आगत समस्याओं से जूझ सकते हैं।

उनके राजनीतिक विचारों पर गांधी जी का अमिट प्रभाव पड़ा। उनके कई एक कथानकों में कांग्रेस आन्दोलनों की अभिव्यक्ति हुई है। उनके कई एक पात्र गांधी जी की वाणी बोलते हुए स्पष्ट प्रतीत होते हैं। उनके बहुत सारे सुझाव और समाधान अहिंसावादी सत्याग्रह का आभास देते हैं।

नारियों के प्रति गुप्त जी के उद्गार निस्संदेह युगचेतना से पूर्णतया प्रभावित हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि भारत में नारियों पर किये गये अत्याचारों के लिए प्रायश्चित्त करने की भावना उनमें शक्तिशाली रूप से काम कर रही थी। जितनी सहानुभूति, ममता, सौहार्द, संवेदना उन्होंने अपने नारी पात्रों को दी उतना अन्य कोई कवि देने में सफल न हुआ। उर्मिला, गोपा, विधृता और विष्णु प्रिया गुप्त जी के साहित्य की अमर निधियां हैं। उनके यह उद्गार "अबला जीवन हाय, तुम्हारी यही कहानी, आँचल में है दूध और आंखों में पानी" तथा हा, अबला! आह, अरी अनादर अविश्वास की मारी मर तो सकती है अभागिनी, कर न सके कुछ नारी"। निश्चय ही मर्मबेधी हैं और पुरुषों को पश्चाताप की अग्नि में जलाने के लिये पर्याप्त हैं। इसी प्रकार अछूतों के प्रति उनकी मानस पीड़ा इस प्रकार फूट पड़ी- इसका भी निर्णय हो जाए नहीं अछूत मनुज क्या, हाय अपमानित अवनत वे दीन क्या पशुओं से भी हैं हीन"।

गुप्त जी के साहित्य में महाकाव्य, प्रबन्धकाव्य, खण्डकाव्य, आख्यानिक गीति, गीतिकाव्य इतिवृत्तात्मक रचनाओं सभी प्रकार की काव्य शैलियों के दर्शन होते हैं। इतनी व्यापक पहुंच किसी अन्य कवि की नहीं है। अनेकों छन्दों, अगणित अलंकारों और प्रायः सभी रसों के समावेश से उनका साहित्य सर्वगुण सम्पन्न माना जा सकता है क्योंकि प्रत्येक रुचि का व्यक्ति अपने वांछित अभिलाषा का शमन कर सकता है। करुण रस के वे सिद्धहस्त कवि थे। संयोग, शृंगार और इठलाते पारिवारिक वातावरण के वे सफल चितेरे थे। इतना होने पर भी अश्लीलता उनके काव्य में नाम मात्र को भी नहीं पाई जाती। इस मर्यादावादिता के लिये वह तुलसी से होड़ लेते हैं। उनके पचास वर्ष के लम्बे साहित्यिक जीवन में विभिन्न काव्यधाराएं पनपीं और विलीन हुईं। द्विवेदी युग, छायावाद, बच्चन, नरेन्द्र, सुमन और अंचल की गीतिकाव्य

धारा तथा प्रगतिवाद उनके जीवन काल में अपने वैभव से चमत्कृत करते रहे। कवि परिवार के 'दद्दा' होने के कारण इन सब धाराओं का कुछ कुछ अंश उन्होंने ग्रहण किया तथा काव्य में उन्होंने नई क्रान्तिकारी चेतना, नये शिल्प, नई वस्तुयोजना तथा नई चिन्तन दिशाओं का उदार हृदय से स्वागत किया । इतना सब होने पर भी खड़ी बोली का यह आदि पुरुष नित्य नूतन होता गया।

गुप्त जी आर्य संस्कृति के वैतालिक और आधुनिक युग के प्रतिनिधि कवि माने जाते हैं। कारण स्पष्ट है। भारतीय जीवन अपनी समग्रता में देखने और समझने का प्रयत्न जितना उन्होंने किया है उतना और कोई भी कवि नहीं कर सका। भारतीय जीवन के इतने उदात्त और भव्य चित्र किसी भी आधुनिक काव्य में नहीं मिलते। वे इस युग के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जा सकते हैं। कल्पना का आधिक्य होने पर भी जीवन की विविधता के अभाव के कारण तथा गीतिकाव्यकार की भावुकता के प्राधान्य होने से प्रसाद तुलना में उनसे बाज़ी हार बैठता है। शान्तिप्रिय द्विवेदी के शब्दों में हम कह सकते हैं कि किसी माला में प्रथममणि उपवन में प्रथम पुष्प, गगन में प्रथम नक्षत्र का जो महत्त्वपूर्ण स्थान हो सकता है वही वर्तमान कविता में गुप्त जी का है। अतएव वर्तमान कविता के प्रधान और प्रतिनिधि कवि बाबू मैथिली शरण गुप्त ही हैं। पश्चिमी साहित्य और सभ्यता के रंग में रंगे हुए भारतीय संस्कृति, मान्यताओं, विश्वासों और परम्पराओं को विद्वेष की दृष्टि से देखने वाले निश्चय ही कवि के कृतित्व में तनिक भी मन को रमाने वाला कोई तत्व अपनी दृष्टि दोष के कारण नहीं देख सकत। ऐसे आलोचकों के प्रति हमें बड़ी सहानुभूति है। दुःख तो यह है कि भारत में रहते हुए भी वे योरुप के वातावरण के सुनहरे स्वप्न देखते रहते हैं। अच्छा होता यदि वे ऐसे कवियों पर अपनी लेखनी ही न उठाते। अंत में बच्चन जी के शब्दों में हम अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं --

खड़ी बोली को खड़ा किया है मैथिली-शरण ने.... ....

'दद्दा' के निधन के साथ हिन्दी का एक युग समाप्त हो गया। वे हिन्दी संसार के वयोवृद्ध थे। हिन्दी काव्य के पुरोधा थे।..........उन्होंने एक भाषा ली और उसे संसार की भाषा बना दिया। तुलसीदास के पश्चात्..........इस देश की एकता और संस्कृति को दृढ़ करने में जिन व्यक्तियों का योग माना जायेगा उनमें 'दद्दा' का नाम सब से पहिले लिया जायेगा।

● ● ●

उर्मिला का चेतना प्रवाह

हरिचन्द्र पाराशर

चेतना सदैव उर्मिल रहती है, उसका प्रवाह कभी रुकता नहीं, प्रेम के क्षणों में वह तरंगित हो उठती है। प्रेम क्या है, प्रेमी और प्रेयसी के मध्य में एक पर्दा। प्रेम का प्रत्येक क्षण इस पर्दे को हटा कर प्रेमी और प्रेयसी को एक करने का प्रयत्न करता रहता है। संयोग के क्षणों में प्रेमी और प्रेयसी एक दूसरे की आंखों में होते हैं, परन्तु दोनों के मध्य में प्रेम का यह पर्दा तब भी बना रहता है। वियोग के क्षणों में वे एक दूसरे की चेतना में उतर जाते हैं, एक दूसरे के दिलों की गहराइयों में पैठ जाते हैं, परन्तु प्रेम का यह पर्दा तभी बना रहता है।

स्वर्गीय राष्ट्रकवि गुप्त के 'साकेत' की उर्मिला वियोगिनी है। वियोग के क्षणों में उसका चेतना प्रवाह उर्मिल ही नहीं तरंगित है। उसके पतिदेव लक्ष्मण चौदह वर्षों की अवधि के लिये अपने अग्रज के साथ वन में हैं। उर्मिला और लक्ष्मण का विवाह हुए थोड़े ही दिन हुए थे। शास्त्रीय दृष्टि से वह मध्या नायिका वाली मनोदशा में है जिसके हृदय में तो लज्जा है और चेतना में काम। काम और लज्जा का द्वन्द्व उसकी भावनाओं को चूर चूर कर देता है। भावना का प्रत्येक टुकड़ा अलग अलग सोचने लगता है। इस तरह उसका चेतना प्रवाह मुखर हो उठता है। साकेत का नवम सर्ग इसी की कलात्मक अभिव्यक्ति है।

चौदह वर्षों की अवधि बहुत लम्बी अवधि है। चौदह वर्षों के बाद इस नवयौवना के यौवन ने ढल जाना था; विवाहित जीवन की उषा ने जीवन की समस्याओं की कड़कती दोपहर बन जाना था; और फिर यह भी आशंका थी कि चौदह वर्षों के बाद इस विवाह के बिरवे पर कोई फल-फूल लगेगा भी, या नहीं। गृहस्थ जीवन में इस वधू का उत्सर्ग एक उपमा है। पति के साथ रहते सीता के लिये कानन भी नंदन था, परन्तु पति के बिना उर्मिला के लिए राजमहल का उपवन भी वन था। परन्तु फिर भी उसे जीना था क्योंकि स्थिति अवधि वाली थी, अवधि ने एक दिन समाप्त होना था, पति ने घर आना था, वियोग की घड़ियों ने संयोग के क्षण बनना था। इसी आशा में उसे जीना था। इसलिये उर्मिला की चेतना में जीने की इच्छा

प्रबल हो उठती है। यह इच्छा उसकी चेतना की घुमड़नों को कई साधनों से सुलझाती रहती है।

जब उसकी चेतना का काम और उसके हृदय की लज्जा आपस में संघर्ष करते हैं, तो उर्मिला इन दोनों को मौखिक रूप से सहला लेती है। वह 'आओ' और 'जाओ' इन दो शब्दों के सहारे स्वयं को समझा लेती है :—

भूल अवधि-सुध प्रिय से कहती जगती हुई कभी——'आओ'
किन्तु कभी सोती तो उठती वह चौंक बोल कर——'जाओ'

वह अपने मन–मन्दिर में अपने पति की प्रतिमा थाप कर स्वयं आरती बनी हुई थी। आठ पहर चौसठ घड़ी उसे उसी का ध्यान था। महलों में रहते पति उसकी आंखों में थे, परन्तु वन में जाकर मानो पति उसके मानस में कूद गए थे। वियोग के दिनों में प्रेम की मथानी मानस को मथ डाल ी है।

उर्मिला स्वयं को घर के कामकाज में रुझाती है, और इसी में तृप्ति पाना चाहती है। वह रसोई बनाती है, सभी को खिलाती है। मानो इस काम में वह अपनी भावनाओं के टुकड़ों को जोड़ रही हो। परन्तु फिर भी उसे एक विछोह बना रहता है कि वह यह अलोना–सलोना किसे अपना समझ कर खिलाए। अहम् और इदम् के मध्य में 'मेरा' का उदय मानवीय मानस के विकास का यथार्थ है।

मनोविज्ञान का एक सिद्धांत है कि दुख कहने से कम होता है और सुख कहने से बढ़ता है। उर्मिला भी कहती है कि इस समय मुझे दुखीजन ही सुख दे सकते हैं। इसलिये इस पुरी में जितनी प्रेषित-पतिकाएं हैं, उन्हें निमंत्रण दे आओ। जब समदुखिनी मिलेगी तो दुख बंटेगा। हो सकता है कि मेरे दुख को देख कर किसी का दुख हल्का हो, और इस तरह मैं भी किसी के काम आ सकूं, मैं भी किसी के अभाव को मेट सकूं।

कहते हैं कि **जब प्यार का आलम्बन दूर हो, तो प्यार की अवरुद्ध भावना ललित कलाओं का सहारा लेती है।** उर्मिला भी अपनी सखी से कहती है कि हे सखी, पुर-बालाओं के लिये उपवन में एक शाला खुलवा दे, ताकि मैं भी ललित कलाओं का अभ्यास करूँ। कहीं ऐसा न हो कि मैं ये कलाएं भूल जाऊं और पिया के आने पर इनसे मैं उन्हें रिझा न सकूं। उसके जी में आया कि कोई चित्र बनाए। उसके ध्यान में वन के दो दृश्य आये। वन में किसी नदी-नाले के किनारे जेठ–जीजी खड़े हैं, और आर्यपुत्र पानी का थाह लेने के लिये नदी-नाले में अवगाहन कर रहे हैं। जीजी जेठ के सहारे घूम कर खड़ी है और स्वामी कराह करके उसके पांव से कांटा निकाल रहे हैं।

चित्र के ये दृश्य उसके मानस में फैल जाते हैं, उसकी चेतना पर छा जाते

हैं। प्रिय के साथ जो आनन्द के दिन बिताए थे वे आज स्वप्न वत हैं। वह अब उन दिनों की मधुरिमा स्वप्न में देखने के लिए लालायित है। वह सोचती है कि यदि प्रिय नहीं आते, तो उनका स्वप्न ही आ जाए। उसकी आंखें प्रिय के स्वप्न की बाट जोहती हैं और उसकी जीभा 'आ जा, मेरी निंदिया गूंगी' कहती है। वह 'निंदिया' से निवेदन करती है कि मेरी पलकों पर पांव रख कर आ जा, वहां तू सलौना रस चखना। इसी निवेदन में रात बीत गई। निंदिया नहीं आई और स्वप्न भी नहीं आया :—

हाय ! न आया स्वप्न भी, और गई यह रात
सखि, उडुगण भी उड़ चले, अब क्या गिनूं प्रभात ?

निंदिया नहीं आई, स्वप्न नहीं आया, पिया नहीं आए। पिया का ध्यान सारी उर्मिला में छा गया। उसे अयोध्या में ही बात बात में प्रिया का भ्रम होने लगा। चौमासे का त्रिविध पवन उसे उन जैसा लगने लगा, चौमासे का घन-गर्जन उसे उनके गम्भीर स्वर जैसा लगने लगा। कदंब का विकसित पुष्प उसे उनका उपहास्य हो गया। उसने इस भ्रम का उन्नयन कर लिया, वह यूं सोचने लगी कि उनकी यह ख्याति मुझे उन्हीं जैसी प्यारी है। उसने स्वयं को समझा लिया कि **संयोग और वियोग चौमासे की "छिन धूप और छिन छाया" की तरह प्रेम की माया है।**

परन्तु प्रेम की भावना समझ की ऐसी बात को क्षणभंगुर बना देती है। उर्मिला वियोग में स्वयं को पतझड़ के पीले पत्ते की तरह निराधार समझती है। वह कहती है कि हम दोनों निराधार एक दूसरे के सहारे हो जाएं तो कितना अच्छा हो। हे पीले पत्ते, तुम बहुत बड़े उपकारी हो। तुमने अपना सारा रस वृक्ष को दे दिया है। इसलिये नीरस हो गए हो, मेरे पास आंसुओं का रस है। क्या मेरे ये आंसू तुम्हारे काम आ सकते हैं। वियोग ने उसके हृदय में इतनी दया का संचार कर लिया है कि वह सखी से कहती है कि फूल न तोड़ —

छोड़, छोड़, फूल मत तोड़, आली, देख मेरा
हाथ लगते ही ये कैसे कुम्हलाए हैं ?

वह कली को समझाती है कि मान करना छोड़ दे। यदि भ्रमर आया है तो उसका स्वागत कर ले। यह समय फिर हाथ नहीं आएगा :—

मान छोड़ दे, मान, अरी,
कली, अली, आया, हंस करले, यह बेला फिर कहां धरी ?

हृदय एक था, उर्मिला ने उसे बस में रख लिया था, प्रेम की विह्वलता को उसने बाहर नहीं आने दिया, परन्तु आंखें दो थीं, वे बस में नहीं रहीं, उन्होंने रोकर आतुरता को प्रकट कर दिया। अपने रोने को भी उर्मिला यही समझती है कि आंखों को आंसुओं के जल से धो कर उनको देखने के लिए स्वच्छ कर रही है। ○

स्वर्गीय दद्दा मैथिलीशरण गुप्त

यश गुलाटी

आधुनिक युग के प्रतिनिधि कवि और भारतीय संस्कृति और राष्ट्रीय-भावना के अमर-गायक स्वर्गीय मैथिलीशरण गुप्त की काव्य चेतना का विकास बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुआ। इस युग में धर्म और समाज के क्षेत्र में स्वामी दयानन्द और राजा राममोहन राय की सुधारवादी विचारधारा का प्रबल प्रभाव लक्षित होता था, राजनीति का प्रांगण गांधी जी के जीवन-दर्शन से प्रभावित होने लगा था। ऐसे वातावरण में कवि का अन्तर यदि देश प्रेम और उसके विकास की भावना से आप्लावित हो उठे तो आश्चर्य की बात नहीं है। साहित्य–भूमि पर आचार्य द्विवेदी का एकच्छत्र राज्य था। द्विवेदी जी रीतिकालीन परिपाटी की कविताओं के प्रबल विरोधी थे। वे चाहते थे कि कविताओं का विषय-चयन या तो तत्कालीन समस्याओं में से किया जाए अथवा प्राचीन इतिहास और पुराण में वर्णित कथाओं को कविता-बद्ध किया जाए। अपने गुरु आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की प्रेरणा से तथा तत्कालीन वातावरण के प्रभाव स्वरूप गुप्त जी राष्ट्रीय–सांस्कृतिक विषयों पर कविता रचना की ओर प्रवृत्त हुए। इसमें गुप्त जी के वैष्णव संस्कारों का भी पर्याप्त योग था।

गुप्त जी के समस्त काव्य की विषय-सीमा का निर्धारण करना हो तो भारत भारती का निम्नांकित पंक्ति उद्धृत कर देना पर्याप्त है :—

"हम कौन थे, क्या हो गए और क्या होंगे अभी"

उनके सम्पूर्ण काव्य में प्राचीन गौरव का गान, वर्तमानावस्था की विवेचना तथा भविष्य की चिन्ता-आशा के स्वर ही हैं। अतीत का प्रेम संस्कृति प्रेम में परिणत हो जाता है। गुप्त जी के साथ भी यही हुआ। परतंत्र देश में वर्तमान और भविष्य में रुचि राष्ट्रीयता का रूप ले लेती है। कभी यह भावी-समाज की मौलिक कल्पना बन कर भी कवि की वाणी की श्रीवृद्धि करती है। गुप्त जी के काव्य में राष्ट्रीयता की भावना भी है, भावी समाज की कल्पना भी परन्तु यह कल्पना गांधीवादी विचारधारा पर ही आधृत

है, उसमें कोई वैचित्र्य प्रदर्शित करके अपनी मौलिकता की छाप अंकित करने की प्रवृत्ति नहीं ।

गुप्त जी की 'भारत-भारती' और 'हिन्दू' आदि प्रारम्भिक रचनाएं हिन्दू पुनरुत्थानवादी विचार-धारा से समन्वित हैं। 'हिन्दू' तो "विशुद्ध रूप से असाम्प्रदायिक नहीं ।" वास्तव में गुप्त जी की काव्य-चेतना बहुत कुछ तत्कालीन वातावरण के अनुकूल थी । इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय–सांस्कृतिक कविता की जो छाप उन्हें भारतेन्दु युग से प्राप्त हुई वह भी हिन्दू पुनरुत्थानवादी दृष्टिकोण-युक्त थी । "हिन्दू" में तो वे कहते हैं —

"हम सब हैं हिन्दू संतान, जिए हमारा हिन्दुस्तान"

भारतीय वातावरण में से यह दृष्टिकोण धीरे धीरे धूमिल होता गया । स्वर्गीय गुप्त जी समय से पिछड़ने वाले नहीं थे । बदलते हुए समय के साथ वे भी बदले और उनकी राष्ट्रीयता सम्पूर्ण देश की, सभी जातियों और धर्मों को साथ लेकर चलने वाली राष्ट्रीयता बन गई । गुप्त जी पर इस दृष्टि से गांधीवाद का सीधा और प्रत्यक्ष प्रभाव भी दृष्टिगत होता है। डा० कमलाकान्त पाठक ने गुप्त जी की राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना के इस विकास के विषय में कहा है "वे उस सांस्कृतिक धारा के कवि हैं जिसके आरम्भिक छोर पर हिन्दू पुनरुत्थानवादी जातीय भावना है और अन्तिम छोर पर समस्त धर्मों और विविध संस्कृतियों के समवन्य की अवधारणा" बाद में जाकर गुप्त जी की चेतना का विकास इस स्तर पर पहुंच गया था कि उनके उदार मानस को राम, कृष्ण, बुद्ध, सिख गुरु, हज़रत मुहम्मद और ईसा सभी के उपदेश समाज के लिए कल्याणकारी और व्यक्ति के लिये ग्राह्य दीख पड़ने लगे थे । उन्होंने न केवल रामायण-महाभारत को आधार बना कर अपने काव्यों की रचना की बल्कि महात्मा बुद्ध, सिख गुरुओं, हज़रत मुहम्मद साहब और इस्लाम सभी को अपनी लेखनी का वर्ण्य विषय बनाया । गुप्त जी की पुस्तकों की विषय सूची ही उनकी धार्मिक सहिष्णुता, असाम्प्रदायिकता, उदारता और भारतीय संस्कृति की एकता में आस्था को प्रकट करने के लिए पर्याप्त है । कवि के अपने शब्दों-

"सदुपदेश हैं एक ही क्या कुरान क्या वेद"

एक अन्य स्थान पर कहते हैं—

"हिन्दू मुस्लिम छोड़ें अब विग्रह की नीति"

उनकी भावना की यह विशालता न केवल भारत के विभिन्न सम्प्रदायों, धर्मों और मत मतांतरों को अपने भीतर निमग्न कर लेती है बल्कि पूर्व और पश्चिम, प्राचीन और नवीन का समन्वय करती दृष्टिगोचर होती है । कवि में सच्चा विश्वबन्धुत्व लक्षित होता है और गुप्तजी कह उठते हैं "भारत-माता के बच्चे...... विश्वबन्धु हो तुम सच्चे ।" वक-संहार में

कहते हैं कि भारत की अनेकता के मूल में भी एकता है । यह एकता अनेकता का नाश करके उत्पन्न नहीं होती--यह तो अनेकता को अक्षुण्ण रखते हुए मूलभूत एकता को विस्मृत न कर देने से ही दीख पड़ेगी ।

जहां तक है आपस की आंच,
वहां तक वे सौ हैं हम पांच ।
किन्तु यदि करे दूसरा जाँच,
गिने तो हमें एक सौ पांच ।

इस प्रकार गुप्त जी के काव्य में समन्वयवादी प्रवृत्ति झलकती प्रतीत होती है । यह समन्वयवादी भारतीय संस्कृति का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्व है । सभी युगों में राष्ट्रनायकों ने और युग-प्रवर्तक कवियों ने विविधता के इस देश में समन्वयवाद को अपनाया है । तुलसी के गौरव का एक महत्वपूर्ण कारण उनका समन्वयवाद ही है । इसी प्रकार युग-द्रष्टा मैथिलीशरण गुप्त ने भौतिकवाद और अध्यात्मवाद, व्यक्तिवाद और समाजवाद, राष्ट्रवाद और विश्व बन्धुत्व, अतीत और वर्तमान, पूर्व और पश्चिम की परस्पर विरोधी भावनाओं में सफलता से समन्वय किया ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने गुप्त जी के विषय में लिखा था "गुप्त जी वास्तव में सामंजस्यवादी कवि हैं, प्रतिक्रिया का प्रदर्शन करने वाले कवि नहीं । सब प्रकार की उच्चता से प्रभावित होने वाला हृदय उन्हें प्राप्त है । प्राचीन के प्रति पूज्यभाव और नवीन के प्रति उत्साह दोनों उनमें हैं ।"

गुप्त जी की चेतना का एक रूप यदि समन्वयवाद में दिखाई देता है तो दूसरा मानववाद में । गुप्त जी का यह मानवतावाद पश्चिमी विचारधारा का परिणाम नहीं, बल्कि भारतीय सांस्कृतिक विचार परम्परा का ही एक तत्व है । भारतीय संस्कृति सदैव वसुधैव कुटुम्बकम् की पोषक रही है । वर्णव्यवस्था को स्वीकार करते हुए भी विशुद्ध रूप में भारतीय संस्कृति सभी मानवों में एक ही अमर और परस्पर अभिन्न आत्मा को मानती रही है । इस भारतीय संस्कृति से प्राप्त मानवतावादी भावना को गांधी जी द्वारा प्रतिपादित जीवन दृष्टि से बल मिला । उर्मिला, कैकयी, मांडवी आदि उपेक्षिताओं को काव्य में उचित स्थान देने तथा उनकी मनोभावनाओं को समझने के प्रयत्न के पीछे गुप्त जी का यही मानवतावाद माना जा सकता है ।

भारतीय संस्कृति सदैव नीति और मर्यादा की पोषक रही है । रावणत्व और रामत्व के संघर्ष में हमारे यहां सदैव रामत्व की ही विजय दिखाई गई है । हमारे प्राचीन साहित्य में त्रासदियों के अभाव का एक बड़ा कारण यही रहा है । हमारे मनीषियों का विचार था कि सत् पात्र की पराजय और उसके द्वारा प्राप्त कष्टों को देख कर दर्शकों का सदाचार

और नीति में से विश्वास उठ जाएगा। यह नीतिवाद सारे भारतीय साहित्य में उपलब्ध होता है। इसी नीतिवादी विचार-धारा के कारण हमारा साहित्य मूलतः आशावादी है। गुप्त जी ने भी अपने काव्यों में सदा सत् की विजय और असत् की पराजय दिखाई है। उन्हें इस देश के उज्ज्वल भविष्य पर भी सदा विश्वास रहा है। अंधकार में भी आशा की किरण उन्हें सदैव दिखाई देती रही है। सिद्धराज में मदन वर्मा कहता है --

"हम यवनों से ठगाये नहीं जायेंगे
आर्य भूमि अन्त में रहेगी आर्य भूमि ही
आकर मिलेंगी यहीं संस्कृतियां सब की
होगा एक विश्व तीर्थ भारत ही भूमि का"

इसी मर्यादा का एक रूप शृंगार-वर्णन के समय संयम से काम लेने में दीखता है। यह ठीक है कि भारतीय साहित्य में हमें खुले और नग्नवर्णन भी दीख पड़ते हैं। हिन्दी साहित्य में भी कृष्णभक्ति और रीतिकालीन साहित्य में मर्यादा और संयम की छीछालेदार की गई है वह सर्वविदित है परन्तु फिर भी भारतीय समाज में मर्यादा का रूप प्रबल रहा है। जब कभी यह कुछ देर के लिये दबा है--बाद में जाकर प्रबलतर रूप से निर्गत हुआ है। भगवान राम तो मर्यादा पुरुषोत्तम थे ही, इसलिये नितांत स्वाभाविक है कि उनके चरित्र का चित्रण करने वाले सभी उच्च कोटि के कवियों ने मर्यादा का पालन किया है। इससे काव्य-सौंदर्य और रस परिपाक में व्याघात अवश्य उत्पन्न हुआ है। जनक वाटिका प्रसंग में सीता के सौंदर्य का वर्णन करते हुए भी तुलसी जहां उसे 'रूप गुन खानि' कहते हैं वहां 'जगदम्बा' कहना भी नहीं भूलते। गुप्त जी भी सदा मर्यादा का ध्यान रखते रहे हैं। साकेत में एक स्थल पर आलिंगन का चित्रण हुआ है परन्तु परिवार और दाम्पत्य के घेरे में होने के कारण उसे अमर्यादित नहीं कहा जा सकता।

हाथ लक्ष्मण ने तुरन्त बढ़ा दिये
और बोले--"एक परिरम्भण प्रिये!
सिमिट सी सहसा गई प्रिय की प्रिया
एक तीक्ष्ण अपांग ही उसने दिया
किन्तु छाते में उसे प्रिय ने किया
आप ही फिर प्राप्य अपना ले लिया।

भारत में कर्म और वैराग्य, रति और विरति दोनों को स्वीकार किया गया है परन्तु मूलस्वर वैराग्य का नहीं, कर्म का ही है। गुप्त जी इसी लिये यशोधरा में निवृत्तिमूलक मोक्ष साधना को हेय समझते हैं। गृहस्थ को भी साधक समझा जा सकता है और गार्हस्थ्य वैराग्य से हीन नहीं है। गुप्त जी की वृत्ति तो गृहस्थ की आशा-निराशा, दुःख-सुख, जय-पराजय के चित्रण में विशेष रही है। उनके दशरथ, राम, लक्ष्मण, भरत आदि ऐसे राजा या राजकुमार नहीं दिखाई देते जोकि सामान्य पारिवारिक समस्याओं से मुक्त हों--

वास्तव में वे सब गृहस्थ ही हैं। परिवार के अन्तर्गत जो संबंध हो सकते हैं उनका आदर्श रूप हमें तुलसी में भी दिखाई देता है, गुप्त जी ने भी पिता-पुत्र, माता-पुत्र पति-पत्नी, देवर-भाभी, सास-बहू, स्वामी-सेवक सभी संभव संबंधों के आदर्श का चित्रण साकेत में किया है। भारतीय संस्कृति के मूल स्वरूप के अनुकूल जहां पातिव्रत धर्म को महत्व दिया है वहां एक पत्नीव्रत की महिमा भी अंकित हुई है।

हमारे देश में शिवत्व और लोक-कल्याण की भावना को विशेष महत्ता दी गई है। हमारे धर्मशास्त्र और हमारा धर्म-निरपेक्ष साहित्य सभी इस बात का समर्थन करते हैं कि जन-कल्याण के लिए निजहानि-सहन और सर्वस्व त्याग करना सच्ची मानवता है। गुप्त जी के काव्य में भारतीय संस्कृति का यह तत्व कई स्थलों पर उपलब्ध होता है। गुप्त जी की यशोधरा 'विरह-व्यथिता' होने पर भी कहती है

"मेरे दुःख में भरा विश्व-सुख,
क्यों न भरूँ फिर मैं हामी"

उर्मिला भी पल-पल विरह-ज्वाला में दग्ध हो रही है परन्तु उसे यह स्वीकार्य नही कि वे अपना कार्य अधूरा छोड़ कर लौट आवें। इसी लिये उसे अवधि पूर्व स्वप्न में भी लक्ष्मण का आगमन सह्य नहीं। राम और भरत, लक्ष्मण और गौतम सभी में हमें यह लोक-कल्याण के लिये त्याग की भावना लगती है। गुप्त जी का संदेश है --

"हम हों समष्टि के लिये व्यष्टि बलिदानी"

गुप्त जी ने अतीत और उसके सांस्कृतिक वैभव का चित्रण किसी पलायनवादी भावना के कारण नहीं किया। उनका उद्देश्य स्पष्ट रूप से वर्तमान के लिए संदेश देना रहा है जयद्रथ-वध की पहली भूमिका में उन्होंने स्वयं लिखा था "हिन्दी में आजकल ऐसी पुस्तकों की बड़ी आवश्यकता है जिनके द्वारा हमें अपनी पूर्व-परिस्थिति का यथार्थ ज्ञान होकर सब प्रकार की उन्नति करने में प्रोत्साहन मिले" परतन्त्र राष्ट्र की उन्नति पराधीनता का जुआ उतारे बिना नहीं हो सकती थी। इसीलिये उनके सांस्कृतिक काव्य भी प्रसाद के नाटकों के समान अतीत के पट पर वर्तमान के चित्र कहला सकते हैं। उनके साकेत में भी सास्कृतिक राष्ट्रीय भावना है। एक आलोचक के शब्दों में "साकेत का राम-रावण युद्ध सांस्कृतिक प्रश्न है। सीता-हरण भारत-लक्ष्मी की पराधीनता तथा आर्य संस्कृति का उच्छेदन है और राम की विजय भारत की सांस्कृतिक विजय है। स्वयं राम संस्कृति के शिक्षक आर्य सभ्यता के प्रतिष्ठापक और आर्य-धर्म के

पुरस्कर्ता हैं।" गुप्त जी के अपने शब्दों में:--

भारत लक्ष्मी पड़ी राक्षसों के बंधन में
सिंधु पार वह बिलख रही है व्याकुल मन में।

डा० सत्येन्द्र ने गुप्त जी की राष्ट्रीयता पर विचार करते हुए कहा है "राष्ट्रीयता कवि का विशेष उद्देश्य रहा है पर कवि संस्कृति शून्य राष्ट्रीयता का पोषक नहीं" हमारा मत है कि कवि की सांस्कृतिक चेतना भी राष्ट्रीय-भावना से विहीन नहीं कही जा सकती। वास्तव में दोनों एक ही भावना के दो पक्ष हैं। साकेत में राष्ट्रीयता की अन्तर्धारा है। जयद्रथ वध के मूल में भी राष्ट्रीय चेतना है। तिलोतमा में फूट के दुष्परिणामों का संकेत है।

गुप्त जी की यह राष्ट्रीयता अनेक रूपों में अभिव्यक्त हुई है। वह अतीत-गौरवगान, वर्तमान हीनावस्था चित्रण, सामयिक आन्दोलनों के प्रति सहानुभूति, नेताओं के प्रति श्रद्धांजलि आदि रूपों में प्रकट हुई है। पराधीनता चाहे किसी भी प्रकार की हो उन्हें कचोटती है--

शासन किसी परजाति का चाहे विवेक विशिष्ट हो,
सम्भव नहीं है किन्तु जो सर्वांश वह इष्ट हो।

'झंकार' में भारत की हीनावस्था पर आंसू बहाते हुए उसका कारण महाभारत के युद्ध को मानते हैं--

भारत न दुर्दिन देखता मचता महाभारत न जो
हा! स्वप्न तुल्य सदैव को सब शौर्य सहसा हो गया
हा! हा। इसी समराग्नि में सर्वस्व स्वाहा हो गया।

यही भावना सम-सामयिक आन्दोलनों के प्रति सहानुभूति के रूप में भी दिखाई देती है। गांधी जी द्वारा प्रवर्तित सत्याग्रह की प्रशंसा करते हुए कवि ने कहा था--

सत्याग्रह है कवच हमारा, कर देखे कोई भी वार
हार मान कर शत्रु स्वयं ही यहां करेंगे मित्राचार।

इसी प्रकार चर्खा उस काल के आंदोलन का प्रतीक बन गया था। 'साकेत' की सीता भील कुमारियों को चर्खा चलाने का उपदेश देती है। अनघ का मघ तो गांधीवाद का साकार रूप है।

१९२५ में प्रकाशित होने वाले प्रगीत संग्रह (स्वदेश-संगीत) में भी राष्ट्रीय गीत ही हैं। इन गीतों का विषय मातृभूमि प्रेम, देश की अवनतावस्था के प्रति क्षोभ, विदेशी सत्ता के प्रति आक्रोश, हरिजनोद्धार, साम्प्रदायिक-जातीय एकता, राष्ट्रीय जागरण आदि हैं। राष्ट्रीय

आन्दोलन की प्रशस्ति में कवि कहता है—

पूज्य पुनीत मंदिर का झंडा क्या झुक सकता है
क्या मिथ्या भय देख सामने सत्याग्रह रुक सकता है
धहरे दिग्‌–दिगन्त में अपनी विजय–दुन्दुभि घहरे ।।"

भारत भूमि को गुप्त जी सर्वश्रेष्ठ समझते थे । उसे भू-लोक का गौरव और प्रकृति का पुण्य स्थल मानते थे । निम्न-लिखित पंक्तियों में उनका भारत-प्रेम स्पष्ट लक्षित होता है :–

भू–लोक का गौरव प्रकृति का पुण्य स्थल कहां ?
फैला मनोहर गिरि हिमालय और गंगाजल जहां
संपूर्ण देशों से अधिक किस देश का उत्कर्ष है ?
उसका कि जो ऋषिभूमि है, वह कौन ? भारतवर्ष हैं ।

उन्होंने राष्ट्र के भविष्यत्-रूप की कोई मौलिक कल्पना प्रस्तुत नहीं की । गांधी जी के राम-राज्य के ही वह समर्थक थे । प्रजातंत्र उन्हें विशेष प्रिय था । साकेत में वे राम से कहलवाते हैं 'प्रजा की थाती रहे अखंड" इस प्रकार प्रजा के अधिकारों के प्रति जागरुक शासन-विधान ही उन्हें स्वीकार्य था । वे चाहते थे कि देश में सर्वोदय का सुप्रभात हो । विषमता उन्हें अच्छी नहीं लगती थी पर उन्हें क्रांति–कारियों का मार्ग पसंद नहीं था ।

वास्तव में गुप्त जी के काव्य में चाहे इतनी कलात्मकता न रही हो, शैली और भाषा, विचार और कल्पना की रंगीन वेश-भूषा अपने सरल और अकृत्रिम भावों को चाहे वे न पहना सके हों परन्तु फिर भी राष्ट्रीयता और सांस्कृतिक चेतना युक्त काव्य के क्षेत्र में जो देन उन्होंने दी है वह कभी भी भुलाई नहीं जा सकती । आचार्य नंद दुलारे वाजपेयी के शब्दों में "कल्पना की ऊंची उड़ान भरने की उनमें शक्ति नहीं है किन्तु राष्ट्र की और युग की नवीन–स्फूर्ति, नवीन जाग्रति के स्मृति चिन्ह हमें हिन्दी में सर्वप्रथम गुप्त जी के काव्य में ही मिलते हैं" वास्तव में देश की वर्तमान संकटावस्था में उन जैसे कवि की राष्ट्रीय कविताओं की बड़ी आवश्यकता थी पर दुर्भाग्य यह है कि गुप्त जी ही न रहे ।

बड़े शौक से सुन रहा था जमाना
तुम्हीं सो गए दास्तां कहते कहते"

● ● ●

रामभक्ति एवं राष्ट्रभक्ति के गायक मैथिलीशरण गुप्त

उदयनारायण सिंह

विगत आधी शताब्दी का हिन्दी खड़ी बोली काव्य मैथिलीशरण गुप्त जी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व से पूर्णतः प्रभावित है। गुप्त जी ने अपनी सरस एवं सुललित रचनाओं के माध्यम से न केवल भारत के अतीत-गौरव को ही उद्घाटित किया वरन् हिन्दी राष्ट्रभाषा को एक वाणी भी दी। गुप्त जी जैसे हिन्दी के अनन्य साधकों की ही लेखनी का यह कार्य था जिन्होंने खड़ी बोली को काव्य की भाषा के रूप में हमारे सम्मुख प्रस्तुत किया। आपने लोकभाषा एवं साहित्यभाषा की खाई को भी, जिसे समाप्त कर सकना भाषा-शास्त्रियों की दृष्टि में असंभव सा है, पाट दिया और दोनों ही के अंतर को भी समाप्त कर दिया। गुप्त जी ने अपनी रचनाओं में देश और काल का यद्यपि विशेष ध्यान दिया है लेकिन आप की कृतियां इससे परे हैं। आपका मानवता-वादी दृष्टिकोण था जो देश एवं काल की संकीर्ण सीमाओं से पृथक् एक नवीन आदर्श को प्रस्तुत करने वाला था।

गुप्त जी की समस्त कृतियों का यदि निष्पक्ष रूप से अध्ययन किया जाय तो उनकी कृतियों में हमें रामभक्ति एवं राष्ट्रभक्ति की मूल भावना एवं मूल संदेश मिलता है। आपकी रचनाएं राम भक्ति एवं राष्ट्रभक्ति की वस्तुतः पवित्र संगम हैं। मनुष्य को जितना परम सुख एवं आनन्द प्रयाग में पावन संगम में स्नान करने पर मिलता है उतना ही आत्मानन्द गुप्त जी की कृतियों का अध्ययन करने से प्राप्त होता है। राष्ट्रकवि की कृतियों में राम-भक्ति एवं राष्ट्र भक्ति गंगा तथा यमुना नदी की दोनों धाराओं के समान है जिनका उनकी लेखनी से निःसृत शब्दों के रूप में अपूर्व संगम हुआ है। कुछ शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि गुप्त जी को पाकर राष्ट्रभाषा हिन्दी कृतकृत्य हो गयी। जिस प्रकार ब्रिटेनवासी गर्व के साथ कहते हैं कि अंग्रेज़ी जान कर जिसने शेक्सपियर की कृतियां न पढ़ी उसने अंग्रेज़ी पढ़ी ही नहीं, उसी प्रकार हम हिन्दी भाषा भाषी भी सगर्व कह सकते हैं कि जिन

लोगों ने हिन्दी सीख कर गुप्त जी की कृतियां न पढ़ीं उन लोगों ने हिन्दी पढ़ी ही नहीं।

गुप्त जी ने सन् १९१० के लगभग से हिन्दी काव्य रचना के क्षेत्र में पदार्पण किया। आपकी प्रथम दो कृतियों—'रंग में भंग' तथा 'जयद्रथ-वध' (सन् १९१०) में 'जयद्रथवध' कृति अत्यधिक लोकप्रिय हो गयी। इसमें अत्यधिक ओजपूर्ण शब्दों में जयद्रथवध का वर्णन प्रस्तुत किया गया है लेकिन कई स्थलों पर ईश्वर की आराधना भी की गई है:—

"रहते हुए तुम सा सहायक
प्रण हुआ पूरा नहीं!
इससे मुझे है जान पड़ता,
भाग्य बल ही सब कहीं।
जलकर अनल में दूसरा,
प्रण पालता हूँ मैं अभी,
अच्युत! युधिष्ठिर आदि का,
अब भार है तुम पर सभी।"

और :—

"हे तात! जीत हुई तुम्हारे,
पुण्य पूर्ण प्रताप से,
रण में जयद्रथवध हुआ,
टूटें धनंजय ताप से। ("जयद्रथवध")

गुप्तजी ने उस समय से साहित्य रचना प्रारम्भ की थी जबकि देश में विदेशी दमन एवं अत्याचार अपनी चरम सीमा पर था, उस समय राष्ट्रीयता एवं स्वदेश प्रेम जैसे शब्द कहना भी अपने को खतरे में डालना था। गुप्त जी ने इसी समय से अपनी राष्ट्रीय कविताएं लिखनी शुरू कीं और स्पष्ट शब्दों में स्वदेश वासियों में नयी चेतना पैदा करने का कार्य प्रारम्भ कर दिया था :—

"हां, **वृद्ध भारतवर्ष ही संसार का सिरमौर है,**
ऐसा पुरातन देश कोई, विश्व में क्या और है?
भगवान की भव-भूतियों का, यह प्रथम भंडार है,
विधि न किया नर सृष्टि का पहले यहीं विस्तार है। (भारत भारती)

उस युग के कवियों की राष्ट्रीयता भारत माता की वंदना तथा मातृभूमि की सराहना के शब्दों तक सीमित थी। वे स्पष्ट शब्दों में खुला संघर्ष करने की बातें नहीं कर सकते थे :—

"जय जय भारत माता!
ऊंचा हिया हिमालय तरा, उसमें कितना दरद भरा
फिर भी आग दबा कर अपनी, रखता है वह हमें हरा।
सौ सोतों से फूट-फूट कर पानी टूटा आता।"

गुप्तजी को मातृभूमि में सर्वेश की सगुण मूर्ति के प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं :—

" ीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुन्दर है,
सूय चन्द्र युग मुकुट मेखला रत्नाकर है।
नदियां प्रेम-प्रवाह, फूल तारे मंडल हैं।

× × ×

हे मातृभूमि! तू सत्य ही सगु -मूर्ति सर्वेश की।"

भारतवर्ष की प्रशंसा में भी आपने दो शब्द कहे हैं :—

"जिये हमारा हिन्दुस्तान ।
एक हमारे हैं संस्कार,
इसमें एक रुधिर संचार ।
एक हमारा देश उदार,
गूंजे एक गर्व का गान ।" (हिन्दू)

देश की भावात्मक एकता एवं अखंडता के बारे में राष्ट्र के नेता इधर अधिक जोर दे रहे हैं लेकिन गुप्त जी ने इस बात पर अपनी कविताओं के माध्यम से काफी समय पूर्व ही जोर दिया था यथा :—

"प्रत्येक जन प्रत्येक जन को,
बंधु अपना जान लो,
सुखदुख अपने बंधुओं का,
आप अपना मान लो ।
अनुदारता-दर्शक हमारे,
दूर सब अविवेक हों,
जितने अधिक हों तन,
भले हैं, हम हमारे एक हों ।
आचार में कुछ भेद हो,
पर प्रेम हो व्यवहार में,
देखें हमें फिर कौन सुख,
मिलता नहीं संसार में ।"

राष्ट्रकवि की दृष्टि में तो सभी देशवासी भगवान के सदृश हैं । क्योंकि उन्हें देश की जनता से असीम प्रेम था । उनकी दृष्टि में देशवासियों की आराधना ही सब से बड़ी पूजा है :—

"करते हो किस इष्ट देव का,
आंख मूंद कर ध्यान,
तीस कोटि, लोगों में देखो,
तीस कोटि भगवान ।"

क्योंकि उनके लिए 'वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिये मरे ।' गुप्त जी का दृष्टिकोण अत्यधिक मानवतावादी था । वे अपने आराध्य को लक्ष्य करते हुए कहते हैं :—

"परम तुम मानव हो,
ईश्वर नहीं हो क्या ?
विश्व में रमें हुए, नहीं,
सभी कहीं हो क्या ?
तब मैं निरीश्वर हूँ,
ईश्वर क्षमा करे,
तुम न रमो तो भी,
मन तुम में रमा करे"

राष्ट्रकवि की दृष्टि में कर्त्तव्य ही सबसे मुख्य वस्तु है । कर्त्तव्य से विमुख मनुष्य का देह एवं समाज में कोई स्थान नहीं, उसे मृत्यु से नहीं डरना चाहिए :—

"विचार लो कि मर्त्य हो,
न मृत्यु से डरो कभी,
मरो, परन्तु यों मरो,
कि याद जो करें सभी ।
हुई न यों सुमृत्यु,
तो बृथा मरे बृथा जिये,
मरा नहीं वही कि जो,
जिया न आपके लिये ।" (मंगल घट)

प्रस्तुत कविता में ईश्वर के प्रति कितनी असीम श्रद्धा प्रकट की गयी है। जनता में नव-चेतना का संदेश देते हुए गुप्त जी ने कहा है:—

"नयी पौ फटी रात कटी,
तम की अंतर पटी, हटी।
उठो, उठो, बोलो बोलो,
खोलो मनो द्वार खोलो (वैतालिक)

तभी तो गुप्त जी चाहते हैं कि जिस निर्धारित पथ का तुमने अनुगमन किया है उस पर दृढ़ता के साथ चलते रहो :—

"मन अपने को आप संभालो।
जो पथ शोध लिया है तुमने,
बस उसका व्रत पालो।
टले न कोई तुम पर सब पर
तुम अपने को टालो।
कायर हो, कर्त्तव्य कठिन यदि,
किसी युक्ति से टालो। (अनघ)

मैथिलीशरण जी नहीं चाहते कि रणक्षेत्र में पराजित होकर घर वापस आ जाओ। औरंगजेब–दारा संघर्ष में दारा के समर्थक जसवंतसिंह जब युद्ध से पराजित होकर घर वापस आते हैं और जब उनकी पत्नी को इस बात की जानकारी होती है तो वह क्रोध से कहती है :—

"संग्राम में तुम काम आते,
तो लोक में निश्चय नाम पाते,
मैं भी सती होकर धन्य होती,
न क्षत्रिया होकर आज रोती।"
(पत्रावली)

गुप्त जी चाहते हैं कि हमारा संघर्ष इतनी तीव्र गति से चले कि सर्वत्र इसका प्रभाव पड़े और उसकी झंकार सर्वत्र फैले:—"

"इस शरीर की सकल शिरायें,
हों तरी तंत्री के तार,
आघातों की क्या चिन्ता है,
उठने दे ऊंची झंकार।
नाचे नियति प्रकृति सुर साधे,
सब सुर हों सजीव साकार,
देश देश में काल काल में,
उठे गमक गहरी गुंजार।" (झंकार)

महात्मा गांधी के मुक्ति आन्दोलन का समर्थन करते हुए तथा ब्रिटिश कूटनीति की खिल्ली उड़ाते हुए आप कहते हैं कि अब इतिहास का नया पृष्ठ उलटने वाला है :—

"खुली है कूटनीति की पोल,
महात्मा गांधी की जय बोल,
नया पन्ना उलटे इतिहास,
हुआ है नूतन वीर्य-विकास।"

राम (ईश्वर) क प्रति आपका विशेष अनुराग था और उससे साक्षात्कार करने के विभिन्न मार्गों में से कौनसा मार्ग अपनाया जाय यह गुप्तजी के लिए एक समस्या है यथा :—

"तेरे घर के द्वार बहुत हैं,
किसमें होकर आऊं मैं ?
सब द्वारों पर भीड़ मची है,
कैसे भीतर जाऊं मैं ?
द्वारपाल भय दिखलाते हैं,
कुछ ही जन ज़ाने पाते हैं,

शेष सभी धक्के खाते हैं,
क्योंकर घुसने पाऊं मैं ?'' (झंकार)

गुप्तजी की कृति 'साकेत' वर्तमान युग का ''रामचरितमानस'' है। इसमें राम की महिमा तथा लक्ष्मण एवं उर्मिला के जीवन का विशेष रूप से वर्णन किया गया है। वन में सीता के जीवन का वर्णन करते हुए गुप्त जी ने लिखा है कि सीता के लिये वन ही राजमहलों से किसी भी दशा में कम सुख-कारी नहीं है:—

''किसलय—कर स्वागत हेतु हिला करते हैं,
मृदु मनोभाव सम सुमन खिला करते हैं।
डाली में नव फल नित्य मिला करते हैं,
तृण-तृण पर मुक्ता-भार झिला करते हैं।
निधि खोले दिखला रही प्रकृति निज माया।
मेरी कुटिया में राजभवन मन भाया।''
(साकेत)

राम के अयोध्या आने पर जनता में कितनी प्रसन्नता है इसका वर्णन कवि के ही शब्दों में :—

'भर भर कर श्वासोच्छ्वास, अयोध्यावासी
जागे, दीख पड़े गुरुदेव, सभी को अपने आगे
बोले मुनि—सब लोग सजाओ अपने मंदिर
अपनी उस चिर-अचिर-मूर्ति को पाओ
फिर फिर।''
(साकेत)

पंचवटी की शोभा का वर्णन गुप्तजी ने कितनी सुन्दरता के साथ किया है:—

''पुलक प्रकट करती है धरती,
हरिततृणों की नोकों से,
मानों झूम रहे हैं तरु भी मंद पवन के
झोंकों से।
(पंचवटी)

गुप्तजी के लिये मर्यादा पुरुषोत्तम राम एवं सीता अत्यधिक प्रिय थे। यहां तक कि वे राधा—कृष्ण में भी राम-सीता का दर्शन करने लगते हैं :—

''एक एक तुम सब राधा हो,
कहां तुम्हारी राधा ?

× × ×

सच कहता हूं मैंने अपना,
राम तुम्हीं में पाया।
किन्तु तुम्हारा कृष्ण कहां ?
मैं यही पूछने आया।''
(द्वापर)

गुप्तजी ने अपनी काव्य रचना का प्रारंभ राम की वंदना से किया था और अंत तक गुप्त जी के लिये राम ही उपास्य थे यथा :—

''लोक शिक्षा के लिये अवतार था जिसने
लिया
निर्विकार निरीह होकर, नर सदृश कौतुक
किया,
राम नाम ललाम जिसका, सर्व मंगल धाम है,
प्रथम उस सर्वेश को श्रद्धा समेत प्रणाम है।
(रंग में भंग)

सांसारिक कलह एवं दुखों से ऊबकर गुप्तजी ने राम से यह प्रार्थना की है कि

तुम आकर सारे विषादों एवं आपदाओं को दूर करो :—

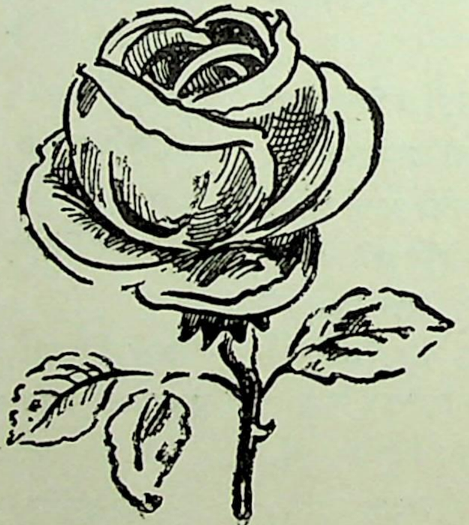
"राम तुम्हारा राज्य कहां हा!!
बना जगत जंजाल यहां,
मरने लगे अकाल मृत्यु से,
विवश हमारे बाल यहां ।
हृद-हृद है, विषाद कालिय है,
विष फैला विकराल यहां,
बचा हमें तू लौट हमारे,
अरे बाल-गोपाल कहां ?

(उच्छ्वास)

इस प्रकार हम देखते हैं मैथिलीशरण की कृतियों में राम-भक्ति तथा राष्ट्रभक्ति का सविस्तार उल्लेख है । आपके सम्पूर्ण काव्य की मूल भावधारा यही है । काव्य रचना के प्रारंभिक काल से लेकर अंत तक आपके इस मौलिक दृष्टिकोण में कोई भी अंतर नहीं आया । राम भक्ति और राष्ट्रभक्ति के लिये आप सब कुछ त्याग करने के लिये तैयार रहते थे । जनता जनार्दन की सुख समृद्धि के लिये भी आप अपना सब कुछ बलिदान एवं न्योछावर करने के लिये तैयार रहा करते थे क्योंकि जनता को ही आप भगवान का अवतार मानते थे । राम भक्तों तथा राष्ट्र भक्तों का आदर्श भी तो "बहुजन हिताय—बहुजन सुखाय' होता है :—

अर्पित हो मेरा मनुज काय ।
बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय ।
सुख भोग चुका मैं जाग जाग,
दे दुःखी अब निज दुःख भाग ।
रोदन पर वारे जायें राग,
यह जाता जीवन क्यों न जाय ।"

(कुणाल गीत)



राष्ट्रकवि की रचनाओं का क्रम विकास

क णाशंकर पण्ड्या

स्वर्गीय मैथिलीशरण गुप्त को उनकी राष्ट्रीयता के स्वर झंकृ करने के लिए देश की जनता ने राष्ट्रकवि की संज्ञा से संबोधित किया था, वे स्वयं अपने को बहुत ही सामान्य कोटि का भावुक मात्र मानते रहे हैं। अपनी जयंती के उपलक्ष्य में नागरी प्रचारिणी सभा काशी की ओर से आयोजित स्वागत-समारंभ में उन्होंने उत्तर देते हुए कहा था कि "साहित्य-साधक तो वास्तव में वे हैं, जो द्रुतगति से पीछे आ रहे हैं--मैं तो आगे का जय-जयकार हूँ।" निश्चय ही यह उनकी विनम्रता और शालीनता ही थी कि वे देश की बहुसंख्यक मूक देहाती जनता के प्रतिनिधि होते हुए भी अपने को जरा भी गौरव-गरिमा प्रदान किये जाने का प्रयत्न पसन्द नहीं करते थे। उन्होंने देश के जन-जन को संस्कारिता, राष्ट्रीयता, प्राचीन के प्रति आस्था का और सबसे अधिक भावमयता का संदेश दिया है। भारत के कोटि-कोटि ग्रामीणों को वाणी देते हुए उन्होंने जो गुनगुनाहट का समां बांधा, उससे हिन्दी के अनेक प्रेमी एवं भक्त आगे चल कर कवि और लेखक बन गये। उनकी रचनाओं का प्रभाव सीधे अन्तर पर पड़ता था, जिनसे हृदय स्पन्दित हो उठता था और नस-नस में स्वर झंकृत होकर मन तक को प्रभावित कर देते थे। उनके कितने ही छंद आज कितने ही कंठों में बस गये हैं। जिन्हें कंठस्थ हैं, वे ही शब्द-शक्ति और अर्थ का गांभीर्य समझ सकते हैं; क्योंकि सहजता और सरलता में भी कुछ अधिक गूढ़ समाया हुआ है जो भावी की ओर संकेत करता है। उनकी वाणी युग को साकार करती हुई सर्वत्र भविष्यवाणी सिद्ध हुई है। इसीलिये तो महाकवि युगद्रष्टा एवं युगस्रष्टा कहे जाते हैं।

कृतियों का काल निर्णय

राष्ट्रकवि के व्यक्तित्व की अपेक्षा यहां मैं केवल उनके कृतित्व पर ही कुछ कहना चाहता हूँ। यों तो गुप्त साहित्य पर बहुत कुछ लिखा गया है; परन्तु मेरा यह प्रयास तो मात्र सुमनांजलि के रूप में है--हिन्दी साहित्य अथवा काव्य में उनकी स्थिति का निर्धारण करने के

लिये नहीं । चूंकि मुझे उनकी अधिकांश कृतियां कण्ठस्थ हैं; अतएव मैं अधिक सहजता से लिख पा रहा हूँ और मुझे सन्दर्भ उद्धृत करने की आवश्यकता भी प्रतीत नहीं होती । परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि रचना क्रम को निर्धारित करने में मुझे 'द्विवेदी -पत्रावली' से बड़ी सहायता मिली है; क्योंकि गुप्त जी के अनेक ग्रन्थों पर रचना-काल का कोई उल्लेख नहीं है ।

सन् १९०३ में जब आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी 'सरस्वती' के सम्पादक बने तब अपने पिता के साकेत वास होने के कारण अग्रज के साथ गुप्त जी को झांसी में कलेक्टर की पनाह लेनी पड़ी और वहीं उनके अपने ही शब्दों में——'सरस्वती' में अपना नाम छपाने का डौल लगाने की लुलसा के कारण वे 'आचार्य देव' से पहली बार मिलने गये । इस समय तक वे अपने पिता जी (कनकलता) के अनुगत होकर कुछ पद्य बनाने लग गये थे । वहां उन्हें जो सहानुभूति मिली, उसके प्रभाव से ही गुप्त जी अभिभूत हो गये । इसी के कुछ दिन बाद एक रचना 'सरस्वती' में भेजी गयी । वह खड़ी बोली की बजाय पुरानी भाषा में थी ; अतः यह स्मरण दिलाया गया था कि 'सरस्वती' में बोलचाल की भाषा की कविताएं छापी जाती हैं । 'व्रज' की इस तथाकथित उपेक्षा से दो कड़े से पत्र भी लिखे गये और फिर 'हेमन्त' शीर्षक पद्य भेजे गये । इसके संशोधित रूप में कुछ देर से छपने के बाद तो द्विवेदी जी के मार्गदर्शन तथा कृपा से गुप्त जी ने एक के बाद एक कृतियों को प्रस्तुत किया, जिन में द्विवेदी जी सानुकूल संशोधन कर दिया करते थे ।

'भारत-भारती' के ओजस्वी स्वर

मैंने कविता-कलाप' की एक प्रति संभवतः अन्त्याक्षरी में जीतने के फलस्वरूप किसी पुरस्कार में कभी काशी के विद्याध्ययन के समय प्राप्त की थी, जिसमें आकर्षक चित्रों के साथ पद्यकथाएं भी थीं । गुप्त जी ने इसमें पर्याप्त श्रम किया था और अधिकांश पद्य-कथाएं लिखीं थीं । यह मुद्रित सन् १९०९ के बाद ही कभी हुई है, परन्तु इसके पहले गुप्त जी पत्र-पत्रिकाओं में काफी ख्याति अर्जित कर चुके थे और बहुत सज्जनता के साथ इसे द्विवेदी जी का ही श्रेय कहते रहे हैं । द्विवेदी जी ने १–१–१९०९ तथा उसके आगे के गुप्त जी को लिखे पत्रों में इसका उल्लेख किया है । रंग में भंग' इसी वर्ष २२ दिसम्बर को छप गयी थी, जिसका १४–५–१९१० के पत्र में उल्लेख है । २५–५–१९१० को उन्होंने 'मेघनाद-वध' के अनुवाद का संकेत किया है । सन् १९११ में ही पत्र–व्यवहार में 'सुकवि-संकीर्तन', 'स्वर्गीय संगीत' तथा 'पत्रावली' का उल्लेख मिलता है। शकुन्तला

तथा बुद्ध की चर्चा इसी के बाद की गयी है और फिर 'भारत भारती' के अशों को 'सरस्वती' में छपने के लिए भेजने का आग्रह २७-८-१९११ के पत्र में किया गया है। इसकी समाप्ति पर जो हर्षातिरेक व्यक्त किया गया वह ८-६-१९१२ के पत्र में है। इसी तरह संवत् १९६८ की रामनवमी को आरम्भ करके संवत् १९६९ की जन्माष्टमी को 'भारत भारती' प्रकाशित हुई। मेरे जन्म लेने के तीन वर्ष पूर्व की यह घटना है और ऐसी घटना जिसने मुसद्दस से प्रेरणा लेकर भारत की भारती की प्रथम बार शंखध्वनि की। उनकी अपनी शुभाकांक्षा के अनुरूप हरिगीतिका छन्द के प्रत्येक ओजस्वी चरण के स्वर भारत भर में गूंज गए क्योंकि हृत्पत्र पर दृक्कालिमा में डूब कर उसे अतीत, वर्तमान तथा भविष्यत् का आलम्ब लेकर लिखा गया था। भूतकाल की झांकियां अनेक टिप्पणियों के कारण साधार बन गयी हैं। वर्तमान भारत के चित्र खींचते हुए दारिद्र्य, कृषि, दुर्भिक्ष, कृषक, गो वध, व्यापार आदि का जो मर्मस्पर्शी वर्णन किया गया है, वह हृदय को छूता है।--

'कुलनारियां जिनको हमारी हैं करों में धारतीं,
सौभाग्य का शुभचिह्न जिनको हैं सदैव विचारतीं;
वे चूड़ियां तक हैं विदेशी देख तो, बस हो चुका,
भारत स्वकीय सुहाग भी परकीय करके खो चुका!'

ऐसी ओजस्वी वाणी ब्रिटिश वणिकों के शोषण प्रधान शासन के विरुद्ध भला विद्रोह की भावना क्यों न जगाती? जागरण की वेला निकट समझ कर उन्होंने ठीक ही तो कहा था।

'संसार की समरस्थली में धीरता धरण करो
चलते हुए निज इष्ट पथ पर संकटों से मत डरो।'......

और

'सर्वत्र एक अपूर्व युग का हो रहा संचार है,
देखो, दिनोदिन बढ़ रहा विज्ञान का विस्तार है!'

'भारत भारती' उसके प्रेरक राजा रामपालसिंह को उन्होंने समर्पित की थी। उसके अब तक तो बीसों संस्करण हो चुके हैं, जो उसकी लोकप्रियता ही सिद्ध करते हैं। क्या पता था कि 'पूर्व दर्शन' का इतना विराट स्वरूप दो वर्ष पश्चात् ही हिन्दी प्रेमियों को प्राप्त हो जायेगा। उपशीर्षकों का सुझाव दे कर इस ग्रंथ को द्विवेदी जी ने और भी उपयोगी बना दिया। १९१५ तक तो 'भारत भारती' इतनी लोकप्रिय हो गयी थी कि इसके कंठस्थ करने वाले ब्रह्मचर्य के एक साधु को गंगा तट पर स्वयं द्विवेदी जी ने देखा था। इसी लिये उसके गुजराती-अनुवाद की मांग की गयी थी। 'भारत भारती' में अंग्रेजों के काल का जो विवरण है, वह द्विवेदी जी के संकेत से ही थोड़ा उदारमना

भाव ले पाया था क्योंकि प्रथम संस्करण में वह अपेक्षाकृत कटु था।

विविध–खण्डकाव्य

"भारत भारती" के प्रकाशित होने के एक वर्ष पश्चात् 'जयद्रथवध' की जिल्द बंधी काफी फूल एवं चक्र के मोनोग्राम के साथ द्विवेदी जी को (२७ नवम्बर १९१५) भेजी गयी। 'पत्रावली', 'किसान' आदि की पृष्ठभूमि इसी समय तैयार होने लग गयी थी। 'शकुन्तला' के जन्म एवं बाल्यकाल का वर्णन २९ जुलाई १९१४ को 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ पहुंचा था। 'तिलोत्तमा' यद्यपि १९१५ के अप्रैल में तैयार हो गयी थी, परन्तु वह एक वर्ष बाद ही छपी। उर्मिला के चरित्र का उल्लेख भी गुरु-शिष्य में लगभग इसी समय हुआ। 'विरहिणी ब्रजांगना' की प्रतिलिपि जून, १९१५ में तथा 'साकेत' के दो सर्ग १९१६ में आचार्य महोदय के पास पहुंचे थे और २२ अप्रैल, १९१६ के पत्र में उन्होंने एक ही सर्ग में विविध छन्दों के प्रयोग का उन्हें परामर्श दिया था। वैतालिक की पाण्डुलिपि ६ मई १९१७ को द्विवेदी जी को मिली।

'जयद्रथ-वध' का समर्पण कवि ने द्विवेदी जी को किया है ——

'पाई तुम्हीं से वस्तु जो कैसे तुम्हें अर्पण करूँ?
पर क्या परीक्षा रूप में पुस्तक न यह आगे धरूँ?"

सरल और मधुर होते हुए भी 'जयद्रथ-वध' परिष्कृत तथा परिमार्जित भाषा में अधिक स्निग्ध वीरोचित तथा करुण भावों के साथ प्रस्तुत हुआ था, अतएव उसका भी अच्छा स्वागत हुआ। उसमें घोषणा की गयी थी——

'अधिकार खोकर बैठ रहना यह महा दुष्कर्म है,
न्यायार्थ अपने बन्धु को भी दण्ड देना धर्म है।'

'रंग में भंग' (दिसम्बर, १९०९), 'भारत भारती' (जुलाई, १९१२) तथा 'जयद्रथ वध' (नवम्बर १९१५) के प्रकाशन का जो स्वागत हिन्दी संसार में हुआ था, उससे हरिगीतिका छंद गुप्त जी का अपना हो गया। 'किसान' में (१९१६) उन्होंने दूसरे भिन्न भिन्न छंदों का प्रयोग किया; परन्तु प्रवासी भारतीयों की करुण कथा को अमर बना दिया।

अनूदित कृतियों की सुन्दरता

'विरहिणी व्रजांगना', 'वीरांगना', 'मेघनाद-वध', 'पलासी का युद्ध', (उमर खय्याम की रुबाइयां' तथा 'स्वप्न वासवदत्ता' अनूदित रचनाएँ हैं। उन्हें मूल से भी अधिक मनोहर माना गया है। बंगला के माइकेल मधुसूदन दत्त, नवीनचन्द्र सेन आदि का यह प्रसाद हिन्दी में अनूठा रहा। तिलोत्तमा, चन्द्रहास आदि नाट्य कृतियां भी अत्यन्त सुन्दर रही।

'शकुन्तला', 'पत्रावली', 'वैतालिक', 'अनघ', 'स्वदेश संगीत', 'हिन्दू', शक्ति तथा 'त्रिपथगा' में उनके प्रगति के सोपान अधिक व्यापक रूप से दृष्टिगोचर हुए।

'यशोधरा' और 'साकेत'

'झंकार' में गुप्त जी की गेय रचनाओं का संग्रह सुलभ हुआ, और कवि के नवीन रूप का दर्शन मिला। 'गुरुकुल' में सिख-गुरुओं के ओजस्वी-तेजस्वी जीवन की अपूर्व कथा काव्य रचना के रूप में अवतरित हुई। 'अनघ' एक रूपक काव्य था, जिसका आधार बौद्धकालीन विवरण है। इसके आगे ही 'यशोधरा' जैसी अत्यन्त सरस रचना का आविर्भाव हुआ। इसे उन्होंने यों तो अपने अनुज सियारामशरण गुप्त को प्रसन्न रखने के लिये १९३२ में लिखा था परन्तु यह नाट्य-कथा तथा चित्र कथा के साथ-साथ एक अत्यन्त सुन्दरतम काव्य कृति भी सिद्ध हुई। इसकी अमर पंक्तियां--

'अबला जीवन हाय, तुम्हारी यही कहानी
आंचल में है दूध और आंखों में पानी।'

तो हिन्दी चेतना में अमरत्व प्राप्त कर गयी हैं। यह गीति-नाट्य के रूप में भी अभिहित की गयी हैं। नारी जीवन की मर्म व्यथाएं इसके आगे के महाकाव्य 'साकेत' में (प्रकाशन सन् १९३१) अत्यन्त भावपूर्ण बन गयीं, यद्यपि इसकी शुरुआत बहुत पहले ही हो गयी थी। कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, भावोर्मि, संवाद तथा हृदयवेधक उद्‌गारों के कारण यह गुप्त जी की सर्वश्रेष्ठ रचना कही जाती है और इसका नवम सर्ग तो अत्यन्त मोहक तथा हृदयस्पर्शी है। गुप्त जी ने इसे अपने साकेत वासी पूज्य पिता जी को समर्पित किया है। चाहते हुए भी यह उनकी अन्तिम कृति नहीं हो सकी। द्वादश सर्गों का यह महाकाव्य इस बरवै में उर्मिला की वेदना का साकार स्वरूप है--

'अवधि शिला का उर पर था गुरु भार,
तिल-तिल काट रही थी दृग जल धार।'

इस काव्य ग्रंथ पर तो अनेक लोगों ने अनेक तरह से लिखा है परन्तु 'कामायनी' और 'आंसू' के युग में--इतिवृत्तात्मकता से रहस्य और छायावाद के स्वर्णिम प्रभात तक 'साकेत' ने ही गुप्त जी की बहुमुखी प्रतिभा और नवीन से प्रेरणा लेने की कला को उद्‌घोषित किया। 'भारत भारती' और 'जयद्रथवध' यदि इनकी कीर्ति की सुदृढ़ नींव हैं, तो 'यशोधरा और 'साकेत' शिखरों पर उमड़ते हुए स्वर्णिम केतु हैं। उनके शिखरों के नीचे ही 'मेघनाद-वध', 'विरहिणी', 'ब्रजांगना के झरोखे' तथा 'स्वदेश संगीत', 'अनघ', 'किसान', 'पत्रावली', 'गुरुकुल' 'झंकार' के दीपस्तम्भ दर्शनीय बन गये थे। 'पंचवटी' ने इसमें रामकाव्य की एक और पुस्तक प्रदान कर दी थी। सीता का विनोद, राम की गंभीरता, लक्ष्मण की साधना और नवीन विचारों का संयोग हमें पंचवटी

में ही मिलता है, जो प्रकृति के सौन्दर्य से भरपूर है ।

'कुणाल गीत'--'अजित'

इसके आगे राष्ट्रकवि ने हमें 'अर्जन और विसर्जन', 'सिद्धराज', 'कुणाल गीत' प्रभृति काव्यों का दर्शन कराया जिनमें नयी शैली और नये भावों का समावेश किया गया था । धर्माधीन राज्य से राज्याधीन धर्म का संकेत, "आकर मिलेंगी यहीं संस्कृतियां सब की ताकि भारत विश्वतीर्थ हो" तथा "अर्पित हो मेरा मनुज काय--बहुजन हिताय--बहुजन सुखाय" जैसी उक्तियां इन्हीं में व्यक्त हुई हैं । 'कुणाल गीत' में 'कारा' अथवा 'अजित' प्रस्तुत करने का आश्वासन दिया गया था और वह भी शीघ्र ही प्रकाशित हुआ । उसकी भावभूमि अधिक समसामयिक है ।

'जयभारत' में समन्वित रूप

पुरानी नयी सभी काव्य कृतियों से परिपूर्ण प्रसंगोचित महाभारत की कथा १९५२ में प्रकाशित हुई और इसके एक प्रसंग को मैंने बम्बई में प्रथम कवि के मुख से ही सुना । इसमें 'नहुष', 'त्रिपथगा', 'केशों की कथा' शांति सन्देश आदि का भी समावेश हो गया है । इसी में राष्ट्र कवि ने ये उद्गार प्रकट किये हैं --

कुछ और नहीं, अब मैं ही मैं
इस मैं को भी किसको सौंपूं,
पर बोझ न हो उसको मेरा
अपने को मैं जिसको सौंपूं !

और

पार्थिव शरीर में फूट पड़ी,
उद्दीप्त दिव्य उनकी काया,
खुल गयी गांठ मानों गलकर
झलमल कर निष्क निकल आया ।

राष्ट्रकवि के जीवन का निचोड़ ही मानों इन पंक्तियों में उतर आया है । नया और पुराना सब नवनीत बन कर इस 'जयभारत' में सहज सुलभ हुआ है और वही उनके काव्य का एकमात्र ऐसा ग्रंथ है, जिसमें उनकी प्रतिभा के सभी विविध पक्ष समन्वित रूप में मिलते हैं ।

'विष्णुप्रिया' एंव 'राजा और प्रजा'

मैथिलीशरण गुप्त का अन्तिम काव्य 'विष्णु प्रिया' १९५७ में प्रकट हुआ । 'यशोधरा' और 'साकेत' की उर्मिला के समान यह भी उपेक्षिता नारी की व्यथाभरी कथा है --

"मेरे लिए तुम्हारे मन में,
कुछ भी ममता आयी,
तो अपने दुख मूल्य की,
करती हूँ भर पाई ।"

यह उनके भावना-पक्ष का ऐसा चमकता मोती है, जो अश्रुकणों से श्रृंगार करता है । विचारपक्ष की प्रकाश किरणें 'राजा प्रजा' में झलकती हैं जो १९५६ में प्रकाशित हुआ । इसमें संसदीय जीवन की कुछ झलकियां हैं । इसमें उन्होंने

सावधान करते हुए ये कुछ दृष्टिकोण प्रकट किये हैं--

(१) जैसा चाहे अब यहां समाज बनाओ
पुरुषार्थ प्रकट कर स्वयं स्वभाग्य बनाओ।

(२) चिर सावधान इन वणिग् जनों से रहना
ये कभी तुम्हीं को बेच न दें तो कहना!............
दे सकते हैं ये तुम्हें बड़ा सा चन्दा
पर उस चारे के साथ कड़ा सा फंदा!

(३) जनवादी हो तुम, क्यों न जनों को जोड़ो.......
निर्वाचन तक ही तुम्हें नहीं जाना है।
प्रस्ताव रूप में अविश्वास लाना है!

सजा, त्याग, भ्रष्टाचार आदि पर उन्होंने इस कृति में पर्याप्त व्यंग्योक्तियां की हैं, और आशाभरी निगाहें दूर तक डाल कर कहा है :--

'गांव-गांव खुल रही पाठशालाएं अपनी
कंठ कंठ में पड़े वर्णमालाएं अपनी!
साक्षर होकर अपढ़ वर्ग भी बात कहेंगे
ग्राम रहेंगे, ग्राम्या भाव अब नहीं रहेंगे!"

इसी लिये उनका एकमात्र यही सन्देश है कि--

"जो मनुष्य बन सके, आर्य वह बना बनाया
मनुष्यत्व से श्रेष्ठ और क्या किसने पाया?"

उत्तरोत्तर विकास के लक्षण

राष्ट्रकवि की कृतियों को मुख्यतः तीन भागों में बांटा जा सकता है, यथा--
(१) राष्ट्रीय एवं समसामयिक काव्य
(२) पौराणिक आख्यानपरक काव्य और
(३) भावनामूलक अनुभूति काव्य। यह विभाजन एवं विश्लेषण मात्र सुविधा की बाह्यदृष्टि से किया गया है, अभ्यन्तर को देखते हुए ही तो सभी में कुछ न कुछ छटा दर्शनीय है। पौराणिक आख्यान-परक काव्यों में भी नवीन अभिव्यंजना की नये दृष्टिकोण से झलक मिल जाती है और अनुभूति काव्यों में भी सांस्कृतिक आधार का पुट है। पहली श्रेणी का प्रति-निधित्व 'भारत भारती', 'किसान', और 'राजा-प्रजा' करती है तो दूसरी श्रेणी का 'जयद्रथ-वध' और 'जय भारत'। तीसरी श्रेणी में 'यशोधरा', 'साकेत' और 'विष्णु-प्रिया' का समावेश किया जा सकता है। इनके अतिरिक्त ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित होने से विविध काव्यों की अलग श्रेणी बनती है, जिनमें 'रंग में भंग', 'सिद्धराज', आदि आते हैं। अनूदित काव्यों का अपना अलग ही महत्त्व है। प्रणयन-काल को सम्मुख रख कर एक से दूसरे में बहुरंगी प्रतिभा का विकास दर्शनीय है, जिनका विशद विश्लेषण इस छोटे से निबन्ध में नहीं हो सकता। भाषा, शैली, कल्पना, भावना और अनुभूति की प्रांजलता हठात् आश्चर्यचकित करती है। क्योंकि

प्रबन्ध पटुता से ही आगे गीत-तत्त्व उभरता है और कल्पना अत्यधिक संश्लिष्ट बन कर अनुभूतिपरक उद्‌गारों किंवा संवादों में नित नव-नवीन व्यंजनाओं से अर्थ की प्रचुरता और नवोन्मेष भर जाती है। यशोधरा उर्मिला से कुछ अधिक समर्थ हैं; परन्तु विष्णुप्रिया' दोनों से कहीं अधिक असमर्थ। इससे करुणा के उद्रेक में उत्तरोत्तर गहनता आयी है। इसी तरह राष्ट्रीयता भी धीरे धीरे मानवता बन गयी है। संस्कृति के प्रत्येक सोपान अधिक स्पष्ट हो गये हैं एवं इतिहास तथा पुराण को प्रगति के नये सोपान प्राप्त हुए हैं। रस की रसवन्ती को--धारा के माधुर्य को जिस तरह राष्ट्रकवि ने धन्य किया है, वह उच्चतर जीवन के आदर्शों से प्रेरित है।

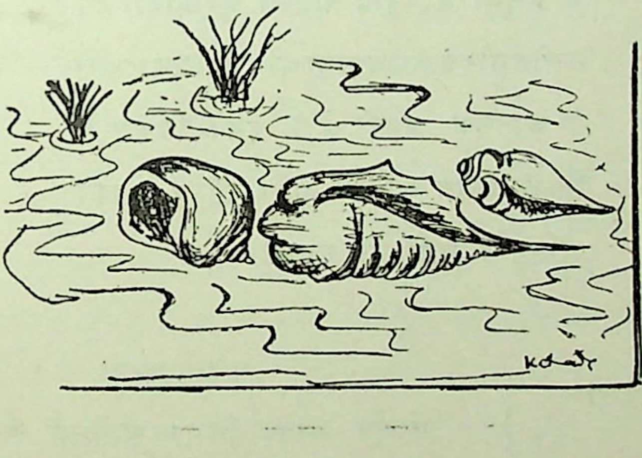
युग की विविधता का समन्वय

हिन्दी काव्य के विकास को विविध धाराओं की लोल लहरियां शैली और छंदों की विविधता राष्ट्रकवि के काव्यों को नयी झिलमिलाहट और सौन्दर्य प्रदान करती हैं। इतिवृत्त की पृष्ठभूमि कहीं रहस्योन्मुखी हो जाती है तो फिर कभी प्रतीकात्मक छायावाद का आश्रय लेकर प्रगति, प्रयोग और विकासोन्मुख आधारों के बीच से अग्रगति के साथ तीव्रता से बढ़ जाती है। विवेचन के इस स्तर पर हम उनमें युगान्तर की विविधता का समन्वय देख सकते हैं। हरिगीतिका छंद मात्रिक और वार्णिक वृत्तों को नयी-नयी प्रयोगावलियों से गुजरता हुआ सूक्ष्मतर हो जाता है और अन्त में तुक, यति-गति सभी से मुक्त होकर अधिक मौलिक एवं मौक्तिक बनता हुआ केवल लय में लीन हो जाता है। हिन्दी काव्य के ये अनेक चरण इस तरह राष्ट्रकवि की काव्य कृतियों में मानों द्रष्टांत बन कर उभरे हैं। राष्ट्र-कवि की साधना का सम्पृक्त सीप-सम्पुट बाहर से कुछ आधुनिक समीक्षकों को रुक्ष दिखता हुआ भी भीतर से अत्यन्त कोमल और सुन्दर है क्योंकि संयुक्त मुक्ता की चमचमाहट अन्तर में पुट बन कर बिछ सी गयी है। शब्द-शक्ति का वैभव सम्पन्न चमत्कार, तुक की स्वाभाविकता, गतिमयता की लोल लयता और सबसे अधिक अनुभूति की गुरु गंभीरता राष्ट्र-कवि की काव्यगत साधना की ऐसी विशेषताएं हैं, जो निस्सन्देह किसी एक ही कवि के बूते की बात नहीं। हिन्दी को भारतीयता के व्यापक प्रांगण में प्रवेश कराने, उसे पाश्चात्य और पौर्वात्य का असीम क्षितिज सौंपने तथा सबसे अधिक प्राचीन पर नवीन की संस्थापना करके माधुर्य-सौन्दर्य, कल्पना-भावना, अभिव्यक्ति-अनुभूति, शब्दशक्ति और उक्ति वैचित्र्य का एकसाथ वरदान देने का एकमात्र श्रेय राष्ट्रकवि को ही है। इसमें उनके सहायक अनेक थे, हैं और भविष्य में भी होंगे परन्तु 'आगे का जय-जयकार'

प्रतिनिधित्व के नवजागरण की भैरवी की तान को प्रतिध्वनित करता ही रहेगा।

भारतीय लोक-जीवन की प्रत्येक मान्यता, मनःस्थिति उतार चढ़ाव की प्रवृत्ति, हृदय की धड़कन ग्रौर स्पन्दन का ग्रावेगपूर्ण स्वासोच्छ्वास उनकी काव्य गीतिका में मुखरित हुग्रा है।

गांधी ग्रौर जवाहर के स्वतंत्रता एवं समता के लोक युग में राष्ट्रकवि की जो वाणी इस तरह धरती से उठ कर ग्राकाश तक गूंजती रही, उसने श्रद्धा-सुमनों की दोनों पर मार्मिक श्रद्धांजलियां भी चढ़ायीं। 'भारत भारती', 'यशोधरा', 'साकेत' 'कुणाल गीत' 'जयभारत', ग्रौर 'विष्णु प्रिया' के इस श्रेष्ठ कवि ने 'ग्रजित' तथा 'राजा प्रजा' के साथ विविध कृतियों में ग्रपनी बात खुल कर खूबी से रखी है। जहां उसके मार्मिक बोल हृदयों के कपाटों को खोलते हैं, वही साधारण जनों की बुद्धि के कौशल को भी नये क्षितिजों को छूने के लिये बाध्य करते रहते हैं। चार पीढ़ियों की कवित्व शक्ति का भार वहन कर राष्ट्रकवि ने जहां नन्दनवन की सृष्टि की, वहीं क्रन्दन में भी स्पन्दन का ग्राभास दिया। युग के संगीत की स्वर लहरी भारत भर में गूंजी ग्रौर उसने प्रत्येक साहित्यिक को जीवन में संजीवन का बोधपाठ दिया। निश्चय ही भारत का साहित्य-संसार उनका ऋणी है, ग्रौर उनके प्रयाण पर ग्रपने शत-शत प्रणाम सादर प्रस्तुत कर रहा है।



पंजाब भाषा विभाग, साहित्य समाज, पटियाला

भाषा विभाग साहित्य समाज का यह विशेष अधिवेशन विशिष्ट ख्यातिप्राप्त पद्म विभूषित राष्ट्रीय कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त संसद सदस्य के इस असामयिक एवं आकस्मिक देहावसान पर व्यथित हृदय से शोक प्रकट करता है और दिवंगत कवि के पारिवारिक जनों के साथ हार्दिक सम्वेदना व्यक्त करता है और इस साहित्यिक समाज के सदस्यों की सहानुभूति और शोक अपने अभिलेख में संविष्ट करता है ।

माननीय श्री गुप्त जी पराधीनता युग में प्रसुप्त भारतीय आत्मा के जागरिता, अतीत गौरव के उद्गाता और वर्तमान भारत के जागरुक प्रहरी थे । इनके निधन से हिन्दी जगत को जो हानि हुई है उसकी क्षतिपूर्ति नहीं हो सकती ।

प्रधान मन्त्री,
पंजाब भाषा विभाग साहित्य समाज,
पटियाला ।

दिनांक
१४-१२-६४

अठारहवीं शताब्दी के अंग्रेज़ी समीक्षक

डा० प्रताप नारायण टंडन

अठारहवीं शताब्दी के प्रमुख अंग्रेज़ी समीक्षा शास्त्रियों में सर्वप्रथम जान डेनिस का नाम उल्लेखनीय है। इसकी शिक्षा–दीक्षा हैरो तथा कैमस कालेज, कैम्ब्रिज में हुई थी। 'रिनाल्डो ऐण्ड आर्मिडा' नामक इसका प्रसिद्ध दुखान्तक नाटक सन् १६९९ में प्रकाशित हुआ था। इसकी समीक्षा कृतियों को विशेष रूप से मान्यता प्राप्त हुई। इनमें 'दि एडवांसमेन्ट ऐन्ड रिफार्मेशन आफ माडर्न पोयट्री' (सन् १७०१), 'दि ग्राउण्ड्स आफ क्रिटिसिज्म इन पोयट्री' (सन् १७०४) तथा 'एन एसे आन दि जीनियस ऐण्ड राइटिंग्स आफ शेक्सपीयर' (सन् १७१२) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यह ड्राइडन का शिष्य था। इसने इस बात का प्रयत्न किया कि यह ड्राइडन की समीक्षा परम्परा को प्रसार दे सके। परन्तु दुर्भाग्यवश इसे अपनी इस चेष्टा में अधिक सफलता न प्राप्त हो सकी।

जॉन डेनिस का अध्ययन यद्यपि बहुत गहन न था और न ही उसने गम्भीर चिन्तन किया था परन्तु उसे युगीन ख्याति बहुत अधिक प्राप्त हुई थी। उसकी समीक्षात्मक क्षमता के विषय में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। इसने ग्रीक तथा अंग्रेज़ी नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए कहा था कि जिन परिस्थितियों ने ग्रीक नाटक को जन्म और विकास दिया, उससे अंग्रेज़ी नाटक की विकासकालीन परिस्थितियां सर्वथा भिन्न थीं। इसलिये उसने उन लोगों का विरोध किया, जो ग्रीक आदर्शों के पूर्ण अनुकरण पर बल देते थे। यूरोपीय काव्य के विकास का उसने समुचित अध्ययन नहीं किया था, इसलिये उस विषय पर उसके विचार अधिक विश्वसनीय नहीं हैं। डेनिस अपने विचारों के प्रति बहुत आगृहीत था। वह तर्कात्मक शैली का तो प्रयोग करता था, परन्तु उसके आधार पर जो निष्कर्ष निकालता था, उन पर दृढ़ रहता था। वह कहता था कि काव्य को प्रकृति का अनिवार्यतः अनुकरण करना चाहिए। उसमें यदि

धार्मिक कथाएं हों तो उनका सम्बन्ध स्वदेशी धर्म तथा पौराणिक आधारों से होना चाहिए । साथ ही उनमें आवश्यक सन्तुलन भी होना चाहिए । डेनिस के काव्य विषयक ये विचार लोजाइन्स और मिल्टन के काव्य सिद्धान्तों पर आधारित हैं । वह काव्य को एक सजीव वस्तु मानता था जो ईश्वर के उसी प्रकार अधीन है जैसे मनुष्य । यही कारण है कि उसने काव्य में धार्मिक पौराणिक अथवा नैतिक विषयों के समावेश पर बल दिया है । यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि जिन विषयों पर उसने विशेष अध्ययन किया था, उन पर उसके विचार बहुत ठोस तथा जिन पर उसका अध्ययन नहीं था, उन पर उसके विचार बहुत उत्तरदायित्व रहित हैं ।

एडवर्ड विशी की पुस्तक 'आर्ट आफ इंग्लिश पोयट्री' में उन काव्य सिद्धान्तों का विवरण प्रस्तुत किया गया है, जो अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में प्रचलित थे । इसने अंग्रेजी कवियों की साहित्यिक धारणाओं और मान्यताओं का विवरण उपस्थित किया है । इसने इस विचार का समर्थन किया कि जहां तक अनुकरणात्मकता का प्रश्न है सदैव महान् साहित्यकारों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का ही पालन करना चाहिए । इसने इस तथ्य की ओर भी संकेत किया है कि प्राचीन काल में जो साहित्यिक नियम एवं सिद्धान्त बनाए गये थे, वे परवर्ती युगों में निरर्थक घोषित कर दिये गये । उसने कहा कि यदि प्राचीन सिद्धान्तों को स्वीकारा जाय तो पूर्णतः आंशिक रूप में उनके पालन से कोई लाभ नहीं है ।

प्रिरर शास्त्रीयता का अनुगामी था । उसने शास्त्रीय छन्द शास्त्र का समर्थन किया । चार्ल्स गिडन ने काव्य के स्वरूप और कला पर अपने महत्त्वपूर्ण विचार प्रकट किये है । अपनी कृति 'कम्प्लीट आर्ट आफ पोयट्री' में उसने काव्य की विस्तृत विवेचना की है, यद्यपि इसमें अभिव्यक्त उसके सिद्धान्तों में वैचारिक प्रौढ़ता का अभाव है । गिडन के साथ ही लियोनार्ड वेल्स्टेट का नाम भी उल्लेखनीय है ।

जोसेफ एडीसन का समय सन् १६७२ से लेकर १७१६ तक है । इसने क्वींस कालेज, आक्सफोर्ड में शिक्षा प्राप्त की थी । आरम्भ में इसने लेटिन भाषा में सफलतापूर्वक काव्य रचना की थी । इसका राजनैतिक जीवन से भी बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध रहा था । सन् १७०४ में इसकी 'दि कैम्पेन' शीर्षक रचना प्रकाशित हुई थी । अपने समकालीन लेखकों में स्विफ्ट तथा स्टील आदि से इसका अच्छा परिचय था । इसने 'फ्री होल्डर' नामक राजनैतिक पत्र का सम्पादन भी किया था । सन् १७१६ में इसने काउंटेस आफ वारविक से विवाह किया था । अपनी प्रौढ़ावस्था में यह अंग्रेज़ी समीक्षकों में

सर्वश्रेष्ठ माना जाता था यद्यपि अपने जीवन के अन्तिम भाग में इसे अपनी कटु आलोचना सहन करनी पड़ी । परन्तु इससे एडीसन की ख्याति में कोई अन्तर नहीं आया । परन्तु अंग्रेज़ी समीक्षा साहित्य के विकास में एडीसन का महत्त्व ऐतिहासिक दृष्टि से ही रह जाता है, यद्यपि कुछ लोगों के विचार के अनुसार
वह एक क्रान्ति
उसे अरस्तू त
षियों के समक

एडीसन
विषयों पर
इसका अभ्या
मिल्टन के 'पै
क्रमबद्ध रूप
में लिखे । इ
करते समय ए
को आधार ब
अरस्तूवादियों
इसने मिल्टन
दोष यह भी ब
है, जबकि अरस्तू के अनुसार महाकाव्य को सुखान्तक होना चाहिए । इसने वर्जिल के काव्य को आदर्श माना है । एडीसन ने इस ओर भी संकेत किया है कि मिल्टन ने अपने महाकाव्य में जो अनावश्यक पाण्डित्य प्रदर्शन किया है, उसका कारण यही है कि वह एक महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति था । उसने अपने महाकाव्य में धर्म, इतिहास, ज्योतिष, भूगोल तथा ईश्वर आदि विषयों पर आंशिक और सांकेतिक रूप से समावेश भी इसी कारण से किया है।

एडीसन का विचार था कि कल्पना का क्षेत्र यह प्रत्यक्ष संसार ही है । मनुष्य किसी ऐसी वस्तु पर स्वरूप की कल्पना नहीं कर सकता, जिससे उसका साक्षात्कार
ा एक ऐसी
क दूसरे से
। है । कल्पना
ों में आनन्द
। से मनुष्य
में पार्थक्य
यता से वह
ामंजस्य के
। समय और
। मार्ग रुद्ध

ण्ट आफ दि
चना एक पद्य
प्रतीत होता
त्य के विकास
के इतिहास का विशद ज्ञान न था । इसने स्पेंसर, मिल्टन, काउली, ड्राइडन, कांग्रीव आदि के विषय में अपने विचार लिखे हैं । एडीसन की रचनाओं से इस बात के भी संकेत मिलते हैं कि उसे अपनी समकालीन साहित्यिक गतिविधि की पूर्ण अवगति न थी । इसने साहित्य और काव्य के

नवम्बर व दिसम्बर का अंक
सप्तसिन्धु १९६५
नहीं है ।

धार्मिक कथाएं हों तो उनका सम्बन्ध स्वदेशी धर्म तथा पौराणिक आधारों से होना चाहिए । साथ ही उनमें आवश्यक सन्तुलन भी होना चाहिए । डेनिस के काव्य विषयक ये विचार लोजाइन्स और मिल्टन के काव्य सिद्धान्तों पर आधारित हैं । वह काव्य को एक सजीव वस्तु मानता था जो ईश्वर के उसी प्रकार अधीन है जैसे मनुष्य । यही कारण है कि उसने

अथवा

बल दि

है कि जि

किया

तथा

उन प

रहित

ए

इंग्लिश

का विव

अठारहव

में प्रचलि

साहित्यि

का विव

इस विचा कि जहां तक अनुकरणात्मकता का प्रश्न है सदैव महान् साहित्यकारों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का ही पालन करना चाहिए । इसने इस तथ्य की ओर भी संकेत किया है कि प्राचीन काल में जो साहित्यिक नियम एवं सिद्धान्त बनाए गये थे, वे परवर्ती युगों में निरर्थक घोषित कर दिये गये । उसने कहा कि यदि प्राचीन सिद्धान्तों को स्वीकारा जाय तो पूर्णतः आंशिक रूप में उनके पालन से कोई लाभ नहीं है ।

प्रिरर शास्त्रीयता का अनुगामी था । उसने शास्त्रीय छन्द शास्त्र का समर्थन किया । चार्ल्स गिडन ने काव्य के स्वरूप और कला पर अपने महत्त्वपूर्ण विचार

कृति 'कम्प्लीट आर्ट

काव्य की विस्तृत

प इसमें अभिव्यक्त

चारिक प्रौढ़ता का

साथ ही लियोनार्ड

ल्लेखनीय है ।

समय सन् १६७२

है । इसने क्वींस

शिक्षा प्राप्त की

लेटिन भाषा में

चना की थी ।

न से भी बहुत

। सन् १७०४ में

क रचना प्रकाशित

लीन लेखकों में स्विफ्ट तथा स्टील आदि से इसका अच्छा परिचय था । इसने 'फ्री होल्डर' नामक राजनैतिक पत्र का सम्पादन भी किया था । सन् १७१६ में इसने काउंटेस आफ वारविक से विवाह किया था । अपनी प्रौढ़ावस्था में यह अंग्रेज़ी समीक्षकों में

सर्वश्रेष्ठ माना जाता था यद्यपि अपने जीवन के अन्तिम भाग में इसे अपनी कटु आलोचना सहन करनी पड़ी । परन्तु इससे एडीसन की ख्याति में कोई अन्तर नहीं आया । परन्तु अंग्रेज़ी समीक्षा साहित्य के विकास में एडीसन का महत्त्व ऐतिहासिक दृष्टि से ही रह जाता है, यद्यपि कुछ लोगों के विचार के अनुसार वह एक क्रान्तिकारी समीक्षक था और उसे अरस्तू तथा लोजाइन्स जैसे मनीषियों के समकक्ष माना जा सकता है ।

एडीसन 'स्पेक्टेटर' में विविध विषयों पर लिखता रहता था जिससे इसका अभ्यास अच्छा हो जाता है । मिल्टन के 'पैराडाइज़ लॉस्ट' पर इसने क्रमबद्ध रूप से अनेक निबन्ध इस पत्र में लिखे । इस महाकाव्य की आलोचना करते समय एडीसन ने अरस्तू के सिद्धान्तों को आधार बनाया है । इसके समय में अरस्तूवादियों की संख्या बढ़ रही थी । इसने मिल्टन के इस महाकाव्य में एक दोष यह भी बताया है कि वह दुखान्तक है, जबकि अरस्तू के अनुसार महाकाव्य को सुखान्तक होना चाहिए । इसने वर्जिल के काव्य को आदर्श माना है । एडीसन ने इस ओर भी संकेत किया है कि मिल्टन ने अपने महाकाव्य में जो अनावश्यक पाण्डित्य प्रदर्शन किया है, उसका कारण यही है कि वह एक महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति था । उसने अपने महाकाव्य में धर्म, इतिहास, ज्योतिष, भूगोल तथा ईश्वर आदि विषयों पर आंशिक और सांकेतिक रूप से समावेश भी इसी कारण से किया है।

एडीसन का विचार था कि कल्पना का क्षेत्र यह प्रत्यक्ष संसार ही है । मनुष्य किसी ऐसी वस्तु पर स्वरूप की कल्पना नहीं कर सकता, जिससे उसका साक्षात्कार पहले न हो चुका हो । कल्पना एक ऐसी शक्ति है जो यथार्थ वस्तुओं का एक दूसरे से संयोग या वियोग कर सकती है । कल्पना प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों रूपों में आनन्द प्रदान कर सकती है । कल्पना से मनुष्य दो संगत बातों और वस्तुओं में पार्थक्य देख सकता है और उसकी सहायता से वह दो असंगत वस्तुओं में भी सामंजस्य के दर्शन कर सकता है। देश, काल समय और अन्य सीमाएं भी कल्पना का मार्ग रुद्ध नहीं कर सकतीं ।

एडीसन ने अपने 'एकाउण्ट आफ दि ग्रेटेस्ट इंग्लिश पोयट्स' की रचना एक पद्य निबन्ध के रूप में की है। ऐसा प्रतीत होता है कि एडीसन को अंग्रेजी काव्य के विकास के इतिहास का विशद ज्ञान न था । इसने स्पेंसर, मिल्टन, काउली, ड्राइडन, कांग्रीव आदि के विषय में अपने विचार लिखे हैं । एडीसन की रचनाओं से इस बात के भी संकेत मिलते हैं कि उसे अपनी समकालीन साहित्यिक गतिविधि की पूर्ण अवगति न थी । इसने साहित्य और काव्य के

अतिरिक्त नैतिक और व्यावहारिक विषयों पर भी टिप्पणियां तथा संक्षिप्त निबन्ध लिखे हैं ।

वोर्स फोल्ड ने एडीसन को कल्पना को प्रेरणा देने की कसौटी से साहित्य का परीक्षण करने वाला सर्वप्रथम आलोचक माना है। कहा जाता है कि अंग्रेज़ी समीक्षा के क्षेत्र में मनोवैज्ञानिक समीक्षा की प्रणाली का प्रयोग भी सर्वप्रथम एडीसन ने ही किया । इसने साहित्य विषयक अनेक समस्याओं को प्रस्तुत किया और उनके हल खोजने का प्रयास किया । इसके विचार से किसी भी साहित्यांग की मनुष्य पर प्रतिक्रिया का परीक्षण करना चाहिए और यह भी देखना चाहिए कि उसका रचयिता की प्रकृति से कितना साम्य है। इस दृष्टिकोण से एडीसन पर प्रसिद्ध दार्शनिक लॉक का प्रभाव स्पष्ट है । एडीसन का यह भी विचार था कि समीक्षक को अपने समकालीन साहित्यकारों की कृतियों का पारायण और समीक्षा सहानुभूतिपूर्वक करनी चाहिए, मात्र दोष-कथन और अनर्गल तक प्रस्तुत करते रहने की प्रवृत्ति से बचना चाहिए। इसका विचार था कि साहित्यिक श्रेष्ठता का कोई एक प्रकार न होकर अनेक प्रकार होते हैं, अतः समीक्षक को अपना दृष्टिकोण बहुत संकुचित नहीं रखना चाहिए ।

ऊपर एडीसन के 'स्पेक्टेटर' नामक पत्र का उल्लेख किया गया है । इसमें एडीसन के विविध विषयक निबन्ध नियमित रूप से प्रकाशित होते रहते थे । इन लेखों में एडीसन ने साहित्य कला और जीवन के विविध पक्षों से सम्बन्ध रखने वाले प्रश्नों पर अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। उसके इन निबन्धों को पर्याप्त मान्यता प्राप्त हुई । एडीसन का विचार था कि आधुनिक दुखान्त नाटक प्राचीन दुखान्त नाटकों से श्रेष्ठतर हैं । इसका एक कारण यह भी है कि आधुनिक दुखान्त नाटकों में प्राचीन ग्रीक तथा लैटिन दुखान्त नाटकों की अपेक्षा कथा तत्त्व अधिक सुसंगठित रूप में मिलता है। परन्तु प्राचीन नाटकों की अपेक्षा आधुनिक में एक दोष भी है। और वह यह कि उनमें नैतिकता के तत्त्व अपेक्षाकृत कम है । अंग्रेज़ी नाटक में उसने दुखान्त और सुखान्त के मिश्रित रूप का विरोध किया, क्योंकि उसका विचार था कि दुखान्त नाटक में कभी भी दो कथाओं को समानान्तर नहीं विकसित होना चाहिए। वह लयात्मकता का भी समर्थक नहीं था। वह नाटकों में नाटकीय तत्त्वों के समावेश का भी विरोधी रहा। उसने इस तथ्य की ओर भी संकेत किया है कि शेक्सपीयर ने सर्वाधिक सफलतापूर्वक अपनी नाट्य कृतियों में नाटकीय तत्त्वों का समावेश किया है।

सर रिचर्ड स्टील का समय सन् १६७२ से लेकर १७२९ तक माना

जाता है। इसका जन्म डब्लिन में हुआ था। इसने आक्सफोर्ड में शिक्षा प्राप्त की थी। सन् १७०१ में इसने अपनी 'दि क्रिश्चियन हीरो' नामक रचना प्रकाशित की। इसके पश्चात् सन् १७०१ में ही 'दि फ्यूनरल' सन् १७०३ में 'दि लाइंग लवर' सन् १७०५ में 'दि टेन्डर हसबेन्ड' तथा सन् १७२२ में 'दि कांशश लवर्स' नामक रचनाएं प्रकाशित कीं। इसने राजनैतिक जीवन में भी सक्रिय भाग लिया था। इसने अपने समीक्षात्मक विचारों को बहुत संक्षेप में प्रस्तुत किया है। इसमें साहित्यिक विकास की अवगति का अभाव तथा अधैर्य की प्रबलता थी। यह स्पेंसर का प्रशंसक था और उसकी समीक्षा इसने बहुत प्रौढ़ रूप में की है।

फ्रांसिस एटरबरी का समय सन् १६६२ से लेकर १७३२ तक माना जाता है। इसकी शिक्षा दीक्षा वेस्ट मिनिस्टर तथा आक्सफोर्ड में हुई थी। यह राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक तथा साहित्यिक क्षेत्रों में क्रियात्मक रूप से भाग लेता था। इसकी कृतियों में सन् १७४० में 'सेरमोस' सन् १७८९–९८ में 'मिसलीनियस वर्क्स' तथा सन् १६९८ में 'डिस्कोर्ड अकेज़ड बाई दि थे आफ लेडी कट्स' प्रकाशित हुई थीं। यह स्टील की अपेक्षा अधिक ऊंची प्रतिभायुक्त समीक्षक था। यह एक बड़ा पंडित, सुपरिचित साहित्यिक तथा मंजा हुआ लेखक था। यह लयात्मकता का विरोधी था। मिल्टन आदि कवियों की प्रशंसात्मक समीक्षा इसने बड़े पाण्डित्यपूर्ण ढंग से की है। परन्तु इसकी समीक्षा दृष्टि अधिक सूक्ष्म, गहन तथा विकसित न थी। यही कारण है कि इसकी गणना अपने समय के प्रतिनिधि समीक्षकों में तो होती है, महान् समीक्षकों में नहीं।

जोनेदन स्विफ्ट का समय सन् १६६७ से लेकर सन् १७४५ तक माना जाता है। इसका जन्म डबलिन में हुआ था। इसकी उच्च शिक्षा डबलिन के ट्रिनिटी कालेज में हुई थी। सन् १६९७ में इसने 'दि बैटल आफ दि बुक्स 'नामक रचना लिखी जिसका प्रकाशन सन् १७०४ में हुआ था। इसी वर्ष इसकी 'ए टेल आफ ए टब' भी प्रकाशित हुई। यह बहुधा लन्दन जाता रहता था। इसकी भेंट इन्हीं यात्राओं में एडीसन, स्टील, कांगीव तथा हैलीफेक्स आदि से हुई थी। राजनैतिक क्षेत्रों से इसका घनिष्ठ संबंध रहा था और इसने राजनैतिक विषयों पर अनेक कृतियों की रचना की थी। एडीसन के परवर्ती साहित्य समीक्षकों में स्विफ्ट का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसकी ''बैटल आफ दि बुक्स' नामक कृति समीक्षा साहित्य में विशिष्ट महत्त्व की कृति मानी जाती है, यद्यपि इसमें अभिव्यक्त स्विफ्ट के विचारों में पर्याप्त असंगति भी है। इस पुस्तक की अपेक्षा उसकी दूसरी पुस्तक 'ए टेल आफ ए टब'

अधिक सन्तुलित और ठोस मानी जाती है।

एलेक्जेंदर पोप का समय सन् १६८८ से लेकर १७४४ तक माना जाता है। सन् १७११ में इसकी जगत् प्रसिद्ध कृति 'एसे आन क्रिटिसिज्म' प्रकाशित हुई थी। इसकी 'रेप आफ दि लॉक' (सन् १७१४) तथा 'ओड फार म्यूज़िक आन सेंट सेसीलियाज़ डे" (सन् १७१३) आदि काव्य कृतियां ऐतिहासिक महत्त्व की सिद्ध हुईं। उपर्युक्त कृतियों के अतिरिक्त इसकी अनेक पुस्तकें भी प्रकाशित हुई थीं, जिनमें 'विंडसर फारेस्ट 'इलियड' तथा 'ओंडेसी' के अनुवाद 'वर्सेज़ टु दि मेमोरी आफ एन अनफार्चुनेट लेडी' 'एलोसिया टु एबेलाई' 'थरी आवर्स आफ्टर मैरिज' (सन् १७१७) 'ए फ्रैगमेन्ट आफ ए सैटायर' (सन् १७२७) 'मार्टर्नस स्क्रिव्लरस' 'दि न्यू ह्यनसिएड' (सन् १७४२) 'एन एसे आन मैन' (सन् १७३३–३४), 'मारल एसे' (आफ दि नालेज एन्ड करैक्टर्स आफ मैन, आफ दि करैक्टर्स आफ वुमैन' तथा आफ दि यूज़ आफ रिचेज सन्(१७३१-३५) 'इमीटेशंस आफ होरेस' 'एप्सल टु डा० अवर्थनाट (सन् १७३५) ' वन थाउसैंड सेवेन हंड्रेड एन्ड थर्टी एट' (सन् १७३८) 'सेटायर्स आफ डा० हॉने वर्सीफाइड' तथा न्यू ड्यून सिएड' (सन् १७३५) आदि उल्लेखनीय हैं। उपर्युक्त कृतियों के अतिरिक्त पोप कृत 'दि एपिसिल्स टु ए यंग लेडी (मिस ब्लाउण्ट) विद दि वर्क्स आफ व्यायचर' (सन् १७१२) 'आन हर लीविंग दि टाउन आफ्टर दि कारोनेशन' (सन् १७२७), टु मि० जर्वास विद ड्राइडेंस' 'ट्रांस्लेशन आफ फर्सन्वाएस आर्ट आफ 'पेंटिंग' (सन् १७१६) 'टु रावर्ट, अर्स आफ आक्सफोर्ड एन्ड अर्ल मार्टियर' (सन् १७२२), 'वर्टम्नस एन्ड पोमोना' 'सेफो टु फायोन 'दि फेबुल आफ ड्रापोप' (सन् १७१२), जेनुअरी ऐन्ड में 'दि वाइफ आफ बाथ, हर प्रोलोग' 'दि थेम्पुल आफ फेम' (सन् १७०९, १७१४ तथा १७१५) आदि काव्य रचनाएं 'दि नेरेम्वि आफ डा० रावर्ट नोरिस' (सन् १७१३), एफुल ऐन्ड टु एकाउण्ट आफ ए होरिड ऐन्ड बारबेरस रिवेंज बाई प्वाइज़न आन... मि० एडम० कर्ल (सन् १७१६ आदि गद्य रचनाएं हैं।

पोप सामान्य विवेक ज्ञान में विश्वास रखता था। इसकी कविताओं को देखने से यह भ्रम हो सकता है कि यह बहुत बड़ा पंडित था, परन्तु एक विद्वान के रूप में इसे मान्यता नहीं दी गयी। इसका कारण यह है कि इसमें कवित्व शक्ति का अभाव नहीं था, परन्तु इसमें उच्च कोटि की समीक्षात्मक प्रतिभा भी नहीं थी। यही कारण है कि इसकी अनेक काव्य रचनाएं बहुत उत्कृष्ट हैं, परन्तु यह उत्कृष्टता

इसकी गद्य रचनाओं में नहीं मिलती। इसने शेक्सपीयर, जानसन, ड्राइडन तथा स्पेंसर आदि पर अपने समीक्षात्मक विचार प्रस्तुत किये हैं। 'एसे आन क्रिटिसिज्म' पोप की सर्वोत्कृष्ट कृति है जिसमें उसकी समीक्षात्मक प्रतिभा का अधिकतम विकास हुआ है। यह रचना यद्यपि विद्वतापूर्ण अवश्य है, परन्तु सजग और सतर्क समीक्षा दृष्टि के अभाव के कारण इसमें अनेक स्थलों पर अपूर्णता का आभास मिलता है। पोप की प्रकृति अनुकरण की विचारधारा के आधार पर उसे बहुधा उत्कृष्ट कोटि का समीक्षक ठहराया जाता है, परन्तु यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि उसकी प्रकृति विषयक धारणा तथा आधुनिक प्रकृति विषयक धारणा में बहुत अन्तर है। काव्य के गुण–दोषों का जो विवेचन पोप ने अपनी इस रचना में किया है, वह बहुत ठोस है, यद्यपि काव्य सिद्धान्तों के प्रतिपादन की दृष्टि से इसका अधिक महत्त्व नहीं है।

पोप अपने अध्ययन और व्यावहारिक अनुभव के आधार पर इस निष्कर्ष पर आया था कि साहित्यिक श्रेष्ठता अनेक प्रकार की हो सकती है। अपने निष्कर्षों में इसने होरेस, विडा तथा बोयलो आदि से सैद्धान्तिक मतैक्य प्रकट किया है। यह तर्कात्मक शैली में विश्वास रखता था। इसका विचार था कि तर्क से जो निष्कर्ष निकले, वही सर्वमान्य होना चाहिए। पूर्व युग में होरेस भी तर्क बाद में विश्वास रखता था। इस दृष्टि से पोप के विचारों पर उसका पर्याप्त प्रभाव मिलता है। पोप शास्त्रीयता का समर्थक था। काव्य के क्षेत्र में यह नियमबद्धता और सैद्धान्तिक अनुगमन का पक्षपाती था। इसने बताया है कि प्राचीन यूनानी काव्य के अत्यधिक समृद्ध होने का कारण यह है कि वह काव्य सिद्धान्तों के अनुसार और नियमबद्ध था। इसीलिये आधुनिक कवियों को भी होमर तथा बर्जिल का अनुगमन न करना चाहिए।

पोप का विचार था कि एक समीक्षक को सर्वप्रथम आलोचना साहित्यकार के भावना प्रवाह में स्वयं को बहने देना चाहिए। जब उसे वैसी ही अनुभूति होने लगेगी, तभी वह उसकी समीक्षा उचित प्रकार से कर सकेगा। इसी प्रकार से किसी कृति की समीक्षा करते समय समीक्षक को उस कृति का उसकी सम्पूर्णता में परीक्षण करना चाहिए। जो समीक्षक आलोच्य कृति का परीक्षण खंड रूप में करता है, वह उसके साथ कभी भी न्याय नहीं कर सकता। उसने बताया है कि एक समीक्षक को अपने उत्तरदायित्व का अनुभव और निर्वाह भली प्रकार से करना चाहिए, क्योंकि साहित्य के विकास में एक अयोग्य क्रियात्मक साहित्यकार की अपेक्षा अनुत्तरदायी समीक्षक अधिक बड़ी बाधा होता है। पोप ने एक महत्त्वपूर्ण बात यह भी कही है कि सच्ची प्रतिभा के

समान ही परिष्कृत रुचि भी असाधारण वस्तु होती है। उसने बहुत गम्भीरता से इस मत का प्रतिपादन किया है कि साहित्य को प्रकृति द्वारा निर्देशित होना चाहिए। साहित्यिक सिद्धान्तों और नियमों का जहां तक सम्बन्ध है, हमें प्राचीन साहित्यकारों का अध्ययन करके उन्हीं में उसकी खोज करनी चाहिए।

पोप ने बताया है कि किसी साहित्यकार की सब से बड़ी योग्यता का परिचय इस बात से मिलता है कि स्वयं की प्रतिभा तथा शैली का प्रयोग वह कितनी सफलतापूर्वक कर सका है। यहां इस बात का उल्लेख करना असंगत न होगा कि पोप में साहित्य निर्देशन की असाधारण क्षमता थी। उसमें सबसे बड़ी कमी यह थी कि उसने स्वतंत्र रूप से विविध समस्याओं को न उठा कर उन्हें मिश्रित करके भ्रमात्मक बना दिया है। स्वतन्त्र रूप से वह काव्य, साहित्य, या कला आदि के विषय में उल्लेखनीय कथन करता है, परन्तु जहां-जहां उसने उन्हें अन्तर्सम्बन्धित करके उनके स्वरूप का स्पष्टीकरण करने की चेष्टा की है, वहां इसने अत्यन्त भ्रामक निष्कर्ष निकाले हैं।

पोप का मत है कि कम ज्ञान होने की अपेक्षा अज्ञान अधिक घातक सिद्ध होता है। उसने इस तथा अन्य बहुत से दोषों से बचने के लिये एकमात्र मार्ग प्राचीनता का अनुकरण करना बताया है। इसने स्वयं जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है उनका आधार भी प्राचीन साहित्य-शास्त्रियों के विचार ही हैं। पोप के परवर्ती समीक्षकों में लार्ड कैम्स, हैरिस, शेफ्ट्सब्यूरी, ह्यूम, राडम स्मिथ, ट्रैप, ब्लेयर तथा कैम्पवेल आदि हैं।

ब्लेयर की अंग्रेज़ी समीक्षा साहित्य को मुख्य देन उसके 'लेक्चर्स आन रिटारिक' है। इस पुस्तक में उसने बहुत ही सरल शैली में अपने गम्भीर और ठोस विचारों को प्रस्तुत किया है। इनके सम्बन्ध में यह तथ्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि यद्यपि ये लेक्चर्स बहुत ही मौलिक विचारों से परिपूर्ण हैं, परन्तु इनमें प्रतिपादित सिद्धान्त व्यावहारिक दृष्टि से ग्राह्य नहीं हैं। यह कृति ब्लेयर की समीक्षात्मक प्रतिभा और क्षमता की परिचायक है। उसने इस रचना में इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर भी संकेत किया है कि आधुनिक युग में 'रिटारिक' का वास्तविक अर्थ समीक्षा ही है। ब्लेयर अठारहवीं शताब्दी के अंग्रेज़ी समीक्षकों में से उनका कड़ा विरोधी था जिनका साहित्य क्षेत्रीय ऐतिहासिक ज्ञान बहुत कम था तथा जो अनेक प्रकार के भ्रमात्मक विचारों का प्रचार कर रहे थे। उदाहरण के लिये उसने उन लोगों से मत वैभिन्नय प्रकट किया है जिनका यह विचार था कि होमर एक साधारण कवि है, जिसका काव्य कला और सौन्दर्य विहीन है।

ब्लेयर का विचार था कि ऐसे विचार वे समीक्षक ही प्रकट कर सकते हैं जिनमें रस-ग्राह्यता की शक्ति का पूर्ण ग्रभाव है। ब्लेयर ने होमर, इथरेज़, सर्कलिंग, शेक्सपीयर, ग्रोसियन, ग्ररस्तू, हेनरी, होम, लार्डकेम्स, डा० जॉनसन ग्रादि पर ग्रपने समीक्षात्मक विचार प्रस्तुत किये हैं। इनमें से वह ग्रोसियन का ग्रत्यधिक प्रशंसक था ग्रौर उसे होमर के समकक्ष मानता था। उसने ग्रोसियन पर 'डिसर्टेशन ग्रान ग्रोसियन' नामक कृति भी रची। सैद्धांतिक समीक्षा क्षेत्र में उसकी लिखी हुई 'एलीमेंट्स ग्राफ क्रिटिसिज्म' नामक कृति ग्रपनी मौलिकता के कारण विशेष प्रशंसित हुई। ग्रंग्रेज़ी समीक्षा साहित्य को एक प्रौढ़ स्तर तक ले जाने का श्रेय ब्लेयर को भी है।

जेम्स हैरिस की कृतियों में 'हर्म्स', फिलसाफिकल ग्ररेंजमेंटस्, 'डिसकोड ग्रान म्यूजिक, तथा 'फिलासिफिकल इंक्वायरीज़' ग्रादि उसकी उल्लेखनीय कृतियां हैं। इनमें से ग्रंतिम विशेष रूप से प्रसिद्ध है जिसमें उसने सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक ग्रंग्रेज़ी समीक्षा का विकास प्रस्तुत किया है। इस पुस्तक में प्रस्तुत ग्रधिकांश विवरण इतिहास सम्मत नहीं भी होने पर इस कृति का ग्रपना महत्त्व है। इसका कारण यह है कि इसमें ग्रनेक स्थलों पर हैरिस ने बहुत सी महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं। उदाहरण के लिये उसने बताया है कि किसी भी भाषा के साहित्य में कोई ग्रसाधारण महत्त्व की कृति ग्रकस्मात् नहीं लिखी जा सकती, क्योंकि उसके लिये एक पुष्ट दीर्घ ग्रौर महान् परम्परा का होना ग्रनिवार्य है। उसने प्रतिभाशील साहित्यकारों के लिये सैद्धांतिक ग्रनुगमन भी ग्रावश्यक बताया। मध्ययुगीन साहित्यकारों के विषय में लिखते समय उसने चौसर, पिट्रार्क, मेण्डेविल, मार्कोपोलो, सामाज़ार ग्रादि पर ग्रपने विचार प्रकट किये हैं। वह ब्लेयर, केम्स तथा कैम्पबेल से वैचारिक सहमति नहीं रखता था।

जान ब्राउन की उल्लेखनीय कृतियों में 'एस्टीमेट ग्राफ मैनर्स', 'डिसटशन ग्रान दि रोइज़ ग्राफ पोयट्री' तथा 'हिस्ट्री ग्राफ दि राइज़ एन्ड प्रोग्रेस ग्राफ पोयट्री' ग्रादि हैं। जान ब्राउन बहुत ही स्पष्टवादी समीक्षकों में माना जाता है यद्यपि इसकी समीक्षात्मक प्रतिभा बहुत उच्चकोटि की नहीं थी। ब्राउन का महत्त्व भी ग्रंग्रेज़ी समीक्षा के इतिहास में ग्रपने युग का प्रतिनिधि समीक्षक होने के कारण ही प्रायः ग्रधिक है। यों भी उसने समस्त ग्रंग्रेज़ी समीक्षा साहित्य के विकास का इतिहास प्रस्तुत न करके ग्रधिकतर ग्रपने समकालीन साहित्य पर ही ग्रधिक लिखा है। यह ब्लेयर से बिल्कुल भी प्रभावित नहीं हुग्रा था ग्रौर उसकी 'डिसर्टेशन ग्रान ग्रोसियन' नामक प्रसिद्ध कृति के

विषय में भी इसकी धारणा प्रशंसात्मक नहीं थी ।

डा० सेमुएल जॉनसन का जन्म, १७०८ में हुआ था । उन्होंने अपनी प्रारम्भिक शिक्षा के पश्चात् कुछ समय तक आक्सफोर्ड में अध्ययन किया, यद्यपि उन्होंने वहां से कोई उपाधि नहीं प्राप्त की । उन के जीवन के प्रारंभिक वर्षों के विषय में अधिक विवरण उपलब्ध नहीं है : जब वह बरमिंघम में काम करते थे तो वह 'बरमिंघम जर्नल' में बहुधा लेखादि लिखते रहते थे । सन् १७३१ में अपने कुछ शिष्यों के साथ वह लन्दन में आ गये । जहां उन्होंने अपने जीवन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भाग व्यतीत किया । 'दि जैंटिलमैंस मैगज़ीन' में भी उन्होंने अनेक निबन्ध विविध विषयों पर प्रकाशित किये सन् १७३२ में उन्होंने 'लन्दन' शीर्षक कविता प्रकाशित की । १७४४ में उन्होंने अपने शब्द-कोश की योजना लार्ड चैस्टर फील्ड के सामने प्रस्तुत की । सन् १७४९ में उन्होंने अपनी सर्वश्रेष्ठ कविता 'वेनिटी आफ ह्यूमन विशेज़' तथा आइरन नामक दुखान्तक नाटक प्रकाशित किया जिसमें अधिकतर नैतिक विषयों पर कथोपकथन है ।

सन् १७५० में उन्होंने 'रैम्बलर' नामक पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ किया । सन् १७५५ में उनका शब्दकोश प्रकाशित हो गया । स्मार्ट के 'युनिवर्सल विज़िटर' में अनेक निबन्ध प्रकाशित करने के पश्चात् उन्होंने 'लिटरेरी मेगज़ीन' का सम्पादन आरम्भ किया । १७५१ में उन्होंने सर टांमस ब्राउन की जीवनी लिखी । सन् १७५९ में उनका उपन्यास 'रैसलास' प्रकाशित हुआ । सन् १७६२ में उन्हें लार्ड ब्यूट ने पेंशन दी तथा अगले वर्ष उनकी मित्रता जेम्स बासवेल से हुई । १७६४ में लिटरेरी क्लब की स्थापना हुई जिसके सदस्यों में डा० जानसन, रोनोल्स, बर्क, गोल्डस्मिट गैरिक सी० जे० फाक्स तथा बासवेल आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं ।

जॉनसन के समीक्षा व्यक्तित्व की सब से बड़ी विशेषता उसकी वैचारिक अटलता है । यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि उसने अपने समीक्षात्मक सिद्धान्तों की रचना बहुत कम आयु में ही कर ली थी, परन्तु उनमें उसने अन्त तक किसी प्रकार के किसी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं समझी और उसके ये समीक्षा सिद्धान्त किसी भी उच्चकोटि के समीक्षक के समान प्रौढ़ हैं । उसकी प्रमुख समीक्षात्मक कृतियों में उसके ये सिद्धान्त स्पष्टता से लक्षित किये जा सकते हैं । 'दि रैम्बलर'' में उसने मिल्टन का विवेचनात्मक अध्ययन किया है । वह अंग्रेज़ी छन्द शास्त्र को बहुत दोषपूर्ण समझता था । सेमसन अगोनिस्टस के प्रति उसके विचार बहुत सन्तुलित हैं । वह स्पेंसर के प्रति प्रशंसात्मक विचार

नहीं रखता था । स्पेंसर के अनुकरणात्मकता के सिद्धान्त का भी वह विरोधी था । उसने बताया है कि स्पेंसर की बहुत सी हीनताएं केवल इसी कारण से हैं । उसने राबर्टसन ह्यूम तथा गिबन के विषय में अपने विचार लिखे हैं । डा० जाँनसन ने अंग्रेजी के साहित्यकारों की जो समीक्षा की, वह उनके कृतित्व का बहुत महत्त्वपूर्ण अंश है ।

जॉनसन के दुखात सुखान्त मिश्रित नाटकों का जो विवेचन किया है, वह महत्त्वपूर्ण है । उसका विचार था कि नियमों तथा सिद्धान्तों के क्षेत्र में कट्टर अनुगामिता त्याज्य होनी चाहिए । इसलिये नवीनता का इतना विरोधी नहीं होना चाहिए कि नवीन उपयोगी तथा ग्राह्य सिद्धान्तों का भी विरोध किया जाय और इसके साथही प्राचीनता का भी इतना कट्टर अनुगामी नहीं होना चाहिए कि साहित्य का सौन्दर्य ही नष्ट हो जाय । वह सैद्धांतिक अनुगामिता के साथ ही साथ कलात्मकता पर भी बहुत बल देता था। इसीलिये वह कहता था कि उच्चकोटि की साहित्यिक रचना के लिये प्राचीन तथा शास्त्रीय सिद्धान्तों का अन्धानुकरण नहीं होना चाहिए । इसी प्रकार से 'इडलर' में उसने हास्य की विवेचना की है, यद्यपि उसके ये विचार अन्यत्र अभिव्यक्त विचारों की पुनरावृत्ति मात्र हैं । रैसेलास ' में उसने बताया है कि प्राचीन कवियों में कला और प्रकृति दोनों का मिश्रण था । परन्तु कला का अर्थ मात्र प्रकृति का अनुकरण नहीं है और न ही मात्र अनुकरण से कोई कृति महान् हो जाती है । वह साहित्यकारों के लिये विविध विषयक ज्ञान को आवश्यक बताता था । उसका विचार था कि विविध क्षेत्रीय सम्यक ज्ञान के अभाव में महान् साहित्यकार बनना सम्भव नहीं है । काव्य के विषय में वह नियमबद्धता का विरोधी नहीं था । वह काव्य में रस, छन्द, अलंकार तथा भाषा तत्त्व आदि को मर्यादित मानता था । इसका ग्रीक साहित्य का अच्छा अध्ययन था, यद्यपि लैटिन की इसे उतनी अवगति नहीं थी । यह अरस्तू, ड्राइडन तथा पोप से प्रभावित था । यह तर्कात्मकता में विश्वास रखता था ।

'प्रिफेस टु शेक्सपीयर' में जॉनसन ने शेक्सपीयर का मूल्यांकन किया है । इसका विचार था कि शेक्सपीयर का अपने नाटकों में करुण और हास्य रसों का मिश्रण करना शास्त्रीय नियमों तथा सिद्धान्तों के विरुद्ध है, क्योंकि शास्त्रीय नियमानुसार नाटक को या तो दुखान्तक होना चाहिए और या सुखान्तक, मिश्रितान्तक नहीं । परन्तु कभी-कभी सैद्धांतिक नियमों के विरुद्ध साहित्य रचना में भी एक प्रकार का नैसर्गिक सौन्दर्य लक्षित होता है । यह सौंदर्य यदि कलात्मक और वास्तविक हो तो वह निश्चयतः मान्य होना चाहिए । यहां

यह उल्लेख करना आवश्यक है कि जॉनसन के समय से ही एक नयी प्रवृत्ति आरम्भ हुई थी। उसके अनुसार शास्त्रीयता के अतिरिक्त अपने निजी सौन्दर्य के आधार पर ही किसी कृति की स्वच्छंदता से व्याख्या भी सम्भव है। शेक्सपीयर ने शास्त्रीयता के विरुद्ध मिश्रितान्तक नाटकों की रचना करके उनमें हास्य तथा करुण रसों का अद्‌भुत रूप में सफलता से प्रयोग किया है। इसलिये उसके नाटक कलात्मकता की दृष्टि से बहुत ही उच्चकोटि के बने हैं और इस लिये उन्हें प्रशंसा मिलनी चाहिए। वह रूढ़िवादिता की अपेक्षा स्वाभाविकता का समर्थक था। उसका यह निश्चित विचार था कि साहित्यिक उत्कृष्टता अनेक प्रकार की हो सकती है। यह जाँनसन की एक बहुत उल्लेखनीय प्रतिनिधि कृति है, जिसमें उसने अपने युग की समीक्षा प्रवृत्तियों को प्रतिबिम्बित किया है। जॉनसन ने स्पष्ट रूप से वह निर्देशित किया है कि प्राचीन सिद्धान्तों का न तो पूर्ण अनुकरण ही करना चाहिए और न पूर्ण बहिष्कार, बल्कि उनका पुनर्परीक्षण करके युगीन आवश्यकताओं के अनुसार उनका परिष्कार करना चाहिए। तभी वे ग्राह्य हो सकते हैं।

अपनी महान् कृति 'लाइव्ज़ आफ दि पोयट्स' में उसने अनेक साहित्यकारों का विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। व्यावहारिक समीक्षा के अतिरिक्त उसके इस ग्रन्थ में साहित्यांग सिद्धान्तों का भी विश्लेषण किया गया है। जाँनसन की यह कृति जीवनी और समीक्षा का मिश्रित रूप है। इनसे यह भी आभासित होता है कि जान्सन का कवि जीवन के प्रति दृष्टिकोण कितना व्यापक एवं अध्ययन कितना गहन है। उसने अनेक कवियों की समीक्षा किंचित कटु शैली में की है, किन्तु वह उनके गुणों को भी प्रकाशित करने में उपेक्षा भाव नहीं प्रदर्शित करता। किन्ही कवियों की जीवनी के साथ प्रासंगिक रूप से उसने उस काव्य प्रवृत्ति का भी विश्लेषणात्मक विवेचन किया है, जो उस कवि के काव्य में सामान्य रूप से पायी जाती है। जाँनसन के अनुसार वह अंग्रेज़ी काव्य, जो एलिजाबेथियन युग में रचा गया भावों तथा अभि व्यक्तियों की दृष्टि से यथार्थ नहीं है। जाँनसन ने यह माना है कि एक कवि जिस प्रकार के वातावरण या परिस्थितियों में रहता है इसके जीवन एवं काव्य पर उनका व्यापक प्रभाव पड़ता है। इसीलिये उसने विविध कवियों का मूल्यांकन करते समय राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक दृष्टि से भी उनकी परख की है। यहां यह उल्लेखन किया जा सकता है कि उसने ड्राइडन तथा पोप की जीवनियां लिखते समय पूर्वाग्रहों से काम लिया है और इन कवियों के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से अनेक ऐसे मन्तव्यों की

स्थापना की है, जो भ्रामक हैं । इस सम्बन्ध में यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि जॉनसन ने इस ग्रन्थ में काउली, मिल्टन, ड्राइडन, पोप, कोलिन्स, ग्रे आदि कवियों की जीवनी तथा काव्य का अध्ययन एक ही दृष्टिकोण से न करके, प्रत्येक का भिन्न दृष्टिकोण से किया है । इस ग्रन्थ से यह भी पता चलता है कि जाँनसन का भी क्षेत्र तथा दृष्टिकोण कितना व्यापक था ।

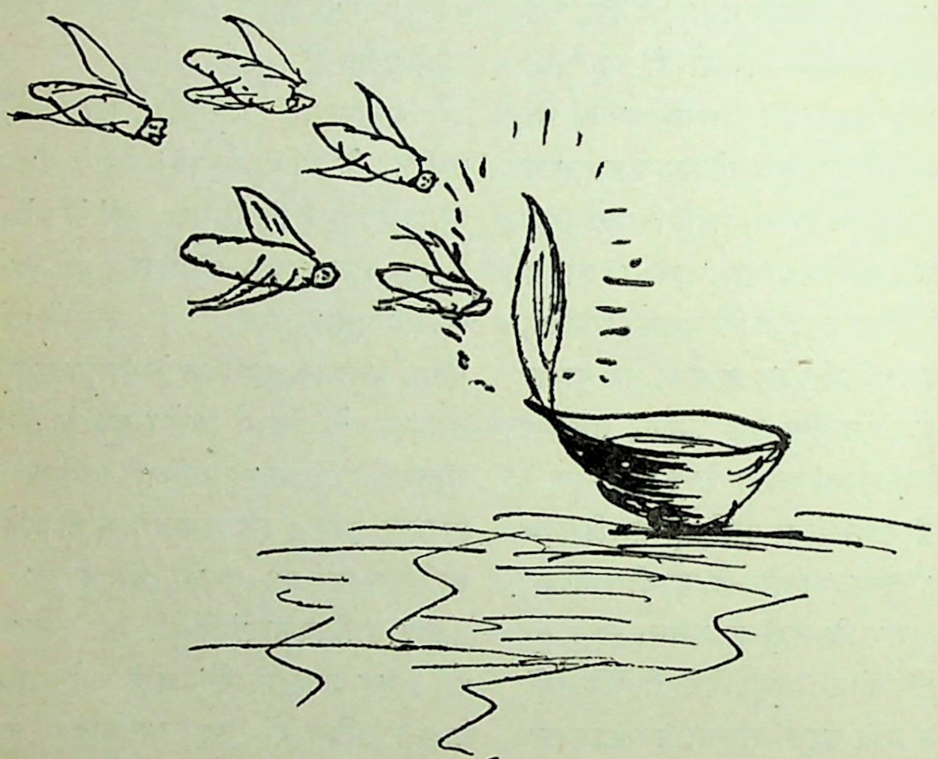
जाँनसन के कृतित्व पर एक दृष्टि डालने पर यह प्रतीत होता है कि उसे विविध समीक्षात्मक सिद्धान्तों का स्पष्ट आभास था । यद्यपि उसकी अपनी भी कुछ सीमाएं थीं, परन्तु उसके गुण असाधारण हैं । बहुधा यह कहा जाता है कि जाँनसन एक असफल समीक्षक था । इसका कारण केवल यह हो सकता है कि उसका समीक्षा दृष्टिकोण सुनियोजित न था । यह कहना उचित न होगा कि यह उसकी समीक्षा सिद्धान्तों की अनभिज्ञता के कारण था । जॉनसन ने कभी-कभी पूर्वाग्रहों से भी काम लिया, परन्तु वह कभी भी अपनी समीक्षा के उच्च स्तर से नहीं हटा तथा साथ ही उसका दृष्टिकोण तर्क विरोधी भी नहीं हो पाया । यदि वह किसी साहित्यकार की कटु आलोचना करता है तो उसके पुष्ट आधार भी प्रस्तुत करता है । इस प्रकार से जॉनसन का स्थान केवल अपने युग को ही नहीं वरन् अंग्रेज़ी साहित्य के इतिहास में एक समर्थ साहित्यकार और साहित्य-समीक्षक के रूप में मान्य है ।

जाँनसन के परवर्ती समीक्षकों में गोल्डस्मिथ का नाम भी उल्लेखनीय है । इसके समीक्षात्मक सिद्धान्तों का परिचय 'इन्क्वायरी इनटू दि प्रेजेंट स्टेट आफ पोलाइट लर्निंग इन यूरोप' तथा 'एसेज़—मारल ऐंड लिटरेरी' नामक पुस्तकों से मिलता है । 'स्काट आफ एमबेल' का नाम भी इसी के साथ लिया जा सकता है जिसकी कृतियों में 'क्रिटीकल एसेज़' तथा 'ग्रांगर हिल' आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं ।

अठारहवीं शताब्दी की अंग्रेज़ी समीक्षा के इतिहास को देखने पर यह प्रतीत होता है कि विविध पत्रों के माध्यम से स्फुट आलोचना की प्रवृत्ति का विशेष रूप से प्रसार हुआ । इस युग में अनेक महान् समीक्षक हुए जिन के कारण समीक्षा साहित्य के क्षेत्र में विशेष रूप से क्रियाशीलता रही और समीक्षा साहित्य का विकास हुआ । इस शताब्दी से ही अंग्रेज़ी साहित्यकारों की गणना भी यूरोप के महान् साहित्यकारों में की जानी आरम्भ हुई । इस शताब्दी में यद्यपि अनेक समीक्षात्मक विचारों का प्रतिपादन हुआ और नवीनता को ग्रहण करने का आग्रह रहा परन्तु अधिकांशतः इस शताब्दी में भी प्रायः प्राचीन सिद्धान्तों का ही अनुगमन किया जाता रहा । अब स्वतन्त्र

रूप से विविध अंग्रेजी साहित्यकारों का मूल्यांकन किया जाने लगा और आलोचना शास्त्र की सर्वांगीण उन्नति होने लगी। समीक्षा क्षेत्रीय व्यापक सक्रियता के होते हुए भी इस शताब्दी में प्राचीन साहित्य की उपलब्धियों के सम्यक मूल्यांकन की चेष्टाएं कम हुईं और अधिकतर गतिविधि सामकालीन साहित्यिक विवादों तक ही सीमित रही। इस युग की समीक्षात्मक उपलब्धियों की एक विशेषता यह भी है कि इसमें विविध साहित्यांगों विषयक स्वतन्त्र एवं नवीन सिद्धान्तों की रचना के क्षेत्र में विशेष क्रियाशीलता रही।

● ● ●



लोक-गीतों में सन् सत्तावन की जन-क्रान्ति की प्रतिध्वनि

डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित

सन् १८५७ भारतीय इतिहास और भारतीय साहित्यों के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और भव्य समय है। संसार के सभी देशों के साहित्यों और विश्वकोषों में इस सन् का बड़े ही समारोहपूर्ण शब्दों में उल्लेख है। विदेशी साहित्यों में महारानी लक्ष्मीबाई, नाना साहब, तान्त्या टोपे, बाबू कुंवरसिंह, आदि के प्रति भव्य शब्दों में श्रद्धांजलियां समर्पित की गई हैं। यह वह समय है, जब साधन विहीन, वैज्ञानिक प्रगति से अपरिचित, असंगठित या कुसंगठित मुट्ठी भर लोगों ने साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद और आतंकवाद के विरुद्ध क्रान्ति का झण्डा उठाया था। यह आन्दोलन जनमानस की उत्पत्ति और मनमानस समर्पित था। बड़े बड़े रजवाड़ों, व्यापारियों धनाढ्य व्यक्तियों ने "अंग्रेज़ बहादुर" की दिलोजान से सहायता की, उन्हें शरण दी, उन्हें खाना पहुंचाया और एक बार पुनः भारत माता को गुलाम बनाए रखने में सहायता करके फर्मानें, रियासतें, एवं सम्मान सम्प्राप्त किया। इस जन-क्रान्ति के विकास और क्षय पर हज़ारों पृष्ठ लिखे गये हैं और लिखे जायेंगे। पर एक बड़े आश्चर्य का विषय इसी प्रसंग में हमारे समक्ष समुपस्थित होता है। क्रान्ति के असफल हो जाने के अनन्तर दमन का चक्र इतना प्रबल था कि हिन्दी-साहित्य के ख्यातनामा, बहुचर्चित, समादरित और प्रगतिशील कहे जाने वाले, कवि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तक ने इस क्रान्ति या क्रान्ति के सरदारों और फिरंगियों की, प्रतिक्रिया, प्रकोप, प्रतिशोध और प्रतिहिंसा के शिकार हो जाने वाले भारत माता के अनगिनत वीरों का कहीं उल्लेख तक नहीं किया। 'भारतेन्दु–मण्डल' तथा उनके समकालीन कवियों में से किसी ने नाना साहब या तांत्या टोपे या महारानी लक्ष्मीबाई का अपनी धन्य लेखनी से उल्लेख तक नहीं किया, फिर श्रद्धांजलि तो सपने की बात है, या कल्पना-

लोक का वैभव है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के साहित्य से उनका दोहरा व्यक्तित्व झलकता है। वे बराबर 'अमृत की कटोरिया सी " महारानी विक्टोरिया के चिरंजीव होने और भारत माता की छाती को अपने पवित्र चरणों से रौंद कर उस पर शासन करने की कामना और प्रार्थना भगवान से और अनुग्रह और आग्रह का प्रकटीकरण करते हैं। भारतेन्दु को जब कभी बड़ी प्रेरणा मिली, या रसिक समाज से अवकाश प्राप्त हुआ, तो वे सब को मिल कर भारत माता की दुर्दशा पर रोने का आमंत्रण देकर प्रगतिशीलों में नाम लिखा लेते हैं। भारतेन्दु के ही कृपा पात्र बिहारी सिंह ने "अंग्रेज़ बहादुर" की इस बात पर प्रशंसा की कि उन्होंने गदर को खूब कौशल से दबाया और अपने गुरुदेव भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समान दोनों हाथ उठा कर महारानी विक्टोरिया को बड़े अच्छे शब्दों से आशीर्वाद दे दिया :--

"गदर गनीम गुबार उठ्यो,
सत्तावन में सिगरे जन जानी,
मेटि प्रजा दुःख बेगि सयानी,
त्याहि बिहारी लियो कर शासन,
जेंहि ऐसो विचार असीसें सबे,
चिरजीवो सदा विक्टोरिया रानी ।।

इतना ही नहीं भारतेन्दु-युग के कवियों ने सिपाहियों को क्रान्ति में सहायता देने और भाग लेने के लिये जी भर कर हज़ार बार कोसा है, उन्हें स्वामी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिये नरक जाने का शाप तक दिया है "स्वामी सों कृतज्ञ औ उठाए हैं, अस्त्र जिन, नाक के द्वार है खुला उन पाजिन को" (सूरज प्रसाद)। भारतेन्दु और उनके समकालीन कवि राजसत्ता से बहुत डरते थे। इनसे भले हैं वे कवि जिन्होंने स्पष्ट रूप से अकबर के प्रति कहा "संतन कहा--सीकरी सो काम" तथा "तुलसी अब का होहिगें नर के मंसबदार"। व्यापारी और साधक में यही अन्तर है जो दोनों कोटि के उदाहरणों में प्रतिभासित है। गुलामी ने उस समय के कवियों में मानसिक दासता उत्पन्न कर दी थी। इसलिये उनकी उनके गले से क्रान्तिकारियों की प्रशंसा में एक शब्द नहीं फूटा।

इन पढ़े-लिखे सभ्य नागरिकों, साहित्य के माध्यम से यह कमाने के आकांक्षी कवियों को छोड़ कर अब जनमानस से प्रस्फुटित भारती के सम्मोहक, मनमोहक और पुनीत स्वरूप की ओर ध्यान दीजिए। भारत-भारती के इन सपूतों के नाम नहीं ज्ञात हैं। उन्हें न अंग्रेजों का भय था और न प्रतिहिंसा का त्रास। उन्होंने अपने काव्य-साहित्य में प्रायः सभी बीरों को सादर उल्लेख दिया है, जिन्होंने देश के नाम पर अस्त्र उठा लिये थे। इनकी कविता या गीतों में अलंकार नहीं है, भाषा परिमार्जन नहीं है, काव्य-कला-कौशल नहीं है, पर उनमें

सजीवता, सच्चाई है, ईमानदारी के साथ अभिव्यक्ति है, और विश्वास की प्रचुरता है। इन लोक-गीतों में विद्रोही भावना खुल कर अभिव्यक्त हुई है और लोक-मानस के दर्शन उपलब्ध होते हैं। अंग्रेजों के साथ जूझने वाले वीरों के प्रति इन लोकगीतों में असीम श्रद्धा व्यक्त हुई है।

उत्तर प्रदेश में बैसवारा इतिहास प्रसिद्ध वीरों का केन्द्र रहा है। यह प्रदेश १८५७ में विद्रोहियों और क्रान्तिकारियों का केन्द्र रहा। शंकरपुर, पुरवा, डलमऊ, बकसर, सेमरी में क्रान्तिकारियों ने अनेक बार फिरंगियों के दांत खट्टे किये थे। राना बेनी माधव बख्श सिंह विद्रोहियों के नायक थे। हिन्दी के कवि इन्हें उस समय जानते भी न थे, परन्तु लोक-मानस से उनकी प्रशंसा में जाने कितने स्वर फूट पड़े। यहाँ कतिपय उदाहरण प्रस्तुत हैं :—

(१) अवध मां राना भयो मरदाना।
पहिली लड़ाई भै बक्सर माँ सेमरी के मैदाना।
उहां ते कूच भयो पुरवा का
तब लाट घबराना।
शंकरपुर के बड़े लड़य्या घोड़ा
चढ़े मरदाना।
कम्पनी बिलाइन सकल बिललाना,
छीन लियो तोपखाना।

(२) राना बहादुर सिपाही अवध मां
धूम मचाई मोरे राम रे,
लिखि लिखि चिठिया लाटन भेजी
आन मिलो राना भाई रे,
जवाब सवाल लिखा राना ने
हमु तेना करो चतुराई रे,
जब तक प्रान हवें तन भीतर
तुम का खोदि बहाई रे॥

(३) फिरंगिन केरि दसा बिगरी है,
राना नेक न डराना।
कहें सिपाहिन ते जीवन दुई दिनका
बारबार ना आना।
जबही जाइहैं देस ते फिरंगी तबही
अन्न भेंटाना।
प्रान रहत न हठु हम छाडव फिरंगी
महल हमें ढ़हाना॥

राना बैनी माधव बख्श सिंह की वीरता के गीत अवध प्रदेश में फैले पड़े हैं। ये गीत होली के अवसर फाग में गाये जाते हैं। इन लोक-गीतों से उनकी वीरता, दृढ़ता, और राष्ट्रीय भावना का ज्ञान होता है। आज़ाद हुए कितने ही वर्ष व्यतीत हो गये, बहादुर का एक भी स्मारक न बना। अवध में प्रचलित लोक-गीतों में महारानी लक्ष्मीबाई, तांत्या टोपे एवं नाना साहब की वीरता का वर्णन है एक उद्धारण यहां प्रस्तुत है :—

महल फिरंगिन के ढ़हिंगे हैं राना की
तरवारिन ते।

दर दर मारी मारी फिरती में मैं ग्राजु बनी
घसियारन सी।
लक्ष्मीबाई नाना साहबे टोपे तात्या जला
दिहित हैं होरिन सी।
कम्पनी विलाइत लिखि लिखि म्याजे
संकट परे है प्रानन की।
हा, हा करिकै छाती पीटै मे मैं मैली कुचैली
नारिन सी।

सिपाही-विद्रोह के बाद अंग्रेज़ों का दमन चक्र चला। गांवों-गांवों, नगर-नगर, शहर-शहर विद्रोहियों को खोज-खोज का पेड़ों से लटका कर फांसी दी गई। क्रूरता और दमन की पराकाष्ठा! लोक-कवि या लोक-मानस के गायक इससे विमुख नहीं रहे। एक-एक घटना का चित्रण लोक-गीतों में मिलता है। सिपाही-विद्रोह के शांत हो जाने पर "अंग्रेज़ बहादुर" ने नवाब वाजिद अली शाह से अवध की गद्दी छीन ली और उन्हें मटिया बुर्ज भेज दिया। लोक गायकों ने इस ओर ध्यान दिया और उनका स्वर आज भी जनता में गाया जाता है। नवाब के निर्वासन से त्रस्त बेगमों का वर्णन इस लोक-गीत में है :—

गलियन गलियन रयत रोवें
हटियन बनिया बजाज रे।
महल में बैठी बेगम रोवें
डेहरी पर रोवें खवास रे।
मोती महल की बैठक छूटी,
छूटी है मीना बजार रे।
बाग जमनिया की सैरें छूटी,
छूटे मुलुक हमार रे।
जो मैं ऐसी जानती
मिलती लाट से जाय रे।
हा हा करती, पैयां परती,
लेती सैइयां छोड़ाय रे।।

जौनपुर ज़िले में चांदा ग्राम है। यहीं पर १८५७ में प्रतापगढ़ ज़िले में कालाकांकर के विसेन वंशी विद्रोही राजा के साथ "कम्पनी बहादुर" के फौज के साथ में डट कर युद्ध हुआ था। लोक-मानस पर इस युद्ध की प्रतिछाया पड़ी, और लोक-गीत में इसका वर्णन आज भी मिलता है :—

काले कांकर के विसेनवा,
चांदे गड़े बा निसनवा।

बिहार के वीर बांकुरा, मर्दाना, यशस्वी बाबू कुंवर सिंह का नाम सन् सत्तावन के इतिहास में स्वर्णाक्षरों से लिखा जाना चाहिए। वीराग्रणी बाबू कुंवरसिंह ने असीम शौर्य के साथ, अपने बाहुबल के आधार पर अंग्रेज़ों को छकाया था। बाबू कुंवर सिंह की वीरता का वर्णन भोजपुरी लोक-गीतों में बड़े विस्तार के साथ हुआ है। बाबू कुंवर सिंह के संबंध में एक उदाहरण यहां उद्धत है, भोजपुरी

प्रदेश के लोग बड़े गौरव के साथ गाते हैं :—

लिखि लिखि पतिया मैं भेजलन कुंवरसिंह,
ए सुन अमरसिंह भाय हो राम।
चमड़ा के टोड़वा दांत से हो काटेंकि
छतरी के कारन नसाय हो राम ।।
बाबू कुंवर सिंह भाई अमर सिंह,
दोनों अपने हे भाय हो राम ।।
बतिया के कारन ए बाबू कुंवर सिंह,
फिरंगी से रेढ़ बढ़ाय हो राम ।।
दानापुर से जब सजलस हो कम्मू,
कोलवर में रहे छाप हो राम ।।
लाख गोला तुँहु के गनि मरिहौं
छोड़ बहरवा के राज हो राम ।।

इस उदाहरण में बाबू कुंवरसिंह के व्यक्तित्व, वीरता और देश-प्रेम के प्रति कवि ने श्रद्धांजलि अर्पित की है। देश के इतिहास वेताओं ने भी उनके शौर्य, पराक्रम तथा बाहुबल का बार बार उल्लेख किया है। इस लोक-गीत में रानापुर से कोहलवर तक आने का वर्णन हुआ है। यह यात्रा फिरंगियों से संघर्ष हेतु की गयी थी ।

बुन्देलखण्ड के हरबोलों द्वारा महारानी लक्ष्मीबाई के शौर्य की सैंकड़ों प्रशस्तियां लिखी गईं। हरबोलों के गीतों के आधार पर ही "खूब लड़ी मरदानी वह तो झांसी वाली रानी थी" "बुंदेले हरबोलों के मुंह हमने सुनी कहानी थी" कविता लिखी गई थी । यदि बुन्देलों के समस्त गीत संग्रहीत हो जायं, तो महारानी के व्यक्तित्व और कार्यप्रणाली पर प्रकाश पड़ सकता है। अवध प्रदेश में महारानी की महत्ता के संबंध में एक लोकगीत होली पर गाया जाता है वह यहां उद्धृत किया जाता है :—

दुर्गा सो तलवार हाथ में लेकर घूम रही
है महरानी ।
फिरंगिन को नाम निसानी मिटा रही
है महरानी ।
चारों तरफ धाक बैठी है महरानी
बस महरानी ।
देस प्रेम की पुन्न पताका हर दिस में है
फहरानी ।।

वीरों की जननी मालव भूमि में नरसिंह गढ़ के राजकुमार चैन सिंह के संबंध में अनेक लोक-गीत प्रचलित हैं। अपने साथियों हिम्मत खां एवं बहादुर खां के साथ भोपाल के निकटवर्ती सीहोर छावनी में अंग्रेज़ों से युद्ध करता हुआ, वह वीर वीर-गति को सम्प्राप्त हुआ था। मालव प्रदेश के लोक-गीतकारों ने इस वीर की गाथा भांति-भांति से प्रस्तुत की है। यहां पर हम एक लोक-गीत उद्धत करते हैं। इस लोक-गीत से चैन सिंह की वीरता और देश-प्रेम का आभास मिलता है :—

—राजा सौबालसिंह का चैन सींग मुलक
मैं राज कर्यो
कचेरियां बैठन्ता जी साब बरजा—
नी हो कुंवर हमारी लड़वा की बैस,

पालना में बैठन्ता मांजी बई बोल्या
नी ओ आलोजा मां की लड़वा की बैस,
हिदरखां विदरखां यूं बोल्या--
एकला से पड़ गयो रे काम ।
भाई भतीजा घरे रियो हो चेन सींग,
एकला से पड़ गयो रे काम
सीस कटायो, घाट बधायों,
मुख पे उड़े रे गुलाल ।
सीवर मैं डेरा रे डाल्या,
घड़ से करयो है जुवाब......।

अंतिम दो पंक्तियों पर फिर ध्यान दें । चैन सिंह ने सीहोर में डेरा डाला । युद्ध में उसका शीश विच्छिन्न हो गया, पर उसका कवन्ध लड़ता रहा । धन्य है ऐसा वीर ! भारत माता के चरणों पर मस्तक अर्पित कर देने के अनन्तर भी लड़ना नहीं छोड़ा । वीर रस, वीरत्व, शौर्य तथा राष्ट्र देश-प्रेम यहां साकार हो उठा है ।

राजा देवी बक्स सिंह का नाम १८५७ की क्रांति के इतिहास में अमर रहेगा । ये गोंडा (अवध) के विद्रोहियों के नेता थे । लोक-गीतों में राजा देवी बक्स सिंह की वीरता की गाथा आज भी विद्यमान है । उस महान वीर का चित्र प्रस्तुत करने के लिये निम्नलिखित उदाहरण दिया जाता है :—

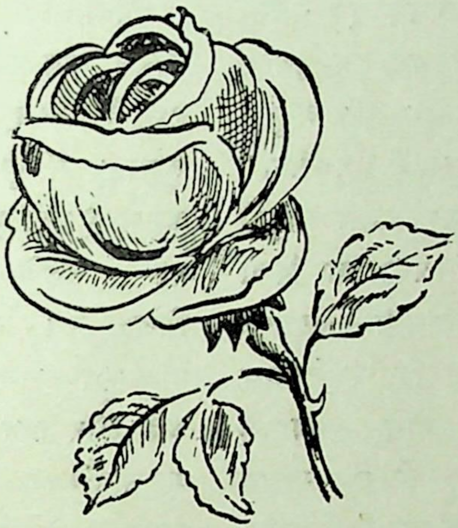
राजा बखानी मैं गोड़ा के देवी बकस महराज रहे ।
असी चार चौरासी कोस मां जेके डंका बाजि रहे ।।
गोंडा से पाती मैं झांसी के राजा राम लला ।
साथ हमारा दीजे राजा हमरे राज मां चोर हला ।।
कहीं-कहीं का चलें साड़ियां कहीं-कहीं चलते हाथी ।
देस-देस औ गांव गांव मां राजा लिखि भेजा पाती ।।
यकदम से धावन पहुंच गया मानौ यकीन है ।
गोंडा सहर से झांसी मंजिल तीनि है ।।
गोंडा सहर से पलटन चलिगों लमती कहे तकाय रहे।
तम्मुक ऊपर तम्मू गाड ने तम्मू तम्मू हाय रहे।।
जाय फौज लमती मां पहुंची मार–मार डिडियाय रहे ।
पक्का यह यक मन का गोला सांचा महं ठराइ रहे ।।
फौज के मालिक मानसिंह जो तोप के पुरैया ।
दागे तोप दइउअस गरज फटि झरारा नैया ।
हजारों गोरा बहि गये चिल्लाते बप्या देय्या ।
अंग्रेजों के नेम बोली राज धन धन तेरी मैय्या
भागि चलो बिल्लाइत साहेब राजा से पार न पय्या ।
मैय्या परमेसर कै लम्बा हाथ ।।

मौलवी अहमद शाह, नाना पेशवा, तांत्या टोपे, बहादुर शाह, राजा देवी

बक्श सिंह, वीरांगना लक्ष्मी बाई, गुलाबसिंह, कुंवर सिंह, मंगल पांडे बेनी माधव बख्श सिंह, जैसे १८५७ के जन नायकों के संबंध में प्रत्येक जनपद में सैंकड़ों लोक-गीत बिखरे पड़े हैं। इनको एकत्र करके, क्रांति का क्रमबद्ध इतिहास पेश लिया जा सकता है।

उक्त वीरों के जीवन से सम्बन्धित वस्तुओं की प्रदर्शनी करके जनता की सुप्त भावनाओं को जाग्रत किया जा सकता है। पर यह सब कौन करे? किसे अवकाश है जो जनपदों में जा-जाकर सही स्थानों पर जयन्ती का आयोजन करे, या स्मारक बनाने का प्रबन्ध करे?

● ● ●



पृथ्वीराज रासो का पद्मावती समय

डा० भगवानदास तिवारी

'पृथ्वीराजरासो' हिन्दी-साहित्य के वीरगाथा काल का प्रतिनिधि महाकाव्य है। आजतक इस महाकाव्य के चार रूपान्तर प्राप्त हुए हैं। इसके वृहद् रूपान्तर में लगभग एक लाख, मध्यम रूपान्तर में लगभग दस हजार, लघु रूपान्तर में चार हजार और लघुतम रूपान्तर में दो हजार छन्द हैं। पृथ्वीराज रासो का वृहद् रूपान्तर काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित किया गया है। उसकी प्राचीनतम प्रति उदयपुर के महाराणा अमरसिंह द्वितीय के पास है, जिसका लिपिकाल माघ कृष्णा ६ सोमवार संवत् १७६० है। मध्यम रूपान्तर अबोहर और पंजाब विश्वविद्यालय के ओरियण्टल पुस्तकालय में सुरक्षित हस्तलिखित प्रतियों पर आधारित है। लघु रूपान्तर की प्रतियां अनूप संस्कृत विद्यालय बीकानेर में सुरक्षित हैं तथा लघुतम रूपान्तर की संवत् १६६७ की हस्तलिखित प्रति मुनि श्री जिनविजयजी सूरी को गुजरात के धारणोज गांव से प्राप्त हुई है। पृथ्वीराज रासो की उपलब्ध हस्तलिखित प्रतियों में यह सब से पुरानी प्रति है।

विविध रूपों में उपलब्ध होने के कारण यह ग्रन्थ विवाद का विषय बना हुआ है और इसका कारण यह है कि लघु रूपान्तर में पृथ्वीराज जहां दो विवाह करता है वहां वृहद् रूपान्तर तक पहुंचते-पहुँचते उसके तेरह विवाहों का वर्णन मिलता है। लघु रूपान्तर में वह केवल पाँच युद्ध करता है, तो मध्यम रूपान्तर में ४३ और वृहद् रूपान्तर में वह ५५ युद्धों का महाविकट भट बन कर हमारे सामने आता है। ऐसी स्थिति में यह बात झट से हमारी समझ में नहीं आती कि पृथ्वीराज रासो का मूल रूप क्या था? क्या वह लघु रूपान्तर से बढ़ते-बढ़ते अपने वर्तमान वृहद् रूप को प्राप्त हुआ है अथवा वृहद् रूपान्तर के संक्षिप्तीकरण की प्रवृत्ति के कारण वह काल क्रमागत संक्षिप्त रूप लेता गया है।

पृथ्वीराज रासो के चारों रूपाँतरों का तुलनात्मक अध्ययन करने के बाद हमें ऐसा प्रतीत होता है कि कदाचित् पृथ्वीराज रासो का मूल रूप संक्षिप्त ही रहा होगा तथा कालान्तर में पृथ्वीराज के शौर्य और पुरुषार्थ की महिमा का बखान करने के लिए कवियों और चारणों ने उसमें अनेकानेक नये कथा प्रसंगों और घटनाक्रमों की अवतारणा की है। इसका प्रमाण यह है कि पृथ्वीराज रासो के चारों रूपान्तरों में दस प्रसंग समानरूप से पाये जाते हैं। वे दस प्रसंग इस प्रकार हैं :—

१. आदि पर्व २. दिल्ली-किल्ली कथा ३. अनंगपाल दिल्लीदान ४. पंगयज्ञ विध्वंस ५. संयोगिता नेम आचरण ६. केमास वध ७. षट्ऋतु वर्णन ८. कनवज-कथा ९. बड़ी लड़ाई और १०. बानबेध।

ये दसों प्रसंग पृथ्वीराज रासो के चारों रूपान्तरों में प्राप्य हैं, अतः यह कहा जा सकता है कि मूल रूप में कदाचित पृथ्वीराज रासो में यही प्रसंग रहे होंगे और बाद में कवियों ने इस महाकाव्य में अनेक अनैतिहासिक पात्र, घटनायें, कथा प्रसंग, और सूचनाएं अपनी ओर से जोड़ इस महाकाव्य को विशालकाय रूप दे डाला है।

आज पृथ्वीराज रासो के वृहद् रूपान्तर में ६९ समय हैं, जिसमें 'समय' शब्द सर्ग के पर्याय के रूप में प्रयुक्त हुआ है। इस तरह से अपने उपलब्ध वृहद् रूप में पृथ्वीराज रासो ६९ सर्गों का महाकाव्य है।

पद्मावती समय पृथ्वीराज रासो का अत्यन्त भावपूर्ण और सशक्त सर्ग है, जिसमें रुक्मिणी-हरण के आधार पर पृथ्वीराज द्वारा पद्मावती का हरण और पृथ्वीराज के दो युद्धों की कथा का श्रृंगार तथा वीर रस-युक्त सजीव वर्णन किया गया है।

पद्मावती-समय की कथा इस प्रकार है :—

पूरब दिसि गढ़ गढ़नपति,
समुद सिषेर अति दुंग।
तहँ सु विजय सुर-राज पति,
जादू कुलअ अभंग॥

पूर्व दिशा में समुद्रशिखर नाम का एक अत्यन्त श्रेष्ठ दुर्गम दुर्ग था और यादवों की अक्षुण्ण परम्परा में जन्म लेने वाले देवराज इन्द्र की तरह सामर्थ्यवान राजा विजयपाल उस दुर्ग के स्वामी थे। उनके पास दस हज़ार घोड़े, असंख्य हाथी और तीन संख सेना थी। पद्मसेन कुंवर उनकी रानी थी, जिनसे उन्हें दस पुत्र और एक पुत्री प्राप्त हुई थी। पुत्री का नाम पद्मावती था। रूप और गुणों में वह अद्वितीय थी। चन्द्रमा की कलाओं के समान वह नित्य बढ़ती जाती थी, अतः

कवि उत्प्रेक्षा करता है कि पद्मावती ऐसी सुन्दर थी—

मनहुँ कला ससभान कला सोलह सों बन्निय ।
बाल बेस, ससि ता समीप अम्रित रस पिन्निय ।।
बिगसि कमल स्रिग भ्रमर बेनु खंजन स्रिग लुट्टिय ।
हीर कीर अरु बिंब, मोति नष सिष अहि घुट्टिय ।।
छत्रपति गयन्द हरि हंस गति, बिह बनाय संचे सचिय ।
पदमनिय रूप पदमावतिय,
मनहुँ काम कामिनि रचिय ।।

राजकुमारी पद्मावती इतनी सुन्दर थी, मानो वह चन्द्रमा की एक कला हो और वह कला भी पूरी सोलह कलाओं से बनी हो । बचपन में वह इतनी सुन्दर थी कि चन्द्रमा उसी के पास से अमृत पान करता था । उसके प्रफुल्ल चेहरे ने कमल को, घुंघराली लटों ने भँवरों को, मधुर वाणी ने बांसुरी को, नेत्रों की सुन्दरता और चंचलता ने खंजन पक्षी को और उनकी विशालता ने हरिणियों को लज्जित कर दिया था । उसके चमचमाते अंग हीरे से, नाक तोते सी, ओंठ बिंबाफल से तथा दांत मोतियों से कान्तिमान थे । वह नख-सिख से सर्वांग सुन्दर थी तथा अपनी चाल में हाथी, सिंह और हंस को भी मात करती थी । विधाता ने उसका निर्माण बड़ी चतुराई से किया था । वह पद्मावती कामशास्त्र में वर्णित पद्मिनी नायिका के समान सर्वगुण-लक्षण-सम्पन्न थी, मानो पद्मावती के रूप में ही विधाता ने दूसरी रति की रचना की हो ।

पद्मावती की इस रूप माधुरी पर मनुष्य तो क्या पशु, पक्षी, मृग, सुर, मुनि और गन्धर्व भी लुभा जाते थे । वह सामुद्रिक शास्त्र में वर्णित समस्त सुलक्षणों से युक्त, वेद के छहों अंग, चौदह विद्या और चौसठ कलाओं में पारंगत थी ।

एक दिन पद्मावती अपने पिता के राज महल के बगीचे में अपनी सहेलियों के साथ खेल रही थी । तभी एक तोता वहां उड़ता हुआ आया । पद्मावती के अधरों को बिम्बाफल समझ उसने ज्योंही अपनी चोंच चलाई कि पद्मावती ने उसे पकड़ लिया और अपने महल में मणि रत्नों से जड़े एक सुन्दर पिंजड़े में बन्द कर दिया । यह तोता महापंडित था और मनुष्य की बोली बोलता था । पद्मावती का मन उस तोते में बहुत रमता था और वह उसे अत्यधिक प्यार करती थी । तोता पद्मावती के रूप-लावण्य को देख कर कल्पना करता है कि—

कुट्टिल केस सुदेस पोहप रचियत पिक्क सद ।
कमल गंध वय संध हंस गति चलत मंद मद ।।
सेत वस्त्र सोहे सरीर नष स्वाति बुन्द जस ।
भमर भर्मांहि भुल्लहिं सुभाव मकरन्द वास रस ।।

नैनन निरषि सुष पाय सुक,
यह सुदिन्न मूरति रचिय ।
उमा प्रसाद हर हेरियत,
मिलहि राज प्रथिराज जिय ।।

यह सुन्दर पुष्पों से सजे हुए घुंघराले बालों वाली, कोयल जैसे मधुर स्वर में बोलने वाली, कमल गन्ध युक्त शरीरवाली, शैशव और यौवन के समागम के कारण हंसगति से मंद मंद चलने वाली, पद्मावती अभूतपूर्व सुन्दरी है । इसके शरीर पर शुभ्र वस्त्र सुशोभित हैं तथा इसके नख स्वाति नक्षत्र में बरसने वाली बूंद से उत्पन्न मोती जैसे सुन्दर हैं । विधाता ने किसी शुभ घड़ी में ऐसी सुन्दरी का निर्माण किया है । कितना अच्छा हो यदि शिव और पार्वती की कृपा से यह महाराज पृथ्वीराज की रानी बने !

एक दिन पद्मावती ने तोते से पूछा—हे तोते, सच सच बताओ तुम्हारे देश का नाम क्या है और वहां कौन सा राजा राज करता है ?

उच्चरिअ कीर सुनि वयनं,
हिन्दुवान ढिल्लीगढ़ अयनं ।
इन्द अवतार चहुँआनं,
तहं प्रथिराजह सूर सुभ्भारं ।।

० ० ० ०

संभरि नरेश चहुँवान थांन,
प्रथिराज तहां राजन्त भाँन ।
बेसहं वरीस षोडष नरिन्द,
आजानुबाहु भुअलोक इंद ।।

संभरि नरेस सोमेस पूत,
देवन्त रूप अवतार धूत ।
सामन्त सूर सब्बै अपार,
भूजाँन भींम जिमि सार भार ।।
जिहि पकरि साह सहाबदीन,
तिहुँ बेर करिय पानीपय हीन ।
सिंगिनि सुसद्द गुनि चढ़ि जंजीर,
चुक्के न सबद बेधन्त तीर ।।

तोते ने कहा—हिन्दुस्तान में दिल्लीगढ़ नाम का एक स्थान है, वही मेरा देश है । वहाँ इन्द्र के अवतार महापराक्रमी महाराज पृथ्वीराज राज्य करते हैं । वे साँभर के चौहानवंशीय राजा हैं और सूर्य की तरह उनकी कीर्ति सारे भूमण्डल पर छाई है । उनकी आयु सोलह वर्ष की है और उनकी फौलादी बाँहें घुटने तक लम्बी हैं । ये साँभर नरेश पृथ्वीराज सोमेश्वर के पुत्र हैं । उनके पास असंख्य सामन्त और सरदार हैं तथा उन्होंने तीन बार युद्ध में बादशाह शाहवुद्दीन गौरी को पकड़ कर श्रीहीन कर दिया है । उनका शब्दभेदी तीर लोहे की डोरी पर चढ़कर कभी भी अपना निशाना नहीं चूकता, अर्थात पृथ्वीराज शब्दभेदी तीर चलाने में दक्ष हैं ।

बाल बैन करन जिमि दान मान,
सतसहस सील हरिचंद समान ।
साहस सुक्रम्म बिक्रम जु बीर,
दानव समत अवतार धीर ।।

पृथ्वीराज की स्तुति करता हुआ तोता कहता है कि पृथ्वीराज दानशीलता और प्रतिष्ठा में राजा बलि, बेन और कर्ण के समान है तथा सुशीलता में उसकी तुलना सैंकड़ों-हज़ारों हरिश्चन्द्रों से की जा सकती है ।

तोते से पृथ्वीराज के रूप, गुण और शील की चर्चा सुन पद्मावती का तन, मन और ध्यान पृथ्वीराज पर केन्द्रित हो गया और प्रेम की सात्विक अनुभूति से उसे रोमांच हो आया ।

इधर पद्मावती की बाल्यावस्था बीत गई और उसके शरीर में यौवन का आगमन हुआ । माता-पिता उसके वर की चिन्ता से व्यग्र हो उठे । एक दिन पद्मावती के पिता राजा विजयपाल ने––

सोधि जुगति को कन्त, कियो तब चित्त चहों दिस ।
लग्यो बिप्र गुरु बोल कही समुंझाय बात तिस
नर नरिन्द नरपति बड़े गढ़ द्रग्ग असेसह ।
सीलवन्त कुल सुद्ध देहु कन्या सुनरेसह ।।
तब चलन देइ दुज्जह लगन, सगुन बन्द दिय अप्प तन ।
आनंद उछाह समुदह सिषर बजत नद्द नीसांन धन ।।

राजा विजयपाल ने अपना मन चारों दिशाओं में दौड़ाया । फिर अपने कुलगुरु ब्राह्मण को बुला कर सब बातें समझाई और कहा––सब बड़े-बड़े दुर्गों के श्रेष्ठ राजाओं में जो सब से अधिक सुशील, गुणवन्त और उच्चकुलोत्पन्न राजा हो, उससे मेरी कन्या की सगाई कर आओ। इसके बाद राजा ने ब्राह्मण को लग्न व शकुन की रोली देकर विदा किया। उस समय समुद्र शिखर में आनन्द और उत्साह के द्योतक गंभीर नाद करने वाले नगाड़े बजने लगे ।

ब्राह्मण ने उत्तरीय पर्वतमाला के अत्यन्त दुर्गम कुमाऊं दुर्ग के राजा कुमुदमणि को विधि विधान पूर्वक पद्मावती वाणी द्वारा सौंप दी अर्थात उसने मणि और मोतियों से चौक पूर, नारियल का फल स्थापित कर मन्त्रादि पढ़ पद्मावती की सगाई कुमुदमणि के साथ कर दी। सारे कुमाऊं दुर्ग में आनन्द का सागर हिलोरें लेने लगा । राजा कुमुदमणि दस हज़ार रथारोही, पांच सौ मदमस्त हाथी और असंख्य पैदल सेना को साथ ले पद्मावती को विवाहने के लिये चला । उसके तुषारजाति के घोड़े अग्नि वेग से बढ़े । उन पर चँवर, घुंघरू, और अनेक प्रकार के आभूषण सुशोभित थे । इस तरह समुद्र शिखर दुर्ग में भरपूर उत्साह छाया था और जहां तहां अपार शोभा-युक्त मंडप और तोरण आदि सजे थे। इधर पद्मावती ने एकान्त में बिलखते हुए तोते से कहा ।

आनो तुम्ह चहुवांन बर,
अरु कहि यहै संदेस ।
सांस सरीरहिं जो रहै,
प्रिय प्रथिराजं नरेस ।।

प्रिय प्रथिराज नरेस,
जोग लिषि कग्गर दिन्नो ।
लगुन बरग रचि सरब,
डिन्न द्वादस ससि लिन्नौ ।
सै ग्यारह अरू तीस,
साष संबत परमानह ।
जोपित्री कुल सुद्ध बरनि,
बरि रष्ष हु प्रानह ।
निष्षंत दिट्ठि उच्चरिय बर,
इक पलक्क बिलंब न करिये ।
अलगारि रयनि दिन पंच मँह,
ज्यों रुकमिनि कन्हर बरिय ।।

पद्मावती ने तोते को एक पत्र लिख कर दिया, जिसमें उसने लग्न की कुण्डली, बैसाख मास, शक संवत ११३० तथा शुक्ल पक्ष की द्वादशी तिथि आदि की पूरी पूरी जानकारी दी तथा यह भी लिखा कि यदि आप शुद्ध क्षत्रियवंश के व्यक्ति हैं तो मुझ वरणीया को वर कर मेरे प्राण बचायें। हे प्रिय, पत्र पाते ही पल भर का भी विलम्ब न कर जैसे श्रीकृष्ण रुक्मिणी को ले गये थे, वैसे ही तुम मुझे ले जाओ। आज से पांचवें दिन मैं प्रातःकाल समुद्र शिखर की पश्चिम दिशा में अवस्थित शिवजी की पूजा के लिये जाऊंगी। तभी तुम मुझे अपने साथ ले जाना।

पद्मावती का पत्र लेकर तोता आकाश-मार्ग से उड़ गया और लगातार आठ प्रहर तक उड़ कर दिल्ली पहुंचा। उसने वह पत्र पृथ्वीराज को दिया और पृथ्वीराज ने उस पत्र को पढ़ते ही --

उहै धरी उहि पलनि उहै दिन बेर उहै सजि ।
सकल सूर सामन्त लिए सब बोलि बम्ब बजि ।
अरू कवि चन्द अनूप रूप सरसे वर के बहु ।
और सेन सब पच्छ सहस सेना तिय सष्षहु ।।
चामुण्डराय दिल्ली धरह, गढ़पति करि गढ़ भार दिय ।
अलगारराय प्रथिराज तब पूरब दिसि सब गवन किय ।।

पृथ्वीराज ने उसी क्षण, उसी पल, उसी घड़ी, उसी दिन कूच का नगाड़ा बजवा दिया और सब सूर, सामन्त तथा चन्द को अपने साथ ले चामुण्डराय को दिल्ली का गढ़पति बना पूर्व दिशा की ओर प्रस्थान किया।

जिस दिन समुद्रशिखर में कुमुदमणि की बारात पहुंची, उसी दिन पृथ्वीराज भी वहां पहुंचे। उसी दिन गजनी में शाहबुद्दीन को खबर हुई कि पृथ्वीराज दिल्ली से बाहर गया है अतः उसने चढ़ाई की तैयारी की।

सुनि गज्जने अवाज चढ़्यो साहबदीन बर ।
षुरासान सुलतान कोस काबिलिय मीर धर ।।
जंग जुरन जालिम जुझार भुज सारभार भुअ ।

घर घमंकि भजि सेस गगन रवि बिलु रैन हुअ ।।

उलटि प्रवाह मनो सिन्धु सरि,
राह रोकि अड्डो रहिय ।
तिहि धरी राज प्रथिराज सों,
चन्द बचन इहि विधि कहिय ।।

गज़नी का बादशाह शाह बुद्दीन, खुरासान, कासगर और काबुल के बादशाहों के साथ एक विशाल सेना लेकर पृथ्वीराज के मार्ग में आकर अड़ गया। युद्ध छिड़ने पर ये सब मुगल बड़े क्रूर योद्धा थे। उनकी भुजायें मानो लोहे की बनी थीं और पृथ्वी पर भार रूप थीं। इन मुगलों की सेनाओं के भार से पृथ्वी डोलने लगी, शेषनाग भाग गया, आकाश में सूर्य छिप गया और सर्वत्र रात्रि का अन्धकार छा गया। यह सारी सेना पृथ्वीराज के मार्ग में आकर ऐसी अड़ गई मानो समुद्र और नदियों का प्रवाह उलट कर आ गया हो। उसी समय चन्द ने पृथ्वीराज से इस प्रकार कहा।

समुद्रशिखर के दोनों ओर कुमुदमणि और पृथ्वीराज की सेनाओं के आने से बड़ा कोलाहल हुआ। नगर में अनेक राजकुमार बारात के स्वागत की तैयारी कर रहे थे तथा स्त्रियां झरोखों और छतों पर बैठ बारात के शुभागमन के लिये व्यग्र थीं। तभी तोते ने आकर पद्मावती को सूचना दी कि दिल्लीपति महाराजाधिराज पृथ्वीराज गांव के निकट आ गये हैं। इस समाचार को सुनते ही पद्मावती ने अपने मलीन वस्त्र उतार फैंके और सोलह सिंगार सज एक हज़ार कुमारियों को लेकर शिवजी की पूजा के लिये हंस गति से प्रयाण किया।

मंदिर में पहुंच कर उसने मन में गौरी और शंकर का ध्यान किया। उनकी प्रदक्षिणा की और पृथ्वीराज की ओर देख मुग्धा भाव से घूंघट में अपना मुंह छुपा लिया। पृथ्वीराज ने यह देखते ही उसका हाथ पकड़ कर उसे अपने घोड़े पर बैठा लिया और दिल्ली की ओर चल दिये। सारे नगर में शोर मच गया कि कोई पद्मावती को हर कर लिये जा रहा है। तत्काल--

बाजी सुबंब हय गय पलांन,
दौरे सुसज्जि दिस्सह दिसांन ।
तुम्ह लेहु लेहु मुख जंपि जोध,
हंन्नाह सूर सब पहरि क्रोध ।।

युद्ध का नगाड़ा बजा। हाथी और घोड़ों पर काठियां कसी गई और अनेक योद्धा अनेक दिशाओं में दौड़ पड़े। ये योद्धा कवच पहने हुए थे और क्रोध से अपने मुंह से "लेना-लेना", "पकड़ो-पकड़ो" आदि पुकार रहे थे।

पृथ्वीराज सब से आगे थे और सारी सेना उनके पीछे थी। दुश्मनों को पीछा

करते देख पृथ्वीराज ने अपने घोड़े की बाग मोड़ दी --

उलटी जु राज प्रथिराज बाग,
थकि सूर गगन, धर धसत नाग।
सामन्त सूर सब कालरूप,
गहि लौह छोह बाहें सू भूप।।
कंमांन बांन छुटत अपार,
लागंत लोह इम्मि सार धार।
घमसान धान सब बीर षेत,
धन स्रोत बहत अरु रकत रेत।
मारे बरात के जोध जोह,
परि रुंनड मुंड अरि षेत सोह।।

पृथ्वीराज के बाग मोड़ते ही सूर्य रुक गया और शेषनाग पर स्थित भूमि नीचे धंसने लगी । पृथ्वीराज की सेना के सभी शूर सामन्तों ने यमराज का रूप धारण कर लिया । वे उत्साह से अस्त्र शस्त्र चलाने लगे, धनुषों से असंख्य बाण छूटने लगे और वे कवचों पर वर्षा की झड़ी के समान आ टकराने लगे। घमासान युद्ध होने लगा । दुश्मन सेना के अनेक वीर काम आये । उनके घायल होने से खून की नदियां बह निकलीं और रेत लाल हो गई । कुमुदमणि की बारात के अनेक योद्धा मार डाले गये और उनके सिरों और कवचों से युद्ध भूमि पट गई ।

कुमुदमणि की सेना का संहार कर पृथ्वीराज दिल्ली की ओर चले तभी उन्हें पता चला कि--

भई जु आनि आवाज आय साहाबदीन सुर।
आज गहों प्रथिराज बोल बुल्लंत गजत धुर।

शूर शाहबुद्दीन आ गया है और वह गरज गरज कर घोषणा कर रहा है कि आज मैं पृथ्वीराज को पकड़ लूंगा। उसकी सेना के असंख्य सैनिक पंक्तियों में बैठे हुए गरज रहे थे । शाहबुद्दीन के साथ--

षुरासान, सुलतान षंधार मीरं ।
बलष स्यो बलं तेग अच्चूक तीरं ।।
रूहंगी फिरंगी, हलब्बी समानी ।
ठटी ठट्ट बल्लोच ढालं निसानी ।।

खुरासान, मुल्तान और कंधार के मीर तथा बलख बुखारे की सेना भी उसके साथ थी, जिसमें गर्वीले रुहंगी, फिरंगी, हलबी और बलोची सभी ढाल तलवार लिये झुण्ड के झुण्ड आये थे । इन यवनों की आंखें बिल्ली जैसी और चेहरे लोमड़ी और गीदड़ के समान थे तथा ये सब अरबी, पटी, ताजी, तुरकी आदि शीघ्रगामी घोड़ों पर सवार थे ।

तिन घेरियं राज प्रथिराज राजं ।
चिहौं ओर घनघोर नीसानं बाजं ।।
बज्जिय घोर निसांन रान चौहान चहों दिसि ।
सकल सूर सामन्त समरि बल जन्त्र मन्त्र तिस ।
उट्ठि राज प्रथिराज बाग मनो लग्ग बीर नट ।।
बढ़त तेग मन बेग लगत मनो बीजु झट्ट घट ।

थकि रहे सूर कोतुग गगन रगन मगन भई सोन धर।
हृदि हरषि वीर जग्गे हुलसि हुरेउ रंग नवरत बर।

यवनों की सेना से घिरते ही पृथ्वीराज की सेना में चारों ओर युद्ध के जुझाऊ बाजे बजने लगे। नगाड़ों पर ज़ोर ज़ोर से चोटें पड़ने लगीं। पृथ्वीराज के सूर सामन्त उसके आसपास इकट्ठे हो गये। मन की गति से जब पृथ्वीराज ने अपनी तलवार म्यान से निकाली तो ऐसा प्रतीत हुआ मानो घनी घटाओं में बिजली कौंध गई हो। पृथ्वीराज के शौर्य का कौतुक देखने के लिये सूर्य आकाश में रुक गया। सारी पृथ्वी रक्त से सन गई और वीरों के हृदय के हर्ष और उल्लास से उनका रक्त शरीर में चमकने लगा अर्थात् जोश के कारण वीर रक्तवर्ण हो गये।

हुरेउ रंग नव रत्त बर, भयेऊ जुद्ध अति चित्त।
निस बासर समुझि न परत, न को हार नह जित्त॥
न को हार नह जित्त रहेइ न रहहिं सूर बर।
धर उप्पर धर परत करत अति जुद्ध महाभर॥
कहौं कमध, कहौं मत्थ, कहौं कर चरन अन्तररूरि।
कहौं कन्ध बहि तेग, कहौं सिर जुट्टि फुट्टि उर॥
कहौं दन्त मन्त हय षूर षुपरि कुम्भ भ्रसुण्डलह रुण्ड सब।
हिंदवांन रान भय भांन मुष गहिय तेग चहुँवान जब॥

क्रोध से रक्तवर्ण वीरों में भयंकर युद्ध हुआ। दिन रात का पता नहीं चलता था और न यही मालूम पड़ता था कि कौन हारा है और कौन जीत रहा है। सभी सूरमा मरने मारने पर उतारू थे। वे महाभयंकर युद्ध कर रहे थे। युद्धभूमि में धड़ पर धड़ गिरते जा रहे थे और पृथ्वी पर मृतकों का भार बढ़ता जा रहा था। कहीं केवल धड़ पड़े थे, कहीं सिर, कहीं हाथ पांव कहीं आंतें, कहीं वैरियों के कन्धे पर खड़ग चलते थे, कहीं सिर परस्पर टकराते थे, कहीं छातियाँ टूटती थीं, कहीं मदमस्त हाथियों के कुम्भ, सूंडें और सिर कटे पड़े थे तो कहीं घोड़ों के खुर और खोपड़ियां। पृथ्वीराज के युद्ध करते ही शत्रु-सेना में हाहाकार मच गया। सूंड कटे हाथी चिंघाड़ चिंघाड़ कर भागने लगे। पृथ्वीराज का हाथी भी अंधाधुंध उनके पीछे भागने लगा, जिससे धूलि ने सारे संसार को ढंक लिया। सूर्य छुप गया और रात्रि का अंधकार छा गया। कहीं कुछ नहीं सूझता था। तभी—

सिर नाय कम्मांन प्रथिराज राजं।
पकरिये साह जिमि कुलिंग बाजं॥

पृथ्वीराज ने अपना धनुष शाहबुद्दीन के गले में डाल कर उसे ऐसे पकड़ लिया

जैसे कोई बाज चिड़िया को पकड़ता है। इस युद्ध में पृथ्वीराज के पचास रण-बांकुरे वीर काम आये और उन्होंने शाहबुद्दीन के पांच सौ चुने हुए वीरों का सफाया कर दिया। शाहबुद्दीन के बन्दी बनते ही यवन सेना में भगदड़ मच गई और पृथ्वीराज सुन्दरी पद्मावती और गोरी सुल्तान को पकड़ कर दिल्ली की ओर चला। दिल्ली पहुंचते ही—

बोलि बिप्र सोधे लगन्न सुभ धरी परट्ठिय।
हर बांसह मण्डप बनाय करि भांवरि गंठिय।
ब्रह्म वेद उच्चरहिं होम चोरी जु प्रतिवर।
पद्मावति दुलहिन अनूप प्रथिराज राज बर।
डंड्यो साह साहाबदीं अट्ठ सहस हय बर सुबर।
दे दान मांन षट् भेष को चढ़े राज द्रग्गह हुजर॥

पृथ्वीराज ने ब्राह्मणों को बुलवा कर मंगल मुहूर्त में विवाह का लग्न निकलवाया। हरे बांसों का मण्डप बनवा कर, यज्ञ, कुण्ड प्रदक्षिणा और ग्रन्थिबन्धन की रीतियां पूरी कीं। ब्राह्मणों ने वेद मंत्रों का पाठ किया और वर प्राप्ति के स्थान पर अनुपम सुन्दरी पद्मावती और वर पृथ्वीराज विराजमान थे। वीरवर पृथ्वीराज ने शाहबुद्दीन बादशाह को आठ हजार उत्तम घोड़े दण्ड स्वरूप देने की आज्ञा दी और छः प्रकार के दान-पात्रों को यथोचित सम्मान देकर वे अपने दुर्ग में चढ़ गये।

चन्द्रमुखी मृगनयनी स्त्रियों ने सिर पर मंगल कलश रख कर उनका स्वागत किया और मोतियों से सुसज्ज थालों में आरती लेकर उन्होंने बधाई के गीत गाये। इस तरह से हिन्दुओं के सिरताज महाराज पृथ्वीराज अपने राज दुर्ग में पधारे।

पृथ्वीराज रासो के पद्मावती समय की यह कथा ऐतिहासिक तथ्य भले ही न हो पर इसमें कवि-कल्पना का सत्य अपने सम्पूर्ण वैभव के साथ मुखर हो उठा है। रुक्मिणी हरण के कथा प्रसंग के साम्य के आधार पर ही इस प्रक्षिप्त समय का आविर्भाव प्रतीत होता है फिर भी इसमें युग जीवन की झांकी के साथ-साथ प्रेम, श्रृंगार और वीर रस का जो सुन्दर परिपाक हुआ है वह हिन्दी के वीरगाथा कालीन साहित्य की परम्परा के सर्वथा अनुरूप और पाठक के मन को लुभाने वाला है। ● ● ●

पताकास्थानक

डा० गोपी नाथ तिवारी

नाटक में चमत्कार का महत्त्व सर्वज्ञात है। संस्कृत नाट्यशास्त्रियों ने चमत्कार उत्पादन के लिये पताकास्थानक की योजना पर बल दिया है। पताका और पताका स्थानक में आकाश पाताल का अन्तर है। पताका स्थानक, पताका के स्थान या अंगमात्र नहीं है। पताका तो नाटक में दूर तक चलने वाली सहायक कथा है जबकि पताका स्थानक वे छोटी छोटी घटनाएं हैं जो नाटक में चमत्कार एवं सौन्दर्य वृद्धि की साधिका हैं। नाट्यशास्त्रियों ने इन पताकास्थानकों को अत्यन्त महत्वपूर्ण पद दिया है। भरतमुनि१ एवं अभिनवाचार्य२ का कथन है कि चार पताकास्थानक नाटक के उत्कृष्ट अंग हैं जिनका प्रयोग होना आवश्यक है। नाट्यदर्पणकार का मत है कि पताकास्थानकों का प्रयोग नाटक में होना ही चाहिए। एक पताकास्थानक ही नाटक की शोभा बढ़ाता है। फिर दो, तीन या चार का प्रयोग हो तो कहना ही क्या है ? नाट्यदर्पणकार तो यहां तक कह डालता है कि इनके बिना रूपक की रचना होनी ही नहीं चाहिए।३ हां, इसका प्रयोग बहुत सोच समझ कर किया जाना चाहिए।४ संस्कृत नाटकों में पताकास्थानकों का प्रयोग मिलता है। हिन्दी नाटककारों ने भी इस ओर ध्यान दिया है। यह बात नहीं है कि पताकास्थानकों का अध्ययन करके हिन्दी नाटककारों ने प्रयोग किया हो। बहुतांश में पताकास्थानको का प्रयोग स्वयमेव ही हो गया है। चमत्कार की प्रवृत्ति ही इसका कारण है।

प्रथम पताकास्थानक

जहां किसी विषय (कार्य, प्रयोजन या साधन) की चिन्ता की जा रही हो

१. चतुष्पताका परमं नाटके कार्यमिष्यते ।। ना० शा० १९-३६

२. चतुर्भिकृतैः परममुत्कृष्टं नाटके नाट्यविषये कार्यमिष्यते तस्मात्तथाकर्त्तव्यमित्यर्थः (अभिनव गुप्त)

३. एकमपि पताकास्थानकं नाट्य-काव्यस्यालङ्करणम् किं पुनर्द्वे त्रीणि चत्वारि वा ? एतद् विहीनं रूपकं न कार्यमित्यर्थः ।

४. पताकास्थानकं योज्यं सुविचार्येह वास्तुनि सा० द० ६-४४

किन्तु सहसा उसी के समान अन्य किसी वस्तु की उपस्थिति हो जाय तो वहां प्रथम पताकास्थानक होता है।१ प्रथम पताकास्थानक में निम्न विशेषताएं होंगी--

(१) पात्र किसी विषय की चिन्ता करता है ।
(२) किन्तु उसे प्राप्ति होती है तदनुरूप किसी अन्य विषय की।
(३) यह प्राप्ति सहसा होती है।
(४) इससे कथा प्रवाह को सहायता मिलती है ।

यह पताकास्थानक मुख्य कथा एवं प्रासंगिक कथा (पताका प्रकरी) सभी में हो सकता है। यह चार प्रकार का होता है।

प्रथम पताकास्थानक

सहसा इष्टलाभ की प्राप्ति जहां हो वहां प्रथम पताकास्थानक है। पात्र किसी वस्तु का अनुसंधान करता है। सहसा उसे उसमें अधिक गुणवाली अन्य प्रिय वस्तु की प्राप्ति होती है।२ ऐसे स्थल में प्रथम पताकास्थानक है। उदाहरण --

विद्या-हारी मालिन ने हमको वचन तो दिया है कि किसी भांति उसे एक बेर तुझ से मिला दूंगी; पर देखूं; अब वह क्या उपाय करती है ?

(एक सुरंग का मुंह खुलता है और उसमें से सुन्दर निकलता है)

--विद्यासुन्दर नाटक (भारतेन्दु कृत)

द्वितीय पताकास्थानक

दूसरा पताकास्थानक शब्द प्रधान है। पात्र कुछ कहता है। इसके दो अर्थ लगते हैं, एक प्रकृत प्रसंग पर और दूसरा अप्रस्तुत पर। पहिला अर्थ प्रकृति के उपमानों अथवा लौकिक पदार्थों के लिये होगा तो दूसरा परोक्ष प्रसंग पर प्रकाश डालेगा।३

---

१. यत्रार्थे चिन्तितेऽन्यास्मिंस्त ल्लिङ्गोऽन्य प्रयुज्यते
आगन्तुकेन भावेन पताका स्थानकं तु तत्
—नाट्यशास्त्र १९-३० एवं साहित्य दर्पण ६-४४
चिन्तितार्थात् पर प्राप्तिः वृत्ते यत्रो पकारिणी
पताकास्थानकं तत् तु, चतुर्द्धा मण्डनं क्वचित् —नाट्यदर्पण १—३०

२. सहसैवार्थ सम्पत्तिर्गुणवत्युपकारतः
पताकास्थानक मिदं प्रथमं परिकीर्तितम्
ना० शा० १९—३१, साहित्यदर्पण ६—४६
एवं भाव प्रकाशनम् सप्तम : अधिकार :
सहसेष्टार्थलाभश्चे : ॥ नाटयदर्पण १—३१

३. वच : सातिशाय श्लिष्टं काव्य बंध समाश्रयम्
नाट्यशास्त्र १९-३२, सा० द० ६-४७ एवं भाव प्रकाशनम्
श्लिष्ट सातिशया च वाक् ॥ नाट्यदर्पण १—३१ ॥

उदाहरण --

(१) खङ्गधारिणी--वह वल्लरी जो झरने के समीप पहाड़ी पर चढ़ गई है, उसकी नन्हीं नन्हीं पत्तियों को ध्यान से देखने पर आप समझ जायेंगी कि यह काई की जाति की है। प्राणों की क्षमता बढ़ा लेने पर वही काई जो बिछलन बन कर गिरा सकती थी, अब दूसरों को ऊपर चढ़ने का अवलम्ब बन गई है। (ध्रुवस्वामिनी, अंक १)

(२) सूत्रधार--

चन्द्रबिंब पूर न भए क्रूरकेतु हठिदाय
बलसों करि है ग्रास केहि जेहि बुधरच्छत आय।

चाणक्य इसका दूसरा अर्थ लगाता है जो प्रसंग में आगे व्याप्त है।

मुद्राराक्षस--भारतेन्दु जी द्वारा अनूदित

(३) राजा दुष्यन्त नायिका के मुख-चुम्बन का प्रयास करता है। तभी (नेपथ्य में) चकवी ! रात आ गई। अब तू अपने नाह से न्यारी हो (अंक३)

तीसरा पताकास्थानक

तीसरे पताकास्थानक में श्लिष्ट उत्तर-प्रत्युत्तर होगा। इससे कथा संकेत भी प्राप्त होगा। उत्तरदाता जो उत्तर देता है वह श्लिष्ट होता है जिसका अर्थ तत्कालिक प्रसंग से भी लगता है, और भावी कथा पर भी प्रकाश पड़ता है। १

उदाहरण --

राजा दुर्योधन--सुन्दरी ! पर्याप्त हैं मेरी दोनों जांघें !

कंचुकी--(प्रवेश कर) महाराज ! टूट गई !

राजा--किस से ?

कंचुकी--भीम से

राजा--किसकी ?

कंचुकी--आपकी।

राजा--अबे, क्या बकता है ?

भानुमती--आर्य्य ! आप क्या अनिष्ट बखान रहे हैं ?

राजा--अबे बूढ़े बकवादी, क्या आज तूने गहरी छान ली है ?

कंचुकी--नहीं, मैंने कुछ नहीं पी है। मैं सत्य बात बता रहा हूँ। तोड़ दी गई है भीम पवन से आपकी रथध्वजाएं (वेणीसंहार)

---

१. अर्थोपक्षेपणं यत्र लीनं सविनयं भवेत्
शिलष्ट प्रत्युत्तरोपेतं तृतीयमिदमिष्यते
ना० शा० १९—३३, साहित्य दर्पण ६—४९ एवं भाव प्रकाशनम्

उदाहरण --

चौकीदार--कहां रहते हो ?

सुन्दर--हमारा घर दक्षिण है ।

चौकीदार--यहां क्यों आए हो ?

सुन्दर--विद्या प्राप्ति के अर्थ आए हैं ।

चौकीदार--कौन विद्या ?

सुन्दर--जो सब में प्रधान है ।

(विद्या सुन्दर, १-२)

चतुर्थ पताकास्थानक

काव्यात्मक उक्ति में श्लेष से मुख्य कथा का संकेत मिलता है । चतुर्थ पताकास्थानक में पात्र जो काव्यात्मक उक्ति कहता है उससे मुख्य कथा का संकेत प्राप्त होता है।१ इसमें (१) दो अर्थ देने वाले शब्दों का प्रयोग होता है (२) ये उक्तियां काव्यात्मक होती हैं । (३) इन उक्तियों से प्रधान कथा का संकेत मिलता है ।

उदाहरण --

(१) कल्याणी--

कठणा के आंचल पर निखरे
घायल आंसू हैं जो बिखरे
ये मोती बन जायँ,
मृदुल कर से जो सहलादो ।

चन्द्रगुप्त (प्रसाद) ४-१

करुणा का आंचल, घायल आंसू, मृदुल कर द्वयर्थी पद हैं । एक ओर ये सूर्य की ओर संकेत करते हैं तो दूसरी ओर चन्द्रगुप्त कल्याणी की करुणा पूर्णप्रेम कथा बताते हैं । आगे कल्याणी कटार मार कर मारती है और चन्द्रगुप्त उसे गोद में उठाता है ।

(२) **देवसेना**

रसनिधि में जीवन रहा,
मिटी न फिर भी प्यास
मुंह खोले मुक्तामयी,
सीपी स्वाती आस ।

स्कन्दगुप्त (प्रसाद) अंक पांच

देवसेना की यह उक्ति एक ओर समुद्र परक अर्थ देती है और दूसरी ओर अपने भावी जीवन की ओर संकेत करती है । इस (जल) निधि में जल (जीवन) भरा है तब भी सीपी की प्यास नहीं बुझती है । वह मुक्तामयी सीपी मुंह खोले स्वाती की आशा में खड़ी है । श्लेष से प्रधान कथा की ओर संकेत है कि रस (प्रेंम) निधि में जीवन बिता रही हूँ । तब भी प्रेम की प्यास न मिटेगी । इससे

---

१. द्वयर्थो वचनविन्यासः सु । श्लिष्ट काव्य योजितः
उपन्यास सुयुक्तश्च तत्च तुर्थमुदापृतम्
—नाट्यशास्त्र १९—७४ एवं
भाव प्रकाशनम्
साहित्यदर्पणकार की दूसरी पंक्ति से—
प्रधानार्थान्तर क्षेपी पताकास्थानकं परम् । —साहित्य दर्पण। ६—४६

स्कन्द और देवसेना का करुणांत प्रकट होता है।

विमर्श

संस्कृत नाट्यशास्त्रियों का यह पताकास्थानक प्रसंग महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यह नाटकों में चमत्कार विधायक है। किन्तु यह भी सत्य है कि यह प्रसंग जटिल, दुर्बोध एवं अस्पष्ट है।

(१) भरतमुनि ने चार पताका-स्थानक माने हैं। अभिनवाचार्य, भाव-प्रकाशकार, शारदा तनय, साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ एवं सागर नंदी ने इसी मत को अपनाया है। किन्तु दशरूपक-कार ने दो ही पताकास्थानक माने हैं—तुल्य संविधान और तुल्य विशेषण। इनको अन्योक्ति एवं विशेषोक्ति भी स्वीकार किया गया है। दशरूपककार क्यों दो ही पताका स्थानक मानता है; इसका कारण स्पष्ट नहीं है। संभवतः पताकास्थानकों में उन्हें जटिलता एवं अस्पष्टता दिखाई दी हो। किन्तु स्वयं उनके दोनों पताकास्थानक सरल और सुबोध नहीं हैं।

(२) नाट्यदर्पणकार ने भरतमुनि के तीसरे पताकास्थानक को चौथा कर दिया है, और चौथे को तीसरा। तीसरे का लक्षण दिया गया है "द्वयर्था च"। इस लक्षण में पूर्णता नहीं है। केवल दो अर्थ हों, इससे तीसरे पताका स्थानक की सीमाओं पर प्रकाश नहीं पड़ता है।

(३) चारों पताकास्थानकों में प्रथम पताकास्थानक घटनापरक है। यह स्पष्ट है और इसका उदाहरण भी उपयुक्त है। अन्य तीनों पताका स्थानकों के विषय में यही नहीं कहा जा सकता है। भरतमुनि के दूसरे और चौथे पताका-स्थानकों की परिभाषाएं लगभग एक हैं—

द्वितीय--वचः सातिशय श्लिष्टं काव्य बंध समाश्रयम्
चतुर्थ द्वयर्थो बचन विन्यासः सुश्लिष्ट काव्य योजितः।

(४) इन दोनों पताकास्थानकों (द्वितीय एवं चतुर्थ) के उदाहरणों में भी मत वैभिन्य है जिससे यह प्रकट होता है कि दोनों में स्पष्टता का अभाव है।

दूसरे पताकास्थानक के उदाहरण स्वरूप साहित्यदर्पणकार एवं सागर नन्दी वेणीसंहार से उदाहरण देते हैं—

रक्तप्रसाधितभुवः क्षतविग्रहाश्च
स्वस्थ भवन्तु कुरुराज सुताः सभृत्याः॥

यह सूत्रधार की उक्ति है। इसका अर्थ श्लेष से भीम कुछ और समझता है। इस उक्ति से सूत्रधार कुरुराज के स्वर्ग-गमन की सूचना देता है जिसे भीम समझता है—वे स्वस्थ रहें। अभिनवगुप्त एवं नाट्यदर्पणकार रामाभ्युदय नाटक से

(शेष पृष्ठ ९७ पर)

बदलती उपमाएँ

• नित्यानन्द शर्मा

काव्य में उपमा अलंकार का सर्वाधिक महत्त्व है। अर्थालंकारों सादृश्य में मूलक अलंकार प्रधान होते हैं और इनका प्राण उपमा अलंकार है। इसी अलंकार के बल पर, यत्किंचित हेर-फेर के साथ अन्य सादृश्य मूलक अलंकारों की सृष्टि होती है। मालोपमा, रसनोपमा आदि तो उपमा के ही प्रकार हैं। ये दो पदार्थों के उपमान-उपमेय भाव से समान धर्म के कथन करने को उपमा अलंकार कहते हैं। अर्थात् दो वस्तुओं में विभिन्नता रहते हुए भी उनके धर्म, रूप, गुण, रंग, स्वभाव, आकार आदि की समता का जहां वर्णन किया जाय, वहां उपमा अलंकार होता है :—

रूप, रंग, गुण काहू के काहू के अनुसार।
ताको उपमा कहत हैं जे सुबुद्धि आगार॥

——अलंकार मंजूषा

उपमा अलंकार के दो भेद किए गए हैं:—१—पूर्णोपमा, २—लुप्तोपमा। पूर्णोपमा में उपमा के चारों अंग—उपमेय, उपमान, साधारण धर्म और वाचक अभिव्यक्त रहते हैं जैसे कविवर पंत की इन पंक्तियों में—

तापस बाला-सी गंगा कल शशिमुख से
दीपित मृदु कर-तल,
लहरें उर पर कोमल कुंतल
गोरे अंगों पर सिहर-सिहर, लहराता
तार-तरल सुन्दर
चंचल अंचल सा नीलाम्बर।
साड़ी की सिकुड़न सी जिस पर शशि की
रेशमी विभा से भर,
सिमटी हैं वर्तुल मृदुल लहर

—नौकाबिहार

गंगा, नीलाम्बर, और लहर उपमेय; तापस-बाला अंचल और साड़ी की सिकुड़न उपमान; कूल, लहराता और सिमटी साधारण धर्म तथा सी और सा वाचक शब्द हैं। जहां उपमा के इन चारों अंगो में से किसी एक, दो या तीन का लोप हो, वहां लुप्तोपमा होती है।

उपमा अलंकार वस्तुतः बड़ा व्यापक है। इसकी गति क्या वेद क्या लोक, क्या काव्य क्या शास्त्र, सर्वत्र ही है। नित्य

प्रति की साधारण बोलचाल में भी जाने अनजाने इसका प्रयोग होता ही रहता है। कोयल सा काला, चांद सा मुखड़ा, ताड़ सा लम्बा, पत्थर सा कठोर, मोम सा मुलायम, मक्खन सा चिकना, फूल सा कोमल आदि प्रयोग दिन-रात की बोलचाल के हैं। कवि भी अपनी उक्ति या कथन को अधिक स्पष्ट, भाव व्यंजक, मार्मिक एवं सरस बनाने के लिये काव्य में उपमानों का प्रयोग किया करता है। काव्य और समाज का गहरा सम्बन्ध है तथा कवि अपने समय का प्रतिनिधित्व भी करता है अतः इन उपमानों पर तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों, परम्पराओं एवं प्रवृत्तियों का प्रभाव भी पड़ता है, साथ ही मानवों की भांति कवि भी रूढ़ियों में ग्रस्त होता हुआ भी उन्हें तोड़ता भी चलता है। नवीनता के मोह में वह नए नए प्रयोग कर के अपनी प्रतिभा का परिचय देता है। 'सायर' को लीक छोड़ने में ही आनन्द आता है 'लीक छोड़ तीनों चलैं, सायर सिंह सपूत'। कविवर पन्त नवलता के आह्लाद को इस प्रकार व्यक्त करते हुए कहते हैं:—

जगत की सुन्दरता का चाँद,
सजा लांछन को भी अवदात।
सुहाता बदल-बदल दिनरात,
नवलता ही जग का आह्लाद।

इस प्रकार काव्य-जगत में पुराने उपमानों के साथ-साथ नवीन उपमानों का प्रयोग भी बराबर होता चलता है। पुराने उपमान भी प्रतिभा प्रवण कवियों के द्वारा इस प्रकार प्रयुक्त किये जाते हैं कि वे अपनी अपूर्व अभिव्यंजना के कारण नए जैसे ही प्रतीत होते हैं। इसी से अप्पय दीक्षित कहते हैं— "काव्य की रंग भूमि में विभिन्न भूमिका के भेद से नाना रूपों में आकार नृत्य करती हुई उपमा नटी काव्य-मर्मज्ञों का मनोरंजन करती है।"

उपमा अलंकार का प्रयोग वैदिक काल से लेकर आज तक बराबर होता आया है। कालिदास को तो उपमा-सम्राट् ही घोषित किया गया है। 'उपमा कालिदासस्य' की उक्ति सर्वप्रसिद्ध है ही। कविकुल गुरु कालिदास की उपमाएं अपनी अनुरूपता, सरसता और अपूर्वता में बेजोड़ हैं। संस्कृत, अपभ्रंश और प्राकृत साहित्य का प्रभाव हिन्दी पर अत्यधिक रूप से पड़ा है अतः हिन्दी को बहुत कुछ उक्त साहित्य निधि से विरासत में मिला है। संस्कृत के अधिकांश उपमान आज तक उसी रूप में अपनी मार्मिकता प्रदान करते हुए हिन्दी काव्य में व्यवहृत हो रहे हैं। समाज के प्रबल संघातों से उनमें परिवर्तन भी होता आया है। यहां नवीन उपमानों की दृष्टि से ही विचार करना अभीष्ट है।

मैथिल कोकिल कवि विद्यापति की सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति एवं कल्पना उन्मेष प्रसिद्ध ही है। कृष्ण के वियोग में दग्ध

राधा की तुलना कीट से करते हुए कवि कहता है :—

राधा सयं जब पुनतहिं माधव माधव सयँ
जब राधा।
दारुन प्रेम तबहिं नहीं टूटत बाढ़त बिरहक
बाधा ॥
दहु दिसि दारु दहन जैसे दघदइ आकुल
कीट परान।
ऐसन बल्लभहेरि सुधा मुखि कवि विद्यापति
भान ॥

लकड़ी पर दोनों ओर अग्नि लग जाने से उस पर बैठा हुआ बीच का कीड़ा जिधर ही जाता है उधर ही जलता है। राधा के प्राणों की भी यही अवस्था है। इस उपमान के द्वारा कवि ने किस सूक्ष्मता, चारुता एवं अभिनवता के साथ विरहिणी राधा के विदग्ध प्राणों का चित्र अंकित किया है। इसी प्रकार 'सुत मित रमनि समाज' की तुलना 'तातल सैकत वारि-बिन्दु' से करके इनकी क्षण भंगुरता का कैसा सटीक परिचय दिया है।

हिन्दी का भक्तिकाल उसका स्वर्ण युग है। इस काल में निर्गुण और सगुण दोनों धाराओं में हिन्दी काव्य भंडार की श्रीवृद्धि हुई है। कबीर आदि निर्गुण कवियों ने अपनी बात या तो सीधे-साधे ढंग में, बिना अलंकारों का प्रयोग किए कह दी है या फिर प्रतीकों का सहारा लिया है। फिर भी इनकी कविता में अल्प-मात्रा में ही सही, कहीं कहीं सटीक उपमान मिल जाते हैं। माया से लिप्त होने पर स्वर्ण शरीर की उपमा आटे की पिंडी से देते हुए कबीर कहते हैं :—

जिहि जेवड़ी जग बंधिया, तू जिनि बँधे कबीर।
ह्वै सी आटा लूणज्यूं सोना सँवां सरीर ॥

जायसी के काव्य में लोकतत्त्व की प्रचुरता है। इनके उपमान प्रायः लोक के सामान्य वातावरण में से लिये गए हैं। राजा रत्नसेन के वियोग में जलती हुई नागमती की तुलना कवि ने 'भाड़' से कैसी सटीक की है :—

लागिऊँ जरै जरै जस भारू
फिरि-फिरि भूंजेसि तजिऊं न बारू ॥

जिस प्रकार भाड़ में पड़ा हुआ एक दाना बार बार भुनने पर भी उस तप्त बालू में भुनता ही रहता है ऐसे ही नागमती वियोग-वह्नि में विदग्ध हो रही है। उसके आंसू ऐसे चू रहे हैं जैसे छप्पर के अग्रभाग से वर्षा की बूंदें चूती हैं। उसका शरीर पीले पत्तों के समान हो गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि जायसी की उपमाएं बड़ी मर्मस्पर्शी, नवीन एवं लोक-अनुभव के मेल में हैं।

सगुण धारा में तुलसी और सूर दोनों ने ही हिन्दी काव्य को गौरवान्वित किया। उपमान की दृष्टि से इनके उपमान यद्यपि अधिकांश में रूढ़िगत ही हैं फिर भी इन रस सिद्ध कवियों ने अपनी प्रतिभा के बल से उन पर नवीनता का निर्मोक चढ़ा दिया है। तुलसी के आविर्भाव से भी कविता

कामिनी ही सुशोभित हुई 'कविता करके तुलसी न लसे कविता लसी पा तुलसी की कला' । इनकी नवोन्मेषकारिणी दृष्टि चतुर्दिक पड़ी । इनके उपमान वस्तुतः बड़े ही स्पष्ट, भावव्यंजक एवं मार्मिक हैं । वन को प्रस्थान करते समय राम का वर्णन करते हुए कवि कहता है :--

कीर के कागर ज्यो नृप चीर विभूषन उप्पम अंगनि पाई ।
औध तजी मगवास के रुख ज्यों, पंथ के साथी ज्यों लोग लुगाई ।।
संग सुबन्धु पुनीत प्रिया मनों धर्म क्रिया धरि देह सुहाई ।
राजिवलोचन राम चले तजि बाप को राज बटाऊ की नाई ।।कवितावली

रामचन्द्र जी ने बल्कल वस्त्र धारण करके अति सुन्दर राजसी वस्त्रों को इस प्रकार छोड़ दिया जिस प्रकार वसन्त ऋतु में तोता अपने पंख प्रसन्नता से गिरा कर रंचमात्र भी दुखी नहीं होता । उन्होंने अयोध्या को ऐसे छोड़ दिया जैसे कोई मार्ग के वृक्षों को खेद रहित छोड़ देता है । जिस प्रकार मार्ग के संगी साथी को छोड़ने में दुख नहीं होता, इसी प्रकार उन्होंने अयोध्या को छोड़ दिया । इस प्रकार बटोही की तरह, राजीव लोचन राम अपने पिता के राज्य को छोड़ कर वन को चले । उक्त विभिन्न उपमानों के द्वारा राम के धैर्य और विराग भाव की बड़ी सुन्दर एवं सार्थक तुलना की गई है । सभी उपमान सार्वजनीन हैं । सूर ने भी अपनी प्रतिभा के बल से पुराने उपमानों को बड़ी मार्मिकता से प्रयुक्त किया है । जो कवि की सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति के परिचायक हैं ।

हिन्दी का रीतिकाल कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है । इस युग के उपमानों में ऐन्द्रिकता, समृद्धि, वैभव और ऐश्वर्य का समावेश है । कुछ उपमानों में परम्परा का पालन है । परी-सी, दीपशिखा सी देह, बिज्जुछटा सी नारि, नारि सलौनी सांवारि नागिन लौं डसि जाय । जल चादर के दीप लौं आदि उपमानो में उक्त प्रवृत्तियां प्राप्त हैं । मुसलमानों के सम्पर्क से कुछ फारसी के उपमान भी दृष्टिगत होते हैं :-- कि बलनुमा सी दीठि आदि ऐसे ही उपमान हैं । कुछ नवीन उपमान भी प्राप्त हैं । कविवर बिहारी पूस के दिनों की तुलना घर जमाई से करते हुए कहते हैं :--

आवत जात न जानियत तेजहि तजि सियरान ।
घरहि जभाई लौं घट्यो, खरो पूस दिनमान ।।

पूस के दिनों का मान इस तरह घट गया है जैसे ससुराल में रहने वाले दामाद का मान घट जाता है । यह उपमा क्रिया एवं गुण-साम्य के आधार पर बड़ी ही सार्थक है और कवि की मौलिकता की परिचायिका ।

स्वच्छन्द प्रेम के गायक कविवर घनानन्द ने भी साधारण से साधारण

उपमानों का बड़ी सफलता से प्रयोग किया है :—

अब ताकी ज्वाल में पजरिबो रे भली भांति,
नीके आहि, असह उदेग दुख सेलसो ।
गए उडि तुरत पखेरू लौं सकल सुख,
परयो आप औचक बियोग-बैरी डेल सो ।।

वियोग बैरी डेले लगने से सकल सुख पक्षियों के समान तुरन्त उड़ गए । कितनी साधारण बात है, पर कवि ने अपनी अलौकिक सूझ-बूझ के द्वारा उसे कितना मार्मिक बना दिया ।

छायावादी कविता से पूर्व, आधुनिक काल में, राष्ट्र कवि मैथिलीशरण गुप्त ने नए उपमानों के सफल प्रयोग किए हैं । साकेत में विधवा कौशल्या का कैसा हृदयग्राही चित्र अंकित किया गया है: —

जिस पर पाले का एक पर्तसा छाया,
हत जिसकी पंकज पंक्ति, अचल सी काया ।
उस सरसी–सी, आभरण रहित सितवसना,
सिहरे प्रभु मां को देख, हुई जड़ रसना ।

यहाँ विधवा कौशल्या की तुलना उस सरोवर से की गयी है जिसकी कमल पंक्ति पाले से नष्ट हो गई है । कौशल्या की श्री भी वैधव्य ने नष्ट कर दी है । दोनों में कैसी संगति है । कौशल्या के श्रीहीन दीन मुख की कैसी सफल व्यंजना है । इसी प्रकार कैकेयी के वैधव्य का यह चित्र है :—

सबने रानी की ओर अचानक देखा,
वैधव्य तुषारावृता यथा विधु-लेखा ।

तुषारावृतचांदनी और वैधव्य से श्रीहीन मुख की बड़ी सुन्दर तुलना है ।

छायावाद में आकर द्विवेदी कालीन इतिवृत्तात्मकता की गहरी प्रतिक्रियाद हुई । उसकी स्थूलता का स्थान छायावाद की सूक्ष्मता और वायवीयता ने ले लिया । अभिव्यंजना शिल्प में भी परिवर्तन हुआ । फलतः इस युग के उपमानों में भी नवीनता का समावेश हुआ । अब तक उपमा रूप साम्य, गुण साम्य क्रिया साम्य, वर्ण साम्य आदि पर ही आधृत थी, अब वह प्रभाव–साम्य पर आधृत हो गई । अब तक उपमेय और उपमानों दोनों ही प्रायः मूर्त रहते थे अब अमूर्तता का समावेश हुआ । मूर्त उपमेय की तुलना अमूर्त उपमानों से की जाने लगी । उपमानों में चित्रोपमता आई । इस युग के प्रसिद्ध कवि प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी हैं ।

प्रसाद प्रलयकालीन सिन्धु लहरियों की तुलना 'कुटिल काल के जाल' तथा 'फन फैलाए व्यालों' से करते हैं । इनमें आकार साम्य तथा प्रभाव साम्य दोनों ही हैं । साथ ही ये उपमान ऐसे सशक्त एवं भावाभिव्यंजक हैं जो पाठक के हृदय में भय का संचार करते हैं । इनमें चित्रोपमता भी है ।

'उधर गरजती सिंधु लहरियां
कुटिल काल के जालों सी
चली आ रहीं फेन उगलतीं
फन फैलाए व्यालों–सी ।

गर्भवती श्रद्धा के मुख की तुलना 'केतकी गर्भ' से की गई है जो पाठक के मन में गर्भवती नारी के मुख के पीलेपन को चित्रित करने में सर्वथा समर्थ है :—

केतकी गर्भ सा पीला मुंह
आंखों में आलस भरा स्नेह
कुछ कृशता नई लजीली थी
कंपित लतिका सी लिये देह !

अब तक बालों की उपमा के लिये सर्प, भ्रमर का ही प्रायः प्रयोग हुआ करता था पर प्रसाद जी ने इनकी तुलना घन-शावक से की है। इस उपमान में क्रिया साम्य एवं वर्ण साम्य तो है ही, पर यह है एकदम नवीन ।

घिर रहे थे घुंघराले बाल
अंस अवलम्बित मुख के पास
नीलघन शावक से सुकुमार
सुधा भरने को विधु के पास ।

इसी प्रकार लज्जा जैसे अमूर्तभाव के लिये प्रसाद ने नूपुर, एवं अंजन, घुंघराली अलक का कैसा अभिनव प्रयोग किया है। ये उपमान प्रभाव साम्य पर ही आधारित हैं :—

मैं रति की प्रतिकृति लज्जा हूँ
मैं शालीनता सिखाती हूँ ।
मतवाली सुन्दरता पग में
नूपुर सी लिपट मनाती हूँ ।
लाली बन सरल कपोलों में
आंखों में अंजन सी लगती
कुंचित अलकों सी घुंघराली
मन की मरोर बन कर जगती ।

नवीन उपमानों की दृष्टि से कविवर सुमित्रानन्दन पंत का स्थान अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है । उन्होंने बड़े ही अभिनव एवं सार्थक उपमानों का प्रयोग किया है। 'बादल' कविता में कवि ने बादलों का बड़ा ही विशद वर्णन किया है । विभिन्न प्रकार के बादलों के लिये कवि ने तदनुरूप उपमान ही जुटाए हैं जो कहीं आकार-साम्य पर आधारित हैं तो कहीं वर्ण साम्य एवं प्रभाव साम्य पर । कहीं पर वे जलाशयों में कमल दलों के समान खिलते हैं, कहीं वे सागर द्वारा लघु लहरों के चल पलनों में झूलते हैं। कभी वे विहंग के समान भूमि गर्भ में छिप जाते हैं, कभी त्रिभुवन की विपुल कल्पना के समान विविध रूप धर कर नभ को अंक में भर लेते हैं। कभी वे भूतों के समान विकट महाकार प्रकट करते हैं तो कभी परियों के बच्चे जैसे प्रतीत होते हैं । कभी वे यमुना के श्याम जल में जम्बाल-जाल के समान बहते हैं तो कभी दमयन्ती सी कुमुद कला के अभिराम रजतकरों में स्वर्णहंस के समान प्रिय ललाम संदेश कहते हैं । इस प्रकार कवि की दृष्टि सभी प्रकार के बादलों की ओर गई है । नीचे की पंक्तियों में अमूर्त उपमानों के द्वारा कवि बादलों के उठने, बढ़ने, उमड़ने और फैलने का कितना हृदयग्राही चित्रण करता है :—

धीरे धीरे संशय से उठ,
बढ़ अपयश से शीघ्र अछोर,

नभ के उर में उमड़ मोह से
फैल लालसा से निशि भोर ।

जिस प्रकार मानव-मन में धीरे-धीरे संशय की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार नभ प्रदेश में बादल एक खंड दिखाई पड़ता है । जिस प्रकार किसी का अपयश शीघ्र एक कोने से दूसरे कोने में फैल जाता है, उसी प्रकार बादल भी एकदम आकाश में फैल जाते हैं और जिस प्रकार मन में मोह उमड़ता है, वैसे ही बादल भी उमड़ते हैं और लालसा की भांति वे व्याप्त हो जाते हैं ।

पंत ने कतिपय उपमाओं में मूर्त उपमयों के लिये अमूर्त उपमानों की बड़ी ही कुशलता से योजना की है । पहाड़ पर ऊँचे वृक्ष खड़े हैं, कवि ने इस साधारण से कथनमात्र में किस काव्यात्मकता के साथ प्रयोग किया है :—

गिरिवर के उर से उठ उठ कर,
उच्चाकांक्षाओं से तरुवर ।
हैं झांक रहे नीरव नभ पर,
अनिमेष अटल कुछ चिन्ता पर ।

गिरि के उर से उठ कर तरुवर वैसे ही आकाश की ओर जा रहे हैं जैसे मानव हृदय में आकांक्षाएं उठ कर ऊपर को जाती हैं । ऐसी स्थिति में वृक्षों का नीरव नभ की ओर ताकना और महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति का दूर सूने में दृष्टि गड़ाए खड़े होना बहुत ही अनुरूप व्यवहार है ।

छायावादी कविता में ऐसे प्रयोग प्रचुर हैं जहां मूर्त उपमेय के लिये अमूर्त उपमान प्रयुक्त हुए हैं । महादेवी वर्मा ने घटा के घिरने की तुलना मधुभार से की है :—

शून्य नभ में जब उमड़ मधुभार सी
नैश तम में सघन छा जाती घटा ।

प्रगतिवाद में छायावादी कविता की तीव्र प्रतिक्रिया हुई । सूक्ष्मता के स्थान पर स्थूलता की प्रतिष्ठा हुई । छायावाद में अधिकांश उपमान प्रकृति के क्षेत्र से गृहीत थे किन्तु प्रगतिवादी कविता में उपमान समाज से सम्बद्ध होने लगे । इनमें दीन दुखियों, शोषितों एवं मजदूरों के आर्त एवं संघर्षमय जीवन की झाँकी मिलती है ।

रामविलास शर्मा बिजली के लाल बल्बों की तुलना लहू की बूंदों से करते हैं :—

लहू की बूंदों से
जलते हैं बिजली के बल्ब सूनी सड़कों पर
लाल-लाल ।

कोयले की खान की उपमा मजदूरिन सी रात से करके कवि ने मजदूरिन के विश्रान्त एवं श्रमरत जीवन का सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है :—

कोयले की खान की
मजदूरिन-सी रात
बोझ ढोती तिमिर का
विश्रान्त सी अवदात—रां० राघव

कवि ने वर्गबद्ध समाज की तुलना सिनेमा के गीत के साथ की है जिनमें शब्द ही गूंजते हैं अर्थ स्पष्ट नहीं होता इसी प्रकार वर्गबद्ध समाज जो सारहीन बड़ी बड़ी बातें करता है :--

सिनेमा के गीत-सा यह
वर्गबद्ध समाज
गूंजते हैं, शब्द, जिनका
अर्थ केवल शब्द--रां० राघव

भगवती चारण वर्मा ने अपनी 'भैंसागाड़ी' कविता में शोषित गांवों के उठे हुए कच्चे घरों की उपमा फोड़ों से दी है जो उन गांवों की वेदना के व्यंजक हैं :--

उस ओर क्षितिज के कुछ आगे,
कुछ पांच कोस की दूरी पर,
भू की छाती पर फोड़ों से,
हैं उठे हुए कुछ कच्चे घर ।

भाड़े के लिये जाती हुई गाड़ी में गाड़ीवान का उद्देश्य सिर्फ पैसा कमाना ही होता है । उसे गाड़ी में बैठे हुए लोगों के सुख दुख और उद्देश्य से कोई सरोकार नहीं इसी प्रकार साईंस भी अपनी साइंसी के पैसों से ही मतलब रक्खे हुए जीवन व्यतीत कर रहे हैं :--

हिनहिनाते अश्व भीतर रूँदते हैं भूमि
रह-रह,
और ये साईस बैठे हांकते हैं जिंदगी को
सिर्फ भाड़े के लिये ज्यों एक गाड़ी जा रही ।।

प्रगतिवाद की इस परम्परा के बाद प्रथम तार सप्तक के प्रकाशन से आधुनिक मनोविश्लेषणवादी प्रयोगवादियों की कविता आरंभ होती है । इन कविताओं में नवीनता का विशेष आग्रह है । अतः प्रयोगवादी कवियों ने अपनी कविताओं के अंतरंग और बहिरंग दोनों में ही नवीनता लाने का प्रयत्न किया है । नए नए विचित्र बेमेल उपमानों की सृष्टि की है जिन से काव्य सौंदर्यानुभूति में रसाभास सा उत्पन्न हो गया है । ये कवि रूढ़िवाद के कट्टर विरोधी हैं । नवीन उपमानों के विषय में प्रयोगवादियों का तर्क है :--

अगर मैं तुमको
ललाती साँझ के नभ की अकेली तारिका
अब नहीं कहता,
या शरद के भोर की नीहार नहाई कुईं,
टटकी केली चम्पे की
वगैरह, तो
नहीं कारण कि मेरा हृदय उथला या कि
सूना है.
या कि मेरा प्यार मैला है ।
बल्कि, केवल यही--
ये उपमान मैले हो गए हैं
देवता इन प्रतीकों के कर गए हैं कूच ।
कभी बासन अधिक घिसने से मुलम्मा
छुट जाता है ।
--अगर मैं यह कहूँ--
बिछली घास को तुम
लहलहाती हवा में कलगी छुरहरे बाजरे की ?

(क्यों तुम नहीं पहचान पाओगी)

एक अन्य कवि कहते हैं :—

चाँदनी चन्दन सदृश
हम क्यों लिखें ?
मुख हमें कमलों सरीखें क्यों दिखें ?
हम लिखेंगे
चाँदनी उस रुपए-सी कि जिसमें
चमक है, पर खनक गायब है ।
हम कहेंगे ज़ोर से
मुंह घर अजायब है
जहां पर बेतुके, अनमोल जिन्दा और मुर्दा
भाव रहते हैं ।

प्रयोगवादी कवि कुंठा जन्य भावों का वीभत्सपरक शाब्दिक उपमानों द्वारा अभिव्यंजन करते हैं जो उनके उलझनमय अस्पष्ट एवं निराश जीवन के अस्वस्थ प्रतीक हैं । आज गधे की तुलना योगी से, जीवन की तुलना मशीन से, या बुझी सिगरेट से की जाती है । कवि पूस मास की धूप की तुलना पीतल और शिशु के गालों से करता है :—

घिसे हुए पीतल सी पांडुर
पूस मास की धूप सुहावन
स्तनपायी नीरोग गौर छवि
शिशु के गालों जैसी मनहर ।

आज के जीवन की तुलना कवि ने रद्दी की टोकरी से करके उसकी निरर्थकता, विवशता, एवं दीनता प्रदर्शित की है:—

अधिकांश जनता का
रद्दी की टोकरी-सा जीवन है,
संज्ञाहीन अर्थहीन,
बेकार, चिरे-फटे टुकड़ों सा पड़ा है ।

आज की वैषम्यग्रत तिरस्कृत मानवता के लिये कवि फूटे बर्तन की उपमा लाता है —

मटक मुंह बिथकाता है पथ पर पागल
बूढ़े स्तन लटकाए नंगी भाग्य देवता
फूटे बर्तन-सी तिरस्कृत जब मानवता ।

दुष्यन्त कुमार प्रेयसी की बाहों में आवेष्टित उदास जीवन की तुलना अंधकार में दीपक की लौ से करते हैं :—

जैसे अंधकार में
एक दीपक की लौ
और उसके वृत्त में करवट बदलता सा
पीला अंधेरा
वैसे ही
तुम्हारी गोल बांहों के दायरे में
मुस्करा उठता है
दुनियां में सब से उदास जीवन मेरा ।

पिछले कवियों ने आत्मा की तुलना हंस, पक्षी, आदि से की है, पर आज उसकी तुलना कछुए से की जाती है :—

यह कछुए सी मेरी आत्मा
पंजे फैला
असली स्वरूप जो तुम्हें दिखाने को
उत्सुक हो बैठी है ।

आज का कवि सूर्य और शुक्रतारे के लिए, नवीनता के आग्रह में, कितने विचित्र उपमान प्रयुक्त करता है :—

नए दूल्हे सा सूरज, नव वधू सा पीछे पीछे यह
शुक्रतारा जा रहा है ।
इंजन के हेडलाइट सा शोरगुल के बीच
सूरज निकल गया
गार्ड की रोशनी-सा पीछे पीछे गुमसुम
शुक्रतारा जा रहा है ।
हमारी बस्ती में दिए से बल्व से पैट्रोमैक्स
सा चाँद
चारों ओर बल उठे तारे
दूरी में बैलगाड़ी की लालटेन-सा यह
शुक्रतारा जा रहा है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रारम्भ से आज तक उपमानों में परिवर्तन होता आया है । रूढ़िगत उपमान भी नए प्रकार से प्रयुक्त हुए हैं । जव तक मानव मन में नवीनता का मोह विद्यमान रहेगा तव तक उसकी प्रतिभा नए नए उपमानों की सृष्टि करती ही रहेगी ।

● ● ●



प्रो० पूर्णसिंह जी का मनस्तत्त्व

डा० हरिश्चन्द्र वर्मा

प्रो० पूर्णसिंह का मनस्तत्त्व सरलता, आदर्शप्रियता, व्यापक अनुराग और गहन सौन्दर्य साधना आदि से निर्मित है। उनके निबन्धों में उनके निर्मल और निर्विकार अन्तःकरण की निश्छल अभिव्यक्ति हुई है। जीवन और जगत के प्रति उनके निर्विकार और आदर्शान्वित दृष्टिकोण को आध्यात्मिक दृष्टिकोण कहा जा सकता है। आत्मिक या आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि भी वास्तव में लोक-बाह्य नहीं। वास्तव में आत्मा मानव के उच्चतम, विशुद्धतम स्वरूप की ही सूक्ष्मतम मान्यता है। अन्तःकरण का स्वस्थतम और निर्विकार रूप ही आत्मा की परिकल्पना में परिणत होता है। स्थितधी और स्थितप्रज्ञ ही आत्मज्ञानी कहे गये हैं। गीता में तो "स्वभावोऽध्यात्म-मुच्यते" कह कर 'स्वभाव' को ही 'अध्यात्म' बतलाया गया है।[१] प्रो० पूर्ण सिंह जी का दृष्टिकोण पूर्णतः आदर्शात्मक और उदात्त होने के कारण मूलतः आध्यात्मिक है, उनका 'स्वभाव' मानव-स्वभाव का श्रेष्ठ निदर्शन है।

प्रो० पूर्णसिंह जी को आध्यात्मिकता पैतृक दाय के रूप में प्राप्त हुई थी। इनके पिता जैसे आध्यात्मिक प्रकृति के थे, माता भी धार्मिक और उदार स्वभाव की थीं। जब ये जापान गये तो वहां के बौद्ध धर्म का इनके ऊपर भारी असर हुआ। इसी समय जापान में 'पार्ल्यामैण्ट ऑव रिलिजन' होने वाली थी उसमें भाग लेने के लिये स्वामी रामतीर्थ जापान गए हुए थे। स्वामी जी के व्यक्तित्व और उनके भाषणों का इन पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि वहीं पर उनके शिष्य बन गये और सन्यासी हो गये। इस प्रकार आध्यात्मिकता के संस्कारों और प्रभावों के कारण उनका व्यक्तित्व आध्यात्मिकता की ज्योति से आलोकित था। वेदान्त दर्शन का उन्होंने गम्भीर अध्ययन किया था। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल ने, जो इनके साथ रह रहे थे,

---

१. श्रीमद् भगवद्गीता (अध्याय ८, श्लोक ३)

लिखा है--"वेदान्ती पूर्णसिंह का विचित्र व्यक्तित्व था । मैंने पहले पहल उनसे उसी रूप में परिचय प्राप्त किया । एक निर्दोष, इकहरा शरीर, साफ छटी हुई मूछ दाढ़ी, शान्त और असाधारण सौन्दर्य, दिव्य मुखमण्डल था, जिस पर योग की ज्योति जगमगाया करती थी ।.... वे अपने अन्तर में ही परब्रह्म को पाने का यत्न करते रहते थे ।१ "सिसटर्स आफ दी स्पिनिंग ह्वील" नामक पुस्तक की भूमिका में अर्नेस्ट एण्ड ग्रेस रिज ने स्वयं पूर्णसिंह के लिखे हुए संक्षिप्त आत्मचरित को उद्धृत किया है, जिसका कुछ अंश यहां दिया जा रहा है :--

"सन् १९०० में मैं जापान चल दिया और तीन वर्ष टोकियो की इम्पीरियल यूनिवर्सिटी में मैंने व्यावहारिक रसायन का अध्ययन किया और जापान में औद्योगिक जीवन को बहुत सी बातों का ज्ञान प्राप्त किया । वहां मैं अनेक प्रसिद्ध जापानियों के सम्पर्क में आया और उनके द्वारा मैंने पुष्पों से, प्रकृति से और बुद्ध भगवान से प्रेम करना सीखा । वहां मैं कवियों से, कलाविदों से, चुपचाप शांत रहने वाले पुरुषों से तथा आनन्द से विभोर रहने वाले व्यक्तियों से मिलता तथा सदा हृदय की गुप्त विभूतियों की खोज में रहता । जापान-प्रवास के अन्तिम दिनों में मुझे वहां आत्म-स्वतन्त्रता का एक नवीन आनन्द प्राप्त हुआ । मेरी सब चीज़ें छूट गईं और मैं भिक्षु हो गया । मेरी आंखों में आनन्दाश्रु बहने लगे । मुझे ऐसा मालूम पड़ने लगा जैसे मैं सब को प्यार करता हूँ और सब मुझको प्यार करते हैं । यदि जापान सुन्दर था, तो मेरे चारों ओर के लोग इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण मुझ में देखने लगे । एक फारसी कवि का कथन है--"क्या तुम चमन में गुलाब देखने के लिये जाते हो ? कैसे अफसोस की बात है ? अपने हृदय का द्वार खोल दो और उसमें प्रवेश करके देखो, वहां कैसे अग्नि की लपटों के समान गुलाब खिल रहे हैं । मेरी भी कुछ ऐसी ही दशा थी । आनन्दातिरेक से मैं अपने आपे से बाहर था । मुझे अपने सामने, पीछे, ऊपर, नीचे सब ओर बुद्ध ही बुद्ध दिखाई देते थे ।"२ उनके स्वभाव की शालीनता, निश्छलता , स्वच्छन्दता, उन्मुक्तता और आदर्शप्रियता अथवा एक शब्द में आध्यात्मिकता ही उन के निबन्धों में विविध रूपों में व्यक्त हुई । उनकी मुक्तहृदयता का परिचय उनकी पुस्तकों के नामों तक से मिलता है । पंजाबी में लिखित उनकी पुस्तकों--'खुले लेख', 'खुले घुंड' 'खुले मैदान'--में उनके हृदय का खुलापन ही प्रमुख है। उनके हृदय की उन्मुक्तता

१. सरदार पूर्णसिंह अध्यापक के निबन्ध सं० प्रभात शास्त्री--पृ० १८
२. समीक्षायण--प्रो० कन्हैयालाल सहल (आत्माराम एण्ड सन्स) पृ० ९५ पर उद्धृत ।

का परिचय इससे भी मिलता है कि उन्होंने हिन्दी, पंजाबी और अंग्रेज़ी आदि भाषाओं में समान अधिकार और निष्ठा के साथ लेखनी चलाई है। आज के भाषा-विवादों के जन्मदाता, प्रो० पूर्णसिंह जी के महान् व्यक्तित्व के उदाहरण से पाठ ग्रहण कर सकते हैं। यह ही नहीं उन्होंने इतिहास, संस्कृति, धर्म, दर्शन, नीतिशास्त्र, तथा उर्दू, हिन्दी, अंग्रेज़ी और पंजाबी के कवियों की कविता आदि विविध विषयों के अनुशीलन में आत्म-विस्तार का मार्ग खोजा और इस प्रकार सीमा से निरन्तर असीमता की ओर अग्रसर रहे। असीमता की ओर उन्मुख होने और कभी-कभी असीमता में लीन हो जाने की उनकी प्रवृति ही वास्तव में उनके व्यक्तित्व को असाधारणता प्रदान करती है और यही उनकी आध्यात्मिकता का मूल रहस्य है।

प्रो० पूर्णसिंह की आध्यात्मिकता ही उनके व्यक्तित्व की मस्तमौलापन, फक्कड़पन, बेधड़कपन, मौलिकता, उदात्तता, भावुकता, रहस्यवादिता, मानवता-प्रेम, प्रकृति-प्रेम, सरलता आदि अनेक विशेषताओं का मूल स्रोत है। उनकी सभी अनुभूतियां, उनकी ब्रह्मनिष्ठा अथवा आध्यात्मिकता से जन्म लेती हैं। इस चराचर जगत में जहां भी कहीं उनको दिव्यता की प्रतीति होती है वे गद्‌गद होकर नाचने लगते हैं, गाने लगते हैं, रोने लगते हैं अथवा हँसने लगते हैं या फिर उस दिव्यता की गहनता और व्यापकता की अनुभूति में डूब कर मूर्च्छित हो जाते हैं। यही कारण है कि जहां कहीं वे प्रकृति के सुकुमार, सलोने, पवित्र और विराट् दृश्य देखते हैं तो उनकी असीम सुन्दरता और दिव्यता में खो जाते हैं। उन्हें प्रकृति के तृण-तृण और कण-कण में सर्वत्र ब्रह्म कान्ति की पावन और अनन्त धारा फूट पड़ती हुई अनुभव होती है। प्रकृति के विराट दृश्यों से उन्हें विशेष प्रेम है। प्रकृति-सौन्दर्य में उन्हें अलौकिक सौन्दर्य दृष्टिगोचर होता है। वे प्रकृति को रागपूर्ण और रहस्यमयी दृष्टि से देखते हैं। अपने रहस्यवादी दृष्टिकोण में वे सन्त कवियों से भी कहीं आगे हैं। सन्त कवियों ने आत्मा-परमात्मा के मिलन और विरह के गीत तो गाये हैं, किन्तु प्रकृति के उमड़ते हुए सजीव और प्रत्यक्ष सौन्दर्य में दिव्यता की अनुभूति उन्हें बहुत कम हुई है। इसके विपरीत प्रो० पूर्णसिंह ने सजीव और प्रत्यक्ष सौन्दर्य के ऊपर अपनी रागात्मकता को उडल दिया है। यही कारण है कि उनके निबन्धों में अनुभूति की तीव्रता और सच्चाई सर्वत्र झलकती चलती है। वे सौन्दर्य के सच्चे पुजारी हैं। जिस प्रकार प्रकृति के क्षेत्र में ऊँचे ऊँचे हिम-धवल पर्वतों में दुग्ध धारा जैसे फेनोज्ज्वल झरनों में, दूर तक लहलहाते हुए खेतों में, सफेद सुन्दर भोली भेड़ों में उन्हें ब्रह्मकान्ति दृष्टिगोचर होती है, उसी प्रकार मानवता

के क्षेत्र में कृषक-कन्याओं के नैसर्गिक आकृति-सौन्दर्य और शील-सौन्दर्य से भेड़ चराने वाले गडरियों की निश्छलता और अकृत्रिमता में, मजदूरों के सात्विक श्रम में भी उन्हें परमात्मा की सुन्दरता का विस्तार दिखलाई पड़ता है। वे प्रकृति-सौन्दर्य, शील-सौन्दर्य, श्रम-सौंदर्य अथवा कर्म-सौन्दर्य के उपासक हैं। इसी शील-सौन्दर्य और कर्म-सौन्दर्य को वे मानवता-धर्म का मूल आधार मानते हैं। इसी आधार पर शुकदेव, महाप्रभु चैतन्य, मन्सूर, ईसा, बुद्ध, शिव, मोहम्मद, नानक आदि सभी के प्रति अगाध श्रद्धांजलि समर्पित करते चलते हैं। उनका सौन्दर्य-प्रेम किसी एक देश, जाति, धर्म और व्यक्ति तक सिमट कर नहीं रह गया है, वरन् असीमता की ओर उन्मुख है।

प्रकृति और मानव के क्षेत्रों में प्रो० पूर्णसिंह अकृत्रिम, सरल और सात्त्विक सौन्दर्य के ही उपासक हैं। कृत्रिमता, आडम्बरपूर्णता, ऊपरी चमक-दमक उनको तनिक भी आकर्षित नहीं कर पाती। निम्नलिखित कथन में उनकी सौन्दर्य भावना का स्वरूप अंकित है, "जो लोग मिश्र के पिरामिड को उत्तम कलाकौशल का नमूना मानते हैं, उनकी सुन्दरता देखने की दृष्टि परदा-नशीनों की सी है। प्रकृति के बाह्य अनियमित दृश्य इन परदानशीनों के नियमित दृश्यों से कहीं बढ़ चढ़ कर है।"[1] स्वच्छन्द और नैसर्गिक सौन्दर्य के उपासक होने के कारण ही अमेरिका की बहिर्मुखी सभ्यता को उन्होंने "तत्त्वहीन" और "मशीन-रूपी नरक" कहा है।[2] प्रो० पूर्णसिंह का मत है जितनी जितनी सभ्यता बढ़ती जाती है हृदय के ऊपर उतने ही कृत्रिमता के आवरण चढ़ते जाते हैं और नैसर्गिक अनुभूति और भावोद्रेक का प्रवाह उतना ही अवरुद्ध, सीमित और शुष्क होता जाता है। उनका विश्वास है कि इस कृत्रिम सभ्यता की कारा को विच्छिन्न कर जो व्यक्ति असीम और निर्बन्ध चराचर जगत में स्वच्छन्द विचरण करते हैं वे ही सच्चे सौन्दर्य-प्रेमी, कवि, भावुक और कलाकार हो सकते हैं। अमेरिका के मस्त जोगी वाल्ट ह्विटमैन के विषय में उन्होंने कहा है, "सभ्यता के नगरों से यह जोगी जितनी ही दूर हो जाता है उसका स्वर उतना ही गम्भीर हो जाता है।"[3]

श्रम-सौन्दर्य अथवा कर्म-सौन्दर्य के क्षेत्र में उन्होंने कृत्रिमता को तत्त्वहीन घोषित किया है। उनकी मान्यता है कि मशीनों से निर्मित वस्तुएं स्वाभाविकि सौन्दर्य से विहीन और निष्प्राण होती है

१. सरदार पूर्णसिंह अध्यापक के निबन्ध—सं० प्रभात शास्त्री—प्र० सं०, ७ पृ० १५३
२. वही—१५२
३. वही—पृ० १५२

और मनुष्य के अपने हाथों के सात्विक श्रम से विरचित वस्तुओं में सजीव सौन्दर्य, के दर्शन होते हैं। अपने 'मजदूरी और प्रेम' शीर्षक निबन्ध में वे कहते हैं, "मुझे तो मनुष्य के हाथ से बने हुए कामों में, उनकी प्रेममय पवित्र आत्मा की सुगन्ध आती है।.....परन्तु यन्त्रों की सहायता से बने हुए फोटो निर्जीव से प्रतीत होते हैं। उनमें और हाथ के चित्रों में उतना ही भेद है जितना कि बस्ती और श्मशान में" १ किसान, गडरिया, मजदूर आदि के कर्म-सौन्दर्य पर मुग्ध होकर वे गद्‌गद् हो जाते हैं। इसके सर्वथा विपरीत धर्म और ईश्वर के नाम पर निकम्मे पड़े रहने वाले ढोंगी, पाखण्डी मठाधीशों और गद्दीधारी पादरियों तथा मुल्लाओं पर उन्होंने कबीर की ही भांति करारी चोट की है। उन्होंने श्रम-सौन्दर्य को आत्मिक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति माना है और लुहार, बढ़ई, मेमार तथा किसान आदि को कवि, महात्मा, योगी आदि के समान ही महत्त्वपूर्ण माना है।२ श्रम-सौन्दर्य में आत्मिक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति होने के कारण वे श्रम में भी आध्यात्मिकता के दर्शन करते हैं। वे कहते हैं, "मजदूरी करना जीवन यात्रा का आध्यात्मिक नियम है।"३

श्रम-सौंदर्य की ही भांति उन्होंने शील-सौन्दर्य के प्रति गहन श्रद्धा और भक्ति प्रकट की है। उनके मतानुसार शील-सौन्दर्य-सम्पन्न व्यक्ति को जनता को प्रभावित करने के लिए लम्बे लम्बे धुआंधार भाषणों की लेशमात्र भी आवश्यकता नहीं है। सच्चा शील उच्च आचरण में फलित होता है। सच्चा शील और उच्च आचरण प्रो० पूर्णसिंह की दृष्टि में सब धर्मों का धर्म, परम धर्म है। धर्मग्रन्थों की भाषा दिव्य नहीं, किन्तु आचरण की भाषा दिव्य है। उनका कहना है, "अन्य कोई भाषा दिव्य नहीं, केवल आचरण की मौन भाषा ही ईश्वरीय है।"४ शील और आचरण की सभ्यता में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि जाति-गंति और नाम-रूप के भेद मिट जाते हैं, देश-काल की बाधाएं दूर हो जाती हैं। इस प्रकार प्रो० पूर्णसिंह प्रकृति-सौंदर्य, आकृति-सौन्दर्य, श्रम-सौन्दर्य और शील सौन्दर्य में सर्वत्र एक अलौकिक पवित्रता और आध्यात्मिकता अथवा दिव्यता के दर्शन करते हैं। उनके लिये सभी प्रकार का सौन्दर्य एक ही ब्रह्म कान्ति का विकास और प्रकाश है।

प्रो० पूर्णसिंह जी शील-सौन्दर्य और आचरण की सभ्यता पर आधारित

---

१. सरदार पूर्णसिंह अध्यापक के निबन्ध—सं० प्रभातशास्त्री (प्र० सं०), पृ० १३८
२. वही—पृ० १४१
३. वही—पृ० १४४
४. वही—पृ० ११८

प्रेम-धर्म अथवा मानवता-धर्म के पोषक और प्रचारक हैं। वेद, पुराण, कुरान, इंजील, मन्दिर, मस्जिद, गिरजा आदि का प्रो० पूर्णसिंह जी द्वारा प्रतिपादित प्रेम-धर्म या मानवता धर्म में कोई महत्त्व नहीं है। इस प्रेम धर्म में आलस्य और भ्रष्टाचार की ओर ले जाने वाले कर्मकाण्ड का नाम नहीं। व्यापक सहानुभूति, जीवन यात्रा के लिये करुणा और मैत्री, सुशीलता, और आचरण की सभ्यता—संक्षेप में सच्ची मानवता ही इस प्रेम-धर्म का मूल आधार है। आत्मिक पवित्रता ही इस प्रेम धर्म का मूल तत्व है। इस धर्म में कर्त्तव्य-परायणता, जन-सेवा, विश्व प्रेम, त्याग, सत्य और पवित्रता आदि दिव्य आदर्श ही ईश्वर हैं। यदि हम जाने या अनजाने में इन दिव्य आदर्शों का पालन कर रहे हैं तो हम सच्चे आस्तिक हैं, सच्चे धार्मिक हैं—फिर हम चाहे कोई धर्म ग्रन्थ पढ़ें या न पढ़ें, किसी ईश्वर को जाने या न जानें माने या न मानें। इनकी दृष्टि में तो "सत्त्व गुण के समुद्र में जिनका अन्तःकरण निमग्न हो गया वही महात्मा, साधु और वीर हैं। ये लोग अपने क्षुद्र जीवन को परित्याग कर ऐसा ईश्वरीय जीवन पाते हैं कि उनके लिये संसार के कुल अगम्य मार्ग साफ हो जाते हैं।[१] इस प्रकार प्रो० पूर्णसिंह के लिये मानव, मानवता और मानवीय आदर्शों में धर्म और ईश्वर का निवास है। मानवता से पृथक् धर्म और ईश्वर आदि का कोई मूल्य नहीं। वे विश्व नागरिक थे, विश्व भर उनका परिवार था "Men like Puran Singh are citizens of the world, for their sympathies are not cramped by narrow nationalism, racialism or sectarianism. He is the poet of humanity."[२]

प्रो० पूर्णसिंह मानवता के पुजारी हैं। मानव समाज में जहां-कहीं कर्मठता, सरलता, सरसता, पवित्रता, त्याग, आचरण की उच्चता आदि दिव्य गुणों का आभास मिलता है, वहां वे श्रद्धा से नत-मस्तक होते चलते हैं। यही कारण है कि किसान, गडरिया, कवि आदि उनके उपास्य मानव ईश्वर हैं। इसके विपरीत जहां कहीं वे आलस्य, निकम्मापन, कलह, व्यभिचार, कृत्रिमता, खोखलापन, कायरता, स्वार्थ आदि मानवता,-विरोधी दुर्गुणों को देखते हैं उनकी आत्मा विक्षुब्ध हो उठती है। वहां उनकी आध्यात्मिकता क्रान्तिकारी समाज सुधारक का रूप ग्रहण कर लेती है। कबीर और नानक आदि सन्तों की भांति उन्होंने निष्प्राण धार्मिक रूढ़ियों,

---

१. सरदार पूर्णसिंह अध्यापक के निवन्ध—सं० प्रभात शास्त्री पृ० ५२
२. पंजाबी में प्रकाशित 'साहित्य-समाचार' का 'पूर्ण सिंह अङ्क' [जनवरी १९५५—अप्रैल १९५५] पृ० २४३

विकृत परम्पराओं और पाखण्डों पर मार्मिक व्यंग्य किए हैं। इन व्यंग्यों की तह में देश-प्रेम, मानव-प्रेम और समाज सुधार की आदर्श भावनायें छटपटाती हुई मिलेंगी। लोक-मङ्गल की उदात्त भावना उनके निबन्धों में सर्वत्र ध्वनित है। भारत और भारतीयता के प्रति उनका अगाध प्रेम है, किन्तु अन्ध श्रद्धा कहीं नहीं है। उन्होंने विवेक बुद्धि के आधार पर भारतीय संस्कृति के स्वस्थ और लोक-रञ्जनकारी तत्त्वों में ही आस्था प्रकट की है, अस्वस्थ और निर्जीव तत्त्वों पर बड़े ही चुटीले और विदग्धतापूर्ण व्यंग्य किये हैं। भारतीय वेदान्त दर्शन के प्रति उनकी गहन आस्था है। भारतीय संस्कारों में से 'कन्या-दान' का प्रसंग तो उनके लिये गहन आध्यात्मिकता से परिपूर्ण है। वे कहते हैं "हमारे देश के इस पारस्परिक अर्पण का दिव्य समय Divine time of mutual self surrender—(परस्पर आत्मसमर्पण का दैवी काल) कुल दुनिया के ऐसे समय से अधिक हृदयंगम होता है।"१ दूसरी ओर ब्रह्मज्ञानी होने का ढोंग रचने वाले अज्ञानियों और पोंगापंथियों पर तीखा व्यंग्य करते हुए वे कहते हैं, "भारतवासियों ने एक प्रकार की पुड़िया और गोली बनाई है, जिसको खाते ही चन्द्रमा चढ़ जाता है, ज्ञान हो जाता है।....हृषीकेश में वह अनमूल्य गोली बिकती है, और सिर्फ दो चपाती के दाम, जिस गोली के खाने से सारे जन्म कट जाते हैं, सब पाश टूट जाते हैं, और जीवन्मुक्त हो सारे संसार को अपनी उंगलियों पर नचा सकोगे........ बेचने वाले देखो वो जा रहे हैं, तीन-चार पुस्तकें हाथ में हैं, और तीन-चार पुस्तकें बगल में, आपको इन दो पुस्तकों के पढ़ने से ही ब्रह्म की प्राप्ति हो गई है, ज्ञान हो गया है।२ "भारत की महत्ता को जाग्रत करना, राष्ट्र का निर्माण और कर्मठ बनना"३ ये इनके मुख्य उद्देश्य थे, जिनकी प्रेरणा इन्हें स्वामी रामतीर्थ जी से मिली थी। अपने 'पवित्रता' शीर्षक लेख में उन्होंने आश्रमबद्ध ब्रह्मचर्य के पालन के खोखले और व्यवहार शून्य उपदेश झूठे तप-जप, त्याग, वैराग्य और ज्ञान पर करारे व्यंग्य किए हैं, किन्तु इन सब की, गहराई में अज्ञान, धूर्तता, छल-कपट, आलस्य और पाखण्डों की पंक में निमज्जित भारतीय जनता को मानवता के राजमार्ग पर लाने की बलवती प्रेरणा है। लेख के अन्त में उन्होंने कहा है, "इस तरह से हमें साधनों के अच्छे बुरे होने पर कोई पण्डिताईपूर्ण व्याख्या नहीं करनी, मुझे तो अपने देश की अपवित्रता को दूर करने

१. वही—पृ० ८५
२. वहीं—पृ० ११४
३. वही (भूमिका-भाग) पृ० ८

और अपने भाई बहनों को मनुष्य बनाने के साधनों को देखना है, जब हम मनुष्य बन जायेंगे, तब तो तलवार भी, ढाल भी, जप भी, तप भी, ब्रह्मचर्य भी, वैराग्य भी सब के सब हमारे हाथों को कंकणों की तरह शोभायमान होंगे ।"१ मनुष्य की अन्तर्निहित विशुद्ध और प्रकृत मानवता को जगाना ही इनके व्यंग्यों का मूल उद्देश्य है ।

"भारतवर्ष का लोक-नायक वही हो सकता है, जो समन्वय करने का अपार धैर्य लेकर आया हो "।२ डॉ० हाज़री प्रसाद द्विवेदी द्वारा तुलसी के सन्दर्भ में कहे गए ये शब्द प्रो० पूर्णसिंह जी पर भी अक्षरशः लागू होते हैं । उन्होंने जिस मानवता-धर्म की स्थापना की है, वह मानवता के शारीरिक, मानसिक, आत्मिक, भौतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, सामाजिक आदि सभी प्रकार के सामञ्जस्यपूर्ण विकास पर आश्रित है । यही कारण है कि उनके निबन्धों में जिस मानवता-धर्म का चित्र उभरा है, उसका निर्माण भारतीय अध्यात्म, पाश्चात्य पदार्थ-विद्या और अन्वेषणकारी सदुयोग, जापानी कला कौशल और श्रम साधन आदि तत्वों से हुआ है । यहां पाश्चात्य पदार्थ-विद्या का अभिप्राय स्पष्ट कर लेना आवश्यक है । पदार्थ विद्या और यान्त्रिक सभ्यता अथवा मशीनों की गुलामी में प्रो० पूर्णसिंह की दृष्टि में भारी अन्तर है । पदार्थ विद्या में निष्णात अथवा अनन्त पर प्रकृति सजने वाले लोगों को उन्होंने 'ऋषि' संज्ञा दी है ।३ पदार्थ विद्या से उनका अभिप्राय प्रकृति के रूपों-समुद्र , बन, आकाश, ग्रह, उपग्रह, पर्वत, नदी आदि के रहस्यों की खोज करने और उन पर विजय प्राप्त करके उन्हें मानव मात्र के लिए उपयोगी बनाने से है । मानवोपयोगी होने के कारण वे पदार्थ विद्या में भी आध्यात्मिकता की अनुभूति करते हैं । जिस प्रकार अन्तः प्रकृति (अन्तर्जगत) के द्रष्टा ऋषि हैं, उसी प्रकार बहिर्प्रकृति के रहस्य द्रष्टा भी प्रो० पूर्णसिंह की दृष्टि में ऋषि ही हैं । भारतवासी हवा में पद्मासन जमाये हुए आत्मा-परमात्मा के सूने और वायवी स्वप्न देखते रहने के कारण पदार्थ विद्या अथवा वैज्ञानिक प्रगति में पिछड़ गए हैं । यही उनके दुर्भाग्य का कारण है । इस दुर्भाग्य पर आंसू बरसाते हुए उन्होंने कहा है,"माना कि प्राचीन काल में,योरप में सभी असभ्य थे, परन्तु आजकल तो हम असभ्य हैं । उनकी असभ्यता के ऊपर ऋषि जीवन की उच्च सभ्यता फूल रही है और हमारे ऋषियों के जीवन के फूल की शय्या पर आजकल

---

१. वहीं—पृ० ११५

२. हिन्दी साहित्य—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी—१९५२ का संस्करण—पृ० २३३

३. सरदार पूर्ण सिंह अध्यापक के निबन्ध—सं० प्रभात शास्त्री—पृ० १२९

असभ्यता का रंग चढ़ा हुआ है।"[1] इस प्रकार उन्होंने विज्ञान और अध्यात्म का समन्वय स्थापित किया है। यदि विज्ञान को अध्यात्म की आँखें प्राप्त हो जायें तो वह पूंजीवादी शोषणपूर्ण अर्थव्यवस्था, अर्थपूजा आदि दुष्परिणामों का कारण न बन कर मानवता की सामूहिक प्रगति और समृद्धि का साधन बन जाये। इसी प्रकार यदि अध्यात्म को विज्ञान का आश्रय मिल जाये तो वह अपनी व्यावहारिक उपयोगिता सिद्ध कर सके।

नारी के विषय में भी प्रो० पूर्णसिंह जी का दृष्टिकोण आध्यात्मिक ही है। वे स्त्री को पुरुष की सफूरण शक्ति, सूत्रधारिणी और प्रेरणा मानते हैं। वह पुरुष के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण करके उसके हृदय-सिंहासन की साम्राज्ञी बन जाती है। उसका सारा स्वत्व उसके त्याग में है। वह आत्मदान देकर अधिकारिणी, स्वामिनी, बन जाती है। यदि कन्या दान के भारतीय आदर्श का पालन किया जाये तो फिर बहु-विवाह, सम्बन्ध-विच्छेद, व्यभिचार आदि का प्रश्न ही कहां उठता है? "भला सच्चे कन्यादान के यज्ञ के बाद कौनसा मनुष्य हृदय इतना नीच और पापी हो सकता है, जो हवन हुई कन्या के सिवा किसी अन्य स्त्री को बुरी दृष्टि से देखे। उस कुरबान हुई, कन्या की खातिर कुल जगत की स्त्री-जाति से उस पुरुष का पवित्र सम्बन्ध हो जाता है।"[2] कन्यादान के आदर्श का पालन न करने के कारण ही विशेषतर पाश्चात्य देशों में तथा सामान्यतः भारत में भी तलाक तथा नैतिक पतन की भयंकर समस्यायें आ खड़ी हुई हैं। कन्याओं की आजन्म कुमारियां ही बने रहने की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई प्रवृत्ति भी स्वार्थ और पतन की खोखली बुनियादों पर आधारित है। नारी-स्वातन्त्र्य के नारे भी कन्यादान के आदर्श की अपेक्षा के दुष्परिणाम हैं। प्रो० पूर्णसिंह की दृष्टि में स्त्री ही पुरुषों के हृदय की रानी, गृहस्वामिनी, सच्ची नियामिका और राष्ट्रों की सच्ची भाग्य-विधायिका होती है।[3] एक ओर नारियां समर्पण के आदर्श को भूल रही हैं और कर्त्तव्य छोड़कर अधिकारों के पीछे पड़ गई हैं, दूसरी ओर पुरुष ने मां, बहिन, पत्नी और बेटी के रूप में उसे अपनी प्रेरक शक्ति और पूजनीया देवी के रूप में मानना छोड़ दिया है। यही कारण है कि नारी तथाकथित स्वतन्त्रता की मांग करके अपना घर और बाहर का स्वामित्व खो रही हैं। स्त्रियों को दिया हुआ मताधिकार भी उनके हृदय-साम्राज्ञी के वास्तविक

१. वही—प० ११९
२. वही—पृ० ७६
३. सरदार पूर्णसिंह अध्यापक के निबन्ध—सं० प्रभात शास्त्री, पृ० ७७

अधिकार को छीनने वाले पुरुष वर्ग के घोर नैतिक पतन का सूचक है ।१

कविता , कला आदि के विषय में प्रो० पूर्णसिंह के विचारों का अध्ययन भी उनके दृष्टिकोण को समझने में सहायक होगा । जिस प्रकार जीवन और जगत् के प्रति प्रो० पूर्णसिंह का दृष्टिकोण आध्यात्मिक है उसी प्रकार कविता और कला आदि के प्रति भी । अपने "कन्यादान" शीर्षक निबन्ध में वे कवि की परिभाषा क ते हुए करते हैं, "कवि की कविता और उसका आलाप उसके दिल और गले से नहीं निकलते । वे तो संसार के ब्रह्म केन्द्र से आलापित होते हैं । केवल उस आलाप करने वाली अवस्था का नाम कवि है ।"२ उनकी दृष्टि में "वही सच्चा कवि है जो दिव्य सौन्दर्य के अनुभव में लीन हो जाय और लीन होने पर जिह्वा, और कण्ठ मारे खुशी के रुक जायँ, रोमांच हो उठे, निजानन्द में मत्त होकर कभी रोने लगे, और कभी हँसने ।"३ उपर्युक्त परिभाषा में कवि की सौन्दर्यानुभूति की तीव्रता और गहनता ही प्रमुख है । सौन्दर्यानुभूति की यह गहनता और तीव्रता ही कवि की अभिव्यक्ति को व्यक्तिनिरपेक्ष और समष्टिव्यापी, दिव्यता और विस्तार प्रदान करती है । प्रो० पूर्णसिंह जी का विश्वास है कि प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी अद्भुत प्रेम कला से युक्त होता है । सब के हृदय में प्रेम-कला की कुंजी है। इस कुंजी के लगते ही सहज भावुकता अनेकानेक कलाओं के रूप में प्रकट होती है भावाभिव्यक्ति के उत्कर्ष के लिये अनुभूतिप्रवणता ही महत्वपूर्ण है, किसी प्रकार के पाण्डित्य या बाह्य नैपुण्य की आवश्यकता नहीं, बल्कि वह साधक न होकर बाधक ही सिद्ध होता है । सच्ची अनुभूतिप्राण कविता के लिये लय, तुक, छन्द आदि के बन्धन व्यर्थ ही नहीं, हानिकारक हैं । हृदय के अदम्य भावावेग को छन्दों के साँचे में ढालने की न तो दिव्य द्रष्टा कवि मनीषी को सुध-बुध ही होती है, न अवकाश और आवश्यकता ही; वह तो अनुभूति के प्रवाह को अनजाने में ही अपने हृदयानन्द की ताल में तोलता चलता है । अतः कविता भावावेग का निर्बन्ध प्रवाह है और कवि दिव्य सौन्दर्य में भाव मग्न ब्रह्मनिष्ठ साधक। प्रो० पूर्णसिंह जी का व्यक्तित्व और कृतित्व उनके द्वारा प्रतिपादित उपर्युक्त सभी सिद्धान्तों का व्यावहारिक रूप कहा जा सकता है ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रो० पूर्ण सिंह का भाव-लोक आध्यात्मिकता

---

१. वही—पृ० ७७
२. वही—पृ० ६९
३. वही—पृ० ६९

के पवित्र तन्तुओं से निर्मित है। उनकी चिन्तन धारा का मूल स्रोत आध्यात्मिकता ही है। इसी आध्यात्मिकता ने उनके कर्म, धर्म, सौन्दर्य-प्रेम, कविता, कला, नारी, आदि से सम्बन्धित दृष्टिकोणों को निर्धारित किया है। संक्षेप में यों कह सकते हैं कि जीवन और जगत के प्रति मूलतः प्रो० पूर्णसिंह का दृष्टिकोण एक ही है और वह है आध्यात्मिक। उनकी यह आध्यात्मिकता ही भिन्न-भिन्न विषयों, वस्तुओं और व्यक्तियों अथवा परिस्थितियों को आलम्बन बना कर अनेक रूपों में व्यक्त हुई है।

● ● ●

(पृष्ठ ७९ का शेष)

सुग्रीव की उक्ति देते हैं जिसमें कथा श्लेष से व्यंजित नहीं है वरन प्रत्यक्ष उपस्थित है। सुग्रीव सीता को संदेश भेजता है—अधिक कहने से क्या लाभ ? हे देवी, समुद्र पार बैठी हुई तुझ स्वामिनी को राम शीघ्र ही ले आयेंगे।

चौथे पताकास्थानक में दशरूपककार ने "उद्दामोत्कलिका" वाला उदाहरण रत्नावली से दिया है। अभिनवगुप्त ने इसमें पताकास्थानक नहीं स्वीकारा है।

(५) दूसरा, तीसरा और चौथा पताकास्थानक उक्ति में निहित है जिनमें साहित्यिक विनोद है, घटना परक चमत्कार नहीं है।

● ● ●



पंजाब के प्राचीन कवि—

साधु गुलाबसिंह और उनकी अध्यात्म रामायण

श्रो० प्र० श्रानन्द

पंजाब प्रदेश साहित्य-सृजन की दृष्टि से सब प्रान्तों से उर्वर रहा है, श्रौर यदि यह कह लिया जाय कि हिन्दी (खड़ी बोली) श्रौर ब्रज भाषा का साहित्य जितना इस प्रदेश में रचा गया उतना किसी दूसरे में नहीं, तो यह श्रतिशयोक्ति नहीं होगी। शायद कुछ लोगों को यह बहुत बड़ी बात लगे, परन्तु जिन श्रन्वेषकों ने पंजाब के प्राचीन साहित्य की खोज की है श्रौर खोज करने में लगे रहते हैं वे जानते हैं कि पंजाब प्रदेश साहित्यिक दृष्टि से कितना परिपूर्ण है। यही कारण है कि श्राज शोध-प्रबन्धों का स्थल श्रौर माध्यम पंजाब बना हुश्रा है। यहां के साहित्य की सब से बड़ी विशेषता है 'विविधात्मकता', क्योंकि प्रायः सभी विषयों पर साहित्य-सृष्टि हुई है, लेकिन उस विविधात्मकता में भी समन्वय पूरी तरह श्रोतप्रोत है। इस प्रदेश के साहित्य-सृजकों में संप्रदायवाद श्रथवा साम्प्रदायिकता (जिसकी श्राजकल नई से नई व्याख्या कर ली गई है) की गंध तक नहीं श्रौर बिना किसी भेदभाव के हिन्दू, मुसलमान श्रथवा सिख के विचार से ऊपर उठ कर हिन्दी साहित्य का सृजन उन लोगों ने किया। उन्हीं साहित्य स्रष्टाश्रों में से साधु गुलाबसिंह का नाम भी उल्लेखनीय है। इन्होंने श्रपनी लेखनी से कई छोटे बड़े ग्रंथों का सृजन किया, परन्तु उन सब में प्रमुख है 'श्रध्यात्म रामायण।'

'श्रध्यात्म रामायण' राम साहित्य की परम्परा में लिखी गई श्रद्भुत रचना है। इसकी रचना से पहले संस्कृत में श्रध्यात्म रामायण वर्तमान थी श्रौर साधु गुलाबसिंह ने श्रपनी रचना का उसे श्राधार श्रवश्य बनाया है, मगर निरा-पूरा श्रनुवाद श्रथवा भाषान्तर नहीं किया। पंजाब में रचे गए राम साहित्य के संबंध में इतना श्राकर्षण मिलता है कि श्रलंकार ग्रंथों, कोषों, वीर गाथाश्रों, सतसइयों

और बारहमासों तक के लेखकों ने इसे ही अपना माध्यम बनाया, और उसी परम्परा में 'अध्यात्म रामायण' को यदि उपदेशात्मक भाव-साम्य का रूप कह दिया जाय तो भी अनुचित नहीं होगा। इसके साथ ही जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ कि यहां के साहित्य में समन्वय की भावना मिलती है, तो प्रस्तुत अध्यात्म रामायण में भी कर्म और ज्ञान, भक्ति और वैराग्य, भोग और योग तक सभी का समन्वय देखने को मिलेगा और यदि यह कह लिया जाय उस गहन रहस्य को समझना सामान्य लोगों के वश की बात नहीं, तो यह भी अत्युक्ति नहीं होगी।

'अध्यात्म रामायण' के रचयिता साधु गुलाबसिंह का जन्म विक्रम संवत् १७८९ लाहौर की तहसील चूनियां (अब पाकिस्तान) में सेखव (सेखा अथवा सेखुआ) नामक गांव में हुआ। इनकी माता का नाम गौरी था और पिता का नाम जगराय। बचपन बिता कर युवा होते ही काशी पढ़ने चले गए (उन दिनों काशी के पढ़े लिखे को ही विद्वान समझा जाता था) वहां से पढ़ कर जब पंजाब की ओर लौट रहे थे तो रास्ते में कुरुक्षेत्र ठहर गए। कुरुक्षेत्र निर्मला साधुओं का अच्छा केन्द्र था। वहां उस समय मानसिंह निर्मला साधु रहते थे,[१] वह स्वयं संस्कृत के साथ-साथ फारसी और ब्रजभाषा के पंडित थे। साधु गुलाबसिंह ने उन्हें अपना गुरु धारण किया और दीक्षित हो गए। यह भी एक कारण है कि इनकी रचनाओं में संस्कृत फारसी और अन्य भाषाओं के दर्शन होते हैं। अपना परिचय अपनी अद्भुत रचना 'अध्यात्म रामायण' में साधु गुलाबसिंह ने इस प्रकार दिया है :—

गौरी थी शुभ मात, पिता जगराया नामा।
गुलाबसिंह मतिमान भयो सुत ताके धामा॥
पुर सेखव, कुरुखेत्र वास शुभ संत मनाए।
[२]प्राची कूल सुतीरथ नीर सरसुती छाए॥
तहां बैठ भाखा करी तिन कथा रामायण पापहर।
मैं अवगुण, भई भूल कुछ संत सुधारो छिमाकर॥

पिछले वर्षों में जब मैं और मेरे कुछ दूसरे साथी पंजाब के प्राचीन साहित्य के अन्वेषण में लगे थे तो संगरूर से साधु गुलाबसिंह की एक और रचना "भविष्यत् अर्थ

---

१. जिह अज्ञान निवारियो, दीनो मोख अपार।
मानसिंह गुरु चरण को बंदौं बारम्बार॥

२. 'प्राची' नामक तीर्थ कुरुक्षेत्र के पश्चिम की ओर जाते आज भी उसी तरह विद्यमान हैं, परन्तु वहां के निवासी लोग (विशेषतया सामान्य और देहाती) उसे 'प्राचियां' अथवा 'पराचियां' नाम से जानते, कहते और बतलाते हैं (लेखक)

प्रकाश अर्थात् "रचना स्थायी" भी प्राप्त हुई, उसमें भी साधु गुलाब सिंह का परिचय इस प्रकार दिया हुआ मिलता है :—

एक ओर ऐरावती दुतिय वियासा जान ।
सेखव नगर सुमद्ध तिन नगरन में परधान ।।
तहँ उपजे, वाराणसी पढ़े सुविद्या जाइ ।
भविष्यत् अर्थ प्रकाश यह कियो ग्रंथ सुखदाइ ।।

'अध्यात्म रामायण' के लेखक का परिचय उनके ही अंत:साक्ष्य के रूप में देने से मेरा अभिप्राय इतना ही है कि पिछले दिनों पंजाब में रचित साहित्यकारों के संबंध में कुछ परिचयात्मक पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, उनमें साधु गुलाबसिंह के संबंध में या तो परिचय दिया हीं नहीं गया और यदि दिया गया है तो इतना कि यह लेखक कहां उत्पन्न हुआ, बाकी अज्ञात है । इसलिये भविष्य में उन पुस्तकों में संशोधन कर लिया जाय और उनका उक्त साक्ष्य देख लिया जाय । उक्त पद्यों में रचयिता का स्पष्ट कथन है कि एक ओर ऐरावती (रावी) और दूसरे ब्यासा (व्यास) नदियां और उन दोनों के बीच सेखव (सेखा या सेखुआ) नगर में उनका जन्म हुआ । जन्म के साथ ही पढ़ने के स्थान तक का भी उल्लेख स्वयं किया है । संभव है कुछ व्यक्ति कहें कि इस प्रकार अपना इतिहास लिखने की क्या आवश्यकता थी ? तो इसके लिये इतना ही कहना है कि साधु गुलाबसिंह माता-पिता के एकमात्र पुत्र थे । साधु बनने पर माता-पिता ने अपनी वंशवृद्धि की दुहाई देकर उन्हें रोकना चाहा और गृहस्थ में प्रवेश के लिए आग्रह किया, परन्तु गुलाबसिंह नहीं माने और उनसे इतनी प्रतिज्ञा अवश्य कर ली कि वह (उनका पुत्र) अपनी रचनाओं द्वारा उनका नाम-वंश अमर अवश्य करेगा । यही कारण है कि साधु गुलाबसिंह ने अपनी और रचनाओं में भी अपने माता-पिता का उल्लेख किया है । उनके लिखे अन्य ग्रंथों में—भावरसामृत, मोक्षपंथ, रामनाम प्रताप-प्रकाश और प्रबोधचंद्र भी हैं । इनमें से मोक्षपंथ प्रकाश संस्कृत के वेदान्त ग्रंथ 'स्वराज्य सिद्धि' का छायानुवाद है और भावरसामृत 'वैराग्यशतक' का भावानुवाद ।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि अध्यात्म रामायण सीधे संस्कृत की अध्यात्म रामायण का अनुवाद मात्र नहीं, अपितु इसकी अपनी भी मौलिकता है, जैसा कि आगे स्पष्ट किया जाएगा । इसके साथ ही इतना कहने में कोई संकोच नहीं कि दूसरी रामायणों में वर्णित कथाओं, घटनाओं और अवान्तर कथाओं का आकार इसमें बहुत सूक्ष्म रूप ले गया है । नाम और आकार का भेद स्पष्ट होते हुए भी उपदेश वृत्ति की बहुलता इसमें मिलती है । जहां कहीं भी किसी पात्र को कुछ कहने का अवसर मिला है वह आत्म-अनात्म और आत्मा तथा शरीर के संबंध में कुछ न कुछ कहने

से नहीं चूका । क्योंकि प्राचीन साधु-महात्माओं की परम्परा ही यह रही है कि उपदेश का अमृत जरूर पिलाना है और उस अमृत को शांति अथवा सावधानी से पीने वालों को बैकुंठगामी होने का आशीर्वाद और न पीने वालों को रौरव नर्कगामी होने की गालियां दी जाएं, और इस परम्परा में राम साहित्य के मूर्धन्य लेखक तुलसीदास तक की गणना की जा सकती है । यही कारण है कि साधु गुलाबसिंह भी उस लक्ष्मण -रेखा से अपने को मुक्त नहीं कर सके ।

•

अध्यात्म रामायण भी अन्य रामायणों की तरह कांडों और फिर कांड अध्यायों के रूप में विभाजित हैं । इसकी रचना विक्रम संवत् १८३९ के कार्तिक मास में आरम्भ हुई और विक्रम संवत् १८४० ज्येष्ठ मास में समाप्त हुई । कथानक इसका भी पुराना ही है । भाषा ब्रज है । छन्द अनेक हैं । दोहा, चौपाई के साथ-साथ कवित्त-सवैये और मालती तथा तोमर आदि छन्द भी प्रयोग किए गए. हैं । अलंकार कहीं-कहीं बहुत ही सुन्दर बन पड़े हैं । परन्तु इस रामायण की सबसे अच्छी विशेषता है इसकी पात्र-सृष्टि । गोस्वामी तुलसीदास के पात्र श्रीराम को भगवान समझने के कारण उनके प्रत्येक वचन के आगे सिर झुकाते हैं, परन्तु साधु गुलाबसिंह की रामायण के पात्र एकदम किसी भी बात को मानने के लिये तैयार नहीं हैं । वे तर्क का आश्रय अवश्य लेते हैं, क्योंकि वे समझते हैं कि जब भगवान स्वयं उनके शंका-समाधान को उपस्थित हैं तो क्यों न उनसे शंकाएं निवृत्त की जाएं ? उदाहरण के लिये दो स्थल दिए जा रहे हैं, निर्णय विद्वद्वर्ग स्वयं कर लेगा ऐसा विश्वास है ।

बालि-सुग्रीव युद्ध में बालि की मृत्यु के पश्चात् तारा का दुखी होना तो तुलसीदास जी ने भी दिखाया है परन्तु श्रीराम द्वारा इतना कह देने पर कि यह पांचभौतिक शरीर अनित्य है और आत्मा ही नित्य है, बस बेचारी तारा शोक-मोह छोड़ कर श्रीराम-वचन के आगे सिर झुका देती है, परन्तु साधु गुलाबसिंह की तारा उस अवस्था में तर्क का आश्रय लेती है । तुलसी की रामायण में तारा की अवस्था देख कर श्रीराम कहते हैं :—

तारा विकल देखि रघुराया ।
दीन्ह ग्यान हरि लीनी माया ।।
छिति जल पावक गगन समीरा ।
पंच रचित यह अधर शरीरा ।।
प्रगट सो तनु तब आगे सोवा ।
जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा ।।

—परन्तु अध्यात्म रामायण में तारा पति की मृत्यु पर शोक संतप्त तो है फिर भी उसका तर्कवादी स्वर दुर्बल नहीं । तुलसीदास जी के श्रीराम की तरह

ही यहां भी तारा को श्रीराम ने उपदेश का अमृत पिलाते हुए कहा :—

क्यों सोच भीरू तू करे पति-शोक लायक नांह ।
कह सांच मो को भामिनी पति जीव कै तन आह ।
तुच हाड मास सुश्रोणतं तन पांचभूतक जोय ।
कर काल कर्म सु जो भयो वह परो आगे सोय ।।
जौ जीव माने तू पती वह रोग बिनु जग आह ।
नहिं मरे, जामे, बैठहै पथ मांहि चाहे नांह ।।
नहिं नारि, पुंस, नपुंसको वह जीव सबगत आह ।
अदुती एक अकास सो निरलेप है कछु ताह ।।
नित्य ज्ञानमय शुद्ध है जीव सनातन रूप ।
तारा शोक न कीजिए तजो सुभ्रम तम-कूप ।।

—और इसी के उत्तर में तारा का तर्क है:—

देह काठवत जो जड़ रामा ।
जीव सनातन चेतन धामा ।।
सूख-दूख तब किनको होई ।
राम विचार कहो मम सोई ।।

—इस तर्क के उत्तर में श्रीराम हैरान भी होते हैं और उन्हें इस छोटे से तर्क का इतना लंबा उत्तर देना पड़ता है जो संपूर्ण वेदान्त का विषय है और उस उत्तर में इस आत्मा और शरीर का, शारीरिक और मानसिक सृष्टि का, मोक्ष, और बंधन का, सत्व, रज और तम गुणों का, विद्या और अविद्या का और ज्ञान और अज्ञान का सारा दर्शन आ जाता है ।

श्रीराम ने कहा :—

तारा प्रश्न कियो तुम ऐसे ।
कोबिद कोई करे सुजै से ।।
अहंकार को दृढ़ संबंध ।
तन इंद्रै सो भयो अभिसंध ।।
जौ लौं है तौ लौं संसार ।
अज्ञान मूल आतम वीकार ।।
मिथ्या यह संसार बताए ।
तद् पनब्रंत आप नह पाए ।।

० ० ० ०

मन ही यह संसार भनीजै ।
मन ही बंधन रूप कहीजै ।।
आतम मन को होय समाने ।
बंधन आपन मांह समाने ।।
ज्यों स्फटिक अति ऊजल अहै ।
लाल कुसुम की संगति लहै ।।
लाल वर्ण तिस भीतर होई ।
वस्तु विचारे वर्ण नहिं कोई ।।
बुद्धि इन्द्रै की संगति धारी ।
आतम भयो सो त्यों संसारी ।।

परमात्म तत्त्व की प्राप्ति के लिये अथवा यों कह लीजिए कि आत्म तत्त्व की पहिचान के लिये संसार के सभी बंधनों से त्याग करना अपेक्षित है । मुक्ति अथवा मोक्ष का मार्ग इससे सरल

दूसरा नहीं। श्रीराम के शब्दों में:--

तन इंद्रै मन प्राण हंकार ।
इनते भिन्न रूप उदार ।।
सत् अनंद सु एक अनूप ।
ताको जान सु आतम रूप ।।
होवै मुक्त देर नहि लागे ।
बंध सर्व सु जग के त्यागे ।।

सीता के बिछड़ जाने पर उसकी खोज में थक कर बैठे श्रीराम अपने भाई लक्ष्मण के साथ गोस्वामी तुलसीदास के अनुसार तो--"कहत अनुज सत कथा अनेका। भगति बिरति नृपनीति विवेका।" की बातचीत में लगे हैं, परन्तु साधु गुलाब सिंह के लक्ष्मण इस अवसर पर श्रीराम से अपनी शंकाएं निवृत्त करते चलते हैं और वे शंकाएं प्रायः ही आत्म-अनात्म अथवा संसार के मिथ्यात्व और ब्रह्म के सत्य संबंधी है। देखने की बात इतनी है कि सब से प्रिय वस्तु के बिछड़ जाने पर मनुष्य को दूसरे लोगों के किस्से-कथाओं में दिलचस्पी ही नहीं रहती, फिर नृपनीति (राजनीति) और दूसरी कथाओं की तो बात ही क्या ? उस समय तो मनुष्य इतना चिंतित होता है कि सिवाय वैराग्य के अथवा प्रयत्न करने पर भी वस्तु के न मिलने के कारण भाग्य के अतिरिक्त और कुछ सोच भी नहीं पाता। गुलाबसिंह की दृष्टि इस ओर पर्याप्त सजग है। इसीलिये उनका लक्ष्मण केवल विवेक वृत्ति के और कथा-कहानियों के चक्कर में नहीं पड़ता। क्योंकि श्रीराम स्वयं वैराग्य भावना से पूर्ण हैं इसीलिये लक्ष्मण उनसे परमात्म-प्राप्ति के साधन पूछते हैं और श्रीराम उत्तर देते हुए कहते हैं :--

मेरी पूजा बहु विस्तारा ।
अंत नहीं कछु तिनके पारा ।।
तदपि मैं संखेप बताऊं ।
क्रम तैं सब संदेह मिटाऊं ।।
पाय जनेऊ होय दुजाती ।
गुरुपद भजै सदा दिनराती ।।
गुरु तैं लै मंत्र विधि जैसे ।
मो को भजै कहै गुरु तैसे ।।
कै हिरदै कै पावक मांही ।
पूजै मोंहि प्रेम उर मांही ।
प्रतिमा मैं कै रवि कै मांही ।
कै पुनि शालिग्राम के मांही ।।
होय निरालस पूजन करै ।
मेरो नाम सदा मुख ररै ।।
मो वपु जानि करै गुरु पूजा ।
तामैं भाव न आनै दूजा ।।

यहां गुलाबसिंह के श्रीराम में मर्यादा पुरुषोत्तम की ही नहीं बल्कि स्वयं भगवान की झांकी उपस्थित करने वाला स्वरूप है। गीता में जिस प्रकार श्रीकृष्ण ने अर्जुन से--"अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः" इसलिये कहा था क्योंकि "मामेकं शरणं व्रज" का दावा करने वाला कोई तब तक हुआ नहीं था। गुलाबसिंह के राम में इसी की झलक उक्त

पद्यों में मिल जाती है। गीता के श्रीकृष्ण का 'कर्मयोग' प्रधान है और तुलसी के श्रीराम की भक्ति प्रधान है, क्योंकि उनका तो कहना है कि भक्ति के वश में होकर उन्हें कार्य करना पड़ता है, परन्तु गुलाबसिंह के श्रीराम ज्ञानप्रधान हैं। वह कर्म की अपेक्षा ज्ञान को अधिक महत्व देते हैं। अपने कथन की पुष्टि में वह तैत्तरीय संहिता और बाजसनेयी संहिता का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। गुलाबसिंह के अनुसार :--

आदर संहित तैंतरी श्रुति कहै सन्यास।
निखिल कर्म को त्याग करि धरे ज्ञान उर आस॥
बाजसनेयी श्रुति पुनि ऐसे करे बखान।
तातें कर्म न, मोख हित ज्ञान एक पहिचान॥

--क्योंकि कर्मत्यागी होते हुए भी ज्ञान-प्रधान व्यक्ति के लिये भक्ति दूर नहीं। कर्मजाल को काटने वाला ज्ञान है और "ऋते ज्ञानान्न मुक्ति" की व्याख्या इसी के अंतर्गत आ जाती है :--

तत्वमसि यह वाक्य उचारै।
मुमखू तिह सरधा उर धारै॥
गुरु प्रसाद सुनै वच वेदा।
जीव परमपद लखै अभेदा॥
मेरू समान अंक पस होई।
सदा सुखी, दुख लहै न कोई॥

कहने से अभिप्राय इतना ही है कि पंजाब में रचित रामसाहित्य की परम्परा में 'अध्यात्म रामायण' जहां अन्य प्रदेशों में रचे गए राम साहित्य की और कई बातों में समता रखती है वहां अपनी कुछ विशेषताएं भी रखती है और देखा जाय तो अपनी ऐसी ही विशेषताओं के कारण पंजाब में रचित साहित्य अन्य प्रांतों के साहित्य से विलक्षण है। हां आवश्यकता इस बात की है कि उस ओर विद्वानों का ध्यान जा सके और यदि चला गया तो मेरे विचार में प्राचीन साहित्य संबंधी मान-दण्ड नवीन रूप में स्थापित होंगे और हिन्दी साहित्य संसार के क्षेत्र में अपूर्व वृद्धि हो सकेगी। ● ● ●

चीनी भाषा—एक परिचय

●

मोलू राम

जन-संख्या और क्षेत्र के आधार पर चीन संसार में सबसे बड़ा देश है जिसमें बहुत सी बोलियां बोली जाती हैं तथा विभिन्न बोलियां बोलने वाले साधारणतया एक-दूसरे को समझ नहीं सकते। परन्तु समस्त देश में केवल एक लिपि प्रचलित है, और साहित्यिक इतिहास में केवल यही एक लिपि प्राचीन काल से चली आ रही है। संसार में प्रेस के आविष्कार का श्रेय चीन को ही प्राप्त है, जिन्होंने पहले पत्थर और लकड़ी पर शब्द खुदवा कर तथा बाद में निमदों के टुकड़ों पर कागज़ चिपका कर अपनी धार्मिक पुस्तकों की प्रतियां बनाईं। इसी एक लिपि में वे एक-दूसरे को समझते हैं और पत्र-व्यवहार करते हैं। भाषा की ध्वनियों की जटिलता के कारण प्रयत्न करने पर भी न इस लिपि में सुधार हो सका है और न ही किसी विदेशी लिपि को अपनाना ही उपयुक्त समझा गया है। सब से अधिक प्रचलित भाषा पीकिंग और उसके आस पास बोली जाने वाली बोली है जिसे प्रायः मन्दारिन कहा जाता है। इसी बोली को समस्त चीन के लिये एक प्रमाणित भाषा माना गया है तथा यही राष्ट्रीय भाषा "कोआ यू-ऊ" का आधार है।

वाक्यों तथा शब्दों की आकृति के आधार पर संसार की समस्त भाषाओं को चार भागों में बांटा जाता है--समास प्रधान, प्रत्यय प्रधान, विभक्ति प्रधान और व्यास प्रधान। इसे भाषा का रूपात्मक वर्गीकरण भी कहते हैं। इनमें प्रथम तीन भाषाओं को सावयव कहते हैं और अन्तिम को निरवयव। चीनी भाषा इसी अन्तिम वर्ग में आती है और अपने वर्ग में इसी का सबसे बड़ा महत्त्व तथा प्रसार है। यह भाषा एकाक्षरी, स्थान प्रधान तथा स्वर प्रधान है। इसके प्रत्येक शब्द को एक अक्षर से व्यक्त किया जाता है। यद्यपि इनमें अनेक व्यंजन होते हैं, फिर भी व्यंजनों की संख्या अन्य भाषाओं के शब्दों के बराबर नहीं होते। इनमें एक या दो अथवा अधिक से अधिक तीन व्यंजन हो सकते हैं। समस्त भाषा के शब्दों को लीजिए इसके शब्द मुश्किल से ही तीन वर्णों के होंगे--मां (क्या, गज़), था (वह),

तुङ (समझना), शिन (नाम), छी (वायु, सांस), ख (अतिथि), चाऊ (जाना, दौड़ना) कूई (आदरणीय, शुभ) आदि । तीन से अधिक वर्ण के शब्द चीनी भाषा में नहीं मिलते । यहां तक कि व्यक्ति वाचक संज्ञा के विदेशी नाम भी चीनी भाषा में ही अनूदित मिलेंगे । वह लोग विदेशी भाषा के बहु-अक्षरीय शब्दों का उच्चारण नहीं कर सकते, अपनी भाषा एकाक्षरी होने के कारण न ही उन्हें लिख सकते हैं। यही कारण है चीनी भाषा में अमेरिका के लिये "मेई कोआ", इंग्लैंड के लिये "यिङ कोआ", फ्रांस के लिए "फा कोआ" कहते हैं (कोआ अथवा क्वा राज्य, राष्ट्र और देश का पर्यायवाची शब्द है), परन्तु यदि किसी देश के नाम में पहले ही तीन अक्षर आ जाएं तो उनके साथ "कोआ" शब्द नहीं लगता, जैसे इनदु (भारतवर्ष), रिपन (जापान) आदि ।

एकाक्षरी भाषा होने के कारण चीनी भाषा में अनेकार्थता तथा संदिग्धार्थता की बहुलता है । एक ही शब्द के अनेक अर्थ होते हैं । एक "श्रर" शब्द को ही लें इसके ५२ अर्थ होते हैं । सभी एकाक्षरी भाषाओं की भांति चीनी भाषा स्वर-प्रधान है, परन्तु स्वर में कितनी ही तोड़-मरोड़ क्यों न की जाए "श्रर" शब्द को ५२ रूप में बोलना असंभव है । इसमें कोई सन्देह नहीं कि ध्वनि के विकार से सभी भाषाओं में शब्दों के अर्थों में अन्तर आ जाता है परन्तु चीनी भाषा में यह अन्तर अत्यधिक तथा निरन्तर है । ऐसी अवस्था में चीनी भाषा में स्वर की महान विशेषता है । न केवल पद स्वर बल्कि वाक्य स्वर द्वारा भी अर्थ भेद होता है । भाषा के सभी स्वर स्वतन्त्र होते हैं । एकाक्षरी भाषा और लिपि होने के कारण इस भाषा के स्वरों का ठीक वर्गीकरण करना कठिन है । मोटे तौर पर हिन्दी के दो ह्रस्व तथा दीर्घ स्वरों के स्थान पर चार स्वर इस प्रकार कहे जा सकते हैं :—

मा	मा—अ	मा—अ—अ	म
नी	नी—इ	नी—इ—इ	नि
कू	कू—ऊ	कू—उ—ऊ	कु
ये	ये—ए	ये—ए—ए	ये:
को	को—ओ	को—ओ—ओ	को:

चीनी भाषा का जिस रूप में हम प्रायः व्याकरण पढ़ते हैं, कोई व्याकरण नहीं है। परन्तु किसी भी व्यास प्रधान भाषा में व्याकारणिक सम्बन्ध निपातों की सहायता से सूचित होता है । स्वर के आधार पर चीनी के प्रत्येक शब्द को उपर्युक्त चार स्वरों में किसी न किसी एक में रखा जाता है परन्तु साधारण बोल चाल में भेद स्पष्ट नहीं होता तथा संदिग्धता बनी रहती है जैसेकि निम्नलिखित कुछेक

वाक्यों से स्पष्ट हो जाएगा :—

वाक्य	हिन्दी अनुवाद
वो थेइन वो छू मा–अ–अई येन	कल मैं सिगरेट खरीदने गया
न का र:न शो, था पू मई ये–एन	उस आदमी ने कहा वह नमक नहीं बेचता
वो छू मा–अ–अई था–अङ	मैं खाण्ड खरीदने गया
न का मई था–अङ ते शो	उस खाण्ड बेचने वाले ने कहा
था पू श्र मई थाङ ते	वह शोरबा बेचने वाला नहीं है
वो शो "कूई शिन"	मैंने कहा "(आपका) शुभ नाम"
था तो–उङ "कू–इई शिन	उसने सोचा "(आप) भूत का नाम"
वो पू ता–अ–अ था	मैं उसे नहीं मारता हूँ
वो पू ता–अ था	मैं उसे उत्तर नहीं देता हूँ

स्पष्ट है कि इस कदर स्वरों की चेष्टा के बावजूद भी द्विविधा हो जाती है कि "वो याऊ मा–अ–अई श्याई" का अर्थ "मैं जूते खरीदना चाहता हूँ" है अथवा "मैं जूते बेचना चाहता हूँ" क्योंकि "मई" का अर्थ बेचना है। उपर्युक्त चार स्वरों में कुछेक सार्थक शब्दों का रूप नीचे दिया जाता है।

१. ची (चूज़े)	ची–इ (बहुत अत्यन्त)	ची–इ–इ (कितने, बहुत)	चि (मौसम, वर्ष का पक्ष)
२. छी (सात)	छी–इ (समय, नियत समय,)	छी–इ–इ (उठना, खड़ा होना)	छि (वायु, सांस)
३. येन (सिगरेट, तम्बाकू)	ये–एन (नमक)	ये–ए–एन (आंख, छेद)	ये:न् (छोटी नहर)
४. ता (निर्माण करना, खड़ा करना)	ता–अ (उत्तर देना)	ता–अ–अ (मारना, बनाना)	त (बड़ा, विस्तृत, महान)

स्वरों का यह नियम स्वतन्त्र शब्द के उच्चारण तक सीमित रहता है, वाक्यों में प्रयोग होने पर इनकी सत्ता नहीं रहती शब्द "वो" (मैं) का वास्तविक रूप वो–ओ–ओ (तृतीय) है परन्तु कभी इसे इस रूप में नहीं बोला जाता। चीनी

भाषा में लगभग एक लाख शब्द हैं। लिखित रूप में एक शब्द दूसरे शब्द से बिलकुल भिन्न होता है। उनका रूप आपस में नहीं मिलता, परन्तु ध्वनित रूप में यह स्पष्टता नहीं है। "यू-उ" शब्द के इस प्रकार अर्थ होते हैं--कीचड़, मछली, पक्षियों के पर, हीरा, जवाहर, अमूल्य वस्तु, वर्षा, रखना, है, भाषा, शब्द, फिर, भी, अतिरिक्त, से, आज्ञा देना, तथा इसे चाहे संज्ञा के रूप में प्रयुक्त किया जाए, या क्रिया अथवा विशेषण के, इसका रूप प्रत्येक अवस्था में एक-जैसा रहेगा। न क्रिया के रूप में कालों के आधार पर परिवर्तन आएगा, न संज्ञा में वचन के आधार पर। वाक्य में केवल उसके स्थान से यह निश्चित होगा कि इसका क्या अर्थ है। चीनी भाषा में शब्दों का रूपात्मक विकार दिखाई नहीं देता।

भाषा में शब्दों की इस द्विविधाजनक स्थिति के निवारण के लिये केवल स्वरों की सहायता नितान्त अपर्याप्त है। इस कमी की पूर्ति के लिये कुछ और नियम मिलते हैं तथा उनमें से दो का यहां वर्णन करना उपयुक्त होगा। प्रथम नियम दो समानार्थक शब्दों का एक साथ प्रयोग है। दो विभिन्न शब्दों को जिनका एक अर्थ होता हो एक साथ प्रयुक्त करने से अर्थ के सन्देह को दूर किया जाता है। जैसा कि ऊपर लिखा गया है "येन" शब्द के बहुत से अर्थ होते हैं जिनमें से एक अर्थ "आंख" भी है। आंख का एक और पर्यायवाची शब्द "छिंग" है। छिंग शब्द के स्पष्ट, कृपा, प्रार्थना करना आदि और अर्थ भी होते हैं। परन्तु दोनों शब्दों के अर्थ में आंख की समानता है इसलिये आंख की अभिव्यक्ति हमेशा दोनों शब्दों को जोड़ कर ("येन -छिंग" से की जाती है। इसी प्रकार यिग (जिसके अर्थ कारण, क्योंकि, अंग्रेज़, आदि हैं) तथा वई (जिस के अर्थ जगह, कारण, हैलो, हैं) को एक साथ कहने से यिग-वई का अर्थ क्योंकि होता है। श्र (है, था, हैं, दस, फुट, कारोबार, विषय समय) और खऊ (पीछे, देरी, भविष्य, समय) का एक साथ प्रयोग "श्र-खऊ" समय का अर्थ देता है। इस प्रकार एक जैसे अर्थ वाले शब्दों के मेल से आर्थिक स्पष्टीकरण हो जाता है। ऐसे प्रयोग के उदाहरण देखने योग्य हैं :--

१. चो थेइन यिग वई श्या ला शोआ, सो-इ-इ चिन थेइन हेन लेन। — कल क्योंकि बर्फ गिरी थी, इसलिये आज बहुत ठण्ड है।

२. श्यन-चाई श्र श्रन-सो श्र-खऊ ? — अब क्या समय है ?

३. ली श्यन श्रन तै येन-छिग पू हाओ — मिस्टर ली की आंखें अच्छी नहीं हैं।

उपर्युक्त प्रथम वाक्य में सो–इ–इ भी इसी तरह के दो शब्दों का संयोग है जिससे "इसलिये" का अर्थ स्पष्ट हुआ है। इसी प्रकार दूसरे वाक्य में श्यन-चाई (अब, इस समय) भी दो शब्दों का संयोग है।

परन्तु इस प्रकार दो समानार्थक शब्दों के एक साथ प्रयोग से भी संदिग्धता पूर्णतया दूर नहीं होती। उपर्युक्त तीसरे वाक्य को ही लीजिए। यदि इसके शब्द "छिंग" पर ज़रा सा जोर डाला जाए तो छींग का अर्थ शीशा, दर्पन होगा तथा "ली श्यन श्रन तै येन-छींग पू हाओ" का अर्थ "मिस्टर ली की ऐनक अच्छी नहीं है", होगा।

सन्दिग्धता के निवारण का दूसरा नियम विभिन्न संख्यावाचक (Numeratives) शब्दों का आविष्कार है। इन संख्या वाचक शब्दों का प्रयोग ठीक अंग्रेज़ी शब्दों के आर्टिकल्ज़ (Articles the, a, an) की भान्ति है। चीनी भाषा में अनेक संख्यावाचक शब्द हैं विभिन्न नामों (संज्ञामूलक शब्दों) के साथ पृथक् पृथक संख्यावाचक शब्द लगेंगे। कुछेक संख्या वाचक शब्दों की सूची नीचे दी जाती है। ये शब्द इनके सामने लिखे शब्दों के संख्यावाचक हैं तथा अंग्रेज़ी भाषा के a, an, the की तरह इन से पहले प्रयुक्त होते हैं। इनका प्रयोग उर्दू भाषा के शब्द "अदद" की भान्ति भी होता है:—

क — सामान्य संख्यावाचन, जहां और संख्यावाचन प्रयोग न होते हों वहां प्रायः इसी का प्रयोग होता है।

ख — तारों, मोती, रेत के टकड़ों तथा अन्य गोल छोटी वस्तु के लिए। इ–ख शिन (एक सितारा)

सो — घर, मकान, झोंपड़ी आदि के लिये, ठियाओ लम्बी या पतली वस्तुओं के लिए; च ठियाओ लू खोआन (यह एक चौड़ी सड़क है)

च्यन — कपड़ों, विषयों के लिए; च च्यन शी श्रा (यह एक नया विषय है)

शुआंग — जोड़े की वस्तुओं के लिये था मई इ शुआंग शिआई [उसने एक जोड़ा (one pair) जूते खरीदे]

चर्र — फूलों, कलमों, सिगरेटों आदि के लिए; वो पू याऊ इ चर्र येन (मझे एक सिगरेट नहीं चाहिए) यही संख्यावाचक शब्द जोड़े की वस्तुओं में से एक के लिये भी प्रयुक्त होता है था तै इ चर्र ये–ए–एन पु हाओ (उसकी एक आंख अच्छी नहीं है)

वई — व्यक्तियों, जगह और स्थानों के लिए

चाङ — कुर्सी, मेज़, बेंच, तथा अन्य समतल वस्तु के लिए जैसे कागज़, खाल, आदि

पा-एन पुस्तकों और प्रलेखों के लिए (पेन)

वास्तव में चीनी भाषा संख्या वाचक शब्दों से भरपूर है। आम बोल चाल में स्वरों का प्रयोग अधिक सहायता नहीं देता परन्तु संख्यावाचक शब्दों के प्रयोग से अभिप्राय समझने में द्विविधा नहीं रहती। परन्तु ऐसे शब्दों की संख्या इतनी है कि विदेशी पाठकों के लिये इनका सहज ज्ञान कठिन है, क्योंकि जहां ये एक ओर संख्या में अत्यधिक हैं, वहां दूसरी ओर इनके प्रयोग का विशेष नियम नहीं। शताब्दियों के प्रयोग से जैसा रूप इनका जन-साधारण की भाषा में बन पाया है, वही नियम है। कुछ ऐसे भी संख्यावाचक शब्द हैं जिनके अलग से और अर्थ भी हैं। लिफाफों, कार्डों पुस्तक के पन्नों के लिये फ्यन संख्यावाचक शब्द है परन्तु स्वतन्त्र रूप में इसका अर्थ 'टुकड़ा' है। कमरों के लिये संख्यावाचक शब्द ची-इन है परन्तु स्वतन्त्र रूप में प्रयोग में आए तो इसका अर्थ जगह, बीच, में से, भी है। जैसा कि पहले लिखा गया है चीनी भाषा के शब्दों का रूप किसी भी हालत में बदलता नहीं; हर स्थान पर एक जैसा रहता है। अन्य भाषाओं की तरह क्रियापदों और संज्ञा शब्दों में कोई अन्तर नहीं होता। अतएव संख्यावाचक शब्दों के प्रयोग से संज्ञा का और दो समानार्थक शब्दों के प्रयोग से क्रिया का प्रायः ज्ञान हो जाता है। अर्थ-स्पष्टीकरण के लिये समानार्थक शब्दों के प्रयोग को एक ही वाक्य में देखा जा सकता है :--

नी सो शी-वांग केइन नी सो शी-खुआन ते तोङ-शी वो मेन चाली तोऊ यू-ऊ।

इस वाक्य में तीन बार "शी" शब्द आता है परन्तु तीनों बार इसका भिन्न-भिन्न रूप है। स्वतन्त्र रूप में शी के ये अर्थ होते हैं--आशा करना, खुश होना, प्रसन्नता, पश्चिम, प्रयोग करना, अभ्यास करना, जगह, चटाई, दावत परन्तु पहली बार वांग (प्रतीक्षा करना, उम्मीद में बैठना) के साथ संयोग से इसका अर्थ "आशा रखना" हुआ। दूसरी बार खुआन (प्रसन्न होना) के साथ प्रयोग से इसका अभिप्राय "पसन्द करना" है। तोङ का अर्थ पूर्व है तथा चीनी भाषा में पूर्व और पश्चिम के संयोग से अभिप्राय वस्तु अथवा चीज़ से है। इस प्रकार पूरे वाक्य का अर्थ--"जो तुम आशा करते हो तथा जो तुम पसन्द करते हो वे दोनों वस्तुएं हमारे पास यहां हैं"--है।

इस प्रकार चीनी भाषा अन्य भाषाओं से बहुत सी बातों में नितान्त भिन्न है। एकाक्षरी है यद्यपि अक्षर में व्यञ्जन एक या एक से अधिक होते हैं, स्वर प्रधान है जिसमें वाक्य स्वर और पद स्वर दोनों से अर्थ भेद होता है; व्याकरणिक सम्बन्ध शब्दों के क्रम या स्थान से सूचित होता है,

(शेष पृष्ठ १२५ पर)

वह तो जन्म जली

•

किशोरी लाल वैद्य

अन्याय, अत्याचार, पीड़ा और घुटन के चार पांवों पर उठी सेज पर एक नारी कराह रही थी। अमृता प्रीतम आई, उसने उसे खामोश निहारा, निहारती रही। उसकी नब्ज़ देखी—मन्द गति से चल रहा है एक जीवन। उसने अपने कान उसकी छाती से लगा लिये थे—बड़ी देर तक वह उसके दिल की धड़कन सुनती रही। अब वह वहां से हट गई है नारी-जीवन की लाखों धड़कनों को अपने अन्तरतम में समोये। उन धड़कनों को वह शब्दों में पिरो रही है, एक अर्से से पिरो रही है—क्रम ऐसा है जो टूटता ही नहीं।

अमृता प्रीतम मूलतः पंजाबी की लेखिका हैं। उसने उपन्यास व कहानियां लिखी हैं। उपन्यासकार व कहानी-लेखिका से पूर्व वह कवयित्री के रूप में पर्याप्त ख्याति अर्जित कर चुकी थीं। आज भी वह गीत लिखती है। अपनी सभी रचनाओं में उसने एक तस्वीर बनानी चाही है—हाड मांस की तस्वीर, एक जीता जागता चित्र! उस चित्र में उसने आवाज़ भरी है। उस चित्र को देखने पहचानने के बाद उसके स्रष्टा का नाम आज उस पंजाब तक ही सीमित नहीं जहां के जन-जीवन की परछाइयां उन चित्रों में उपलब्ध हैं, उसका नाम उस दिल्ली में ही नहीं जहां एक खूबसूरत कोठी में वह रहती है और जहां का इन्सान अपने पड़ोसी को भी नहीं पहचानता। वह तो नारी हृदय की गहराइयों में उस स्तर तक उतर गई है जहां विशिष्ट समाज व स्थान की सीमाएं नज़र नहीं आतीं। अपने सामयिक वातावरण के प्रति सचेत रहते हुए भी वह विश्वव्यापी अन्तश्चेतना को समोए हुए है। उसके पात्र बोलचाल में विशिष्ट रूप से पंजाबी लगते हैं लेकिन उनका दुःख दर्द, उनका क्रिया-कलाप एक व्यापक संदर्भ में सम्पूर्णतः मानवीय मुखरित होता है। पंजाब के जन-जीवन में कभी भी मुक्त अट्टहास का स्वर सुनाई पड़ता है लेकिन जब उसकी एक बेटी अपनी व्यथा और पीड़ा को लेकर रोई है तो वारसशाही स्वर भी अनायास ही फूटा है। १९४७ में इस धरती में एक दरार पड़ी, एक ज्वालामुखी फूटा।

हिन्दू और मुसलमान की पहचान होने लगी। खान-पान, पहरावे और बोल-चाल में भी जब कोई मौलिक अन्तर नज़र न आया तो उनको नंगा करके देखा। दोनों एक से इंसान दीखे। मार-पीट के बाद वे दोनों चिल्लाए, कराहे रोये। कहीं भी खास फर्क नहीं। उन्हें एक दूसरे ने काट करके देख लिया। काट कर दोनों ही मर गये, एक जैसा ही लहू था। लहू-रंजित उस भूमि पर पानी भी बरसा है, धूप भी चमकी है लेकिन वह दाग़ आज तक नहीं धुल पाये। यह सब कुछ अमृता प्रीतम, यशपाल और अनेकों ने देखा सुना है। उस मिट्टी का दर्द लिये वे उसे छोड़ कर चले आये हैं। वहीं से वे अपने वतन को देखते रहते हैं। अमृता प्रीतम उस खिड़की पर बैठी गुनगुनाती रहती है जहां से सारा हिन्दुस्तान नज़र आता है।

कृतित्व :—गत दो वर्षों में अमृता प्रीतम की चार पुस्तकें हिन्दी में देखने में आई हैं जिनकी चर्चा हम यहां करेंगे।

बन्द दरवाज़ा

अमृता प्रीतम का 'बन्द दरवाज़ा' एक सामाजिक उपन्यास है जिसमें प्रतिकूल परिस्थितियों से संघर्ष करती हुई नारी का सजीव व मार्मिक चित्रण है। सामाजिक विषमताओं व अत्याचारों से जूझती पुरुष की उपेक्षा पाकर नारी के लिये दुनिया में कौन रह जाता है? क्या नारी पुरुष का मनोरंजनमात्र है? सामाजिक गठबन्धन में बंध कर जब नारी दायित्व के बोझ से झुकने लगती है और पुरुष उसका सहारा न बने तो वह कहां जाये? बन्द दरवाज़े के अन्दर घुटेगी और जब उसे किसी का सहारा चाहिए तो उसके लिये दरवाज़े बन्द हैं। कम्मी की मां तारा बन्द दरवाज़ों के अन्दर पिटती है। कम्मी शिक्षित होने के नाते अपना क्षेत्र घर की चार-दिवारी के बाहर बनाती है। वह अपनी मां की पीड़ा के प्रति सचेत है, सजग है। मां का घुटता स्वर बेटी की धड़कन बनती है। वह रूढ़ियों से ऊपर उठना चाहती है।

सत्यपाल उसका (कम्मी का) बचपन का साथी है। पाली (सत्यपाल) की मां और कम्मी की मां आपस में उनकी 'सीता-राम' की जोड़ी की बात करती हैं। सत्यपाल विवाह का प्रस्ताव रखता है तो कम्मी सोचती है कि बाल्यकाल में संजोए सपने साकार होने लगे हैं। विवाह होता है—सम्बन्ध जुड़ा भी तो विच्छेद के लिये। प्रोफैसर सत्यपाल भी शिक्षा के परिधान में आधुनिक उच्छृङ्खलता का ही प्रतीक उभरा है जो अपनी शिष्या शील से अनुचित सम्बन्ध रख कर उस पर अपने वैवाहिक जीवन का राज़ खुलने नहीं देता। शील गर्भ लिये है बिना विवाह के। समाज में उसका स्थान बनाने के लिए त्याग व उत्सर्ग की प्रतीक कम्मी अपने को समाज-मान्य वैवाहिक जीवनसे अपदस्थ करती है।

प्रिंसिपल मिस मदान ने कांगड़ा घाटी में स्कूल खोल रखा है। कम्मी वहां अध्या-पिका है। मदान और कम्मी का सम्बन्ध मां बेटी का सम्बन्ध है। मदान भारतीय नारी का वह रूप है जिसकी ममता में समाज-त्रस्त, पीड़ित, दलित का क्रन्दन स्वर भी पंचम में बोलने लगता है। कम्मी सत्यपाल के घर से आती है तो सहारा मां मदान है। पत्रकार सुमेश कम्मी को अपनाने के लिए मचल उठता है। सुमेश की घर गृहस्थी में कम्मी मां बनेगी लेकिन सुमेश अपने पिता के डर से अपने और कम्मी के सम्बन्ध को झुठलाने का प्रयास करता है। मकान को घर बनाने के प्रयास में सुमेश उसे होटल की घुटी घुटी कोठरी दिखाता है। ज़िन्दगी ने कम्मी के साथ मज़ाक भी खूब किया। कम्मी मां मदान के घर लौटती है--

"कम्मी तुम ?"
"हां मां !"
"इस तरह अचानक ?"
"तुम्हारे दरवाज़े का दोष"
"मेरे दरवाज़े का ?"
"यह मेरे लिये हमेशा खुल पड़ता है।"
"यह तो तुम्हारा दरवाज़ा है, कम्मी ! मेरे मन का दरवाज़ा।"
"हां मां, केवल यही दरवाज़ा खुला है, मेरे मन का दरवाज़ा।"

सुमेश का दरवाज़ा बन्द हो गया। और सब दरवाज़े बन्द हो गये।

मार्मिक सम्वाद अमृता प्रीतम की विशेषता है। नारी के सुख-दुख को उसने मुखरित किया है। आगे का सम्वाद भी उल्लेखनीय है।

"तुम्हारा सामान ? इस तरह खाली हाथ ?" एक बार मां ने पूछा।

"नहीं मां खाली हाथ नहीं आई, जो छोड़ नहीं सकती थी वह ले हूँ आई !" कम्मी मुस्करा दी।

मां ने एक बार गौर से कम्मी के शरीर की ओर देखा।

"हां, मां," और फिर कुछ देर चुप रह कर कम्मी कहने लगी, "औरत की कोख कभी बांझ नहीं होती मां ! यदि औरत की कोख बांझ हो गई तो ये ज़िन्दगी के हादसे किसके साथ खेलेंगे ?"

भारतीय नारी के जिस रूप को अमृता प्रीतम ने अभिव्यक्ति दी है वह लेखिका की गहरी अनुभूति और संवेदना से लिप्त लेखनी का ही परिणाम है।

अतीत की परछाइयां

'अतीत की परछाइयाँ' शीर्षक को जब अमृता प्रीतम के नाम के साथ पाया तो पुस्तक पढ़ जाने की लालसा तीव्र हुई। उक्त पुस्तक में अमृता प्रीतम और रेखा-चित्रों के रूप में अपनी अनुभूति की परतों को पाठकों के लिए उघाड़ा है। अनुभूति की गहराई, तीव्रता और सरसता पाठक को अनायास ही पकड़ लेती है और अमृता प्रीतम को सुन्दर, प्रिय और सजीव सम्पर्क

में ला छोड़ती है। लेखिका के माध्यम से विभिन्न वस्तुओं, स्थिति एवं घटनाओं तथा व्यक्तियों का ऐसा अनूठा परिचय मिलता है कि पाठक के हृदय पर अमृता और उसके सम्पर्क में आये व्यक्ति सुखद एवं मधुर स्मृतियां छोड़ते जाते हैं। अमृता के विदेशीय सम्पर्कों में उज़बेक शायरा जुलफिया की निकटता का लेखिका को अति तीव्र एहसास है। प्रस्तुत पुस्तक जुलफिया के नाम लिखी गई है अथवा उसे समर्पित है। जलफिया के सम्बन्ध में जो परिचय पाठकों को मिलता है उसमें अमृता का जुलफिया से सम्पर्क के एहसास की ही अभिव्यक्ति है। जुलफिया से आत्मीयता तथा पीड़ा की समान अनुभूति को अभिव्यक्ति देती हुई अमृता इसे 'आंसुओं का रिश्ता' कह गई है। देश, भाषा, धर्म और संस्कारों की दीवार तोड़ दो औरत दिलों की दोस्ती के बारे में मुहब्बत की पहली कविता अमृता के शब्दों में इस प्रकार उभर आई :—

चिर बिछुड़ी कलम जिस तरह
ज़ोर से कागज़ के गले लगी
इश्क का भेद खुल गया
एक पंक्ति पंजाबी में
एक पंक्ति उज़बेक में
तब भी काफिया मिल गया।

इसी प्रकार अन्य साहित्यकार एवं कलाकारों का परिचय प्राप्त होता है। 'काली लकीर' का विषय मण्टो है, 'एक फूल वाला' प्रिंसीपल तेजासिंह है, 'ठंडा दस्ताना' करतारसिंह दुग्गल के विषय में है, 'स्याह चांदनी' में बलवन्त गार्गी के दर्शन एक झरोखे से उपलब्ध होते हैं। दो अध्यायों में अन्द्रेटा (कांगड़ा) के कलाकार शोभासिंह का परिचय मिलता है। एक अन्य अध्याय ऐना कामैनोवा एक बल-गारियन लेखिका पर लिखा गया है। पुस्तक में कई अन्य लेखकों का प्रसंग आया जैनेन्द्र, दिनकर आदि जो कुछ भी लेखिका की कलम से उभरा है वह दिलचस्प है।

पुस्तक के २४ अध्याय लिख डालने पर लेखिका को शायद कुछ ऐसा एहसास हुआ कि अभी उसे अपने संबंध में कुछ और कहना है। फलस्वरूप अंतिम अध्याय 'किरमिज़ी लकीरें' उभरी जो लेखिका की 'अपने आपसे एक बहुपक्षीय मुलाकात' है। अमृता लिखती क्यों है, इस प्रश्न का उत्तर उसने आइनरैण्ड के एक उपन्यास के मुख्य पात्र, जोकि इमारतकार है, के शब्दों में पाया है। यह पूछे जाने पर कि उसने क्यों इमारतकार बनना चाहा उसने उत्तर दिया था—"इसलिये कि मैं धरती को प्यार करता हूँ। इस पर बनी शक्लें मुझे पसन्द नहीं, और मैं इन शक्लों को बदलना चाहता हूं"

मुहब्बत की असफलता पर अमृता की प्रश्नोत्तरी देखिए :—

—मुहब्बत हमारी दुनिया में असफल रहती है। तुम्हारे ख्याल में असफलता का

सब से बड़ा कारण क्या हो सकता है ? मैं आप सामाजिक कारणों से हट कर ये सवाल पूछ रही हूँ ।

—मेरे ख्याल में असफलता का सबसे बड़ा और मूल कारण यह है कि इस एक शब्द "मुहब्बत" का अर्थ एक नहीं । औरत के लिये इस शब्द का अर्थ कुछ और होता है और मर्द के लिये कुछ और ।

—मर्द के लिये इसका अर्थ ?

—उसके अस्तित्त्व का एक हिस्सा ।

—और औरत के लिए ?

—उसका सारा अस्तित्त्व ।

सम्वेदनशील पुरुषों को मुहब्बत के सम्बन्ध में अमृता का यह निष्कर्ष एक-पक्षीय लगेगा । इस सम्बन्ध में अमृता का कथन बायरन से मेल खाता है । बायरन के अनुसार "पुरुष के लिये प्रणय जीवन् में एक अलग वस्तु की तरह होता है जबकि नारी के लिये उसका समूचा अस्तित्व ।"

अमृता को जीवन में अपनी जलन का एहसास है, वह कह उठती है —

आंखों की टहनी पर
आंसू पक गये
चख ले यह दर्दफली
मैं तो जन्म जली ।

ऐसी प्रतीति पर भी वह आशावादी है, ऐसी उसकी मान्यता है—चेतना के धरातल पर उसके बोल हैं :—

होठों पर कपड़ा फट गया,
पर सांसों की गांठ नहीं खुलती ।

'व्यक्तिगत प्रेम और सामाजिक चेतना' शीर्षक अध्याय में अपने लेखन-कार्य पर उसने इस प्रकार प्रकाश डाला है—

स्टीफन स्पैंडर के कथनानुसार जिन दिनों कुछ लिखा जाना हो, उन दिनों किन्हीं धुंधले विचारों का एक बादल छाया रहता है। उसकी छाया के तले कई घड़ियां निकल जाती हैं, कई बार कई दिन भी गुज़र जाते हैं । आदमी जैसे उस बादल की परछाई में लिपटा रहता है, परन्तु उसे एक अहसास होता है कि किसी भी समय उस बादल में से शब्दों की बूंदें टपक पड़ेंगी ।

'कहानी के पात्र' अध्याय में अमृता कहती है—जितनी तपिश से कोई जिये, उसके पात्रों में उतनी गरिमा आती है । लेखिका का यह कथन उसके अपने संबंध में सही उतरता है और उसकी इस मान्यता ने उसके पात्रों को गढ़ा है ।

जरटरूड स्टैन के कथन को उद्धृत करते हुए वह उसके कथन से सहमति प्रकट करती है—कोई रचना तीखे वेग के बिना जन्म नहीं ले सकती ।

अमृता की अनुभूति कितनी मार्मिक है, 'अन्दरेटे के दस दिन' अध्याय में लिखी निम्न पंक्तियों से स्पष्ट है—".........एक बार रास्ता ढूंढने के लिये हमें टार्च भी जलानी पड़ी, पर अंधेरे के नर्म जिस्म पर

बैटरी का प्रकाश चुभता था। इससे टार्च नहीं जलाई।"

'अतीत की परछाइयां' का प्रकाशन भी कलापूर्ण एवं आकर्षक है।१६५ पृष्ठ की यह पुस्तक २५ छोटे छोटे अध्यायों का एक 'पैकेट' लगता है। हर अध्याय जब जल्दी से खत्म हो जाता है तो पाठक को किसी अत्यन्त स्वादिष्ट चीज़ मुंह में रखने के बाद जल्द ही खत्म हो जाने पर जैसा मालूम देता है फिर बड़ी उत्सुकता से वह अगला अध्याय आरंभ करता है।

रंग का पत्ता

प्रस्तुत उपन्यास में मानवीय सम्वेदना से ओत-प्रोत दो प्रणयी युगलों का चित्रण है। सामाजिक अत्याचार में घुटती हुई आत्माएं फिर मुक्ति का सांस लेती हैं। कैली और मित्तरो दो सहेलियां हैं जिनको आपस के लगाव का अति तीव्र एहसास है। कैली का विवाह कौडेशाह के बेटे लखेशाह से होता है। आयु की दृष्टि से तो यह विवाह अनमेल है ही लेकिन लखेशाह एक समष्टि प्रधान चरित्र है जो मान-ईमान, इज्ज़त आबरू के पैसों के बदले में वक्त-बेवक्त बेचने के लिये उद्यत है। लखेशाह बीमा कम्पनी से पैसे ऐंठने के लिये अपना खाली गोदाम फूंक डालता है और जब उसका निरीक्षण होने लगता है तो स्वार्थ प्रेरित होकर भूखे भेड़िये निरीक्षक की अवांछनीय भूख मिटाने के लिये उसे कैली को एक निरीह पशु की भांति भेंट करता है। कैली विद्रोह से प्रेरित अपने चरित्र की रक्षा और मान हेतु अपने गांव के एक परिचित व्यक्ति बख्शा, जिसे वह भाई समझती है, के साथ भाग निकलती है। दीपक के लिये उसके मन में पहले से ही स्थान रहा है और दीपक उसका हाथ पकड़ लेता है। मित्तरो का विवाह बाद में बख्शा से होता है।

प्रस्तुत उपन्यास में प्रेम के विभिन्न रूप उभरते हैं। मां और बेटी के प्रेम की अभिव्यक्ति कैली और उसकी मां, मितरो और उसकी मां दोनों ही सम्बन्धों में निहित है। प्रणयसूत्र के समक्ष अनमेल विवाह का कच्चा धागा टूटता ही है।

विवाह तो मन का मेल है --इसकी सार्थकता कैली और दीपक तथा मित्तरो व बख्शा के मिलन में है। अनेक कठिनाइयों और विषमताओं से जूझने के पश्चात् ही यह मिलन सम्भव होता है।

१९४७ में देश के विभाजन की पृष्ठ भूमि में कथानक की गति को तीव्रता मिली है और उसे एक वृहद् संदर्भ में लाकर मानवीय स्तर पर व्यापक तथा हृदय-स्पर्शी बनाया गया है।

प्रेम और पीड़ा की अभिव्यक्ति में लेखिका की कलम सक्षम ऊपर उठी है। सामाजिक अत्याचारों का उसने साहस के साथ अनावरण किया है।

कैली लखेशाह के बन्धन, यद्यपि उस पर विवाह का आवरण था, से मुक्त होकर ज़ब दीपक के प्रणय-सूत्र में बंधती

है तो लेखिका श्लीलता और अश्लीलता के चक्र में न पड़कर कलाबद्ध ईमानदारी के साथ निम्न पंक्तियां लिख डालने का लोभ संवरण नहीं कर पातीं ——

'दीपक ने कैली के हाथ में सोने का कंगन पहना दिया। फिर सिर से पैरों तक कैली के एक-एक अंग को दीपक ने अपने होठों से स्पर्श किया। कैली को महसूस हुआ कि आज दीपक ने उसके मैले अंगों को मल-मल कर धो दिया था। सारी की सारी कैली दो होठों की नदी में नहा गई।

कैली ने एक-एक करके अपने शरीर पर पड़े हुए कपड़े उतारे——इस तरह जिस तरह उसने वह सब कुछ उतार दिया था जो कुछ दुनियां ने उसे ज़बरदस्ती पहनाया हुआ था और अपने शरीर को, अपनी आत्मा की तरह, सब चीज़ों से मुक्त करके दीपक के हवाले कर दिया।'

सरल-सीधा, हृदय-स्पर्शी वर्णन एवं मार्मिक उक्तियां लेखिका की विशेषताएं बन चुकी हैं। शोषित, दमित एवं दलित वर्ग उसकी सम्वेदना उभारते हैं और उसके माध्यम से सामान्य पाठक उस अनुभूति से छुए बिना नहीं रहता।

एक थी अनीता

पीर और प्यार में उसकी कलम हमेशा डूबी रहती। कितना कुछ कहेगी वह, किसी को नहीं मालूम। सम्भवतः उसे स्वयं नहीं मालूम। नारी-मन की चेतन और अवचेतन अवस्था पर जो अनगिनत परतें पड़ी हैं, उन्हें उठा कर वह बार-बार झांक लेती है और कलाकार की मूलभूत ईमानदारी से ओतप्रोत एक चित्र उभर आता है जिसमें पकड़ है, उद्बोधन है और कुछ ऐसा है जो मन की गहराइयों में उतरता जाता है। अमृता प्रीतम एक कहानी फिर कह गईं——एक थी अनीता—— समस्त पुरुष समाज को लजाता हुआ एक चित्र। अनीता के अस्तित्व से इंकार नहीं, पर पुरुष—समाज इतना ज़लील होने योग्य तो नहीं। उसके दर्शन कहां होते हैं? सागर, जो अनीता के चिन्तन का केन्द्र-बिन्दु बन गया, उसके लिये इतना अप्राप्य क्यों रहा? अनीता इक़बाल के नज़दीक आ गई थी। सागर और अनीता तट के बन्धन रहे। यदि अनीता को किनारा नहीं मिल सका है तो वह उसकी वर्गमूल कमज़ोरी नहीं। यदि है, तो उसे हम मानवीय परिमितताओं व दुर्बलताओं के परिप्रेक्ष्य में ही समझ सकते हैं। अनीता के दर्द का एहसास है, सागर की ओर तो किसी का ध्यान नहीं गया —— वह मूक अवस्था में ही टूट गया होगा। अनीता ने अपने पति से किनारा कर लिया—— उस पति से जिससे अनीता को शिकायत नहीं। सागर को वह सहृदय समर्पित थी। इकबाल से प्रत्यक्ष में रिश्ता रखा और उस रिश्ते में भी सागर

को ढूंढा । इकबाल––सागर और अनीता के पुत्र रश्मि के बीच की कड़ी है। अनीता की नज़रें किसी तीसरे नेत्र से दुनिया को देख गई हैं, किन्हीं सामान्य सामाजिक व पारिवारिक बन्धनों से ऊपर उठे कर । कुछ इंसानी रिश्ते मुखरित हो आये हैं जिनके लिये अमृता प्रीतम बधाई की पात्र हैं ।

अनीता के साधारण परिचय से हट कर अमृता उसके संबंध में यूं कहती हैं–– "जिसका नाम औरत के बिना और कुछ न था, जो धरती की बेटी थी और आकाश का वर ढूंढ रही थी । जिसका मज़हब मुहब्बत था, देश दुनिया थीं और जिस पर एक 'तलाश' को छोड़ कर कोई नियम और कानून लागू नहीं होता था ।"

रश्मि अनीता और रामपाल का बेटा है। और उसे सूरत मिली सागर की–– अनीता के आराध्य की । मां की बात यूं है— "मरने से पहले मैं इस बच्चे का अंग-अंग स्पर्श कर देखना चाहती हूँ । इसके मांस की खुशबू को सूंघना चाहती हूँ । इसके मुंह के सांसों से मैं घूंट भरना चाहती हूँ और मैं चाहती हूँ कि इस के नन्हें नन्हें होंठ मेरी छाती को चूस लें ।"

अनीता अपने आराध्य में एकात्मक सान्निध्य ढूंढती है। फिर उसके रूमाल का भी उसके मानसिक व्यवहार में स्थान है । और उसका छोड़ा हुआ सिगरेट भी वह पीती है । उस सिगरेट के धुएं में उसे सागर की सांसों की महक आई है । फिर उन्हीं सांसों की महक के लिए वह सिगरेट पीती है, पीती जाती है ।

सागर का सबर चुक गया और अनीता की "नहीं" रही । सागर दूर चला गया है और वह सोचती है––'आखिर वह यह भी सोचता कि औरत के इनकार में उसके संस्कार भी होते हैं.........वह मुझे कभी माफ ना करेगा........वह सारी ज़िन्दगी मुझे सजा देगा ....'

अनीता अन्दर और बाहर से एक होकर जीना चाहती है । उसी के लिये वह संघर्षरत नज़र आती है । सागर को लिखे पत्र में वह कहती है––'किसी का धर्म मेरा धर्म नहीं, किसी की आस्था मेरी आस्था नहीं, किसी का ईश्वर मेरा ईश्वर नहीं । तुम मेरे ईश्वर हो, तुम्हारी मुहब्बत मेरा धर्म है और तुम्हारी तलाश मेरी आस्था ।'

अनीता ने कहा था––'मुहब्बत में सभी शक्तियां होती हैं पर एक बोलने की शक्ति नहीं ।' अनीता घुटती जाती है और एक दिन वह ज़िन्दगी से किनारा कर लेती है ।

धरती की इस बेटी की आकाश के वर की तलाश, तलाश ही रह गई ।

एक भेंट

दिल्ली--१६ अर्थात् नई दिल्ली : हौज़ खास--एक नई बस्ती । उसमें एक मकान का नम्बर है--के-२५ । बाहर फाटक के पास लगी नेम प्लेट पर नज़रें अनायास सिमट गईं । अंग्रेज़ी में आकर्षक ढंग से लिखा है--अमृता प्रीतम । अन्दर चला गया हूँ । बायें हाथ की ओर दीवार पर लगी काल-बैल का बटन प्रैस करता हूँ । जल्द ही एक लड़की आती है । उससे कहता हूँ--मुझे अमृता प्रीतम से मिलना है । वह नाम पूछती है । मेरा नाम सुन कर ही वह वापिस लौट जाती है । शीघ्र ही वापस आती है । उसके साथ अन्दर चला जाता हूँ । फिर एक कमरे में । अमृता प्रीतम प्रवेश करती है--इधर उधर छपे उसके चित्र फ्लैश की तरह दिमाग में आते हैं और उनसे सामने आई औरत का ताल-मेल बिठाता हूँ । अभिवादन में खड़ा होकर 'नमस्कार' कहता हूँ ।

उनकी उस दिन तबीयत ठीक नहीं थी । इसलिये 'इंटरव्यू' के लिए औपचारिक ढंग से बातें करना और सवाल पूछने का इरादा त्यागना पड़ा । उनका चेहरा ठंड से परेशान था । उन्होंने बताया कि वह बिस्तर पर लेटी पड़ी थीं । औपचारिक रूप से जो बातें बहुधा आवश्यक होती हैं, उनकी स्वभाववश उपेक्षा कर बैठता हूँ । इसलिये क्षमा याचना पर ज़बान बन्द रही । मन ने अपना फर्ज़ पूरा कर लिया था और आंखों ने उसकी प्रतिक्रिया देख ली थी ।

"हिन्दी जगत में आपकी लोकप्रियता बढ़ती जा रही है।" यह मैंने एक जागरुक पाठक होने के एहसास पर कह डाला था। साथ में जोड़ा--"मेरा विचार है आप मूलतः पंजाबी में लिखती हैं । लेकिन इधर आपकी जो कृतियां हिन्दी में प्रकाशित हो रही हैं उनसे उन रचनाओं के अनूदित होने का आभास नहीं होता । ऐसा लगता है कि आजकल आप हिन्दी में ही लिख रही हैं।"

"नहीं, हिन्दी पढ़ लेती हूँ । जितनी आसानी से पंजाबी लिखती हूँ उतनी आसानी से हिन्दी नहीं लिख सकती । रचना पहले पंजाबी में ही लिखती हूँ । अनुवाद साथ-साथ ही करती व करवाती रही हूँ । जो रचनाएं हिन्दी में निकली हैं वे स्वतंत्र रूप से किसी द्वारा अनूदित नहीं ।"

"हिन्दी में निकली रचनाओं में पर्याप्त प्रवाह है । ऐसा नहीं लगता कि वे किसी दूसरी भाषा से अनूदित हैं । यू पंजाबी और हिन्दी में पारस्परिक अनुवाद में कथ्य की मौलिकता बहुत हद तक अक्षुण्ण रहती है ।"

"फिर भी हिन्दी में अनूदित अपनी रचनाओं के सम्बन्ध में कह सकती हूँ कि उनमें उतनी जान नहीं जितनी मौलिक रूप में ।"

मैंने उन्हें बताया कि मैंने उनकी रचनाएं केवल हिन्दी में ही पढ़ी हैं। उन्होंने पंजाबी में उन्हें पढ़ने का सुझाव दिया। अपनी असमर्थता प्रकट करने पर उन्होंने कहा कि पंजाबी तो दो–चार दिनों में सीखी जा सकती है, बोलते और समझते तो आप हैं ही।

"पंजाब में दो साल रहा, इसलिये टूटी फूटी बोल लेता हूँ।"

हिन्दी कृतियों पर उनकी राय जाननी चाही थी। उन्होंने स्पष्ट स्वीकारा––उन्होंने अधिक नहीं पढ़ा।

जिस कमरे में मैं बैठा हुआ था उधर रखी पुस्तकों के एक संग्रह पर बैठे बैठे ही मैंने नज़र गड़ाई थी। पुस्तकें अधिकांशतः इंग्लिश में थीं। विदेशी साहित्य में उनकी रुचि के प्रति जिज्ञासा प्रकट करने पर उन्होंने कहा था––"मुझे आइन रैंड पसन्द है। आप पढ़ें। मौलन रूज़ भी ज़रूर पढ़ें।" आइन रैंड के नाम से पहले से ही परिचित था। ईमानदार साहित्य की कायल थी वह, इसलिये बौद्धिक स्तर पर उनका रिश्ता स्पष्टतः मेरे दिमाग में बना। अमृता प्रीतम दर्द और ज़िन्दगी का रिश्ता मानती है और उसी में उसके गीत जन्म लेते हैं। एक स्थान पर उसने लिखा है, "यह केवल कभी कभी ही ऐसा होता है कि एक बीमार और रोऊं-रोऊं करता बाल बड़ा होकर राजेन्द्र सिंह बेदी बन जाता है; मां की ममता के लिये तरसा हुआ एक बच्चा बालज़ाक बन जाता है; गरीबी और यातना का झकझोरा खाता हुआ एक लड़का गोर्की बन जाता है, करामाती बन जाता है। यह दर्द जब सृजनात्मक हो जाता है, करामाती बन जाता है और स्वयं को पहचानते पहचानते इन्सान पाल पाट्स बन जाता है, खलील जिब्रान बन जाता है।" अमृता प्रीतम इसी शृंखला की एक कड़ी है।

मैंने कहा, "दिल्ली में जहां आप रहती हैं उस जीवन के तो दूर से भी दर्शन नहीं होते जिस जीवन के संबंध में आपने इतनी गहराई व आत्मीयता से लिखा है।"

"पंजाब में मैंने उस जीवन को नज़दीक से देखा है और जीया है।" उनका उत्तर था।

मैं सोच रहा था उन्हीं की एक उक्ति–– 'जिस पात्र में जितनी तपिश होगी उसमें उतनी ही गरिमा भी।'

लेखन को जीविका का एकमात्र माध्यम बनाना मुश्किल है, मैंने अपना मत प्रकट किया था। उन्होंने भी अपनी सहमति प्रकट करते हुए कहा था कि अभी भारतीय पत्र-पत्रिकाओं से इतना पारिश्रमिक नहीं मिलता।

उनकी अपनी ही रचनाओं के सम्बन्ध में उन्होंने बताया कि उनकी पहली कृतियां अपरिपक्व हैं और कोई कोई बचकानी भी। अमृता प्रीतम की रचनाओं से ऐसा आभास होता है कि वह मानव-मन की गहराइयों

को मापने की कोशिश करती रही है । अनेकों अनुभूत सत्यों को उसने वाणी दी है। उसने ईमानदार से लिखा है, ईमानदारी से सोचा है और कहना न होगा कि ईमानदारी साहित्य की वह कायल है ।

बातें किस क्रम में हुई यह तो याद नहीं। यूं अनौपचारिक ढंग से बातें होती रहीं थीं– एक घंटा भर । इंटरव्यू के लिये सोचे गए प्रश्न उन पर बोझ न बनें इसलिये उन्हें तो अपने पास ही रहने दिया था । 'रैंडम हारवेस्ट' का अपना सौंदर्य रहता है । एक बात उभरी । उन्हें अपने मकान पर टेली-फोन लगवाना था । नम्बर नहीं मिल रहा था । कहती हैं, 'मुझ से उन्होंने पूछा––आप क्या करती हैं ?' मैंने कहा––'कहानियां लिखती हूँ । यदि आप मुझे टेलीफून नम्बर नहीं देते तो मैं आप पर भी कहानी लिख दूंगी । मुझे हंसी फूट पड़ी । मैंने पूछा, 'फिर' ?

"उन्होंने कहा आप एक दो दिनों के लिये रुकिए । मैं टेलीफोन लगाने की व्यवस्था जल्द ही करवाता हूँ ।......... मुझे टेलीफून नम्बर मिल गया ।"

मुझे और भी हंसी आई ।

"आपका तट के बंधन' * पढ़ा था", उन्होंने बातचीत का प्रसंग बदला । मैंने उसकी छपाई पर असंतोष प्रकट किया ।

"यहां छपवाते तो अच्छा रहता ।"

"हिमाचल में केवल उसी व्यक्ति ने पुस्तक-प्रकाशन का कार्य शुरू किया है । उसको सहयोग देने की बात भी थी ।"

"और कुछ लिखा उसके बाद ?"

"पूर्व प्रकाशित व प्रसारित कहानियों का एक संग्रह, 'सफेद प्रतिमा काले साये' छपा है । उसी प्रकाशक के हाथ में था। देख कर क्षोभ हुआ है ।"

"नया कुछ शुरू किया है ?"

"हिमाचली जन-जीवन के परिप्रेक्ष्य में कुछ लिखना चाहता हूँ लेकिन यह आंचलिक उपन्यास तो न होगा ।"

"कुछ उसी ढंग का जैसा 'तट के बन्धन' है ?"

"हां, कुछ वैसा ही ।" मैंने कहा, "आपकी पुस्तकों के मुखपृष्ठ साधारण, आकर्षक व कलात्मक हैं ।" अधिकांशतः तो इन्द्रजीत के ही बनाये हैं ?"

"हां ।" बात के दौरान इन्द्रजीत आ गये थे । अमृता प्रीतम ने बताया कि यहां (जिस कमरे में हम बैठे थे) लगे बड़े बड़े चित्र भी उसी के बनाये हैं और 'मेरे मकान की साज-सज्जा सभी इन्द्रजीत की सूझ-बूझ है ।

इन्द्रजीत की कलात्मक अभिरुचि से मैं पहले ही संतुष्ट था ।

मैं उठा, विदा लेने लगा तो उन्होंने (अमृता प्रीतम ने) कहा, "आजकल अनीता क्या कर रही हैं ?"

(शेष पृष्ठ १२५ पर)

*१. 'तट के बन्धन' (उपन्यास) अमृता प्रीतम को समर्पित है ।

चण्डीदास और उसकी प्रिया

ज्ञानेन्द्र

बंगला साहित्य में च डीदास को वैष्णव कवियों का सिरमौर माना जाता है। हिन्दी साहित्य में जो स्थान सूरदास का है, ठीक वैसा ही बंगला साहित्य में चण्डीदास का है। उनकी वाणी से जो पदावली निःसृत हुई उसको सुनकर आज भी बंगाल झूम उठता है। इस प्रसिद्ध कवि का जन्म वीरभूम जिला के अन्तर्गत नानुरग्राम में चौदहवीं शताब्दी में हुआ था। नानूग्राम बंगाल के वैष्णव-जनों के लिये वृन्दावन तुल्य है। चण्डी दास की कुल देवी वासुली का मंदिर आज भी वहां विद्यमान है।

चण्डीदास के पिता वासुली देवी के मंदिर के पुजारी थे। देवी के नाम पर ही उन्होंने अपने पुत्र का नामकरण किया। देवी के मंदिर में कोई धोबी अपनी बालिका को चढ़ा गया था। चण्डीदास और यह रजक-बाला बचपन में साथ-साथ खेले और तरुणाई में पदार्पण करते करते इन दोनों का सान्निध्य प्रणय में बदल गया। देवमंदिर की इस सेविका राममणी (जिसे रामी भी कहा जाता है) ने कवि के हृदय में अपूर्व प्रेम जगा दिया। वही उसकी साकार कविता थी, कविता की प्रेरणा थी। दोनों एक दूसरे में खोये रहते। सरि-तट पर दूर दूर तक निकल जाते और घंटों अकेले किल्लोलें करते रहते। रजक-बाला से प्रेम करने के अपराध में शीघ्र ही चण्डीदास को समाज से बहिष्कृत कर दिया गया। एक ब्राह्मण पुजारी का पुत्र एक नीच जाति की कन्या से प्रेम करे, यह उस समय का समाज सहन नहीं कर सका।

कवि समाज की लांछना के प्रति उदासीन रहा। एक बार जाति के बड़े-बूढ़ों ने उसको समझाया, "शुन शुन चण्डीदास, तौमार लागिया आमरा सकल क्रिया-काण्डे सर्वनाश"। चण्डीदास के बड़े भाई ने एक तरफ भाई को और दूसरी ओर बिरादरी वालों को बड़ा आग्रह करके मनाया। यह निश्चय हुआ कि चण्डीदास अपने पतन के प्रायश्चित स्वरूप ब्राह्मणों को प्रीति-भोज देगा और आगे से राममणि से कोई सम्बन्ध नहीं रखेगा।

प्रायश्चित्त का दिन ग्राया। हवन होने लगा, मंत्र पढ़े जा रहे थे। ब्राह्मण लोग भोज के लिये पंक्तियों में बैठ गये। चण्डीदास परसने लगा। उधर जब रामी को समस्त समाचार विदित हुग्रा तो उसकी दशा ग्रत्यन्त शोचनीय हो गई। उसकी दशा का मार्मिक वर्णन इस प्रकार मिलता है:--

"नयनेर जले, कांदिया विकल, मने
बोध दिते नारे।"

इस ग्रवस्था में वह कितनी रोई होगी, इसका ग्रनुमान सहज ही में लगाया जा सकता है। इतने पर भी वह ग्रपने व्यथा-वेग को रोक नहीं सकी। उसका प्रियतम ग्रब उसका नहीं रहेगा, यह कल्पनामात्र उसके लिये ग्रसह्य थी। वह भागी भागी चण्डीदास के घर गई। वहां पर ब्राह्मण लोग स्वादिष्ट पकवानों का ग्रानन्द ले रहे थे। रजकनी को देखते ही द्विज-समाज में खलबली मच गई। चण्डीदास की जैसे ही रामी की ग्रोर दृष्टि गई, वह सब कुछ छोड़ कर उसकी ग्रोर भागा ग्रौर देखते देखते सब के सम्मुख दोनों प्राणी एक दूसरे से ग्रालिंगन-बद्ध हो गये। दोनों की ग्रांखों से ग्रविरल ग्रश्रु धारा बहने लगी। ब्राह्मण समुदाय स्तब्ध रह गया ग्राश्चर्य से। उनके सामने ही उनके कृत्रिम बंधन तोड़ कर चण्डीदास रामी के साथ चला गया।

चण्डीदास का यह मानुषी प्रेम धीरे धीरे ग्राध्यात्मिक प्रेम में परिणत होने लगा। रामी के साथ चण्डीदास के प्रेम में – काम गंध नाहि ताय--ऐसा ग्राज भी बंगाल में विश्वास किया जाता है। प्रिया में जिस विराटता का साक्षात्कार कवि ने किया था वह उनके ग्रपने ही एक पद से सुस्पष्ट है :--

तुमि रजकिनी ग्रामार रमणी,
तुमि हग्रो पितृ-मातृ ।
त्रिसंध्या याजन तौमारई भजन,
तुमि वेद माता गायत्री ।
तुमि वागवादिनी हरेर धरणी,
तुमि गौ गलार हारा ।
तुमि स्वर्ग मर्त्य पाताल पर्वत,
तुमि जै नयनेर तारा ।।

ग्रर्थात् हे रजकिनी, तुम मेरी स्त्री हो, तुम ही माता-पिता हो। तीनों समय संध्या करते समय मैं केवल तुम्हारा ही भजन करता हूँ, तुम ही मेरे लिये वेद--माता गायत्री हो। तुम ही सरस्वती हो, तुम ही शिव की गृहणी हो ग्रौर तुम ही मेरे गले का हार हो। तुम जो मेरी ग्रांखों का तारा हो वही स्वर्ग मर्त्य-पाताल ग्रौर पर्वत है।

मानवी प्रेम का ऐसा ग्रनुपम उदात्तीकरण विश्व-साहित्य में शायद ही ग्रन्यत्र ढूंढने से मिल सके। प्रिया ही उसकी ग्राराध्या थी, वही उसकी उपासना का रस थी। चण्डीदास के कतिपय पद रामी के माने जाते हैं। उनमें भावों की जो तीव्रता

ग्रौर प्रेम की एकाग्रता है वह देखते ही बनती है :—

कौथा जाऊ उहे, प्राणबन्धु मोर,
दासीर उपेक्षा करि ।
न देखिया मुख, फाटे मोर बुक,
धैरज धरिते नारि ।।
बाल्यकाल हते ग्रै देह सपिनु,
मनै ग्रान नाहि जानि ।
कि दोष पाईया मथुरा जाईवै,
बलो है सै कथा सुनि ।।
तौमारएँ सारथि क्रूर ग्रतिशय,
बौध विचार नाई ।
बोध थाकिले, दुःखसिन्धु नीरे,
ग्रबला मासाइते नाई।।
पिरीति ज्वालियास, मथुरा जाईवा,
कबे वा ग्रासिवे नाथ ।
रामीर बचन करहौ श्रवण दासीरे
करहो साथ ।।

ग्रर्थात् कहां जा रहे हो मेरे प्राण-बन्धु इस दासी की उपेक्षा करके ? तुम्हारा मुख न देखने पर मैं धैर्य धारण नहीं कर सकती, मेरी छाती फटी जा रही है। बाल्यकाल से ही मैंने ग्रपनी यह देह तुम्हें समर्पित कर रखी है ग्रौर मैंने ग्रपने मन में ग्राज तक किसी ग्रन्य पुरुष का चिन्तन नहीं किया है। मुझे बताग्रो मेरा ऐसा कौन सा दोष है जिसके कारण तुम मथुरा जा रहे हो ? तुम्हारा यह सारथी बहुत क्रूर है, यह कुछ भी बुद्धि नहीं रखता । मुझे कुछ नहीं सूझता, मैं ग्रबला दुःख सिन्धु के नीर में तैर नहीं सकूंगी । प्रेम को जला कर, मथुरा जा रहे हो, हे नाथ ग्रब कब लौट कर ग्रायेंगे । रामी के वचनों को सुनो ग्रौर दासी को साथ ही रखो ।

ग्रथवा

कलंकी बलिया डाकै सब लोकै, ताहातै
नाहिक दुःख ।
बन्धु तोमार लागिया कलंकर हार गलाय
परिते सुख ।।

ग्रर्थात् सब लोग मुझे कलंकिनी कह कर पुकारते हैं, उनके ऐसा करने से मैं तनिक भी दुःखी नहीं । हे बन्धु, तुम्हारे लिये तो मैं गले में कलंक का हार पहन कर भी सुख ग्रनुभव करती हूँ ।

चण्डीदास की मृत्यु

चण्डीदास के पदों की ख्याति सारे बंगाल में फैल चुकी थी । निकटवर्ती परगणा के नवाब ने कवि को निमंत्रण दिया ताकि वह उनकी सुमधुर बाणी सुन सकें । चण्डीदास वहां पहुंचे । कवि की स्वर-लहरी को सुन कर नवाब की रूपमती बेगम, कहते हैं चण्डीदास पर मुग्ध हो गई । वह छद्म वेष में ग्राम ग्राम में कवि के पीछे जाने लगी । उसने नवाब का शासन नहीं माना । कवि के मर्म-स्पर्शी संगीत ने उसके लज्जावरण को दूर कर दिया था। मर्त्य-धाम का यह स्वर्गीय गायक नानर की नाट्यशाला में कीर्तनाद में मग्न था कि सहसा उस प्रेम-स्निग्ध निकेतन में नवाब के सिपाही ग्रा घुसे ग्रौर चण्डीदास

को पकड़ कर ले गये। नवाब ने कवि को हाथी के पांव तले रौंदे जाने का आदेश दिया। मृत्युकाल के समय समस्त शारीरिक यंत्रणा सह कर भी रामी की ओर वे निश्चल चक्षुओं की प्रेम-दृष्टि से देखते रहे और उसको अनन्त विरह-वारिधी में छोड़ कर चले गये। कहते हैं कि बेगम इस हृदय-विदारक दृश्य को देख कर मूर्छित हो गई—वह ऐसी मूर्छना थी जो कभी भंग न हो सकी।

● ● ●

(पृष्ठ ११० का शेष)

किसी भी शब्द का किसी भी हालत में रूप नहीं बदलता। इसकी कोई वर्णमाला नहीं, लगभग २१४ संकेत चिन्ह हैं जिन्हें अन्य शब्दों का आधार माना जा सकता है। यह जहां वर्णमाला रहित है वहां ध्वन्यात्मक भी नहीं। इसमें लिखित शब्दों का कोई ध्वन्यात्मक सम्बन्ध नहीं परन्तु फिर भी पढ़े जाते हैं। हाल ही तक यह ऊपर से नीचे की ओर लिखी जाती थी। वर्तमान स्थितियों में जब चीन में सामाजिक और राजनीतिक उथल पुथल हुआ, चीनी भाषा को भी दाईं से बाईं ओर लिखना अनिवार्य क़रार दिया गया है।

● ● ●

(पृष्ठ १२१ का शेष)

मैं चुपचाप थोड़ा सोचता रहा। उन्होंने फिर मुस्कराते हुए कहा—"डाक्ट्रेट के बाद।"

मैं केवल निरर्थक सी हंसी हंस दिया था। अनीता 'तट के बन्धन' की नायिका है।

● ● ●

गुरमुखी लिपि में हिन्दी साहित्य

ईशर सिंह तांध

हिन्दी साहित्य के उद्गम तथा विकास के इतिहास में पंजाब के कवियों द्वारा लिखी गई हिन्दी रचनाओं के साथ पूरा न्याय नहीं किया गया। इसके कई कारणों में से एक कारण यह भी है कि ये रचनाएं गुरमुखी लिपि में उपलब्ध हैं। अनेक रचनाएं तो आज भी अन्धकार के गर्भ में पड़ी अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिये मूक रोदन कर रही हैं। परन्तु उन अप्रकाशित रचनाओं की ओर ध्यान देना तो एक ओर रहा प्रकाशित रचनाओं का भी पूरा मूल्यांकन नहीं किया गया। इस लेख द्वारा मैं विद्वानों का ध्यान इस महान साहित्य निधि की ओर आकृष्ट करने का प्रयास करूँगा। और प्रायः सात आठ सौ वर्ष पूर्व की कृतियों की ओर संकेत करता हुआ पंजाब में रची गईं हिन्दी रचनाओं का एक संक्षेप सा परिचय प्रस्तुत करूँगा।

यदि हम अतीत की ओर दृष्टिपात कर के साहित्य का अध्ययन करें तो इस परिणाम पर पहुंचना कोई अतिश्योक्ति पूर्ण न होगा कि हिन्दी साहित्य के उद्गम तथा विकास में पंजाब प्रदेश का महत्त्वपूर्ण योगदान है। १२वीं–१३वीं शताब्दी में जब हिन्दी साहित्य की रूपरेखा का अंकुर फूटने लगा था, तब पंजाब में नाथपंथी योगी हिन्दी भाषा द्वारा ही अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त कर रहे थे। पंजाब में इन नाथपंथियों के अवशेष अब भी मिलते हैं जैसे गोरखनाथ का टिल्ला आदि।

नाथपंथ की हठसाधना का प्रभाव कबीर पर पड़ा। कबीर ने निर्गुण धर्म साधना पर बल देकर जिस संतमत का प्रचार किया, उसका सब से अधिक प्रभाव पंजाब की धर्म साधना पर पड़ा। यही कारण है कि कबीर की 'वाणी' गुरु ग्रंथ साहिब में सुरक्षित है। और निर्गुण साधना के प्रसार के लिये पंजाब ही एक उपयुक्त भूमिखंड सिद्ध हुआ।

साधना पक्ष की दृष्टि से निर्गुण मार्ग का प्रसार तथा प्रचार करने वाले पहले प्रभावशाली तथा महान कवि गुरु नानक थे। उनका आविर्भाव १५वीं शताब्दी में हुआ। उन्होंने जहां लोक-वाणी को अपने काव्य का माध्यम बनाया, वहां हिन्दी भाषा

में भी अपने विचारों को व्यक्त किया, जिनके अनेक उदाहरण गुरुग्रंथ में मिल जाते हैं, जैसे :—

गगन मैं थालु रवि चन्दु दीपक बने
तारिका मंडल जनक मोती ।
धूपु मलआनलो पवणु चवरो करे
सगल बनराइ फूलंत जोती ।
कैसी आरती होइ भवखंडना तेरी आरती
अनहता सबद वाजंत भेरी ।१
सहस तव नैन नन नैन हहि तोहि कउ
सहस मूरति नना एक तोही ।
सहस पद बिमल नन एक पद गंध बिनु
सहस तव गंध इव चलत मोही ।२
सब महि जोति जोति है सोई,
तिसदै चानणि सभ महि चानणु होई ।
गुरसाखी जोति प्रगट होई,
जो तिस भावै सु आरती होई ।३
हरि चरण कवल मकरंद लोभित,
मनो अनदिनो मोहि आही पियासा ।
कृपा जलु दहि नानक सारिंग कऊ ।
होई जाते तेरै नाईं वासा ।४

उक्त 'शब्द' केवल भाषा की दृष्टि से ही उत्कृष्ट नहीं, वरन् 'आरती' की एक विराट् कल्पना कर के निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप को जिस ढंग से व्यक्त किया गया है, वह कला का एक सुन्दर नमूना भी है ।

गुरु नानक के दार्शनिक सिद्धान्तों का काव्यात्मक ढंग से प्रचार करने वाले अन्य गुरुओं की रचनाओं पर भी हिन्दी का यथेष्ट प्रभाव है जैसे गुरु अंगददेव की निम्नलिखित पंक्तियां —

'एक कृसनं सरब देवा, देव देवा त आतमा ।
आतमा वासुदेवसि जे को जाणै भेउ
नानक ताका दास है, साई निरंजन देउ ।'

इसी प्रकार गुरु रामदास की कविताओं में हिन्दी भाषा प्रधान रही है । 'छके छंत' के एक उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा—

'हम मूरख मुगध सरनागती,
मिलि गोबिन्द रंगा राम राजे ।'

भक्ति काव्य धारा में गुरु अर्जुन देव का नाम उतना ही प्रसिद्ध है जितना गुरु नानक देव का । गुरु अर्जुन एक महान सम्पादक ही न थे, वरन् एक महान कवि भी थे । गुरु ग्रंथ में अंकित वाणी का अधिक भाग उनकी रचना है । उन्होंने अपनी भावनाओं को पंजाबी, लहंदी, सहस्कृति आदि भाषाओं के अतिरिक्त हिन्दी में भी व्यक्त किया । खड़ी बोली में कविता का इतिहास ढूंढने वालों को गुरु नानक तथा गुरु अर्जुन की रचनाएं अत्यन्त सहायक सिद्ध हो सकती हैं । उदाहरणार्थ 'सुखमनी' प्रबन्ध काव्य को प्रस्तुत कर सकते हैं ।—

'आदि गुरए नमह । जुगादि गुरए नमह ।
सतिगुरए नमह । श्रीगुरदेवए नमह । ' अथवा
'साध कै संगि मुख ऊजल होत ।
साध कै संगि मलु सगली खोत ।
साध कै संगि मिटै अभिमान ।
साध कै संगि प्रगटै सुग्यान । ' अथवा
'उरि धारै जो अन्तरि नामु ।
सरब मै पेखै भगवानु ।'

'सहंसरनामा' की भाषा हमारा ध्यान और भी अधिक आकृष्ट करती है—

**'अचुत पारब्रह्म प्रमेसुर अन्तरजामी ।
मधुसूदन दामोदर सुआमी ।
रिखीकेस गोबरधन धारी ।
मुरली मनोहर हरि रंगा ।
मोहन माधव कृसन मुरारे ।
जगदीसुर हरि जोउ असुर संहारे ।
जगजीवन अविनासी ठाकुर
घट घट वासी है संगा ।**

भाषा की सरलता, स्पष्टता, लयात्मकता तथा माधुर्य के चमत्कार देखने के लिये गुरु अर्जुन की 'वाणी' हिन्दी पाठकों को निमंत्रण दे रही है ।

**कवन गुन प्रानपति मिलउ मेरी भाई
रूप हीन बुधि बल हीनी,
मोहि परदेसन दूर ते आई ।
नाहिन दरबु न जोबन माती,
मोहि अनाथ की करहु सहाई ।'
खोजत खोजत भई वैरागनि
प्रभ दरसन कउ हों फिरत तिसाई**

० ० ० ०

प्रसाद गुण के साथ साथ माधुर्य गुण का समावेश गुरु अर्जुन की शैली की उत्कृष्टता की परिचायक है ।

गुरु अर्जुन के समकालीन विद्वान् तथा कवि 'गुरदास' ने पंजाबी कविताओं के अतिरिक्त हिन्दी में ६७५ सवैये तथा कवित्त लिखे । गुरुदास ने अन्य भारतीय धर्मशास्त्रों का भी अध्ययन किया था । उन्हों ने गुरु नानक के दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिये हिन्दी में कविता लिखी । कविता में युक्तियां दे दे कर अपने पक्ष को प्रबल बनाने का प्रयास भाई गुरदास की रचनाओं की प्रथम विशेषता है । ऐसा करते समय वह अपने काव्यादर्श का भी ध्यान रखते हैं; जैसे—

**"जैसे एक समय द्रुम, सफल, स-पत्र पुन
एक समय फूल, फल पत्र गिर जात हैं ।
सरिता सलल जैसे कबहुँ समान बहै
कबहुं अथाह अति प्रबल दिखात है ।
एक समय जैसे हीरा होत जीराम्बर मैं
एक समय जैसे कंचन जड़े जगमगात है ।
तैसे गुर सिख राज कुआर जोगीसर है,
मायाधारी भारी जोग जुगति जुगात है ।"**

यहां एक गुरसिख के लक्षणों को द्रुम, सरिता, तथा हीरा के दृष्टांतों द्वारा अभिव्यक्त किया है । भावों और भाषा का जिस ढंग से समन्वय किया गया है, उसका आनन्द लेने के लिए गुरदास की समस्त वाणी आपकी ओर निहार रही है । अतः उनकी रचनाओं से एक दो और उदाहरण देने का मोह अस्वाभाविक न होगा ।

**'जोई प्रिय भावै, ताहि सुन्दरता के सुहावै,
सोई सुन्दरी कहावै, छवि कै छबीली है ।
जोई प्रिय भावै ताहि बानक बधु बनावै,
सोई बनिता कहावै, रंग में रंगीली है ।
जोई प्रिय भावै, ताकी सबै कामना पुजावै,
सोई कामनी कहावै, सील कै सुसीली है ।**

जोई प्रिय भावै, ताहि प्रेमरस पीग्रावै,
सोई प्रेमनी कहावै, रसिक रसीली है ।"

अब पाठक स्वयं ही अनुमान लगाएं कि गुरदास की रचना हिन्दी साहित्य में क्या स्थान रखती है ?

माधुर्य भाव की भक्ति में शृंगार रस के तत्वों को इस ढंग से मिलाया गया है कि अश्लीलता स्पर्श भी न कर सकी ।

गुरदास की हिन्दी कविताओं की परिपाटी आगामी कवियों द्वारा और भी अधिक प्रोत्साहित हुई । 'गुरु तेग बहादुर' के श्लोकों में वैराग्यभाव की जो ध्वनि है, और जिससे शांत रस की उदीप्ति होती है, वह हिन्दी काव्य के लिए एक गौरव की वस्तु है । भावों की अभिव्यक्ति में जो स्वाभाविकता है, वह बहुत कम कवियों की रचनाओं में मिलती है और भाषा का प्रवाह अपनी अबाध गति से आगे ही आगे बढ़ता जाता है––

'निसिदिनि माया कारने प्रानी डोलत नी
कोटन सैं नानक कोउ नारायण जिह चीत ।'
'जो प्रानी ममता तजै, लोभ, मोह अहंकार
कहु नानक आपन तरै, औरन लेत उधार ।'
'पतित उधारन, भय हरन, हरि अनाथ के नाथ ।
कहु नानक तिह जानीएं, सदा बसत तुम साथ ।'
'रामनाम उर मैं गाहिउ, जा कै सम नही कोइ ।
जिह सिमरत संकट मिटै, दरस तिहारो होइ ।'

गुरु तेग़ बहादुर ने केवल श्लोक और पद ही रचे, परन्तु उनके सुपुत्र गुरु गोविन्द सिंह ने प्रबन्ध काव्य के अतिरिक्त मुक्तक काव्य की भी रचना की । इनके काल तक काव्य की भाषा ब्रज भाषा निश्चित हो चुकी थी । अतः इनकी रचनाओं का ब्रज में होना स्वाभाविक है । 'दसम ग्रंथ' जैसा महान ग्रंथ इस काल की रचनाओं का अविशेष है । गुरु गोबिन्दसिंह की रचनाओं का अध्ययन करने से पता चलता है कि उनको हिन्दी, ब्रज, संस्कृत के साथ साथ फारसी भाषा पर भी अधिकार प्राप्त था । फ़ारसी में उन्होंने एक लम्बी कविता 'ज़फरनामा' लिखी । उनकी रचनाओं में ओजगुण प्रमुख है । जहाँ भक्ति भावों की व्यंजना की गई है । वहां भी ओजगुण ही प्रधान रहता है । वास्तव में ओजगुण उनके काल की विशेषता थी । जनता तथा देश को माधुर्य-मद की आवश्यकता न थी, अतः उन्होंने अपनी रचनाओं में 'शिवा' से यही वरदान मांगा है कि 'शुभ करमन से कबहुँ न टरूँ' और रणक्षेत्र में प्रविष्ट हो जाने पर निश्चय ही जीत प्राप्त करूँ ।

ब्रह्म के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए वह अपनी महान रचना 'जाप' में लिखते हैं :––

'चक्र चिहन और बरन जाति अरु पाति नहिन जिह ।
रूप रंग अरु रेख भेख कोऊ कहि न सकति किह ।

अचल मूरति, अनुभव प्रकास, अमितेज
कहि जै
कोटि इन्द्र इन्द्राण साह साहणि गणिजै
त्रिभवन महीप, सुर नर असुर नेत नेत
वन-त्रिण कहत
सरब नाम कथै कवन करम नाम बरणत
सुमति ।'

ब्रह्म की सत्ता, सर्व व्यापकता का वर्णन तो अनेक छन्दों में बार बार किया है; जैसे——

'कि राजं प्रभा हैं । कि धर्म धुजा हैं ।
कि आसोक बरनै । कि सरबा अभरनै ।
कि जगतं कृति हैं । कि छत्रं छत्री हैं ।
कि ब्रह्म स्वरूपै । कि अनभउ अनूपै ।'

और इसी छन्द में फारसी शब्दों का प्रयोग देखिए ——

'कि कारन कुनिन्द हैं ।
कि रोजी दहिन्द हैं ।
कि राजक रहीम हैं ।
कि करमं करीम हैं ।

० ० ० ०

'कि हुसनल वजू हैं । तमामल रजू हैं ।
हमेसुल सलामै । सलीखत सुदामै ।
गनीमुल शकसते ।
गरीबुल परसते । बलन्दुल मुकामै ।
जमीनुल जमानै ।''

यहां भक्ति के स्वरूप में जो परिवर्तन हुआ, वह तत्कालीन इतिहास के आलोक में चमकता हुआ दिखाई देता है । भारतीय धर्म साधना के विकास का अध्ययन करने के लिये गुरु गोबिन्द सिंह की रचना एक महत्त्वपूर्ण तथ्य को अपने भीतर समेटे हुए है ।

उनकी कविता में भाषा के प्रवाह को भी हम सराहे बिना नहीं रह सकते । कोमल कांत पदावली के नमूने भी उनकी रचनाओं में मिलते हैं :——

'माते मतंग जरे जर संग,
अनूप उतंग सुरंग सवारे ।
कोट तुरंग कुरंग से कूदत,
पउन के गउन को जात निवारे ।
भारी भुजान के भूप भली विधि निआवत
सीस न जात बिचारे
एते भए तो कहां भए भूपत अंत को नांगे ही
पाइ पधारे ।'

इस उदाहरण में स्वाभाविक ढंग से आई अलंकार योजना भी रसानुकूल है ।

गुरु गोबिंदसिंह के जीवन तथा साहित्य का एक ही उद्देश्य था और वह उस उद्देश्य से आजीवन भर पीछे न हटे——

'याही काज धरा हम जन्म
समझि लेहु साधु सभ मन मं
धर्म चलावन संत उबारन
दुष्ट सभन को मूल उपारन'

और उन्होंने इस संसार को रंगमंच समझ कर एक विराट नाटक के रूप में देखा ——

'मैं हों परम पुरख को दासा
देखन आयो जगत तमाशा ।'

गुरु गोबिंद सिंह ने न केवल स्वयं ही हिन्दी साहित्य की रचना की, वरन् उन्होंने अनेक कवियों को साहित्य निर्माण के लिये उत्साहित किया। उनके दरबार में ५२ कवि थे, जिन्होंने मौलिक रचनाओं के अतिरिक्त संस्कृत ग्रंथों के भी भाखा में अनुवाद किये। उन द्वारा रचे साहित्य का एक प्रतिशत भी उपलब्ध नहीं, क्योंकि वह महान निधि तत्कालीन संघर्षों में लुप्त हो गई। उपलब्ध रचनाओं में से कुछ उदाहरण प्रस्तुत करने से उन रचनाओं की उत्कृष्टता का अनुमान हो जायेगा।

(१) कवि अमृतराय :—इन्होंने 'चित्र विलास' की रचना की तथा महाभारत के सभा पर्व का हिन्दी में अनुवाद किया—यह कवि लाहौर के निवासी थे और इनका समय १७३६ संवत् के आसपास माना जाता है। रचनाओं पर रीति साहित्य का प्रभाव लक्षित होता है। इनके पिता का नाम छैल राय था—नमूना

'प्रिया प्रेम सो सृङ्गारी, हास्य सो विनोद भारी,
दीनन पै करुणनुसारी सुख दीनो है।
कीने अरि रुंड-मुंड, रुद्र रस भरयो झुंड,
फोजन सुधारन में वीर रस कीनो है।
डंक सुन लंक भयभीत सत्रबास निन्दा,
विक्रम प्रबल अद्भुत रस लीनो है।
ब्रह्म ग्यान सम अमृत रस बिराजै सदा,
श्रीगुरु गोबिन्दराय नवोरस भीनो है।"

(२) कवि सुदामा :—यह बुन्देलखंड वासी थे। कहते हैं कि निर्धनता से तंग आकर गुरु गोबिंद सिंह के दरबार में आ गये और एक कवित्त कहा, जिसे सुनकर गुरु जी ने उसे बहुत धन दिया। इसके बाद वह वहीं रह कर साहित्य निर्माण में जुट गये। नमूना—

"एकै संग पढ़े हैं अवंतिका संदीपिनी के
सोई सुद्ध आई तो बुलाए बूझी बामा मै।
पुंगी फल होत तौ असीस देतो नाथ जी को
तंदुल लै दीने बांध लीने फटे जामा मै।
दीन दयाल सुन कै दयाल दरबार मिले।
एतो कुछ दीनो पाई अगणित सामा मै।
प्रीति कर जानै गुर गोबिन्द कै मानै तां तै
वही तू गोविन्द वही बाहमन सुदामा मै।"

(३) कवि मंगल :—इन्होंने १७५३. संवत् में महाभारत के शल्य पर्व का हिन्दी में अनुवाद किया—

"संबत सत्रह से बरष त्रेपन बीतन हार
माधव रितु तिथि तरोदसी, तादिन मंगलवार।
शल्य पर्व भाषा भयो, गुरु गोविन्द के राज
अरब खरब बहु दरब द, करि कविजन को लाज।"

(४) कवि धन्ना सिंह :—इनकी कविता में चमत्कार प्रधान है। विरोधाभास अलंकार का एक उदाहरण देखिए—

'मीन मरै जल के परसे कबहूँ न मरे पर पावक पाये।
हाथी मरै मद के परसे कबहूं न मरे तन ताप के आये।

तीया मरे पति के परसे कबहूँ न मरे परदेस सिधाये ।
गूढ़ मै बात कही दिजराज, विचार सकै न बिना चित लाये ।'
कौल मरै रवि के परसे कबहूँ न मरे ससि की छवि पाये
मित्र मरै मित्त को परसे कबहूँ न मरे जब दूर सिधाये
सिंह मरै जब मांस मिले कबहूँ न मरे जब हाथ न आये
गूढ़ में बात कही दिनराज विचार सकै न बिना चित लाय ।

(५) कवि चन्दन :––इनकी कविता में कूट पदों जैसा चमत्कार है । और हमें कबीर की उलटबांसियों तथा सूर आदि के कलिष्ट पदों का स्मरण हो आता है––

"नव सात तिये, नवसात किये, नवसात पिये नव सात पियाए ।
नव सात रचे, नवसात बचे, नवसात पिया पेहदायक पाए ।
जीत कला नवसातन की नवसातन के मुख अंचर छाए ।
मानहु मेघ के मंडल में कवि चन्दन चन्द कलेवर छाए ।"

(६) कवि हंसराज :––इन्होंने महाभारत के करण पर्व का हिन्दी में अनुवाद किया । यह अनुवाद १७५२ संवत् में संपूर्ण हुआ ।

"संवत सत्रह सै बरस बावन बीतन हार
सारग वधि तिथि दूज को ता दिन मंगलवार
टका करै बखशीश तब मोको साठ हजार
ताको आयस पायकै करण पर्व मै कीन
भाखा अरथ विचित्र कर सुने सुकवि प्रबीन"

इन्होंने कुछ मुक्तक भी लिखे हैं, एक नमूना देखिए ––

'कौन बढ़ो या जगत में को दाता को सूर
काके रण और दान में मुख पर बरसत नूर ।'

(६) कवि । सेनपति :––इन्होंने 'गुरु शोभा' नामक एक ग्रंथ रचा जो मुक्तक छन्दों का संग्रह है । भाषा तथा भावों में सुन्दर तादात्म्य है जैसे––

'काहू कै मात पिता सुत हैं
अरू काहू के भ्रात महाबलकारी ।
काहू के मीत सखा हित साजन,
काहूँ के ग्रह बराजत नारी ।
काहू के धाम महानिधि राजत,
आपस मो करि है हितकारी ।
होहू दयाल दया करिकै
प्रभ गोबिन्द जी मुहि टेक तिहारी ।'

'है सुबास मृग पास ही, नहि जानत अग्यान
गुर बिन बास न पावई, ढूंढत है उद्यान ।'
'जो जन हरि प्रभ छोड़ि कै, करत अवर की सेव
सो मूरख अग्यानि पावत रंच न मेव ।'

(७) कविसेनापति :––इन्होंने चाणक्य नीति का हिन्दी में अनुवाद एवं कुछ श्लोकों की रचना की ––

अति अगाध अचरज कथा तिह का कवन सुमार
जुग कितनक गनपत लिखिहि तऊ न पावत पार ।'

'चाणक्य नीति' के कुछ उदाहरण ——

'जोगी मंत्री राज कुल नख रद कुच श्रौर
नारि
थान भ्रष्ट सोभत नहीं, यह श्राठो परकारि ।'
'पांच बरष तक लाड है, ताड़न है षटि माहि ।
पुत्र मित्र तब होत है, जब षोड़स तक जाहि ।'
'दिन का दीपक सूर है, निस का दीपक चन्द ।
दीपक धरम त्रिलोक का, कुल का दीपक
सुनन्द ।'
'मृग भषी मृगराज बन भूखे तरिण न चरन्त ।
तिऊँ कुलवन्त बिपत पर नीच करम न
करन्त ।'
'एक बांस ते निकस कै श्रगनि दहै बन घास ।
तियों कपूत ते होत है सभ कुटम्ब का नास ।'
'गुरुगोबिन्द की सभा मैं लेखक परम सुजान
चाणक्य भाषा कियो कवि सैनापति नाम ।'

(८) कवि श्रालम :——इन्होंने गुरु गोबिन्द सिंह की प्रशस्ति में श्रनेक मुक्तक लिखे, जिन द्वारा उनकी चारित्रिक विशेषताश्रों का बोध होता है——

'सोभा हूँ के सागर नवल नेह नागर हैं,
बल भीम सम सील कहाँ लौं गनाइये ।
भूमि के विभूषन जु दूखन के दूखन,
समूह सुखहूँ के सुख देखे श्रौर श्रघाइये ।
हिम्मत निधान श्रान दान को बखानै जान,
श्रालम तमाम जाम श्राठों गुन गाइए ।
प्रबल प्रतापी पातशाह गुरु गोबिन्द जी,
भोज की सी मौज तेरे रोज रोज पाइए ।'

(९) कवि हीर :——इन्होंने श्रपने पदों में युद्धवीर तथा दानवीर महाबली के प्रति श्रपनी श्रद्धा भेंट की है——

"पास ठाढ़ो झगरत भुकत दरेरै मोहि,
बात न करन पाऊं महा बली बीर सों ।
ऐसे श्ररि बिकट निकट बसै निसिदिन
निपट निशंक सठ घेरै फेर भीर सों ।
दारद कपूत तेरो मरन बन्यो है श्राज
कर कै सलाम विदा हूजे कवि हीर सों ।
नातरू गोबिंद सिंह विकल करै जो तोहि
टूक टूक ह्वै हैं गाढ़े दानन के तीर सों ।'

गुरु गोबिन्द सिंह के दरबार में ५२ कवि थे, जिन की रचनाएं कहीं-कहीं मिल जाती हैं । इन कवियों के नाम निम्न लिखित हैं :——

(१) उदयराय (२) श्रणीराय (३) श्रमृत राय (४) श्रल्लू (५) श्रासा सिंह (६) श्रालिम (७) ईश्वरदास (८) सुखदेव (९) सुखा सिंह (१०) सुखिया (११) सुदामा (१२) सैनापति (१३) सयाम (१४) हीर (१५) हुसैन श्रली (१६) हंसराज (१७) कुल्लू (१८) कवरेश (१९) खान चन्द (२०) गुणिया (२१) गुरदास (२२) गोपाल (२३) चन्दन (२४) चन्दा (२५) जमाल (२६) टहिकण (२७) धरम सिंह (२८) धन्नासिंह (२९) ध्यान सिंह (३०) नानू (३१) निश्चल सिंह (३२) निहाल सिंह, (३३) नन्द सिंह (३४) नन्द लाल (३५) पिण्डीदास (३६) बल्लभ (३७) बल्लू (३८) बिधीचन्द

(३९) बुलन्द (४०) वृष (४१) मथुरा (४२) मदन सिंह (४३) मदनगिरि (४४) बृजलाल (४५) मल्लू (४६) मान दास (४७) माला सिंह (४८) मंगल (४९) राम (५०) रावल (५१) रोशन (५२) लक्खा ।

अठारहवीं शताब्दो में केवल उक्त कवियों ने ही हिन्दी में कविता नहीं लिखी वरन् अन्य अनेक कवियों ने अपनी समस्त शक्ति साहित्यिक प्रयासों में लगा दी । वास्तव में १८वीं शताब्दी (संवत्) से लेकर बीसवीं शताब्दी के आरंभ तक पंजाब के कवियों का ध्यान हिन्दी साहित्य निर्माण की ओर रहा । यह सारी निधि तत्कालीन वातावरण में सुरक्षित न रह सकी आज हमें कुछ हस्तलिखितें मिलती हैं । उन सब कवियों तथा कृतियों की सूची देना इस लेख में सम्भव नहीं है । क्योंकि यह सभी कवि प्रायः एक सौ से अधिक हैं और उनकी कृतियां तीन चार के लगभग । कुछ प्रसिद्ध तथा उत्कृष्ट कृतियों के परिचय से ही स्पष्ट हो जायेगा कि इस महान निधि की ओर ध्यान देना कितना आवश्यक है ?

कवि अमीरदास उदासी :—इनकी एक रचना ब्रजराज विलास सतसई मिलती है, जिसमें ७०१ दोहे हैं यह शृंगार रस की रचना है । विषय की दृष्टि से इसको निम्न भागों में विभक्त कर सकते हैं:—

(१) नख शिख वर्णन :—इस खंड में नख से लेकर वसन वर्णन तक ४४ प्रकार के अंगों के सौंदर्य को व्यक्त किया गया है, जैसे एडी, नूपर, जंघ, छुद्र घंटिका, कटि, रोमराजी, कुच, भुज, कर, कर-भूषन, चिबुक, मुख, अधर, मुरली, नासिका, नासा भूखन, कपोल, अलिक, स्रवण स्रवण-भूषन, नेत्र, अंजन, नेत्र-पुतरी, भौं, भाल, सीतल अंक, तिल, भालभूषण, पाटी, सीस फूल, कुमुट, बेनी, बेनी भूष तन दुति, सुकुमारता, तन सौर्भ, तथा वसन वर्णन ।

(२) मुग्धा-नायिका वर्णन :— इस भाग में मुग्धा, प्रौढ़ा, परकीया, गुप्ता, क्रिया-विदग्धा, वाक्-विदग्धा, लछिता, मुदिता, अनन्य संभोग, दुखिता, रूप-अभिता, मानिनी, बिरहनी, खंडता, कल-हंतरिता, विप्रलब्धा, स्वाधीनपतिका, अभिसारिका, तथा आगम पतिका नायिका का वर्णन किया गया है ।

(३) नायक वर्णन :—इस खंड में अनुकूल नायक, दछन नायक, धृसट नायक, तथा सठ नायकों का वर्णन किया गया है ।

(४) इसमें फुटकल वर्णन आते हैं । जैसे सखी वचन, नायिका वचन, नायक वचन, संयोग शृंगार वर्णन । आलम्बन वर्णन नाही वर्णन, सिसकारी वर्णन, सुरति अंत वर्णन, जलकेलि वर्णन,

रास मंडल वर्णन, चोर महीचिनी वर्णन, सूरजासत समै वर्णन, चन्द्रौदय समय वर्णन, ऋतु वर्णन, (बसंत, ग्रीष्म, पावन, सरद, हिम, सिसर) आदि का उल्लेख है।

(५) हाव वर्णन :—यहां मानव जाति के विभिन्न प्रकार के हावों की अभिव्यक्ति की गई है, जैसे तत्-लीला हाव, ललित हाव, कुटिमित हाव, विवेक हाव, विभ्रम हाव आदि ।

(६) वियोग शृंगार वर्णन:—इसमें स्वप्न दर्शन, चित्र दर्शन तथा साक्षात् दर्शन के माध्यम से वियोग शृंगार भावनाओं को व्यक्त किया गया है।

(७) दश दशा वर्णन :—इसमें अभिलाषा से लेकर व्याधि तक दश दशाओं का वर्णन किया गया है।

इनके अतिरिक्त पाती वर्णन, उपालम्भ, विरह वर्णन, यश वर्णन, नीत वर्णन, करते हुए अन्त में शांत रस वर्णन से ग्रंथ की इति की गई है।

उक्त विवेचन से ब्रजराज विलास सतसई की रूपरेखा स्पष्ट हो जाती है। भावों तथा अभिव्यक्ति की उत्कृष्टता को दर्शाने के लिये दो चार उदाहरण प्रस्तुत हैं---

कुंज सियाम सियामा सुखद, भरत परस–
परि अंक ।
मनो चंचल मेघ भ्रम रस बसि जहयो
मयंक ।
मेरे चित चातक अलि पल कहुप रति न
चैन ।
बिन तिय दृग बारद लखै सरस सुनत सुख
दैन ।
मंजुल बंजुल कुंज मैं मिल कहूँ घन सियाम ।
बरसै रस ह्वै बीजुरी वहै बीजुरी धाम ।
मंडप मौल सिरी निमैं राची रति विपरीत ।
स्याम सिला पर जनु धरी स्वरन सिला
कमनीत ।

संक्षेप में यदि हम उपलब्ध सामग्री को विषय की दृष्टि से विभाजन करें तो हमें निम्न विषयों पर रचनाएं उपलब्ध होती हैं––

१. रस सम्बन्धी रचनाएं :—जैसे रस प्रबोध, रस मंजरी, रस चन्द्रोदय, रसराज, रसिक लतामृत कलपद्रुम आदि।

२. नायिका भेद :—चित्र विलास, ब्रजराज विलास सतसई आदि ।

३. अलंकार ग्रंथ :—अलंकार माला कवि प्रिय, श्रीकृष्ण साहित्य सिंधु आदि ।

४. पिंगल ग्रंथ :—जैसे पिंगल, पिंगल प्रस्ताव, छन्द दर्पण, दोहरा भेदावली, रूप दीप पिंगल, पिंगल भाषा, पिंगल छन्द सार, छन्द रत्नावली, आदि ।

५. पुरान साहित्य :—जैसे विष्णु महात्म पुराण आदि ।

६. भागवत साहित्य :—जैसे भागवत एकादशी स्कंद, भागवत दशम

ग्रंथ, भागवत एकादश भाषा, श्रीमद - भागवत आदि ।

७. रामायण साहित्य :—दंडक रामायण, अध्यात्म रामायण आदि ।

८. कृष्ण साहित्य :—कृष्ण अवतार, रुक्मनी मंगल, आदि ।

९. महाभारत साहित्य :—महाभारत टीका, विराट पर्व आदि ।

इनके अतिरिक्त बतीसी, पचासिका, तथा सतसई रचनाओं में फुटकल उद्-भावनाओं को संकलित किया गया है ।

उक्त सारा साहित्य, जिनकी संख्या प्रायः दो सौ के समीप जा पहुंचती है, अभी तक अन्धकार में पड़ा है । जब यह साहित्य हिन्दी पाठकों तथा विद्वानों के सामने आयेगा, तो इस महान उपलब्धि का स्थान निश्चित किया जा सकेगा ।

● ● ●

भारतीय आदर्श—त्याग और तपस्या

टेकचन्द्र भार्गव

आदर्श वास्तव में आदर्श है जो सब के लिए अनुकरणीय है, जो वास्तव में जातिवाद और देशवाद से रहित है । आदर्श किसी व्यक्ति विशेष का न होकर सबका होता है भले ही कभी कभी वह किसी व्यक्ति विशेष के हृदय में अथवा मस्तिष्क में उत्पन्न हो । उस व्यक्ति में इस आदर्श की उत्पत्ति तभी सम्भव है जब वह अपने को सबमें समान देखता हुआ सब भूतप्राणियों में पवित्रता के दर्शन का इच्छुक बना रहता है । आदर्श पवित्र जो है । हमारे ऋषि-मुनियों में इन गुणों की पूर्ण समष्टि के दर्शन अनायास किये जाते हैं ।

कदाचित् पाठकगण यह प्रश्न करें कि यदि आदर्श वास्तव में किसी जाति या देश विशेष के नहीं होते तब फिर लेख के आदि में 'भारतीय' शब्द जोड़ कर लेख को एकदेशीय क्यों बना दिया है ? सम्भवतः इसके लिये आंशिक भूल का पात्र आप मुझे बनायें परन्तु ऐसा है नहीं क्योंकि इन दोनों आदर्शों को आदि और मौलिक रूप भारत ने ही दिया है अतः इनसे पूर्व इनका परिचायक विशेषण 'भारतीय' रख रहा हू । निःसन्देह आज भी ये आदर्श सम्पूर्ण विश्व के लिये प्रेरणा का स्रोत बने हुए हैं ।

त्याग और तपस्या इन दोनों ही आदर्शों का अटूट सम्बन्ध है । पति-पत्नी की भांति ये भी दो शरीर एक प्राण हैं । त्याग से ही तपस्या सम्भव है और फिर उस तपस्या से ही त्याग की चरम सीमा को पहुंचा जा सकता है । इसी का प्रमाण हमारे उपनिषद् और पौराणिक चरित्र हैं । श्रीमद्भगवद्गीता के बारहवें अध्याय के बारहवें श्लोक में श्री कृष्ण भगवान् ने अर्जुन को शाश्वतनित्य शान्ति के प्राप्तार्थ अन्तिम साधन त्याग ही बताया है——

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनंतरम् ।।

इस श्लोकानुसार तथा तनिक सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि त्याग के अनेक रूप हैं । इस श्लोक के अनुसार कर्मों के फल का त्याग ही त्याग तालिका में शीषाग्रस्थान ग्रहण करता है ।

वैसे वासनाओं का त्याग, इच्छाओं का त्याग, कामनाओं का त्याग, पदार्थों का त्याग और सम्बन्धों का त्याग, इन सब रूपों का भी अपना विशेष महत्त्व है।

सभी सिद्धि और ख्याति प्राप्त ऋषि मुनि और राजा महाराजाओं ने त्याग का ही अवलम्बन लिया है। त्याग से ही उन्हें सिद्धि, तपस्या और ख्याति प्राप्त हुई थी जिसका उन्हें स्वयं बहुत कम ज्ञान था। कुछेक ऐसे पात्रों के दृष्टांत यहां लेखनी बद्ध किये जाते हैं। दधीचि ऋषि के जीवन में उनकी महिमा का स्थल उनके अपने शरीर का त्याग देवराज इन्द्र के द्वारा राक्षस का वध करने के लिये उनकी हड्डियों का वज्र बनाने हेतु था। देवराज इन्द्र ने प्रार्थना की। सहसा ऋषि ने दुष्ट राक्षस का नाश करने के लिये परोपकारार्थ अपने शरीर का योग की क्रिया द्वारा त्याग कर दिया। महान् ऋषि ने अपनी आत्म-शांति इसी में देखी और अचिरात् देहत्याग कर अलौकिक त्याग के पात्र बने। परन्तु ध्यान देने की बात है कि यह महान् त्याग दधीचि ऋषि कब कर सके थे। पहले त्याग से उन्होंने तपस्या अर्जित की और तब तपस्या के फलस्वरूप उन्होंने अपने शरीर का त्याग कर चरमत्याग को भारतीय साहित्य में अंकित किया है।

सत्यव्रत राजा हरिश्चन्द्र की कथा लोक प्रसिद्ध है। उन्होंने सत्यव्रत रूप तपस्या को करने के लिये अपने देश और राज्य को स्त्री और पुत्र को भी त्याग कर स्वयं मरघट पर एक डोम के यहां सेवा कार्य ग्रहण किया था। परन्तु इस महान् त्याग का फल कितना मधुर, शाश्वत और आनन्दमय था। पुत्र को सर्प डस लेता है। माता मरघट पर दाह के लिये ले जाती है परन्तु मरघट का कर देने के लिये पैसे और वस्त्र नहीं हैं। वही राजा हरिश्चन्द्र एक सेवक के वेश में अपने स्वामी के प्रति कर्त्तव्यपालन के लिये अपनी तलवार से वस्त्र काटने के लिये उद्यत होता है कि साक्षात् विष्णु भगवान् प्रकट होते हैं। इसी समय राजा हरिश्चन्द्र के सभी दुःखों का अन्त हो जाता है और भगवान् से वरदानस्वरूप उसे सभी प्रकार के अक्षय सुख और आनन्द की प्राप्ति हो जाती है। यह है उस त्याग की उपलब्धि।

इसी प्रकार मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम का त्याग भी अनुकरणीय है जिसके फलस्वरूप वे मर्यादापुरुषोत्तम राम कहलाते हैं। पिता की आज्ञा के पालनार्थ तथा माता कैकैयी के सन्तोष के लिये सहर्ष उन्होंने चौदह वर्षों का कठोर वनवास स्वीकार किया था। तब इनकी तपस्या का स्वरूप कुछ भिन्न है। दुष्ट रावण जैसे राक्षसों का अन्त करना, हनुमान, सुग्रीव, जटायु, भीलनी, विभीषण और निषाद आदि भक्तों को गले लगाना और सीता जी जैसी सती नारी को दुष्टों के चंगुल से मुक्त करने के लिये घोर संग्राम

करना इनकी तपस्या थी। और ये भगवान राम के वे जीवनादर्श हैं जिन्हें तब से अशेष भारतवर्ष अपने जीवन के सांचे में ढालता रहा है परन्तु भूलना न होगा कि ये आदर्श त्याग और तपस्या की देन हैं।

आधुनिक युग में भी इस प्रकार के उदाहरणों का अभाव नहीं है। आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व गौतम बुद्ध ने ज्ञान प्राप्ति के लिये नवजात शिशु, प्राण-प्रिया भार्या यशोधरा तक को परिव्रज्या देने में संकोच नहीं किया था। इसका परिणाम था आत्मसाक्षात्कार और लोक-कल्याण। इन के पश्चात् आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व जगद्गुरु शंकराचार्य का प्रादुर्भाव इसी धरा पर हुआ जिन्होंने आठ वर्ष की अल्पायु में चारों वेद कण्ठस्थ कर सन्यास ले लिया था। चाहे उनके जीवन की कथा कुछ भी रही हो परन्तु हमारे सम्मुख उनके जीवन में इन दोनों आदर्शों के चित्र अंकित हो जाते हैं। हिन्दु उन्हें अवतार मानते हैं और यह स्वाभाविक है। आठ वर्ष की अल्प अवस्था में चारों वेद कण्ठस्थ कर लेना और सोलह वर्ष की अवस्था में जगत के सब विद्वानों, पण्डितों और मीमांसकों पर विजय प्राप्त कर लेना किसी लौकिक पुरुष का कृत्य नहीं है। उन्होंने आठ वर्ष की अवस्था में माता को त्याग सन्यास ग्रहण किया और तपस्या में रत रहने लगे। इसका यह परिणाम हुआ कि देश-विदेश जाकर उन्होंने शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त की और जगद्गुरु के उच्चतम पद को प्राप्त किया।

स्वामी रामकृष्ण परमहंस का गृह त्याग कर काली मां के मन्दिर में पूजार्थ उस देवी मां की शरण ग्रहण कर गुरु के श्रेष्ठ पद को प्राप्त करना त्याग से फलित तपस्या ही थी जिसके फलस्वरूप विदेश में अमेरिका जैसे धर्मपराङ्गमुख धनलोलुपता से आहत देश में हिन्दु धर्म की पताका फहराने वाला स्वामी विवेकानन्द सा निर्भीक शिष्य उन्होंने प्राप्त किया था। स्वामी विवेकानन्द स्वयं भी एक साहसी सन्यासी थे जिन्होंने युवावस्था में ही सन्यास की दीक्षा ले तपस्या की, और वेदों तथा उपनिषदों के पूर्ण ज्ञान सहित देश विदेश में हिन्दु धर्म के उच्चादर्श को प्रतिष्ठित किया। आज इसी के परिणाम-स्वरूप स्वदेश में तथा विदेश में उनके मिशन चल रहे हैं जिसमें हजारों दीन दुःखी शरण प्राप्त कर सन्तोष लाभ करते हैं।

स्वामी रामतीर्थ के चरम त्याग को पढ़ सुन कर कोई पाठक ऐसा न होगा जिसके अन्तस्तल में अनायास ही त्याग की महिमा का साक्षात्कार करने की व्यग्रता जाग्रत न हो उठेगी। स्त्री के साथ जाने का आग्रह करने पर उनसे कहते हैं कि पहले वस्त्राभूषण आदि त्याग दो। घर-बार को त्याग दो और छोटे शिशु को उंगली लगा कर भरे बाजार में छोड़ कर

ा किए
'गीता''
निमित्त
महा–
गया—
गया।
भाषण
र्यकान्त
ार कर
ोध–पत्र
प्रकाशन
के लिये

आ जाओ। आह! इस समय उस मां का हृदय खण्ड-खण्ड होना चाहता है परन्तु दूसरी ओर पति के साथ जाने की उत्सुकता इससे भी प्रबलतर होती जा रही है। अतः सहसा कलेजे को थाम कर पुत्र को भरे वाजार में लोगों के बीच उंगली छुड़ा कर चली आती है। अब स्वामी राम पूर्ण सन्यास की दीक्षा देने हेतु उन्हें कहते हैं "कह दो रामतीर्थ मर गया।" इस कठोर वज्राघात को एक सती सहन न करती हुई भी मूर्च्छावस्था में कह देती है। तब स्वामी राम उन्हें अपने साथ ले गये और दोनों ने बन में तपस्या कर आत्मसाक्षात्कार किया। यह है उस कठोर त्याग की महिमा और अक्षयानन्द का फल!

ऐसा भी नहीं कि यह त्याग केवल पुरुष जाति में ही रहा है और नारी जाति में नहीं। नारी जाति में भी इसका उत्कर्ष कम नहीं है। सावित्री, सीता, लोपामुद्रा, अनुसूइया और गार्गी आदि अनेक नारियों ने पवित्रतम् त्याग कर भारतीय जीवन और साहित्य को आलोकित किया है। परन्तु क्रम एक रहा है उद्देश्य के रूप अनेक हैं।

त्याग, तपस्या और तपस्या की पूर्णता से चरम त्याग का ही क्रम रहा है। उद्देश्य परोपकार, लोक-कल्याण, आत्मसिद्धि, आत्मसाक्षात्कार, मर्यादारक्षण, प्रजा-पालन और धर्म विस्तार आदि रहे हैं। उपसंहार रूप में कहा जा सकता है कि त्याग सदैव कठोरतम रूप धारण करता रहा है परन्तु केवल धर्म, आध्यात्मिकता, सत्य और मानवता की रक्षा हेतु ही। चाहे तपस्या का रूप कुछ भी रहा हो। यदि ऐसा न होता तो सम्भवतः आज इस मानवपूर्ण मंगलमय वसुन्धरा पर मानव न होते दानव होते और सर्वत्र दानवता का साम्राज्य ही होता।

● ● ●

चम्बा के लोक गीत

शमी शर्मा

चम्बा प्रदेश हिमाचल प्रदेश का एक जिला है। यह चारों ओर पर्वतों से घिरा हुआ है। चम्बा नगर शताब्दियों पुराना है। भारत के उत्तर-पश्चिम में जम्मू-काश्मीर राज्य के साथ लगती हुई चम्बा रियासत बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है। अब इसका हिमाचल राज्य में विलय हो चुका है। चम्बा रियासत की राजधानी चम्बा नगरी रावी नदी के किनारे निवसित है। चम्बा घूमने के लिये पठानकोट रेलवे स्टेशन से उतर कर अस्सी मील मोटर का सफर करना पड़ता है। चम्बा तीन हज़ार फुट की ऊंचाई पर है। इसके आगे सब ओर आकाश से बातें करते पर्वत शिखर खड़े हैं। ये सदैव हिम से ढके रहते हैं और इन पर्वतों की दुरूह घाटियों में पर्वतवासी गद्दी लोग बसे हुए हैं। चम्बे के लोक गीत बहुत प्रसिद्ध हैं। अभी तक इनका बहुत ही अल्प संग्रह हो सका है। चम्बे के लोक गीतों तथा दूसरे प्रदेशों जम्मू और कांगड़े के लोक गीतों में बहुत कम अन्तर है। बहुत से भिन्न अवसरों तथा विवाह के लोक गीत तो परस्पर बहुत मिलते जुलते हैं। अन्तर केवल कतिपय शब्दों का है भाव में शत प्रतिशत साम्य है। संस्कार गीतों में सबसे प्रथम बाल-गीत लोरी आती है जैसे—

पठार बैठोरिया भाईया बो बन्दूकिया
इसा हिरणी जा मत मार हो ,
इसाहरणी रे मास नी खाणे ए हरणी
पेट भारी हो।
राम ते लक्ष्मण चौंपड़ खेलदे सीया राणी
कढ़दी कसीदा हो।

इसके पश्चात् यज्ञोपवीत संस्कार के लोकगीत आते हैं। इसमें भी बहुत समानता है —

कुनिया कत्तेया कुनिया बटेया कुने दित्ता
जीवन दान।
अम्मा कत्तेया बापूए बट्टया बाह्मणो दित्ता
जीवन दान।
हल्कें जोगटुएं जोग धियाया काहे दे वास्ते
धियाया है।
धागे दे वास्ते जोग धियाया रूपे दे वास्ते
जोग धियाया।

सुन्ने दे बास्ते जोग धियाया ताम्बे दे बास्ते जोग धियाया।

कन्या की विदाई के गीतों में चम्बा और जम्मू के लोक गीतों में बहुत कम अन्तर है। यद्यपि जन-भाषा में पर्याप्त भेद है किन्तु लोक गीत विदाई के एक जैसे हैं। गीत में भाव और शब्द एक ही जैसे हैं केवल कहीं कहीं कुछ अन्तर है :—

तेरी परौली दे अन्दर वे बाबल मेरा डोला अड़या।
तेरीयां परौली दे अन्दर वे बाबल मेरियां गुड्डियां रेहियां।
तेरीयां गुड्डियां जो देला पुजाई धीये घर जा आपणे।
तेरे बेड़े दे अन्दर वे बाबल मेरा खिन्नू रेहया।
तेरे खिन्नूए जो देला पुजाई धीये घर जा आपणे।

चम्बे में प्रेम-गीतों की भरमार है। काँगड़ा तथा चम्बा के मध्य में गधेरन नाम से गद्दियों का इलाक़ा पुकारा जाता है। यह इलाका चम्बा रियासत का ही एक भाग रहा है। गद्दी लोगों का काम भेड़-बकरी चराना है। शीतकाल में ये लोग नीचे कांगड़ा घाटी में चले आते हैं। अतः यह प्रदेश भी चम्बा में ही सम्मिलित है। प्रेम-गीतों में यह प्रदेश बहुत प्रसिद्ध है अतः चम्बा प्रदेश के प्रेम-गीतों के उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं :—

बाबू रेंजरा बोल भोता दूधारी थाली
पोंज़ मांगें कपड़े रुपैये मांगे चाली
हाय बाबू रेंजरा बासी नगरा तेरे
बारली ओ जांदीए बे हाथा लई रा लोटा
देखी सुणी चलणा जमाना लगीरा खोटा
हाय बाबू रेंजरा बासी नगरा तेरा

पानी भरने के समय युवतियों के यौवन का निखार छलक उठता। अल्हड़ यौवन की वेगवती भावनाएं उस समय छिपाए नहीं छिपतीं। इन युवती रूप राशियों का एक समूह परस्पर वार्तालाप करता हुआ कुओं, जलाशयों की ओर चलता है। कितना उस समय मार्मिक दृश्य होता है। नव परिणीता ग्राम वधुओं का परस्पर अपने नवगृहस्थ की आरंभिक कठिनाइयों तथा श्वसुर-गृह में अपने सुख दुःख कहने का यही एक सुअवसर होता है। पानी भरने के लिये जाती हुई इन वनिताओं का एक भावग्राही चित्र यहां देखिए—

पंज सत गोरी पाणी जो जान्दी
कुण गोरी ठूणी मठूणी हे।
जिसा वो गोरीरे कंत परदेशा,
से गोरी ठूण मठूणी हे।
जिसा वो गोरी रे पिया होल्ले दूर,
से गोरी ठूण मठूणी हे।
पैरां जो तेरे माचड़े देला मत हुंदी ठूण मठूणी हे।
जंगा जो तेरे साथण देला मत हुंदी ठूण मठूणी हे।

ढाका जो तेरी घागरू देला मत हुंदी ठूण मठूणी ।
हिका जोरी काँझली देला मत हुंदी ठूण मठूणी ।
सरा जो तेरे सालणू देला, मत हुंदी ठूण मठूणी ।

उक्त गीत में नववधू उदास है। उस के पिया परदेस हैं इसलिये वह ठूण मठूणी अत्यधिक उदास है। पति के विदेश गमन पर वह अन्यमनस्क सी दिखाई पड़ती है। विप्रलम्भ यहां चित्रित है किंतु गीत के दूसरे भाग में प्रोषितपतिका को ढाडस दिया गया है प्रियतम उसकी उदासी को दूर करने के लिये सभी वस्त्र देगा। प्रेम–गीतों में विरह का चंबियाली भाषा का यह एक विशिष्ट उदाहरण है।

एक और अन्य गीत में प्रेमी और प्रेमिका चम्बे को जा रहे हैं।

किस रे बाजार मेरे पूरणां
मखमल दा थान भला हेर
रूमी रूमी सीणा भला हेर
दसां गजां दा कोट मेरेय पूरणां
चढ़ी चम्बे जो जाणां भला हेर ।

चम्बा के लोग बहुत परिश्रमी हैं। पर्वतों में यह रहते हैं। ऊँचे-ऊँचे पर्वतों पर चढ़ना, घास काटना, वृक्ष चीरना और खेती करना इनका प्रमुख व्यवसाय है। अतः स्वाभाविक है कि ये परिश्रम करते समय इस श्रम को तथा अपनी थकान को इन गीतों का अवलम्ब लेकर ही काटते हैं। उस अवसर का ही एक हृदयग्राही भावप्रवण लोक–गीत चम्बयाली भाषा में प्रस्तुत है —

मेरा हो सन्तरामा हो !
लेबुर पुजाणी ठण्डे नालें हो ।
मेटा कैसा हे मेट कैसा हे !
मंगदा रुपैय्या दिंदा पैसा हे ।
घा बडणां रेडी केड़ी हे,
चलदीया ने कुनी छेड़ी हे ।
नेहर बणाई घूमें घूमें हे,
दोसतां लगोरी अन्दमे हे ।
नेह टुटी लाया डंगा हे !
जली तेरी छुणकूं दी बंगा हे ।
घड़ी घड़ी जेबा हथ पांदा हे ।
बेड़रा राम कै दसान्दा हे ।
मेटा हे जल सेठा हे ।
नगद रुपैय्या तेरा खोटा हे ।

चम्बा प्रदेश में वहां के अनेक भिन्न भिन्न समयानुकूल त्यौहारों तथा मेलों के गीत रचे हुए हैं। प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण में स्वच्छन्द प्रणय की सुगन्ध और वनों, चरागाहों में प्रकृति की विमुग्ध नैसर्गिक प्राकृतिक छटा की छाया में तरुण-तरुणियां परस्पर कण्ठहार बन जाते, प्रेम-सूत्र में बन्ध जाते हैं। इन गीतों में भाव यही ग्रथित है। प्रणय की विविध विधाएँ इन लोक गीतों में स्पन्दित

श किए
"गीता"
निमित्त
े महा–
गया—
ा गया ।
र भाषण
सूर्यकान्त
कार कर
शोध–पत्र
प्रकाशन
के लिये

हुई हैं उनके। गीतीं उरसस्पर्शी कितनी मधुर रसधारा प्रवाहित हुई है :—

कोलाँ बो गदेटड़िए हो मेरी कोलां वो गदेटड़िए
चम्बे दियां हट्टियां क्या कुछ बिकदा
इक बिकदा ओ जानी लहंगा
ओ मेरिए जानी फिरी मिलणा जी जींदा हरंगा ।

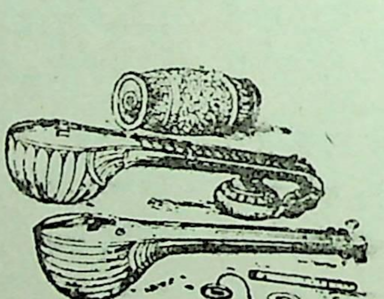
एक अन्य गीत में गोरी के चित्त के विषय में वर्णन किया है :–

गोरी दा चित्त लगदा ओ चम्बे दियाँ धाराँ
घर घर चकरू घर घर बकरू घर घर मौज बहाराँ
गोरी दा चित्त लगदा ओचम्बे दियाँ धाराँ
घर घर टिकलू घर घर बकरू घर घर बाँकियाँ नाराँ
गोरी दा चित्त लगदा ओ चम्बे दियाँ धाराँ

चम्बे में श्रावण के मास में वर्षा ऋतु के मध्य में मिंजरां का त्यौहार विशेष उल्लेखनीय है । इस त्यौहार को नारियां सांझ के समय भिन्न प्रकार के पकवान्न रोटियां इत्यादि बना कर नदी के किनारे जल प्रवाह में गीत गाती हुई जाती हैं और प्रवाह में समर्पित करती हैं । परस्पर सुहृदजनों, सम्बन्धियों में बांटती हैं बड़ी आत्मीयता परस्पर जितलाती हुई नारियां तथा पुरुष इस त्योहार को मनाते हैं ।

चिट्टा वे चोला काला वे डोरा मुईए मसतूनी
चिट्टा वो चोला काला डोरा ओ
चढ़ी चम्बे जो जाणा मुइए मसतणी
जाणा चम्बे दिआ जातरा लो ।

इस प्रकार अनेक प्रणय–गीत चम्बा लोक-साहित्य में भरे हुए हैं । यहां के जन-साहित्य के संकलन का कार्य अधूरा और अछूता पड़ा है । इन गीतों की क्रम बद्ध तालिकाएं बन कर जब प्रकाशित हो जायेंगी तब यह लुप्त साहित्य दृष्टिपथ पर आ सकेगा ।



हिन्दी विभाग, पंजाब के तकनीकी कर्मचारी-वर्ग द्वारा ३१-१२-६४ तक कृत कार्य की त्रैमासिक प्रगति रिपोर्ट।

१--अनुवाद अनुभाग :--

इस तिमाही के दौरान में ३३३८ मानक पृष्ठ विभिन्न अधिनियम (Act) संहिता (Code) और नियमपुस्तिकाओं (Manuals) का तथा ७७ विभिन्न विभागों के फार्मों (अर्थात् १५४ मानक पृष्ठ) का हिन्दी में अनुवाद अक्तूबर, नवम्बर और दिसम्बर, इन तीन महीनों में किया गया ।

२--कोष–रचना अनुभाग :--

इस तिमाही के दौरान में कोशों के बारे में निम्नलिखित प्रगति की गई।

(१) संस्कृत-हिन्दी–पंजाबी कोश की १८८२ नयी पर्चियां तैयार की गई और २४९५ शब्द जो कि विभिन्न संस्कृत कोशों से लिये गए उन्हें पुनरीक्षित कर पंजाबी–हिन्दी कोश की दूसरी प्रति के लिए तैयार किया गया ।

(२) हरयाणवी शब्द–कोश तैयार किया गया । २२६ लोक–गीत तथा १२ लोक–कथाओं का सम्पादन किया गया ।

३--विकास अनुभाग :--

हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास एवं प्रसार के लिये हिन्दी निदेशालय का विकास अनुभाग निम्नलिखित योजनाओं द्वारा विशेष कार्य कर रहा है, जिनका ब्यौरा इस प्रकार से है :--

(क) पत्रिकाएं: --

इस तिमाही के दौरान "सप्त सिन्धु" के तीन और "जन–साहित्य" के नेहरू विशेषांक (नवम्बर–दिसम्बर) के कारण दो अंक प्रकाशित हुए । अगले अंकों के लिये डमियां तैयार की गई और प्रेस को भेजी गई।

श्री नेहरू की पुण्य-स्मृति में ४५० पृष्ठों का "जन-साहित्य" का विशेषांक निकाला गया, जिसमें श्री नेहरू के सम्बन्धियों, प्रसिद्ध राजनीतिज्ञों एवं उच्च राजकीय अधिकारियों और सर्वश्रेष्ठ साहित्यकारों द्वारा उनके कर्मठ जीवन और व्यक्तित्व पर उत्तम सामग्री प्रकाशित की गई। आर्ट पेपर में अनेकों रंगीन चित्रों के माध्यम से उनके जीवन की झांकियां प्रस्तुत की गईं। विभिन्न विद्वानों एवं पत्रकारों के द्वारा इस अंक की भूरी भूरी प्रशंसा के पत्र प्राप्त हो रहे हैं, जो आगामी अंकों में प्रकाशित किये जायेंगे।

(ख) साहित्यिक-प्रतियोगिताएँ :--

नवीन लेखकों और कलाकारों को प्रोत्साहन देने तथा जनता में साहित्यिक रुचि जागृत करने के लिए हर वर्ष विभाग की ओर से सारे पंजाब में ज़िला, मण्डल एवं राज्य स्तर पर कविता, वाद-विवाद और नाटक प्रतियोगिताएं करवाई जाती हैं। विजेताओं को विभागीय पत्रिकाएं, चल-विजयोपहार और नकद राशि के रूप में पुरस्कार दिए जाते हैं।

पिछले वर्षों की भांति इस वर्ष भी पंजाब के समस्त अठारह ज़िलों में साहित्यिक प्रतियोगिताएं करवाई गईं, जिनमें १४३ कवियों, १४६ वाद-विवाद और ६२ नाटक की टीमों ने भाग लिया। ज़िला स्तर पर विजेता टीमों ने मण्डल स्तर की प्रतियोगिताओं में भाग लिया, जिसमें २५ कवियों, १६ वाद-विवाद और १४ नाटक की टीमों ने भाग लिया। इस वर्ष साहित्यिक प्रतियोगिताओं में भाग लेने वाली टीमों की संख्या गत वर्षों की टीमों की संख्या से कहीं अधिक है।

(ग) हिन्दी की सर्वोत्तम साहित्यिक कृतियां :--

वर्ष की सर्वोत्तम प्रकाशित पुस्तकों के रूप में पुरस्कार देने के लिये विज्ञान, दर्शन, चिकित्सा और साहित्यिक विषयों पर, पंजाब के लेखकों द्वारा लिखित २२ पुस्तकें प्राप्त हुईं। जांच के पश्चात् पुरस्कार के निर्णयार्थ ये पुस्तकें महानिदेशक महोदय के कार्यालय में भेज दी गईं।

(घ) सर्वोत्तम प्रकाशित पुस्तकों पर पुरस्कार :--

इस वर्ष में पंजाब के प्रकाशकों द्वारा सर्वोत्तम प्रकाशित पुस्तकों के रूप में पुरस्कार देने के लिये १५ पुस्तकें प्राप्त हुईं जो कि जांच के बाद निर्णय के लिये महानिदेशक महोदय के कार्यालय में भेजी गईं।

(ङ) हस्तलिपियां :--

राज्य सलाहकार बोर्ड की विकास विशेषज्ञ कमेटी द्वारा सिफारिश किए गए "हनुमन्नाटक" के सम्पादन की योजना को स्थगित करके उसकी राशि "गीता" के प्रकाशन की योजना पर लगाने का सुझाव रखा गया है ।

(च) ग़ैर-सरकारी हिन्दी संस्थाओं को वित्तीय सहायता :--

इस योजना की राशि सरकार द्वारा राज्य के बाढ़ पीड़ितों के निमित्त प्रदान कर दी गई ।

(छ) स्नातकोत्तर छात्र-वृत्तियां तथा योग्य-छात्र-वृत्तियां :--

स्नातकोत्तर छात्र-वृत्तियों के नए और पुराने केस सैंक्शन के लिये महा-निदेशक महोदय के कार्यालय में भेजे गए।

(ज) मानक-कृतियों का हिन्दी अनुवाद :--

समस्त राशि गीता-प्रकाशन योजना पर लगाने के लिये सुझाया गया-- इसलिये अनुमोदित मानक-कृतियों के अनुवाद का काम स्थगित कर दिया गया ।

(झ) भाषा-विज्ञान में शिक्षा :--

डा० विश्वनाथ प्रसाद जिनका नाम "भारतीय लिपि के विकास" पर भाषण देने के लिये सुझाया गया था, के द्वारा असमर्थता प्रगट करने पर डा० सूर्यकान्त को इसी विषय पर भाषण देने के लिये कहा गया और उन्होंने स्वीकार कर लिया है ।

(ञ) लेखक-गोष्ठी :--

तीन शोध-पत्रों में से डा० संसार चन्द द्वारा लिखा गया शोध-पत्र "चीनी आक्रमण के सन्दर्भ में हिन्दी कविता" टाइप करवाया गया और प्रकाशन के लिये भेज दिया गया । शेष दो विद्वानों को शीघ्र शोध-पत्र भेजने के लिये लिखा गया है ।

● ● ●

नियम

१––जन-साहित्य तथा सप्तसिन्धु में छपने के लिए भेजी जाने वाली सामग्री यथासम्भव सरल, सुबोध तथा सारगर्भित होनी चाहिए ।

२––लेख, कहानी, निबन्ध, आदि सामान्यतः सफेद कागज़ पर, और उसके एक ओर टाइप किये होने चाहिए ।

३––सप्तसिन्धु में शोधपूर्ण लेख तथा जन–साहित्य में सृजनात्मक रचनाएं प्रकाशित होती हैं ।

४––अनुवाद या लिप्यन्तर के साथ मूल लेखक की अनुमति भेजनी आवश्यक है ।

५––लेखकों को लेख प्राप्ति की सूचना प्रायः १५ दिन के अन्दर दे दी जाती है ।

६––अस्वीकृत रचनाओं के सम्बन्ध में सूचना देने का नियम नहीं है ।

७––अस्वीकृत सामग्री लौटाने का नियम नहीं है ।

८––सामग्री के संशोधन एवं प्रकाशन के विषय में सम्पादक का निर्णय अन्तिम माना जाएगा ।

९––लेखों में प्रतिपादित विचारों के लिए सम्पादक उत्तरदायी नहीं होगा ।

१०––समीक्षार्थ पुस्तक की दो प्रतियां भेजनी चाहिएं ।

११––रचना के आरम्भ या अन्त में लेखक का पूरा नाम (अपने हस्ताक्षरों सहित) व पता स्पष्ट लिखा होना चाहिए ।

१२––लेखों, आदि के साथ टिकट न भेजे जाएं ।

१३––रचना के साथ लेखक रचना की मौलिकता और उसके अप्रकाशित होने का एक प्रमाण–पत्र भी भेजेगा ।

१४––लेख साम्प्रदायिक, राजनैतिक, और अश्लील नहीं होना चाहिए । इस तथ्य का प्रतिपादक एक प्रमाण-पत्र रचना के साथ भेजा जाए ।

१५––रचनाओं के गुण–दोष विवेचन पर किसी भी प्रकार का पत्र-व्यवहार या विचार विमर्श नहीं किया जाएगा ।

––सम्पादक

हिन्द की भाषा

यह ख्याल करना कि हिन्दी किसी क्षेत्र विशेष की भाषा है, ठीक नहीं है। प्रत्येक क्षेत्र की अपनी अलग-अलग भाषाएँ हैं, जैसे अवधी, ब्रजभाषा, मैथिली, भोजपुरी आदि। परन्तु उन्होंने अपने कामकाज की भाषा हिन्दी को मान रखा है। इस लिये हिन्दी उत्तर भारतवालों की हो गई, ऐसा सोचना ठीक नहीं है क्योंकि हिन्दी है भाषा पूरे हिन्द की।

फतेहअली हुसेनुद्दीन पालेजवाला
अध्यक्ष,
गुजरात विधान सभा

हिन्दी विभाग, पंजाब के दो अनूठे मासिक प्रकाशन

स प्त सि न्धु



ज न सा हि त्य

शोधपूर्ण एवं आलोचनात्मक साहित्यिक प्रबंधों का एक बोधक संचयन।

व्यंग्य-विनोद एवं सृजनात्मक सरस साहित्य का एक रोचक संकलन।

दोनों पत्रिकाएं डी० पी० आई०, पंजाब, डायरैक्टर पंचायत, पंजाब, तथा संचालक, लोक शिक्षण, मध्यप्रदेश, द्वारा पंजाब के सभी स्कूलों, कालेजों, लायब्रेरियों एवं पंचायतों तथा मध्यप्रदेश के स्कूलों, कालेजों एवं लायब्रेरियों के लिए स्वीकृत हैं।

बढ़िया काग़ज़, सुन्दर छपाई, आकर्षक गेट-अप

प्रत्येक का :—

वार्षिक ६ रुपये एक प्रति ५० पैसे

आज ही निदेशक, हिन्दी विभाग, पंजाब, पटियाला को मनीआर्डर भेजकर ग्राहक बनिए।

श्री लाल सिंह, डायरैक्टर जनरल, भाषा विभाग, पंजाब, पटियाला द्वारा प्रिंटिंग एण्ड स्टेशनरी डिपार्टमैंट, पंजाब, पटियाला से छपवाकर प्रकाशित किया गया।

सम्पादक—डा० परमानन्द

सप्तसिन्धु

फरवरी, १९६५

२९-३-६५

हिन्दी विभाग, पंजाब, पटियाला

५० पैसे

नेहरू अंक--पाठकों की दृष्टि में

उप शिक्षा मन्त्री
भारत
नयी दिल्ली--२
दिसम्बर ३१, १९६४ ई०

प्रिय बन्धु,

आपका १९ दिसम्बर का पत्र संख्या ६५११ प्राप्त हुआ । साथ ही "जन-साहित्य" के नेहरू स्मृति विशेषांक की एक प्रति भी मिली । अनेक धन्यवाद ।

मैं अपना संदेश तो पहले ही भेज चुका हूँ । अब इस सुन्दर प्रकाशन के लिए भी आपको बधाई देता हूँ । आशा है कि आपका विभाग भविष्य में और भी अधिक सफलता प्राप्त कर सकेगा ।

शुभकामनाओं के साथ--

आपका
(भक्त दर्शन)

डा० परमानन्द जी,
निदेशक, हिन्दी विभाग,
पटियाला (पंजाब) ।

---०---

पुरानी बसी,
ज़िला होशियारपुर,
२३-१२-६४

प्रिय डा० परमानन्द जी,

नमस्ते ! आपका भेजा 'जन-साहित्य' का नेहरू स्मृति विशेषांक मिला । उसके लिए बहुत धन्यवाद ।

विशेषांक क्या है, नेहरू जी का जीवन-दर्पण है । उनके जीवन के प्रायः सभी पक्ष इसमें दीख पड़ते हैं । उनके जीवन पर विभिन्न दृष्टियों से जैसा अच्छा प्रकाश इस विशेषांक में डाला गया है वैसा कदाचित किसी दूसरी जगह नहीं मिलेगा । रंगीन सुन्दर चित्रों ने इसे और भी चित्ताकर्षक और उपादेय बना दिया है । ऐसा उत्तम और मनमोहक विशेषांक निकालने के लिए मैं आपको बधाई देता हूँ ।

आपका--
सन्तराम

सप्त-सिन्धु

इमां वाचम् कल्याणीमावदानि जनेभ्यः

सम्पादक--डा० परमानन्द

वर्ष—१२ फरवरी, १९६५ अंक—२

वेद-सुधा

सोम रारन्धि नो हृदि,
गावो न यवसेष्वा ।
मर्म इव स्व ओक्ये ।।

ऋक् १/९१/१३

हे सोम ! (शान्ति-स्रोत परमात्मन्) जैसे जौ खेतों में गौएं रमण करती हैं, और जैसे मानव अपने घर में निवास करता है; वैसे ही आप हमारे हृदयों में निरन्तर रमण करें ।।

● ● ●

लेख-सूची

सम्पादक—डा० परमानन्द

हिन्दी विभाग, पंजाब, पटियाला

डा० हर्मन जेकोबी और जैन-साहित्य

डा० देवेन्द्र कुमार जैन

आदि काल से ही भारतीय श्रमण-संस्कृति अत्यन्त समृद्ध तथा व्यापक रही है । भारतीय तत्त्व-चिन्तन तथा साहित्य-रचना में इस प्रजा का महत्त्वपूर्ण योग-दान रहा है । समाज, राजनीति तथा जीवन-दर्शनों के विविध पक्षों पर श्रमण-संस्कृति के पुरोहित जैन् मनीषियों एवं आचार्यों ने जिस प्रकाश को आलोकित किया है वह आंज भी अपनी ज्योति से ज्योतिर्मान है । समय-समय पर प्रबल झंझाओं के आघात से, काल के क्रूर थपेड़ों से तथा जाति, समाज और सम्प्रदायों के संघर्षों में अविचल रह कर जिन-वाणी ने जिस सत्य और अहिंसा का प्रकाश विकीर्ण किया वह आज तक विश्व के इतिहास-पटल पर स्वर्णाक्षरों से जाज्वल्यमान है ।

प्राचीन काल में इस देश में भाषा, साहित्य, आयुर्वेद, ज्योतिष, कला आदि वाङमय के विविध अंगों में उत्तरोत्तर उन्नति होती रही । सभी प्रजाओं ने मिल कर विभिन्न रूपों में उनका विकास किया । जैनाचार्यों ने प्रत्येक विषय पर मौलिक चिन्तन कर साहित्य-श्री एवं वाङमय को भली भांति समृद्ध बनाया । आज भी जैन भाण्डागारों में जो विपुल जैन-अजैन साहित्य तथा वाङमय उपलब्ध होता है उसे देख कर दांतों तले उंगली दबानी पड़ती है । साहित्य-रचना तथा संरक्षण का जो कार्य जैन साधुओं तथा मनीषियों ने किया है वस्तुतः वह इतिहास की अविस्मरणीय तथा गौरवगाथा ही बन गई है ।

भारतीय वाङमय के सभी प्रकार से सम्पन्न और समृद्ध होने पर भी युग के युग ऐसे अन्धकाराच्छन्न प्रतीत होते हैं जिनमें विभिन्न जातियों के संघर्ष तथा उत्थान-पतन में, राजनैतिक उथल-पुथल में और सामाजिक एवं सांस्कृतिक विघटन में प्रचुर साहित्य विलुप्त हो गया । विभिन्न आक्रान्ताओं से पददलित यह देश धीरे-धीरे अपनी गौरव-गरिमा को धूमिल बनाता रहा और साहित्य के विभिन्न अंगों की प्रायः उपेक्षा सी होती रही । जातीय–संकीर्णता तथा विभिन्न समाजों के दृष्टिकोण दिनोंदिन सीमित होते गये । परिणाम यह हुआ कि हम अपने साहित्य और

दर्शन से दूर होते गये। हमारी हताश और निराश भावना ने हमें दिनोंदिन दुर्बल और चिन्तनीय बना दिया। अतएव उस युग में लिखा जाने वाला साहित्य भी जीवन्त समस्याओं से हट कर वास्तविक लोक-जीवन का आकलन न कर कल्पनाओं तथा पौराणिक जड़ आकृतियों पर निर्भर रहने लगा। स्पष्ट शब्दों में हमारी मान्यताएं दिनोंदिन रूढ़ियों में बंधती गईं और हम वास्तविक बातों से तथा सच्चे जीवन से बहुत कुछ दूर होते गये। इस मध्यकालीन युग के उत्तरकाल (मुगल काल) में हमें अधिकतर ऐसे ही साहित्य का परिचय मिलता है। इस युग में मुख्य रूप से भारतीय पौराणिक साहित्य अधिक लिखा गया, जिसका प्रारम्भ गुप्त युग से हुआ प्रतीत होता है। गुप्त युग के पूर्व का साहित्य अत्यन्त अल्प तथा विरल प्राप्त होता है। भारतीय साहित्य-इतिहास में वह अंधकार पूर्ण युग कहा जाता है जिसका आज तक को क्रमबद्ध रूप उपलब्ध नहीं हो सका है। इतिहास में ऐसे कई वर्षों के छोटे-छोटे युग लक्षित होते हैं जिनमें भारतीय संस्कृति और साहित्य का कोई स्पष्ट चित्र हमें नहीं मिलता।

अतीत काल में भारतवर्ष में धर्म, कला और साहित्य की जो प्रतिष्ठा एवं उन्नति हुई वह आज इतिहास की वस्तु बन गई है। आधुनिक युग में इसे प्रकाशित करने और विश्व के सामने गौरव के साथ रखने का श्रेय वस्तुतः योरोपीय विद्वानों को है। योरोपीय विद्वानों में भी विशेषकर यह श्रेय जर्मन विद्वानों को प्राप्त है, जिन्होंने सुदीर्घ काल से प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं तथा उनमें लिखित साहित्य का अध्ययन कर संसार का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट किया। कहा जाता है कि अब्राहम रोजर नाम के विद्वान ने सन १६५१ में भर्तृहरि के कुछ मधुर श्लोकों का पुर्तगाली भाषा में अनुवाद किया था, जिसे देख कर विदेशी विद्वानों का ध्यान संस्कृत भाषा के प्रति आकृष्ट हुआ था। उसके बाद ही संस्कृत भाषा के प्रति जर्मन विद्वानों का विशेष रूप से ध्यान गया और उन्होंने उसका अध्ययन किया।

आधुनिक युग में भाषा-विज्ञान का प्रमुख केन्द्र प्रमुख रूप से दो-तीन दशकों में जर्मन ही बना रहा। बाद में यह फ्रांस में भी स्थापित हुआ। फ्रांस से इंगलैंड होता हुआ आज यह अमेरिका में प्रगतिशील दिखाई पढ़ रहा है। यद्यपि भाषा वैज्ञानिक प्रथम अध्ययन फ्रांसीसी पादरी कोर्दो (Coeurdoun) से माना जाता है, जिन्होंने सन १७६७ में ग्रीक, लैटिन तथा फ्रेंच आदि भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया था। परन्तु तुलनात्मक भाषा-विज्ञान की नींव डालने वाले सर विलियम जोन्स माने जाते हैं, जिन्होंने १७८६ ई० में इस बात की

घोषणा की थी कि संस्कृत भाषा बनावट में ग्रीक से, समृद्धि में लैटिन से और परिष्कार में सभी भाषाओं से बढ़-चढ़ कर है । शब्द-धातु तथा व्याकरण की दृष्टि से ग्रीक, लैटिन, गाथिक, कैल्टिक तथा प्राचीन फारसी किसी एक मूल स्रोत से निकली हुई जान पड़ती हैं । यद्यपि संस्कृत भाषा का कई विद्वानों ने अध्ययन, चिन्तन और मनन किया, परन्तु जर्मन विद्वान मैक्समूलर ने जिसे तन्मयता और मनोयोग के साथ वेदों का तथा संस्कृत का अनुशीलन किया वह वास्तव में विलक्षण ही था। मैक्समूलर ने अपने जीवन के लगभग छप्पन वर्ष संस्कृत साहित्य के अध्ययन में विशेषकर ऋग्वेद के अध्ययन में विताये थे । इस साहित्य पर जितना अधिक मैक्समूलर ने कार्य किया है संभवतः किसी विद्वान ने आज तक नहीं किया होगा ।

वास्तव में प्राच्य विद्या विशारदों में भारतीय साहित्य और संस्कृति पर शोध एवं अनुसन्धान-कार्य करने वाले आधुनिक युग में विशेष रूप से जर्मन विद्वान उल्लेखनीय हैं । जार्ज फोरर्स्टर, गेटे, ग्रासमान, लुगविग, वान हम्बोल्ट, फ्रेडरिक, श्लेगल, कान्ट और शिलर, राथ, बूलर आदि ऐसे ही विशिष्ट जर्मन विद्वान् थे जिन्होंने भारतीय साहित्य का विशेष रूप से आलोड़न किया था। १८८७ ई० में डा० जे० जी० बूलर ने लगभग पांच सौ जैन ग्रन्थों के आधार पर जर्मन भाषा में जैन धर्म विषयक एक ग्रन्थ लिखा था, जो अत्यन्त प्रसिद्ध हुआ । यद्यपि इसके पूर्व ही जर्मन विद्वानों ने प्राकृत भाषाओं का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया था, किन्तु धर्म और सिद्धान्तों पर प्रकाश डालने वाली कदाचित यह पहली ही पुस्तक थी। प्रो० रिचर्ड पिशेल ने सन् १८७७ में आ० हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण का एक सुसम्पादित संस्करण प्रकाशित किया था । पिशेल महोदय वास्तव में प्राकृत के पाणिनि थे । उन्होंने लगभग २५-३० वर्षों के अथक श्रम से सैंकड़ों प्राकृत ग्रन्थों का अनुशीलन कर समग्र प्राकृतों का व्याकरण तैयार किया, जो १९०० ई० में जर्मनी के स्ट्रास्बुर्ग नगर से प्रकाशित हुई । रिचर्ड पिशेल की पहली पुस्तक "डी कालिदासी काकुन्तली रिकेन्सियोनिबस " सन १८७० ई० में ब्रेजला विश्वविद्यालय से डाक्टरेट के लिये स्वीकृत हुई थी, जिसका प्रकाशन १८७७ ई० में "कालिदासाज् शकुन्तला, द बेंगाली रिसेन्शन विद क्रिटिकल नोट्स" के रूप में कील से हुआ। उन्हीं दिनों "हेमचन्द्राज ग्रैमेटिक डेर प्राकृतश्राखन " लिखी गई, जो हाल नाम के नगर से सन् १८७७-१८८०ई० में दो जिल्दों में प्रकाशित हुई । आ० हेमचन्द्र कृत "देशीनाममाला" भी १८८० ई० में कील से प्रकाशित हुई । "ग्रेमेटिक डेर प्राकृतश्राखन" नामक

पुस्तक स्ट्रासबुर्ग से सन् १९०० ई० में प्रकाशित हुई। इस पुस्तक का अंग्रेज़ी अनुवाद डा० सुभद्र झा ने "कम्पेरेटिव ग्रामर आफ द प्राकृत लेंग्वेज़" नाम से किया है और हिन्दी में डा० हेमचन्द्र जोशी ने "प्राकृत भाषाओं का व्याकरण" नाम से प्रस्तुत किया है, जो बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना से प्रकाशित हो चुका है। वास्तव में पिशेल महोदय ने उपलब्ध प्राकृतों के व्याकरण और अनेक हस्त-लिखित ग्रन्थों के आधार पर प्राकृत-भाषाओं का व्याकरण जिस रूप में प्रस्तुत किया है उससे वह एक अद्‌भुत ग्रन्थ ही बन गया है। वैदिक भाषाओं के मूल उत्स से लेकर नव्य भारतीय आर्यभाषाओं की प्रकृति तथा शब्दरूपों का उन्होंने विशेष रूप से अनुशीलन किया। उन्होंने वैदिक साहित्य का भी यथेष्ट अध्ययन और अध्यापन किया था। प्राकृत भाषाओं के व्याकरण की पूर्ति के रूप में उन्होंने "माटेरिआलिएन् त्सुर केन्टनिस् डेस अपभ्रंश" एक छोटी सी पुस्तक भी लिखी, जिसमें अपभ्रंश का पहली बार स्वतन्त्र रूप से विचार किया गया और जिसका प्रकाशन सन् १९०२ ई० में बर्लिन से हुआ। प्राध्यापक पिशेल महोदय के ये दोनों ही ग्रन्थ मध्य युगीन भारतीय आर्यभाषाओं के स्वरूप को समझने के लिये अत्यन्त उपयोगी तथा महत्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं।

डा० हर्मन जेकोबी भी एक जर्मन विद्वान् थे। पिशेल की भांति भारतीय विद्या के विशेष प्रेमी तथा अध्ययन-अध्यापन में रत रहते थे। जर्मन की बान यूनिवर्सिटी में डा० जेकोबी भारतीय विद्या के प्राध्यापक थे। प्रो० पिशेल ने प्राकृतों के अध्ययन-अध्यापन की जिस नींव को प्रस्थापित किया था डा० जेकोबी ने उसी परम्परा को अग्रसर किया। मुख्य रूप से प्राध्यापक जेकोबी ने जैनागमों का गम्भीर अध्ययन किया। सूत्र ग्रन्थों का अध्ययन और संशोधन तथा सम्पादन ही उनका प्रारम्भिक उद्देश्य था। परन्तु धीरे-धीरे जैन साहित्य में उनकी रुचि विशेष रूप से आकृष्ट होती गई। उन्होंने सब से पहले "उत्तराध्ययनसूत्र" का अध्ययन किया। उस पर उन्होंने एक टीका भी लिखी। टीकाओं में अनेक कथाओं का उल्लेख देख कर उन्होंने कथाओं का एक संग्रह तैयार किया, जो पाठ्य पुस्तक (महाराष्ट्री से चुनी हुई कहानियां)* के रूप में प्रकाशित हुआ। सन् १८८६ ई० में लिपजिक नाम के नगर से "औसगे वैल्ते एर्त्से लिंगन इन महाराष्ट्री" नाम से वह संग्रह प्रकाशित हुआ। इसके इन्ट्रो-डक्शन में महाराष्ट्री प्राकृत के सम्बन्ध में

---

*त्सूर आइनफयूरूंग इन डास स्टूडिउम डेस प्राकृत ग्रामाटीक टैक्स्ट वोएरतरबुख"

विशद विवेचन किया गया है, जिसका अंग्रेजी अनुवाद डा० ए० एम० घाटगे ने किया है और जो "द जैन एन्टिक्वेरी" के अंक में प्रकाशित हो चुका है। अपने इस प्राथमिक वक्तव्य में प्रो० जेकोबी ने वैदिक भाषाओं से लेकर आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं तक के विकास की जिस धारा का ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन किया था और जिस बात को पिशेल महोदय पहले ही अपने "प्राकृतों के व्याकरण" में लिख चुके थे उसी आधार पर उन्होंने अपभ्रंश के बहुविध रूपों की तथा बोलियों की कल्पना की। उन्होंने अपने विचारों को स्पष्ट करते हुए कहा कि भारतीय भाषाएं तीन अवस्थाओं को पार कर चुकी हैं। वे तीन अवस्थाएं हैं—संस्कृत (वैदिक, इपिक और क्लासिकल), मध्यभारतीय या प्राकृत (पालीं, प्राकृत महाराष्ट्री और अपभ्रंश) तथा आधुनिक भारतीय या भाषा। उत्तर बौद्धों की गाथा बोलियों का विचार करते हुए वे कहते हैं कि जिस प्रकार उच्च जर्मन के लोग अपनी प्रवृत्ति के अनुसार निम्न जर्मन की भाषा में बोलते और सोचते हैं उसी प्रकार गाथाओं की प्राकृत भी संस्कृत के अनुरूप लिखी गई, जिससे उस पर संस्कृत का प्रभाव दिखाई पड़ता है। वास्तव में महाराष्ट्री अपने युग की साहित्यिक भाषा रही है। पाली, प्राकृत, और अपभ्रंश ध्वनि, वाक्य-रचना एवं बनावट में एक दूसरे से भिन्न हैं। प्राकृत अलग है और अपभ्रंश अलग। प्राकृत से अपभ्रंश में जटिलता और रूपों की कमी है। महाराष्ट्री प्राकृत का भी अधिकतर प्रयोग जैन-साहित्य में हुआ है। इस प्रकार कई महत्त्वपूर्ण बातों की चर्चा उन्होंने इस ग्रन्थ की भूमिका में की है।

डा० जेकोबी ने प्राकृत वाङमय का विशेष रूप से अनुशीलन किया। अतएव आचारांगसूत्र उत्तराध्ययनसूत्र, कल्पसूत्र, कालकाचार्यकथानक, पउमचरियं और समराइच्चकहा आदि प्राकृत ग्रन्थों के उत्तम रीति से सम्पादित तथा संशोधित संस्करण प्रकाशित किए। "आयारांग सुत्त" का प्रथम संस्करण हर्मन जेकोबी ने लन्दन से १८८२ ई० में प्रकाशित कराया था। "कालकाचार्य कथानकम्" लायमन द्वारा प्रकाशित "त्साईदुंग डेर मौर्गेन लैण्डिशन गेजेल शापट" में सर्वप्रथम प्रकाशित हुआ था। वस्तुतः सम्पादन और प्रकाशन की दृष्टि से इनका विशेष महत्त्व है। परन्तु प्राकृतों का महत्त्व और स्वरूप निर्धारण में जो निष्पक्ष और सूक्ष्म दृष्टि रिचर्ड पिशेल में लक्षित होती है वह इनमें नहीं है। इनका महत्त्व अपभ्रंश-साहित्य की खोज करने में ही विशेष रूप से समाहित है।

पिशेल महोदय के पूर्व देशी-विदेशी विद्वान् यही समझते थे कि प्राकृतों का

विकास–निकास संस्कृत से हुआ है। संस्कृत को प्राकृत का मूल मानने वाले विद्वानों में होएफर, लास्सन, भण्डारकर, और जेकोबी भी सम्मिलित थे [१]। परन्तु पिशेल इसे भ्रमपूर्ण बतलाते हैं। उनका स्पष्ट मत है कि प्राकृत संस्कृत से प्राचीन बोली जाने वाली भाषा है। भाषा की भान्ति ही बीम्स आदि कई भाषाविद् वर्षों तक इस बात को दुहराते रहे कि प्राकृत भाषाएं कृत्रिम तथा साहित्य की भाषाएं हैं। इसी प्रकार का मत अपभ्रंश के संबंध में भी प्रचलित रहा —– स्वयं पिशेल महोदय के सामने अपभ्रंश का कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ न होने से वे इसका विशेष विचार नहीं कर सके। परन्तु प्राकृतों को अनेक बोलियों का उल्लेख और उनके विविध रूपों का उन्होंने विस्तृत विवेचन किया तथा उनका महत्त्व प्रतिष्ठित किया। उनके विचार में अपभ्रंश का साहित्य अवश्य था, परन्तु वह लुप्त हो चुका था। कई विद्वानों की राय में अपभ्रंश बनावटी भाषा थी, जो संस्कृत को तोड़-मरोड़ कर बनाई गई थी। कीथ महोदय इसी मत को बहुत दिनों तक पुष्ट करते रहे। और जब तक अपभ्रंश का साहित्य प्रकाश में नहीं आया तब तक इसी प्रकार की अनेक अटकलें और अनुमान लगाये जाते रहे। यथार्थ में अपभ्रंश-साहित्य को प्रकाश में लाने का श्रेय डा० हर्मन जेकोबी को है।

यद्यपि पिशेल महोदय के पूर्व ही हर्मन जेकोबी जैन साहित्य का महत्त्व प्रतिपादित कर चुके थे, परन्तु "प्राकृत भाषाओं के व्याकरण" से प्रभावित एवं प्रेरित होकर उन्होंने प्राकृत साहित्य की प्रचुरता और अपभ्रंश-साहित्य के अस्तित्व का अनुमान लगा लिया था। और यही धारणा लेकर उन्होंने सन् १९१३–१४ में भारतवर्ष का प्रवास किया। मार्च, १९१४ में अहमदाबाद में एक जैन साधु के पास उन्होंने जीर्ण हस्तलिखित प्रति को देखा। उस कथा की चार-छह पंक्तियों को पढ़ कर जेकोबी अत्यन्त चमत्कृत हुआ। वह हर्ष से उछल पड़ा। उसे उस समय उतना ही आनन्द प्राप्त हुआ जितना कि पुत्र-रत्न प्राप्ति के समय होता है। वह कथाग्रन्थ अपभ्रंश भाषा में महाकवि धनपाल का लिखा हुआ 'भविसयत्तकहा" था। अपभ्रंश के इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की प्रथम परिचिति डा० जेकोबी को मिली। उन्होंने बड़ी कठिनाई से इस कथाकाव्य के कुछ पत्रों की अपने हाथ से प्रतिलिपि की और कुछ की फोटो-कापी तैयार करवाई। कुछ दिनों के बाद सौराष्ट्र के प्रवास में एक दूसरा कथाग्रन्थ प्राप्त हुआ। यह राजकोट के एक साधु

---

१ देखिए, "प्राकृत भाषाओं का व्याकरण", पृ० ८।

विकास–निकास संस्कृत से हुआ है। संस्कृत को प्राकृत का मूल मानने वाले विद्वानों में होएफर, लास्सन, भण्डारकर, और जेकोबी भी सम्मिलित थे १। परन्तु पिशेल इसे भ्रमपूर्ण बतलाते हैं। उनका स्पष्ट मत है कि प्राकृत संस्कृत से प्राचीन बोली जाने वाली भाषा है। भाषा की भान्ति ही बीम्स आदि कई भाषाविद् वर्षों तक इस बात को दुहराते रहे कि प्राकृत भाषाएं कृत्रिम तथा साहित्य की भाषाएं हैं। इसी प्रकार का मत अपभ्रंश के संबंध में भी प्रचलित रहा –– स्वयं पिशेल महोदय के सामने अपभ्रंश का कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ न होने से वे इसका विशेष विचार नहीं कर सके। परन्तु प्राकृतों को अनेक बोलियों का उल्लेख और उनके विविध रूपों का उन्होंने विस्तृत विवेचन किया तथा उनका महत्त्व प्रतिष्ठित किया। उनके विचार में अपभ्रंश का साहित्य अवश्य था, परन्तु वह लुप्त हो चुका था। कई विद्वानों की राय में अपभ्रंश बनावटी भाषा थी, जो संस्कृत को तोड़-मरोड़ कर बनाई गई थी। कीथ महोदय इसी मत को बहुत दिनों तक पुष्ट करते रहे। और जब तक अपभ्रंश का साहित्य प्रकाश में नहीं आया तब तक इसी प्रकार की अनेक अटकलें और अनुमान लगाये जाते रहे। यथार्थ में अपभ्रंश-साहित्य को प्रकाश में लाने का श्रेय डा० हर्मन जेकोबी को है।

यद्यपि पिशेल महोदय के पूर्व ही हर्मन जेकोबी जैन साहित्य का महत्त्व प्रतिपादित कर चुके थे, परन्तु "प्राकृत भाषाओं के व्याकरण" से प्रभावित एवं प्रेरित होकर उन्होंने प्राकृत साहित्य की प्रचुरता और अपभ्रंश-साहित्य के अस्तित्व का अनुमान लगा लिया था। और यही धारणा लेकर उन्होंने सन् १९१३–१४ में भारतवर्ष का प्रवास किया। मार्च, १९१४ में अहमदाबाद में एक जैन साधु के पास उन्होंने जीर्ण हस्तलिखित प्रति को देखा। उस कथा की चार-छह पंक्तियों को पढ़ कर जेकोबी अत्यन्त चमत्कृत हुआ। वह हर्ष से उछल पड़ा। उसे उस समय उतना ही आनन्द प्राप्त हुआ जितना कि पुत्र-रत्न प्राप्ति के समय होता है। वह कथाग्रन्थ अपभ्रंश भाषा में महाकवि धनपाल का लिखा हुआ 'भविसयत्तकहा" था। अपभ्रंश के इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की प्रथम परिचिति डा० जेकोबी को मिली। उन्होंने बड़ी कठिनाई से इस कथाकाव्य के कुछ पत्रों की अपने हाथ से प्रतिलिपि की और कुछ की फोटो-कापी तैयार करवाई। कुछ दिनों के बाद सौराष्ट्र के प्रवास में एक दूसरा कथाग्रन्थ प्राप्त हुआ। यह राजकोट के एक साधु

---

१ देखिए, "प्राकृत भाषाओं का व्याकरण", पृ० ८।

के पास से प्राप्त हुआ । इस ग्रन्थ का नाम "नेमिनाथचरित" था । इसकी हस्तलिखित प्रति ही जर्मन विद्वान् को मिल गई । इस प्रकार अपभ्रंश ग्रन्थों की पहली जानकारी डा० जेकोबी को प्राप्त हुई ।

उन दिनों प्रथम महायुद्ध के विप्लव-बादल चारों ओर मंडराने लगे थे । विश्वव्यापी महायुद्ध प्रारम्भ हो गया था । इसलिये लगभग चार वर्षों तक जेकोबी महोदय कुछ भी नहीं प्रकाशित कर सके । सन् १६१८ ई० में म्यूनिक रायल एकेडमी की ओर से "भविसयत्तकहा" का प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ,जो व्याकरण, शब्द-रचना, शब्दकोष आदि से भली भांति अलंकृत था । एक ही प्रति पर आधारित होने के कारण ग्रन्थ में अशुद्धियों का रह जाना स्वाभाविक ही था । परन्तु परिश्रम बहुत अधिक किया गया था । अपभ्रंश का सर्वप्रथम प्रकाशित होने वाला यही साहित्यिक ग्रन्थ था । इसके तीन वर्षों के पीछे सन् १६२१ ई० में डा० जेकोबी ने आ०. हरिभद्र सूरी कृत "नेमिनाथचरित" के अन्तर्गत "सनत्कुमार चरित" का सुसम्पादित संस्करण प्रकाशित किया । बाद में "संयत्तकहा" गायकवाड़ ओरियन्ट सीरिज, बड़ौदा से १६२३ ई० में सी०डी० दलाल और पी० डी० गुणे के सम्पादकत्व में प्रकाशित हुई । उसके बाद अनेक अपभ्रंश ग्रन्थों का पता लग गया । भारतीय विद्वान् जिन्हें प्राकृत भाषा का समझते रहे वे अपभ्रंश के ग्रन्थ निकले । और तब से कई भारतीय विद्वानों ने अपभ्रंश पर बहुत कार्य किया । परिणाम-स्वरूप लगभग पचास ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं । परन्तु अभी तक लगभग तीन सौ ग्रन्थ अप्रकाशित पड़े हुए हैं । और कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ अज्ञात तथा अनुपलब्ध हैं । वस्तुत मध्ययुगीन भारतीय आर्य-भाषा और साहित्य के प्रतिष्ठापक और पुरस्कर्ता के रूप में पिशेल और डा० हर्मन जेकोबी का नाम सदा स्मरणीय रहेगा । अपभ्रंश के जिस अजान, अज्ञात और उपेक्षित क्षेत्र का उन्होंने उद्घाटन किया वह यथार्थ में चिर अविस्मरणीय रहेगा । और मध्ययुगीन भारतीय साहित्य के इतिहास में उनका नाम स्वर्णाक्षरों से अंकित रहेगा ।

● ● ●

जायसी-कृत कहरानामा

डॉ० मनमोहन सहगल

श्री मलिक मुहम्मद जायसी-कृत रचनाओं में "कहरानामा" एक एसी रचना है, जो अभी कुछ ही वर्ष पूर्व श्री अमर बहादुर सिंह "अमरेश" की लगन और परिश्रम के परिणाम स्वरूप अपने शुद्ध और सुव्यवस्थित परिवेश में प्रकाश में आई है। रचना को पाठकों तक पहुंचाने का श्रेय हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद को है। अतः पुस्तक के सम्बन्ध में कुछ भी कहने से पूर्व, ऐसी भाव-प्रधान व आकर्षक कृति को हिन्दी-प्रेमियों तक पहुंचाने के लिये मैं श्री "अमरेश" व एकेडमी के व्यवस्थापकों का आभार स्वीकार करता हूँ।

"कहरानामा" के शुद्ध पाठ की वर्तमान उपलब्धि से पूर्व "महरी-बाईसी" नाम से कुछ पद डा० माताप्रसाद गुप्त तथा बाद में उन्हीं के चरण-चिह्नों पर चलते डॉ० मनमोहन गौतम ने अपने-अपने जायसी-कृत रचना-संग्रहों में प्रस्तुत किये थे। पर्याप्त अस्पष्टता और भ्रांत शब्द प्रयोग होने के कारण वे दोनों महानुभाव विद्वानों का ध्यान अपेक्षित मात्रा में आकृष्ट न कर सके। वही वस्तु अब कुशल हाथों के माध्यम से संशोधित रूप में जब साहित्य-क्षेत्र में प्रस्तुत की गई, तो उसकी अन्योक्तिपूर्ण दार्शनिक-छटा, सूफियों की मसनवी पद्धति, इश्क-मिज़ाजी बनाम इश्क़-हक़ीक़ी और आत्मा-परमात्मा की मिलन-प्रक्रिया के इतिहास का अमर आलोक अकस्मात कितने ही सुहृदयों को ज्योतित कर गया।

सामान्यतः "कहरा" शब्द कहार जाति के पुरुष तथा "महरी" शब्द उसी जाति की स्त्री (कहारिन) के लिये प्रयोग होते हैं। सम्भवत: पूर्व-अनुसन्धित्सुओं को इसके २२ ही छंद उपलब्ध हुए होंगे, जिससे इस लघु-कृति का नाम "बाईसी" कल्पित हुआ अन्यथा जायसी के ग्रन्थों के नामकरण में "नामा" की परम्परा होने के कारण इसका नाम "कहरानामा" ही अधिक युक्ति-संगत दिखता है, हमारे यहां कहार जाति के मुख्य व्यवसाय लोगों के घरों में पानी भरना, बरतन मांजना, मछली पकड़ना और बेचना आदि है। प्रस्तुत कृति में लेखक ने कहारों के मछली

पकड़ने के व्यवसाय को ही आधार बना कर सांसारिक आत्माओं की मायालोक में प्रवृत्तिमूलकता को झकझोरा है। सुप्त आत्माओं को जगाने के लिये यह एक हल्का सा उद्बोधनशील तथा अन्योक्तिपूर्ण व्यंग्य है--कहारों की बारात, उछल-कूद, नृत्य-गान, विवाह और गौने की सामान्य कथा नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि कुल पच्चीस छंदों की यह लघु–कृति सूफ़ी–लक्ष्य–प्रेम साधना--की ओर बड़ी तेज़ी से बढ़ी है, तथापि लेखक ने समूची अपेक्षाओं को सहृदयतापूर्वक बनाये रखा है।

रचना की थोड़ी-सी गहराई पर उतरते ही एक सुखद रूपक के पीछे का आध्यात्मिक आलोक शत-शत किरणें बिखरा कर चतुर्दिक प्रेम-साम्राज्य स्थापित कर देता है। कहरानामा के २५ में से २४ छंदों में स्थान स्थान पर जो आध्यात्मिक-साधना प्रस्तुत की गई है, उसे क्रमानुसार हम पांच स्थितियों में बांट सकते हैं:—
(क) मोह-बन्धन, (ख) जिज्ञासा,
(ग) अध्यात्मपथ की असुविधाएं,
(घ) अध्यात्म-विवाह (ङ) अद्वैत।

(क) विश्व-रचना कुछ ऐसी योजना के अन्तर्गत हुई है कि आत्मा अपने आसपास की परिस्थितियों में अपने को पूर्णतः भुला देती है। मनुष्य जीवन के भौतिक लक्ष्यों और पार्थिव उपकरणों को जुटाने में संलग्न रहता है, कटु-मधुर अनुभव उसकी तल्लीनता में अधिक तीव्रता पैदा कर देते हैं। आत्मा अपनी यथार्थता दुनियादारी की सबलता में ही महसूस करती है —"यह जग मिट्ठा, अगला किन दिट्ठा" की सदसद-भावना में पड़ी, मोह जाल की मछली बनी आयु-पर्यन्त खिंची चली जाती है। जायसी ने इस स्थिति का चित्रण "कहारों के मछली मारने में संलग्न रहने" के रूपक के माध्यम से किया है। मछली काटने, कांटा लग जाने आदि के कटु अनुभवों से भी वे हतोत्साहित नहीं होते–दिन रात अपनी अपनी नौका लिये मछली मारने में प्रवृत्त रहते हैं।

अति औगाह, थाह–बिनु पाये,
भीजत हाथ किनारे रे।
आगे मिलहिं, बांधि अस धीरज,
राखेहु लाइ जियारे रे।७

० ० ० ०

गोड़िया१ लोभ मरत मछली के,
अमर जाल धरि घाला रे।
बहुत पसार सांठ सुठि थोरा,
परेव जीव कर लाला रे।
जेतना मच्छ आइ कै पैठे,
सो सब जीव फंदावै रे।
पहिना२–प्रान तहां जल तजि कै,
नाहक जीव गंवावै रे।४।
जो विचार बिनु, बूड़ सांस गहि,

१. मछली की एक जाति। २. एक बड़ी मछली।

निससि वेग उतारना रे ।
हाथ न लागि मच्छ कुछ तिन्हके,
बार बार पछिताना रे ।७।

(ख) आखिर संगति के फेर से यह प्रवृत्यात्मक मोह जाल में फंसा मनुष्य जीवन के दूसरे पहलू के प्रति जिज्ञासु हो उठता है : अथाह भव-सागर से पार उतरने की इच्छा उसमें जागृत होती है।

वारि बैठि सो पंथ निहारै,
अहै पार जेहि जाना रे ।
चढ़ा नाव सो पार उतरिगा,
नाहि तौ मनि पछिताना रे ।

परन्तु ऐसे में कोई अपना नहीं बनता। भाई बन्धु सब आंख चुरा लेते हैं। कर्म-धन के बिना नाव में कौन बिठावे ? सत्कर्मों की पूंजी से रहित होने के कारण "केवट" भी सुनी-अनसुनी करता है......

अभि बांह करि ठाढ़ पुकारै,
केवट वेगि न आवसि रे ।
कहैं लोग यह मूरुख अजाना,
बिनु गथ (दाम) चढ़ै न पावसि रे ।

० ० ० ०

तात बन्धु औ मीत संघाती,
सो न मिलै जेहि चाहै रे ।
दरबि हीन मन झुरै अकेला,
को लै तेहि निरवाहै रे ।

जिज्ञासा और तीव्र होती है । डरते डरते मनुष्य संसार के सब अवलंब त्याग कर "एक" में मन लगाता है और भवसागर से पार उतरने की पृष्ठभूमि तैयार करता है । जायसी संदेशात्मक भाव से लिखते हैं --

कहैं मुहंमद धन्य सवाई,
सुनहु मोरि सुधि अैसे रे ।
छांड्हु मोह एक चित्त बांधहु,
पार उतारहि जैसे रे ।

(ग) परन्तु प्यारे की याद में जीवन-यापन का मार्ग इतना सहज नहीं। कांटों से भरा-पूरा यह रास्ता कष्टों, विघ्नों, मायावी आकर्षणों व तस्करों आदि के कारण अत्यन्त दुस्तर है। एक ओर प्रभु मिलन का सुनहला भविष्य होता है, दूसरी ओर से वर्तमान परिस्थितियों का मिथ्या-माधुर्य आत्मा को आकृष्ट करता है, और बेचारी आत्मा उस नवयुवती की भांति उलझन में पड़ जाती है जिसे एक ओर विवाह में पिया के मिलन की उत्सुकता हो और दूसरी ओर से सखियों से बिछुड़ने के विचारमात्र का शोक--कहा भी है....

जेहि संगति पल-घरी न बिछुरिनि,
पिय देखे सोउ भागी रे ।
आपु आपु का सभु कोउ रोई,
गोहनें कोउ न लागी रे ।

सच है कि मार्ग के कष्टों पर विजयोपरान्त आत्मा को पूर्ण-पुरुष की प्राप्ति होगी, परन्तु मार्ग इतना संकरा, टेढ़ा-मेढ़ा और ऊंचा-नीचा है कि आत्मा को स्वयं ही वहां पहुंच सकने में सन्देह होने लगता है । जायसी लिखते हैं कि--

धूम-बरन धूधुर अस देखी,

सोई सजन कै गाऊंरे,
तहं गये बहुतै सुख होई,
जो निबहब यहि ठाऊंरे ।

परन्तु मार्ग का निर्वाह क्योंकर हो ?.....

सघन छिउलिया, अमल ढखुलिया,
भरा बहुत दुख भारी रे ।
नरि सांकरि, नांघत दुख होइहि,
समुझहु मूरुख अनारी रे ।

० ० ० ०

अगम न थाह, नदी अति बाढ़ी,
निर्बाह न सकत कहारा रे ।
मैं जल बिन मुकाम की बटियां,१
परग परग२ पर बटमारा रे ।

जायसी सांसारिक भावना की ओर संकेत करते इन कष्टों के चित्रण में, पति-पत्नी मिलन में विघ्न रूप सास ननद के अत्याचारों, समाज के लोकापचारों और सगे संबंधियों के व्यंग्य उपहासों आदि का वर्णन भी करते हैं ....

सास ननद दोऊ देहैं उठौना,
लाज रहब मुख गोई रे ।
देवर जेठ करे सुठि संका,
निसरि होव नहिं ठाढ़ी रे ।

सामाजिक लोकाचार

खिन खिन कांपौ औ मुख झांपौ,
तहां न आपन कोई रे ।
आइ हमारी, पूजी बारी,
जो कुछ लिखा सो होई रे ।

परन्तु सच्चा जिज्ञासु इतनी जल्दी डगमगाता नहीं, वह तो प्रभु के गुणों पर मोहित होकर सदैव के लिये अपने को समर्पण करने पर तुला होता है............

पिय मोर महरा बहु गुण कहरा,
जो मोहिं दीन्ह गोसाईं रे ।
एकइ कीन्हेउ, और न चीन्हेउ,
दुहुं कस दूसर साईं रे ।

अतः आत्मा को पीहर में नहीं भूलना होगा, अन्यथा ससुराल में वह क्या मुंह दिखाएगी ?

यहि नैहर दिन चारिक रहना
ससुरे जनम निबाहु रे ।

जिज्ञासु आत्मा लाखों कष्टों को धत्ता बता कर भी आध्यात्मिक पथ का त्याग नहीं करती और अन्ततः प्रभु-मिलन की स्थिति को प्राप्त होती है ।

(घ) आध्यात्मिक-विवाह आत्मा की उस स्थिति को कहा जाता है, जो उसे परमात्मा का नैकटय अनुभव करा सके । प्रायः आत्मा जिज्ञासावश ईश्वर की ओर प्रवृत्त हो जब मार्ग की कठिनाइयों व विघ्नों पर विजय प्राप्त करती है, तभी उसे अपने प्रियतम के दर्शन होते हैं—निकटता का आभास पाकर वह उसी से एकात्म स्थापित करना चाहती है । ऐसा करने के लिये उसे भारतीय-सामाजिक—परम्परा की नाईं प्रभु को पति रूप में

---

१. प्रस्थापित मूर्ति ।
२. पग पग पर ।

स्वीकार कर आत्म-समर्पण करना अपेक्षित होता है । तब वह "उसे पा जाती है, जिसे पाने के बाद और कुछ पाना शेष नहीं रह जाता––

मैं पिय पूजा, चहौं न दूजा,
सांची करौं दोहाई रे ।
और जो मधु अस, होइ अधिक रस,
सो तो मोहि न सोहाई रे ।

अब आत्मा को और कुछ सुहाई नहीं देता । वह अपने और पति (परमात्मा) के बीच के सभी आवरण हटा देना चाहती है ।"समागम" ही एकमात्र लक्ष्य रह जाता है । इसी स्थिति में तो पत्नी समूचे रूप से पति की होती है, इसी में उसे आनन्दातिरेक मिलता है, और इसी हेतु वह अनेकानेक माया-बन्धन काट कर यहां तक पहुंची होती है । तब चारों ओर आनन्द का सागर लहरें मारने लगता है—आत्मा नाच उठती है, हर्षोल्लसित अवस्था में उसे सब नृत्य-गान करते ही प्रतीत होते हैं––

हुरुसन, सुरुखन, झांझ मजीरा,
महरी बंसरी बाजे रे ।
सब्द सुहावन अनहद गावन,
महरी बनबन साजें रे ।
पूजा–पानी, दुलहिन आनी,
दूलहा भा असवारा रे ।
० ० ० ०
सेंदूर लै लै महरी दै–दै,
रंगराती सब डोलें रे ।

भा सब भेसू, जानहु केसू,
बचन कोकिला बोलै रे ।

और तब सदैव के लिये पत्नी (आत्मा) पति (परमात्मा) की संगति पा लेती है, जन्म सफल हो जाता है.........

जनम पुनीता, भा संग मीता,
पुरुख जीति, धन हारी रे ।

यहां जायसी यह चेतावनी देना भी नहीं भूलते कि मिलन उसी का स्थायी रहता है, जो पति की आज्ञा में रह कर उसी के प्रेम-पाश में सदा के लिये बन्धी रहती है ––कृष्ण की गोपियां भले अनेक हों, वे कुब्जा के बन गये, केवल प्रेम ही के कारण ......

सेवा करै रहै कर जोरै,
प्रीतम फल रस चाखी रे ।
डरत रहै जो, बहुत लसै सो,
आपुहि कुछ नहिं जाने रे ।
तौ सुख पावै, और पियरावै,
सदा भोग रस मानै रे ।
जो महरी अस, महरी सौ–दस,
रहैं धरे तेहि आसा रे ।
कान्ह चेहेउ जब, तजि गोपी सब,
गे कुब्जा के पासा रे ।

आत्मा परमात्मा का समागम, आत्मा का पूर्ण समर्पण और सुयोग्य प्रेम गुण-बन्धन अपना कर आत्मा जन्म-मरण के चक्र से सदा के लिये छूट जाती

है । यों तो जन्म-मरण, आना-जाना या सुख-दुख का चक्र विधि परिणीत ही है—

कूच मुकाम जाइ फिरि आवन,
विधिनै पंथ चलायो रे ।
दुख-सुख दोऊ, छुट न कोउ,
जग अस जनम गंवायो रे ।

परन्तु समर्पित आत्मा का यह चक्र सदा के लिये समाप्त हो जाता है । वह जग में जन्म गंवाती नहीं, अपितु जन्म का सर्वोत्कृष्ट पुरस्कार पा जाती है ।

(ङ) यहां उसे अद्वैत की स्थिति प्राप्त होती है । आत्मा और परमात्मा दो भिन्न प्रतीक नहीं रह जाते । वे दोनों "एकात्म" हो जाते हैं । आत्मा पूर्णतः परमात्म तत्त्व में अपना अस्तित्व लीन कर देती है ....

कहैं महंमद, तजहु द्वैतवद,
जो एकहुँ चित्त बांधा रे ।
सौति जो दोसरि,१ पाउ न वोसरि,
अस रहु पिय के राधा२ रे ।

अन्त में जायसी भटकी आत्माओं के लिये प्रेम-पथ का संदेश देते हैं । आत्मा के लिये यदि कोई सत्पथ हो सकता है, तो वह केवल प्रेम है । प्रेंम-तत्त्व ही जीवन-सार है । आत्मा इसे ही अपना कर प्रभु-मिलन के मार्ग पर अग्रसर हो सकती है–प्रेम–वंचित कोई भी व्यक्ति भले कितने ही वेद शास्त्रों का ज्ञान पा ले, तन्त्र मंत्र सीख ले, जप-तप, व्रत-उपवास करे, कर्म, ज्ञान या तीर्थ-संध्या में पड़ा रह कर अपना सर्वस्व गला दे , परन्तु वह प्रभु की निकटता तब तक नहीं पा सकता जब तक 'राह-ए-इश्क' पर अपना सर्वस्व बलिदान न कर दे ।

वेद-पुरान भागवत–गीता,
तन्त्र–मन्त्र सब जानेहु रे ।
यामे सार इस्क–पथ जानेहु,
अउर कहावत मानेहु रे ।
हम विचार इस्कै मन लावा,
पावा जो मन भावा रे ।
जो ढिग आवै, सो मत पावै,
कहि–सुनि यहै सिखावा रे ।
जप-तप, बरत–पाट औ तीरथ,
संध्या करि सब छांडा रे ।
भयो न फल कछु आंखिन देखा,
तब इस्कै मन गाड़ा रे ।

कवि ने इसमें किसी नये ही छंद का प्रयोग किया है । प्रत्येक पंक्ति में प्रायः ३० मात्रायें हैं और १६–१४ पर यति दी गई है । परन्तु इसके अपवाद भी विद्यमान हैं; कुछ पंक्तियों में ३२ मात्राएं तथा १८–१४ पर यति और कुछ में ३४ मात्राएं तथा १८–१६ पर यति मिलती है । यों प्रत्येक छंद में प्रायः १४ पंक्तियां हैं, परन्तु १२ पंक्तियों वाले अपवाद भी मौजूद हैं, । अन्तिम छंद तो केवल आठ ही पंक्तियों

---

१. दूसरी ।
२. राधा ।

का है। अनुमान है कि वहां भी १४ ही पंक्तियां होंगी, परन्तु प्रतिलिपि-कर्ता या पांडुलिपि संरक्षक की भूल या उपेक्षा के ही परिणामस्वरूप शेष खो गई होगी। उपमाओं, रूपकों और अन्योक्तियों का सफल चयन तो सूफ़ी काव्य के प्राण हैं। प्रस्तुत कृति में पंक्तियों की पंक्तियां इन्हीं अलंकारों की छटा बिखराये तो असाधारणता क्या !

उपमायें--बेनी गूंदि, भुअंग लजावहु,
रचि-रचि सेंदूर सारेहु रे।
अंजन तैस देहु दोऊ नैनन्ह,
खंजन उपमा पूजै रे।
केहरि-लंक बनी छुद्रावलि,
गूजरि सोभा गूंजै रे।
लीन्ह बसेर ठांउ तस पावा,
फूल भयो जस धामे रे।
बाधक भेख, दीन्ह तेहि जुगुता,
चहुं दिसि कंटवा जामे रे।

रूपक--करिया पौढ़ि, करहुंजनि डोलै,
सबर डाँड लै लावै रे।
खेविनिहि केहेहुं लाइ चित्त खेवै,
गुन गहि तीर लगावै रे।
(करिया—काला सांप, करहुंजनि—महाविषधर)

अन्योक्ति--जेतना मच्छ आइ कै पैठे,
सो सब जीव फंदावै रे।
पहिना-प्रान तहां जल तजि कै,
नाहक जीव गंवावै रे।
कहँ महंमद काल अहेरी,
उन्हते तोऊ न बांचा रे।
जो लै आवा, सो हरि लैगा,
सुनहु बोल यह सांचा रे।

(पहिना—एक प्रकार की बड़ी मछली)

रचना में कहावतों व लोकोक्तियों का प्रयोग भी खूब सिद्ध हस्तता से किया गया है --

(क) बिनु गथ (दाम) चढ़ै न पावसि रे।
(ख) दरबि-हीन मन झुरै अकेला,
को लै तोहि निरवाहै रे।
(ग) जासों कुंजी, ताकी पूंजी।
(घ) दुइ-दुइ लाई जन्म सब जोरा,
आपुहि रहा अकेला रे।
स्वर्ग लाइ धरती सों जोरा,
चांद-सूरिज दुइ कीन्हा रे।
दिन औ रात, भोर औ सांझा,
सेत स्याम दुइ चीन्हा रे।
फिरि इस्त्री-पुरिस भे दोऊ,
ईश्वर गोरै साजै रे।
उठत शब्द, सुनि परत स्वन दुई,
बाजन दुई कर बाजै रे।

वातावरण–चित्रण में भले ही जायसी प्रथम कोटि में कभी नहीं गिने गये, तथापि "कहरानामा" में इसका अपवाद देखने को मिलता है। विवाह-मण्डप में लड़की को पति के हवाले किये जाने के अवसर पर कवि की वाणी मुखरित हो उठी है। शब्दाभिव्यक्ति में जहां रंगीनी है, वहां

ध्वन्यात्मकता का भी बहुत कुछ आभास प्राप्त है।

भुइयां, ठइयां जगत-गोसइयां,
पूजा–पुजि मनाई रे।
आखत आवा, माथ चढ़ावा,
मंडल तैं लै आई रे।
चौक पुराइन, गांठ जोराइन,
चौमुख दीपके बारी रे।
दै दै भांवरि, खेलत साँवरि,
प्रेम-प्रीति उजियारी रे।

मधुयामिनी पर दुल्हिन के दिल की धड़कनों को गिन सकने में जायसी को पर्याप्त सफलता मिलती है।

मानसिक-संघर्ष, भविष्य की कल्पनाओं से उत्पन्न सिहरन और पिया-मिलन के रोमांचक विचारों का सुयोग्य प्रनिपादन कहरानामा में उपलब्ध है।

भावी कल्पनायें और रोमांचक-विचार

बात सुनहु, यक सखी सयानी,
सति बोलौं तुम्ह आगैं रे।
संवरि सेज, पिय की मन डरपै,
खुरुक खुरुक जिय लागै रे।
गीत नाच कछु मनहि न भावै,
हौं इति संका आइन्हि रे।
कंत बांह धरि पूछिहि बतियां,
काइ कहब तेहि ठाइनह रे।
इन्हां जो खेल खेलि सो खेलहु,
उहां खेलि कसि होई रे।
सासु ननद दोउ देहैं उठौना,
लाज रहब मुख गोई रै।

दुल्हन की धड़कनों को भी देखिए......

खिन खिन कांपौ, औ मुख झांपौ,
तहां न आपन कोई रे।
आइ हमारी, पूजी बारी,
जो कुछ लिखा सो होई रे।
कंत पियार, रूप गुन आगर,
हम धनि निगुन अनारी रे।
जब हंसि भेंटब, सब दुख मेटब,
तबही कुसल हमारी रे।

रूप-शृंगार का भी एक नमूना देखें। दुल्हिन की साज सज्जा, वस्त्राभूषण आदि कवि की पैनी दृष्टि का अवलम्ब पाकर कितने आकर्षक हो उठे हैं......

भौंहनि बीच सारंग बनावहु,
दुहु कर कंगन-कलाई रे।
कानन्ह दोऊ कुंडल पहिरावहु,
दामिनी ज्यों चमकाई रे।
बेसर नाक दिपै मनिआरी,
चहुं दिसि मुकुता तारा रे।
कोकिल कंठ, सपूरन अभरन,
सोहत हिरदय हारा रे।
दोऊ कुच बीच लसैं हारावली,
चंपकुसुम की माला रे।
पायजेब सोहै चौरासी,
पायल पांय विसाला रे।१४।

प्रस्तुण कृति में जायसी ने मुख्यतः अवधी भाषा का आश्रय लिया है। जायस में रहने वाले कवि के लिये अपनी समीपवर्ती भाषाओं व बोलियों को पहचानना स्वाभाविक भी था। इसीलिये अवधी की

सहयोगी बोलियों का कुछ प्रभाव भी रचना में देखने को मिलता है। श्री "अमरेश" ने "झुरै" "चौरासीं" (घुंघरू) सरीखे बैसवारी बोली के शब्दों या "हते" आदि ब्र ज भाषा के शब्दों की ओर भी संकेत किया है। परन्तु समूची कृति में ऐसा बहुत कम देखने को मिला है; प्रधानता अवधी–साहित्यिक व अप्रचलित––की ही है, और पर्याप्त परिश्रम से उसका निर्वाह भी किया गया है। इसकी शैली को हम प्रबन्ध-मुक्तक कह सकते हैं। छंदों में कोई इतिवृत्तात्मक शृंखला नही है; तथापि रूपकात्मक पृष्ठभूमि पर वे परस्पर सम्बद्ध प्रतीत होते हैं। कहारों का जीवन चित्रण करते हुए कोई क्रम नहीं अपनाया गया, कहीं व्यवसाय की बात है, तो कहीं विवाह की; कहीं मदिरा पान का चित्रण है, तो कहीं नृत्य-गान का––इनमें सूत्र-बद्धता का नितान्त अभाव कहा जा सकता है। कृति की लाक्षणिक-ध्वनि आध्यात्मिकता की ओर संकेत करती है, उसमें आत्मा-परमात्मा की मिलन-कथा का चित्रण निश्चय ही बहुत कुछ सूत्र-बद्ध दीख पड़ता है। इसीलिये प्रस्तुत रचना की शैली को प्रबन्ध और मुक्तक का सम्मिलित रूप स्वीकार किया जाये, तो विशेष सुविधाजनक रहेगा।

"कहरानामा" में कहीं कहीं विस्तार और अनावश्यक परिगणना की सहायता ली गई है। कहारों द्वारा मछली मारने, लग्नोत्सव पर नृत्य गान करने तथा विभिन्न प्रकार की मछलियों की जातियों के नाम गिनाने में जायसी ने नीरस पद्धति का अनुसरण किया है। छंदों में मात्राओं की कमी-बेशी, प्रायः खटकती है, अलंकार योजना और विभाव-चित्रण भी पद्मावत की टक्कर का यहां उपलब्ध नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि पुस्तक का प्रणयन ही केवल आत्मा-परमात्मा-मिलन के रहस्यात्मक-रूपक बांधने की आकांक्षा से किया गया है। अतएव इसी क्षेत्र में लेखक की सफलता अवश्य दृष्टव्य है।

● ● ●

हरियाणवी : पंजाबी और मेवाती

डा० नानक चन्द शर्मा

पंजाब और विशेष कर पंजाबी के विद्वानों के सम्पर्क से और उन के साथ भाषा विज्ञान सम्बन्धी विभिन्न समस्याओं पर विचार-विनिमय करते समय पता चला कि उनमें से अधिकांश लोगों को पंजाब की विभिन्न उपभाषाओं के सम्बन्ध में पर्याप्त भ्रान्तियां हैं। उनमें से कई एक विद्वानों का खयाल है कि समस्त पंजाब की एक ही भाषा है और वह है 'पंजाबी' तथा 'हरियाणवी' 'बागड़ी' आदि उसी के विभिन्न रूप हैं। ऐसे विद्वानों का कथन एकदम हास्यास्पद ही प्रतीत होता है। कहां पंजाबी और कहां बागड़ी! 'बागड़ी' की सीमाएं यदि पंजाबी की 'मलवई' उपभाषा के साथ टकरा जाती हैं और बागड़ी भाषा-भाषी लोगों का कुछ क्षेत्र पंजाब की भौगोलिक सीमा के अन्तर्गत आ जाता है तो इसका यह अभिप्राय नहीं हो जाता कि वहां के निवासियों की 'बागड़ी' 'पंजाबी' का ही रूपान्तर है। इसी प्रकार 'हरियाणवी की बात है।

'हरियाणवी' मुख्यतः ज़िला रोहतक और जिला हिसार के पूर्वी भाग में बोली जाने वाली उपभाषा है। यह भू-भाग शुष्क है तथा इसका तल समीपस्थ खादर वाले भूभाग के तल की अपेक्षा उभरा हुआ है। इसलिये जार्ज ग्रियर्सन ने इसे भी 'बांगर' कह डाला है। वास्तव में करनाल ज़िले के भूभाग को 'बांगर' कहा जाता है और वहां की बोली में तथा ज़िला हिसार और रोहतक की बोली में अत्यधिक समानता पाई जाती है। सम्भवतः इसी कारण से ग्रियर्सन महोदय ने सारे भूभाग को एक ही आंचल में समेट कर उसकी बोली पर 'बांगरू' का लेबल चस्पाँ कर दिया है। परन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाए तो ये दोनों बोलियाँ अलग अलग हैं। फिर भी 'बांगरू'—चाहे वह पंजाबी के अत्यन्त निकटवर्ती क्षेत्र की भाषा है—अपना अस्तित्व अलग बनाए हुए है और हिन्दी के बहुमूल्य रत्नों में से एक अमूल्य रत्न है। और हरियाणवी ?—यह उपभाषा पंजाबी भाषा-भाषी क्षेत्र से बहुत दूर हट कर मिलने वाली उपभाषा है। विभाजन से पूर्व इस क्षेत्र के निवासियों के लिये 'पंजाबी' एकदम अपरिचित भाषा थी

क्योंकि पंजाबी की किसी भी उपभाषा की सीमाएं हरियाणवी सीमाओं से नहीं टकरातीं । भौगोलिक दृष्टि से चूंकि हरियाणा पंजाब का भाग है—केवल इतने मात्र से यह नहीं कहा जा सकता कि हरियाणे की भाषा 'पंजाबी' का ही रूपान्तर है । अथवा संभव है कि उक्त विद्वद् वृन्द की मान्यता का आधार जार्ज ग्रियर्सन भी रहे हों ।

श्रीयुत ग्रियर्सन महोदय के अनुसार हरियाणवी की शब्दावली पंजाबी की है और व्याकरण मेवाती अथवा अहीरवाटी का ।१ इसी बात को इस तरह भी कहा जा सकता है कि 'हरियाणवी' एक ऐसा बर्तन है कि जिसकी मिट्टी 'पंजाबी' की है तो उसके बाह्याकार को स्थिर करने का काम राजस्थानी कर रही है । यदि इस का अभिप्राय यह है कि हरयाणवी तथा पंजाबी की शब्दावली तो मिलती जुलती है परन्तु इसका उच्चारण राजसथानी के समना है तो यह कथन कुछ सीमा तक सत्य भी हो सकता है वस्तुतः देखा जाए तो समस्त उत्तर भारत की आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की मूलभूत शब्दावली आपस में बहुत ही मिलती जुलती है । परन्तु उच्चारण भेद ही एक ऐसा भेद है जो बहुत से शब्दों को ऐसा रूप प्रदान कर देता है कि जिसके कारण वे शब्द विशुद्ध रूप से भाषा अथवा उपभाषा विशेष के ही जान पड़ने लगते हैं । इसके अतिरिक्त यह कहना कि किसी भाषा का समस्त व्याकरण किसी दूसरी भाषा के व्याकरण से पूर्णतः नियन्त्रित है—एक बाड़ी भारी भूल है । अस्तु, प्रस्तुत अध्ययन से हम देखेंगे कि पंजाबी तथा मेवाती में किस सीमा तक पारस्परिक समानता है और किस सीमा तक वे दोनों भाषाएं हरियाणवी से दूर हैं ।

ध्वनियां—सबसे पहले ध्वनियों को लीजिए । हरियाणवी, मेवाती तथा पंजाबी इन तीनों भाषाओं के ध्वनिग्राम लगभग एक समान हैं । 'ण' तथा ल़ की ध्वनियां राजस्थान, हरियाणा तथा पंजाब

---

१. हरियाणवी के संबंध में जार्ज ग्रियर्सन के विचार निम्नलिखित हैं ।
(a) It is the Vernacular Hindustani of the Upper Doab much mixed with Punjabi & Rajasthani.
—Survey IVol. IX Part P. P. 252.
(b) It is a distinct dialect of western Hindi strongly influenced by Punjabi & Rajasthani.
—Survey Vol. IX, Part I, P. 63.
(c) It is a form of western Hindi influenced in its vocabulary by Punjabi & strongly affected in its grammar by Ahirwati of Gurgaon .. .. ".
—Survey Vol. IX, Part I, P. 66.

की अत्यन्त प्रिय ध्वनियां हैं। साहित्यिक पंजाबी भी 'ण्' तथा 'ल़्' का बहिष्कार पूर्णतः नहीं कर पाई है। इसके अतिरिक्त पंजाबी की 'पुग्राधी' और 'मलवई' उप-भाषा में तो इनका प्रचलन बहुत अधिक है। 'काला', 'माला' 'दाणा', 'राणा', राणों आदि तीनों भाषाओं में समान रूप से पाए जाते हैं। इसी प्रकार 'ड़' भी तीनों की प्रकृति के अनुकूल है। ध्यान रहे कि हरियाणवी तथा मेवाती की अत्यन्त निकटवर्ती भाषा 'ब्रज' में इन तीनों ध्वनियों का अभाव है।

हरियाणवी तथा मेवाती में 'श' के स्थान पर 'स' की प्रधानता है। इसी प्रकार दोनों में य्>ज् और व्>ब बन गया है। पंजाबी इन दोनों से बहुत साम्य रखते हुए भी 'श्' 'य्' 'व्' को अपनाए हुए है। पंजाबी में कहीं-कहीं 'वेर' और 'बेर' (देर) तथा 'विन्हया' और 'बिन्ह्या' (बिंधा) दोनों रूप पाए जाते हैं, और 'श्' का मनमाना व्यत्यय तो पंजाबी के लिए साधारण सी बात है, उदाहरणार्थ शल्गम्> सग्मल् है तो वासना> वाशना (सुगन्ध) है!

पंजाबी, हरियाणवी और राजस्थानी तीनों भाषाओं में अघोष 'ह्' विद्यमान है। 'बांहर' का उच्चारण 'बाह्र' (जिसके पहले अक्षर में आ ह्रस्व है और 'ह' की ध्वनि एक झटके के साथ और अपेक्षाकृत कम सुनाई देती है। पंजाबी तथा हरियाणवी दोनों में एक समान है। पंजाबी के 'बाह्ला', 'काह्ला' तथा 'नैह्र' (नहर) इसी श्रेणी के अन्य उदाहरण हैं। राजस्थानी का 'बोह्लो' 'सोह्णो' आदि भी इसी श्रेणी के हैं।

हरियाणवी और राजस्थानी के ध्वनिग्राम मोटे तौर से एक समान ध्वनि रखते हैं परन्तु पंजाबी के 'घ्' 'झ' 'ध्' और भ्--जबकि ये पद के आरम्भ में पाए जाते हैं, हरियाणवी तथा राजस्थानी के 'घ', 'झ्', 'ध्', तथा 'भ्', से भिन्न हैं। पंजाबी का आरंभिक घ्$=\frac{1}{4}$ क्$+\frac{3}{4}$ ह्, झ्$=\frac{1}{4}$ च्$+1\frac{3}{4}$ ह्, ध्$=\frac{1}{4}$ त्$+\frac{3}{4}$ ह् और भ्$=\frac{1}{4}$ प्$+\frac{3}{4}$ ह्। प्रकारान्तर से इस तथ्य को ऐसे भी कहा जा सकता है कि क्, च् आदि के तुरन्त पश्चात् सघन कंठ्य हकार ध्वनि सुनाई देती है और ध्वनियों का यह सम्मिश्रण नीर क्षीर न्याय से हुआ जान पड़ता है।

रूपभेद--रूप तत्व की दृष्टि से भी तीनों भाषाओं में एक ओर पर्याप्त समानता मिलती है तो दूसरी ओर भिन्नता की भी कमी नहीं है। हरियाणवी तथा पंजाबी आकारान्त हैं तो मेवाती (राजस्थानी) तथा अहीरवाटी ओकारान्त हैं। हरियाणवी तथा मेवाती के इस मूलभूत अन्तर को देख कर ही जार्ज ग्रियर्सन की धारणा गलत दिखाई देने लगती है कि हरियाणवी के व्याकरण पर मेवाती का नियंत्रण रहा है। यदि ऐसी बात होती तो मेवाती

सब से पहले हरियाणवी की आकारान्त पद्धति पर ही आघात करती। हो सकता है कि हरियाणवी तथा राजस्थानी के अन्य रूपों में पाई जाने वाली समानता के आधार पर ही ग्रियर्सन महोदय ने उपर्युक्त बात कही हो। पुरुष वाचक सर्वनामों के रूप केवल राजस्थानी तथा हरियाणवी में ही समान नहीं हैं प्रत्युत पंजाबी के पुरुष वाचक सर्वनामों के रूप भी इन दोनों भाषाओं के रूपों से बहुत मिलते जुलते हैं। पंजाबी में मध्यम पुरुष बहुवचन के रूप दोनों से भिन्न हैं तो हरियाणवी के पुरुष वाचक सर्वनामों के केवल कर्तृ के रूप ही मेवाती से मिलते हैं। विकारी रूप वहाँ भी भिन्न हैं। अन्य सर्वनामों के रूपों में तो तीनों भाषाओं में ही पर्याप्त अन्तर पाया जाता है।

हरियाणवी तथा मेवाती के कारक चिन्ह बहुत सीमा तक समान दिखाई देते हैं। पंजाबी के कारक चिह्न इन दोनों से पर्याप्त भिन्न हैं। यद्यपि तीनों भाषाओं के कृदन्त रूप लगभग समान हैं फिर भी उनका प्रयोग भिन्न-भिन्न प्रकार से होता है। उदाहरणार्थ वर्तमान कालिक कृदन्त का प्रयोग पंजाबी में वर्तमान तथा संभाव्य भविष्यत् आदि कई-एक कालों की रूप रचना में सहायक होता है जबकि हरियाणवी में यह रूप पंजाबी के रूप के समान होते हुए भी अधिकांशत: विशेषण का ही काम देता है या वह 'संयोजक प्रकार' की रचना के लिये प्रयोग में लाया जाता है। हरियाणवी में संभाव्य भविष्यत् आदि के रूप इच्छार्थक रूपों के साथ सहायक क्रियाएं लगा कर बनाए जाते हैं। ऐसी स्थिति में केवल यह देख कर कि हरियाणवी तथा पंजाबी में वर्तमान कालिक कृदन्त के रूप समान हैं, यदि कोई हरियाणवी को पंजाबी से प्रभावित मान बैठे, तो यह उसकी भूल है। इसी प्रकार मेवाती के क्रिया-पद तथा अन्य रूप हरियाणवी तथा पंजाबी के रूपों से पर्याप्त भिन्न हैं।

नीचे तीनों भाषाओं के समानान्तर रूपों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जाता है।

(१) हरियाणवी तथा पंजाबी संज्ञाओं और विशेषणों की संरचना पद्धति आकारान्त है तो मेवाती की ओकारान्त है। हरियाणवी तथा पंजाबी में 'घोड़ा' एक वचन है तथा 'घोड़े' कर्तृ बहुवचन और 'घोड़्यां' विकारी बहुवचन का रूप हैं। मेवाती में 'घोड़ो' एक वचन, 'घोड़ा' बवहुचन' और 'घोड़्याँ', विकारी बहुवचन के रूप हैं। पंजाबी के विशेषण भी वचन विकार को ग्रहण करते हैं (यथा—हरीआं भरीआं गुच्छीआँ) हरियाणवी तथा मेवाती में यह विशेषता विद्यमान नहीं है।

(२) **कारक**: हरियाणवी, पंजाबी तथा मेवाती में कर्ता कारक का चिह्न

मिलता जुलता है, हरियाणवी तथा मेवाती में "नै" और पंजाबी में 'ने'। परन्तु कर्म तथा सम्प्रदान कारक में हरियाणवी तथा मेवाती में कारकचिन्ह 'नै' ही है तो पंजाबी में इसका रूप 'नूं' हो जाता है। हरियाणवी में 'नै' कारकचिन्ह के अतिरिक्त सम्प्रदान में तै, ती, तीं कारक-चिन्हों का प्रयोग भी किया जाता है। अपादान कारक में पंजाबी—ओं प्रत्यय तथा 'तों' परसर्ग से काम लेती है तो हरियाणवी तथा मेवाती में "तै" परसर्ग से काम लिया जाता है। पंजाबी के संबंध कारक के चिह्न दा, दे, दी हैं तो हरियाणवी में का, कै, की, के और मेवाती में को, का (बहुवचन) और की रूप मिलते हैं।

(३) **सर्व-नाम** : हरियाणवी, मेवाती तथा पंजाबी सर्वनामों का स्थूल परिचय ऊपर दिया जा चुका है। यहां उनके रूपों की किंचित्‌सविस्तार जानकारी रोचक रहेगी :

पुरुष वाचक सर्वनाम

	हरियाणवी	मेवाती	पंजाबी
(क) उत्तम पुरुष एक वचन			
कर्तृ	मैं	मैं	मैं
विकारी	म--, मेर--	मुज, मूं, मेर	मं-म-(यथा मत्थों-मेरे से)
संबंध कारक	मेरा आदि	मेरो आदि	मेरा आदि
उत्तम पुरुष बहुवचन			
कर्तृ	हम	हम, हमां	असीं
विकारी	हम, म्हारै	हम, म्हारै	सा--, असा--
संबंध कारक	म्हारा आदि	म्हारो आदि	साड्डा आदि
(ख) मध्यम पुरुष : एक वचन			
कर्तृ	तैं, तोंह, तों	तूं	तूं
विकारी	त--, तेरै	तुज, तूं, तेरै	ते--, तेरे,
संबंध कारक	तेरा आदि	तेरो आदि	तेरा आदि
मध्यम पुरुष : बहुवचन			
कर्तृ	तम, थम	तम, तुम, थम	तुसीं
विकारी	तम-, थम- थारै	तम, थारै	तुहा--
संबंध कारक	थारा आदि	थारो आदि	त्वाहड्डा आदि

अन्य पुरुष के लिये संकेत वाचक सर्वनामों से ही काम लिया जाता है । उनके रूप निम्न लिखित हैं :

यह : एक वचन

कर्तृ	योह, यो, यू,	यो, ओ	एह
	स्त्रीलिंग या	स्त्रीलिंग या	स्त्रीलिंग-
विकारो	इस्, इंह	ऐं--	एह--
संबंध कारक	इसका आदि	ऐं को आदि	एह दा आदि ।

यहु : बहुवचन :

कर्तृ	येह,	ये, ये	एन्हां
विकारी	इन, इन्ह	इन	एन्हां
संबंध कारक	इनका, इन्हका आदि	इनको आदि	एन्हां दा आदि

(घ) वह : एकवचन

कर्तृ	वोह, वो, ओह	वो, वोह, ओ	ओह
	स्त्रीलिंग वा	स्त्रीलिंग वा	स्त्रीलिंग--
विकारी	उस्, उंह	वैं, वैंह	ओह
संबंध कारक	उसका, उंह का आदि	वैं को, वैंह को आदि	ओह दा आदि

वह : बहुवचन

कर्तृ	वेह, वे	वे, वै, वैह	ओन्हां
विकारी	उन, उन्ह	उन	ओन्हां
संबंध कारक	उनका, उन्ह का आदि	उनको आदि	ओन्हां दा आदि

(ङ) अन्य सर्वनाम : संक्षिप्त विवेचन

संबंध वाचक	जो, जोण, जुण	जो, ज्यो	जो, जेहड़ा
प्रश्न वाचक	(क) कोण, कूण	कोण	कोण
	(ख) के	के	की
अनिश्चय वाचक	(अ) को ए	कोई	कोई
	(आ) किम्में	किमैं	कुश, कुझ

(४) **क्रिया के रूप** :—वस्तुतः क्रिया के रूप ही भाषाओं की जान होते हैं। भाषा या उपभाषा को अलग अलग श्रेणियों में रखने वाले कारक चिन्ह सर्वनाम और क्रिया के रूप ही होते हैं। हरियाणवी, मेवाती तथा पंजाबी की क्रियाएं वहुत कम समानता रखती हैं। अधिक विस्तार में न जाकर हम स्थूल दिग्दर्शन मात्र से ही तथ्य के सम्यक् उद्घाटन का प्रयत्न करेंगे ।

(क) **असमापिका के रूप** : हरियाणवी में अधिकांशतः—णा लगा कर निष्पन्न होते हैं परन्तु 'ड़' तथा 'ल' ध्वनियों के बाद कहीं कहीं—ना भी पाया जाता है। यथा जोड़ना और जोड़नां, उजालणा और उजालना । पंजाबी में भी णा लगा कर असमापिका के रूप बनाए जाते हैं परन्तु रकारान्त धातुओं के साथ—ना प्रत्यय ही लगया जाता है यथा—करना, मरना, धरना, जरना (सहन करना) ।

मेवाती में ये रूप—बो या णू लगा कर बनाए जाते हैं यथा व्है बो, होबो, व्हैणू (होना) ।

(ख) कृदन्त रूप

	हरियाणवी	मेवाती	पंजाबी
वर्तमान कालिक	होंद्दा	होतो, व्हेतो	हुंदा
भूतकालिक	होया	हुयो	होया

टिप्पणी :—पंजाबी के भूतकालिक कृदन्त बनाते समय कुछ धातुओं में अनियमितता पाई जाती है और ऐसा प्रतीत होने लगता है कि यहाँ वर्तमान कालिक कृदन्त तथा भूतकालिक कृदन्त में कोई अन्तर नहीं रह गया है। दोनों स्थानों में अन्तर केवल इतना ही पाया जाता है कि एक स्थान पर —दा है तो दूसरे स्थान पर—ता है, यथा पींद्दा, सोंद्दा (वर्तमान कालिक कृदन्त) पीला, सुत्ता आदि (भूतकालिक कृदन्त) परन्तु 'खा' धातु के भूत कालिक कृदन्त में—ता न आकर —दा के साथ हल्की सी हकार ध्वनि मिल जाती है, यथा खाद्हा (खाधा लिखित रूप ।)

(ग) सहायक क्रियाएं :

	हरि		मेवाती		पंजाबी	
	एक बचन	बहुवचन	एक व०	वहु व०	एक व०	बहुव०
उत्तम पुरुष	सूं	सो	हूं	हों	ऐं	आं
मध्यम पुरुष	सै	सो	है, हा	हो	ऐं	ओ
अन्य पुरुष	सै	सैं	है	हैं	ऐ	ऐं

(हन लिखित रूप

सभी पुरुषों पुल्लिग	था	थे	थो, हो,	हा, था	सी सन	
स्त्रीलिंग	थी	थी	ही, थी	ही थी		
	गा	गे	गो	गा	गा	गे
	गी	गी	गी	गी	गी	गी

विशेष : पुआधी में 'सी', 'सन्' सहायक क्रियाओं के स्थान पर था, थी और ता, ती तथा लिंग और वचन भेद किए बिना 'थी' और 'ती' का प्रयोग भी किया जाता है ।

उपरिनिर्दिष्ट विवेचन के पश्चात् किसी विशेष प्रकार की टीका-टिप्पणी की आवश्यकता नहीं रहनी चाहिए । वस्तुस्थिति क्या है ––यह विद्वानों के सम्मुख प्रस्तुत है । जार्ज ग्रियर्सन की धारणा कहां त क समीचीन जान पड़ती है––इसका निर्णय करना उनकी अपनी विवेक शक्ति पर निर्भर करता है । हमारे विचार में इन रूपों को देख कर इतना कहा जा सकता है कि ये तीनों भाषाएं अपने अपने क्षेत्र में स्वतंत्र रूप से विकसित होने वाली भाषाएं हैं और इनके प्राचीन रूप कदाचित् आधुनिक रूपों से भी अधिक समानता रखते होंगे । कुछ एक शब्दों में रूप समानता का होना इस बात का प्रमाण हो सकता है कि ये सभी भाषाएं एक परिवार की ही नहीं अपितु एक ही मूल भाषा का विकसित रूप है तथा अपने अपने क्षेत्र में अलग-अलग ढंग से विकास क्रम चलने के कारण आज उनके रूप में पर्याप्त वैषम्य आ गया है। इनके आधुनिक रूपों को देखते हुए हम यह नहीं कह सकते कि हरियाणवी और पंजाबी की शब्दावली एक है और मेवाती द्वारा हरियाणवी का व्याकरण सर्वथा नियंत्रित रहा है।

● ● ●

रीतिकालीन शृंगार रस के लक्षण-ग्रन्थों के लक्षणों में मौलिकता का अन्वेषण

सुधीन्द्र कुमार

रीतिकालीन साहित्य दो प्रकार का उपलब्ध होता है–(१) रीति-बद्ध तथा (२) रीतिमुक्त । रीतिबद्ध साहित्य भी दो रूपों में विभक्त किया गया है––(ए) लक्षणबद्ध तथा (२) लक्षण-बद्धेतर । लक्षण-बद्ध काव्य में रस, अलंकार पिंगल आदि के ग्रन्थ आते हैं, जिनमें पहले लक्षण देकर तदुपरान्त उदाहरण रूप में सरस कविता रखी गयी है । हमारा विषय-क्षेत्र केवल शृंगार रस के लक्षण ग्रंथों में दिये गये लक्षणों में मौलिकता-प्रदर्शन तक ही सीमित है, इसलिये हम केवल उसी के संबंध में प्रकाश डालेंगे, उदा-हरणों की मौलिकता पर नहीं । इससे पूर्व कि हम लक्षण ग्रंथों के लक्षणों में रीतिकालीन आचार्यों की पराश्रितता अथवा मौलिकता का प्रश्न उठाएं और उनकी पूर्ववर्ती परंपराओं से विशेषता प्रदर्शित करें, हम उन प्रेरक-तत्वों पर दृष्टिपात करना आवश्यक समझते हैं, जिनसे प्रेरित होकर रीतिकाल के आचार्यों ने अपने लक्षण ग्रंथों का निर्माण किया और उदाहरण रूप में केवल शृंगार रस के कवित्तों, सवैयों तथा दोहों को रखा ।

भारतीय वाङ्मय का चरम उत्कर्ष संस्कृत साहित्य में हुआ । साहित्य के प्रत्येक अंग-उपांग पर काव्यशास्त्रियों ने व्यापक रूप से गवेषणात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया । संस्कृत के आचार्य विशुद्ध रूप से दृश्य काव्य और श्रव्यकाव्य का वृहद विवेचन प्रस्तुत करना चाहते थे तथा उसके उपरान्त कुछ प्रतिमान निश्चित करते थे, जिनमें बंध कर ही नाटककार और कवि को अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन करना पड़ता था । वे आचार्य पहले थे, बादकविमें । भरत के पश्चात् मिलने वाल काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में लक्षण देने के पश्चात् उदाहरण अन्य ग्रंथों से उद्धृत किये हुए मिलते हैं । धीरे धीरे स्वरचित उदाहरणों को भी स्थान दिया जाने लगा, किन्तु गौण रूप में । संस्कृत के आचार्य

अपने पूर्ववर्ती आचार्यों का आदरपूर्वक उल्लेख करते हुए अपने नवीन मत स्थापित करते थे । यह दृष्टव्य है कि इन आचार्यों ने काव्य के समस्त अंगों को अपनी समीक्षा का विषय बनाया । चाहे वे अलंकार हों या रस, छन्द हों या शक्तियां, काव्यरूप हों या शैलियां--सभी पर उन्होंने समान रूप से दृष्टि डाली, किसी एक अंग विशेष पर नहीं । हां, भानुदत्त की 'रसमंजरी' से नवीन परंपरा का सूत्रपात अवश्य हुआ, किन्तु उस परंपरा के अनुकरण में अकबरशाह की 'शृंगारमंजरी' ही महत्त्वपूर्ण स्थान पा सकी । उसके पश्चात शृंगार रस के केवल आलंबन विभाव का विशद वर्णन प्रस्तुत करने वाला कोई अन्य लक्षण ग्रंथ प्रकाश में नहीं आया । इस प्रकार जहाँ संस्कृत के आचार्य पूर्ववर्ती ग्रंथों का मंथन तथा मनन करके अपने काव्य-सिद्धान्त निर्धारित करते थे, वहां भावी कवियों के लिये मार्ग निर्देशन भी करते जाते थे । इसके विपरीत हिन्दी के रीतिकवियों में अपने कवित्व तथा पाण्डित्य-प्रदर्शन की भावना प्रमुख थी, जिससे प्रेरित होकर उन्होंने लक्षण ग्रंथों का निर्माण किया । वे अनिवार्य रूप से संस्कृत के विद्वान हुआ करते थे, अतः संस्कृत की शुष्क होती हुई परंपरा को भाषा में पुनर्जीवन देकर उन्होंने आचार्य की पदवी प्राप्त की । उस परंपरा को हरा भरा करने के लिये उन्होंने संपूर्ण सामग्री आधार रूप में संस्कृत से ही ऋण रूप में गृहीत की । उनका कविरूप प्रधान होने के कारण लक्षण अस्पष्ट रह गये और उनके स्वरचित उदाहरण लक्षणों को पूर्णतया स्पष्ट नहीं कर पाये । डा० सत्यदेव चौधरी के अनुसार--'हिन्दी के रीतिग्रन्थकार वस्तुतः कवि पहले थे और आचार्य बाद में । इनका प्रमुख उद्देश्य शृंगार रस परिपूर्ण अथवा स्तुतिपरक कवित्त सवैये लिख कर अपने आश्रयदाता राजाओं से आश्रय एवं पुरस्कार प्राप्त करना था और गौण उद्देश्य उन सुकुमार बुद्धि आश्रयदाताओं, उनके कुमारों एवं पारिषदों को सरल रूप में काव्य शिक्षा देना ।१' रीतिकाल के प्रथम आचार्य केशवदास ने 'कविप्रिया' का निर्माण अपने आश्रयदाता की वेश्या को काव्यशिक्षा देने के उद्देश्य से किया और 'रसिकप्रिया' का निर्माण रसिकों (जोकि आश्रयदाता और उनके दरबारी ही थे) के लिये । इसी प्रकार अन्य आचार्यों ने अपने रसिकों, मित्रों व शिष्यों के लिये अपने अपने लक्षण-ग्रंथों का प्रणयन किया । उन्होंने तर्क पद्धति का आश्रय न लेकर सीधे-सादे ढंग से अपने विवेचन को इस प्रकार प्रस्तुत किया कि उन्हें अधिक गहराई में न जाना पड़े और वे अल्पबुद्धि के व्यक्तियों को काव्यशास्त्र का ज्ञान प्रदान कर आचार्य कहला सकें ।

---

१. हिन्दी रीति-परंपरा के प्रमुख आचार्य-डा० सत्यदेव चौधरी, प्रथम संस्करण, पृ० १६

इन आचार्यों ने विषय का चयन श्रृंगार रस को 'रसराज' सिद्ध करने के लिये किया, यही कारण है कि अधिकांश आचार्यों के लक्षण-ग्रंथ केवल श्रृंगार रस तथा नायक-नायिका-भेद को लेकर निर्मित हुए। इस निर्माण की आधारभूमि संस्कृत के लक्षण ग्रंथों द्वारा तैयार की गयी थी, इस तथ्य की संपुष्टि के लिये कुछ लक्षण - ग्रंथों में पूर्ववर्ती आचार्यों के लिये प्रयुक्त विशेषणों को लीजिये--

केशवकृत 'रसिकप्रिया' में[1]

बरनत हैं सब कोइ, ३।६
कहैं सयाने लोई,
बरनि कहैं कवि कोइ, ३।१८
बरनत हैं कविधीर, ३।४५
कोबिद कहत बखानि, ३।५१
कहत रसिक सिरमौर, ५।३६
कबिनि कै तात, ६।१
कहत हैं कबिराव, ६।२

भिखारीदास कृत 'रससारांश में[2]

बरनत बुद्धि उदार ।।८।।
बरनत हैं सब कोइ ।।१५।।
कहत कबि लोइ ।।६१।।
कहत कबिराव ।।४३२।।

पद्माकर के 'जगद्विनोद' में[3]--

कहत सब लोइ ।।६।।
जुगति जथामति आपनी सुकविन को सिरनाइ ।।१०।।
ताही कों कबि नाइका बरनत बिबिध बिचारि ।।११।।

इन उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि रीतिकालीन आचार्यों ने पूर्ववर्ती लक्षण-ग्रंथकारों का अनुकरण किया। यह अनुकरण यथावत् हो अथवा किंचित् मौलिकताओं के साथ--यह बात तर्क-सिद्ध है कि रीतिकालीन परिप्रेक्ष्य में संस्कृत के लक्षणग्रंथकार ही प्रेरणा-स्रोत रहे।

रीतिकाल में चार प्रकार के लक्षण-ग्रंथ लिखे गये --

(१) काव्य के समस्त अंगों का विवेचन करने वाले लक्षण ग्रंथ, जैसे केशव कृत 'कविप्रिया', देवकृत 'भावविलास' आदि।

(२) अलंकार-संबंधी लक्षण ग्रंथ-- जैसे जसवंतसिंह रचित 'भाषा भूषण', मतिराम कृत 'ललित-ललाम' आदि।

(३) समस्त रसों को विवेच्य विषय बनाने वाले लक्षण ग्रंथ--जैसे केशव-प्रणीत 'रसिकप्रिया', देवप्रणीत 'रसविलास आदि।

---

१. केशव ग्रन्थावली—सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्रथम संस्करण।
२. भिखारी दास ग्रन्थावली—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्रथम संस्करण।
३. पदमाकर ग्रन्थावली

और (४) केवल श्रृंगार रस अथवा नायक-नायिका-भेद का वर्णन करने वाले लक्षण-ग्रंथ—जैसे मतिराम-रचित 'रसराज', भिखारीदास कृत 'श्रृंगारनिर्णय' आदि ।

चौथे प्रकार के लक्षण ग्रंथ तो स्पष्ट ही काव्य के एक उपांग-श्रृंगार रस से संबद्ध हैं और उसके आलंबन तथा उद्दीपन विभाव पर विशेष प्रकाश डालते हैं । आलंबन विभाव में भी नायिका-भेद प्रमुख रूप से विवेचन का विषय बना है ।

समस्त रसों को विवेच्य विषय बनाने वाले लक्षण ग्रंथ समस्त रसों की व्याख्या तो करते हैं, किन्तु प्रधानता श्रृंगार रस को ही देते हैं । ऐसे ग्रंथों का अधिकांश भाग श्रृंगार रस ने घेरा है और अन्य रस संक्षेप में वर्णित हैं ।

प्रथम दो प्रकार के ग्रंथों (अर्थात् काव्य के समस्त अंगों का विवेचन करने वाले तथा अलंकार संबंधी लक्षण -ग्रंथों) में प्रायः सभी उदाहरण श्रृंगार रस-परिपूर्ण रखे गये हैं । विविध काव्य रूपों व अलंकारों की परिभाषा संक्षेप में देकर कुछ उदाहरण देवी-देवता आदि से संबंधित और अधिकांश श्रृंगार रस के विविध रूपों को व्यक्त करने वाले संयोजित किये गए हैं । जहां श्रृंगारेतर रसों की व्याख्या रीतिकालीन आचार्यों ने की है, वहां उन्हीं रसों के उदाहरण रखने अनिवार्य थे, उन रसों के उदाहरणों में श्रृंगार रस उड़ेलना असंभव था । भूषण जैसे कवियों ने वीररस में श्रृंगार रस का सम्मिश्रण अवश्य किया है किन्तु भूषण श्रृंगार रस के लक्षण-ग्रथकार नहीं थे । उनके काव्य की मूल प्रेरणा वीर रस से ही अनुप्राणित थी ।

इस प्रकार समस्त रीतिकालीन लक्षण ग्रंथ कम, अधिक या पूर्ण मात्रा में श्रृंगार रस से संबद्ध हैं । इसका कारण यह है कि जिस परंपरा को अपना कर रीतिकाल में ये लक्षण ग्रंथ रचे गये थे, उसमें भी यही मनोवृत्ति थे । सभी पूर्व-वर्ती आचार्य काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में लक्षण लिख कर अधिकांश उदाहरण श्रृंगार रस के ही रखते थे ।

श्रृंगार रस-संबंधी लक्षण-ग्रंथों के रचयिता इन रीतिकालीन आचार्यों के चार वर्ग हैं—प्रथम वर्ग में वे आचार्य आते हैं, जिन्होंने संस्कृत के अनेक ग्रंथों का अध्ययन करने के पश्चात् अपने ग्रंथों की रचना की । ऐसे आचार्यों में केशव का नाम शीर्ष स्थान पर आता है । उन्होंने 'रसिकप्रिया' के लिये प्रमुख आधार ग्रंथ रुद्रभट्ट के 'श्रृंगारतिलक' को बनाया है । आचार्य विश्व नाथ प्रसाद मिश्र ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी साहित्य का अतीत' (भाग २) के पृष्ठ ३९२ पर लिखा है कि 'रसिक-प्रिया' के आधारभूत ग्रंथ 'नाट्यशास्त्र' 'कामसूत्र' तो हैं ही रुद्रभट्ट के 'श्रृंगार तिलक' का पूरा आधार इसमें ग्रहण किया

गया है । आचार्य मिश्र ने 'रसिकप्रिया' में परिगणित नायिका के पद्मिनी, चित्रणी, शंखिनी तथा हस्तिनी भेदों एवं रति के विविध प्रकारों को लक्षित करके केशव द्वारा 'कामसूत्र' का आधार ग्रहण करना घोषित किया है, किन्तु नायिका के उपर्युक्त चारों भेद वात्स्यायन के 'कामसूत्र' में प्राप्य नहीं हैं और रति के विविध प्रकारों का स्वरूप भी 'कामसूत्र' के अनुसार नहीं है । वस्तुतः केशव की सम्पूर्ण कामशास्त्रीय सामग्री रीतिकाल के लोकप्रिय तथा बहुपाठ्य ग्रन्थ 'रति-रहस्य' पर समाश्रित है । 'रतिरहस्य' समस्त रीतिकालीन आचार्यों का उपजीव्य ग्रथ रहा है । पद्मिनी आदि नायिका-भेद 'रतिरहस्य' में ही सर्वप्रथम प्राप्त होते हैं और 'रसिकप्रिया' में उनके लक्षण तथा रति के विविध प्रकार 'रति रहस्य' के लक्षणो से पूर्ण मेल खाते हैं ।

दूसरा वर्ग उन आचार्यों का है, जिन्होंने भानुदत्त के दोनों प्रसिद्ध ग्रंथों --'रसमंजरी' तथा 'रसतरंगिणी' को ही अपना आधार बनाया । बिना किसी परिवर्तन व परिवर्धन के ही उन्होंने कुछ लक्षणों को दोहों में बांध कर सरल उदाहरण रखने की ओर विशेष ध्यान केन्द्रित रखा है । ऐसे आचार्यों में मतिराम आदि का नाम लिया जा सकता है ।

तीसरे वर्ग के आचार्यों ने संस्कृत तथा हिन्दी--दोनों के पूर्ववर्ती लक्षण ग्रंथों का अध्ययन-मनन करने के उपरान्त अपने ग्रंथों का निर्माण किया । देव और भिखारीदास आदि आचार्यों ने जहाँ एक ओर संस्कृत के कई ग्रंथो से सामग्री ली, वहां केशव की 'रसिकप्रिया' से भी कुछ सहायता ली है । देव के संबंध में आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का कथन है कि देव ने एक ओर केशव की शैली लेकर 'शृंगारतिलक' से अपने को जोड़ा, दूसरी ओर 'रसतरंगिणी' से सहायता ली ।[१] यही बात भिखारीदास के लिये कही जा सकती है ।

चौथे वर्ग में पद्माकर आदि आचार्य आते हैं, जिन्होंने केवल हिन्दी के लक्षण ग्रंथों को आधार बना कर अपने ग्रंथों को प्रस्तुत किया । इस वर्ग के आचार्य आचार्य कम और 'कवि' अधिक हैं । पद्माकर ने मतिराम के रसराजोक्त नायक-नायिका भेद, उद्दीपन तथा अनुभावादि के लक्षणों को यत्किंचित् परिवर्तन के साथ 'जगद्विनोद' में रख दिया है ।

रीतिकालीन आचार्यों का यह वर्ग-विभाजन उनके द्वारा अपने ग्रंथों के लिये गृहीत सामग्री के स्रोतों व अध्ययन के आधार पर किया गया है। प्रत्येक वर्ग के आचार्य के वर्ण्य विषय का विस्तृत विवेचन

---

१. रसिकप्रिया का प्रिया प्रसाद तिलक (भूमिका भाग)—टीका विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० सं०, पृ० १३

करते हुए उनकी नवीनताओं तथा मौलिकताओं का दिग्दर्शन कराना इस लघु निबन्ध में संभव नहीं है, इसलिये हम समग्र रूप से सभी आचार्यों के लक्षण ग्रंथों की विषयगत मौलिकता पर दृष्टिपात करेंगे ।

रीतिकालीन आचार्यों की मौलिकता के विषय में यहां यह कह देना अनुचित न होगा कि इन आचार्यों ने अपने ग्रंथों में यत्किंचित् नवीन स्थापनाएं की हैं, वे मौलिक भले ही न हों, किन्तु परंपरा के प्रतिकूल विशेष स्थान प्राप्त कर लेने के कारण मौलिक ही समझी जानी चाहिएं। उनकी प्रायः सभी मौलिकताओं की खोज हम पूर्ववर्ती साहित्य में कर सकते हैं और तुलनात्मक अध्ययन करने पर इन आचार्यों के अधिकांश तथ्य मौलिक नहीं कहे जा सकते, किन्तु स्वयं रीतिकालीन आचार्यों का पारस्परिक अध्ययन करने पर कई नवीनताएं दृष्टिगत होती हैं । इसी दृष्टिकोण से हम अपना विवेचन प्रस्तुत करेंगे ।

मौलिकता-दर्शन के लिये सर्वप्रथम श्रृंगार रस के रसराजत्व का प्रश्न ही उठाइए । सभी रीतिकालीन आचार्यों ने श्रृंगार रस को 'रसराज' घोषित किया है । प्रमाण के लिये तीन प्रमुख आचार्यों के मत देखिए —

(१) नवहू रस के भाव बहु तिनके भिन्न बिचार ।
सबको केसवदास हरि नायक है श्रृंगार ॥
—रसिकप्रिया, १/१६

(२) जो बरनत तिय पुरुष को कबि कोबिद रतिभाव ।
तासों रीझत हैं सुकबि सो सिंगार रसराव ॥३४२।
—रसराज१

(३) नवरस सब संसार में नवरस में संसार
नवरस सार सिंगार रस जुगुलसार सिंगार ।।
—शब्दरसायन,२ तृतीय प्रकाश

केशव ने नवों रसों का 'नायक' श्रृंगार रस को स्वीकार किया है, मतिराम ने 'रसराव' और देव ने 'नवों रसों का सार' । यह दृष्टव्य है कि 'शब्द रसायन' अलंकार ग्रंथ है, किन्तु उसमें महत्व अलंकार को न देकर श्रृंगार रस को ही दिया गया है । रीतिकालीन आचार्यों के इस मत का स्रोत विद्वज्जन संस्कृत-साहित्य में से खोज कर निकाल सकते हैं । 'अग्निपुराण' तथा भोज के 'सरस्वतीकंठाभरण' और 'श्रृंगार प्रकाश' में श्रृंगार रस को

---

१. रसराज—सं० राम जी मिश्र, प्रथम संस्करण ।
२. शब्द रसायन—सं० डा० जानकीनाथ, द्वितीय संस्करण, पृ० ३० ।

समस्त रसों में श्रेष्ठ और काव्य के लिये अनिवार्य माना गया है। 'शृंगारी चेत्कविः काव्यैर्जातं रसमयं जगत्[१] और शृंगार एवैको रस इति'[२] घोषित करके भोज ने शृंगार रस को काव्य में सरसता लाने के लिये आवश्यक तत्त्व कहा है, किन्तु इससे रीतिकालीन आचार्यों की शृंगार के रसराजत्व की मौलिक देन को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। अग्नि-पुराण कार अथवा भोज ने शृंगार रस को 'रसराज' तो कहा, किन्तु वह परंपरा उन्हीं के ग्रंथों तक ही सीमित रह गयी। अधिकांश परवर्ती आचार्यों ने उसे स्वीकार नहीं किया, जबकि केशव द्वारा पोषित तथा वर्धित परंपरा रीतिकाल के अंत तक निर्बाध चलती रही। एक भी आचार्य ने शृंगार रस के रसराजत्व में शका प्रकट नहीं की। हां, इतना अवश्य है कि शृंगार रस को रसराज सिद्ध करने के लिये संस्कृत के आचार्यों ने तर्क-पद्धति का आश्रय लिया, जब कि हिन्दी के इन आचार्यों में उसका नितान्त अभाव है। सभी रीतिकालीन आचार्यों ने परंपराबद्ध होकर अनुकरण मात्र किया है, तर्कों से प्रमाणित करने में रुचि प्रदर्शित नहीं की।

शृंगार के दो भेद—संयोग और वियोग सभी आचार्यों ने किये हैं। दोनों के अन्य उपभेद केशव और देव आदि कुछ आचार्यों के अतिरिक्त किसी भी आचार्य ने नहीं किये। केशव और देव ने दोनों प्रकार के शृंगार को 'प्रच्छन्न' तथा 'प्रकाश' में विभक्त करके नवीनता का पुट दिया है। केशव का कथन है——

सुभ संजोग बियोग पुनि द्वै सिंगार की जाति।

पुनि प्रच्छन्न प्रकास करि दोऊ द्वै द्वै भांति।

—रसिकप्रिया १/१८

'प्रच्छन्न' संयोग अथवा वियोग वह होता है, जिसके विषय में केवल नायक-नायिका (तथा अंतरंग सखी भी) ही जानते हों। "प्रकाश" संयोग अथवा वियोग के संबंध में सभी व्यक्ति परिचित होते हैं। देव ने 'भवानी विलास' में इन दोनों भेदों का परिगणन मात्र किया है। डा० नगेन्द्र तथा आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ऐसा मानते हैं कि देव ने इन दोनों भेदों को केशव की 'रसिकप्रिया' से गृहीत किया।[३] मिश्र जी का यह भी विचार है कि केशव ने ये भेद रुद्रभट्ट के 'शृंगारतिलक' से ग्रहण किये हैं।[४] इन दोनों भेदों का मूल स्रोत

---

१. सरस्वती कंठाभरण, ५।३
२. शृंगार प्रकाश, (द्वतीय भाग)—सं० G. R. Josyar, १९६४, पृ० ४३०
३. रीतिकाव्य की भूमिका—डा० नगेन्द्र, द्वितीय संस्करण, पृ० १४५
   रसिकप्रिया का प्रियाप्रसाद तिलक (भूमिका भाग), पृ० ११
४. रसिकप्रिया का प्रियाप्रसाद तिलक (भू० भा०), पृ० ११

केवल 'शृंगारतिलक' को ही नहीं माना जा सकता । शृंगार तिलक के आधार ग्रंथ 'काव्यालंकार' में भी ये भेद उपलब्ध होते हैं --

संयोगः संगयोर्वियुक्तयोर्यश्च विप्रलम्भोऽसौ ।।
पुनरप्येष द्वेधा प्रच्छन्नश्च प्रकाशश्च ।१२/६

केशव की मौलिकता केवल यही है कि उन्होंने 'प्रच्छन्न' और 'प्रकाश' भेदों की व्याख्या की और 'रसिकप्रिया' में शृंगार रस के समस्त उदाहरणों को इन दोनों वर्गों के अंतर्गत रखा है । इन भेदों की अलोकप्रियता का कारण यह ज्ञात होता है कि पाठक अथवा श्रोता शृंगार रस की अनुभूति केवल प्रकाश चेष्टाओं से ही कर सकता है, प्रच्छन्न से नहीं । इसी कारण इन्हें महत्त्वपूर्ण न समझ कर अन्य आचार्यों ने इनका त्याग कर दिया है।

संयोग शृंगार की स्थिति के संबंध में देव ने एक सर्वथा नवीन मत स्थापित किया है । उन्होंने लिखा है --

रससिंगार के भेद द्वै हैं बियोग संयोग ।
सो प्रच्छन्न प्रकास कहि द्वै द्वै कहूँ प्रयोग ।।२/१।।
सो पूरब अनुराग अरु, मान प्रवास संयोग ।
बियोग चौबिधि, एक बिधि आनन्द रूप संयोग ।।२/२।।
प्रथम होत दंपतिन के पूर्व अनुराग बियोग ।
अभिलाषादिक रसदसा तापीछे संयोग ।।२/३।।
ते बियोग संयोगते मान प्रवास संसोग ।
यहि बिधि मध्य बियोग के होत शृंगार संयोग ।।२/४।।

--भवानी विलास

अर्थात शृंगार रस के दो भेद हैं--वियोग तथा संयोग । वे कहीं कहीं प्रच्छन्न और प्रकाश इन दो भेदों में विभक्त हैं । शृंगार रस के चार वर्ग होते हैं--पूर्व-अनुराग, मान, प्रवास और संयोग, वियोग चार प्रकार का होता है और आनंददायक संयोग एक प्रकार का दंपति में पहले पूर्वानुराग होता है और अभिलाषा आदि रस-दशाएं उसके पश्चात आती हैं, तदनन्तर संयोग होता है । इसी क्रम से मान, प्रवास तथा करुण के पश्चात संयोग की अवस्थाएं आती हैं । इस प्रकार वियोग के मध्य ही संयोग शृंगार होता है ।

देव का यह मत नूतन तथा परंपरा-विरुद्ध है । शृंगार रस का विवेचन करने वाले संपूर्ण लक्षण ग्रंथों में यह क्रम अप्राप्य है--चाहे वे ग्रंथ संस्कृत के हों अथवा हिन्दी के । संयोग की स्थिति वियोग के उपरान्त आती है, यह नितान्त मनोवैज्ञानिक विश्लेषण है । परस्पर दर्शन अथवा गुण-श्रवण से पहले नायक-नायिका में पूर्वराग का उदय होता है, तदुपरान्त अभिलाषा, चिन्ता आदि कामदशाएं अपना प्रभाव दिखाती हैं और दूत दूती सम्प्रेषण प्रारंभ होता है । निरन्तर प्रयास तथा प्रेम के गंभीर प्रभाव से संयोग

होता है । यह संयोग परिणय के रूप में भी हो सकता है और शारीरिक मिलन के रूप में भी । संयोग के नैरन्तर्य से कभी-कभी मान की अवस्था आ जाती है । मान नायक द्वारा परकीया से संबंध रखने पर अथवा नायिका के रूप-गर्व के कारण होता है । आचार्यों ने मानावस्था अधिकांशतः नायिका की ही दिखायी है । नायिका खंडिता अवस्था में जब नायक का तिरस्कार कर देती है, तब नायक भी मान धारण कर लेता है । इस प्रकार नायक अथवा नायिका मानजन्य विरह में दग्ध होने लगते हैं और पुनः दूत-दूतियां दौड़ाए जाते हैं । दूत-दूतियों के प्रयास से नायक-नायिका का पुनः संयोग होता है । आचार्यों ने वियोग शृंगार का तीसरा कारण 'प्रवास' कहा है । शाप, संभ्रम अथवा कार्य के वशीभूत नायक जब विदेश-गमन के लिये तैयार होता है अथवा प्रस्थान कर देता है, तब पुनः विरह प्रारंभ होता है और प्रत्यावर्तन से नायक-नायिका का संयोग होता है । वियोग के अंतिम कारण 'करुण' अथवा 'शोक' को सभी रीतिकालीन आचार्यों के समान देव ने भी अमंगलकारी स्वीकार करके अवर्ण्य ही रखा है । निष्कर्ष यह है कि देव ने विरह के उपरान्त ही संयोग दशा की स्थिति स्वीकार की है, पहले नहीं ।

विप्रलंभ के प्रथम कारण पूर्वराग के विवेचन में भिखारीदास ने पूर्ववर्ती आचार्यों का अनुकरण करते हुए भी कुछ नवीन भेद दिये हैं । उन्होंने पूर्वानुराग को इस प्रकार वर्गीकृत किया है —[1]

पूर्वानुराग

दर्शनजन्य | श्रवण-जन्य गुण-श्रवण

प्रत्यक्ष दर्शन स्वप्न दर्शन छाया दर्शन माया दर्शन चित्र दर्शन

इन वर्गों में 'छायादर्शन' और 'माया-दर्शन' के अतिरिक्त सभी वर्ग पूर्ववर्ती लक्षणग्रंथों में उपलब्ध होते हैं । 'छाया' और 'मायादर्शन' भिखारीदास की देन प्रतीत होते हैं, किन्तु वे 'साहित्यदर्पण' के 'इन्द्रजालदर्शन' के ही खंडमात्र हैं[2] । भिखारीदास की नवीनता 'इन्द्रजाल दर्शन' को स्पष्ट करने में है । 'इन्द्रजाल' शब्द से किसी चमत्कार अथवा अलौकिक शक्ति का बोध होता है जो विविध छलनाओं से नायक-नायिका में प्रणयांकुर का प्रस्फुटन करती है। भिखारीदास का 'मायादर्शन' वस्तुतः 'इन्द्रजाल दर्शन' ही है । 'छाया' दर्शन भी 'माया' अथवा भ्रम का ही एक

१. शृंगार निर्णय, छंद सं० २८५
२. साहित्य दर्पण ३/१८८-८९

रूप है, किन्तु भिखारीदास ने उसे पृथक् रख कर विप्रलम्भ-वर्णन की परम्परा में एक कड़ी और जोड़ दी। भिखारीदास के इन भेदों को अन्य किसी आचार्य ने नहीं अपनाया।

देव ने भी 'पूर्वराग' का नवीन ढंग से विश्लेषण किया है। उन्होंने पूर्वानुराग की दस कामदशाओं का इस प्रकार वर्गीकृत किया है[1]—

(१) अभिलाषा — श्रवणाभिलाष, उत्कंठाभिलाष, दर्शनाभिलाष, लज्जाभिलाष और प्रेमाभिलाषा।

(२) चिन्ता— अभिलाषचिन्ता, गुप्त चिन्ता, संकल्प चिन्ता और विकल्प चिन्ता।

(३) स्मरण —इसके अंतर्गत देव ने स्तम्भ, स्वेद, रोमांच आदि आठों सात्विक भावों के स्मरण रखे हैं।

(४) गुण-कथन - हर्ष, ईर्ष्या, विमोह तथा अपस्मार।

(५) उद्वेग के तीन कारण बताये हैं—वस्तु, देश तथा काल।

(६) प्रलाप — ज्ञानप्रलाप, वैराग्य प्रलाप, उपदेश प्रलाप, प्रेम प्रलाप संशय प्रलाप, विभ्रम प्रलाप और निश्चय प्रलाप।

(७) उन्माद-मद उन्माद, विमोह उन्माद, विस्मरण उन्माद, विक्षेप उन्माद और वियोग उन्माद।

(८) व्याधि—सन्ताप व्याधि, ताप व्याधि और पश्चात्ताप व्याधि।

(९) जड़ता का कोई उपभेद नहीं किया और

(१०) मरण के संबंध में उन्होंने कहा है—

दसई अवस्था मूरछा कहूँ मरन ह्वै जात।
नीरस जानि न बरनिये, जीवन अति सरसात ।।७/८९।।

—रसविलास

देव ने उपर्युक्त विवेचन में मनोवैज्ञानिक क्रम का ध्यान रख कर जो नवीनताएं स्थापित की हैं, वे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। सभी आचार्यों ने बिना किसी वर्गभेद के दसों कामदशाओं का परंपरागत वर्णन प्रस्तुत कर दिया है, जबकि देव ने सर्वप्रथम इन उपभेदों को जन्म देकर अपने आचार्यत्व को प्रमाणित किया है। 'प्रलाप' के विभेदों से भले ही कोई विद्वान इस कारण असहमत हो सकता है कि श्रृंगार रस में, ज्ञान, वैराग्य की बातें रसिक के भाव-बोध में बाधक होती हैं, किन्तु अन्य सभी भेद मान्य हैं। परवर्ती आचार्यों द्वारा इन भेदों को न अपनाए जाने से देव का महत्त्व कम नहीं हो जाता, वरन् यह निष्कर्ष निकालना अनुचित न होगा कि अन्य आचार्य केवल बंधी बँधाई परिपाटी पर ही चलना चाहते थे

१. द्रष्टव्य 'रसविलास' का सप्तम विलास।

ग्रौर वे मौलिकता तथा विश्लेषण की नवीनता से घबड़ाते थे ।

श्रृंगाररस के भेदोपभेदों में मौलिकता का ग्रंश देखने के पश्चात् ग्रब उसके विभाव-ग्रालंबन तथा उद्दीपन—में रीतिकालीन ग्राचार्यों की नवीनता दृष्टव्य है । ग्रालंबन विभाव में नायिका-भेद इन ग्राचार्यों का प्रिय विषय है । नायिका-भेद में केशव के ग्रतिरिक्त सभी ग्राचार्यों ने 'रसमंजरी' का यथावत ग्रनुकरण किया है, किन्तु भिखारीदास ने 'परकीया' नायिका के विवेचन में कामशास्त्रीय ग्रंथों का ग्राश्रय लेकर परकीया-भेद का विस्तार कर दिया है । उन्होंने 'परकीया' तीन प्रकार की मानीं है——साध्या, दुःसाध्या तथा ग्रसाध्या ।१ 'साध्या' नायिका वृद्धवधू, रोगी-वधू, बालवधू तथा मेले ग्रादि में रुचि रखने वाली स्त्री ग्रादि होती हैं, 'दुःसाध्या' परकीया स्वामी से रक्षित, दृढ़ मनोबल वाली ग्रादि स्त्रियां होती हैं तथा 'ग्रसाध्या' परकीया के संबंध में दास ने कहा है ——

गुरजनभीता, दूतिका-बर्जित, धर्मसभीत ।
ग्रतिकांत्या, खलवेष्टिता गनों ग्रसाध्या भीत ।।६२।।
——रससारांश

इन वर्ग-भेदों के स्रोत खोलने के लिये सरलता के साथ 'रतिरहस्य' के तेरहवें ग्रौर 'पंचसायक' के चौथे ग्रध्याय में वर्णित परस्त्री को वश में करने के उपाय देखे जा सकते हैं । इसी प्रकार 'ग्रनूढ़ा' परकीया के दो भेदों-उदबुद्धा तथा उद्‌बोधिता२ को ग्रकबरशाह के संस्कृत-लक्षणग्रंथ 'श्रृंगारमंजरी' से गृहीत माना जा सकता है, किन्तु भिखारीदास की मौलिकता उसे परंपरा-विरुद्ध ग्रपने लक्षण-ग्रंथ में रख देने में है । परकीया के उपर्युक्त तीनों प्रकारों का वर्णन हिन्दी के काव्यशास्त्र में सर्वप्रथम भिखारीदास ने ही किया है ग्रौर 'श्रृंगारमंजरी' के 'उद्‌बुद्धा तथा 'उद्‌बोधिता' भेदों को भी सर्वप्रथम दास ने ही ग्रपनाया, यद्यपि ये समस्त भेद रीतिकालीन ग्राचार्यों में लोकप्रिय नहीं हुए । चिन्तामणि त्रिपाठी ने ग्रकबरशाह की 'श्रृंगारमंजरी' का ब्रजभाषा-गद्य में रूपान्तर कर ही दिया था, भिखारीदास ने उसका ग्रध्ययन ग्रवश्य किया होगा, ऐसा मेरा ग्रनुमान है ।

ग्रवस्था-भेद से नायिका के ग्राठ भेद संस्कृत के लक्षण -ग्रंथों में किये गए हैं । वे इस प्रकार हैं——प्रोषितपतिका, खंडिता, कलहांतरिता, विप्रलब्धा, उत्कंठिता, वासकसज्जा, स्वाधीनपतिका तथा

---

१. रससारांश, छंद सं० ६१, ६८, ७०

२. रससारांश, छंद सं० ७५

अभिसारिका । 'रसमंजरी' में इनके अतिरिक्त एक नवीन भेद–'प्रवत्स्यत्प्रेयसी भी दिया गया है।१ केशव के अतिरिक्त हिन्दी के सभी आचार्यों ने इन सभी नौ भेदों को ज्यों का त्यों अपना लिया, साथ ही अपना एक नवीन भेद और उत्पन्न कर दिया। वह भेद है–आगतपतिका२।भिखारी-दास ने 'आगतपतिका' से पूर्व नायिका का, एक रूप 'आगच्छत्पतिका' और निर्धारित करके अवस्थाभेद के आधार पर नायिका-भेद को पूर्णता प्रदान की।'आगच्छत्पतिका' भावी प्रिय-मिलन की कल्पना से आह्लादित हो जाती है और प्रिय के आगमन पर प्रसन्नता के कारण विविध प्रकार की चेष्टाएं प्रदर्शित करके 'आगतपतिका' कहलाती है । इन दोनों भेदों का सृजन करके रीतिकालीन आचार्य 'चौर्य कर्म' और सर्वथा अपहरण के आरोपों से किंचित त्राण पा गये ।

शृंगाररस के उद्दीपन विभाव में संस्कृत के आचार्यों ने प्रकृति वन, पर्वत आदि के वर्णनों की व्यवस्था की है । हिन्दी के आचार्यों ने उनके साथ साथ नायक तथा नायिका के सहायकों को भी समाविष्ट कर लिया है। संस्कृत के आचार्यों ने आलंबन-विभाव के उपरान्त ही इन सहायकों पर विचार किया है। रीतिकालीन आचार्यों ने इन सहायकों को शृंगार की उद्दीप्ति में सहायक होने के कारण उद्दीपन में रखा है । दूत, दूती, सखा, सखी, पीठभर्द, विट, चेट, विदूषक आदि सभी सहायकों का वर्णन 'रसमंजरी' पर आधारित है, फिर भी कुछ आचार्यों ने नवीन सहायकों का परिगणन किया है । केशव, देव तथा भिखारीदास ने अपने लक्षण ग्रंथों में जातिसहायकों को भी स्थान दिया है, किन्तु भिखारीदास ने दूती का जो एक नवीन वर्ग दिया है, वह न संस्कृत के आचार्यों ने उपलब्ध हैं और न हिन्दी के। उन्होंने दूसरे के द्वारा भेजी हुई दूती को केवल 'दूती' तथा अपने द्वारा भेज गई दूती को 'बानदूतिका' की संज्ञा से अभिहित किया है --

पठई आवै और की दूती कहिए सोइ ।
अपनी पठई होत है बानदूतिका जोई ।।२३२

--रससारांश

दास ने दूती के तीन भेद--उत्तम, मध्यम तथा अधम--देने के पश्चात् बानदूती के भी तीन वर्ग किये हैं--हित, हिताहित तथा अहित३ । वस्तुतः ये भेद बाल की खाल निकालने की चेष्टा मात्र हैं । दूती की उत्तम, मध्यम तथा अधम

१. रसमंजरी, पृ० १५१

२. रसराज, छंद सं० ११०, रससारांश, छंद सं० ११८,जगविनोद, छंद स० १४२—४४

३. रससारांश, छंद स० १६१

होना प्रेषक का हित, हिताहित और अहित करने वाले कर्मों पर आधारित है। सभी आचार्यों ने यह स्वीकार किया है कि दूती के तीनों भेद उसकी वाणी की मृदुता, कठोरता तथा कटुता और उसके कर्म-फल पर आधारित हैं। हित, हिताहित तथा अहित दूती के कर्म-फल के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है।

उद्दीपन के अन्तर्गत प्रकृति-वर्णन की परंपरा तो सभी आचार्यों को समान रूप से स्वीकार्य है, किन्तु केशव ने कुछ और नवीन उद्दीपन इस प्रकार प्रस्तुत किये हैं :--

अवलोक आलाप परिरंभन नखरददान ।
चुंबनादि उद्दीप हैं मर्दन परस प्रवान ।।६।७।।

--रसिकप्रिया ।

हिन्दी की काव्यशास्त्रीय परंपरा में ये उद्दीपन केशव की देन हैं जो उन्होंने कामशास्त्रीय ग्रंथों से संचित करके, 'रसिकप्रिया' में रखे हैं। केशव के उपर्युक्त उद्दीपक-तत्त्वों में से कुछ को भिखारीदास ने अपनी उद्दीपन-गणना में समाविष्ट कर लिया है--

सुरितु चंद सुरबास सुभ फल अरु फूल समाजु ।
अवलोकन आलाप मृदु सब उद्दीपन साजु ।।२४२।।

--रससारांश

अनुभावों और संचारी भावों की गणना में केशव के अतिरिक्त अन्य रीति-कालीन आचार्यों की मौलिकता दृष्टिगत नहीं होती। 'जृम्भा' नामक नौवां सात्विक भाव 'रसतरंगिणी' से गृहीत है और अन्य भावों के वर्णनों में भी उसी ग्रन्थ का अनुकरण किया गया है। केशव ने अवश्य बोधक हाव को जन्म दिया है। 'बोधक' के संबंध में उनका कथन है--

गूढ़ भावको बोध जहँ के सब औरहि होइ ।
तासों बोधक हाव सब कहत सयाने लोइ ।।६।५४।।

--रसिकप्रिया

'कहत सयाने लोइ' से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि 'बोधक' हाव पूर्ववर्ती आचार्यों की देन है। केशव ने अपने मत को प्रमाणिक बनाने के लिये ही ये शब्द रखे हैं। भिखारीदास ने केशव से इस हाव को अपना कर 'क्रिया चातुर्य' को इसका प्राण माना है।[१]

यदि रीतिकालीन आचार्यों की समस्त मौलिकताओं को एकत्रित करके देखा जाय, तो वह विपुल और प्रशंसनीय है। यह ठीक है कि वे संस्कृत के आचार्यों के समान गंभीर विवेचन प्रस्तुत नहीं कर सके हैं, किन्तु उन्होंने कामशास्त्रीय प्रभावों को ग्रहण करके जिन नवीनताओं को शृंगार रस के विवेचन की परंपरा में जोड़ दिया, वे नितान्त मौलिक और नवीन

---

१. रससारांश, छंद स० २६३

हैं । शृंगार रस के समस्त अवयवों के विश्लेषण में हमें रीतिकालीन आचार्यों में मनोवैज्ञानिक दृष्टि उपलब्ध होती है । निष्कर्ष यह है कि रीतिकाल के समस्त लक्षण -- ग्रंथकारों में मौलिकता और साहित्यिकता का अंश तीन आचार्यों में प्रमुख रूप से मिलता है, वे आचार्य हैं--- (१) केशवदास , जिन्होंने रीति-परंपरा का हिन्दी-साहित्य में प्रवेश करके साहित्य की धारा को नवीन मोड़ दिया, (२) देव, जिन्होंने अधिकाधिक आधारों पर शृंगार के विषयों की कलेवर-वृद्धि की, भले ही वे प्रचलित न हुए और (३) भिखारीदास, जिनकी प्रखर प्रतिभा ने शृंगार रस तथा उसके अवयवों के वर्गीकरण में सृजन शक्ति का परिचय दिया ।

● ● ●



विरोधाभासों का एक निराला व्यक्तित्व-'नवीन'

आर० सी० आनन्द

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' खड़ी बोली के शीर्षस्थ कवियों में से थे। वे राष्ट्रीय काव्य के पुरस्कर्ता, यौवन के मस्ती भरे गायक और रहस्य को गूंथने वाले चिन्तक कलाकार हैं। दिनकर के शब्दों में "नवीन के क्रान्तिगान और रसगान मरने वाले नहीं हैं। उनके भीतर रूढ़ारूढ़ भारत के मन का ताप भरा हुआ है।" इस निर्भीक सेनानी का व्यक्तित्व विरोधाभासों का मञ्जुल समन्वय है।

नवीन हिन्दी के व्यक्तित्व सम्पन्न कवि थे। मन, बुद्धि, शरीर और आत्मिक गुणों की सम्पत्ति के स्वामी! दर्शन मात्र से ही आकृष्ट एवं प्रभावित करने वाले और वाचा से अपने श्रोताओं को मुग्ध कर लेने वाले--ऐसे थे स्वर्गीय नवीन जी। स्वर्गीय दद्दा मैथिलीशरण गुप्त ने नवीन जी के व्यक्तित्व के विषय में लिखा था-- "क्या कहना है उनके व्यक्तित्व का! क्या रूप, क्या वाणी और क्या बोलचाल, उनका सब कुछ आकर्षक था। जैसा विनय वैसा ही अभय।" नवीन जी की शरीर-सम्पदा अपार थी। गौर वर्ण, लम्बा कद, समुन्नत भाल, आजानुबाहु, विशाल नेत्र, घुंघराले रेशमी बाल और सुगठित मांसपेशियां--उनकी यह देह सम्पदा उन्हें प्रकृति से ही प्राप्त थी। साठ वर्ष की आयु में भी उनका भाल तेज से प्रदीप्त रहता था और उनका सुदृढ़ वक्षस्थल उनके पौरुषपुंज का सूचक था। 'गोदान' में होरी का धनिया से यह कथन कि 'मर्द साठे पर भी पाठे होते हैं।' उन पर पूर्णतया चरितार्थ होता था। नवीन जी की रससिक्त हंसी और रसीली आंखें उनके व्यक्तित्व की मादकता और मस्ती को इंगित करती थीं। ऐसी शारीरिक सम्पदा महाप्राण निराला और नवीन आदि कुछ इने-गिने साहित्यकारों को प्राप्त है। शर्मा जी का शारीरिक व्यक्तित्व अनुपम तेज और निराली सजधज से युक्त था। उनकी वेशभूषा उनकी अलमस्ती को प्रकट करती थी।

खान-पान में नवीन जी वृन्दावनलाल वर्मा की तरह थे। अपनी तरुणावस्था में वृन्दावनलाल वर्मा पांच-पांच सेर दूध

पी जाया करते थे और डा० कमलेश लिखते हैं कि उन्होंने एक बार सवा सौ सन्तरे और ढाई सौ आम एक ही बार खाये थे । नवीन जी भी भोजन-प्रिय थे । खाने बैठते तो डट कर खाते । रसोई पकाने वाले महाराज की नाक में दम कर देते । चालीस तक रोटियां खा जाना उनके लिये मामूली बात थी । अन्तिम दिनों में वे खान-पान के मामले में अपरिग्रही हो गये थे ।

विचारों से नवीन क्रान्तिकारी और विद्रोही थे । सामाजिक गतानुगतिका, रूढ़ियों और कुरीतियों से वे आजीवन जूझते रहे । भारतीय समाज की दुर्दशा इन्हीं दोषों के कारण हुई और नवीन ने बहादुर सिपाही की तरह इनसे लड़ना अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया था । 'जूठे पत्ते' और 'विप्लव गान' में कवि के व्यक्तित्व का यह रूप दर्शनीय है । नवीन ओज और क्रान्ति के कवि हैं । राष्ट्रीय कवि मैथिलीशरण गुप्त और चतुर्वेदी जी के व्यक्तित्व में उतनी प्रखरता और विध्वंस का तत्व नहीं, जितना नवीन जी के व्यक्तित्व में प्राप्य था । 'विप्लवगान' उनके क्रान्तिकारी व्यक्तित्व का सुन्दर निदर्शन है जिसमें कवि ऐसी तान सुनना चाहता है जिससे सर्वत्र उथल-पुथल मच जाये और--

'एक ओर कायरता कांपे,
गतानुगति विगलित हो जाये ।
अन्धे मूढ़ विचारों की वह,
अचल शिला विचलित हो जाये ।
नियम और उपनियमों के ये,
बन्धन टूक-टूक हो जायें ।
विश्वभर की पोषक वीणा,
के सब तार मूक हो जायें ।''

नवीन जी के व्यक्तित्व में जो आक्रोश, ओज और गर्जन थी, वह इस अकेली कविता में प्राप्त हो जाती है । उनके व्यक्तित्व का यह सब से महत्त्वपूर्ण पहलू था ।

नवीन जी हर-हमेशा सिपाही बने रहे । अनुशासन का उन्होंने सदैव पालन किया और सिद्धान्तों के लिये वे सदैव लड़ते रहे । लड़ना, जूझना, और कभी हतोत्साहित न होना उनके जीवन का सार है । डा० लक्ष्मीनारायण दुबे के शब्दों में-- "उनका जीवन एक युद्ध था । वे आजीवन लड़ते ही रहे । परिस्थितियों से लड़े, गौरांग महाप्रभुओं से लड़े, भारत की दासता से लड़े, कारावास के विधानों से लड़े, न्याय के प्रश्न पर वे गणेश जी से भी लड़े ।.....साहित्य में भी वे लड़ते हुए दिखलाई पड़ते हैं । नई मान्यताओं की प्रतिष्ठा के लिये उन्होंने इस शस्त्र का यत्र-तत्र सर्वत्र प्रयोग किया । परन्तु इस सेनानी में कहीं भी उच्छृंखलता दिखलाई नहीं पड़ती । वह कहीं भी अपनी विनम्रता की परिधि का उल्लंघन नहीं करता । जिनको माना उनको अन्त तक माना । लड़ाई लड़ते लड़ते माना ।"

नवीन जी का यह लड़ना कितना अद्‌भुत और विरोधाभास पूर्ण है । वे लड़ते थे लेकिन उनमें उदण्डता नहीं थी; वे लड़ते थे निर्भयता और विनीतता के साथ । वे सिद्धान्तप्रिय थे । अपने सिद्धान्तों पर अटल रहना उन्होंने सीखा था । वे वस्तुतः सिद्धान्तों के लिये ही लड़ते थे, पर जिन व्यक्तियों से लड़ते थे उनमें श्रद्धाभाव रखते थे, उन्हें दिल से मानते थे । ऐसी थी नवीन जी की लड़ाई ।

नवीन जी हृदय-सम्पन्न भावुक कवि थे । उन के व्यक्तित्व में बुद्धिपक्ष की अपेक्षा हृदय पक्ष की ही प्रधानता है । यही कारण है कि वे राजनीतिज्ञ होते हुए भी राजनीति के क्षेत्र में आगे नहीं बढ़ सके । भावुक वे बेहद थे—भावुकता में आकर उनका रोना रुकना नहीं जानता था । 'टुक रो लेने दो ज़रा देर' आदि कविताओं में उनकी भावुकता का स्पष्ट परिचय मिल जाता है । ऐसी अवस्था में पौरुष पुंज नवीन मोम की तरह पिगल जाते थे । भावुक व्यक्ति में संवेदनशीलता होती है । नवीन जी आर्त्त व्यक्तियों को देख कर दयार्द्र हो जाते । निराला की तरह वे कितनी बार अपने पैसों को इन निर्धनों में जाकर लुटा आया करते थे । दान करते समय वे कर्ण बन जाते । 'प्रताप' से उन्हें जो कुछ मिलता वे दरिद्रों में बांट आते । स्टेशन पर पहुंच कर टिकट न खरीद कर वे टिकट के पैसे याचकों को दे आते । मांगने वाले के लिये आशुतोष थे । याचक ने हाथ पसारा और नवीन ने उन्हें कुछ न कुछ अवश्य दिया । मन में शायद वे यही समझते थे—

"देनहार कोई और है भेजत सो दिन रैन ।
लोग भरम हम पै करें ताते नीचै नैन ।"

नवीन हिन्दी के फकीर बादशाह थे उनके व्यक्तित्व का यह पहलू निराला से ही समानता रखता है ।

अल्हड़-अक्खड़ और हरफनमौला भी निराला की तरह थे । उनकी अल्हड़ता उनके मादक गीतों में सर्वत्र मुखरित हुई है । यौवन से लेकर जीवन के अन्तिम क्षणों तक वे बेपरवाह ही रहे हैं । एकदम मस्त, मादक और निश्चिन्त । अनुशासन वृत्ति को मानने वाला नवीन एकदम अल्हड़ और अक्खड़—यही इस व्यक्तित्व का निरालापन है, विरोधाभास है । कहीं वे 'बाबा भोलानाथ और कहीं अनुशासन-बद्ध सिपाही !'

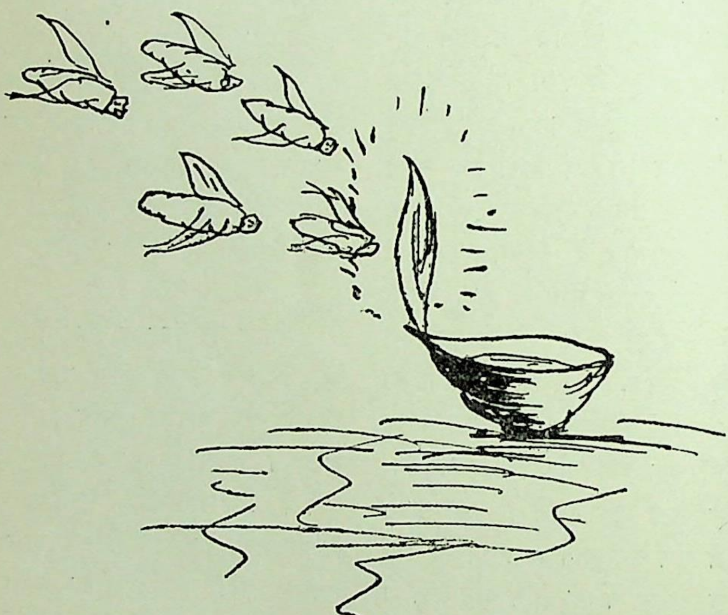
नवीन जी संगीतज्ञ और संगीत-प्रेमी थे । उनका गला भैरव राग गाने के नितान्त उपयुक्त था । कविता-पाठ करते समय वे 'प्राणायाम करते साधक' प्रतीत होते थे और श्रोताओं को अपने उच्चारण से मन्त्रमुग्ध कर लेते थे । निराला और नवीन दोनों झूम-झूम कर गाते थे । वक्तृताओं में उनका तेजस्वी रूप विद्यमान रहता था । मैथिलीशरण गुप्त के शब्दों

में "नवीन वाणी के धनी थे । घण्टों धारा-प्रवाह बोलने की शक्ति उनमें थी ।"

समग्रतः नवीन जी का व्यक्तित्व विरोधाभासों का व्यक्तित्व है । ये कवि और योद्धा थे; वे राजनीतिज्ञ और भावुक थे । वे राष्ट्रीय और सांस्कृतिक गीतों के गायक और प्रेम, मस्ती और वेदना के कवि थे । वे एक ओर हुंकार-गर्जन भरते थे तो दूसरी ओर मृत्यु के गीत गाते थे । नवीन जी भावप्रवण और साहसी एक साथ थे । वे अक्खड़ और विनीत, योद्धा और करुणाशील आदि विरोधी तत्वों का समन्वय थे । हिन्दी साहित्य में नवीन जैसा व्यक्तित्व अब सरलता से प्राप्य नहीं । आज तो हम यही कह सकते हैं—

"तेरी सूरत से किसी की
नहीं मिलती सूरत ।
हम जहाँ में तेरी तस्वीर,
लिए फिरते हैं ।"

● ● ●



पन्त में सांस्कृतिक चेतना

शत्रुघ्न प्रसाद

यदि यह सत्य है कि आधुनिक हिन्दी साहित्य पाश्चात्य संस्कृति तथा साहित्य से प्रभावित है तो यह भी सत्य है कि वह भारतीय संस्कृति के पुनर्जागरण का साहित्य है। द्विवेदी युग तथा छायावाद युग का समस्त साहित्य उसी सांस्कृतिक पुनर्जागरण का काव्यात्मक प्रकटीकरण है। द्विवेदी युग का काव्य पौराणिकता तथा नैतिकता से अनुप्राणित है और छायावादी काव्य दार्शनिकता तथा सांस्कृतिक नवरचना की चेतना से अनुप्रेरित है। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि : छायावाद एक विशाल सांस्कृतिक चेतना का परिणाम था।"[१] इसी सांस्कृतिक चेतना के कारण प्रसाद जी ने समरसतावाद, निराला जी ने अद्वैतवाद और महादेवी वर्मा ने कबीर की परम्परा के रहस्यवाद को प्रस्तुत किया। और, पन्त जी ने प्रकृति की कोमलता तथा विवेकानन्द के विचार को लेकर छायावाद की वीणा को मुखरित किया। बाद में मार्क्स के भौतिकवादी दर्शन पर विचार किया। परन्तु जीवन-दर्शन की सम्पूर्णता भारतभूमि में उत्पन्न अरविन्द के अन्तश्चेतनावाद में मिली। मार्क्सवादी तथा भारतीय दर्शन का द्वन्द्व मिटा। और तब नये युग को मार्गदर्शन दिया। इस तरह पन्त जी का सम्पूर्ण काव्य सांस्कृतिक चिन्तन का फल है। आरम्भ में प्रकृति-पोषित संस्कृति की प्रफुल्ल झांकियां हैं। जैसे वैदिक साहित्य में प्रकृति का प्राणवन्त एवं दिव्य चित्रण है, उसी प्रकार पन्त की आरम्भिक रचनाओं में प्रकृति का विश्वजनीन रूप चित्रित है। इसीलिये श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी ने लिखा है कि:: उसमें शिशु का परम हंस-कण्ठ है, बालयति का गान है।"[२]

तुहिन बिन्दु बन कर सुन्दर,
कुमुद किरण से सहज उतर,
माँ, तेरे प्रिय पद्मों में,

---

१. हिन्दी साहित्य, पृष्ठ ४६०

२. ज्योति विहग पृष्ठ ६

अर्पित जीवन को कर दूं --
इस ऊषा की लाली में !१

सर्वप्रथम भारतीय संस्कृति के अनुकूल वीणावादिनी की वन्दना करते हुए कवि उषा की अरुणिमा में तुहिनविन्दु, बन कर माँ प्रकृति के चरणों में समर्पित हो गया है। वैदिक ऋषि भी उषा के सौन्दर्य पर मुग्ध हो उस हिरण्य गर्भ के पादपद्मों पर प्रणत हो गये थे। यह बाल-यति गेरुवावस्त्र धारण कर और प्रकृति माँ से प्रकाश पाकर संसार का अंधकार दूर करने के लिये कृतसंकल्प हुआ है। काषायवस्त्र धारण, प्रकृति से प्रेरणा-प्राप्ति और लोक-कल्याण की चेतना भारतीय संस्कृति की मुख्य विशेषताएं हैं। और विवेकानन्द इसी संस्कृति के प्रतीक बन कर आये थे। अमेरिका तथा यूरोप की विजय यात्रा के बाद कोलम्बो से होते हुए अलमोड़ा भी पहुंचे थे। कवि का बाल्यजीवन उस महान पुरुष का स्मरण करता है। वह अल्मोड़ा निवासी का अमिट स्मरण है। एक सांस्कृतिक साहित्य-कार की श्रद्धांजलि है जिनसे कवि ने जागृति के गीत गाने की प्रेरणा पायी थी।

वह जागृति का जीवित गीत
अलिबाला गाती सुपुनीत
गूंज उठे इस मधु, सेवा से
दुर्बल हृदयों में नव बल,
जीवन का, जग का मंगल !२

प्रकृति के प्रति प्रेम यौवन सुलभ प्रथम समर्पण में परिणत हुआ। यह प्रेम (रतिभाव) जीवन व सृष्टि का प्रथम संकल्प है जो मानव में मानव के प्रति तादात्म्य की अनुभूति उत्पन्न करता है और सुख-दुःख का उन्माद भी उभारता है अतः कवि कहता है--है यह वैदिकवाद

विश्व का सुखदुखमय उन्माद !
एकतामय है इसका नाद--।३

वस्तुतः रतिभाव वैदिक साहित्य से अनुमोदित है। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में कहा गया है--

कामस्तदग्रे समवर्तताधि
मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।४

अर्थात पुरातन कर्मराशि के बीज रहने के कारण सृष्टि रचना के पहले ईश्वर के मन में संकल्प, उत्पन्न हुआ। अथर्ववेद भी कहता है--

उत्तुदस्त्वोत तुदतु माधृथा शयने स्वे ।
इषुः कामस्य या भीमा तया विध्यामि त्वाहृदि ।।५

अर्थात जब उत्तम रूप से प्रेरणा करने वाला, उत्तेजक काम तुझे व्यथा देता है

---

१. वीणा, गीत सं० २
२. वीणा, गीत सं० ३८
३. पल्लव, उच्छ्वास
४. १०।१२।४
५. १५।१

तब शयन पर नहीं सो सकते । पुत्रैषणा रूप काम का जो भयंकर कामना रूप बाण है उससे मैं (कामशक्ति) हृदय को बींधती हूँ ।

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ।१

श्री कृष्ण ने भी घोषणा की है --

प्रेमी की वियोग-वेदना सोये हुए कवि को जगा देती है । हृदय की आह कविता बन जाती है । बाल्मीकि के मुख से प्रथम लौकिक श्लोक क्रौंचपक्षी के जोड़े में एक के मारे जाने पर करुणा के कारण निकला था । बाल्मीकि आदि कवि बन गये । आदि काव्य की सृजना हुई ।

मा निषादः प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीसमाः
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ।

तो यही काम सृष्टि का कारण है और है काव्य का कारण तथा प्रमुख आलम्बन । देवता कामदेव अनंग होकर मनोज बन गया है । सारा पौराणिक साहित्य इनकी महिमा से मंडित है । तभी तो कवि कहता है--

अहे विश्व-अभिनय के नायक !
अखिल सृष्टि के सूत्राधार !
उर उर की कम्पन में व्यापक !
हे त्रिभुवन के मनोविकार ।२

अनंग ने मेघ तथा हंस को दूत बना दिया । और यमुना के तट पर बांसुरी से अलौकिक संगीत निःसृत हुआ । कवि सांस्कृतिक चेतना अनंग के सांस्कृतिक परिवेश का दर्शन कर सजीव रूप में उपस्थित कर देती है । भारतीय संस्कृति ने औरत को महिला कहा है और उसे देवी के महिमामय शब्द से संबंधित किया है । । साथ ही माता का सर्वाधिक उच्च स्थान प्रदान किया है । पराधीनता तथा रूढ़िवादिता के कारण नारी का स्थान गिर गया था । इस नव सांस्कृतिक जागरण के कारण नारी को फिर से प्रतिष्ठा प्राप्त हुई । कवि ने कहा--'देवि ! माँ ! सहचरि ! प्राण !, अदृष्ट सत्ता में श्रद्धा हमारी सांस्कृतिक चेतना की मूलधारा है वैदिक ऋषि ने प्रकृति की शक्तियों को देख कर परमसत्ता का अनुसन्धान किया था । उस ब्रह्म का द्रष्टा बवना था । छायावाद युग में वही युग कल्पना के आधार पर अवतरित हुआ । पौराणिकता के बदले में औपनिषदक रहस्यवादिता का दर्शन हुआ ।

न जाने, कौन, अये द्युतिमान !
जान मुझको अबोध, अज्ञान,
सुझाते हो तुम पथ अनजान,
फूंक देते छिद्रों में गान; ३

---

१. गीता, सप्तम् अध्याय--११
२. पल्लव , अनंग
३. पल्लव, मौननियंत्रण

जागरण के युग में स्वामी विवेकानन्द ने कहा—"भलाई केलिए भलाई करो, तब पूर्ण अनासक्ति तुम्हें मिलेगी। आत्मा के बन्धन टूट जायेंगे, हमें मोक्ष मिलेगा। इस प्रकार मोक्ष वास्तव में कर्मयोग का लक्षण है।"१ लोकमान्य तिलक ने 'गीता रहस्य' के द्वारा कर्मयोग का सन्देश दिया। निवृत्ति तथा पलायन की अंधचेतना पर ठोकर मारी कवीन्द्र रवीन्द्र ने गाया —

वैराग्य साधने मुक्ति, से आमार नय।
असंख्य बन्धन-माझे महानन्दमय।
लभिब मुक्तिर स्वाद ।२

'सुन्दरम्' से 'शिवम्' की ओर बढ़ते हुए कवि पन्त ने अपनी चिन्तन शील आत्मा का उन्मन गुंजन सुनाया। जीवन-सत्य की अनासक्त अभिव्यक्ति की नये युग के कर्म-प्रेरक प्रवृत्ति मार्ग का संकेत दिया।

तेरी मधुर मुक्ति ही बंधन
गंधहीन तू गंधयुक्त बन,
निज अरूप में भर स्वरूप मन,
मूर्तिमान बन, निर्धन !३

इच्छा को वन्धन का कारण मान कर नष्ट नहीं करना है।' इच्छा से ही सृष्टि हुई है। ब्रह्म ने भी विचारा था—'एकोऽहं वहुस्याम:।' इच्छा से ही जीवन जीवन है। परन्तु जीवन साधनामय हो। इसी लिये कवि ने कहा —

इच्छा है जग का जीवन
पर साधन आत्मा का धन ।४

कवि संस्कृति के स्वर्गिक स्पर्शों तथा उच्चादर्शों का प्रेमी है। फलस्वरूप उसे ईश्वर पर विश्वास है और साथ ही जग-जीवन में आस्था। इसीलिये वह विश्व को नवजीवन देने के लिये आकुल है। वह मानव जीवन का आनंदमय बनाने के लिये सुन्दर विश्वासों का धरातल निर्मित करना चाहता है। सुख तथा दुःख में सम-दृष्टि उत्पन्न करना चाहता है और सम्पूर्ण सृष्टि को सजीव तथा सप्राण समझता है। उपनिषद् का ऋषि भी कहता है—

"एको देव: सर्वभूतेषु गूढ़: सर्वव्यापी
सर्वभूतान्तरात्मा ।"५

और एक स्थान पर कहता है —

"यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मान्येवानुपश्यति
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ।।६

'चांदनी' नामक कविता में कवि पन्त ने ब्रह्म के अनिर्वचनीय रूप को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। चाँदनी में सारी

---

१. कर्मयोग— सन्मार्ग प्रकाश पृ० ११६
२. गीताञ्जलि —प्रभात प्र० —गीत ६३
३. गुंजन गीत सं० १
४. गुंजन, गीत सं०
५. श्वेताश्वतरोपनिषद् ६।११
६. ईशोपनिषद् —६

सृष्टि है और सारी सृष्टि चाँदनीमय है। वह परम चेतना ही चाँदनी में साकार हो गयी है । उपनिषद का ऋषि भी घोषणा करता है —

ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत् ।"१

'गुंजन' का चिन्तन दूसरी ओर मुड़ा कवि ने महसूस किया कि इस युग में रोटी की समस्या प्रमुख है । सामाजिक तथा आर्थिक शोषण से समाज संत्रस्त है । शोषित तथा पददलित को संस्कृति का सन्देश देना अनुचित है । कवि मार्क्सवाद की ओर आकृष्ट हुआ । शोषित को संभालने केलिये अग्रसर हुआ । तथापि कवि के मन में द्वन्द्व चलता रहा कि मात्र भौतिकता के आधार पर नयी संस्कृति का निर्माण नहीं हो सकता । इसी लिये वह सावधान करता है—

आत्मवाद पर हँसते हो भौतिकता का रट नाम ?
मानवता की मूर्ति गढ़ोगे तुम सँवार कर चाम ? २

कवि को विश्वास है कि भूतवाद तथा आत्मदर्शन के समन्वय से नयी मानवता की रचना हो सकेगी । गांधी जी के सत्य, अहिंसा तथा प्रेम के सिद्धान्तों को ग्रहण करना होगा । इसीलिये वह मार्क्स को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए पूज्य बापू को नव संस्कृति का दूत कह कर श्रद्धा निवेदित करता है । वह मार्क्सवाद तथा गांधीवाद को समन्वित करने का प्रयत्न करता है । परन्तु मार्क्सवाद राजनीति प्रधान है । जनकल्याण के बोध के मूल में राजनीतिक प्रेरणा है और समस्या राजनीति की नहीं, संस्कृति की है । मार्क्सवाद से प्रभावित होने पर भी कवि कह उठता है—

राजनीति का प्रश्न नहीं रे आज जगत् के सम्मुख ।
अर्थ साम्य भी मिटा न सकता मानव जीवन के दुख ।

० ० ० ०

आज वृहत् सांस्कृतिक समस्या जग के निकट उपस्थित,
खण्ड मनुजता को युग-युग की होना है नवनिर्मित ? ३

कवि की दृष्टि वस्तुतः सांस्कृतिक है कवि राजनीति का अनुचर नहीं होता । वह जीवन का सहचर होता है । संस्कृति का सन्देशवाहक होता है । पन्त जी रोटी की समस्या केलिये राजनीति को उचित समझते हैं । परन्तु भौतिकवाद के आधार

---

१. ईशोपनिषद् —१

२. युगवाणी, पृ० ४८

३. ग्राम्या, पृ० ८

पर नयी संस्कृति का निर्माण नहीं हो सकता । और नयी संस्कृति की रचना के लिये राजनीतिज्ञ की नहीं, सांस्कृतिक चिन्तक की अपेक्षा है । कवि उसी रूप में प्रस्तुत होता है । वह नयी मानवता के लिये नारी को पराधीनता, जुड़ता तथा हीनता से मुक्त करना चाहता है । साथ ही Show Case बनी आधुनिका को नारीत्व से वंचित भी मानता है । पराधीन नारी व्यक्ति विहीन है तो आधुनिका भी नारीत्व हीन है । इसीलिये कवि कहता है--

तुम सब कुछ हो, फूल, लहर, तितली,
विहगी, मार्जारी,
आधुनिके, तुम नहीं अगर कुछ, नहीं सिर्फ
तुम नारी !१

और गांवों की ओर दृष्टि डालता है तो पाता है --

प्रकृतिधाम यह : तृण कणकण जहां
प्रफुल्लित जीवित,
यहाँ अकेला मानव ही रे चिर विषण्ण
जीवन्मृत ।!२

तो यह दीन की रोटी की समस्या, नारी की समस्या है और इन दोनों से संयुक्त नयी संस्कृति की समस्या विश्व के सम्मुख हैं । कवि मार्क्सवादी की निरी भौतिकता तथा राजनीति प्रधानता से समुचित समाधान नहीं पा सका । डॉ० नगेन्द्र ने लिखा है--"मार्क्सवाद का भौतिक संघर्ष, निरीश्वरवाद अथवा अनात्मवाद पन्त जैसे कोमल-प्राण व्यक्ति का परितोष नहीं कर सकते और आत्मा और ईश्वर में ही अन्त में उसे जीवन और जगत का समाधान मिलता है ।"३ अरविन्द-आश्रम की धूल में दिव्य किरणें झलमलाती हुई दिखायी पड़ीं । 'द लाइफ डिवाइन' में नयी संस्कृति के स्थल संकेत न मिले । कवि ने अनुभव किया कि "ग्राम्या के बाद मेरे मन में जो चिन्तनधारा चल रही थी उसका यहां आकर परिपाक हुआ ।
मेरी दृष्टि में उनमें (स्वर्ण काव्य) गुंजन, ज्योत्स्ना तथा ग्राम्या के चिंतन तथा मूल्यों की स्वाभाविक परिणति तथा विकास हुआ है ।"४ वस्तुतः अरविन्द का विकासात्मक अध्यात्मवाद, जिसमें पुदगल का चरम विकास अतिचेतना में होता है, भारत की विश्व संस्कृति को अन्यतम देन है । जैसे तैत्तिरीयोपनिषद में अन्न और आनन्द का समान महत्त्व है, उसी प्रकार अरविन्द ने पुदगल को महत्व प्रदान करते हुए अतिचेतना के विकास का व्यावहारिक सोपान बताया है । तैत्तिरीय से वे आगे

---

१. ग्राम्या, पृ० ८३
२. ग्राम्या पृ० १६
३. सुमित्रानन्दन पन्त, नवम सं० पृ० ७ १६७
४. साठ वर्ष पृ० ६५

बढ़े हैं। भूत तथा आत्मवाद का स्वाभाविक सम्बन्ध स्थापित किया है । इसीलिये पन्त जी की सांस्कृतिक चेतना मार्क्सवाद से अरविन्द की ओर आकृष्ट हुई । यहां उसे पूर्ण परितोष मिला। नयी संस्कृति की दिव्य कल्पना साकार हुई । परन्तु मार्क्स-वादी आलोचक श्री विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ने कहा कि "हम उनकी आदर्श-पूजा की अतिशयता का समन्वय की पुकार को अवैज्ञानिक, असामयिक, अस्वाभाविक और अनैतिहासिक कहते हैं । XXXपता नहीं पन्त जी नई कविता में समन्वय के नाम पर वैयक्तिक साधनाओं की ओर राष्ट्र को उन्मुख कर इतिहास को पुनः प्रतिशोध लेने के लिये क्यों प्रोत्साहित कर रहे हैं ?"१

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की हलचल से शांत मस्तिष्क को ही पन्त जी के नये काव्य की ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक महत्ता का पता चल सकता है । और निरपेक्ष विचारक ही मार्क्सवाद की रूढ़ि-वादिता को देख सकता है। आज[?]ो चीन सच्चा मार्क्सवादी है । मार्क्सकहना कठिन है । तिब्बत में मार्क्सवादी नवनिर्माण अभिनन्दनीय है या नहीं ।।--इसके लिये विचार करना पड़ेगा । भारत के पंचशील पर आक्रमण भी मार्क्सवादी का ही हुआ है । अस्तु, कवि ने अरविन्द के अन्तश्चेतनावाद के महत्त्व को समझा है और विश्व कल्याण के लिये उसे अभि-नन्दनीय माना है । नई रचनाएं उसी दृष्टि से हुई हैं। वे रचनाएं ही कवि के सांस्कृतिक दृष्टिविन्द की प्रगतिशीलता सिद्ध करेंगी । कवि को पूर्ण विश्वास है कि पुद्गल के विकास से और अन्तश्चेतना के अवतरण से नयी ज्योति आर्विभूत होगी । प्रीति का ज्वार उमड़ेगा । युगों का अन्धकार दूर होगा । मन के नयन खुलेंगे सृजन की अपूर्व शोभा परिलक्षित होगी ।

खुला अब ज्योति द्वार
उठा नव प्रीति ज्वार
सृजन शोभा अपार
कौन करता अभिसार
धरा पर ज्योत भरण
हँसी, लो, स्वर्णकिरण। २

तब सद्वृत्तियों के विकास से सारा संघर्ष दूर होगा । जीवन के प्रेम-संगीत में धरा का क्रन्दन नष्ट होगा । विश्वास तथा प्रेम के स्फुरण से मानव का अन्तर पुलकित होगा । व्यक्ति-व्यक्ति के भीतर साम्य भावना उदित होगी और देवत्व की चेतना से नया समाज निर्मित होगा ।" नयी

---

१. पन्त जी नूतन काव्य और दर्शन, पृ० ७७८—७७

२. स्वर्ण—अभिवादन

संस्कृति की निर्मिति के लिये मानव-मन को नये ढंग से संगठित करना होगा ।

हमें विश्वसंस्कृति रे भू पर करती आज प्रतिष्ठित,
मनुष्यत्व का नव द्रव्यों से मानव उर कर निर्मित; १

आज संसार की स्थिति यह है कि मानव की बहिचेतना जाग्रत है और अन्तर सोया हुआ है । केवल भौतिक समृद्धि की ओर हम अग्रसर हैं, आत्मिक विकास अवरुद्ध है । दर्शन और विज्ञान का समन्वय नहीं हुआ है। भौतिक विकास के साथ मनो-विकास के लिये प्रयत्न करना है । जड़ को अतिचेतना की ओर ऊर्ध्व संचरण केलिये साधना करनी है । और साथ ही प्राचीन आदर्शों की रूढ़िवादिता को दूर करना है । नये युग में नये आदर्श रूपायित करने हैं ।

बहिरंतर की सन्यों का जग जीवन में कर परिणय,
ऐहिक आँत्मिक वैभव से जनमंगल हो निःसंशया ! २

कवि ने विश्वसंस्कृति के नव निर्माण में भारतीय संस्कृति के योगदान को शिरोधार्य किया है । वैदिक तथा औप-निषदक चिन्तन की महानता को महत्त्व प्रदान किया है । कवि की सांस्कृतिक चेतना के सुप्त विराट् रूप का जागरण हुआ है । इसी लिये कवि ने वैदिक देवों से नवनिर्माण की प्रेरणा पाने के चेष्टा की है । ऋग्वेद के पहले अष्टक के पहले मण्डल के तीसरे अध्याय में पूषा की स्तुति है । पन्त जी ने पूषण को जनमन में दिवास्वप्नों को संचारित करने वाला सुधांशु कहा है । उसकी किरणों से धरती पर नव जीवन उतरता है । सायणाचार्य ने भी पूषा का अर्थ "जगत् पोषक पृथि-व्यभिमानी देव" किया है । ऋग्वेद के ऋषि ने अनेक सूत्रों में उषादेवी का दिव्य वर्णन किया है ।

उषा उच्छन्दती समिधाने अग्ना उद्यन् सूर्य उर्विया ज्यातश्चेत ।
देवो न अत्र सवितान्वर्थ प्रासावीद्द्वियन् प्रचतुष्पदित्यै ।।३

अर्थात् अग्नि के समिद्धमान होने पर उषा अन्धकार का निवारण करती हुई, सूर्योदय की तरह प्रभूत ज्योति फैलाती है । हमारे व्यवहार के लिये सविता द्विपद और चतुष्पद के संयुक्त धन देते हैं । कवि ने भी कहा है --

लो वह आई विश्वोदय पर
स्वर्ण कलश वक्षों जों परधर ।४

---

१. स्वर्णकिरण—इन्द्रधनुप
२. स्वर्णकिरण—इन्द्रधनुप
३. २ अतरक । २. मण्डल । १. अध्याय । १८ अनुवादक । १२३ सूक्त
४. स्वर्णकिरण—ऊषा

श्वेताश्वतरोपनिषद् में 'द्वांसुपर्णा' के द्वारा आसक्त और अनासक्त साधना के रहस्य को स्पष्ट किया गया है। कहा गया है --

द्वा सुर्णा सयुजा सखायाः समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्ननन्योऽभिचाकलशीति ॥१

अर्थात् दो एक साथ विहार करने वाले पक्षी एक शरीर वृक्ष को आश्रय बना कर रहते हैं। उनमें एक मीठे को खाता है दूसरा भोग न करके देखता है। कवि ने उनका चित्रण कर समन्वयवादी संस्कृति (राग-विरागपूर्ण) का संकेत दिया है।

भीतर बाहर एक सत्य के रे सुपर्ण द्वय,
जीवन सफल उड़ान, पक्ष संतुलन जो
, विजय! २

'स्वर्णधूलि में कवि ने आर्ष साहित्य को नया जीवन दे दिया है। नयी प्रेरणा ग्रहण की है। नया संकेत दिया है। भावी संस्कृति की सुरभि बिखेरी है। अग्नि की प्रशस्ति धन और भोग के लिये नहीं की है, अपितु उन्हें मन के ऊर्ध्व संचरण का माध्यम बनाया है।

प्राणबुद्धि मन की प्रदीप्त घृति आहुति पाकर।
मेरी ईप्सा को पहुँचा दे परम व्योम पर। ३

ऋग्वेद के ऋषि ने कहा है--

यदङ्गदाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि,
तवेतत्सत्यमङ्गिर।
उपत्वाग्ने दिवे दिवे दोषावस्तर्धिया वयम्।
नमो भरन्त एमसि ॥४।

अर्थात् हे अग्नि! तुम जो हविष्य देने वाले यजमान का कल्याण साधन करते हो, वह कल्याण हे अङ्गिरः! वास्तव में तुम्हारा ही प्रीति साधक है। हे अग्नि! हम अनुदिन, दिन-रात अन्तस्थल के साथ तुम्हें नमस्कार करते-करते तुम्हारे पास आते हैं।

वृत्रहन् इन्द्र से पशुप्रवृत्तियों को छिन्न-भिन्न करने को कहा है। उलूक-ममता (अंध-ममता) के तम को नष्ट करने को कहा है और सत्पथ पर मानव को अग्रसर कराने के लिये निवेदन किया है। ऋग्वेद के पहले अष्टक, पहले मण्डल और पहले अध्याय के छठे सूक्त में बताया गया है कि सूर्यातमा इन्द्र बेहोश को होश में करके और रूप विरहित को रूप दान करके प्रचण्ड किरणों के साथ उग रहे हैं। और वरुण के सम्बन्ध में--

त्वं विश्वस्य मेधिर दिवश्च गमश्च राजसि।
स यामनि प्रति श्रुधि ॥
उदुत्तमं मुमूग्धि नो वि पाशं मध्यमं चृत।
अवाधमानि जीवसे ॥५

---

१. चतुर्थ अध्याय —६
२. स्वर्णकिरण—द्वासुपर्णा
३. स्वर्णधूलि—अग्नि
४. २ अष्टक। १ मण्डल। ३ अध्याय। १ सनुवाक
५. १ अ.। १ म। २ अध्याय। ६ अनु०। २५ सूक्त

अर्थात् मेधावी वरुणा ! तुम द्युलोक भूलोक, और समस्त संसार में दीप्तिमान हो हमारी रक्षा-प्राप्ति केलिये प्रार्थना सुनने के अनन्तर तुम उत्तर दो । हमारे ऊपर का पाश ऊपर से खोल दो । मध्य और नीचे का पाश भी खोल दो, ताकि हम जीवित रह सकें । और, कवि ने लिखा है—

वरूण मुक्त कर दो मेरे त्रिक् जीवन बंधन ।
पाप निवारकहे, प्रकाश भर मेरा मन !
पाश गुणों के ऊपर ओर खुले नित उत्तम,
नीचे टूटें उत्तम, मध्य में श्लथ हो मध्यम ! १

ईश्वर अमर और चिरन्तन है । उसका विनाश नहीं हो सकता । उसका निषेध उसके विनाश का कारण नहीं हो सकेगा । उसकी अस्वीकृति से उसका तिरोभाव नहीं हो जायाग़ । वह नये रूप में हमारे समकक्ष आयेगा । ईश के चिरन्तन स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये कवि ने ईशोपनिषद के अमर वाक्य को उद्धृत किया है —

"स प्रन्थगात् शुक्रमकायमव्रणम्
अश्नाविरं शुद्धम पाप विद्धम्
कविर्मनीषी परिभू स्वयंम् "—
—पूर्णपरात्पर !

महर्षि अरविन्द के पुण्य सामीप्य से कवि की सुप्त सांस्कृतिक चेतना विराट रूप में जागृत हो उठी । इससे केवल नवअध्यात्म को ही नहीं, संस्कृति, साहित्य तथा राष्ट्रीयता को नया जीवन मिल गया । हिमालय भू का अखंड मानदंड बना जो किन्नर मिथुनों की आनन्द क्रीड़ा से कूजित है और सती अपर्णा के तप से विस्मित है । लक्ष्मण निर्मल स्नेह के प्रतीक बने जो करुणासागर से भी सुन्दर हैं । और जड़ चेतन के संघर्ष से संत्रस्त विश्व के उद्धार के लिये भारत के नवयौवन को असिधाराव्रत धारण करने का आह्वान किया । भारत को अणुशक्ति के विकास के साथ मानवता का संगठन भी करना है जिससे नये समाज की रचना हो सके और नयी संस्कृति का स्वर्णोदय संभव हो सके ।

● ● ●

१. इशोपनिषद्—८

हिन्दी साहित्य में सर्वप्रथम सन्देश काव्य के रचियता एवं विप्रलम्भ श्रृंगार के प्रतिपादक अभिनव कालिदास—

अब्दुल रहमान—व्यक्तित्व एवं कृतित्व

प्रो० कृष्णदत्त शर्मा

भारतीय आर्य भाषाओं के साहित्य रूपी विशाल सुविस्तृत एवं सुव्यवस्थित आकाश मण्डल में जहां वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति, विद्यापति, जयदेव , तुलसी, सूर त था कबीर जैसे चन्द्र और सूर्य और तीव्र तथा स्निग्ध ज्योत्स्ना से मानव हृदय को ओज एवं शांति पूर्ण भावों से ओतप्रोत कर मानवीय जीवन के लक्ष्य की ओर अग्रसर करने में प्रेरणा प्रदान करते रहे हैं । वहां मलिक मुहम्मद जायसी, रसखान, उसमान एवं रहीम जैसे नक्षत्र भी भारतीय जीवन में, भारतीय संस्कारों से ओतप्रोत प्रेरणा स्रोत द्वारा दग्ध मानव के मानस पटल पर एक ऐसी स्नेह धारा प्रवाहित कर उसे दुखानुभूतियों से पूर्ण इस नाशवान संसार से दूर शांति लोक में ले जा खड़ा कर, उके सन्मुख मानवीय उत्तरदायित्व की भौतिकवाद पर आधारित आध्यात्मिक रूप रेखा अंकित करने में सर्वथा सफल हुए हैं, ऐसे ही आदि हिन्दी भाषा के प्रारूप में, जन जीवन में प्रयुक्त होने वाली अपभ्रंश भाषा का सहारा लेकर क्षीण-प्रबन्ध धर्मा मुक्तक काव्यों की भारतीय परम्परा के अन्तर्गत मेघदूत, ऋतुसंहार, गीत गोविन्द, चौर पञ्चाशिका एवं ढोला मारू दोहा जैसे काव्यों में सन्देश रासक जैसे सन्देश काव्य की कड़ी को जोड़ कर एक व्यवस्थित मालाकार बनाने में सफल हुए—वह थे कालिदास से प्रेरणा पाकर, मलिक मुहम्मद जायसी के साहित्य प्रेरणा स्रोत, बारहवीं शताब्दी के विरह गीतिकार अब्दुल रहमान, जिनकी ख्याति एवं साहित्यिक गौरव को समय की अबाध गति एवं आठ शताब्दियों का विशाल अन्तर भी नाम शेष करने में असफल रहा है।

रचनाकाल—सन्देश रासक के रचयिता अब्दुल रहमान का रचना काल एक विवाद ग्रस्त विषय है । जैन आचार्य श्री मुनि जिन विजय जी-जिनके

द्वारा, अनेक दुर्लभ ग्रंथों के समान संदेश रासक का भी सम्पादन कर उद्धार हुआ है—इसे भाषा एवं अन्य प्राप्त सूचनाओं के आधार पर इस काव्य को मुहम्मद गौरी के आक्रमणों से पूर्व बारहवीं शताब्दी के कवि द्वारा रचित स्वीकार करते हैं। अन्तर्साख्य के आधार पर यह ज्ञात होता है कि लेखक के रचनाकाल के समय मुलतान पश्चिमोत्तर भारत में अपने सूर्य कुण्ड के कारण एक प्रमुख हिन्दू तीर्थ स्थान के रूप में प्रसिद्ध था और मुहम्मद गौरी द्वारा नष्ट किये जाने के पश्चात फिर यह नगर न तो अपनी पूर्व धार्मिक महत्ता को प्राप्त कर सका और न ही सामाजिक प्रसिदी। इससे स्पष्ट है कि अब्दुल रहमान का समय निश्चित रूप से ११९२ ई० से पूर्व ही होगा। श्री अगरचन्द नाहटा इस पुस्तक को सं० १४६५ में रचित श्री लक्ष्मीचन्द जी की टीका से बहुत पूर्व नहीं मानते। तो भी उनके मत में यह पुस्तक १२वीं अथवा १३वीं शताब्दी में ही रची गई होगी। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने हिन्दी काव्य धारा (पृष्ठ २९२) के अनुसार इसे बारहवीं शताब्दी का कवि माना है और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी भी अब्दुल रहमान को १२वीं अथवा तेरहवीं शताब्दी का कवि स्वीकार करते हैं। प्रो० नामवर सिंह भी इस ग्रंथ को १२वीं शताब्दी ईस्वी में रचा हुआ मानते हैं। डा० उदयनारायण तिवारी भी "हिन्दी भाषा का उदगम एवं विकास" में संदेश रासक की भाषा की समीक्षा करते हुए अब्दुल रहमान का रचना काल विक्रम संवत् ११७५ से १२२५ के बीच मानते हैं और लिखते हैं कि इसकी भाषा में वह प्रवृत्तियां विकसित होती हुई दिखाई देती हैं। जिन्होंने आधुनिक भारतीय–आर्यभाषाओं को जन्म दिया है।

अब्दुल रहमान ने अपनी रचना संदेश रासक में जहां एक ओर मुलतान के गौरव का वर्णन किया है वहां दूसरी ओर विजयनगर (विक्रमपुर) और खम्भात का भी समृद्ध नगरों के रूप में वर्णन किया है खम्भात की प्रसिद्धि चालुक्य वंशी शासक सिद्धराज एवं कुमारपाल के समय तक रही। तत्पश्चात् मुहम्मद गौरी के आक्रमणों ने इस नगर की श्री और सम्पन्नता का भी अन्त कर दिया। इन तथ्यों से यह विश्वास पूर्वक अनुमान लगाया जा सकता है कि अब्दुल रहमान का रचना काल निश्चित रूप से बारहवीं शताब्दी ही रहा होगा।

अन्तर्साक्ष्य के आधार पर अब्दुल रहमान के जन्म के विषय में, जिनका काव्य में प्रयुक्त नाम 'अद्दहमान' है, स्वरचित प्रथम प्रक्रमः के तीसरे एवं चौथे पद्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत के पश्चिम में प्राचीन काल से प्रसिद्ध म्लेच्छ प्रदेश में मीरसेन के कुल में अद्दहमान ने जन्म लिया जिनने सन्देश रासक की रचना

की । अपना परिचय देते हुए अब्दुल रहमान लिखते हैं :—

पच्चाएसि पहूओ पुव्व पसिद्धोय मिच्छ देसो त्थि ।
तह विसए संभूओ आरद्दे मीरसेण स्स ।।
तह तण ओ कुल कमलो पाइय कव्वेसु गीय विसयेसु ।
अद्दहमान पसिद्धो संनेहणरासयं रहयं ।।

धार्मिक भावना—आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार इनका सम्बन्ध न मुस्लिम जुलाहा परिवार से माना जाता है । इनके पिता मीर सैन के नाम से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि मीर (मुस्लिम) सैन '(हिन्दू) दोनों ही धर्मों का मिश्रण उनमें पाया जाता है । उस युग में जुलाहा परिवार में निराकार उपासना की भावना प्रचलित होगी, जिससे निराकार भक्ति क्षेत्र में जहां एक ओर अब्दुल रहमान ने प्रवेश किया वहां उसी परम्परा में नीरू और नीमा नामक जुलाहा परिवार से प्रेरणा पाकर कबीर दास जी ने साहित्यिक क्षेत्र में पदार्पण किया । अपने काव्य के आरम्भ में इन्होंने जिस 'कर्तार' की उपासना की उसी परम्परा को ग्रहण करते हुए जायसी ने भी "सुमिरौ आदि एक करतारू" कह कर अब्दुल रहमान की वाणी में अपनी वाणी मिलाने का प्रयास किया । धार्मिक दृष्टि से 'करतार' की उपासना से आरम्भ कर अब्दुल रहमान ने भी अपने काव्य के अन्त में इस्लाम धर्म में विश्वास प्रकट करते हुए लिखा है :—

तंम पठंत सुणंत यह जयउ अणायतु अंतु "

अर्थात वे पढ़ने, सुनने वाले अनागत अन्त (कयामत के दिन) विजयी होवें ।

उसी परम्परा को मलिक मुहम्मद जायसी ने अपने महाकाव्य पद्मावत में रहस्यवाद की भारतीय परिपाटी के अन्त में इस्लाम धर्म का समावेश कर दोनों धर्मों के भक्ति सम्बन्धी विचारों का समन्वय करने की चेष्टा की है । इसी परम्परा को दादू, रजब, कुतबन आदि परवर्ती कवियों ने भी स्वीकार किया । है। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि साहित्यिक क्षेत्र में जिस हिन्दू-मुस्लिम एकता एवं समन्वय की भावना को संदेश-रासक के रचयिता ने ग्रहण किया, उसे ही उन के परवर्ती सभी मुसलमान कवियों ने भी अपने साहित्य का आधार बनाया ।

साहित्य—अब्दुल रहमान द्वारा रचित केवल एक ही संदेश काव्य "सन्देश रासक" प्राप्त होता है । जिसमें एक वियोगिनी नायिका के द्वारा अपने पति को दिये गए सन्देश का वर्णन है । जिसकी कथा की भूमिका कालिदास के द्वारा रचित सर्वप्रथम सन्देश काव्य "मेघदूत" से ली गई है । चाहे आज तक इस परम्परा में मेघदूत से लेकर उद्धव शतक अनेक सन्देश काव्यों का निर्माण हुआ है, तो भी सन्देश रासक का सन्देश प्रेषण एवं नायिका का अपने

विरह के भावों को, जिस प्रकार षट ऋतु के वर्णन का सहारा लेकर चरम सीमा तक पहुंचाया गया है, यह इस काव्य की निजि विशेषता है। इस मौलिकता के कारण सन्देश रासक का स्थान मेघदूत से भी ऊंचा स्थिर होता है।

मेघदूत में नायक अपनी नायिका के विरह में दुखी है और वह आकाश के मार्ग से प्रस्थान करते हुए 'मेघ' को सम्बोधन कर अपनी प्रेयसी के पास सन्देश भेज कर अपने हृदय के तप्त भावों को शांत कर लेना चाहता है। किन्तु सन्देश रासक में नायिका अपने पति के वियोग में विरहिणी है और घोर कष्टों को तथा विरह की दग्ध ज्वाला को हृदय में धारण करते हुए भी जब मानस-शांति हेतु पति का संयोग नहीं होता, तो उद्विग्न होकर, नारी की लज्जा के दुपट्टे को तार तार कर वह अपनी अवस्था का चित्रण कर प्रेमी के हृदय के भावों को करुणा के भाव उत्पन्न करने के लिये संदेश भेजती है। मेघदूत में यक्ष एक निर्जीव मेघ के द्वारा सन्देश भेज कर हृदय की ज्वाला को शांत कर लेना चाहता है किन्तु सन्देश रासक की नायिका अपने तप्त भावों को अपने प्रियतम तक पहुंचाने केलिये चेतन पुरुष, उसी पथ के राही, उसी लक्ष्य पर पहुंचने को लालायित, एक सजीव यात्री को अपने सन्देश वहन करने का माध्यम बनाती है, जो साहित्य में वास्तविकता एवं स्वाभाविकता के कारण उसके गौरव को बढ़ाने में सहायक होता है।

सन्देश रासक की कथा अत्यन्त अल्प होते हुए भी अत्यन्त मार्मिक है। सम्पूर्ण काव्य तीन प्रक्रमों में विभाजित है। प्रथम प्रक्रम में केवल काव्य की भूमिका का निर्माण किया गया है। जिसमें कवि ने ईश्वर वन्दना के साथ आरम्भ करते हुए, अपना परिचय देते हुए, स्वरचित इस काव्य की महत्ता पर प्रकाश डाल कर पाठकों से निवेदन करता हुआ, ग्रंथ परिचय देते हुए संक्षेप में लिखता है:—

अणुराइय रइहरु कामिय मणहरू,
मयण महप्यह दीवयरो ।
विरहिणिमदूरद्धउ सुणहु विसुद्धउ,
रसि यह रस सजीवयरो ।।

अर्थात यह सन्देश रासक अनुरागियों का प्रेमस्थल, कामनियों का मन हरने वाल, कामदेव की महत्ता को स्पष्ट करने वाला, विरहणियों के लिये मकरध्वज और रसिकों के लिये विशुद्ध रस संजीवक है——इसे सुनो।

दूसरे प्रक्रम में काव्य की मूल कथा आरम्भ होती है। जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है कि इस काव्य की कथा अत्यन्त अल्प है किन्तु है मार्मिक। विजय-नगर की एक सुन्दरी, जिसका पति व्यापार हेतु खम्भात नामक स्थान पर गया हुआ है, वह बहुत लम्बी अवधी व्यतीत हो जाने पर भी जब वापिस नहीं लौटा, तो उस

सुन्दरी का शरीर विरहानल से सन्तप्त होने के कारण दुख से आर्त होकर लम्बी-लम्बी सांसें लेते हुए जब आंसू पोछ रही है तो उसने खम्भात नगर की ओर तीव्र गति से अग्रसर होते हुए एक पथिक को देखा। उस सविलक्षा, लज्जावती एवं सुभगा विरहिणी ने भी तीव्र गति से आगे बढ़ कर उस पथिक को रोक कर, उसका उद्दिष्ठ स्थान खम्भात ही जान कर कामदेव के साक्षात अस्त्र के समान, रूप लावण्य के भण्डार और भगवान की उत्कृष्ट कृति उस सुन्दरी ने अपने शरीर में विरहाग्नि को धोंक कर प्रज्वलित करने वाले उस निर्मोही पति के नाम सन्देश ले जाने का आग्रह किया। इस प्रकार अपनी विरहावस्था का चित्रण करते हुए, दीर्घोष्ण उच्छवास लेते हुए, विद्रुम पुञ्ज के ऊपर श्वेत मोतियों के समान कपोलों पर अश्रुकणों को बार बार गिरा कर वह आहता, पथिक के जाने की उत्सुकता को देख कर भी, उसकी कारुण्यमय भावनाओं को आह्वान करती हुई अपना सन्देश कहती जाती है। तरुणी की दुख भरी कथा को सुन कर जब पथिक इतना पसीज गया, तो वह पूछ ही उठता है कि "हे शशिवदने ! बताओ कि चन्द्रमा के समान तुम्हारा मुख विरहग्नि के धुएं से कब से आच्छादित है। तुम्हारा तीक्षण वक्रिम कटाक्ष और मदन चेष्टा युक्त नेत्रों से जल कण कितने समय से प्रवाहित हो रहे हैं। हंस के समान लालायित गति को सरल बना कर कदली के समान कोमल अंगों को कब से चीरे जा रह हैं। कामदेव के तीक्ष्ण वाणों द्वारा तुम्हारे मन पर कब से प्रहार हो रहे हैं ?" इतना पूछना था कि वियोगिनी नायिका को अपने हृदय के अवरुद्ध दुःखों की नदी को प्रवाहित करने का अवसर प्राप्त हो गया, जिसके परिणाम स्वरूप काव्य के तृतीय प्रक्रम में लेखक को सुविधा पूर्वक गत एक वर्ष की अवधी में किस प्रकार ऋतु अनुसार वियोगिनी नायिका का आर्त जीवन व्यतीत हुआ उसका नायिका द्वारा षट ऋतु वर्णन के रूप में चित्रण करने का अवसर प्राप्त हो गया। तीसरे अध्याय में नयिका ने नव ग्रीष्म के आगमन से जब उसके नाथ प्रवासी हुए और जभी से उसका सम्पूर्ण सुख समूह उसी पति के साथ ही प्रणाम करके चला गया, से लेकर वर्षाकाल, शरद ऋतु, हेमन्त, शिशिर तथा बसन्त की ऋतुओं में प्रकृति वर्णन की भूमिका पर विरह का चित्र खींच कर एक विरहिणी के भावों के उद्दीपन का साकार चित्रण किया है। इस प्रकार इस खण्ड में प्रोषित पतिका नायिका के हृदय उद्गारों का प्रकृति रूप में चित्रण किया गया है। विशेष कर जब विरहिणी पथिक से अन्त में यह प्रार्थना करती है कि "मेरे द्वारा उस अनक्षर के प्रति जो कुछ कहा गया है उसमें से कठोरता को त्याग कर, विनय मार्ग से जो उचित पड़े, वैसा ही करना।

ओर ऐसा कहना कि जिससे प्रियतम कुपित भी न हों जो उपयुक्त हो वही कहना।"

इन शब्दों में नारी के हृदय में पति के प्रति पावन एवं नम्रता पूर्ण भावों का स्पष्टीकरण नारीत्व की मर्यादा का द्योतक है। इस प्रकार ज्यों ही वह चारों ओर शुभ लक्षणों को देख कर, हृदय से यात्रा की सफलता केलिये शुभाशीर्वाद देकर पथिक को विदा करती है और वापिस लौटते समय ज्यों ही वह दीर्घाश्रित दक्षिण दिशा की ओर देखती है तो उसने मोड़ के कारण दिखाई न पड़ते हुए अपने पति को आते हुए देखा। चिर-विरहिणी की हृदय पिपासा शांत हो गई। उसके आनन्द की कोई सीमा न रही। इस प्रकार पुनर्मिलन के शुभ अवसर पर कवि भी रस मग्न होकर इन शब्दों में पाठकों की मंगल कामना करते हुए अपने काव्य का अन्त करता है --

जेम अचिंतिउ कज्जु तस सिद्धु खणाति महंतु।
तेन पंठत गुणंत यद जयउ अणायत् अंतु।

अर्थात--जिस प्रकार आधेक्षण में, उस विरहिणी नायिका के, कार्य की अचिंतित महती सिद्धि हुई, उसी प्रकार पढ़ने सुनने वालों को भी कार्य सिद्धि हो और उनके अनादि अन्त (कयामत के दिन) की जय हो।"

इस प्रकार अल्प कथा को लेकर प्रकृति वर्णन का षट ऋतु वर्णन के अन्तर्गत चित्रण करते हुए एक वियोगिनी नायिका के हृदय के उद्‌गारों को साकार रूप से चित्रण कर सकने वाले विप्रलंभ शृंगार का समुचित एवं सम्पूर्ण रसास्वादन कराने वाला अनेक मुसलमान कवियों का प्रेरणास्रोत, अब्दुल रहमान का सन्देश रासक हिन्दी साहित्य की फटती हुई पौ में प्रथम संदेश काव्य है, जिसने क्या भाषा, क्या भाव, सभी दृष्टि से एक सफल काव्य का स्थान ग्रहण कर माँ भारती के मस्तक पर एक गौरवमय तिलक का स्थान प्राप्त किया है।

सन्देश रासक का कला सौष्ठव

किसी भी कवि की रचना का काव्य सौष्ठव जहां उसके भावों की गम्भीरता से अंकित किया जा सकता है तथा काव्य की आन्तरिक सुन्दरता, भाव, रस तथा प्रकृति वर्णन के द्वारा उनमें निहित कल्पना की उड़ान के द्वारा काव्यात्मा के गौरव का अनुमान लगाया जा सकता है, वहां मानव की बाह्य शोभा के समान, काव्य की कला का गौरव जांचने के लिये अनेक पक्षों का काव्य में स्थायित्व जान कर तदानुसार कवि की रचना की महत्ता का निर्धारण करना आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार साहित्य के अभिव्यक्ति पक्ष पर विचार और विमर्श करने के लिये अनेक तथ्यों का निरूपण आवश्यक हो जाता है।

सन्देश रासक के रचयिता अब्दुल रहमान जहां भावों की अभिव्यक्ति के साथ मौलिक कथावस्तु में एक नवीन भावधारा का निर्माण करने में सफल हुआ है वहां षटऋतु वर्णन में विरह निरूपण की सफलता ही रासक के गौरव को उत्कृष्ट नहीं करती अपितु काव्य के तृतीय प्रक्रम में नारी हृदय के जिन भावों को अब्दुल रहमान ने व्यक्त किया है, उन भावों की कोमलता का वर्णन किस प्रकार ऊहात्मकता से प्रत्येक पक्ष पर बचा बचा कर लेखक कर पाया है, उससे काव्य में अनुभूति की गहनता एवं गम्भीरता का परिचय मिलता है । अतिरिक्त इसके लेखक ने कला की दृष्टि से उस स्वाभाविक एवं उत्कृष्ट कला सौष्ठव का निर्माण किया है जो काव्य की गरिमा को चार चांद लगा कर, १२वीं शताब्दी के रचित काव्य को, अत्यन्त उत्कृष्ट साहित्य के सम्मुख गौरव से रखने की सफलता प्रदान कर सका है । सन्देश रासक के गौरव से सम्बन्धित अनेक तथ्यों पर विचार करने से इसके कला सौष्ठव का परिचय मिलता है ।

भाषा––इसमें सन्देह नहीं कि अब्दुल रहमान ने सन्देश रासक के निर्माण हेतु जिस भाषा का सहारा लिया है, अथवा अब्दुल रहमान के समय (१२वीं शताब्दी) में जिस भाषा का साहित्यिक रूप से प्रचलन था, वह साधारण रूप से अपभ्रंश भाषा कही जा सकती है । किन्तु हेमचन्द्र आचार्य ने सन्देश रासक की भाषा को परितिष्ठित अपभ्रंश से भिन्न ग्राम्य अपभ्रंश का ही अस्तित्व स्वीकार किया है, जोकि जन जीवन की बोली के अत्यन्त निकट थी । आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी भी इस काव्य की भाषा के विषय में लिखते हैं–– "भाषा शास्त्र की दृष्टि से यह परवर्ती अपभ्रंश की ओर अधिक अग्रसर हुई भाषा है––सन्देश रासक इसी प्रकार के अपभ्रंश में बारहवीं तेरहवीं शताब्दी में रचित हुआ था ।" इस प्रकार अधिक विद्वान. इस तथ्य से सहमत हैं कि अब्दुल रहमान की भाषा परवर्ती अपभ्रंश है । श्री विश्वनाथ त्रिपाठी के शब्दों में इस काव्य की भाषा का रूप पूर्ण स्पष्ट किया जा सकता है कि, "भाषा की दृष्टि से यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि सन्देश रासक की भाषा प्रत्यक्षतः, हिन्दी का पूर्ववर्ती अपभ्रंश है फिर भी हिन्दी के बहुत से रूपों की पूर्वावस्था का आभास हमें इसमें मिल जाता है । विशेष रूप से उपसर्गों, सर्वनामों और वाक्य गठन की कई विशेषताओं, कई कारकों केलिये षष्ठी के व्यवहार तथा संयुक्त पूर्व कालिक प्रयोग में सन्देश रसिक की भाषा और वर्तमान हिन्दी का सम्बन्ध अत्यन्त निकट का ज्ञात होता है । समास के प्रयोग में पूर्व नियमों की अवहेलना का बीज भी सन्देश रासक में दिखलाई पड़ता है । कवियों के

रियायती अधिकारों के विषय में हिन्दी और सन्देश रासक की भाषा में घनिष्ठ सम्बन्ध ज्ञात होता है ?" डा० उदय नारायण तिवाड़ी भी "हिन्दी साहित्य का उद्गम और विकास" में सन्देश रासक की भाषा की समीक्षा करते हुए, जहां भाषा के आधार पर अब्दुल रहमान का रचना काल संवत ११७५ से १२२५ के बीच निर्धारित करते हैं, वहां भाषा के सम्बन्ध में लिखते हैं कि "इसकी भाषा में वह प्रवृत्तियां विकसित होती हुई दिखाई देती हैं, जिन्होंने आधुनिक-भारतीय-आर्य भाषाओं को जन्म दिया ।" इसी सम्बन्ध में आगे चल कर तिवाड़ी जी ने फिर स्पष्ट किया है कि "सन्देश रासक की भाषा अपभ्रंश और आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के बीच में स्थित है । नवीन प्रवृत्तियां यहां विकास पाने लगी हैं। इनकी भाषा में पश्चिमी हिन्दी, गुजराती, राजस्थानी, आदि के बीज देखे जा सकते हैं ।"

कुछ विद्वानों के मतानुसार सन्देश रासक की भाषा को अवंहट्ट का नाम भी दिया जाता है । भाषा की दृष्टि से अब्दुल रहमान की स्वतः का दृष्टिकोण इसे जन जीवन के ही समीप रखना है । इसी कारण इन्होंने स्पष्ट लिख दिया है कि इस काव्य को वही पढ़े जो, "न तो पण्डित है अथवा न मूर्ख ।" यह शब्द इस सत्यता को प्रमाणित करते हैं कि सन्देश रासक जनसाधारण के लिये, जन-साधारण की भाषा में रचित एक ऐसा लौकिक काव्य है, जिसने जन-साधारण का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया है । अपभ्रंश ने जब से अपने साहित्यिक रूप के अतिरिक्त जन साधारण की बोली का रूप धारण किया, वहां से ही अपभ्रंश का अन्त और आधुनिक बोलियों का विकास आरम्भ होता है । यह ही नियम वैदिक संस्कृत, संस्कृत एवं प्राकृत आदि सभी भाषाओं के विषय में भी लागू होता है । श्री तारापुर वाला के शब्दों में, "अपभ्रंश-भाषाएं उनके प्राकृतों के बोल चाल के रूप का प्रतिनिधित्व करती हैं और जिनसे आधुनिक बोलियों का सीधा विकास हुआ है ।"

इन सब तथ्यों के निरुपण के पश्चात यह कहा जा सकता है कि जब अपभ्रंश अपनी विशिष्टता एवं साहित्यिकता के पश्चात जन जीवन के समीप आकर आधुनिक भाषाओं में अपना रूप परिवर्तित करने जा रही थी, उस समय की भाषा को लेकर अब्दुल रहमान ने अपने काव्य का सृजन किया । इन की भाषा में गुजराती, राजस्थानी, पश्चिमी हिन्दी एवं खड़ी बोली के पूर्व रूपों का प्रयोग देखने से यह अनायास ही विश्वास किया जा सकता है कि अब्दुल रहमान की भाषा वर्तमान बोलियों के अत्यन्त निकट की भाषा है ।

छन्द—चाहे सन्देश रासक एक अत्यन्त अल्प कथा पर आधारित, संक्षिप्त काव्य

है तो भी इसमें १८ छन्दों का प्रयोग, प्राचीन छंद परिवर्तन प्रणाली का द्योतक है। रासक ग्रन्थ होने के कारण इसमें 'रासा छन्द' का प्रयोग लगभग एक-तिहाई काव्य में किया गया है। शेष दो तिहाई काव्य यें गाहा, रट्ठा, पद्धड़िय, डोमिलव दोहा, कामिनी मोहन, चुडिल्लय, खउहउय, खन्धय, दुवई, नन्दिनी, ग्रमरावली, लंकोडय, खणिज्ज, ग्रडिला, फुल्लय, छन्दों का प्रयोग है। इन छन्दों में भी ग्रधिकांश छन्द ऐसे हैं, जिनका प्रयोग ग्रत्यन्त ग्रल्प मात्रा में किया गया है। ग्रब्दुल रहमान द्वारा प्रयुक्त छन्दों में रासा, गाहा, पद्धडियां, दोला ग्रौर ग्रडिल्ला ही उन के सर्वप्रिय छन्द कहे जा सकते हैं। ग्रब्दुल रहमान ने काव्य में समय-समय पर छन्दों के प्रयोग में परिवर्तन कर ग्रपने पूर्ववर्ती साहित्यकारों की पद्धति का ग्रनुकरण किया है।

ग्रलंकार—यदि कालिदास को उपमा ग्रलंकार का प्रयोग करने ग्रौर नवीन उपमाग्रों को जन्म देकर जिस साहित्यिक गौरव के कारण "उपमा कालिदासस्य" कह कर कालिदास का सम्बन्ध उपमा से, ग्रौर उपमा का महत्त्व कालिदास से जोड़ दिया गया है तो इसी प्रकार ग्रपभ्रंश साहित्य में यही विशेषण ग्रब्दुल रहमान के लिये प्रयोग किया जा सकता है। ग्रब्दुल रहमान ने ग्रपने सन्देश रासक में, यदि यह कह दिया जाए कि ग्रादि से ग्रन्त तक, उपमा ग्रलंकार का स्वाभाविक प्रयोग करते हुए नवीन उपमाग्रों का निर्माण कर जिस मौलिकता ग्रौर सूक्ष्म निरीक्षणता का परिचय दिया है वह उन्हें यदि कालिदास के समकक्ष नहीं, तो साहित्यिक क्षेत्र में उनका दूसरा स्थान ग्रवश्य है, तो कोई ग्रतियुक्ति न होगी। जब प्रोषित पतिका सन्देश देने के लिये पथिक के पास पहुंचती है तो वहां से कवि को विरहिणी के रूप वर्णन का सुन्दर ग्रवसर प्राप्त हो जाता है। जहां एक ग्रोर उन्होंने मुख के लिये सर्वप्रिय उपमा "ग्रमृत स्रावी चन्द्रमा" का प्रयोग किया है जिसमें उनकी मौलिकता है वहां जन साधारण में प्रचलित "कमल" उपमान का भी प्रयोग इन्होंने किया है। केशों के लिये भ्रमरावली तथा जल कलोल, कपोल के लिये दाड़िम, पुष्प समूह; स्तन के लिये सज्जन, दुर्जन एवं स्वर्ण कलश; कमर के लिये भिड़ की कमर तथा मनुष्य का सुख; नेत्रों केलिये कमल बाहू केलिये दोहरे कमलनाल; शरीर की कान्ति के लिये स्वर्णमय, ग्रादि नवीन, एवं सुन्दर तथा स्वाभाविक प्रयोग सन्देश रासक के कवि ने किये हैं। वहां द्वितीय खण्ड तो ग्रलंकार सौन्दर्य का चित्रण मात्र ही है यह कहना सर्वथा उपयुक्त होगा। तो भी ग्रब्दुल रहमान का महत्त्व इस बात से ग्रौर भी बढ़ जाता है कि उन्होंने जायसी तथा चन्द ग्रादि ग्रन्य हिन्दी कवियों के समान

केवल चमत्कारी उपमानों को लेकर रूप वर्णन के नाम पर खिलवाड़ नहीं की। अनेक अवसरों पर कवि ने उपमानों द्वारा विरहिणी के अन्तर्भावों का सम्पूर्ण चित्रण किया है। विरहिणी की विरह-दशा का चित्रण करते हुए यह लिखना कि विरहिणी इस प्रकार व्याकुल है कि जिस प्रकार मृग के बाण लगने से मृगी व्याकुल हो जाती है, एक अत्यन्त उच्चकोटि की उपमा का दिग्दर्शन कराता है। इस प्रकार आन्तरिक भावों का उत्कृष्ट वर्णन अब्दुल रहमान के अलंकारों की विशेषता है। अनेक स्थानों पर मालोपमा अलंकार का प्रयोग कवि की उपमानप्रियता का एक साकार उदाहरण ही दीख पड़ा है।

शब्द विपर्य :—वैसे तो साधारण रूप से कवि को अपने कवित्व तथा छन्दों के निर्माण हेतु शब्दों को तोड़मोड़ तथा विस्तार करने का स्वाभाविक अधिकार होता है। कवि अपने इस लक्ष्य की पूर्ति हेतु शब्द सम्वर्धन एवं संकोचन दोनों ही विधियों का प्रयोग करता है। किन्तु अपभ्रंश के कवियों को यह अधिकार अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में प्राप्त हुआ था। परवर्ती अपभ्रंश काव्यों में तो इस रियायत का दुरुपयोग होता हुआ दिखाई देता है। तो भी अब्दुल रहमान ने अपने साहित्य में शब्दों का मन-माना प्रयोग किया है। पावास, साहीर, अग्गीहर आदि शब्दों में लघु स्वर को गुरु बनाकर प्रयोग किया गया है। अनेक स्थानों पर साधारण व्यंजन को दित्त करके प्रयोग करना अब्दुल रहमान के इस गुण का व्यञ्जक है। जैसे तुषार के लिये तुस्सार, चिरगत के स्थान पर चिरगाथ। अनेक अवसरों पर उपर्युक्त पद्धति के विपरीत गुरु अक्षरों को लघु बना कर भी योग किया है जैसे शीतल के स्थान पर सियल, ज्वाला के स्थान पर ज्वल, दु:सह के स्थान पर दुसह। अनेक स्थान पर छन्दों के निर्माण हेतु वर्णों का लोप कर दिया गया जैसे उपस्कर के स्थान पर वक्खर, तथा इसके विपरीत कुछ स्थानों पर छन्द के अनुरोध से प्रत्ययों का आगमन कर शब्दों में अलंकृत के स्थान पर अलिकयउ, पंवित के स्थान पर पंकियउ का प्रयोग कर मन मानी दृष्टि से शब्दों का तोड़ फोड़ करने में संकोच नहीं किया।

रूप वर्णन—संदेश रासक का कवि जहां एक ओर ऋतुवर्णन का आधार लेकर नायिका के हृदय में उत्पन्न विरह ज्वाला को प्रदर्शित करते समय विरहिणी के रूप का साकार सुन्दर चित्रण कर पाया है। वहां दूसरी ओर कवि प्राचीनता से मुंह नहीं मोड़ पाया है। कालिदास का "अभिज्ञान शकुन्तल" नारी के नख शिख वर्णन की प्रेरणा सदा अब्दुल रहमान को देता रहा है। इसी कारण नायिका के द्वारा पथिक को रोकने पर सर्वप्रथम कवि उस विरहिणी के रूप का

१० श्लोकों में सुन्दर चित्रण कर नारी के सौन्दर्य महातम को एक ही वाक्य द्वारा स्पष्ट कर देता है कि "क्या प्रजापति अन्धा है या नपुंसक, जिसने इस प्रकार की स्त्री का निर्माण करके अपने पास ही नहीं रख लिया।"---इतना श्रेष्ठ रूप वर्णन अब्दुल रहमान की ही उत्कृष्ट कल्पना का रूपक बन सकती थी। इतना ही नहीं, अपितु नायिका द्वारा पूछने पर, कि वह किस नगर से आया है और किस नगर को प्रस्थान कर रहा है, पथिक के मुख से साम्बपुर (आधुनिक मुलतान) की शोभा का हृदय ग्राही ही नहीं अपितु मन के भावों को प्राकृतिक शोभा के साथ तरंगित कर देने वाला चित्रण कर नगर के रूप वर्णन की महत्ता को स्थापित किया है। इतना ही नहीं अपितु अनति दीर्घ विस्तार रूप से लेखक ने १०५ वृक्षों की लम्बी सूची दे कर ही संकोच नहीं किया अपितु अलाउद्दीन के आक्रमण से पूर्व के मुलतान नगर का अत्यन्त विस्तृत निरूपण कर के भी कवि अघाया नहीं बल्कि कहता है कि अभी तो नगर की शोभा का वर्णन आधा भी नहीं हुआ। इस कारण मुलतान नगर की शोभा एवं सौन्दर्य का महातम्य स्थापित करके काव्य में नवीनता निर्माण करने का श्रेय अब्दुल रहमान को प्राप्त हो पाया है। इस के अतिरिक्त जहां सम्पूर्ण पृथ्वी पर प्रसिद्ध मूलस्थान (मुलतान) का चारु वर्णन कवि ने किया है, वहां धन-धान्य की दृष्टि से समृद्ध, विश्व के अनेक क्षेत्रों से व्यापार हेतु लोगों को आकर्षित करने वाले खम्भात का भी सपूर्ण गौरव शाली चित्रण किया है। इस प्रकार रूप सौन्दर्य में कवि ने अप्रतिम गौरव प्राप्त किया है।

इस प्रकार भाषा काव्य के सर्वप्रथम मुसलमान लेखक अब्दुल रहमान ने साहित्यिक क्षेत्र में, हिन्दी साहित्य के आदि काल में जिस गौरव का निर्माण किया, वह आर्य भाषाओं के लिये गर्व का विषय है। क्या भाव, क्या कल्पना क्या कलापक्ष सभी काव्य तत्त्वों की दृष्टि से अब्दुल रहमान को १२वीं शताब्दी का मुलतान निवासी श्रेष्ठ कवि माना जाता है, जिसकी लेखनी में अत्यन्त सजीले एवं सजीव वर्णन करने की शक्ति है। मंजी हुई शैली को लेकर, हिन्दी भी समीपस्थ अपभ्रंश भाषा को माध्यम बना कर, जिस प्रौढ़ एवं उच्च कोटि के सन्देश--काव्य का निर्माण किया है, वह पञ्जाब के लिये विशेष कर गौरव का विषय है। अब्दुल रहमान ने एक ओर अपना सम्बन्ध संस्कृत की प्राचीन परम्परा के साथ जोड़ कर, कालिदास के मेघदूत से प्रेरणा पा कर और दूसरी ओर परवर्ती साहित्यकारों को प्रेरणा देकर मध्ययुग में अपने भूत और भविष्यत के मध्य जिस कड़ी के रूप में कार्य किया है, वह साहित्य दृष्टि से एक ऐसी माला का निर्माण कर पाए हैं, जो

आजकी राष्ट्रभाषा की ग्रीवा का स्वर्णिम हार बन कर, राष्ट्रीय गौरव रूपी मुकुट धारण किए हुए माँ भारती के शोभनीय पावन शृंगार का साधन बन पड़ी है। इस गौरव, साहित्यिक महानता, राष्ट्रीयता, सांस्कृतिक प्रेम, सूक्ष्म निरीक्षणता, कल्पना शक्ति की उड़ान, भाष की सजीवता तथा मौलिकता के कारण अब्दुल रहमान को माँ भारती के पावन मंदिर का उत्कृष्ट पुजारी कह कर ही सम्मानित करना उचित होगा। जिसने सन्देश रासक के द्वारा हृदय रक्त से पावन तिलक कर साहित्य गरिमा के अजस्र शोभा स्रोत को प्रवाहित किया है। साहित्य के आरम्भिक युग में सन्देश रासक जैसी गौरव पूर्ण रचना का निर्माण अब्दुल रहमान को भी हिन्दी साहित्य के अन्य परवर्ती उच्च कवियों के समक्ष शोभायमान आसन प्रदान करने में सफल हुई है।

नेहरू अंक--पाठकों की दृष्टि में

सम्पादक--डा० परमानन्द ; प्रकाशक--हिन्दी विभाग, पंजाब, पटियाला ; पृष्ठ संख्या--४५० ; मूल्य--एक रुपया (साधारण प्रति ५० पैसे, वार्षिक ६ रुपए)।

आलोच्य अंक में राज्य के मंत्रियों, संसद और विधानमण्डलों के सदस्यों, विश्वविद्यालयों के अधिकारियों व प्राध्यापकों, पत्रकारों, साहित्यकारों, सम्पादकों के अतिरिक्त बैंक और टैक्नोलोजी संस्थान से सम्बद्ध व्यक्तियों ने भी राष्ट्रनायक जवाहरलाल नेहरू के जीवन एवं कृतित्व पर प्रकाश डाला है। इन लेखों की कुल संख्या एक सौ से कम नहीं लगती। इसमें संदेह नहीं कि इन लेखों में से कुछ (कम से कम एक) पूर्व प्रकाशित हैं, पर इस से अंक की उपयोगिता कम नहीं हुई है। अंक का समारम्भ राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त की इन पंक्तियों से हुआ है :--

हम कोटि कोटि कुटुम्बियों की और विश्व विशाल की,
सुख शान्ति-चिन्ता थी तुम्हारी सहचरी चिरकाल की ।
तुम जागते थे रात में भी जबकि सोते थे सभी,
जन मात्र की सच्ची विजय है जय जवाहरलाल की।

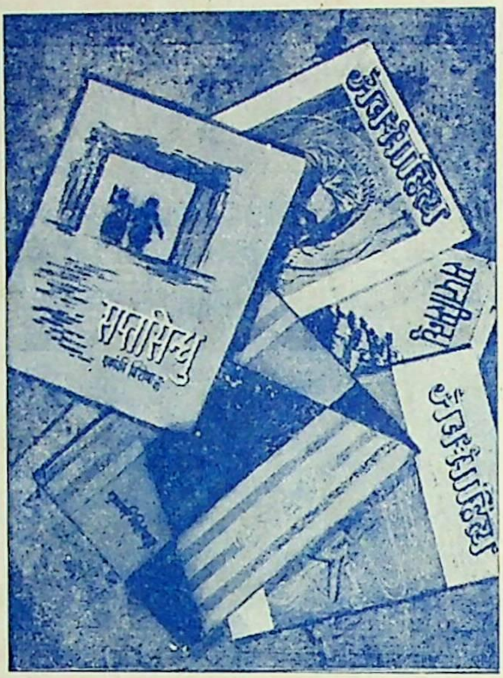
विभिन्न लोगों के बीच राष्ट्रनायक को अर्पित काव्य श्रद्धांजलियां भी बड़े सुरुचिपूर्ण ढंग से प्रस्तुत की गई हैं। मैथिलीशरण जी की कविता के बाद जवाहरलाल जी "मेरे आराध्य" शीर्षक लेख में गुरु-वन्दना करने लगते हैं और फिर अगले "एक निडर तथा निष्कलंक राष्ट्र योद्धा" लेख में गांधी जी का मानो अपने शिष्य को आशीर्वाद है। प्रस्तुत अंक के कुछ एक लेखकों व कवियों के नाम इस प्रकार हैं --जैनेन्द्र कुमार, डा० गोविन्द दास, कामरेड रामकिशन, प्रबोध चन्द्र, डा० न० वि० गाडगिल, श्रीप्रकाश, श्रीमती कृष्णा हाथी सिंह, वियोगी हरि, प्रकाश वीर शास्त्री, नन्ददुलारे वाजपेयी, कृष्ण मधोक, गिरिजा कुमार माथुर, डा० विजयेन्द्र स्नातक, जयनाथ 'नलिन', यू० एन० ढेबर आदि । जवाहरलाल जी और लाल गुलाब जो अब उनका प्रतीक बन गया है, के बहुरंगे चित्रों के अतिरिक्त, राष्ट्रनायक के परिवार और उनके कर्मठ जीवन के विभिन्न पहलुओं सम्बन्धी नाना चित्र भी आर्ट पेपर पर सुरुचिपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किए गए। इस अंक के अन्त में भारतीय और विदेशी नेताओं की श्रद्धांजलियों का चयन दिया गया है। आलोच्य अंक सभी प्रकार से स्तुत्य एवं संग्रहणीय है।

--ज० ल० ब०

('योजना' १३ दिसम्बर, १९६४ से उद्धृत)

हिन्दी विभाग, पंजाब के दो अनूठे मासिक प्रकाशन

सप्तसिन्धु



जनसाहित्य

शोधपूर्ण एवं आलोचनात्मक साहित्यिक प्रबंधों का एक बोधक संचयन।

व्यंग्य-विनोद एवं सृजनात्मक सरस साहित्य का एक रोचक संकलन।

दोनों पत्रिकाएँ डी० पी० आई०, पंजाब, डायरैक्टर पंचायत, पंजाब, तथा संचालक, लोक शिक्षण, मध्यप्रदेश, द्वारा पंजाब के सभी स्कूलों, कालेजों, लायब्रेरियों एवं पंचायतों तथा मध्यप्रदेश के स्कूलों, कालेजों एवं लायब्रेरियों के लिए स्वीकृत हैं।

बढ़िया काग़ज़, सुन्दर छपाई, आकर्षक गेट-अप

प्रत्येक का :—

वार्षिक ६ रुपये **एक प्रति ५० पैसे**

आज ही निदेशक, हिन्दी विभाग, पंजाब, पटियाला को मनीआर्डर भेजकर ग्राहक बनिए।

श्री लाल सिंह, डायरैक्टर जनरल, भाषा विभाग, पंजाब, पटियाला द्वारा प्रिंटिंग एण्ड स्टेशनरी डिपार्टमैंट, पंजाब, पटियाला से छपवाकर प्रकाशित किया गया।

सम्पादक—डा० परमानन्द

सप्तसिन्धु

मार्च, १९६५

हिन्दी विभाग, पंजाब, पटियाला

५०
पैसे

संस्कृत अनुसन्धान आवश्यक

"संस्कृत के विभिन्न अंगों पर आधुनिक दृष्टि से अनुसन्धान किये जायें। संस्कृत का प्रौढ़ पाण्डित्य नष्ट होता जा रहा है, उसकी रक्षा की जानी चाहिए। स्नातकों को सम्बोधित करते हुए प्रधान मन्त्री ने कहा कि संप्रदाय और वर्गभेद की पुरानी रूढ़ियों से ऊपर उठ कर संस्कृत वाङमय की इस घोषणा को सामान्य जनता तक पहुंचाना होगा कि मनुष्यों में भेद, ऊँच-नीच का भाव और किसी धर्म के प्रति घृणा हमारे शास्त्रों की मर्यादा और भारतीय संस्कृति की दृष्टि से संगत नहीं है।"

[वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के दीक्षान्त समारोह के अवसर पर दिये गये प्रधान मन्त्री जी के भाषण से उद्धृत।]

सप्त-सिन्धु

इमां वाचम् कल्याणी मावदानि जनेभ्यः

सम्पादक--डा० परमानन्द

वर्ष—१२ मार्च, १९६५ अंक—३

वेद-सुधा

इन्द्र क्रतुं न आभर
पिता पुत्रेभ्यो यथा ।
शिक्षा णो अस्मिन् पुरुहूत
यामनि जीवा ज्योतिरशीमही ।।

ऋक् ७.३२.२६

हे जगदीश्वर ! जैसे पिता हम लोगों को पुष्ट करता है वैसे आप पालना कीजिए, जसे विद्वान् जब विद्यार्थिओं के लिऐ शिक्षा देकर सत्य बुद्धि का ग्रहण कराता है, वैसे ही हम को सत्य ग्रहण कराओ जिससे हम लोग सृष्टि, विद्या और आपको पाकर सर्वदैव आनन्दित हों ।

(श्रीदयानन्द-भाष्य से)

लेख सूची

ग्रीक यात्री की दृष्टि में बौद्ध-युगी भारत

अवनींद्र कुमार विद्यालंकार

भारत पर सिकन्दर का आक्रमण होने से पहले भी ग्रीक यात्री भारत आते थे। यह अब भारत के अनेक भागों में प्राप्त ग्रीक सिक्कों से प्रमाणित हो गया है। ग्रीक नाविक का एक भित्ती लेख मिला है : पूर्वी पवन, तुझे बहुत-बहुत धन्यवाद। उषाकाल में तेरा आगमन हुआ ! तेरे कारण मेरी समुद्र-यात्रा सकुशल समाप्त हुई। २४ परगना में प्राप्त यह लेख बताता है कि अत्यन्त प्राचीन काल में ग्रीक भारत से व्यापार करने आते थे। ईसा से तीन हज़ार साल पहले भी गंगा नगर और ताम्र लिप्ति इन दो बन्दरगाहों के द्वारा भारत का ग्रीस-रोम से व्यापार होता था।

महाभारतकार ने ग्रीकों को यवन नाम से सम्बोधित किया है। उनकी भाषा का विधिवत अध्ययन किया जाता था। महाराज युधिष्ठिर और साधु विदुर इस भाषा को जानते थे। वारणावत जाते हुए लाक्षागृह बनाये जाने की सूचना विदुर ने युधिष्ठिर को यवन-भाषा द्वारा ही दी थी। परन्तु हमारी पाठ्य-पुस्तकों में किसी ग्रीक-यात्री का वर्णन नहीं मिलता। सैलानी होने और भारत के प्रति श्रद्धा होने के कारण, भारत से आर्थिक लाभ उठाने की गरज़ से न आए किसी ग्रीक यात्री का नाम साधारणतया हमारा इतिहास लेखक नहीं लेता। परन्तु पर्यटन उद्योग प्राचीन काल में भी था और पर्यटक विश्व भर में भ्रमण करते थे। इनमें एक ग्रीक पर्यटक एप्पोल्लोनियस था।

एप्पोल्लोनियस टीयाना का निवासी था। यह ज्ञान-लालसा से प्रेरित होकर भारत आया था। यह पंजाब में रहा। गंगा का मैदान इसने देखा, नर्मदा नदी इसने पार की और समुद्र मार्ग से ग्रीस वापस लौट गया।

पैथागोरस (५०० ई० पू०) के बारे में यह प्रसिद्ध है कि वह भारत आया था। यह ग्रीक दार्शनिक कर्मफल के सिद्धान्त और पुनर्जन्म में विश्वास करता था। एप्पोल्लोनियस इस पैथागोरस का अनुयायी था। एक समय वह जीवन में दरबारी था। दूसरे एक अन्य समय वह

योद्धा था । एप्पोल्लोनियस कर्म-सिद्धान्त में विश्वास करता था । वह जानता था कि भारतीयों में यह सिद्धान्त बहुत वर्षों से प्रचलित है । वह इसका सूक्ष्म अध्ययन करना चाहता था ।

ऐप्पोल्लोनियस ने यद्यपि संन्यास आश्रम की दीक्षा नहीं ली थी, पर जीवन और कर्म से संन्यासी था । वह शराब नहीं पीता था, वह मांस नहीं खाता था । वह कुमार और अविवाहित जीवन व्यतीत करता था । उसने क्षौरकर्म भी त्याग दिया था । दाढ़ी बढ़ा ली थी । मुद्रा का स्पर्श तक न करता था । एक आश्रमवासी का या एक फकीर का जीवन व्यतीत करता था । पश्चिमी एशिया के लोगों की दृष्टि में वह ईसा के समान पूज्य और आदरणीय था । पैलेस्टाईन में उसके सम्मान में एक मन्दिर बनवाया गया था । इसकी भारत-यात्रा का वर्णन रोम-सम्राट् सेटटीमीयस सेवेरस फिलासट्रेटस की पत्नी जूलिया डोन्ना ने प्रकाशित किया है ।

एप्पोल्लोनियस के साथ-साथ बैबीलोनिया का एक निवासी डेमिस भी आया था । इसने ही ग्रीक-यात्री के भारत-यात्रा के वर्णन और अनुभव को सुरक्षित रखा । यह बाद में रोम के सम्राट् की पत्नी ने प्रकाशित कराया । रोम सम्राट् फिलास-ट्रेटस स्वतः एक विद्वान् व्यक्ति था । इसने भी एप्पोल्लोनियस की एक जीवनी लिखी । इस जीवनी में ग्रीक-पर्यटक की भारत-यात्रा और भारत-यात्रा के अनुभवों का विशद वर्णन है ।

एप्पोल्लोनियस सरल जीवन व्यतीत करने वाला एक व्यक्ति था । सम्पूर्ण-भारत-यात्रा में उसने वाहन का उपयोग नहीं किया । अतः जहां उसका परिचय महलों, दरबारों से हुआ, वहां वह गडरियों और चरवाहों के सम्पर्क में भी आया । वह सदा आश्रम में ठहरा । झौंपड़ियों में रहा ।

एथेंस और मिश्र में इसने भारतीय संन्यासियों के विषय में सुना था । उसको ज्ञात था कि ग्रीस में आने के बाद दो भारतीय संन्यासियों ने भारत वापस जाने की सुविधा न मिलने पर अपने को होम दिया, पर ग्रीक सरकार के लगाए प्रतिबन्ध को नहीं माना । आत्माहुति की यह कहानी ग्रीस में सर्वत्र फैल गई थी । एप्पोल्लोनियस ने भी आत्मा का त्याग और उत्कट देशभक्ति की इस कहानी को सुना था । इसके कारण उसके मन में भारत के वीतरागी संन्यासियों को जानने की तीव्र इच्छा हुई । इसी कारण उसने उनके जैसा जीवन-यापन करने का निश्चय किया ।

श्रमणकराज नामक ब्राह्मण ने एथेंस में अपने को आग में भस्म कर दिया था । प्रज्वलित चिता के मध्य शान्त श्रमणकराज को बैठे हुए एप्पोल्लोनियस ने देखा था । श्रमणकराज बरगोसा बन्दरगाह

की राह एथेंस पहुंचा था। एथेंस पहुंच कर वह बीमार हो गया। बीमारी लम्बी हो गई। जीवित रहने की आशा क्षीण हो गई। इस समय उसने अनुभव किया कि उसका यहां वैदिक विधि से अंत्येष्टि संस्कार करने वाला कोई नहीं है। अतः उसने अपनी चिता स्वतः चुनी। उसको आग लगाई। इसके बाद प्रज्वलित चिता में वह चुपचाप जाकर बैठ गया। यह एक वैदिक संन्यासी की स्वेच्छावरण मृत्यु थी। वह (श्रमणकराज) जहां चिता बना कर जला था, वहां श्रद्धालु एथीनियनों ने एक समाधि बनाई। इस पर निम्नाशय का लेख लिखा गया :

> बारगोसा का भारतीय जार मानोचेगाज
> यहां सोया पड़ा है। जिसने भारत
> की प्राचीन परम्परा और रिवाज के
> अनुसार अपने को अमर बना लिया।

इस ब्राह्मण के उत्कट विश्वास और श्रद्धा से एप्पोल्लोनियस बहुत अधिक प्रभावित हुआ। ब्राह्मणों को समझने के लिये उनके साथ रहना जरूरी है, यह बुद्धि उपजने पर उसने भारत की यात्रा करने की योजना बनाई। वह जानना चाहता था वह क्या कारण है, जिससे भारतीय ब्राह्मण मृत्यु से नहीं डरता है। अपने विश्वासों और अपनी परम्पराओं के प्रति उसकी दृढ़ श्रद्धा का क्या कारण है ?

भारत आने से पहले एप्पोल्लोनियस एण्टीयोक और बैबीलोनिया गया। बैबीलोनिया इस समय व्यापार का अन्तरराष्ट्रीय केन्द्र था। बैबीलोनिया में नरेश बारडेंस ने उसको परिचय-पत्र दिए। ये भारत के नरेशों और सन्त-महात्माओं के नाम थे। परिचय-पत्रों में राजा बारडेंस ने लिखा था :

मैं आपके पास एक दिव्य पुरुष भेज रहा हूँ। इसके प्रति उदारता प्रदर्शन करने में अन्य नरेशों का अनुकरण करो। वह यह सम्मान पाने का पात्र है। राजा बारडेंस ने ही डेमिस को एप्पोल्लोनियस के साथ भारत भेजा। डेमिस इससे पहले बहुत बार भारत आ-जा गया था। इससे एक बात स्पष्ट है कि एप्पोल्लोनियस असाधारण व्यक्ति था और पश्चिमी एशिया में केवल विख्यात ही नहीं, सम्मानित और पूज्य व्यक्ति था। ऐसे नेता का भारत में श्रद्धा से आना प्रकट करता है कि मनु ने जो यह लिखा था, वह अकारण नहीं लिखा था :—

> **"एतत् देश प्रसूतस्य**
> **सकाशादग्रजन्मनः ।**
> **स्वं-स्वं चरित्रं शिक्षेरन्**
> **पृथिव्यां सर्वमानवः ॥"**

भारतीय ब्राह्मण के इसी महान् चरित्र ने एप्पोल्लोनियस को भारत आने की प्रेरणा दी थी। एप्पोल्लोनियस ने भारत पहुंचने पर सर्वप्रथम जो अनुभव किया

श्रौर जिस बात की उसके मन पर छाप पड़ी, वह यह थी कि भारतीय अत्यन्त शान्तिप्रिय हैं। उन्होंने अब तक कभी किसी देश पर स्वतः आक्रमण नहीं किया। सदा आत्म-रक्षा ही की है। वे अपना देश छोड़ कर दूसरे देशों में भी नहीं गए। अतः उनकी जनसंख्या बराबर बढ़ती गई।

भारत में उस समय अनेक बड़े-बड़े शहर थे। वे योजनापूर्ण पद्धति से बसाये गए थे। सड़कें सुन्दर थीं। सड़कों के दोनों ओर दुकाने थीं। इन दुकानों में हरेक चीज़ सदा विद्यमान रहती थी। सौदागरी की चीज़ों से वे सदा भरी-पूरी रहती थीं।

नदी-घाटी प्रदेश में सिंचाई की उत्तम व्यवस्था थी। एप्पोल्लोनियस ने देखा कि मैदान नहरों द्वारा सब दिशाओं में विभक्त हैं। नदियों में संचार की व्यवस्था भी उसने उत्तम पाई। उसने भारत की फसलों की मिश्र की फसलों से तुलना की और इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि मिश्र की तुलना में भारत की गेहूँ तो "रीड़" के समान है। बीन-फलियां तीन गुणा बड़ी हैं। ज्वार-बाजरा के दाने असाधारण रूप से सुन्दर हैं। गिरियां आकार के कारण उल्लेख योग्य थीं। इनका ग्रीस के मन्दिरों को निर्यात किया जाता था।

एप्पोल्लोनियस ने भारत को पशुओं की दृष्टि से समृद्ध पाया। गडरियों को उसने आकर्षक, स्वस्थ और प्रसन्न पाया। वे भेड़ से लेकर हाथियों तक के मालिक थे। एप्पोलोनियस को सर्वाधिक प्रभावित करने वाली बात यह थी कि समाज के अन्य सब वर्ग अपने-अपने ही कार्य की चिन्ता करते थे। अपना-अपना ही उद्योग देखते थे; पशुओं को पालने और खेती करने पर उनका विशेष ध्यान था। वे निरन्तर सूर्य की पूजा करते थे। उनके अन्य आराध्य देव थे : चन्द्र, अग्नि, उनकी प्रार्थना का सार होता था, भारत के सुख, मंगल और कल्याण के वास्ते सब मौसम हों। परन्तु ब्राह्मण समस्त समाज व वर्गों के हित-चिन्तन में निरत थे। वे सब उद्योगों से सम्बन्धित थे। उनका अपना कोई खास उद्योग और व्यापार न था। वे समाज के थे और समाज उनका था।

एप्पोल्लोनियस ने बड़े-बड़े शहरों में विशाल इमारतें देखीं। ये दो-मंजिली होती थीं। इनके नीचे तहखाना होता था। वह स्टोर-भण्डार का काम करता था। गर्मियों में यह शीतागार का काम करता था। सरदारों, सामन्तों और नरेशों के भवन शहरों के मकानों से जरा कुछ भिन्न प्रकार के होते थे।

भारतीय अधिकतर सूती वस्त्र पहनते थे। साधारणतः ये सिले नहीं होते थे। उनका जीवन साधारण था और उनकी आवश्यकताएं अल्प थीं। भारत समृद्ध है, क्योंकि लोगों का जीवन सरल और सीधा है।

एप्पोल्लोनियस को यह भी अनुभव हुआ कि भारतीयों को अपने मन्दिरों के प्रति बहुत अधिक अभिमान है। ये साधारणतः शहर की चारदिवारी से बाहर होते हैं। जिससे सब लोग उसके दर्शन करने जा सकें। इन मन्दिरों के स्तम्भ इनको अपूर्व शोभा प्रदान करते हैं। मन्दिरों को अलंकृत करने और प्रतिभा बनाने की कला और उसमें धातुओं के मिश्रण के विषय में भी उसने विवेचन किया है।

सब राजधानियों में उसने देखा कि राजा स्वतः न्यायदान करते हैं। नरेशों का जीवन कठोर और परिश्रमी था। वे कड़ी मेहनत करते थे। उनको भारत और बाहर के देशों के बारे में पूरी-पूरी जानकारी रहती थी। भारत के महात्माओं को भी दुनिया का यथार्थ और पूर्ण ज्ञान रहता था। भारतीय दर्शन और संस्कृति की चर्चा करते हुए तक्षशिला नरेश ने ग्रीक पर्यटक से कहा था : राष्ट्र जब अन्य राष्ट्रों को विजय करने को उद्यत होते हैं, तो उनका दर्शन भी लूट व डाकेजनी का हो जाता है। परन्तु भारत में तत्वज्ञान व दर्शन को उच्च सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त है। कोई छात्र इसका अध्ययन करने को प्रवृत्त हो, उससे पहले इसको उसकी पात्रता अपने चरित्र और वंश से सिद्ध करनी चाहिए।

भारत के उस समय के सब विश्वविद्यालयों के पास एक रजिस्टर रहता था। जिसमें इस बात का विवरण रहता था कि उस विश्वविद्यालय के छात्र कहां हैं और क्या कर रहे हैं। प्रत्येक शहर की नगरपालिका में एक रिकार्ड रखा जाता था। विश्वविद्यालयों में प्रवेश पाने वाले छात्र को इस रिकार्ड का प्रमाण-पत्र देना होता था। इसके बिना वह विश्वविद्यालय में प्रवेश नहीं पा सकता था।

एप्पोल्लोनियस जब भारत आया, उस समय भारत की सामान्य-राष्ट्र भाषा संस्कृत थी। भारत में उस समय हिन्दु धर्म, बौद्ध धर्म और ब्राह्मण धर्म प्रचलित थे। ये तीनों अपना सब काम संस्कृत द्वारा करते थे। धर्मग्रन्थ और विश्वविद्यालयों की पाठ्यपुस्तकें भी संस्कृत में थीं। समाज में ब्राह्मणों का बहुत सम्मान था और उनको उच्च स्थान प्राप्त था। देश भर में आश्रम थे। इन आश्रमों और विश्वविद्यालयों के छात्रावासों में जीवन एक जैसा ही था। जीवन की न्यूनतम आवश्यकताएं ही पूरा करने में ये आत्मसन्तोष मानते थे। ग्रीक-पर्यटक बहुत दिनों तक तीर्थ-यात्रा के धार्मिक स्थानों और विद्या के केन्द्रों में कोई भेद नहीं कर सका। क्योंकि तीर्थ स्थान भी उस समय विद्या-दान के एक पुण्य केन्द्र थे। धर्मगुरु लम्बा चोगा पहनते थे —जैसे आजकल पादरी पहनते हैं—पर नंगे पैर रहते थे। वे पर्वतों पर या नदियों के तट पर रहते थे। सम्भवतः

वे वेद की इस ऋचा में दृढ़ भक्ति रखते थे :

"उपगह्वरे गिरिणां
संगमे च नदीनां
धियाविप्रो अजायत ।"

इनका समाज पर राजाओं से भी अधिक प्रभाव था। ग्रीक पर्यटक ने इस सत्य को अनुभव किया :

"विद्वत्वं च नृपत्वं च
नैव तुल्ये कदाचन
स्वदेशे पूज्यते राजा
विद्वान् सर्वत्र पूज्यते ।"

हां, अनेक संन्यासी राजाओं के मंत्री भी थे। प्रशासन पर उन वीतरागी संन्यासियों का राजा से भी अधिक प्रभाव था।

विश्वविद्यालयों में छात्रों का जीवन कठोर था। रात दो बजे वे उठा दिए जाते थे। प्रार्थना के साथ उनके दैनिक कार्य का प्रारम्भ होता था। वे स्नान करते थे। शिक्षकों की योग्यता बहुत ऊंचे दर्जे की थी। योग्य शिक्षक ही नियुक्त किए जाते थे। ठीक योग्यता का व्यक्ति न मिलने तक वह पद खाली रखा जाता था। अनेक बार प्रोफैसरों की संख्या घटते-घटते एक पर पहुंच जाती थी। परन्तु इसी कारण शिक्षा का स्थिर उच्च प्रतिमान नहीं घटाया जाता था।

मिश्री विश्वविद्यालयों ने एक बार विद्यापीठ में एकमात्र चार साल तक एकाकी रहे आचार्य को बधाई का सन्देश भेजा था। इस बधाई के उत्तर में उस एकाकी आचार्य ने मिश्रियों को लिखा : मिश्री भारत को कभी इस बात के लिये दोष न देंगे कि बुद्धिमान मनुष्यों की संख्या थोड़ी है। हम भारत में विश्वविद्यालयों के वास्ते विहित प्रतिमान से नीचे का कोई उपाध्याय कभी नहीं नियुक्त कर सकते।

एप्पोल्लोनियस ने एक बार और विचित्र बात लिखी है, उसने किसी व्यक्ति को भारत में कहीं भी दास नहीं पाया। यूरोपियन ऐतिहासिकों और उनके शिष्यों को इससे भारी कठिनाई का सामना करना पड़ेगा। क्योंकि वे मानते हैं कि प्राचीन भारत में दास होते थे। यदि भारत में दास न थे, तो वर्गहीन समाज की स्थापना का एक पाया ही जाता रहेगा।

तक्षशिला के राजा ने एप्पोल्लोनियस से कहा था : यदि दास मालिक को छोड़कर नहीं भागते तो मालिक को चाहिए कि वह दासों को छोड़ कर भाग जाय। आत्मा की मुक्ति के लिये सतत प्रयत्न करने वाले देश का ही एक राजा यह बात कह सकता था। ग्रीक पर्यटक के वास्ते यह बात अद्भुत और सर्वथा विस्मयजनक थी। क्योंकि ग्रीस की समृद्धि और सभ्यता का आधार ही दास थे। एथेंस तक में दासों की संख्या नागरिकों से कहीं अधिक थी। भारत में इससे भिन्न अवस्था देखकर

ग्रीक पर्यटक यदि चकित रह गया हो, तो क्या ग्राश्चर्य ।

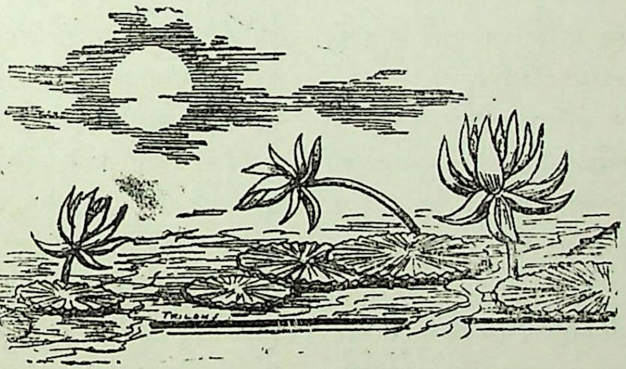
लेकिन एक बात है । ग्रीक विद्वान् पर्यटक के भारत दर्शन में कहीं ग्रवश्य त्रुटि रही है । क्योंकि ग्राचार्य चाणक्य ने कहा है, 'नार्य दासमर्हति' ग्रार्य को दास नहीं बनाया जा सकता । इसका ग्रर्थ है कि सिकन्दर के ग्राक्रमण के बाद भारत में भी ग्रीकों के देखा-देखी दास-विक्रय होने लगा था । इसको रोकने के वास्ते ग्राचार्य चाणक्य को यह नियम विहित करना पड़ा कि किसी भी ग्रवस्था में ग्रार्य दास नहीं हो सकता ।

एप्पोल्लोनियस भारत से जब विदा हुग्रा, तो भारत का स्नेह लेकर गया । भारत के प्रति उसके हृदय में केवल श्रद्धा ही नहीं थी, कृतज्ञता भी थी । भारत से विदा होते हुए उसने पोटाला (बम्बई के समीप) के ग्राश्रम-वासियों को धन्यवाद देते हुए एक पत्र भेजा था, वह निम्न ग्राशय का था :

मैं ग्राप लोगों के पास स्थल मार्ग से ग्राया । ग्रापकी सहायता से मैं समुद्र द्वारा ग्रापने देश लौट रहा हूँ । यदि मैं चाहता तो ग्राकाश मार्ग से भी ग्रीस लौट सकता था । क्योंकि ग्रापने मुझे ऐसा ज्ञान प्रदान किया है । ग्रीक लौटने पर ग्रीकों के मध्य रहते हुए भी इन बातों को मैं कभी न भूलूंगा । ग्राप लोगों के साथ बराबर पत्र-व्यवहार रखूंगा । विदा, भारत के सर्वश्रेष्ठ दार्शनिको! विदा, विदा ।

भारत ग्रौर ग्रीस के बीच क्या सम्बन्ध था, उसका यह एक उत्कृष्ट नमूना है ।

● ● ●



काव्य में छन्द और 'गुरुप्रताप सूरज' का छन्द-विधान

डा० जय भगवान गोयल

प्रसिद्ध साहित्यकारों एवं संगीतज्ञों ने संगीत तथा कविता की पृथक् सत्ता स्वीकार करते हुए भी इन दोनों के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध को स्वीकार किया है । इस सम्बन्ध में कुछ साहित्यकारों एवं संगीतकारों के विचार दर्शनीय हैं—

१. कविता संगीत की सौन्दर्यमय सृष्टि है । (एडगर एलन पो)
२. संगीतमय विचार ही काव्य है । (कारलायल)
३. वास्तव में कविता राग के सिवा कुछ नहीं । (बायरन)
४. संगीत आकार प्रधान काव्य है, काव्य सार्थक संगीत है । (गुलाबराय)
५. संगीत और काव्य में जब मेल हो जाता है तो सोने में सुगन्धि आ जाती है ।
(गायनाचार्य पं० विष्णु दिगम्बर)
६. मेरी दृष्टि में देह के साथ आत्मा का जो सम्बन्ध है, वही संगीत का कविता से है । काव्य गाने के लिये होना चाहिए, यह प्राचीन मान्यता है ।..... माता सरस्वती के दो स्तन साहित्य और संगीत हैं, उन्हीं का दूध पीकर साहित्यकार, साहित्यकार बना है और संगीतकार, संगीतकार ।
(पं० ओंकारनाथ ठाकुर)

फुलर ने तो यहां तक भी कह दिया है कि कविता शब्द के रूप में संगीत और संगीत स्वर के रूप में कविता है ।

संगीत एक ऐसी कला है, जिसमें समाज, देश और काल की सीमाओं को पार करके, प्राणीमात्र को आह्लादित करने की अमोघ शक्ति है । संगीत के स्वरों में मन को एकाग्र करके समस्त अंतश्चेतना को तन्मय और स्थिर कर देने की ऐसी अद्भुत शक्ति है कि हृदय की समस्त वृत्तियां केन्द्रीभूत होकर अन्तर्मुखी हो जाती हैं । "संगीत के द्वारा मनुष्य की सुगुप्त वृत्तियों को जागृत किया जा सकता है।" वस्तु काव्य में संगीत के सन्निवेश

के काव्य की तन्मयकारी शक्ति सहज ही द्विगुणित हो जाती है ।

छन्द एवं संगीत का सम्बन्ध

संगीत का मुख्याधार भी लय ही है और छन्द का मुख्य तत्व भी लय ही है। अन्तर केवल इतना ही है कि संगीत में स्वर, ताल अथवा आलाप की प्रधानता होती है और छन्द में लय के साथ वर्णों अथवा शब्दों की । इसीलिये डा० हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने संगीत एवं छन्द के सम्बन्ध पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि "अर्थहीन छन्दप्रवाह संगीत ही है" अर्थात् अर्थमयी भाषा संगीत के मिलने से छन्द की सृष्टि हुई है।

जिस प्रकार स्वर, ताल, लय आदि के आरोह, अवरोह, तीव्रता अथवा मंदता आदि के वैविध्य के नए राग बनते हैं, उसी प्रकार युग की भावनाओं के अनुरूप लयादर्श संगठित होते हैं, उन्हीं के आधार पर नवीन छन्दों का स्वरूप निर्मित होता है ।

क्या छन्द कविता का अनिवार्य माध्यम है?

ऊपर के विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि संगीत अथवा संगीत पर आधारित छन्द के सन्निवेश से कविता की शक्ति एवं सामर्थ्य कहीं अधिक बढ़ जाता है । अब प्रश्न यह है कि क्या छन्द के अभाव में भी कविता संभव है ? काव्य में छन्द की अनिवार्यता का विरोध करने वाले तथा छन्द के आभाव में कविता का समर्थन करने वालों के मुख्य तर्क ये हैं:—

(क) गद्य में भी एक लय होता है, इसलिये कविता को गद्य के निकट लाने से उसकी लय को कोई क्षति नहीं पहुंचती, वरन् उसमें स्वाभाविकता एवं सार्थकता अधिक आ जाती है।

(ख) छन्द के बंधन से भावाभिव्यक्ति एवं भाषा में कृत्रिमता आ जाती है ।

(ग) इससे भावों की अभिव्यक्ति में बाधा उपस्थित होती है ।

(घ) केवल छन्दोबद्ध रचना ही कविता नहीं हो सकती ।

यहां हम इन पर क्रम से विचार करेंगे —

(क) गद्य में भी एक लय होती है, इसमें हमें कोई आपत्ति नही परन्तु कविता (पद्य) तथा गद्य की लय में भारी अन्तर है । पद्य की लय संगीत पर आधारित होती है, जबकि गद्य की लय व्याकरण तथा मात्रा-विशेष की प्रवृत्ति के अनुकूल शब्द-विन्यास, वाक्य रचना आदि के क्रम पर निर्भर होती है । दण्डी, बाण आदि के गद्य में जो संगीतात्मकता झलकती है, वह शब्दालंकारों एवं समासयुक्त पदावली की झंकार मात्रा है, उसमें लय तथा सुर का आभासमात्र होता है। उसे संगीतात्मक मानना सर्वथा भ्रामक है । वस्तुतः गद्य

का संगीत वाक्य में शब्द विन्यास में वाक्य रचना तथा अध्याय में अनुच्छेदों के सुव्यवस्थित नियोजन में है । गद्य का यह संगीत स्वरप्रधान 'संगीत कला' से सर्वथा भिन्न है ।

जो लोग स्वाभाविकता के नाम पर कविता को गद्य के निकट लाने का आग्रह करते हैं, वे नृत्य को सामान्य अंग संचालन के तथा राग को सामान्य भाषण के निकट लाने का प्रयत्न क्यों नहीं करते ? यदि गद्य में संगीत माना जाए तो दौड़ने या साधारण गति में नृत्य तथा भाषण को राग मानने में क्या आपत्ति हो सकती है ? परन्तु इस प्रकार की दौड़ तथा भाषण में मन पर वह आनन्दप्रद प्रभाव नहीं पड़ सकता जो ललित कला का सर्वप्रमुख लक्षण है । प्राचीन अरब देश में इस प्रकार के प्रभावशाली भाषण को 'शेअर' के अन्तर्गत माना जाना ठीक उसी प्रकार समझना चाहिए जिस प्रकार संस्कृत में 'दशकुमारचरित', 'कादम्बरी' आदि को काव्य की संज्ञा दी जाती थी । परन्तु जिस प्रकार आज उन्हें हम कविता नहीं कह सकते इसी प्रकार प्रभावशाली भाषण को भी कविता नहीं मान सकते । स्वाभाविकता के नाम पर गद्य को कविता के निकट लाने का आग्रह करने वालों में तो 'वैवरली' के उपन्यासों को भी कविता कहने में संकोच नहीं किया । परन्तु इस प्रकार के आग्रह से काव्य को अत्यधिक क्षति हो रही है । कविता में हमें आजकल जो शुष्कता एवं नीरसता के दर्शन होते हैं वह इस आग्रह का ही परिणाम है । कहना न होगा कि जो लोग कविता को भी गद्य बना देना चाहते हैं, वे कविता को तन्मयकारी, मुग्धकारी प्रभाव से शून्य करके एक मस्तिष्क की उलझी चीज बना देना चाहते हैं । कुछ लोग तो गद्य को लययुक्त बनाने के मोह में गद्य के स्वरूप को भी विकृत कर रहे हैं ।

किसी किसी लेखक के गद्य में हमें जो लय, प्रवाह एवं संगीतात्मकता के दर्शन होते हैं, उसे हम 'गद्यकाव्य' के नाम से अभिहित करते हैं, वस्तुतः उसमें भी संगीत का आभास-मात्र होता है, उसमें भावावेश के अनुरूप भाषा का तीव्र एवं ओजस्वी प्रवाह ही अधिक होता है । अस्तु संगीतात्मकता ही पद्य (कविता) को गद्य से पृथक् करती है ।

(ख) छन्द के समावेश से कविता की भाषा में साधारण बोलचाल की भाषा की अपेक्षा कुछ कृत्रिमता अवश्य होती है । परन्तु इस प्रकार की कृत्रिमता का सभी ललित कलाओं में प्रायः जानबूझ कर आश्रय लिया जाता है । उस विषमता एवं अनेकता में एकता एवं साम्य लाना ही कलाकार का कार्य है । नृत्य में ही पद-संचालन की कृत्रिमता ही होती है, परन्तु उसमें वह एक विशेष लय पर आधारित एवं नियमित की हुई होती है । इसी प्रकार

राग में भी वाणी का कृत्रिम प्रयोग होता है। उसमें कहने के लिये कुछ भी नहीं होता, एक ही शब्द और वाक्य से आ-आ-आ की विलक्षण आवृत्ति से मन पर गहरा प्रभाव पड़ता है और श्रोता एक आलौकिक आनन्द का अनुभव करता है। "मधुर मधुर मेरे दीपक जल" इस पद को साधारण ढंग से गद्य में पढ़ने से मन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता परन्तु इसी पद का वाणी को विकृत करके लययुक्त स्वर में पाठ करने से संगीत के संयोग से उसका प्रभाव विलक्षण होगा। यह जानते हुए भी कि अमुक व्यक्ति बहुरूपिया है, उसके साधारण रूप को देख कर हम आह्लादित नहीं होते, परन्तु उसको भिखारी, साधु, सैनिक आदि के कृत्रिम रूप में देख कर हम प्रसन्न हो उठते हैं। अस्तु, केवल स्वाभाविकता के नाम पर अथवा कृत्रिमता से बचने के लिये कविता को गद्य बनाने का आग्रह उचित नहीं है। छन्द के प्रयोग से कविता में जो कृत्रिमता आती है, उससे उसका प्रभाव ही बढ़ता है।

दूसरे यदि स्वाभाविकता के लिये हम कविता में से छन्द का बहिष्कार करना चाहते हैं तो काव्य के सौंदर्य-विधायक अन्य तत्वों का भी बहिष्कार कर देना चाहिए। साधारण और स्वाभाविक उचित तो यही है कि वह वीर है अथवा तेजस्वी है। परन्तु इसे ही हम 'वह सिंह के समान वीर है' अथवा 'वह सिंह है' और 'वह सूर्य के समान तेजस्वी हैं' कह कर उक्ति को विकृत क्यों करते हैं। निस्सन्देह ऐसा कहने से उक्ति में चमत्कार तो आता ही है, उस व्यक्ति की वीरता एवं तेजस्विता की व्यंजना भी अधिक स्पष्टता से हो जाती है। कविता में छन्द के प्रयोग से भी भावों की अभिव्यक्ति एवं प्रभाव का सामर्थ्य बढ़ आता है।

(ग) कुछ लोगों का कहना है कि छन्द के बन्धन से कवि की स्वतन्त्र भावाभिव्यक्ति में बाधा पड़ता है। उसे छन्द के अनुरूप भाव को ढालना पड़ता है, जब तक वह छन्द पूर्ण करता है, भावावेग की स्थिति समाप्त हो जाती है। परन्तु यह धारणा भी निराधार है। काव्य-प्रतिभा से शून्य व्यक्तियों को भले ही इस प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता हो, प्रतिभासम्पन्न कलाकार को इससे किसी प्रकार की असुविधा नहीं होती। उसकी अनुभूति जब भावावेग की स्थिति में होती है तो वह स्वतः ही लयमान होकर प्रकट होने लगती है। उसे एक निश्चित छन्द का रूप देने के लिये भी उसे विशेष प्रयास करना नहीं पड़ता। वह तो अनायास ही आदि कवि की वाणी की भांति लयमान होकर निःसृत होने लगती है। कुछ को आरम्भ में अभ्यास की आवश्यकता भले ही हो, परन्तु अभ्यास सभी ललित कलाओं की साधना के लिए अनिवार्य है। गद्य रचना

के लिये भी अभ्यास अपेक्षित है। अभ्यासोपरान्त स्थिति में कवि अपने भावों को छन्दबद्ध रूप में व्यक्त करने में अधिक सुविधा का अनुभव करता है और उस की वाणी का प्रभाव भी अधिक होता है। संसार का समस्त साहित्य इस बात का साक्षी है कि भावावेश अथवा भावों के आवेग से पूर्ण रचना जितनी छन्दोबद्ध रूप में उपलब्ध होती है, उतनी अन्य रूपों में नहीं। कालिदास राय के मतानुसार—"कवि सायास नवनय छन्दों के निर्माण का विधान नहीं करता, भाव स्वतः उनसे छन्द की सृष्टि करवाते हैं।" डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन है कि "छन्द वस्तुतः एक गति है यह समझना ठीक नहीं कि वह मात्राओं और यतियों का बंधन है। जिस प्रकार नदी अपने दोनों किनारों में बंध कर ही वेगवती होती है। यदि किनारे के बंधन न हों तो प्रवाह का वेग भी न होगा। वाणी भी मात्राओं और यतियों के बंधे किनारों के भीतर से वेगवती हो उठती है।"

(घ) इस कथन से हम सर्वथा सहमत हैं कि केवल छन्दयुक्त रचना ही कविता नहीं हो सकती। संस्कृत में ज्योतिष, वैद्यक, व्याकरण आदि के बहुत से ग्रन्थों की रचना भी छन्दोबद्ध है परन्तु इन्हें भाव व्यन्जना, अनुभूति, कल्पना तथा काव्य के अन्य तत्वों के अभाव में कविता की श्रेणी में नहीं रख सकते। अस्तु, यह तो सत्य है कि केवल छन्दयुक्त रचना कविता नहीं हो सकती परन्तु हम समझते हैं कि छन्द के अभाव में भी कोई रचना कविता नहीं कही जा सकती। छन्दहीन रचना को राजशेखर ने गद्य की संज्ञा दी है और "छन्द को काव्य पुरुष के रोम के समान बताया है जिसमें की हुई रचना से स्वयं काव्य पुरुष की जननी सरस्वती भी पराजित अनुभव करती है।"

मुक्त छन्द

साहित्य के मापदण्ड सदा स्थिर नहीं रहते, उनमें युग की परिस्थितियों एवं साहित्यिक प्रवृत्तियों के अनुरूप परिवर्तन भी होते रहते हैं। आजका युग स्वतन्त्र चिन्तन का युग है, इसलिये कविता को भी छन्द के बंधन से मुक्त करने की मांग जोर पकड़ने लगी है और बहुत से कवि छन्द की उपेक्षा करके 'मुक्त छन्द' अथवा छन्दमुक्त कविता करने लगे हैं।

इन रचनाओं के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इनमें छन्द के वर्ण मात्रा आदि के प्राचीन नियमों की तो उपेक्षा की गई है परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि उनमें संगीत अथवा लय का भी सर्वथा अभाव है। 'मुक्तछन्द' में भी एकताल, लय अथवा संगीतात्मकता होती है। अथवा हम कह सकते हैं कि मुक्तछन्द में छन्द के बाह्यपक्ष की उपेक्षा भले ही की गई हो, उसमें छन्द की आत्मा 'लय' की

सत्ता उसी रूप से विद्यमान है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने मुक्तछन्द में प्रशंसनीय काव्य रचना की है, परन्तु उनके काव्य में भी संगीत की विमुग्धकारी अन्तःसलिला प्रवाहित हो रही है, जो रवीन्द्र संगीत के नाम से प्रसिद्ध है। हिन्दी में कवि निराला ने सर्वप्रथम कविता के लिये छन्द के बंधन की मुक्ति का जबरदस्त समर्थन किया था और स्वच्छन्द छन्द अथवा मुक्तक छन्द में उन्होंने पर्याप्त परिमाण में रचना की है। परन्तु वह स्वयं स्वीकार करते हैं कि उनकी कविता छन्दों के प्राचीन बन्धनों—वर्ण-मात्राओं—की नियमित आवृत्ति से भले ही मुक्त हो, 'उसमें छन्द है, प्रवाह है, लय है।[१] डा० ऊषा गुप्ता का कथन है कि नवीन कलाकारों के हाथों में कविता छन्द के वर्णों एवं मात्राओं से नहीं बंधी है, वरन् यह उन्मुक्त सरिता की भांति अपनी ताल और लय के साथ बहती है।[२] डा० पुन्नूलाल शुक्ल ने भी अपने शोध प्रबन्ध में आधुनिक युग की हिन्दी की 'मुक्त छन्द' कविता का विवेचन एवं विश्लेषण करके यह सिद्ध किया है कि उसमें भी लय अनिवार्यतः अपेक्षित है।[३]

हिन्दी में आजकल प्रयोगवाद के अन्तर्गत 'मुक्तछन्द' के नाम पर ऐसी कविता भी लिखी जा रही है, जिसमें न कोई लय है न गति। ऐसे प्रयोग उन्हीं नवयुवक कवियों के द्वारा हो रहे हैं, जो काव्य-प्रतिभा से वंचित हैं और अव्यवस्थित असम्बद्ध गद्य को ही 'मुक्त-छन्द' समझते हैं। वे टेढ़ी-मेढ़ी, छोटी-बड़ी पंक्तियों में कुछ लिख कर उस पर 'मुक्तछन्द' का लेबिल लगा कर कविता करने का दम भरते हैं। हम समझते हैं कि छन्द के बन्ध ढीले होने से ही ऐसा हुआ है, यदि छन्द का अंकुश उनके ऊपर रखा होता तो वे लोग ऐसी कविता करने की धृष्टता कभी न करते।

छन्द और मनोविज्ञान

मनोविज्ञान के अनुसार सभी ललित कलाएं हमारे मनोवेगों से सम्बन्धित हैं। जिस समय हमारे भाव तीव्रता एवं आवेश की स्थिति में होते हैं, तो वे मनोवेग चित्र में रेखाओं और रंगों से, संगीत में स्वर और ताल आदि से, नृत्य में अंग संचालन एवं भाव-भंगिमाओं से और कविता में शब्द और लय आदि से प्रकट होते हैं। सामान्य स्थिति में हम अपने

---

१. परिमल की भूमिका, पृ० ४—'निराला'

२. हिन्दी के कृष्ण भक्तिकालीन साहित्य में संगीत, पृ० ८६ (प्रथम संस्करण)
—डा० ऊषा गुप्ता

३. आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द-योजना, पृ० ३, (प्रथम संस्करण)
—डा० पुन्नूलाल शुक्ल

भावों को प्रकट करते समय, जिस संयम से काम लेते हैं, वह संयम उस भावावेश की स्थिति में नहीं रहता, वरन् वाणी में एक कम्पन, एक उद्वेलन, हिलोर अथवा झंकार उत्पन्न हो जाती है, उसी का व्यवस्थित रूप लय होती है। और लयादर्श की नियमित आवृत्ति पर ही छन्द का निर्माण होता है। अस्तु, छन्द का मनोविज्ञान से घनिष्ठ सम्बन्ध है और जब तक कविता में मनोवेगों की तीव्रता की अभिव्यक्ति को मान्यता प्राप्त है, तब तक उसमें छन्द की अनिवार्यता भी असंदिग्ध है। वर्ण, मात्राओं के कड़े बन्धनों को भले ही स्वीकार न किया जाये, उसमें लय का होना तो सर्वथा अनिवार्य है। वैयक्तिक पाठ एवं अभिव्यक्ति के लिये रचित कविता में भले ही 'मुक्त छन्द' उपयोगी हो, परन्तु जनसाधारण में सामूहिक रूप में पाठ के लिये लिखे गए कथात्मक काव्य में तो श्रोताओं पर समन्वित प्रभाव डालने के लिये छन्दोबद्ध कविता ही अधिक उपयोगी एवं वांछनीय है। सामान्य पाठक तो कविता में निहित संगीत का ही अनुभव करके रसास्वादन कर लेता है। और उस पर अनुकूल प्रभाव अधिक तीव्रता से पड़ता है, जिससे उसके भावों को सरलता से उत्तेजित किया जा सकता है। कविता में छन्द के प्रयोग से भावों की अभिव्यक्ति के लिये एक उपयुक्त एवं समर्थ साधन उपलब्ध हो जाता है और साथ ही उन पर नियन्त्रण भी रखा जा सकता है।

छन्द और रस

मनुष्य के मन में परिस्थिति के अनुरूप विविध मनोवेगों का उद्रेक होता है। कभी हम 'रीति' भाव के रसोद्रेक से आच्छादित होते हैं और कभी क्रोध से आक्रान्त। यही नहीं एक ही मनोवेग भी सदा एक सी स्थिति में नहीं रहता। कभी उसमें अधिक तीव्रता एवं आवेश होता है और कभी कम। मनोवेगों के स्वरूप एवं आवेश के अनुरूप ही हमारे रक्त का प्रवाह, श्वास का आरोह अवरोह तथा स्वर की गति निर्मित होती है। उनमें कभी तीव्रता अथवा वेग अधिक होता है और कभी मंदता एवं गंभीरता। स्वर की एक गति होती है, जिससे स्वर उठते हैं, उसको लय कहते हैं।[१] इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि मनोवेगों के अनुरूप ही हमारे स्वर की गति होती है, और उन्हीं के अनुसार भावाभिव्यक्ति की लय निर्मित होती है। अतः स्पष्ट है कि यह प्रक्रिया सहज संवेद्य है, इसके लिये हमें विशेष प्रयास नही करना पड़ता। वस्तुतः लय का मनोवेगों के साथ इतना गहरा सम्बन्ध है कि विश्लेषण द्वारा उनको पृथक् करना अत्यन्त कठिन है।[२] रति आदि स्थायीभाव हीं अनुकूल

१. सारंग, १९५४, पृ० ४, डा० जयदेव सिंह।
२. E.B., Vol. 19, Page 273.

विभावादि के संयोग से परिपुष्ट होकर रस रूप में परिणत होते हैं। अस्तु, लय अथवा लयादर्श की नियमित आवृत्ति पर आधारित छन्द का रस से घनिष्ट सम्बन्ध है।

चं चटपट, नारि लेत भवारी छम छम
कारि धनि धरनी।
सं सटपट बैठती भुजा अमेठति ताल
इकेठति मन हरनी
लं लटपट छैली रूप निवेली गति अलबेली
सुठ अंगा।
ठं ठुम ठुम ठुमकी झुम झुम झुमकी
द्रुम द्रुम द्रुम की मिरदंगा।
(ना. प्र. पृ. अ० २२/४८)

निस्सन्देह वर्ण-विन्यास अथवा शब्द योजना भी इस चित्र का निर्माण करने में सहायक हुई है, परन्तु इन मात्राओं के उतार-चढ़ाव के साथ चलने वाली गति के इस छन्द ने नृत्य की गति को साकार कर दिया है। इस छन्द की क्षिप्र गति भावावेग को व्यक्त करने के अधिक उपयुक्त है, इसलिये वीर तथा उसके सहकारी रौद्र की रचना में भी बहुत उपयोगी हैं।

कई बार कवि किसी भाव की अभिव्यंजना के लिये ऐसे छन्द का भी प्रयोग कर लेते हैं, जो उस भाव के अनुकूल नहीं होता। ऐसी स्थिति में कवि का ध्यान लय पर ही होता है, वह लय को ऐसे ढंग से मोड़ता है कि उस छन्द से भी भावानुकूल प्रभाव ही पड़ता है। उदाहरणार्थ हिन्दी के सवैये के पाठ की अनेक शैलियां हैं। यह छन्द शृंगार रस के सर्वाधिक अनुकूल हैं, परन्तु कवियों ने इसका प्रयोग वीर तथा शांत रसो के लिये भी किया है और वहां यह तदानुरूप वातावरण एवं प्रभाव निर्मित करने में भी समर्थ रहा है। ऐसा इसकी गायन विधि की विविधता ही से तो हो सका है। इस छन्द को तीव्र तथा क्षिप्र स्वर में भी गाया जाता है, लोच एवं झंकार से भी गाया जाता है और मंद स्वर में भी पढ़ा जा सकता है। और इस प्रकार की विभिन्न ध्वनियों अथवा स्वरों से भिन्न-भिन्न भाव प्रकट किये जा सकते हैं। कवीन्द्र रवीन्द्र का कथन है कि भाव का मन में जो रूप होता है, छन्द में तदनुकूल स्वरूप, धारण करता है।१

दूसरे, हमारी श्रवण शक्ति भी भाव तथा लय के इस घनिष्ट सम्बन्ध पर प्रकाश डालती है। किसी मनोवेग की व्यंजना के लिये विशिष्ट लय को सुनकर यदि वह तृप्त हो जाती है, तो समझना चाहिए कि वह लय भावानुरूप है और यदि वह तृप्त नहीं होती और किसी अन्य लय की अपेक्षा करती है तो इसका अभिप्राय यह हुआ वह लय भावनुरूप नहीं है।

१. आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द-योजना, पृ० ४३ (प्रथम संस्करण)
—डा० पुन्नूलाल शुक्ल

इस बात का सामान्य अध्ययन ही इस तथ्य को प्रामाणित कर देता है कि मनोवेगों के अनुरूप ही लय होनी चाहिए ।

वैसे भी विशिष्ट स्वरों में विशिष्ट भावों को प्रकट करने की शक्ति होती है । जैसे विभिन्न प्रकार के उच्चारणों से विभिन्न भाव प्रकट होते हैं । अधिक ज़ोर से बोलने- झगड़ने, हंसने या चांचल्य का तथा मंद वाणी से दैन्य, माधुर्य, धैर्य, शांति आदि के गुण प्रदर्शित होते हैं ।१ संगीतकार भी भावानुरूप राग के द्वारा तदानुकूल वातावरण निर्मित करके श्रोताओं के मन पर अनुकूल प्रभाव डाल देता है और कुशल कवि रस और भावानुकुल छन्द-योजना द्वारा भावाभिव्यक्ति एवं उसके प्रभाव को अधिक सक्षम एवं समर्थ बना देता है । जिस प्रकार 'सोहनी' को सुनकर लोगों के नेत्रों से अश्रु प्रवाहित होने लगते हैं, नट-राग के गायन से मनुष्य में वीर रस का श्रृंगार किया जाता है, भैरव राग के गायन द्वारा सांसारिक वासनामय प्रवृत्ति वैराग्य में परिवर्तित हो जाती है ।२ उसी प्रकार छन्द विशेष में विशिष्ट भाव प्रकट करने से उस भाव की प्रेरणा श्रोता में अधिक सुगमता, सरलता, एवं प्रभावशाली रूप में हो सकता है । वीर रस की अभिव्यंजना जितने प्रभावशाली रूप में रसावल, सावास, रुनझुन, अमृतध्वनि, अरिल्ल, छप्पय, घनाक्षरी, पद्धरि, भुजंगप्रयात, तोटक आदि छंद में हो सकती है, उतनी दोहा, रोला, चौपाई, श्रृंगार कामिनी, राधिका, आदि छन्दों में नहीं हो सकती । त्रिभंगी छन्द नृत्य के वर्णन के लिये जितना उपयुक्त है, शायद ही दूसरा छन्द होगा । इसकी ठुमक-ठुमक गति नृत्य की गति से मिल कर एकरूप हो जाती है और पाठ करते समय मानों नृत्य का वातावरण साकार हो उठता है ।

भारतीय छंद परंपरा

भारतीय साहित्य में छन्दों की एक समृद्ध एवं विकासोन्मुखी परम्परा है । वेदों के अधिकांश मन्त्र छन्दोबद्ध हैं । वहां केवल वर्णिक संख्या अथवा अक्षर-गणना के आधार पर छन्दों का स्वरूप निर्धारित किया जाता था । संस्कृत काल में अक्षर गणना के साथ गण-विभाग अथवा लघु ,गुरु क्रम का भी पूर्ण निश्चय कर दिया गया और उन्हें वृत्त जाति की संज्ञा दी गई ।

प्राकृत काल में भी इन वर्णिक छन्दों का प्रयोग भी किसी सीमा तक होता रहा, परन्तु उसमें मात्रिक छन्दों की परम्परा का भी उदय हुआ । इन छन्दों के आविर्भाव के सम्बन्ध में अधिकतर विद्वानों की धारणा

---

१. हिन्दी के कृष्ण-भक्तिकालीन साहित्य में संगीत, पृ० २१७ । (प्रथम संस्करण)
—डा० ऊषा गुप्ता

२. वही, पृ० २२६ ।

है कि "प्राकृत साहित्य अपना विकास लोक जीवन की भित्ति पर कर रहा था, उसने नृत्य या संगति के आधार पर छन्दों के विधान का आरम्भ किया, अस्तु, प्राकृत में ही सर्वप्रथम मात्रा या ताल छन्दों का विवरण उपन्यस्त किया गया ।।"[१] परन्तु डा० पुन्नू लाल शुक्ल वैदिक काल से ही छन्दों की एक ऐसी जनपदीय परम्परा को स्वीकार करते हैं, जिससे प्राकृत युग में मात्रिक छन्दों का विकास हुआ है । उन्होंने अपने मत का समर्थन करते हुए 'धम्मपद' तथा जातकों के कुछ छन्दों के कुछ उदाहरण उद्धृत किये हैं, जिससे यह सिद्ध किया है कि संस्कृत युग में भी ये छन्द प्रचलित थे ।[२] इस सम्बन्ध में हम इतना कहना चाहते हैं कि मात्रिक छन्दों की परम्परा के बीज भले ही वैदिक लयों अथवा वैदिक मन्त्रों के पाठ में निहित हों, परन्तु उनका स्वरूप स्पष्ट रूप से प्राकृत काल में ही लक्षित हुआ ।

मात्रिक छन्दों में गणों या वर्णों का उतना ध्यान नहीं रखा जाता, जितना प्रत्येक चरण अथवा समग्र छन्द की मात्रा संख्या का । उनमें मात्राओं की संख्या नियत होती है । लय की पूर्णता एवं प्रवाह के लिये यह भी आवश्यक है कि उनमें मात्रिक समता होनी चाहिए । छन्द के मध्य में विषमता आने से वह अवश्यमेव यति ग्रहण करेगा । विषम के पश्चात् विषम मात्रा आने से लय समप्रवाही हो जाती है ।

अपभ्रंशकाल में मात्रिक छन्दों का इतना अधिक प्रचार हुआ कि उस युग में गोवर्धनाचार्य (आर्य सप्तशती) तथा जयदेव (गीतगोविन्द) जैसे संस्कृत कवियों ने भी अपनी रचनाओं में मात्रिक छन्दों का प्रयोग किया । उस युग का समस्त जैन तथा सिद्ध साहित्य भी इन्हीं छन्दों में लिखा गया और उस युग की प्रबन्ध रचनाओं में भी प्रायः इन्हीं छन्दों को अपनाया गया है । अपभ्रंशकाल के मात्रिक छन्दों में अन्त्यानुप्रास की शैली का भी प्रचलन हुआ, जिससे उनमें संगीतात्मकता का अधिक समावेश हो गया । हिन्दी के आरंभिक युग के साहित्य में भी मात्रिक छन्दों की ही प्रधानता रही । पृथ्वीराजरासो में वर्णिक छन्दों का भी प्रयोग हुआ है, परन्तु उसमें गाहा, आर्य, पद्धरि, अरिल्ल तथा चौपाई आदि मात्रिक छन्दों की ही संख्या अधिक है । भक्तिकाल के तो प्रायः समस्त पद, साखी, भजन, तथा प्रबन्ध काव्य मात्राओं में ही लिखे गये ।

---

१. हिन्दी साहित्य का बृहत इतिहास, पृ० ३१०—३११, नागरी प्रचारणी सभा, भाग १.

२. आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द योजना, पृ० १९५ से १९८ (प्रथम संस्करण) डा० पुन्नू लाल शुक्ल

रीतिकाल में अवश्य कवित्त एवं सवैया का जोर रहा, परन्तु मात्रिकों का प्रयोग बराबर होता रहा । पंजाब में तो उस समय मात्रिकों में पर्याप्त मात्रा में काव्य रचना हुई । यही नहीं सवैया का मात्रिक रूप में भी प्रयोग किया गया और यदि पंजाब के समस्त व्रज भाषा काव्य को ध्यान में रखा जाये तो यह धारणा भी संदिग्ध हो जायेगी कि इस काल में कवित्त एवं सवैये का प्रभुत्व रहा । इसी युग में पंजाब में लक्षाधिक मात्रिक छन्द लिखे गए हैं ।

जहां तक गुरु प्रताप सूरज का सम्बन्ध है, उसमें २० वर्णिक छन्द तथा १२ मात्रिक छन्द प्रयुक्त हुए हैं । परन्तु परिमाण की दृष्टि से मात्रिक छन्दों की संख्या वर्णिक छन्दों से कहीं अधिक है । 'गुरु प्रताप सूरज' के ५१,८२६ छन्दों में से कम से कम ४०,००० छन्द मात्रिक ही होंगे । जिनमें दोहा, चौपाई मुख्य हैं और उसके पश्चात् निसानी, अडिल्ल, पद्धरि, हाकल आदि का स्थान है । वर्णिक छन्दों में अधिकतर कवित्त एवं सवैये हैं । इस दृष्टि से इस युग में भक्तिकालीन प्रबन्ध काव्यों का ही अधिक अनुकरण किया गया है । वैसे रीतिकालीन प्रभाव से भी यह मुक्त नहीं है ।

भारतीय प्रबन्ध-काव्य की छन्द परम्परा एवं गुरु-प्रताप सूरज की छन्द-पद्धति

संस्कृत महाकाव्य सर्गबद्ध होते थे और उनके एक सर्ग में प्रायः एक केवल एक छन्द प्रयोग करने का विधान था ।१ किन्तु छन्दोविधान के इस नियम का उस युग के महाकाव्यों में विकल्प से ही पालन हुआ है । कालिदास, भारवि, भट्टि, माघ आदि ने एक ही सर्ग में अनेक छन्दों का प्रयोग भी किया है और एक ही छन्द को कई सर्गों में प्रयुक्त भी किया है । सम्भवतः इसी को देख कर आचार्य विश्वनाथ ने एक सर्ग में अनेक छन्दों के होने के अपवाद का निर्देश भी कर दिया है ।२

महाकवि कालिदास ने रघुवंश के नवें सर्ग में द्रुतविलम्बित, औपच्छादसिक, पुष्पिताग्रा, प्रहर्षिणी, मंजुभाषिणी, मत्तमयूर, वसन्ततिलका, वैतालिक शालिनी स्वागता, तोटक, मन्दाक्रान्ता आदि अनेक छन्दों का प्रयोग किया है । इसी प्रकार भारवि ने किरातार्जुनीय के सोलहवें और अठारहवें सर्ग में सोलह छन्दों का, भट्टि ने रावण वध के दसवें सर्ग में कोई अठारह छंदों का, माघ ने शिशुपालवध के चौथे सर्ग में अनेक छन्दों का प्रयोग किया है ।३ इन कवियों ने कई सर्गों में एक ही छन्द का

१. साहित्यदर्पण ६ : ३२० (मोतीलाल, बनारसीदास, लाहौर १९३८)
२. वही, छ : ३८१
३. संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ४९—१५२ (प्रथम संस्करण) १९६० (मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली) कीथ

प्रयोग भी किया है। जैसे कुमारसंभव का पहला, दूसरा, तीसरा, और सातवां सर्ग, इन्द्रवज्रा में तथा रघुवंश का दूसरा, पांचवां, सातवां, तेरहवा, चौदहवां, सोलहवां, एवं अठारहवां सर्ग इन्द्रवज्रा के प्रकार के एक छन्द में रचित हैं।

प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द का प्रयोग करके, अन्त में छन्द परिवर्तन तथा दूसरे चरणों में भिन्न-भिन्न छन्दों का प्रयोग करने की प्रवृत्ति प्राकृत काल में बहुत कुछ दूर हो गई थी।

अपभ्रंश में भी प्राकृत की ही प्रवृत्ति आगे बढ़ी, उस युग के जैन प्रबन्धकाव्य संधियों में विभक्त हैं जिन्हें पुनः कडवकों में भी उपविभक्त किया गया है। इनमें कडवकों का छन्द कभी संपूर्ण संधि में एक ही होता है और कभी बदल भी जाता है। वहां बहुधा प्रत्येक सन्धि में भी छन्द नहीं बदलता। जैसे हरिवंशपुराण (धवल) की ११२ संधियों में पंझटिका, भुजंगप्रयात, मत्तमातंग, मोहन, नाराचक, द्विपदी, सोमराजा, तथा चौपाई आदि कुछ छन्दों का तथा 'पउमचरिउ' (स्वयंभू) में प्रमाणिका, भुजंगप्रयात तथा द्विपदी का ही अधिक प्रयोग हुआ है। इस युग में रचित देव-प्रभु सूरी का संस्कृत महाकाव्य 'पाउवचरित' यद्यपि सर्गबद्ध है, पर छन्द सर्वत्र अनुष्टुप है। इस युग में एक संधि में अनेक छन्दों का प्रयोग भी होता रहा। 'सूदसण चरिउ', (नयनन्दी), सुलोचना चरिउ (सेक्सेनगणि) जिणिदत्त चरिउ (पंडित लाखू) इत्यादि चरितकाव्यों में इसी प्रकार के छन्द–विविधता के दर्शन होते हैं।[१] परन्तु अपभ्रंश के कडवक बद्ध शैली के प्रबन्ध काव्यों में इस छन्द-विविधता के दर्शन नहीं होते हैं। उनमें प्रत्येक कडवक के आरम्भ में. अथवा अन्त में 'यत्ता' या कोई अन्य छन्द होता है और फिर कडवक का विशेष छन्द चलता है। पुष्पदंत ने 'महापुराण' के प्रथम खंड में चौथी से दसवीं संधि तक कडवकों के आरंभ में क्रमशः जैमेटिया, रचिता, मलयविलसिया, खंडय, आवर्ली, हेला, दुवई का प्रयोग किया है। तब कडवक का विशिष्ट छन्द है और अन्त में धत्ता। यह भी आवश्यक नहीं कि यह 'धत्ता' धत्ता नामक छन्द का ही हो।[२]

कडवकों के अन्त में धत्ता देने की प्रथा का विकास हम हिन्दी के भक्तिकालीन सूफी-प्रेमाख्यानक काव्यों में तथा तुलसी के रामचरितमानस में देख सकते हैं। इन प्रबन्ध काव्यों में चौपाई का कडवक

---

१. अपभ्रंश साहित्य, पृ० ४६—२६५ (प्रथम संस्करण) भारती साहित्य मंदिर, दिल्ली के आधार पर डा० कोछड़

२. वही

बनाकर, उसके बाद दोहे का धत्ता देने की पद्धति अपनाई गई है।

अपभ्रंश में पाटिका, पद्धडिया, पादाकुलकु अल्लिलाह, आदि छन्दों का प्रयोग बहुलता से हुआ है। ये सभी छन्द १६ मात्राओं के हैं और चौपाई के बहुत समक्ष हैं। कवि धवल ने कुछ कडवकों में चौपाई का भी प्रयोग किया है। परन्तु उसके अन्त में दोहे का धत्ता नहीं है। "जिन प्रभ सूरी" में धत्ता दोहे का है, परन्तु कडवकों में चौपाई नहीं है ।[१] यशोकीर्ति के 'पांडवपुराण' में दोहड़, दोघक, तथा कहीं कहीं चौपाई के भी दर्शन अवश्य होते हैं। धनपाल के 'बाहुवलि चरिउ' में कडवकों के आरम्भ में भी दोहरा (दोहा) प्रयुक्त हुआ है।

अस्तु, हिन्दी प्रबन्ध काव्यों की दोहा चौपाई पद्धति के बीज अपभ्रंश के इन काव्यों में विद्यमान हैं, यह दूसरी बात है कि अभी तक अपभ्रंश का कोई ऐसा काव्यग्रंथ उपलब्ध नहीं हुआ जिसमें स्पष्ट रूप से इस शैली को अपनाया गया हो। संभव है भविष्य में ऐसी कोई रचना प्राप्त हो जाये। तुलसी ने चौपाई के साथ दोहा अथवा उसके स्थान पर सोरठा का भी प्रयोग किया है। इसके बीज भी अपभ्रंश के 'प्रबन्ध चिन्तामणि' में विद्यमान हैं।

अवधी की यह दोहा चौपाई परम्परा पंजाब के ब्रज भाषा साहित्य में दोहा चौपाई के रूप में प्रचलित हुई। 'दशम ग्रंथों' में अनेक स्थानों पर क्या गुरुओं के जीवन पर आधारित 'महिमा-प्रकाश' 'गुरु विलास' (सुक्खासिंह) 'गुरु नानक विजय', पंथ प्रकाश, गुरु पुर प्रकाश आदि प्रबन्ध काव्यों में भी मुख्यतः दोहा-चौपाई की पद्धति को ही अपनाया गया है। पंजाब में रचित ब्रजभाषा के इन काव्य-ग्रन्थों को ध्यान में रखते हुए यह पता चलता है कि यहां चौपाई और चौपाई का भेद कुछ अस्पष्ट रहा है। इन ग्रंथों में ऐसे छन्द हैं जिनमें १६ मात्राएं हैं, परन्तु उन्हें चौपाई नाम दिया गया है। इन ग्रंथों के कुछेक उदाहरण उद्धृत हैं:—

१. डमडमडम डामरु बजे, भूत प्रेत दसउ
दिसि गज्जे।--१६
झिम झिमकरत असन की धारा।
नाचे रुंड मुंड विकरारा।--१६
(दसम ग्रन्थ[२] विचित्र नाटक
१२/२२, पृ० १६८)

२. वहां ते सतिगुरु गंगा चले। जिहं परसत
अघसगले टले।

---

१. वही—पृ० ३६५.

२. विद्या प्रैस, लाहौर

जब हरि वावन वपु जगधरा, धरति
अकास को दुइपग करा।२१
१(महिमा प्रकाश, पत्रा १/२१५)

३. आदि पुरख जिनवौ करतारा ।
जास कीन यही सकल पसारा
एक अनेक सकल घट बासी ।
अचुत अलख पुरख अविनाशी
२गुरुविलास (सुक्खासिंह, पृ० १/१/२)

४. देवि का दरसनि करिवाये ।
पंचवटी में सतिगुरु आए ।
गंगा के तट उतरे जाई ।
गोतम गंगा जान सु भाई ।
१(गुरु नानक विजय—खडूरखंड १३/५)

५. खाफी खां इक गाथा जैसे ।
लिखहें भैं विखरैं हों तैसे ।
दसमा गुरु जब सिंहन केरा ।
देख विराजन त्याग अधेरा ।
३(पंथ प्रकाश ; ४७/४)

६. भयौ अचानक समन अघाहा ।
बिन कारन मन लखन सकाहा
धरा अकास विखे जे वासी ।
मंगल करहिं सिमर अविनासी ।
४(गुरु पुर प्रकाश, २/१८)

७. पुरी काश्मीर उत्तर दिशान ।
सब भूमि बीच पावन महान
तिह रामचन्द्र पण्डित सुजान ।
शिवरूप मनो विद्या महान ।३४
(साहित्य शिरोमणि, आरंभ कवि-निहाल)

संभव है इन्हीं प्रयोगों को देख कर ही पंजाबी के कुछ लेखकों को इतनी भ्रांति हुई है कि रामसिंह जैसे लेखकों ने चौपाई के लक्षण में ही १६ मात्राओं का निर्देश किया है।५

मोहनसिंह ने चौपाई में १४ मात्राओं का भी निर्देश किया है।६ महिमा प्रकाश का जो उदाहरण ऊपर उद्धृत किया गया है, उसके तीसरे चरण में १५ मात्राएं हैं और अन्य तीनों में १६। इसी प्रकार के उदाहरण अन्य ग्रन्थों से भी उद्धृत किये जा सकते हैं। अतः स्पष्ट है कि पंजाब के कवियों एवं उपर्युक्त आलोचकों में चौपाई एवं चौपाई को एक ही छंद के रूप में स्वीकार किया है। जिसे नन्ददास की कृतियो में भी चौपाई और चौपई दोनों छन्दों का एक नाम चौपाई ही दिया हुआ है । इससे प्रतीत होता है कि कवि ने इन दो

---

१. हस्तलिखित
२. एंग्लो संस्कृत प्रेस, लाहौर, १९५२
३. खालसा ट्रस्ट सोसाइटी, प्रथम संस्करण
४. खालसा प्रेस, अमृतसर, द्वितीय संस्करण
५. पंजाबी व्याकरण, पृ० १०१९ प्रथम संस्करण (गुरु खालसा प्रेस, अमृतसर) (रामसिंह)
६. गद्य-पद्य रचना, पृ० ९७, मोहन सिंह
अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृ० ७५-८७
(प्रथम संस्करण) दीनदयाल गुप्त,
(हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग)

छन्दों में कोई भेद नहीं किया, कवि के. ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर १५ मात्राओं का चौपई छन्द आया है।

गुरु प्रताप सूरज की छन्द पद्धति को प्रभावित करने वाले ग्रन्थ

उपर्युक्त सभी प्रबन्ध काव्यों में दोहा-चौपई के साथ छन्द विविधता के भी दर्शन होते हैं। 'महिमा-प्रकाश' में दोहा चौपई के साथ बीच में सोरठा, मधुमार, तोमर, अडिल, सवैया, मकरा, रसवाल, तोटक, भुजंगप्रयात, नराच, पद्धरि आदि का तथा गुरु-विलास (सुक्खसिंह) में सवैया, भुजंगप्रयात, रसावल, तोटक, सोरठा, नराच, पद्धरि अडिल, मधुमार, रुग्रालु, झूलना, तिलक, कवित्त आदि अनेक छन्दों का प्रयोग हुआ है। बहुधा एक ही अध्याय अथवा निवास में भी छन्द आए हैं। यह प्रवृत्ति अपभ्रंश की कडवकबद्ध शैली के काव्यों तथा तुलसी एवं जायसी आदि की प्रबन्ध-रचनाओं से भिन्न है और अपभ्रंश के अन्य काव्य-ग्रंथों एवं संस्कृत महाकाव्यों के उन सर्गों से अधिक प्रभावित है जिनमें एक ही संधि में अनेक छन्दों का भी प्रयोग किया गया है। इस प्रकार एक ओर तो इनमें तुलसी की दोहा चौपाई पद्धति का अनुकरण किया गया है। दूसरी ओर इन पर अपभ्रंश की कडवक युक्त एवं संस्कृत के छंद-वैविध्य युक्त प्रबन्धों का प्रभाव कहा जा सकता है। यह भी संभव है कि केशव की 'रामचन्द्रिका' का भी इन पर कुछ प्रभाव पड़ा है। डा० माता प्रसाद गुप्त ने रासो काव्यों को दो वर्गों में विभाजित किया है उनमें से एक ऐसा ग्रंथ है जो छंद-वैविध्य को लिए हुए है। पंजाब के इन प्रबन्ध काव्यों पर इस पर धरा का प्रभाव लक्षित होता है।

जहां तक 'गुरु प्रताप सूरज' का सम्बन्ध है, इस ग्रंथ में भी इन सिक्ख प्रबन्धकाव्यों की पद्धति का ही अनुकरण किया गया है। इसके ५१,८२९ छंदों में कोई ३०,००० दोहा चौपई होंगे, इस ग्रंथ को लिखने की प्रेरणा भले ही कवि को 'रामकथा' से मिली हो, परन्तु यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि तुलसी की दोहा--चौपाई पद्धति का उन पर सीधा प्रभाव नहीं पड़ा, जैसा कि इन तथ्यों से स्पष्ट है --

१. तुलसीदास ने दोहा-चौपाई का प्रयोग किया है जबकि इन्होंने दोहा चौपई को अपनाया है।

२. तुलसी ने प्रायः आठ अर्धालियों का कडवक बनाकर दोहे का धत्ता दिया है, जबकि इस ग्रंथ में इस प्रकार का कोई नियम नहीं है। इसमें प्रायः अंशु के आरम्भ में एक अथवा उससे अधिक दोहे आते हैं और फिर सम्पूर्ण अंशु चौपई में होता है। यदि अंशु को कडवक के समानान्तर माना जाये तो भी उसमें चौपइयों की संख्या निश्चित नहीं है। प्रसंग के विस्तार के अनुसार वे कहीं कम हैं कहीं अधिक।

३. इस ग्रंथ में दोहा-चौपई के अतिरिक्त हाकल, अडिल, पद्धरि, निसानी, ललितपद, त्रिभंगी, अमृतधुनि, छप्पय, रसावल, संखनारी, रुनझुन, चांचरी, तोमर,चंचला, नराच, प्रमाणिका, तोटक, निसिपालव, चम्पकमाला, भुजंग-प्रयात, अनंगशेखर, अनुष्टुम, सवैया, कवित्त , सिखंडी, आदि अन्य छंदों का प्रयोग हुआ है, जबकि मानस में ऐसी छन्द विविधता के दर्शन नहीं होते ।

४. इस ग्रंथ में दोहा-चौपई के अतिरिक्त दोहा-सवैया, दोहा-कवित्त, दोहा-निसानी, दोहा-पद्धरि, दोहा अरिल्ल, दोहा-भुजंगप्रयात आदि कुछ अन्य पद्धतियों का भी प्रयोग हुआ है जिनका मानस में सर्वथा अभाव है ।

इसके अतिरिक्त दशमग्रंथ, 'महिमा प्रकाश' तथा 'गुरु विलास' आदि में प्रायः ये सभी विशेषताएं देखी जा सकती हैं । इनमें भी दोहा-चौपई पद्धति अपनाई गई है । उनमें चौपइयों की संख्या भी निश्चित नहीं है । छन्द वैविध्य भी इसी प्रकार है । दोहा-सवैया, तथा दोहा–कवित्त की कुछ अन्य-पद्धतियों के भी उनमें दर्शन होते हैं ।

अब प्रश्न उठता है कि भाई संतोखसिंह ने यह परम्परा अपने से पूर्ववर्ती—'महिमा प्रकाश तथा गुरु विलास' आदि प्रबन्धों से ग्रहण की अथवा दशमग्रन्थ से । हम समझते हैं कि उन के सम्मुख ये तीनों ही ग्रंथ थे । एक ओर जहां उन्होंने इन प्रबन्ध-काव्यों की परम्परा को ग्रहण किया है, वहां दशमग्रन्थ का उन पर सीधा प्रभाव भी है । दशम ग्रंथ में कोई १२५ छंद प्रयुक्त हुए हैं, जबकि उन्होंने केवल ३३ छंदों का प्रयोग किया है जोकि उनके पूर्ववर्ती प्रबन्धकाव्यों के ही अनुरूप हैं । फिर/भी इस ग्रंथ के छन्दों की "दशम ग्रंथ' से तुलना करने पर उसका प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है, यथा—

(१) 'गुरु प्रताप सूरज' में जो ३३ छंद आए हैं, उनमें से सावास को छोड़ कर चम्पकमाला, अनुष्टुम को छोड़ कर शेष सभी छंद दशम ग्रंथ में किसी न किसी नाम से आए हैं । 'गुरुप्रताप सूरज ' के प्रमाणिक हाकल तथा हंसक दशम ग्रंथ के क्रमशः समाणिका मोहन एवं उछाला के ही अनुरूप हैं ।

(२) 'दशमग्रंथ' में विचित्र नाटक का सम्पूर्ण द्वितीय अध्याय दोहा–चौपई में लिखा गया है । 'त्रिया-चरित्र ' मंत्री भूप-संवाद का अधिकांश भी दोहा-चौपई में ही रचित है । इनमें चौपइयों की संख्या निश्चित नहीं है, प्रायः अनुच्छेद के आरम्भ में एक दोहा है, और फिर सम्पूर्ण अध्याय चौपई में लिखा गया है । दशम-ग्रंथ की इसी पद्धति के दर्शन गुरुप्रताप-सूरज में होते हैं ।

(३) 'दशमग्रंथ' में 'चंडी-चरित्र' तथा 'कृष्णावतार' आदि में दोहे के साथ

चौपई के स्थान पर सवैया का प्रयोग हुआ है। कहीं-कहीं बीच में सोरठा, कवित्ता,तथा नराच आदि कुछ अन्य छन्द भी आये हैं। इसी प्रकार 'गुरु प्रताप सूरज' में भी इस पद्धति को अपनाया गया है। इस ग्रंथ की रि० ६।४६–४७ रा० ३।६, रा० १।३३ में दोहे के साथ केवल सवैया का प्रयोग हुआ है और रि० २।३६ तथा रा० ३–५ में दोहे—सवैया के साथ कवित्त, नराच आदि छन्द भी आये हैं। विचित्र संयोग की बात यह हुई है कि उन्होंने भी चंडी-चरित (दैवी की पुरातन कथा, दुष्टभन वध—रा० १।५०–५२ तथा चंडी के प्रकट होने की कथा रि० ३।१०) के प्रसंग में-उसी पद्धति को अपनाया है।

(४) दशमग्रंथ में युद्धों के वर्णन में छन्द-विविधता अधिक है और उसमें दोहा, चौपाई, भुजंगप्रयात, रसावत, नराज छप्पय, पद्धरि, सवैया, हरिबौलमना, रुनझुन, निसिपालक, सिरखंडी, नवमानक, आदि छंदों का अधिक प्रयोग किया गया है। 'गुरु प्रताप सूरज' में भी युद्ध-वर्णन में ही छन्द-विविधता अधिक है और वहां भी प्रायः इन्हीं छन्दों का प्रयोग हुआ है।

(५) युद्ध-वर्णन में तीव्रता एवं भीषणता का वातावरण निर्मित करने के लिए दशम ग्रंथ में अजवा, त्रिगणि, त्रिगदा, अनाद, वहाड़ा, रुनझुन, मधुमार चांचरी आदि लघु छन्दों का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार गुरु 'प्रताप सूरज' में भी ऐसे स्थलों पर मधुमार चाचरी, रूनझुन, हरांक, सावास, आदि लघु छन्दों से काम लिया गया है।

(६) 'गुरु प्रताप सूरज' में नवमानक, हरिबोलमना, आदि कुछ ऐसे छन्द आए हैं, जिनके ये नाम हिन्दी के अन्य काव्य ग्रंथों में प्रचलित नहीं है। हिन्दी में इन के लिये क्रमशः अचल, तथा तिल का नाम प्रचलित है, परन्तु दशमग्रंथ में ये उन्हीं नामों से आये हैं जो 'गुरु प्रताप सूरज' में प्रयुक्त हुए हैं जिससे विदित होता है कि ये नाम कवि ने वहीं से लिये हैं।

(७) 'गुरु प्रताप सूरज' में सिरखंडी नाम से एक अतुकान्त छन्द का प्रयोग हुआ है। यह भी दशमग्रन्थ से ही लिया गया है।

(८) दशमग्रंथ के अनुरुप इसमें दोहा, अडिल, (त्रियाचरित्र, ६,१४६, ५७९) पद्धति को भी अपनाया है और उसी ग्रंथ की भांति अडिल के चतुर्थ चरण का आरंभ 'हो' शब्द से होता है, जिसकी गणना छन्द की मात्राओं के साथ नहीं होती।

(९) हिन्दी में सवैया प्रायः वर्णिक रूप में प्रचलित है, परन्तु भाई संतोखसिंह ने सवैये का वर्णिक तथा मात्रिक दोनों रूपों में प्रयोग किया है। सवैये का मात्रिक रूप उन्होंने 'दशमग्रंथ' से ही ग्रहण किया है। इस विषय पर उनके

सवैया छन्द के विवेचन में विस्तार के साथ विवेचन किया गया है ।

वैसे तो भाई संतोखसिंह ने दसों सिक्ख गुरुओं को इष्टदेव मान कर उनकी वंदना की है और वे सभी को एक ज्योति मानते हैं ! तथापि दशमगुरु के प्रति उनकी भक्ति-भावना सर्वाधिक प्रबल रूप में प्रकट हुई है । उन्होंने गुरु नानक का चरित्र वर्णित करते हुए भी दशम गुरु की वंदना इस प्रकार से की है —

"और की आस निरास भई कलगीधर वास कियौ मन माही ।"

(नानक प्रकाश)

अतः 'दशम ग्रंथ' जहां उन्हें दशमगुरु के जीवन सम्बन्धी सामग्री प्रस्तुत करने में सहायक हुआ है, वहां काव्यत्व की दृष्टि से भी यह उनके लिए एक प्रतिष्ठित एवं आदर्श ग्रंथ था । यही कारण है कि उनकी छन्द पद्धति पर भी इस ग्रंथ का सीधा प्रभाव पड़ा है । दूसरे, उनके पूर्ववर्ती प्रबन्धकाव्यों का भी यह ग्रंथ प्रेरणा का स्रोत था और उनकी काव्य-पद्धति भी मूलतः उसी की ऋणी है ।

'गुरुप्रताप सूरज' की नवीन छन्द पद्धतियां एवं परवर्ती काव्य-ग्रंथों पर उनका प्रभाव

'गुरु प्रताप सूरज' के छन्द प्रयोग को ध्यानपूर्वक देखने से विदित होता है कि भाई संतोखसिंह ने पूर्ववर्ती ग्रन्थों का अनुकरण मात्र नहीं किया, वरन् कुछ नवीन पद्धतियों का भी प्रचलन किया, जो इस प्रकार है—

(१) दोहा–हाकल रितु० १।४४ तथा राशि ४: २८ आदि में
(२) दोहा–ललितपद रि० ६।१२–१७ आदि में
(३) दोहा—भुजंगप्रयात रितु० ४।६, रा० १।५३ आदि में
(४) दोहा—पद्धरि रितु ३: ४; रि० २।३६, रि० ६।४३, रा० ४।१० । आदि में
(५) दोहा—निसानी रि० ६।४५; रि० ६।४६–५०; रि० ६।५५–५८: रा० ३।२३–२५, रि० ६।४८ के अन्त का छन्द पद्धरि है ।
रा० ३।२८ के आरंभ में भी दोहा नहीं है ।
रा० ३।२५ का आरंभ भी निसानी से होता है ।
और अन्त तक वही छन्द चलता है, केवल मध्य में एक दोहा आया है ।
(६) दोहा—तोटक रा० ३।३०
(७) दोहा—अडिल रा० ३।३४ अधिकांश में
(८) दोहा—कवित्त रि० २।३७
(९) दोहा—रसावल रा० ६।४१
(१०) रा० १।३२ का आरम्भ ही

सवैये से होता है और अंत तक वही छन्द चलता है ।

अपने प्रबन्धकाव्य में इन नवीन पद्धतियों का उन्होंने भाव तथा प्रसंग के अनुकूल किया है । इससे कथा के प्रवाह तथा संगठन में किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुंची, वरन् कथानक की एकरसता तथा विरसता में एक नवीन स्फूर्ति एवं स्पन्दन आ जाता है । भावानुकल छन्द-वैविध्य से भावों की तीव्रता, आवेग अथवा गंभीरता आदि का चित्रण सजीवता एवं अधिक प्रभावशाली ढंग से हो सका है । उनके प्रत्येक छन्द का विकास-विवेचन करते हुए इस पक्ष पर विचार किया गया है ।

संतोखसिंह के पश्चात् पंजाब में ब्रज भाषा में 'गुरु नानक विजय' (संतरेण) पंथ प्रकाश (ज्ञानसिंह) तथा 'गुरु पुर प्रकाश' (संतरेण प्रेमसिंह) आदि कई प्रबन्ध काव्य लिये गये । ये ग्रन्थ भी सिक्ख गुरुओं के जीवन पर आधारित हैं और इनमें भी 'महिमा-प्रकाश', 'गुरु-विलास' तथा 'गुरु प्रताप–सूरज ' आदि सिक्ख प्रबन्ध-काव्यों की छन्द-परम्परा का ही अनुकरण किया गया है । इनकी मुख्य-पद्धति भी दोहा–चौपई है और बीच में प्रायः वही छन्द आये हैं, जिनका पूर्ववर्ती सिक्ख-प्रबन्ध-कारों ने प्रयोग किया है। परन्तु इन रचनाओं को ध्यानपूर्वक देखने से विदित होगा कि इन पर 'गुरु प्रताप सूरज' की शैली का अधिक प्रभाव है । जैसा कि पीछे बताया गया है कि इन पर 'गुरु-प्रताप सूरज' की शैली का अधिक प्रभाव है । जैसा कि पीछे बताया गया है कि संतोखसिंह ने 'दशम-ग्रंथ', 'महिमा-प्रकाश' तथा 'गुरु विलास' से प्रभावित होते हुए भी कुछ नवीन पद्धतियों का प्रचलन किया है । उन नवीन-पद्धतियों का प्रभाव इन परवर्ती प्रबन्धों पर कितना पड़ा, यह 'पंथ-प्रकाश', 'गुरुपुर प्रकाश' ग्रंथ तथा 'गुरु-नानक विजय' में प्रयुक्त दोहा–चौपई के अतिरिक्त कुछ अन्य पद्धतियों में निम्न विवरण से स्पष्ट हो जाएगा ।

'गुरु-नानक विजय'

इसमें छन्द-विविधता दशम-ग्रंथ की भांति है और उस पर उसी ग्रंथ का सीधा प्रभाव लक्षित होता था । किसी निश्चित पद्धति को भी उसमें नहीं अपनाया गया । दोहा-चौपई में भी कुछ कथा वर्णित है और उसमें कुछ अन्य पद्धतियों के भी दर्शन होते हैं ।

दोहा–कवित्त ४।२।१–६
दोहा—तोटक ८।१४।१–४
दोहा—नाराच ९।११।१–४
दोहा—भुजंगप्रयात १९।१३।१–६
दोहा—अडिल १९।१७।१–५

इस ग्रंथ की इन पद्धतियों से 'गुरु प्रताप सूरज' की तुलना करने से स्पष्ट हो जाता है कि उस ग्रन्थ से ये पर्याप्त मात्रा में प्रभावित हैं ।

पंथ प्रकाश

दोहा––पद्धरि निवास १५, ३५

दोहा––ललितपद निवास १६

दोहा––तोटक निवास ४३

दोहा––रसावल निवास ६, १०

दोहा––दुवैया १७, २६, ७०, ६६,५३,

दोहा––सवैया ६३,२६, ३६, ६५, ४६

दोहा––कवित्त ५६, १३, १०१, ११०

दोहा––निसाती ४४, ४५, ५३, ८१।

गुरुपुर प्रकाश ग्रंथ ––

दोहा––चौपई मुख्य

दोहा––तोटक ६।५८, पृ० ६३५

दोहा––निसानी ७।३, पृ० ६६५।

दोहा––रसावल.७।६, पृ० ७१५।१० २६ पृ० १०२६; १०।३३ पृ० १०४१।

दोहा––कवित्त ६।३६, पृ० ८१६; १० १५ पृ० ११५७

दोहा––हरबोलना १०।२८, पृ० १०२७

दोहा––सवैया १०।२८।पृ० १०२७

दोहा––भुजंगप्रयात १०।३४, पृ० १०४३

दोहा ललितपद, पृ० १०६४, पृ० ११२३।

ऊपर के विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि छन्द प्रयोग की दृष्टि से भाई संतोखसिंह का यह ग्रंथ 'दशम ग्रंथ' तथा सिक्ख प्रवन्धकाव्यों की इस परम्परा में ग्राता है जो १९वीं शती तक चलती रही ग्रौर जिसमें 'महिमा-प्रकाश', 'गुरु-विलास' ग्रंथों की रचना हुई है। ग्रतः उन्होंने उस परम्परा का निर्वाहमात्र नहीं किया, वरन् कुछ नवीन-पद्धतियों का भी ग्रायोजन किया, जिनका प्रभाव उनके परवर्ती कवियों पर स्पष्ट लक्षित होता है।

गुरु-प्रताप सूरज के छन्द

इस ग्रंथ में उन्होंने जिन छन्दों का प्रयोग किया है, उनका हम इस प्रकार वर्गीकरण कर सकते हैं:––

(क) **सममात्रिक छन्द ––**

चौपई, हाकल, ग्रडिल, पाधड़ी (पद्धरि) ग्रडिल, निसानी, ललितपद, त्रिभंगी।

(ख) **मात्रिक ग्रर्द्ध-सम छन्द**––दोहा, सोरठा।

(ग) **मात्रिक–मिश्र छन्द**–ग्रमृतधुनि, छप्पय।

(घ) **वर्णिक सम छन्द––**चांचरी, रसावल,-संखनारि, मधुमार, रुनझुन, हरि बोलमना, नवमामक, हंसक, सावास, प्रमाणिका, तोमर, चम्पकमाला, भुजंगप्रयात, तोटक, निशिपालक, चंचला, नराज, सवैया।

(ङ) **वर्णिक मुक्त एवं दण्डक छन्द–** ग्रनुष्टुम, कवित्त, ग्रनंगशेखर

(च) **पंजाबी छन्द––––**सिरखंडी।

(छ) **ग्ररबी तथा फारसी छन्द–**वहरे मुतकारिक मुसम्मन, मकसूर, महजूफ। वस्तुतः भाई संतोख सिंह छन्द को काव्य का ग्रनिवार्य माध्यम मान कर चले हैं।

'गुरु प्रताप सूरज' में उन्होंने इन ३३ छन्दों का प्रयोग किया है। हिन्दी प्रबन्ध काव्य में इस प्रकार की छन्द-विविधता के दर्शन या तो रासो काव्य-ग्रन्थों में होते हैं और या फिर केशव की रामचंद्रिका में, परन्तु केशव "छन्दों के कन्धे पिचका कर अपनी कविता की पालकी को आगे बढ़ाते हैं। छन्दों के पहियों के ठीक 'बैलेन्सड' न होने के कारण वह डगमगाते और हिलते-डुलते चलते हैं।"१ इसके विपरीत 'गुरु प्रताप सूरज' के छन्द अपने स्थान पर स्थिर एवं संतुलित हैं और भावानुकूल वातावरण निर्मित करने में सहायक हुए हैं। दोहा-चौपई के मेरु दण्ड में अन्य छन्द मोतियों-मणियों की भांति जड़े हुए हैं। दोहा-चौपई के वर्णित कथा-प्रवाह में जब शिथिलता अथवा एकरसता आने लगती है, तो ये छन्द उसमें नवीन-स्फूर्ति, विविधता एवं तीव्रता उत्पन्न कर देते हैं। दूसरे श्रोता भी नवीन भाव के अनुकूल लय पाकर, अधिक आनन्द की उपलब्धि करते हैं।

दोहा–चौपई की पद्धति को उन्होंने अपने पूर्ववर्ती सिक्ख प्रबन्धकारों एवं दशम-ग्रन्थ से ही ग्रहण किया है तथापि उन्होंने दोहा-ललितपद, दोहा-निसानी, दोहा–पद्धरि आदि कई नवीन पद्धतियों का भी प्रयोग किया है, जिनका प्रयोग उनके परवर्ती सिक्ख-प्रबन्धों में भी हुआ है। उन प्रबन्धकारों ने इन पद्धतियों को 'गुरु प्रताप सूरज' से ही ग्रहण किया है।

भाई सन्तोखसिंह ने प्रायः सभी छन्द 'दशम-ग्रन्थ' से ही लिये हैं, तथापि दशम ग्रंथ के छन्दों में जैसी अस्थिरता, अव्यवस्था एवं शिथिलता है, उसके दर्शन, 'गुरु प्रताप सूरज' में नहीं होते। 'दशम ग्रन्थ' के बहुत से छन्दों में शास्त्रीय नियमों की उल्लंघना एवं उपेक्षा की गई है। उनमें कहीं कहीं तो दो यगण के छन्द को ही 'भुजंगप्रयात' लिख दिया गया है। (पत्न संख्या ४) 'तरनराज' दो चरणों से ही पूर्ण छन्द बना दिया गया है। (कलकी अवतार :३९ :३२) चांचरी में ३ से ५ वर्ण तक तथा रसावल में ६ से ९ वर्ण तक आ गए हैं। ८ मात्राओं के छन्द को ही 'सुखदा' नाम दे दिया गया है, जबकि इसमें २२ मात्राएं होती हैं। यहीं नहीं उसके छन्दों में प्रवाह का भी अभाव है। लय की पूर्णता के लिये बहुधा शब्दों को विकृत करके पढ़ना पड़ता है। यति दोष कहीं कहीं ऐसा है कि विभक्त करके पाठ करना पड़ता है।२

भाई सन्तोखसिंह का छन्दों पर पूर्ण अधिकार था, उनके काव्य में कहीं भी

---

१. पल्लव प्रवेश, पृ० २५, पांचवा संस्करण, (पंत)

२. The Poetry of Dasham Granth, P. 276-277, Ist. Edition by Dr. Dharam Pal Ashta.

इस प्रकार के दोष नहीं आए। कहीं कहीं मात्राओं में न्यूनाधिकता अवश्य है, परन्तु ऐसे स्थल भी बहुत कम हैं, दूसरे इन स्थलों पर भी लय पूर्ण है। भाई संतोखसिंह एक ऐसे सिद्धहस्त कवि थे, जिनकी स्वर लहरी स्वयं ही झंकृत होकर छन्द की गति में लयमान होकर अन्त्यानुप्रास, यत्यानुप्रास, आदि के झंकोरों से झूमती हुई, रसानुकूल माधुर्य, ओज तथा संगीतात्मकता उत्पन्न करती हुई आगे बढ़ती है।

भाई संतोखसिंह के छन्दों की सब से बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने रस, तथा प्रसंगानुकूल ही विविध छन्दों का प्रयोग किया है। इनके द्वारा ३३ छन्दों में से शृंगार रस के लिये केवल चौपई, निसानी, सवैया, कवित्त का, वात्सल्य के लिये चौपई, हाकल, सवैये, कवित्त का, वीभत्स के लिये तोटक का, करुण के लिये सवैये चौपई, निसानी का एवं रौद्र के लिए चौपई का ही प्रयोग किया गया है जबकि युद्ध-वर्णन के लिये, उन्होंने चौपई, पद्धरि निसानी, ललितपद, त्रिभंगी, अमृतध्वनि, चांचरी, साबास, हंसक, रसावल, प्रमाणिका, तोमर, चम्पकमाला, मधुमार, रुणझुण, नवमानक, नराज, भुजंगप्रयात तोटक, निशिपालक, चंचला, सवैया, कवित्त, सिरखंडी, दोहा, सोरठा आदि कोई २५ छन्दों का प्रयोग किया है। अकेले विचित्रसिंह के युद्ध के प्रसंग में कोई १० छन्दों का प्रयोग हुआ है। अतः स्पष्ट है कि उनके युद्ध वर्णनों में ही छन्द वैविध्य अधिक है। और यदि ऐसा न होता तो, एक जैसे लम्बे-लम्बे युद्धों के वर्णन में एकरसता एवं नीरसता आ जाती। दूसरे, कवि ने युद्ध के हलके वातावरण के लिये चौपई, पद्धरि, निसानी, ललितपद, त्रिभंगी, दोहा, सवैया, कवित्त आदि अपेक्षाकृत बड़े छन्दों का ही प्रयोग किया है ज्यों ज्यों युद्ध की गति तीव्र होती जाती है, वे नराज, चंचला आदि लघु गुरु के आरोह अवरोह से युक्त क्षिप्र गति छन्दों का प्रयोग करने लगते हैं और जब युद्ध वातावरण खूब भीषण हो जाता है, तो उसके लिये वे मधुमार, रसावल, चांचरी, हंसक, सावास, प्रमाणिका, रुणझुण आदि लघु एवं क्षिप्र, गति वाले छन्दों से काम लेते हैं जिससे युद्ध का प्रचंड वातावरण सजीव हो उठता है।

भक्ति के आदेशपूर्ण प्रसंगों के लिये भी उन्होंने दोहा, चौपई, कवित्त एवं सवैये के अतिरिक्त अडिल, त्रिभंगी, भुजंगप्रयात, तोटक, चंचला, अनुष्टुप अनंगशेखर, आदि अनेक छन्दों का प्रयोग किया है। मंगलाचरण में भी पर्याप्त छंद-भिन्नता है। यहां कवित्त एवं सवैये को उन्होंने मुक्तक रूप में ही प्रयुक्त किया है। परन्तु इन छन्दों से उन्होंने कथा वर्णन के लिये भी काम लिया है।

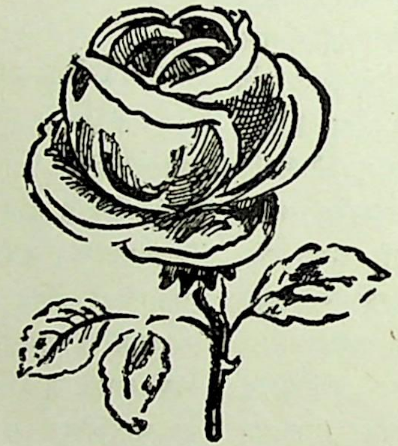
इसी प्रकार छन्द का प्रयोग करते समय उन्होंने भाषा की प्रकृति को भी

ध्यान में रखा है । संस्कृत, पदावली से युक्त प्रसंगों में 'अनुष्टुम' का, फारसी से युक्त प्रसंगों में फारसी छन्द बहरे मुतकारिब मुस्मन मकसूर महफ़ूज़ का तथा पंजाबी शब्दावली से युक्त प्रसंगों में 'सिरखंडी' छन्द का प्रयोग किया है ।

प्रसंग, रस एवं भाषा के अनुकूल यह छन्द-चयन कवि की काव्य-प्रतिभा, एवं छन्द-शास्त्र के विशद ज्ञान का द्योतक है । और इस प्रकार भावों की स्पष्ट अभिव्यक्ति , उनको तीव्रता प्रदान करने एवं रसानुकूल वातावरण निर्मित करने में भी सहायक हुए हैं ।

छन्दों में संगीतात्मकता की अभिवृद्धि के लिये उन्होंने अन्त्यानुप्रास, यत्यानुप्रास, अन्तरानुप्रास, आदि के अनेक रूपों से काम लिया है ।

'गुरु प्रताप सूरज' में कवि ने संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, पंजाबी, फारसी के विविध छन्दों का तथा 'चांचरी' जैसे लघु छन्द से लेकर कवित्त, एवं अनंगशेखर जैसे बड़े छन्द का सफल प्रयोग करके अपनी काव्य-क्षमता का परिचय दिया है ।



विष्णु दिगम्बर की संगीत-साधना

रामलाल

संगीत—गानमर्म अध्यात्म तत्त्व का पर्याय है। संगीत की साधना आत्मधर्म है, इससे प्राणी परमात्मा के सम्बन्ध-राज्य में—भक्तिभाव में प्रतिष्ठित होने का सौभाग्य पाता है। उन्नीसवीं शताब्दी के तीसरे चरण से बीसवीं शताब्दी के दूसरे चरण को अपनी संगीत-साधना से गौरवान्वित करने में गायक संत विष्णु दिगम्बर ने जो तप किया वह कला-जगत् के इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण बात है। संगीत की साधना करते-करते उनका जीवन अध्यात्म की ओर उत्तरोत्तर गति करता गया। यद्यपि उनकी संगीत-साधना स्वान्तःसुख के लिये ही थी तथापि 'कला कला के लिये' सिद्धान्त के स्थान पर उन्होंने अपनी कला को सार्वजनिक हित के लिये प्रयुक्त किया। विष्णु दिगम्बर ने मानवमात्र को संगीत साधना के माध्यम से भगवान की भक्ति का उपदेश दिया, रामरस के आस्वादन का सन्देश प्रदान किया। उन्होंने भारतीय राष्ट्र के स्वतन्त्रता-संग्राम में 'रघुपति राघव राजा राम' के नाम का पुनीत कीर्तन कर गांधी युग को शुद्ध राष्ट्रीय भावना से समलंकृत किया।

संगीत नाद ब्रह्म है, इसे त्रयी विद्या भी कहा जाता है, संगीत गीत, वाद्य और नृत्य का मेल स्वीकार किया गया है। 'गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीतमुच्यते' संगीत रत्नाकार में ऐसा उल्लेख मिलता है। संगीत की साधना मोक्ष-प्राप्ति की विधायिका है। महामति विष्णु दिगम्बर ने संगीत की साधना में मोक्ष का दर्शन किया, वे इस क्षेत्र में दिव्यता और आध्यात्मिकता से सम्पन्न थे। ऐसा वर्णन प्राप्त होता है कि संगीत-विज्ञान चतुर्वर्ग फल देता है। पूजा से करोड़ों गुना श्रेष्ठ ध्यान है, ध्यान से श्रेष्ठ जप है, जप से श्रेष्ठ ज्ञान है, गान से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। नारदसंहिता में साक्षात् भगवान की नारद के प्रति वाणी है :

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मदभक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ॥

यही कारण है कि भगवान की भक्ति संगीत से सिद्ध होती है, बड़े-बड़े सन्तों ने संगीत को अपनाकर भगवान का भजन

किया । महाकवि जयदेव ने गीत गोविन्द की रचना की, मैथिल कोकिल विद्यापति ने मधुर पदावली में राधाकृष्ण का दिव्य शृंगार किया, रसिक शेखर स्वामी हरिदास ने अनेक ध्रुवपद रचे, दक्षिण भारत में सन्त गायक त्यागराज ने राम का गुणानुवाद किया, पुष्टिमार्गके श्री गुसाईं विट्ठल नाथ ने अष्टछाप की स्थापना कर कीर्तन की प्रणाली चलायी, मीरा ने गिरिधर लाल के गुणगान में आत्म-समर्पण कर दिया, सन्त तुकाराम ने एकतारा बजा कर पाण्डुरंग विट्ठल के जयनाद से महाराष्ट्र में निर्मल भागवत-धर्म का प्रचार किया । इसी सन्त-परम्परा में गायक विष्णु दिगम्बर का नाम आता है, उन्होंने राम के गुण गान से जगत् का कल्याण किया । ब्रह्मानन्द का रसास्वादन ही विष्णु दिगम्बर के जीवन का परम् श्रेयस्कर लक्ष्य था । वे अपने संगीत को ब्रह्मानन्द से अलग नहीं कर सके । बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में विष्णु नारायण भातखण्डे और विष्णु दिगम्बर ने संगीत के क्षेत्र में अनेक सुधार किये । भातखण्डे ने संगीत शास्त्र का उद्धार किया, सिद्धान्तों को सजीवता प्रदान की । विष्णु दिगम्बर ने क्रियात्मकता की ओर ध्यान दिया, संगीत को तपरूप में स्वीकार कर उसे अभ्यास और प्रयोग से प्राणान्वित किया । भातखण्डे के लिये संगीत सिद्धान्त था, विष्णु दिगम्बर के लिये संगीत प्रयोग था—साधनाभ्यास था । विष्णु दिगम्बर संगीत मनीषी थे । उनके जोड़ का संगीतज्ञ उनके जीवन-काल में भातखण्डे को छोड़ कर दूसरा कोई नहीं था । वे अनेक राग गा सकते थे और अनेक वाद्यों को बजाने में उनकी निपुणता उच्च कोटि की थी । उन्होंने संगीत के सद प्रचार के लिये समस्त देश का भ्रमण किया, स्थान-स्थान पर संगीत के विद्यालयों की स्थापना को यथाशक्ति प्रोत्साहन दिया । राज्याश्रय—राजप्रासादों में बन्द संगीत को उन्होंने जन-साधारण में लाने की जिस क्षमता का प्रकाशन किया वह उनके जीवन-चरित की एक अमित महत्त्वपूर्ण विशेषता है । राजप्रासाद, विद्यालय, झोंपड़ी, सन्त की कुटी, मन्दिर, सब के सब विष्णु दिगम्बर के प्रयत्न से संगीत की सरस स्वर-लहरी में एक साथ ही आकण्ठ मग्न हो उठे । उन्होंने स्पष्ट कहा कि कलाकार अथवा संगीतकार को जन-जीवन से दूर नहीं भागना चाहिए अथवा उसकी साधना का समाज के लिये कोई महत्त्व ही नहीं है । कलाकार का महत्त्व उसके समरस होने में है । विष्णु दिगम्बर ने संगीत की साधना को कभी अर्थोपार्जन का साधन नहीं बनाया । उनका पुरुषार्थ तो यह था कि संगीत विद्या के विकास के लिये प्रचुर धन का व्यय किया जाय । प्राचीन ऋषियों की तरह त्यागमय लोक-जीवन का ही पवित्र आदर्श अपनी रहनी-कहनी में उन्होंने उपस्थित किया ।

निस्संदेह भारतीय संस्कृति का कलापक्ष उनसे गौरवान्वित हो उठा ।

जिस समय विष्णु दिगम्बर ने जन्म लिया उस समय देश में अंग्रेज़ों की प्रभुता पूर्ण रूप से स्थापित हो चुकी थी, कला का साथ राज्याश्रय ने छोड़ दिया था। राजाओं के उद्यान-प्रासाद और नवाबों के महलों में पलने वाली कला निराश्रित हो रही थी, चारों ओर निराशा का ही वातावरण छाया हुआ था। विष्णु दिगम्बर का जन्म होना इस दृष्टि से एक ऐतिहासिक आवश्यकता के रूप में ग्रहण किया जा सकता है ।

विष्णु दिगम्बर ने महाराष्ट्र के बेलगांव जनपद में कुरुन्दवाड़ राज्य में सन १८७२ ई० में श्रावण पूर्णिमा को जन्म लिया था। उनके पिता श्री दिगम्बर गोपाल भगवान के बहुत बड़े भक्त थे, उनकी हरिकीर्तन में विशेष रुचि थी, माता गंगा देवी धार्मिक प्रवृत्ति की महिला थीं । पिता-माता के भगवद्भाव और सात्विक स्वभाव का विष्णु दिगम्बर के जीवन-विकास पर अमित प्रभाव पड़ा। वे बचपन से ही बड़ी कुशाग्र बुद्धि के थे । बचपन में एक अनहोनी घटना ने उनके भावी जीवन का कार्यक्रम निश्चित कर दिया । भगवान दत्तात्रेय का जन्म दिवस मनाया जा रहा था, पटाखे छोड़े जा रहे थे, एक पटाखा उड़ कर उनकी आंखों में लगा जिससे देखने की शक्ति जाती रही । महाराजा कुरुन्दवाड़ ने उनकी आंखों की ज्योति लौटाने के लिये बड़ा प्रयत्न किया पर इससे तनिक भी लाभ न हो सका । इस स्थिति में उनके लिये संगीत की शिक्षा ही ठीक समझी गयी । विष्णु दिगम्बर के पिता संगीत के अच्छे मर्मज्ञ थे, पुत्र के आकर्षक मीठे कण्ठ की ओर उनका ध्यान गया और वे संगीत का ज्ञान कराने लगे । पन्द्रह साल की अवस्था होने पर विष्णु दिगम्बर मिरज के प्रसिद्ध संगीतज्ञ बालकृष्ण बुवा के पास संगीत-साधना के लिये चले गये । अथक परिश्रम और अभ्यास से वे संगीत शास्त्र में पूर्व जन्म के संस्कारों के प्रभाव से पूर्ण पारंगत हो गए । राग रागनियों में उन्होंने असाधारण प्रवेश पा लिया । स्वर, लय, ताल और आलाप आदि उनकी साधना के वश में हो गए। उनके गान से जनता मन्त्रमुग्ध हो उठी । संगीत-शिक्षा पूरी कर लेने के बाद विष्णु दिगम्बर ने गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया। गृहस्थाश्रम में उन्हों ने संगीत प्रचार का काम अपने हाथ में लिया । इस पवित्र कार्य में उन्हें मिरज राज्य की एक घटना से बड़ा प्रोत्साहन मिला। लोग संगीतज्ञों को हेय दृष्टि से देखते थे, उनका समाज में अनादर विष्णु दिगम्बर को बहुत खटकता था। मिरज के एक सूती मिल में श्रद्धास्पद ब्राह्मण एक सहभोज में निमन्त्रित थे पर विष्णु दिगम्बर के गुरु को उसमें नहीं सम्मिलित किया गया, इसका कारण यह था कि उच्च

कोटि के ब्राह्मण होते हुए भी वे गायक थे। विष्णु दिगम्बर आश्चर्यचकित हो उठे, उन्होंने देश के कोने-कोने में घूम-घूम कर संगीत और संगीतज्ञों के प्रति घर-घर में आदर भाव फैलाने का संकल्प किया। उन्होंने व्रत लिया कि मैं संगीतज्ञों को भिखारी और राजाओं के मनोरञ्जन का साधन नहीं रहने दूंगा। वे १८९६ई० में अपने दो साथियों को साथ लेकर संगीत-प्रचार के लिये निकल पड़े। घर से निकलने के बाद उन्होंने औंध और सातारा में अनेक संगीत-आयोजनों में भाग लेकर लोगों को अपनी साधना की ओर आकृष्ट कर लिया। बड़ौदा की महारानी ने उनकी कला में विशेष रुचि प्रकट की। राजप्रासाद में प्रतिदिन पूजा के समय उन्हें भजन और कीर्तन करने का कार्य सौंपा गया। महारानी ने उनको बड़ौदा राज्य की सेवा में ही रखने का बड़ा आग्रह किया पर विष्णु दिगम्बर का यह कठोर व्रत था कि अपने आपको वे राज्याश्रय से सर्वथा मुक्त रख कर अन्य संगीतज्ञों के समक्ष स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करने का आदर्श उपस्थित करेंगे। वे राज वैभवों पर लात मार कर जन साधारण में संगीत की अभिरुचि बढ़ाने के लिये कटिबद्ध हो गए। बड़ौदा से उन्होंने काठियावाड़ में प्रवेश किया। गिरनार पर्वत पर उन्हें एक सिद्ध पुरुष का दर्शन हुआ जिन्होंने विष्णु दिगम्बर को पंजाब में जाकर संगीत प्रचार करने की प्रेरणा दी। वर्षा का समय था। विष्णु दिगम्बर के साथी आगे बढ़ गये। वे एक स्थान पर बैठ कर पदगान में तन्मय हो गये; नेत्र खुलने पर उन्होंने देखा कि एक संन्यासी खड़े होकर गान सुन रहे हैं। उन्होंने संन्यासी को उपेक्षाभाव से देख कर कहा कि तुम गान समझते हो। संन्यासी ने कहा कि अच्छी तरह समझता हूँ और तुम्हारी गान-कला दोषपूर्ण है। संन्यासी ने कुछ दूर आगे जाकर एक मन्दिर में गाना आरम्भ किया। विष्णु दिगम्बर आश्चर्य चकित हो गये, उन्होंने पूछा कि इतने मधुर गान का रहस्य क्या है। संन्यासी ने उत्तर दिया कि गायक के जीवन में तपस्या और सरलता होने पर ही उसे संगीत-विद्या में सफलता मिलती है। वे संन्यासी के आदेश से उत्तर भारत में संगीत का प्रचार करने लगे। मथुरा, जालन्धर, ग्वालियर, काश्मीर, कलकत्ता, अहमदाबाद और बम्बई आदि स्थानों पर सार्वजनिक संगीत-सम्मेलन के द्वारा उन्होंने शास्त्रीय संगीत के सम्बन्ध की अनेक भ्रमपूर्ण धारणाओं का अस्तित्व समाप्त कर दिया। उनकी प्रेरणा से काश्मीर नरेश ने संगीत विद्यालय की स्थापना में योग दिया।

विष्णु दिगम्बर ने ५ मई १९०१ ई० को लाहौर में राजा ध्यान सिंह की हवेली में गन्धर्व महाविद्यालय की स्थापना की। वे लाहौर में पचीस साल तक ठहर गये।

उन्होंने वहां से संगीतामृत नामक एक मासिक पत्र का भी प्रकाशन किया। संगीत की नाटेशन पद्धति के सम्बन्ध में कई पुस्तकें प्रकाशित कीं। सन् १९१५ ई० में उन्होंने बम्बई में गन्धर्व महाविद्यालय के भवन का निर्माण किया। भविष्य में आर्थिक संकट उत्पन्न होने पर उन्हें किसी भी तरह की मानसिक चिन्ता नहीं सता सकी। देश के प्रसिद्ध स्थानों में जाकर उन्होंने लोगों में संगीत, भगवद्गीता और रामचरितमानस के प्रति अभिरुचि उत्पन्न की, उनकी सद्प्रेरणा से सभी स्थानों में बड़े बड़े संगीत-सम्मेलन सम्पन्न हुए तथा भगवद् समाजों की स्थापना हो सकी। संगीत को इस तरह उन्होंने भगवद् भक्ति से नियन्त्रित और अनुशासित कर उसके सात्विक तथा शास्त्रीय पक्ष का संरक्षण किया। ऋण का भार अधिक बढ़ जाने पर संगीत विद्यालय का चलना कठिन हो गया, विष्णु दिगम्बर ने सच्चे रामभक्त के रूप में——सन्त गायक के रूप में वैराग्य का बाना पहन कर अपनी संगीत-साधना सफल कर दी। उनके सद्प्रयत्न और जनसहयोग से बम्बई विद्यालय का कार्य सफलतापूर्वक फिर आगे बढ़ गया, विनायक राव पटवर्धन, ओंकारनाथ ठाकुर और नारायण राव व्यास आदि उच्च कोटि के संगीत महारथियों ने उनके चरण में बैठ कर अभ्यास किया। संगीत में राघव राजा राम का गुणगान उतर आया। विष्णु दिगम्बर ने स्वतन्त्र स्वर-लिपि-पद्धति को जन्म दिया। अपने जीवन-काल में उन्होंने अनेक पुस्तकों——संगीत बालबोध, संगीत बाल-प्रकाश, संगीत-तत्त्वदर्शक, रागप्रवेश, नारदीय शिक्षा, भजनामृतलहरी आदि के प्रकाशन का श्रेय प्राप्त किया।

सन् १९२० ई० में उनके मन में वैराग्य का आवेग बढ़ गया। वे संन्यासी के वेष में रहने लगे। नासिक के निकट पंचवटी में उन्होंने 'राम नाम-आधार' आश्रम की स्थापना की। उन्होंने राम-भक्ति का प्रचार किया, वृद्धावस्था में शरीर शिथिल हो जाने पर भी उन्होंने देश के कोने कोने में 'रघुपति राघव राजाराम' का कीर्तन किया। २१ अगस्त सन् १९३१ ई० को उन्होंने मिरज में ही परलोक गमन किया।

उनके जीवन में अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाओं का समावेश मिलता है। सन् १९२१ ई० के कांग्रेस अधिवेशन में 'वन्दे मातरम्' के गान के लिये विष्णु दिगम्बर अपने स्थान पर विराजमान थे, बाहर फाटक पर गांधी जी के प्रवेश करते ही जनता की भीड़ उमड़ पड़ी। गांधी जी का भीतर जाना कठिन हो गया। गांधी जी की इच्छा से विष्णु दिगम्बर उस स्थल पर आकर 'रघुपति राघव राजा राम' का कीर्तन करने लगे। जनता मन्त्र-मुग्ध हो उठी, उन्होंने तत्काल कहा कि यदि आप गांधी जी को शान्तिपूर्वक भीतर जाने

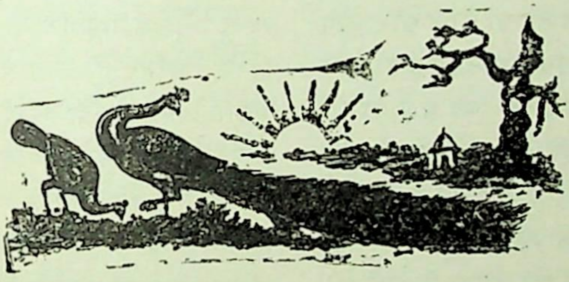
देंगे तो मैं आप को बहुत मधुर गीत सुनाऊंगा। जनता ने उनकी बात मान ली। कितना अद्भुत प्रभाव था विष्णु दिगम्बर का जनमानस पर। गांधी जी ने अधिवेशन में स्वीकार किया था कि लोग कहेंगे कि गांधी प्रत्येक सभा का प्रधान बन जाता है। यह क्या बात है! बात तो यह है कि संगीत संकट-मोचन है। यह संकट में पड़े हुए को निकाल कर मुक्त करने की शक्ति रखता है। यह मुझे बहुत प्रिय है, इसका प्रचार घर-घर में होना चाहिए। विष्णु दिगम्बर जी बड़े निर्भीक और स्पष्ट वक्ता थे। १९२३ ई० में कांग्रेस के कोकोनाडा अधिवेशन में मौलाना मुहम्मद अली ने 'वन्दे मातरम' गीत पर आपत्ति की, विष्णु दिगम्बर ने कहा कि यह राष्ट्रसभा का मण्डप है, मस्जिद नहीं है। उन्होंने तनिक भी परवाह न कर निश्चित होकर 'वन्दे-मातरम्' गाना प्रारम्भ कर दिया!—— एक समय की बात है कि नैपाल में उनका रामायण पर प्रवचन हो रहा था, इसमें राणा परिवार के लोग दास-दासियों सहित उपस्थित थे, धूम्रपान और ताम्बूल आदि को देख कर विष्णु दिगम्बर ने तत्काल कहा कि बड़ी लज्जा की बात है कि मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम की कथा में दो-एक घंटे के लिये लोग अपना व्यसन नहीं छोड़ सकते; जब तक ताम्बूल आदि के पात्र नहीं हटा दिये जाते, मैं प्रवचन ही नहीं करूँगा। महाराणा बहुत लज्जित हुए और उन्होंनें दास-दासियों आदि को उस स्थान से तत्काल विदा कर दिया। विष्णु दिगम्बर राम के अनन्य भक्त और उपासक थे। वे भगवत गायक थे।

संगीत-साधना के पथ में विष्णु दिगम्बर का ध्येय था भगवान की प्राप्ति। उन्होंने इस बात की सत्यता चरितार्थ की कि सब लोग गायक नहीं बन सकते हैं पर गायकों की कला के प्रशंसक बन सकते हैं। संगीत की सार्वजनिकता का यही स्वरूप है। भारतीय संगीतज्ञ कवि होता है और इसी तरह कवि भी संगीतज्ञ कहा जा सकता है। विष्णु दिगम्बर ने अपने साधनामय उदात्त आचरण से यह सिद्ध कर दिया कि संगीत कला नहीं, जीवन है। दोनों भारतीय संस्कृति के क्षेत्र में एक दूसरे के भावात्मक पर्याय हैं। संगीतज्ञ अन्तरात्मा के स्वर में ब्रह्मानन्द को व्यञ्जित कर संगीत को रूप प्रदान करता है——ऐसा आभासित होता है गायक विष्णु दिगम्बर के तपोमय जीवन से। उन्होंने संगीत शिक्षा को वैज्ञानिक ढंग से प्रचारित किया। उनके द्वारा स्थापित संगीत विद्यालय में निःशुल्क शिक्षा दी जाती थी। विद्यार्थियों के खाने-पीने तथा रहने और पहनने के वस्त्र की व्यवस्था स्वयं विष्णु दिगम्बर विद्यालय के द्वारा ही कर दिया करते थे। उन्होंने विद्यालय में भाषा और अंकगणित को भी पाठ्य-

क्रम में स्थान दिया था जिससे विद्यार्थी पूर्ण रूप से शिक्षित होकर समाज को संगीत शास्त्र के महत्त्व से परिचित करा सकें। इस तरह विष्णु दिगम्बर ने संगीत की परम ज्ञान के रूप में प्राण-प्रतिष्ठा की। उत्तर भारतीय संगीत में स्वरलिपि की दो पद्धतियां प्रचलित हैं, एक पद्धति भातखण्डे की है और दूसरी विष्णु दिगम्बर की है। भातखण्डे की पद्धति में विश्रान्ति का कोई चिन्ह नहीं है, गीत, गत और ताल को लिखने के लिये ताल के विभागानुसार काम चलाया जाता है। विष्णु दिगम्बर की पद्धति में विश्रान्ति का चिन्ह, अर्धविराम है। ताल, गत, गीत को लिखने के लिये प्रत्येक आवर्त्तन के बाद विराम, स्थायी के बाद दो विराम और अन्त में तीन विराम के चिन्ह का प्रयोग किया जाता है।

विष्णु दिगम्बर ने महिलाओं में संगीत प्रचार के लिये अपनी कन्या को शिक्षा दी पर उसकी अचानक मृत्यु हो जाने पर उनके हृदय को बड़ा धक्का लगा। ऐसा होने पर भी संगीत-प्रचार के कार्य में किसी तरह की शिथिलता नहीं आने पायी। विष्णु दिगम्बर बड़े स्वाभिमानी थे, उन्होंने राजा और नवाबों के वैभव के सामने कभी मस्तक नहीं नत किया। अपने संगीत जीवन सम्बन्धी आत्मसम्मान की सदा रक्षा की। उन्होंने संगीत के क्षेत्र में क्रान्ति उपस्थित की। यदि उनका जन्म न हुआ होता तो संगीत की दिशा में परिवर्तन होना सपना ही रहता, संगीत राजाश्रय से मुक्त होकर सार्वजनिक सम्पत्ति न बन पाती। विष्णु दिगम्बर अमर हैं।

● ● ●



बहुभाषाविद् संत गुलाबदास और उनका साहित्य

ओ. प्र. आनन्द

संत गुलाबदास पंजाब के प्राचीन कवियों की उस परम्परा में अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं जिन्होंने अपने साहित्य-सृजन द्वारा पंजाब प्रदेश का मुख उज्ज्वल किया है। गुलाबदास केवल ग्रन्थ लेखक ही नहीं थे अपितु तीन-चार भाषाओं के विद्वान होने के कारण अपनी रचनाओं में शब्द प्रयोग भी जानते थे। उनकी रचनाएं दोनों भाषाओं---अर्थात पंजाबी और हिन्दी दोनों में हुई हैं परन्तु यह कहने में संकोच नहीं कि उनमें मुख्य स्वर ब्रजभाषा का है और यदि थोड़ा और स्पष्ट एवं सूक्ष्मता से देखा जाय तो पंजाबी रचनाओं में भी ब्रज का ही अधिक व्यवहार है। दूसरी ओर ब्रज की रचनाओं में कहीं-कहीं क्रियापद तथा योजक पंजाबी के प्रयोग किए हैं। उदाहरण के लिये वगोना (निंदा करना के अर्थ में), मीटना (मीचने अर्थ में), फाथना (फँसाना अर्थ में) और खोहना, रच्छिया आदि रूप ब्रज में भी मिलेंगे। बहुवचन के लिये ब्रज शब्दों को पंजाबी रूप में ढाल लिया गया है--जैसे संतां लोकां, और बरनाश्रमां आदि शब्दों का व्यवहार मिलता है। यह सब कुछ कहने से मेरा अभिप्राय है कि एक भाषा-विद्वान ही दूसरी भाषाओं के शब्दार्थ ज्ञान बिना अपनी रचनाओं में उनका खुला प्रयोग नहीं कर सकता।

पंजाब के प्राचीन कवियों में साधु गुलाबसिंह और संत गुलाबदास नामक दो साहित्यकार हुए हैं, यद्यपि दोनों का समय और स्थान तथा जन्म मरण भिन्न है परन्तु कुछेक महानुभाव नाम-साम्य के कारण भ्रमित हो जाते हैं और इसीलिये पिछले दिनों एक-दो छोटी मोटी जो भी पुस्तकें पंजाब के प्राचीन साहित्य के परिचय में देखने में आईं, उनमें दोनों की रचनाओं को गड़बड़ किया मिलता है, भविष्य में ऐसा न हो सके इसलिये आवश्यक हो जाता है कि संत गुलाबदास के संबंध में जानकारी प्रस्तुत की जाय, यही इस लेख का आशय है।

संत गुलाबदास का जन्म विक्रम संवत १८६६ मग्घर शुक्ला पंचमी को पंजाब में हुआ । इनकी माता का नाम 'देसो' था और पिता का नाम 'हमीरा' । वैसे संत गुलाबदास का नाम बचपन से लेकर दीक्षित होने तक गुलाबसिंह ही रहा और बाद में संत बनने पर 'सिंह' के स्थान पर 'दास' रख लिया गया । दीक्षित होने के बाद इस प्रकार का नाम-परिवर्तन आवश्यक था। संत गुलाबदास ने अपनी यौवनावस्था में पौंविडिए सरदारों की नौकरी भी पर्याप्त समय तक की, मगर क्योंकि इनका स्वभाव आरंभ से ही फक्कड़ और मस्त था इसलिये अधिक देर तक नौकरी के बंधन में नहीं रहे और विभिन्न प्रदेशों के पर्यटन के लिये निकल पड़े । इसी पर्यटन अवस्था में इनकी भेंट उदासीन संप्रदाय की संगत साहब शाखा के साधु ब्रह्मदास के साथ हुई । साधु ब्रह्मदास ने इन्हें दीक्षा देकर भगवा वस्त्र धारण कराया । उन दिनों कुरुक्षेत्र निर्मला संप्रदाय के साधु महात्माओं का अच्छा केन्द्र था। संत गुलाबदास घूमते-घामते कुरुक्षेत्र आ निकले तो यहां रह कर निर्मला साधु देवा सिंह से शास्त्रों का अध्ययन किया और फिर से पर्यटन के लिये निकल पड़े । प्रसिद्ध कुंडलियों के रचयिता कवि गिरिधर राय इन के अच्छे मित्र थे । गिरिधर राय के संपर्क ने इनमें कवित्व-शक्ति जागृत की और उसके अनुसार संत गुलाबदास ने भी कुछ कवित्त, सवैये आदि लिखे । इसके बाद यही शक्ति इनके कई छोटे-छोटे ग्रंथ लिखने में सहायक बनी ।

संत गुलाबदास के जीवन के संबंध में खोज करने से ज्ञात होता है कि उनका सांसारिक जीवन काफी रंगीला था । इसके दो मुख्य कारण थे । पहला यह था कि गुलाबदास पूरी तरह स्वस्थ और बहुत सुन्दर थे, दूसरा यह कि वह एक अच्छे गायक थे। इसी लिये जब वह द्वारिका आदि तीर्थों से लौट रहे थे तो एक नर्तकी-गायिका इन पर आसक्त हो गई । उसने स्वयं को संत गुलाबदास की सेवा में अर्पित कर दिया । जितना भी उसके पास धन और आभूषणों का भंडार था वह सब उसने समर्पण कर दिया, लेकिन वह बेचारी अधिक दिन जी नहीं सकी, क्योंकि यात्रा में ही उसका नवीन जीवन आरंभ हुआ, और यात्रा में ही अंत भी हो गया । उसका संपूर्ण धन संत गुलाबदास के पास रह गया। इन्हीं दिनों संत गुलाबदास यात्रा करते हुए पंजाब में कसूर चले आए। यहां महाराज रणजीत सिंह की सेना के बहुत से फौजी युवकों के साथ इनका संपर्क बढ़ा, क्योंकि वे लोग संत जी के डेरे आकर इनसे कवित्त, सवैये और संगीत आदि सुना करते थे ।

कसूर में इनके जीवन में फिर से एक नारी का आगमन हुआ । इसका नाम था पीरो । यह भी एक अच्छी गायिका थी और साथ ही नर्त्तकी भी । पीरो चूंकि

मुसलमान थी, इस कारण से उसके संबंधी उससे रुष्ट थे कि वह हिन्दु धर्म की ओर क्यो आकृष्ट हुई । इसीलिये एक दिन अवसर पाकर वे लोग उसे संत गुलाबदास के डेरे से बलपूर्वक पकड़ कर चोरी-छिपे गुजरांवाला ले गये । संत जी ने उसकी खोज के लिये अपने दो स्वस्थ शिष्य चतुर सिंह और काल्हा सिंह को कुछ और दूसरे साथियों के साथ भेजा । वे सभी पता लगाते हुए येनकेन प्रकारेण गुजरांवाला से उसे ले आने में सफल हो गए । उसके रिश्ते-नातेदारों ने रईस इलाही खां से सहायता मांगी । इलाही खां स्वयं उस पर अनुरक्त था, इसलिये उसने अपने कुछ सशस्त्र लोगों को उसे रोकने भेजा । मियां मीर (लाहौर के पास जो अब पाकिस्तान में है) में संत गुलाबदास के शिष्य पीरो सहित घेर लिये गए । कुछ शिष्यों ने रातों-रात भाग कर यह सूचना संत गुलाबदास को पहुंचाई । इस पर दो सौ चेले शस्त्र लेकर चल पड़े । खूब जम कर लड़ाई हुई । इसकी भनक जब महाराज रणजीत सिंह को मिली तो उन्होंने लड़ाई बंद करवा दी और पीरो संत जी को समर्पित करदी गई । इसके बाद संत गुलाबदास कसूर छोड़ कर चट्ठे नामक गांव में आए और डेरा बांध कर रहने लगे । देखा जाय तो संत गुलाबदास केवल नाम से ही संत थे, परन्तु वास्तव में तो वह एक ऐसे गद्दीधारी महंत थे जिसके पास बहुत ही अच्छा ठाठ-बाठ हो और किसी छोटे-मोटे राजा-रईस से कम न हो ।

संत गुलाबदास के शिष्य सभी वर्गों से संबंध रखने वाले व्यक्ति थे । हिन्दु मुसलमान अथवा सिख का उनके यहां भेद नहीं था । स्वयं संत गुलाबदास इतने फक्कड़ और मस्त स्वभाव के व्यक्ति थे कि अपने मन की प्रसन्नता के लिये पूरे राजसी ठाठ तक प्रयोग करने में कभी नहीं हिचकिचाए । उदाहरण के तौर पर सिर पर कलगी लगाना, अपने शिष्यों और दूसरे गद्दी पर दर्शनार्थ आने वाले लोगों से नज़रें लेना, भेंट और उपहार लेना, दरबार करना और उस दरबार में गाना-बजाना तथा नृत्य आदि करवाना, यह सभी कुछ उनके राजसी ठाठ के परिचायक हैं । संत गुलाबदास शिष्य बनाते समय कुछ बहुत आडंबर नहीं रचते थे, केवल "सोऽहम्" की मंत्र-दीक्षा देकर ही हिन्दु-मुसलमान सभी को शिष्य बना लिया जाता था ।

महाराज रणजीत सिंह की सेना के साथ जब अंग्रेज़ों की लड़ाई हुई तो कुछ फौजी युवकों ने अपना-अपना धन जेवर संत गुलाबदास के पास धरोहर के रूप में इस शर्त के साथ सुरक्षित रखा कि यदि वे जीवित लौटे तो ले लेंगे अन्यथा उसे साधु-संतों की सेवा में लगा दिया जाय । और यह ठीक है कि उनमें से कुछ ही जीवित लौटे, इसलिये वह संपूर्ण धन गद्दी का समझ लिया गया और उससे जहां बिना

किसी भी भेदभाव के साधु-संतों का पोषण होता था, वहां राग-रंग में भी उस धन का उपयोग होता था। इस पर कुछ लोगों ने अंग्रेज़ी सरकार के कान भरने आरंभ कर दिये। अंग्रेज़ तो चाहते ही थे, बस परिणाम यह हुआ कि जहां-जहां संत जी के शिष्य जनता से भेंट-पूजा आदि लेते थे, वहां-वहां उनपर बंधन लगा दिये गए। पटियाला, जींद और नाभा रियासतों में शिष्यों पर दमन चक्र चला। कुछ ही दिनों में गुलाबदासी पंथ इतना दुर्बल बना दिया गया कि केवल महाराज रणजीतसिंह के शासन वाले प्रदेश की ओर बच रहा। शेष अंग्रेज़ों वाले हिस्से की ओर (रियास्तों) में उनकी गणना नहीं के बराबर रह गई। इससे गद्दी को एक प्रकार का आघात पहुंचा। इधर यह घटना-चक्र चला उधर संत जी की परम शिष्या पीरो संवत् १९२९ में मर गई, इससे संत गुलाबदास के हृदय पर आघात लगा और वह भी अस्वस्थ रहने लगे और इसी कारण स्वयं भी संवत् १९३० भाद्रपद शुक्ला द्वादशी को प्राण त्याग गए। मरने से पहले संत गुलाबदास ने तो इतना ही आदेश दिया था कि उनका शरीर उनकी शिष्या के पास ही दफन किया जाय, परन्तु भक्तों ने इससे भी आगे बढ़ कर भक्ति दिखाई कि पीरो वाली समाधि में ही संत जी को समाधि दी। चट्ठयां नामक गांव में इन्होंकी समाधि अब तक वर्तमान है। पाकिस्तान बनने से पहले तो वहां सभी वर्गों के लोग जाते-आते थे परन्तु अब केवल मुसलमान भक्त ही वहां जाते हैं।

संत गुलाबदास का सांसारिक पक्ष वर्णन करने का अभिप्राय केवल इतना ही नहीं कि वह ठाठ-बाठ से रहने वाले फक्कड़ महंत थे, बल्कि मेरे विचार में जो व्यक्ति वैसा आचरण नहीं करता जैसा दूसरों को उपदेश देता है, तो उसके साहित्य में भी वह ज़ोर, वह शक्ति नहीं आ पाती जिसके लिये वह साहित्य के माध्यम से कुछ कहता है। लेकिन संत गुलाबदास की रचनाएं देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वह जैसा साहित्य रच पाए हैं उसमें उनके जीवन का यथार्थ पर्याप्त रूप में झांकता दिखाई देता है। संत गुलाबदास के रचे हुए कई छोटे-छोटे ग्रंथ उपलब्ध होते हैं। उनमें से केवल "गुलाब चमन" नामक एक ग्रंथ लाहौर से छपा था शेष सभी अप्रकाशित रचनाएं हैं। अब तक के उपलब्ध ग्रथों में —अनुभव खण्डा, सीहरफी सांझी, वचनमाला, गुलाब बाग, गुलाब छटी, अवधूत वाक्य, फक्करनामा, सुधा-समुद्र, मौज विलास, और उपदेश विलास का नाम लिया जा सकता है। इनमें से मुख्य-मुख्य रचनाओं का परिचय इस प्रकार है :—

उपदेश विलास—यह ग्रंथ प्राचीन परिपाटी पर गुरु-शिष्य संवाद रूप में लिखा गया है। संत गुलाबदास का

प्रमुख शिष्य—जो वास्तव में इनका पालित पुत्र था—प्रश्न करता चलता है और गुरु उत्तर देते चलते हैं। लगभग सभी प्रश्नोत्तर जीव और ब्रह्म के संबंध में हैं। पद्य के साथ-साथ कहीं कहीं गद्य भी चलता है, परन्तु गद्य केवल व्याख्या के लिये ही अपनाया गया है। उदाहरणार्थ जैसे :—

शब्द गुरु है सुरत को चेली सुरत बगोय ।
सोऽहं शब्द सुतंतरे निसदिन हिरदे होय ।।
मीटत अधर घराण मो सुनो सुरत को लाय ।
सोऽहं, सोऽहं होत है हिरदे सहज सुभाय ।।

—शिष्य का प्रश्न है—"देह क्या है और जीव कौन है ?" गुरु का उत्तर है—"यह देह पांच भूत रूप है, बहुरि तुमने कहा था कि इस देह में जीव कौन सा है ? सो अविवेक, हउमै (अहंकार) रूप जीव इस देह में तुमने मानना, अरु देह के विवेक तैं हउमै निविरत होय है ।"

वचनमाला—इस ग्रंथ में केवल उपदेश ही हैं जिनमें इस संसार में होने वाले आकर्षणों से सावधान रहने का अथवा त्यागने के ही उपदेश दिये गए हैं। रचना का नमूना इस प्रकार है :—

मारग मै त्रय दुष्ट हैं तीनों लेते खोह ।
एक कनक अरु कामिनी तीजा तन का मोह ।।
माया ममता आसियो वाके चित्त कठोर ।
दमड़ी के पाछे फिरें गुरु पीरां के चोर ।।

गुलाबबाग़—इस ग्रंथ में संत गुलाब दास के अपने मत की विशेषताएं भी झलकती हैं। संत गुलाबदास पूर्ण अद्वैतवादी थे इसी लिये उनकी रचनाओं में भी वेदान्त के अद्वैत के दर्शन होते हैं। उनके विचारानुसार जैसे पानी या बूंद जल का ही रूप है उसी तरह गुलाब का फूल चाहे किसी भी तरह का हो, छोटा या बड़ा, गुलाबी या सफेद, परन्तु है तो वह गुलाब का फूल ही। ठीक उसी प्रकार चाहे वर्ण और आश्रम के भेद कितने ही हों परन्तु हैं तो सभी मनुष्य और इस संसार रूपी उपवन का माली परमेश्वर एक है, चाहे उसके नाम कई हो सकते हैं:—

लागा बाग गुलाब का फूल खिले बहु भाय ।
सांझा बरनाश्रम का सब की आस पुजाय ।।

इसी ग्रंथ में अपने व्यक्तित्व की झलक भी संत गुलाब दास ने ईश्वर के माध्यम से देते हुए लिखा है:—

हम तो सांझे सर्व के पच्छवाद सब खोय ।
संतां की कर रच्छिया बीज दुष्ट का खोय ।

गुलाब छटी—इस ग्रंथ में जहां आतम-अनातम और जीव-ब्रह्म की व्याख्या की गई है वहां तथाकथित वेषधारी पाखंडी संतो की निंदा भी की गई देखने को मिलती है। उदाहरण के लिये दो दोहे प्रस्तुत हैं :—

अब्बल छटी गुलाब की लिख हैं प्रेय पयार ।
गुरुमुख लेवैं वासना दास गुलाब विचार ।।

—और दूसरा है—

आप अनातम आतमा संत परमातम रूप ।
दास गुलाब निरंतरे तिरपुट सुते सरूप ।।

केवल वेषधारी साधुग्रों के संबंध में छींटा कशी इस प्रकार है :—

रोगी भूखे ग्रालसी भेखी बड़यो ग्राय ।
देही भेख बनाय कर लुट-लुट लोकां खाय ।

ग्रवधूत वाक्य—यह ग्रंथ तो ग्रपने नाम से ही स्पष्ट है कि इसमें हिन्दु-मुसलमानों को भेद से रहित होने का वर्णन है । इस ग्रंथ से स्पष्ट प्रतीत है कि संत गुलाबदास पर महात्मा कबीर का प्रभाव स्पष्ट है । इसके ग्रनुसार ही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जब तक इस जीव में से 'मैं' ग्रौर 'मेरापन' नहीं मिट जाता तब तक ही परमेश्वर दूर है ग्रौर ज्यो ही यह 'मैं' ग्रर्थात् जीवत्व का ज्ञान नष्ट हुग्रा त्योंही परमात्मतत्व की प्राप्ति सुलभ हो जाती है :—

हौं फक्कड़ फकीरी दा मूल हुए ।
यां ते राम रहीम रसूल हुए ।।
हौं हक्क मजूद जहान हुए ।
यां ते दोनों ही वेद कुरान हुए ।।
हिन्दु तुरक हमें मंजूर हुग्रा ।
ग्रापा गया तौ दूसरा दूर हुग्रा ।।

फक्कर नामा—यह बहुत छोटी सी रचना है । इसमें भी केवल बनावटी वेषधारी लोगों की निंदा है कि जो लोग स्वयं ही रोटी के दास हैं वे दूसरों को क्या रास्ता सुझाएंगे ग्रौर जो लोग केवल वर्ण ग्रौर ग्राश्रम के भेदभाव के चक्र में फंसे हुए हैं वे दूसरों का क्या उद्धार करेंग । उदाहरणार्थ एक पद प्रस्तुत है:—

पंडित काजी जग्ग मुथाजी मारग किसे बतावैं क्या ।
बरनास्रमां पिंजरे फाथे ग्रौरे किसे छुड़ावैं क्या ।।
मग्ज़ न जाना वेद कुराना वर का ढोल दिखावैं क्या ।
जिसे निरंतर ध्यान न कीया ग्राँखैं दाह मिटावैं क्या ।
दास गुलाब न ग्रापा लखते ग्रौर किसे लखावैं क्या ।।

सुधासमुद्र—इस रचना में ईश्वर की महिमा बहुत तरह से वर्णन की है, जिसके ग्रनुसार परमात्मा एक है ग्रौर ये वेद-कुरान सभी उसके पास पहुंचाने वाले मार्ग का निर्देश करते हैं, परन्तु परमात्मा तभी प्राप्त हो सकता है जब मनुष्य को स्वयं ग्रपनी पहिचान हो जाए :—

वेद कुरान विचार लियो पुनि तांह सुभाखत ईस सुनायो ।
फोरत पिंजर पार भयो जग ग्रातम सिंधु सुग्राप कहायो ।
तोरत लाज गए तिरबेनिव भेद उठाय निरंतर गायो ।
दास गुलाब सुखाव तरा जग एक सरूप न ग्राप लखायो ।।

मौज विलास—इस ग्रंथ में सब के प्रति सभी को समान व्यवहार ग्रपनाने का ग्रौर समदृष्टि रखने का उपदेश है ।

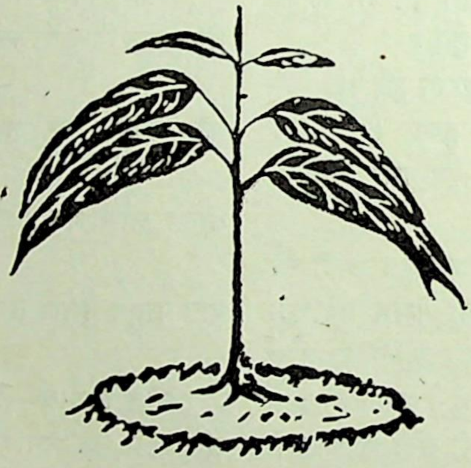
इसमें संत गुलाबदास संसार को स्वप्नवत बतलाते हुए कहते हैं कि यह जीव इस संसार के स्वप्न में ही अनेक सृष्टि करता है और उसी में उत्पन्न होकर उसी में नष्ट हो जाता है। यथार्थ एक परमेश्वर है बाकी सब स्वप्न हैं। हिन्दु या मुसलमान सभी उस स्वप्न में ही विचरण करते हैं, भेद केवल नाम का है, वास्तव में मूलतः सभी एक हैं :—

तुरक हिन्दु के वाद को मौज विलास उठाय।
बरनास्त्रम निरंतरे सर्व सरूप जनाय ॥

जीव की परिभाषा की स्पष्टता इस प्रकार वर्णित है:—

सुपने जागत जीव बहु सुपने केतक सोय।
सुपन रचित बहु सुपन मो सुपनहार बहु होय ॥

इन सब रचनाओं से संत गुलाबदास के एक अच्छा विद्वान और वेदान्त तत्त्व का उपदेशक होने का पता चल जाता है। अनेकों संस्कृत, फारसी और ब्रज के शब्द उन्हें बहुभाषाविद् होने का ज्ञान कराते हैं। संत गुलाबदास जाति-पांति के मानने वाले नहीं थे, उनकी दृष्टि केवल मनुष्य और मनुष्यता पर ही केन्द्रित थी। यही कारण है कि संत गुलाबदास के शिष्य मुसलमान भी थे और दूसरी जाति वाले भी और उनके साहित्य का आदर सभी समान रूप से करते थे। पंजाब प्रदेश ऐसे साहित्यकारों पर गर्व कर सकता है यह कहने में संकोच नहीं।



महाकवि कालिदास, प्रसाद तथा इक्बाल

●

वेद प्रकाश अग्नि

भारतवर्ष की पुण्य भूमि में जन्म-धारण कर यों तो अनेक मनीषियों ने अपने आपको गौरवान्वित किया है, किन्तु साहित्य के रंगमंच से इस प्राचीन राष्ट्र की महिमा का सन्देश देश-देशांतरों में प्रेषित करने का सफल प्रयास करने वालों में महाकवि कालिदास, टैगोर, इक्बाल तथा प्रसाद अग्रगण्य हैं। उन्होंने भारतीयता को चैतन्य प्रदान किया है। उनके सन्देश में एक जबरदस्त प्रेरणा तथा आकर्षण है जो सहृदय की चेतना को अपने आन्तरिक मनोबल से झटका देकर विचार मग्न होने पर विवश कर देता है। यह सन्देश विश्वजनीन एवं सर्वकालीन है। इसमें सांस्कृतिक चेतना का स्फुरण पूरी शिद्दत के साथ हुआ है। गुप्तों का स्वर्णकाल महाकवि कालिदास तथा प्रसाद के काव्य का प्रेरणास्रोत है। दोनों ने उस ऐश्वर्यकाल से सामग्री का चयन कर युगानुरूप अपनी भाव-धारा को प्रवाहित किया है। कालिदास में वह ऐश्वर्यमयी मन्दाकिनी के रूप में प्रस्फुटित होकर भारतीय नन्दनवन को आप्लावित करती चली है। परन्तु प्रसाद में वह अपनी संस्कृति और राष्ट्रीयता के विस्मृत अध्याय को पुनः खोल कर भली भांति पढ़ने का प्रयत्न करती हुई लक्षित होती है और उसमें से फूटता है अखंड भारतीयता का सांस्कृतिक पुनरुत्थान। इक्बाल में उसकी रंगत दूसरी ही है। उसका प्रेरणा-स्थल इस्लामी संस्कृति की मान्यताएं हैं। यद्यपि इस दिशा में वह भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन से प्रभावित हुए हैं तथापि उनकी धारणाओं में पर्याप्त मौलिकता तथा गत्यात्मकता है। अपनी गंभीर सांस्कृतिक चेतना के कारण ये तीनों महाकवि ऐसे साहित्य या काव्य का निर्माण कर गए हैं जो गूढ़ अर्थों से भरा एक समुद्र है जिसके किनारों की थाह पाना सरल नहीं। जिस पर जितना विचार किया जाए उतनी नई नई बातें सूझती हैं। प्रकृति, प्रेम तथा सौंदर्य के विषय में इन कवियों ने जिस पथ का

अनुसरण किया है आगे उसी पर विचार किया जाएगा ।

कवि-कुलगुरु कालिदास सौंदर्य के कवि हैं। उन्होंने मानवीय और प्राकृतिक सौन्दर्य के राशि-राशि चित्र खींचे हैं। 'ऋतुसंहार' में छ : ऋतुओं का हृदय-स्पर्शी सौन्दर्य अंकित है। वह सौंदर्य की चित्रशाला है जिसमें प्राकृतिक-सौन्दर्य ही नहीं निखरा है अपितु उसके प्रभाव के साथ साथ मानवीय भावनाओं तथा इच्छाओं की रमणीयता भी व्यक्त की गई है। शकुन्तला तो कवि की सुकुमार और सुन्दर कल्पना का मृदुल कुसुम है जिसकी कोमलता शरीष पुष्प को भी प्राप्त नहीं। कालिदास ने जिस सौंदर्य की साधना की है वह उन्हें अधिकांश बाह्यजगत में प्राप्त हुआ है । उसकी पूर्णता में किसी को सन्देह नहीं हो सकता। आन्तरिक जगत के सौन्दर्य के उद्घाटन में भी उन्होंने बड़ी ईमानदारी का सबूत दिया है। उन्होंने मानव प्रकृति का वास्तविक एवं मनो-विज्ञान-सम्मत रमणीयचित्र उतारा है। उस पर प्रारंभ में आदर्श का मुलम्मा नहीं चढ़ाया है। इसलिये उनके पात्र हमारे जीवन के अधिक निकट हैं। उनमें आदर्श का विकास उत्तरोत्तर स्वाभाविक साधना का परिणाम है । प्रारंभ में दुष्यंत का आन्तरिक सौंदर्य विकृत रूप में सामने आता है, जो वासना-ग्रस्त है, किन्तु अन्त में वही भव्यता में परिणत हो जाता है। वासना से भव्यता की ओर बढ़ने का पथ स्वाभाविक है। कालिदास के पात्र इसी पथ पर आगे बढ़ते हैं। प्रसाद की सौन्दर्य भावना यद्यपि मुखर है किन्तु दार्शनिक भावों के बोझ से दबी हुई है। पर जहां भी उनका दार्शनिक वस्तुजगत में उतर आया है वहां सौन्दर्य अपनी संपूर्ण भाव-व्यंजना के साथ मुखर हो उठा है। उनकी 'कामायनी' का सौन्दर्य 'शकुन्तला' से भले ही होड़ न करे किन्तु प्रभाव की दृष्टि से कम महत्वपूर्ण नहीं है। श्रद्धा के यौवन वय से प्रफुल्ल अंगों का चित्र कवि इस प्रकार खींचता है--

नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग;
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ बन बीच गुलाबी रंग।

०. ० ० ०

घिर रहे थे घुंघराले बाल
अंस अवलंबित मुख के पास;
नील घन शावक से सुकुमार
सुधा भरने को विधु के पास ।

सौन्दर्यांकन में प्रसाद ने कालिदास का ही अनुसरण किया है। शृंगार सौन्दर्य का आधार है । कालिदास उसके वर्णन में परमपटु हैं। प्रसाद में भी आनन्दमूलक शृंगार का गुणगान है ।

कालिदास की तरह इक्बाल भी सौंदर्य के कवि हैं। किन्तु उनका सौन्दर्य संबंधी दृष्टिकोण भिन्न है। उन्हें सौंदर्य की सोद्देश्य अभिव्यक्ति अभीष्ट है । वह

सौंदर्य का वर्णन इसलिये करते हैं कि उनकी रचना आकर्षक और इतनी प्रभावशाली हो जाए कि वह अपने विचार पाठ क के मन पर पूरी तीव्रता से अंकित कर दें । उनके सौंदर्य में एक हठात् आग्रह है, एक बल है जो पढ़ने वाले को अपने में लीन करे या न करे किन्तु सशक्त हाथों से उसे अवश्य झंझोड़ देता है, उसे सोचने समझने के लिये मजबूर करता है । उनका सौंदर्य वर्णन उपदेश के भार से दबा है किन्तु नीरसता से शिथिल नहीं हुआ है । उस पर 'कलन्दराना' मस्ती की छाप है । सौन्दर्य चित्रण में यही इक्बाल के कवि की विशेषता है । इसी से उनका सौंदर्य प्राणों को रमाता तो नहीं उन्हें आकुल-व्याकुल अवश्य कर देता है ।

कालिदास और प्रसाद में स्थूल शृंगारिक सौन्दर्य का वर्णन प्रचुर मात्रा में मिल जाता है । इक्बाल में उसका प्रायः अभाव है । उनका सौंदर्य तो 'खुदी के एहसास' का साधन है । इसलिये उनके हाँ किसी प्रकार के नारी-सौंदर्य का स्थान नहीं है । एक स्थान पर उन्होंने स्पष्ट कह दिया है—

क्या ख़ाक उभारेंगे वह मनहूस मफ्फकर,
जिनके दिलो-दिमाग़ पै है औरत असवार ।

एक और स्थान पर उन्होंने प्रपंचात्मक रंगीनियों में 'खूने जिगर' 'तलफ़' न करने का आदेश दिया है —

इश्के बुताँ से हाथ उठा,
अपनी खुदी में डूब जा ।
नक़्शो निगारे दीर में,
खूने जिगर न कर तलफ ।।

नारी-सौन्दर्य उनके "तकमीले खुदी" में बाधा डालता है । इसी लिये वह उनकी लेखनी की कृपा का पात्र न बन सका । किन्तु जिस सौंदर्य का आभास इक्बाल ने दिया है वह 'खुदी' अर्थात् आत्मबोध की प्राप्ति पर होने वाला अनुभव विशेष है । उसे पारलौकिक कहना अधिक उपयुक्त है । परन्तु इस सौन्दर्य की सृष्टि के क्रमिक विकास एवं साधना का सूत्र हाथ नहीं लगता है । कालिदास और प्रसाद में लौकिक सौन्दर्य द्वारा आलौकिक सौन्दर्य का विकास बड़े ही स्वाभाविक ढंग से दिखाया गया है । महाकाव्यकार एवं नाटककार के नाते वे ऐसा कर सके हों, ऐसा अनुमान विद्वानों की दृष्टि में अनुचित नहीं माना जाएगा, ऐसा मुझे पूर्ण विश्वास है ।

सौंदर्य, राग या प्रेम का जनक है । तीनों महाकवियों ने प्रेम का वर्णन अपनी अपनी दृष्टि से किया है । कालिदास का अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने प्रेम का सर्वांगपूर्ण चित्रण किया है । उद्दाम वासना से उद्बुद्ध प्रेम से लेकर उदात्त-प्रेम की अवस्था तक का जितना प्रीति-पथ है, कालिदास वहां एक एक स्थान पर घूम आए हैं । उनकी कला-

कृतियों में प्रेम के संयोग-वियोग दोनों रूपों का चित्रण हुआ है। वासनात्मक प्रेम में अधीर भावों की चपलता और तारल्य का प्रभाव अद्भुत है। परन्तु कालिदास ने उदात्त प्रेम का ही समर्थन किया है। एक बार इन्द्रियों को विषयों में लगा कर फिर उनसे निवृत्त होना बड़ा कठिन होता है। यह बात 'रघुवंश' के तेरहवें सर्ग में 'शात-कर्णी' तथा सूतीक्षण के परस्पर विरोधी जीवन-क्रम से दिखा दी गई है। अविवेकपूर्ण अल्हड़ प्रेम का मज़ा शकुन्तला को वियोग का ग़रल पीकर चखना पड़ा है। इस संबंध में 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' के पांचवें अंक में जब राजा दुष्यंत ने शकुन्तला का परित्याग किया तब यह कहा गया है—

अतः परीक्ष्य कर्त्तव्यं विशेषात्संगतं रहः।
अज्ञात हृदयेष्वेवं वैरी भवति सौहृदम्॥

अर्थात् एकान्त की मित्रता बहुत विचारपूर्वक करनी चाहिए, नहीं तो जिसके हृदय को अच्छी तरह नहीं पहचाना उस पर किये हुए प्रेम का पर्यवसान वैर में होता है। परन्तु उदात्त प्रेम का कुन्दन वियोग की ज्वाला में तिल-तिल कर तपने के बाद ही प्राप्त होता है। प्रेम की शुद्धि तथा तीव्रता की प्राप्ति प्रेमपथ में सहन किए गये कष्टों और क्लेशों पर निर्भर करती है। जितना कष्ट होगा उतनी ही प्रेम की तीव्रता बढ़ेगी। प्रेमी को उसका प्राप्य न मिलने पर भी तड़प में बड़ा आनन्द आता है। यही कारण है कि कालिदास का विप्रलंभ वर्णन प्रभाव की दृष्टि से अद्वितीय बन पड़ा है। मेघदूत, रतिविलाप और अजविलाप की प्रेम-पीड़ा करुणा से गीली है। प्रसाद ने भी प्रेम के वर्णन में कालिदास का ही अनुसरण किया है। उनका प्रेम का दर्शन 'प्रेम-पथिक' में झलक दिखा कर, 'आंसू' की करुणा कलित रागिनी में ध्वनित होकर 'कामायनी' के मधुवन में पल्लवित पुष्पित होता हुआ पूर्णता को प्राप्त होता है। प्रसाद का प्रेम-दर्शन मिलता-जुलता भी है और भिन्नता भी रखता है। कालिदास की तरह उसका विकास भी वासना के कर्दम से होकर उदात्तता के कमल में हुआ है। पर उसमें 'विश्वप्रेम' पर बल कुछ अधिक है। ऐसा माना गया है कि एक व्यक्ति तक सीमित प्रेम उन्नयन की पवित्र स्थिति को प्राप्त नहीं कर सकता।

कालिदास और प्रसाद की अपेक्षा इक्बाल का प्रेम संबंधी दृष्टिकोण नितांत भिन्न है। उस पर उनकी 'फ़क़ीरी' की छाप है। उनकी दृष्टि में प्रेम ऐसा उत्कट भावावेश है जो जीवन के निर्माण का जबरदस्त प्रेरक तत्त्व है। इक्बाल इसी से स्वभाव पर (फितरत पर) विजय प्राप्त कर संपूर्ण सृष्टि से आत्मीयता स्थापित करने की बात कहता है। उसके लिये प्रेम उच्चकोटि के आत्मसंयम का ऐसा अचूक साधन है जिसका बाण लगते

ही सृजन की कल्पनातीत शक्तियां प्रस्फुटित होती हैं। इस प्रेम की प्राप्ति के लिये जिसे उन्होंने 'जनूने इश्क' कहा है, दिल का दर्द पहली शर्त है। इसी से अपनी एक प्रसिद्ध ग़ज़ल में उन्होंने लिखा है—

तू बचा बचा के न रख इसे, तेरा आईना है वो आईना।
कि शिकस्तातर हो तो अज़ीज़तर है निग़ाहे आईना साज में ॥

शिकस्ता (खंडित) आईने में (हृदय के दर्पण में) ही इश्क़ का विस्तार होता है जिसका लाज़मी नतीजा बेताबी और इज़तराब (व्याकुलता) है। परन्तु हृदय को इसीमें मज़ा मिलता है। इक्बाल कहते हैं—

ईं हर्फे निशात आवर में गोयम व मे रक़्सम।
अज़ इश्क़ दिल आसायद बा ईं हमा बेताबी ॥

कवि का यह दृष्टिकोण और भी स्पष्ट हो जायगा यदि हम उर्दू के प्रसिद्ध कवि गालब के शब्दों में इसे दुहरा दें —

इश्क़ से तबीयत ने ज़ीसत का मज़ा पाया
दरद की दवा पाई दरद लादवा पाया ॥

कालिदास प्रकृति के सुकुमार कवि हैं। उनके प्रकृतिचित्रण में मानव और प्रकृति एक दूसरे के बहुत समीप आ गए हैं। प्रसाद का प्रकृति-वर्णन सुकुमार और उग्र दोनों क्षेत्रों तक व्याप्त है। इक्बाल में प्रकृति का गरिमामय रूप उभरा है। यह संयोग की बात है कि तीनों महाकवियों ने गिरिराज हिमालय के प्रति उसके गौरव के अनुरूप श्रद्धांजलि भेंट की है।

महाकवि कालिदास का सन्देश त्याग और तपस्या द्वारा पूत जीवन की साधना है और अन्त में जीवन के चरमलक्ष्य निःश्रेयस की प्राप्ति। प्रसाद का लक्ष्य प्रवृत्ति और निवृत्ति का सामरस्य कर आनन्दमय विभु की अनुभूति है किन्तु कर्मयोगी इक्वाल का सन्देश 'खुदी की तकमील' है। फितरत (प्रकृति) की तस्वीर (विजय) से यह गौहरे मक़सूद (काम्य मोती) मय्यसर (प्राप्त) हो सकता है। कालिदास और प्रसाद की महानता को इक्वाल नहीं पहुंच पाए हैं। इन दोनों महाकवियों की साहित्य साधना का क्षेत्र व्यापक, सर्वांगपूर्ण तथा जीवन के मार्मिक चित्रों से अटा पड़ा है। इक्बाल ने खुदी की पूर्णता के आलोक से जीवन को देखा है। उनमें अपने आदर्श का आग्रह है। किन्तु अपने क्षेत्र में उनका स्थान बहुत ऊंचा है।

● ● ●

अस्तित्ववाद

मू० ले० प्रो० प्रवीण चन्द्र

पाश्चात्य-दर्शन में अस्तित्ववाद एक नयी परम्परा का नाम है जो गत विश्व युद्ध के बाद लोकप्रिय हुआ। शिक्षण-केन्द्रों में अस्तित्ववादियों को यदि घृणा से नहीं तो संशय—दृष्टि से अवश्य देखा जाता है। मूलतः इसका कारण यह है कि इस शब्द की व्याख्या ग़लत ढंग से हुई है। यह समझा जाता रहा है कि प्रत्येक साहित्यिक कृति जो ह्रासशील है, जिसके पात्र विक्षिप्त या बुरे हैं, जिसमें केवल दुःख और व्यथा है, वह अस्तित्ववादी रचना है। इसलिये साधारण पाठक के मन में अस्तित्ववाद का जो चित्र उभरा है, उसमें अश्लील और घृणित पक्ष को प्रमुखता मिली है। अस्तित्ववाद शब्द मुख्यतः उन लोगों को गुमराह करता रहा है, जिनको दर्शन में रुचि नहीं थी। अमेरिका में इस शब्द का प्रचलन बहिष्कृत अर्थों में किया जाने लगा और यह समझा जाने लगा कि यह सिद्धाँत पेरिस के कुछ उच्छृङ्खल और बहिष्कृत नवयुवकों द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत है जिसमें कहीं भी कुछ भी सारवान नहीं है। प्रत्येक विचार-धारा की महत्ता इस बात से आंकी जानी चाहिए कि उसमें किस बात पर बल दिया जा रहा है। अस्तित्ववाद का रचनात्मक पक्ष हमारे लिये इसलिये महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसमें मनुष्य की समसामयिक प्रवृत्तियों और गतिविधियों को निरुपित करने का प्रयास किया गया है।

कई असहिष्णु आलोचकों ने अस्तित्व-वाद की इसलिये अवहेलना की है, क्योंकि वे समझते हैं कि अस्तित्ववाद युद्ध-पीड़ित योरूप की आर्थिक और राजनैतिक समस्याओं का दार्शनिक समस्याओं में पलायन है। इसमें संदेह नहीं कि युद्ध के बाद योरूप की विचारधारा में निराशा का स्वर उभरा हो, परन्तु यह बात ठीक नहीं है कि निराशा हमेशा ह्रासशील प्रवृत्तियों को जन्म देती है। यह उचित ही था कि युद्ध की विभीषिका के बाद योरूप जिस त्रास और असुरक्षा की दशा में था, उसमें अस्तित्ववाद जैसा दर्शन उत्पन्न होता। काम्यू ने एक जगह लिखा है कि केवल अरक्षा की स्थिति में ही मनुष्य चिंतन अथवा मनन की ओर अग्रसर होता

है, अगर अस्तित्ववादी साहित्य में जीवन की निरर्थकता को प्रतिपालित करने का पाशविक आनंद पाया जाता है तो यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि उस दशक में प्रत्येक स्थान पर पशुत्व और संहारात्मक प्रवृत्तियों का बोलबाला था, और जो साहित्य इस स्थिति से आंख मूंद लेता वह कभी भी सच्चा साहित्य नहीं हो सकता था। आजका मनुष्य अनिश्चय और असुरक्षा की जिस स्थिति को जी रहा है और जिस तरह पुरानी आस्थाओं के भवन गिर रहे हैं, उस स्थिति को अस्तितववादी दर्शन ने चित्रित किया है।

यह कहना सत्य के विरुद्ध होगा कि अस्तित्ववादी दर्शन का सूत्रपात इस शती के चौथे दशक में हुआ। १६वीं शताब्दी के देनिश दार्शनिक किरकीगार्ड को इस दर्शन के जनक के रूप में माना गया है, किरकीगार्ड ने अपने इस सिद्धान्त का निरूपण हीगल के आदर्शवाद के विरोध में किया। उसने यह समझा कि हीगल का "सिद्धान्त" (System) स्थापित करने का प्रयास "व्यक्ति" की महत्ता को कम करता है। हीगल का द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त मनुष्य की व्यक्तिगत समस्याओं की उपेक्षा करता है, अतः उसने कहा कि बौद्धिक अन्वेषण से मनुष्य के जीवन की गंभीर और असमंजस्य की स्थिति का हल नहीं किया जा सकता।

यह किरकीगार्ड ही था जिसने सब से पहले यह कहा था कि सत्य आत्मपरक होता है। अतः अस्तित्ववाद का सीधा सम्बन्ध मनुष्य की आधारभूत व्यक्तिगत समस्याओं से है। यह सिद्धांत अपने आप में बहुत पुराना है, इसका मूल सुकरात के दर्शन में तथा कभी कभी बाईबल में भी ढूंढा गया है। सेंट अगस्टाइन को पहला अस्तित्ववादी चिंतक माना गया है। डा० राधाकृष्णन इसको उपनिषदों के 'आत्मनं विद्धि' के सिद्धान्त का ही नवीनीकरण समझते हैं।

बीसवीं शती में यह विचारधारा दो भिन्न शाखाओं में बंट गई। धार्मिक क्रिश्चियन अस्तित्ववादी एक तरफ और दूसरी तरफ नास्तिक अस्तित्ववादी। क्रिश्चियन अस्तित्ववाद के अन्तर्गत सेंट अगस्टाईन, पास्कल, किरकीगार्ड, कार्ल जास्परस, गेब्रिमल मार्सल इत्यादि दार्शनिक आते हैं और दूसरी शाखा में सात्र, हाईडैग्र, आदि आदि।

अस्तित्ववाद की मूल प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते समय इसके ये मुख्य तत्व दृष्टिगत होते हैं। अस्तित्ववाद में जिस धारणा पर सर्वाधिक बल दिया गया है वह शून्य का आभास (nothingness) है। इससे इनकी नास्तिक प्रवृत्तियों का बोध होता है। अस्तित्ववादी इस बात पर ज़ोर देते हैं कि ईश्वर नाम की कोई चीज़ नहीं है। मैं क्यों जीता हूँ? दुनिया

में कोई भी चीज़ क्यों जीवित है ? यहां केवल शून्य ही क्यों नहीं है ? शून्य के आभास का विश्लेषण नहीं किया जा सकता, लेकिन इसकी अनुभूति हमें डर, कम्पन आदि संवेदनाओं में हो सकती है ।

शून्य के इस आभास से ही आधुनिक अस्तित्ववाद के मूल सिद्धान्त एबर्स्ड (फूहड़पन) का जन्म होता है । काम्यू ने सब से पहले Myth of Sisyphus में इस शब्द का इस अर्थ में प्रयोग किया था और तत्पश्चात् इसकी बहुत ग़लत, अवैज्ञानिक और अनिर्णीत व्याख्याएं हुई हैं । काम्यू यह आधारभूत धारणा लेकर चलता है कि मनुष्य में विचारशीलता के लिये प्यास है, जबकि हर जगह इसे अविवेक का सामना करना पड़ता है । वह अपने प्रश्नों का स्पष्ट उत्तर चाहता है, लेकिन हर जगह उसे मिलती है अंधियारी और संकुल स्थितियां । वह सुखी रहना चाहता है, लेकिन जीवन की परिस्थितियां प्रसन्नता का हमेशा बहिष्कार करती हैं । काम्यू की फूहड़पन की धारणा जैसा कि पहले पहल लगता है, नकारात्मक नहीं है । काम्यू शोपनहावर की तरह निराशा की स्थिति को गौरव-पूर्ण नहीं करता । अगर जीवन में कोई अर्थ नहीं है तो आत्मघात करके इसे नकारात्मक अर्थ देना मूर्खता है । जैसा कि 'अजनवी' में मेरुसुला कहता है, "मैं जानता था कि इस बात में कोई अन्तर नहीं पड़ता कि किसी की मृत्यु तीस वर्ष की आयु में होती है यह सत्तर की, क्योंकि दोनों स्थितियों में अन्य स्त्री-पुरुष हज़ारों सालों तक जीवित रहेंगे । अब भी मैं ही मरने जा रहा था और बीस साल के बाद भी मैंने ही मरना था ।" काम्यू ने अपनी इस धारणा को प्रतिपादित करने के लिये सिसिफस का उदाहरण लिया है, जिसे ग्रीक देवताओं ने यह शाप दिया था कि वह एक पत्थर के टुकड़े को पहाड़ की चोटी पर पहुंचा कर आए । ज्यों ही पत्थर शिखिर पर पहुंचता वह लुढ़क कर वापिस आ जाता । लेकिन सिसिफस अभिशप्त होने के कारण यह काम सदियों तक करता रहा । फूहड़ मनुष्य का सिसिफस आदर्श है, क्योंक वह जानता है कि उसका काम व्यर्थ है । अगर उसके दिमाग़ में यह विचार आ जाता कि एक दिन पत्थर शिखिर पर टिक जाएगा और वह इस यातना से मुक्त हो जाएगा, तो वह प्रशंसनीय पात्र नहीं रहेगा । क्योंकि उसे कोई आशा नहीं, इसलिये वह सुखी है । "शिखिर के साथ संघर्ष ही मनुष्य के हृदय को तृप्त करने के लिये काफी है । सिसिफस एक सुखी आदमी है, ऐसा हमें सोचना चाहिए ।" (दि मिथ आफ सिसिफस)

अस्तित्ववाद की तीसरी प्रमुख धारणा है—ईश्वर में अविश्वास । अस्तित्व-वादियों का विश्वास है कि विश्व में प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व ईश्वर से परे है । नित्शे के साथ वह ईश्वर की मृत्यु में विश्वास

करते हैं । आस्तिकता की आसानी से मिल जाने वाली सांत्वना को वे अवहेलना करते हैं । साधारण प्राणियों के लिये ईश्वर अपने दुख और अपनी व्यथाओं का बोझा ढोने वाला एक पंगु प्रतीक बन जाता है, ताकि वह स्वयं को अपनी वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक परेशानियों से मुक्त रख सके। इसमें आस्था स्वर है, क्योंकि वह मनुष्य को संघर्ष के लिये पुकारता है और यह कहता है कि प्रत्येक मनुष्य अपना ईश्वर स्वयं है । अगर ईसा मसीह ने विश्व के लिए दुख उठाया है तो मानव जाति ने भी एक ईसा के कारण कम कष्ट नहीं उठाया है । मनुष्य को अपनी समस्याएं स्वयं सुलझानी हैं और एक अनुपस्थित ईश्वर के स्थान पर स्वयं को आगे बढ़ाना है । उसने अपना सार (Essence) स्वयं ढूंढना है । विश्वास और आस्था की बैसाखियाँ लेकर चलने वाला मनुष्य वैसे जीवित हो पर दार्शनिक स्तर पर वह आत्मघात कर लेता है ।

इसकी चौथी धारणा यह है कि जीवन पहले आता है और सार बाद में । मनुष्य का निर्माण चाकू और मेज़ की तरह किसी पूर्व निर्धारित योजना के आधार पर नहीं हुआ, वह विश्व में फेंका गया है, इसलिये वह जीता है । और जीवन में आधारभूत तथ्य व सार यही है कि वह जीकर ही अपने आपको पा सकता है । मनुष्य को अपने सिद्धान्त स्वयं चुनने हैं, अपनी मान्यताएं स्वयं ढूंढनी हैं । हम अपने जीवन के सिवाय और हैं ही क्या ?

पांचवीं धारणा यह है कि मनुष्य की स्वतंत्रता एक मूल सत्य है । मनुष्य की एकमात्र उपलब्धि स्वतंत्रता है और इसे पाने के लिये कई संघर्ष करने पड़ते हैं, क्योंकि इसके खो जाने का हमेशा भय रहता है । अस्तित्ववादी साहित्य मनुष्य की पतनोन्मुखी धारणाओं का साहित्य नहीं है, लेकिन यह एक आस्थावादी साहित्य है, जिसमें मनुष्य एक ऐसा लक्ष्य प्राप्त करने का प्रयास करता है जिसे कभी भी पूरी तरह पाया नहीं जा सकता ।

जिन लेखकों ने अस्तित्ववाद को साहित्यिक रूप में प्रस्तुत किया है उनमें फ्रांस के दो लेखकों—काम्यू और सॉत्र को बहुत प्रसिद्धि मिली है, यद्यपि दोनों में अस्तित्ववाद की सभी स्थापनाएं नितांत रूप से नहीं पाई जातीं । सॉत्र को पहले पहल ख्याति उच्छृङ्खल और अनाचारी सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने के लिये मिली । इस अंधेरे में सॉत्र का दर्शन और चिन्तन पूरी तरह खो गया । सॉत्र उपन्यासकार और नाटककार होने के साथ साथ एक चिंतक भी है, जिसने अपने सिद्धांतों का निरूपण अपनी पुस्तक Being and Nothingness में किया। सॉत्र को ज्यादा ख्याति यौन विकृतियों का घृणित चित्रण करने वाले उपन्यासकार के रूप में मिली है और इससे इस वाद की मूल प्रेरणा को

बहुत धक्का लगा है । इसमें सॉत्र का दोष नहीं है, अगर उसके पात्रों में ये विकृतियां हैं। उसकी रचना Intimacy की नायिका बिस्तर में नंगी सोती है, क्योंकि नंगे जिस्म के साथ बिस्तर का सम्पर्क उसे सुहाता है । वह अपने कपड़े अपने छोटे भाई के सामने बदलती है, जो उससे स्त्रियों की यौन-प्रक्रिया के सम्बन्ध में अजीब प्रश्न पूछता है । उसका अपना पति नपुंसक है और वह उसे चाहती है, क्योंकि निपुंसक आदमी से यौन-तृप्ति का उसे अद्भुत विकृत आनंद मिलता है। ऐसे चरित्रों के निर्माण से यह समझा जाने लगा कि सॉत्र एक अश्लील और कुत्सित दृष्टिकोण का प्रतिपादक है, लेकिन वासना के इस नग्न चित्रण के पीछे सॉत्र के दार्शनिक को कोई भी न समझ सका । यह भुला दिया गया कि सॉत्र एक ऐसे ह्रासशील और पतनोन्मुख समाज का चित्रण कर रहा था जिसमें पुरानी मान्यताओं के विरुद्ध इस प्रकार विद्रोह किया गया कि लोग सभ्यता की छोटी छोटी बातों से अपने आपको दूर ले आए थे ।

अलवर्ट काम्यू सॉत्र की तरह दार्शनिक नहीं है और न ही पूरी तरह उसे अस्तित्व-वादी माना गया है । तो भी काम चलाने के लिये उसे अस्तित्ववादी कह दिया जाता है । काम्यू के उपन्यासों का मुख्य स्वर एक अजनबी दुनियां में मनुष्य का अकेलापन है। एक दिन फुटबाल के इस खिलाड़ी ने अपने आपको तपेदिक का रोगी पाया और इसने उसके चिन्तन की दिशा को पलट दिया और उसके कृतित्व में निराशा के स्वर भर गये । परन्तु काम्यू की निराशा के स्वर अथवा 'एब्सर्ड' का छिद्रान्वेषण वाद से कोई साम्य नहीं है। दो युद्धों से त्रस्त इस संसार को तीसरे महायुद्ध की विभीषिका के कारण अपार शोक मिला है। इसमें संदेह नहीं है कि काम्यू खिन्नतापूर्ण विषयों पर लिखता है, तो भी यह समझना गलत है कि वह केवल एक दुराग्रह ही करता रहा है। वह अपनी कृतियों में छिन्द्रान्वेषी निराशावाद अथवा बाहरी आशावाद दोनों छोरों की ही अवहेलना करता है। वास्तव में निराशा मौत का दूसरा नाम है । परन्तु अगर निराशा के फलस्वरूप सृष्टि हो, तो इस बात का चिन्तन नैराश्य नहीं रहता है। काम्यू को प्रथम दो महायुद्धों से सम्बल प्राप्त हुआ है और उसके अनुसार तब से लेकर हमारा इतिहास कत्ल, अन्याय अथवा हिंसा की कहानी कहता है । काम्यू निराशावादी नहीं है क्योंकि वह इसके विरुद्ध खड़ा हुआ है । निराशा का साहित्य स्वयं एक विरोधाभास है, क्योंकि जब निराशा रचनात्मक बन जाती है, तो इसमें उदासीनता कहां रहती है।

काम्यू इस बात पर बल देता है कि आत्म-हत्या जीवन की निरर्थकता का परिणाम नहीं है। मानव की विरोधाभासों

से पूरित नियति को यथातथ्य अपनाया ही जाना चाहिए और जीवन इसकी स्वीकारोक्ति के अनुरूप ही जिया जाना चाहिए।

अस्तित्ववाद की इसलिये निन्दा की गयी कि यह निराशावादी है। कोई भी सामाजिक चेतना वाला साहित्य इस निराशावाद की अवहेलना नहीं कर सकता, जिसका ताना-बाना आज हमारे आसपास सर्वत्र फैला हुआ है। मैं चाहता हूँ कि इसके आलोचक मानव-जीवन की भयानक भीतियों को देख सकें। यदि कोई आशावादी हस्पताल में जाकर शल्य-कक्ष देखे, दण्ड-कक्ष देखे और युद्ध की विभीषिकाओं को देखे तो वह इस सुन्दर संसार का वास्तविक स्वरूप देख सकेगा। अस्तित्ववाद निराशा की अवहेलना नहीं करता है, मगर यह हमें इससे दूर भी अवश्य ले जाता है। किरकीगार्ड ने कहा है कि "निराशा की चरम सीमा निराश न होने में ही निहित है, क्योंकि हम उस निराशा से अवगत नहीं होते।" यद्यपि अस्तित्ववाद ईश्वर में अविश्वास रखना है तो भी हमें इसे समझने की आवश्यकता है, क्योंकि यह मनुष्य की स्थिति को समझने में सहायता देता है। बिना मुक्ति की आशा किये ये लोग जीवन के दु:खांत को झेलते हैं। ये हमारे उन करोड़ों समसामयिकों का प्रतिनिधित्व करते हैं जिनके लिये ईश्वर मर चुका है। आशा के छिछले स्वरों को दूर फैंक कर ये लोग हमें यह समझने में सहायता देते हैं कि किस तरह हमारे मनोरंजनों के पीछे खोखलापन है।

काम्यू ने कहा था, "हम मनुष्य को निराशा में स्नात नहीं करते, बिना अपने विषय में कोई अतिशय धारणा लिये कि हम मनुष्य को बचायेंगे, हम कम से कम इतना तो करते हैं कि हम मनुष्य की सेवा करेंगे। अंतिम क्षणों तक हम ईश्वर से दया की भीख नहीं मांगते, क्योंकि इससे मनुष्य के साथ किये जाने वाले न्याय को क्षति पहुंचती है।

अतएव अस्तित्ववाद जीवन के प्रति एक मानवीय दृष्टिकोण है। यह हमारे युग का दुर्भाग्य है कि अस्तित्ववादी दर्शन की मूल प्रेरणा को न समझ कर हम केवल इसकी विकृतियों और असंगतियों को प्रमुखता देते रहे हैं। अस्तित्ववादी साहित्य नया न होकर भी इसलिये महत्त्वपूर्ण है कि यह हमारे समसामयिक जीवन की व्याख्या करता है। इन बहु-चर्चित उपन्यासकारों के अतिरिक्त अस्तित्ववादी दर्शन की मूल प्रवृत्तियां लगभग सभी महान लेखकों के साहित्य में पायी गई हैं। टी०एस० ईलियट, दस्तोवस्की, काफ़्का प्रभृत्ति प्रतिभाशाली और कलासिक लेखकों की रचनाओं का मूल स्वर अस्तित्ववादी दर्शन से प्रकट या प्रच्छन्न रूप से प्रभावित है। क्योंकि मनुष्य की नियति अभिशप्त है, इसलिये कष्ट, क्लेष, पीड़ा और अवसाद का जीवन में स्वाभाविक स्थान है। यहीं से बुद्ध को वैराग्य हुआ था और यहीं से अस्तित्ववादी दर्शन की मूल प्रेरणा का आरम्भ होता है।

अनु० धर्मपाल सिंहल ○○○

अक्षरों का आध्यात्मिक अध्ययन (स्वरूप)

बलदेव राज गुप्ता

आध्यात्मिक-वाद के अनुसार सब की आत्मा एक जैसी है । शरीर आत्मा के बिना मृत-प्राय किसी काम का नहीं । इसी प्रकार अक्षरों के बिना भाषा भी मृत-प्राय है क्योंकि भाषा अथवा शब्द रूपी शरीर का आत्मा अक्षर हैं । भाषाओं का सूक्ष्म-दृष्टि से अध्ययन करें तो इस निष्कर्ष पर पहुंचेंगे कि चाहे भिन्न भाषाओं के शब्द भिन्न हों किन्तु उन के अक्षर (ध्वनि, वर्णमाला) लगभग एक समान हैं । हां उस अक्षर-ध्वनि का प्रयोग भिन्न शरीर रूपी भाषाओं में भिन्न प्रकार से किया गया है । जैसे हिन्दी भाषा के एक शब्द 'विद्यालय' में व्, इ, द्, य् आ, ल्, अ, य् अ में ९ अक्षर हैं, आंगल-भाषा के 'विद्यालय' अर्थ वाले 'School' शब्द में स्, क्, ऊ, ल्, अ (S,ch,o,o,l or S, c, h, $\overline{o}$, l,) में ५ अक्षर हैं । तमिल भाषा में बोलचाल के शब्द स्कूल के लिये 'Pallikod$\overline{o}$—पल्लिकोडों' में प्, अ, ल् ल्, इ, क, ओ (ह्रस्व) ड्, ओ (P, a, l, l, i, k, o, d, o) ९ अक्षर हैं । School शब्द के सभी अक्षर देवनागरी में उपलब्ध हैं, तमिल-भाषा के 'पल्लिकोडो' शब्द में प्रयुक्त सभी अक्षर देव-नागरी लिपि में हैं । अक्षरों की समानता इसी प्रकार लगभग संसार की सभी भाषाओं में मिलेगी ।

एक शंका हो सकती है कि यदि अक्षर सभी भाषाओं में समान हैं तो आंगल में केवल २६ अक्षर, तमिल में ३०, मलयालम, हिन्दी व संस्कृत में इनसे भी अधिक अक्षर क्यों हैं । सभी भाषाओं के अक्षर समान क्यों नहीं ? उनकी संख्या क्यों भिन्न है ? किन्तु जिन भाषाओं की लिपि में वर्णमाला के अक्षर कम हैं, उनमें वर्णमाला के अतिरिक्त अन्य अक्षरों का भी उच्चारण होता है जैसे आंगल भाषा का 'A' ह्रस्व व दीर्घ अ आ ऐ के रूप में प्रयुक्त होता है । आंगल में ह्रस्व व दीर्घ 'उ' नहीं । Book शब्द व School शब्द में दोनों का प्रयोग है । 'Three' शब्द में 'थ' का उच्चारण स्पष्ट है जबकि 'थ' अक्षर इंगलिश भाषा के वर्णमाला में है ही नहीं । पंजाबी-भाषा में केवल ੳ, ਅ, ੲ, (उ, अ, इ) तीन स्वर हैं किन्तु उच्चारण व प्रयोग

भी अक्षरों का होता है। हिन्दी में भी ड़, ज़, फ़, ख़ आदि अक्षरों का उच्चारण व प्रयोग मिलता है जबकि वर्णमाला म ये अक्षर नहीं पाए जाते। तमिल-भाषा के व्यञ्जनों का मनोरञ्जक ही विषय है। कवर्ग, चवर्ग, तवर्ग, टवर्ग व पवर्ग के दूसरे तीसरे व चौथे अक्षर तमिल में हैं ही नहीं। स, ष, श, ह, भी नहीं हैं। किन्तु उच्चारण लगभग सभी अक्षरों का होता है। तमिल में लिखा तो 'मत्रास' जाएगा किन्तु उच्चारण 'मद्रास' होगा,। इस भाषा से अनभिज्ञ सोच सकते हैं कि मद्रास-निवासी केवल क् ङ, च् ञ, ट् ण्, त् न् आदि ही उच्चारण कर सकते हैं। किन्तु ऐसी बात नहीं जब क् च् त् ट् प् आदि नासिका अक्षरों के बाद आएं तो इनका उच्चारण क्रमशः ग्, ज्, द्, ड, ब होगा। इसी प्रकार दो स्वरों के बीच क्, च्, का उच्चारण क्रमशः ह्, स् होगा। जैसे तालिका में स्पष्ट है --

तमिल लिपि में लिखित रूप	उच्चारण	अर्थ
इरण्टु	इरण्डु	दो
पंकु	पङ्गु	विभाग
मकल	महल	लड़की
पकल	पहल	दिन
पाची	पासी	हरा

इस प्रकार सभी भाषाओं के अक्षरों का उच्चारण समान होने से हम सभी भाषाओं को अपनी मातृ-भाषा में लिख सकते हैं अथवा यूं कहिए कोई भी भाषा किसी भी लिपि में लिखी जा सकती है। इस अक्षर-समानता के कारण ही किसी भी भाषा के शब्द भाषा-वैज्ञानिक शास्त्री Linguistics (भाषा-वैज्ञानिक) लिपि में लिख सकता है। कोई भी किसी भाषा का ऐसा अक्षर नहीं जिसका उच्चारण न हो सकता हो।

भाषा को यदि शरीर और अक्षरों को आत्मा माना है तो इस सम्बन्ध में अक्षरों की नित्यता पर विचार करना भी आवश्यक है। श्री कृष्ण जी गीता में लिखते हैं कि यह आत्मा न जन्मता है न मरता है 'न जायते म्रियते वा कदाचिन्न......... गीता २/२०' आत्मा की भांति अक्षर भी अनश्वर है अक्षर न जन्मता है न मरता है। 'अक्षर' का अर्थ ही 'न क्षय होने वाला है।' भाषा व शब्दों का जन्म हो सकता है जैसे भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक विद्वानों ने अनेक सिद्धान्त दिये हैं जिनसे मैं पूर्णतया सहमत नहीं। भाषा का प्रवाह प्राकृतिक है। स्वयं ही बच्चा पैदा होते 'अ' 'आ' 'इ' ई' उ, ऊं' 'उं, ऊं 'ए ऐं' आदि स्वरों में रोता है। स्वयं ही अनेक शब्द सीख जाता है। मद्रासी-बच्चा स्वयं ही बिना अध्यापक के तमिल-भाषा के 'अप्पा (पिता), अैया (पिता)', 'अम्मा (माता)' आदि अनेक शब्द उच्चारण करता है। वह हिन्दी- पञ्जाबी के शब्द क्यों नहीं सीख जाता। अतः भाषा की

उत्पत्ति का मुख्य कारण प्राकृतिक-प्रवाह है। गौण कारण सामाजिक-वातावरण है। फिर भी मौलिकता का अभाव रहता है। मद्रासी पञ्जाबी सीख कर पञ्जाबी बोले तो शीघ्र हम पहचान लेंगे यह पंजाबी नहीं। हां, अ आ आदि स्वर व कवर्ग आदि व्यंजनों का उच्चारण सभी के लिये सरल है क्योंकि ये अक्षर लगभग सभी भाषाओं में समान हैं। इनका जन्म नहीं होता चाहे भाषा व शब्दों का जन्म होता है। नए नए शब्द गड़े जा सकते हैं किन्तु अक्षर उनमें पुराने ही होंगे जैसे नित्य आत्मा नए नए शरीरों में प्रवेश करता है। संस्कृत-व्याकरण के ज्ञाता प्रश्न कर सकते हैं कि १:अ इ उ ण्' २. ऋ लृ क ३. ए ओ ङ आदि १४ सूत्रों में अक्षरों का जन्म उस समय हुआ जब शिवजी महाराज ने डमरू बजाया। किन्तु इसमें तथ्य नहीं। यदि तथ्य भी माना जाए तो फिर भी ये डमरू बजाने से १४ शब्द निकले न कि अक्षर। अक्षर तो आदिकाल से ही चले आ रहे थे। पाणिनि ने उन सब अक्षरों को केवल सूत्रों में पिरो दिया। यास्क ने भी निरुक्त के प्रथम अध्याय में ही अक्षरों की नित्यता पर विचार किया है।

आत्मा की तरह अक्षर मरते भी नहीं। भाषाएं व शब्द तो मर सकते हैं, अक्षर जीवित ही रहते हैं। 'दिल्ली' का पुराना नाम 'इन्द्र-प्रस्थ' आज एक प्रकार से मर चुका है। यदि आप 'इन्द्रप्रस्थ' की टिकट मांगे तो शायद निराश ही होना पड़े। हां स्मृति के रूप में पुस्तकों में कहीं कहीं मरे हुए शब्दों का प्रयोग होता रहता है। इसी प्रकार अनेकों शब्द मरते रहते हैं और उनका नाम निशान भी मिट जाता है। किन्तु अक्षर कभी नहीं मरते। चाहे मरे हुए शब्द 'गुरुगाओं' का उच्चारण 'गुड़गाओं' होता है किन्तु 'गुरु गाओं' के ग्, र्, उ, आ, ओं' आदि सभी अक्षर अभी तक जीवित हैं इनका प्रयोग लगभग सभी भाषाओं में होता है। अक्षर एक प्रकार से जादू का कार्य भी करते हैं। अक्षरों का अर्थ भी होता है। अक्षर मरे हुए शब्दों में जान डाल सकते हैं। 'मृत' शब्द रूपी मृतक शरीर में 'अ' अक्षर रूपी आत्मा का जब प्रवेश होता है तो वह 'मृत' शब्द 'अमृत' बन कर सबको जीवन-प्रदान करने लगता है।

आत्मा-परमात्मा की भांति अक्षर-ज्ञान भी अत्यन्त गूढ़ है जिस पर आगामी लेखों में प्रकाश डालूंगा। अन्त में इतना बता देना आवश्यक समझता हूँ कि अक्षर सभी भाषाओं में समान रूप से पाए जाते हैं (यदि लिखित रूप में न हों तो उनका उच्चारण अवश्य होता है) अक्षर समान न होते तो दूसरी भाषाओं को सीखना कठिन हो जाता। आत्मा के द्वारा सभी अन्य शरीरों का ज्ञान होता है। अक्षर-समानता दूसरों के भाषा-रूपी शरीरों का ज्ञान प्राप्त करने में सहायक है।

गजानन माधव मुक्तिबोध

○

अजित खुल्लर

बावड़ी में वह स्वयं
पागल प्रतीकों में निरन्तर कह रहा
वह कोठरी में किस तरह
अपना गणित करता रहा
औ' भर गया........
वह सघन झाड़ी के कंटीले
तम–विवर में
मरे पक्षी–सा
बिदा ही हो गया
वह ज्योति अनजानी सदा को सो गयी
––ब्रह्मराक्षस

गजानन मुक्तिबोध का पहला कविता संग्रह "चांद का मुंह टेढ़ा है" कवि की मृत्यु के कोई दस दिन बाद श्रीकान्त वर्मा और अशोक वाजपेयी की चेष्टाओं के फलस्वरूप पाठकों के हाथ लगा । इस संग्रह में मुक्तिबोध की २६ लम्बी कविताएं प्रस्तुत की गई हैं । यह केवल वही कविताएं हैं जोकि कवि ने अपने जीवन के अन्तिम दस वर्ष में लिखीं ।

यह दुर्भाग्य हिन्दी साहित्य प्रेमियों का है कि उन्हें इस सर्वश्रेष्ठ कवि की कृतियां कभी कभी 'धर्मयुग' और 'कल्पना' में तो पढ़ने को मिलीं परन्तु पुस्तक के रूप में नहीं । इसीलिये चाहे मुक्तिबोध नई कविता के मुखिया और 'तार सप्तक' के सर्वोपरि कवि थे परन्तु उनका व्यवस्था-पूर्ण एवं सर्वपक्षीय मूल्यांकन नहीं हो पाया और न ही साधारण व्यक्ति उनकी शक्तिशाली प्रतिभा के प्रति खिचा अथवा प्रभावित हुआ । इस अनजानी ज्योति को निराशा के अन्धेरे तथा कटु-आलोचना की कसक को ही सहन करना पड़ा । परन्तु इस शमा ने जलना नहीं छोड़ा 'सहर' होने तक ।

इस चट्टानी कवि ने जीवन के हर कदम पर संघर्ष किया। संघर्ष करते करते ही कविता पर न्यौछावर हो गये। उनका जीवन एक ट्रैजिडी था––

"पागल प्रतीकों में कही जाती हुई
वह ट्रैजिडी
जो बावड़ी में अड़ गयी "

और उनकी काव्य चेतना किसी अधूरे कार्य को पूरा करने के लिए छटपटाती रही––

"मैं ब्रह्मराक्षस का सजल-उरशिष्य होना चाहता ।

जिससे कि उसका वह अधूरा कार्य, उसकी वेदना का स्रोत संगतपूर्ण निष्कर्षों तलक पहुंचा सकूं ।"

इस कवि का कविता पर न्यौछावर हो जाना जॉन कीट्स(John Keats) की याद दिलाता है । दोनों कवियों का काव्य कितना ही भिन्न क्यों न हो परन्तु यह बात सत्य है कि दोनों ही काव्य की बलिवेदी पर जीवन से संघर्ष करते करते और महान् अभिलाषाएं दिल में धरे ही चल दिये । इतना अवश्य है कि मुक्तिबोध में पीड़ा-समुद्र को समा लेने की अथाह शक्ति थी । इसने न ही निजी पीड़ा की चर्चा की, न ही मृत्यु की गोद में शरण मांगी । पक्षाघात के पश्चात् भी इसी बात की इच्छा करता रहा कि तनिक होश में आ जाए तो लिखने के लिये एक हाथ ही पर्याप्त है । जितना अथाह उसका पीड़ा समुद्र उतने ही असीम उसके उद्गार जो उसकी प्रतिभा द्वारा अभिव्यक्ति के लिए विचलते रहे । पांच वर्ष और जीवन अवकाश की याचना मन ही मन में यह कवि करता रहा परन्तु विधाता ने वह ग्यारह सितम्बर रात नौ बज कर दस मिनट पर आखिर रद्द कर दी ।

शारीरिक पीड़ा की बात अलग, मानसिक पीड़ा इससे भी क्रूर और लम्बी रही । तरुणावस्था से ही अपने विचारों को बनाता और ढाता रहा । घण्टों दूसरे विद्वान् मित्रों से वाद-विवाद करता । ऐसे मित्रों में डा० नारायण विष्णु जोशी, डा० माचवे और नेमिचन्द्र जैन के नाम उल्लेखनीय हैं । बहस सभी समस्याओं पर चलती । यूरूप में फासिज्म से लेकर भारत में फैलती बेचैनी तक । गांधीवादी आदर्शों से लेकर भौतिकवाद तक । इस कवि पर मार्क्सवाद का प्रभाव अमिट पड़ा । इसी लिये उन्हीं विचारों को मुक्तिबोध ने व्यक्त किया--बिम्ब और बोधक प्रतीकों द्वारा । दास्तावस्की और गोर्की के प्रभाव के कारण इसके काव्य में मानववादी पुट भी विद्यमान है । मार्क्स का मानववादी भौतिक दृष्टिकोण, दॉस्तावस्की का मनोवैज्ञानिक चित्रण और गोर्की की वर्ग-संघर्ष और दलितों की पीड़ा सभी कुछ मुक्तिबोध की कविता में समाया है ।

उदाहरण :—

"रिफ्रेजरेटरों, विटैमिनों, रेडियोग्रैमो के बाहर की
गतियों की दुनियां में
मेरी वही भूखी बच्ची मुनिया है शून्यों में
पेटों की आंतों में न्यूनों की पीड़ा है
छाती के कोषों में रहितों की व्रीड़ा है ।
शून्यों से घिरी हुई पीड़ा ही सत्य है
शेष सब अवास्तव अयथार्थ मिथ्या है (भ्रम है)

सत्य केवल एक है जोकि
दुखों का क्रम है ।"

—(मैं तुम लोगों से दूर हूँ)

कवि मानव पीड़ा को देख झुंझला सा जाता है । असंख्य स्त्री-पुरुष-बालक किसी की खोज में भटकते दिखाई देते हैं । उनके श्याम, गन्दे तन व लोहे की बनी स्त्री-पुरुष आकृतियां दलिद्दर के भयानक देवता के भव्य चेहरे सी धूप में चमकती है । और छतों पर से—

"गिरस्तिन मौन माँ-बहनें
सड़क पर देखती हैं
भाव-मन्थर, काल-पीड़ित ठठरियों की
श्याम गो यात्रा ।
उदासी से रंगे गम्भीर मुरझाए हुए प्यारे
गऊ चेहरे
निरख कर
पिघल उठता मन"

(—मेरे लोग)

कवि का मन ऐसी व्यापक पीड़ा को देख पिघल उठता है । वह अपनी पीड़ा को भूल "मानव के प्रति मानव के जी की पुकार" का काव्य रचता है । जिन्होंने गोर्की का उपन्यास 'माँ' पढ़ा है उनके लिये मुक्तिबोध को समझना कठिन नहीं । ऐसी कवितायें जैसे कि 'भूल—गलती', 'चाँद का मुंह टेढ़ा है' इत्यादि पढ़ कर दोनों में भावनात्मक एवं विचारात्मक समानता स्पष्ट हो जाती है । कहीं-कहीं तो कवि बहुत उत्तेजित हो उठता है । उदाहरण —

मेरी आपकी कमजोरियों के स्याह
लोहे का जिरह बख्तर पहन....खूंख्वार
हां, खूंख्वार आलीजाह
वो आंखें सचाई की निकाले डालता,
सब बस्तियां दिल की उजाड़े डालता,
करता हमें वह घेर
बे बुनियाद, बे सिर पैर

(—भ्रम—गलती)

शोषक हमारी खामियों के बलबूते "आलीजाह" बने बैठे हैं । इन पंक्तियों में कवि ने अचेतन जनता में चेतना फूंकने की कोशिश की है । उनके आत्म-सम्मान को ललकार कर पीड़ा की रात खत्म होने का बिगुल बजाया है । जैसे कि कवि कहता है कि अन्धेरी घाटियों के पीछे से—

"हमारी हार का बदला चुकाने आयेगा
संकल्प धर्मा चेतना का, रक्तप्लावित स्वर"

कवि ने ऐसे ही विचारों को "चाँद का मुंह टेढ़ा है" नामक कविता में व्यक्त किया है विशेष कर इसके अन्तिम पदों में । "जमाना हाथ में एक टीन का डिब्बा लिये और उसमें एक कूची धरे नंगे पैर उलझनों के ढांचों में पोस्टर लगाने को कह रहा है । तड़के ही मजदूर घूर घूर खड़े खड़े जिन्दगी की झल्लायी हुई आग" को पढ़ेंगें और फिर कहेंगे कि :—

'सुबह की किरणों के रंगों में

रात के गृहदीप-प्रकाश की आशाएं
घोल कर हिम्मतें लायी जाये ।'

ऐसी जमाने की इच्छा है। फिल हाल मनचाही तस्वीरें न भी बनाई जा सकें परन्तु "भाफ-बने आँसू के खूंखार" अक्षरों वाले पोस्टर आग धधकायेंगे । और हड़ताली पोस्टरों की आवाज यह कहती है—

जैसे तुम भी आदमी,
वैसे मैं भी आदमी,
बूढ़ी माँ के झुर्रीदार,
चेहरे पर छाये हुए,
आंखों में डूबे हुए,
जिन्दगी के तजुर्बात,
बोलते हैं एक साथ
जैसे तुम भी आदमी
वैसे मैं भी आदमी,
चिल्लाते पोस्टर"

—(चांद का मुंह टेढ़ा है)

मुक्तिबोध की कविताएं अन्तिम जीत का आश्वासन दिलाती हैं। प्रेरणा तो चाहे उसको अन्धेरे की स्याही से मिली जोकि व्यथापूर्ण स्थिति की प्रतीक है परन्तु मुक्तिबोध के पाठक इस बात को महसूस करते हैं कि रात की कालिमा अपने अन्तिम पगों पर है। व्यथा का अन्त निकट है।

उदाहरण :—

समय का कण कण
गगन की कालिमा से
बूंद-बूंद चू रहा
तड़ित-उजाला बन ।

मुक्तिबोध के काव्य अध्ययन से यह बात बड़ी अखरती है कि उनकी इस संग्रह की सभी कविताओं का अंधेरा ही चित्रपट है। यह बात और भी जंचती है जब हम कवि के निजी जीवन से कुछ परिचित हों। पंदरह सितम्बर को कवि के निधन से सम्बन्धित शोक सभा में उसके निकटीय मित्रों जैसे कि हरिशंकर परसाई. और डा० माचवे ने बताया कि मुक्तिबोध रात रात भर अकेले अपने घर के निकट वाले तालाब के आसपास ऊबड़-खाबड़ जमीन पर घूमते रहते और चाय पीते रहते। उनको ऐसे घूमते रात के बारह तो प्रायः बज जाते थे और युवावस्था में भी वह अपने एक सिपाही मित्र शान्ताराम के साथ घूमते रहते जिसकी रात को गश्त की ड्यूटी हुआ करती थी। ऐसी मर्म प्रतिभा का बियावान के अंधेरे से प्रेरित हो उठना स्वाभाविक ही था। वैसे भी उनकी जिन्दगी में अंधेरा ही अंधेरा रहा। कभी पैसे का तोड़ा और कभी शारीरिक कष्ट। मुक्तिबोध के दोनों पांवों पर चम्बल हुआ हुआ था और सिर में लगातार दर्द रहता था गर्दन तोड़ हो जाने के कारण। न ही उसको उतनी ख्याति अथवा सम्मान ही मिला। जब अचानक देश की पत्र-पत्रिकाओं ने उसकी प्रतिभा को साधारण जनता के सामने लाया तो वह अचेतनावस्था में अस्तपताल में पड़े थे। सुप्रसिद्ध चित्रकार रामकुमार ने भी कवि के कुछ चित्र उसी अवस्था में

बनाये जबकि वह मरणासन्न था। यदि 'हंस' और 'नयाखून' का सम्पादन भी किया तो भी निराशा का ही मुंह देखना पड़ा। शोक सभा में कहीं डा० माचवे की बात बहुत याद आती है। "मुक्तिबोध का व्यक्तित्व इतना शक्तिशाली था कि पागल कर देने वाली सभी परिस्थितियों के होते हुए भी वह पागल नहीं हुआ और अपने निजी कष्ट की किसी मित्र से चर्चा भी नहीं की।" हां, कभी उनके काव्य में कई पीड़ा युक्त अनुभवों का प्रतिबिम्ब अवश्य मिल जाता है। परन्तु वहां भी न तो उसके काव्य में शैली (Shelley) जैसी निजी पीड़ा से उत्पन्न चीत्कार है, न ही उन्हीं कारणों से कीट्स (Keats) जैसा आत्माधिकार एवं मृत्यु अनुराग है और फिर न ही बाइरन (Byron) की कड़वाहट। फिर यह कहा जा सकता है कि इस कवि ने अपने मौलिकतापूर्ण काव्य को पूरी तरह जिया है। उसने अपनी पीड़ा में भी सर्वसाधारण जनता की पीड़ा का अनुभव किया। मुक्तिबोध के काव्य में उसकी निजी पीड़ा व्यक्तिगत ही न रह कर सार्वजनिक हो गई है। कवि एक साधारण व्यक्ति न होने के कारण एक विशाल दृष्टि और उदार हृदय रखता है। उसकी निजी पीड़ा तो जनता जनार्दन की पीड़ा का अनुभव करने में साधन मात्र ही होती है।

इन सब का चित्रण कवि ने स्पष्ट बिम्बों और प्रतीकों द्वारा किया है। उसकी प्रेरित प्रतिभा और तीक्ष्ण बुद्धि के कारण उसकी प्रत्येक कविता में बिम्बों का एक अटूट तान्ता सा लगा दिखाई देता है। और प्रत्येक चित्र का कैनवस बहुत ही विशाल होता है। उस की कविता पाठक को ऐसे साथ खींच ले जाती है जैसे कि किसी ने तेज दौड़ती गाड़ी को पकड़ लिया हो। उसकी कविता को पढ़ते एक भी क्षण का आराम या चैन नहीं अनुभव होता। मन में कुछ बेचैनी सी अनुभव होने लगती है। उसको आप "कथारसिस" (Catharsis) भले ही कह लें। वास्तव में मुक्तिबोध के काव्य का अध्ययन न तो मनोरंजन है, न ही हल्की-फुल्की तान, न तो उसका काव्य रीतिकालीन कवियों सा शृंगार और न ही रोमांचवादी कवियों की भांति वास्तविकता से विमुखता।

मुक्तिबोध का काव्य एक गहरा एवं गम्भीर अनुभव है जोकि वास्तविकता की ठोस जमीन पर आधारित है। जैसे कि शमशेर बहादुर सिंह ने पिछले दिनों धर्मयुग में लिखा था :—

"मुक्तिबोध अनुभूति के यथार्थ से कतराता हुआ नहीं बल्कि अपने तर्क और भावना की कुदाल से अनुभव की कड़ी धरती को लगातार गहरे खोदता जाता। थक कर बैठ जाता अपने दायित्व को भूल जाता नहीं, कभी नहीं।"

(धर्मयुग, २० सितम्बर, १९६४)

मुक्तिबोध के कई चित्र बिम्ब तो आंखों में गढ़ से जाते हैं। वे सजीव और स्वच्छ होते हैं। यह कवि की सचाई, कल्पना शक्ति और कला–साधना का प्रमाण समझना चाहिए। दो उदाहरण प्रस्तुत हैं :—

बावड़ी की उन घनी गहराइयों में शून्य ब्रह्मराक्षस :—

"घिस रहा है देह
हाथ के पंजे बराबर
बांह छाती–मुंह छपा छप
खूब करते साफ
फिर भी मैल
फिर भी मैल"

(—ब्रह्मराक्षस)

दूसरा उदाहरण उसी कविता से है। इस में कवि ने अन्धेरे में बावड़ी के गहरे पानी का जीता जागता चित्र खींचा है।

"शहर की उस ओर खंडहर की तरफ
परित्यक्त सूनी बावड़ी
के भीतरी
ठण्डे अन्धेरे में
बसी गहराइयां जल की"

(—ब्रह्मराक्षस)

जैसे कि एक आलोचक ने लिखा है:—

"मुक्तिबोध की शक्तिशाली मानवतावादी रोमानियत में अमूर्त्त का सविस्तार मूर्तिकरण, समाजवाद के धरातल पर प्रतिष्ठित किये जाने के कारण एक ऐसी प्रखर स्पष्टता धारण कर लेता है जिसमें भयानक से भयानक, विद्रूप से विद्रूप, और कोमल से कोमल, फैण्टेसी को हम मानों अपनी सांस में महसूस कर सकते हैं। वास्तव में मुक्तिबोध के काव्य में लय, सुर और ताल की बारीकियों की अभाव-पूर्ति स्पष्ट बिम्बों और विचार प्रतीकों से हो जाती है।"

कई बिम्ब तो इतने भयानक हैं कि पाठक भी कुछ सहम सा जाता है। सारा वातावरण प्रेताक्षेपित सा लगता है जिसमें कोई खतरा अनुभव होता है। चारों ओर चट्टानें ही चट्टानें, अन्धेरे में छुपे टीले, पावों को जला देने वाली तपश और शुष्कता है। वहां भी कोई किसी का पीछा कर रहा हो ऐसा प्रतीत होता है।

उदाहरण :–

कवि की सब से लम्बी कविता 'अन्धेरे में' से प्रस्तुत है।

"दम छोड़ रहे हैं भाग गलियों में मरे पैर, सांस लगी हुई है,

जमाने की जीव निकल पड़ी है, कोई मेरा पीछा कर रहा है लगातार।"

दूसरा उदाहरण भी उसी कविता से प्रस्तुत है —

"रात के दो है
दूर दूर जंगल में सयारों का हो हो,
पास पास आती हुई घहराती गूंजती
किसी रेल-गाड़ी के पहियों की आवाज़!!
किसी अनपेक्षित

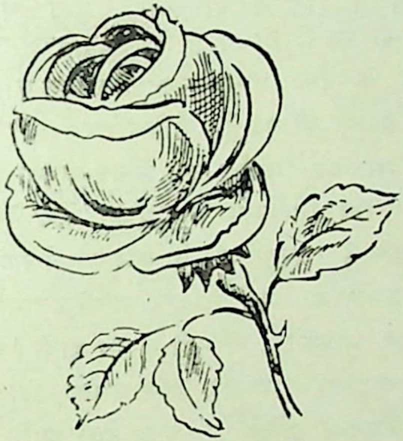
असम्भव घटना का भयानक सन्देह
अचेतन प्रतीक्षा
कहीं कोई रेल-एक्सीडेंण्ट न हो जाए ।"

ऐसे ही कई उदाहरण 'चकमक की चिनगारियां' में भी मिलते हैं ।

सभी जगह एक उखड़े हुए जमाने का बोध होता है । 'क्रान्तिपूर्ण वातावरण, उथल-पुथल और दौड़ धूप' उसके काव्य में इन्हीं का चित्रण है ।

और रामशंकर मिश्र के नई कविता के बारे में कहे शब्द "नई कविता जीवन के कठोर सत्य का संगीत है" मुक्तिबोध के काव्य पर पूरे उतरते हैं ।

○○○



नेहरू अंक—पाठकों की दृष्टि में

सम्पादक—डा० परमानन्द ; प्रकाशक—हिन्दी विभाग, पंजाब, पटियाला ; पृष्ठ संख्या—४५०; मूल्य—एक रुपया (साधारण प्रति ५० पैसे, वार्षिक ६ रुपए)।

आलोच्य अंक में राज्य के मंत्रियों, संसद और विधानमण्डलों के सदस्यों, विश्वविद्यालयों के अधिकारियों व प्राध्यापकों, पत्रकारों, साहित्यकारों, सम्पादकों के अतिरिक्त बैंक और टैक्नोलोजी संस्थान से सम्बद्ध व्यक्तियों ने भी राष्ट्रनायक जवाहरलाल नेहरू के जीवन एवं कृतित्व पर प्रकाश डाला है। इन लेखों की कुल संख्या एक सौ से कम नहीं लगती। इसमें संदेह नहीं कि इन लेखों में से कुछ (कम से कम एक) पूर्व प्रकाशित हैं, पर इससे अंक की उपयोगिता कम नहीं हुई है। अंक का समारम्भ राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त की इन पंक्तियों से हुआ है :—

हम कोटि कोटि कुटुम्बियों की और विश्व विशाल की,
सुख शान्ति-चिन्ता थी तुम्हारी सहचरी चिरकाल की ।
तुम जागते थे रात में भी जबकि सोते थे सभी,
जन मात्र की सच्ची विजय है जय जवाहरलाल की।

विभिन्न लोगों के बीच राष्ट्रनायक को अर्पित काव्य श्रद्धांजलियां भी बड़े सुरुचिपूर्ण ढंग से प्रस्तुत की गई हैं। मैथिलीशरण जी की कविता के बाद जवाहरलाल जी "मेरे आराध्य" शीर्षक लेख में गुरु-वन्दना करने लगते हैं और फिर अगले "एक निडर तथा निष्कलंक राष्ट्र योद्धा" लेख में गांधी जी का मानो अपने शिष्य को आशीर्वाद है। प्रस्तुत अंक के कुछ एक लेखकों व कवियों के नाम इस प्रकार हैं—जैनेन्द्र कुमार, डा० गोविन्द दास, कामरेड रामकिशन, प्रबोध चन्द्र, डा० न० वि० गाडगिल, श्रीप्रकाश, श्रीमती कृष्णा हाथी सिंह, वियोगी हरि, प्रकाश वीर शास्त्री, नन्ददुलारे वाजपेयी, कृष्ण मधोक, गिरिजा कुमार माथुर, डा० विजयेन्द्र स्नातक, जयनाथ 'नलिन', यू० एन० ढेबर आदि । जवाहरलाल जी और लाल गुलाब जो अब उनका प्रतीक बन गया है, के बहुरंगे चित्रों के अतिरिक्त, राष्ट्रनायक के परिवार और उनके कर्मठ जीवन के विभिन्न पहलुओं सम्बन्धी नाना चित्र भी आर्ट पेपर पर सुरुचिपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किए गए। इस अंक के अन्त में भारतीय और विदेशी नेताओं की श्रद्धांजलियों का चयन दिया गया है। आलोच्य अंक सभी प्रकार से स्तुत्य एवं संग्रहणीय है।

—ज० ल० ब०

('योजना' १३ दिसम्बर, १९६४ से उद्धृत)

नियम

१––जन-साहित्य तथा सप्तसिन्धु में छपने के लिये भेजी जाने वाली सामग्री यथासम्भव सरल, सुबोध तथा सारगर्भित होनी चाहिए।

२––लेख, कहानी, निबन्ध आदि सामान्यतः सफेद कागज़ पर, और उसके एक ओर टाइप किये होने चाहिए।

३––सप्तसिन्धु में शोधपूर्ण लेख तथा जन-साहित्य में सृजनात्मक रचनाएँ प्रकाशित होती हैं।

४––अनुवाद या लिप्यन्तर के साथ मूल लेखक की अनुमति भेजनी आवश्यक है।

५––लेखकों को लेख प्राप्ति की सूचना प्रायः १५ दिन के अन्दर दे दी जाती है।

६––अस्वीकृत रचनाओं के सम्बन्ध में सूचना देने का नियम नहीं है।

७––अस्वीकृत सामग्री लौटाने का नियम नहीं है।

८––सामग्री के संशोधन एवं प्रकाशन के विषय में सम्पादक का निर्णय अन्तिम माना जाएगा।

९––लेखों में प्रतिपादित विचारों के लिए सम्पादक उत्तरदायी नहीं होगा।

१०––समीक्षार्थ पुस्तक की दो प्रतियां भेजनी चाहिएं।

११––रचना के आरम्भ या अन्त में लेखक का पूरा नाम (अपने हस्ताक्षरों सहित) व पता स्पष्ट लिखा होना चाहिए।

१२––लेखों, आदि के साथ टिकट न भेजे जाएं।

१३––रचना के साथ लेखक रचना की मौलिकता और उसके अप्रकाशित होने का एक प्रमाण-पत्र भी भेजेगा।

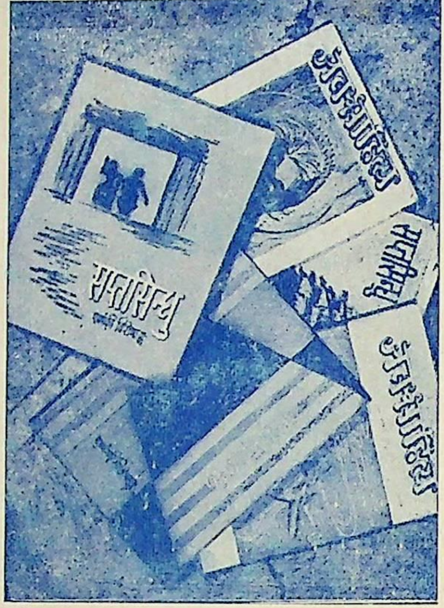
१४––लेख साम्प्रदायिक, राजनैतिक, और अश्लील नहीं होना चाहिए। इस तथ्य का प्रतिपादिक एक प्रमाण-पत्र रचना के साथ भेजा जाए।

१५––रचनाओं के गुण-दोष विवेचन पर किसी भी प्रकार का पत्र-व्यवहार या विचार-विमर्श नहीं किया जाएगा।

––सम्पादक

हिन्दी विभाग, पंजाब के दो अनूठे मासिक प्रकाशन

सप्तसिन्धु



जनसाहित्य

शोधपूर्ण एवं आलोचनात्मक
साहित्यिक प्रबंधों का एक
बोधक संचयन।

व्यंग्य-विनोद एवं सृजनात्मक
सरस साहित्य का एक
रोचक संकलन।

दोनों पत्रिकाएँ डी० पी० आई०, पंजाब, डायरैक्टर पंचायत, पंजाब, तथा संचालक, लोक शिक्षण, मध्यप्रदेश, द्वारा पंजाब के सभी स्कूलों, कालेजों, लायब्रेरियों एवं पंचायतों तथा मध्यप्रदेश के स्कूलों, कालेजों एवं लायब्रेरियों के लिए स्वीकृत हैं।

बढ़िया कागज़, सुन्दर छपाई, आकर्षक गेट-अप

प्रत्येक का :—

वार्षिक ६ रुपये | एक प्रति ५० पैसे

आज ही निदेशक, हिन्दी विभाग, पंजाब, पटियाला
को मनीआर्डर भेजकर ग्राहक बनिए।

श्री लाल सिंह, डायरैक्टर जनरल, भाषा विभाग, पंजाब, पटियाला द्वारा प्रिंटिंग एण्ड स्टेशनरी डिपार्टमैंट, पंजाब, पटियाला से छपवाकर प्रकाशित किया गया।

सम्पादक—डा० परमानन्द

सप्तसिन्धु

अप्रैल, १९६५

हिन्दी विभाग, पंजाब, पटियाला

५० पैसे

सम्पादक––डा० परमानन्द

परामर्श समिति

श्री कृष्ण मधोक
(सहायक निदेशक, अनुवाद)

श्री त्रिलोकीनाथ रञ्जन
(सहायक निदेशक, कोश)

श्री ओम् प्रकाश भारद्वाज
संयोजक
(सहायक निदेशक, विकास)

श्री गुरुदत्त शर्मा
(सहायक निदेशक, अनुवाद)

श्री हरिचन्द पाराशर
(सहायक निदेशक, अनुवाद)

हिन्दी विभाग, पंजाब, पटियाला

सम्पादकीय

वार्षिक साहित्य समारोह

प्रतिवर्ष की भान्ति इस वर्ष भी भाषा विभाग का वार्षिक साहित्य समारोह ३१ मार्च १९६५ को सायंकाल चण्डीगढ़ में हुआ। इसकी अध्यक्षता माननीय सरदार दरबारा सिंह जी, गृहमन्त्री, पंजाब ने की और आदरणीय श्रीयुत प्रबोध चन्द्र, शिक्षा एवं भाषा मन्त्री ने स्वागत भाषण दिया। अपने स्वागत भाषण में भाषा मन्त्री जी ने श्री दरबारा सिंह जी की देश के स्वातन्त्र्य संग्राम में की गई विविध सेवाओं की चर्चा की और उन्हें स्वातन्त्र्य संग्राम का सेनानी बताया। इसके अनन्तर उन्होंने हिन्दी और पञ्जाबी के विकास की स्कीमों का निर्देश करते हुए भाषा विभाग की सर्वाङ्गीण प्रगति पर सन्तोष प्रकट किया। भाषा विभाग के अन्तर्गत हिन्दी विभाग तथा पञ्जाबी विभाग पूर्णतया उन्नति के मार्ग पर ठीक चल रहे हैं--इस सम्बन्ध में भी भाषा मन्त्री जी ने हर्ष व्यक्त किया।

तदनन्तर हिन्दी, पञ्जाबी और उर्दू के तीन विशिष्ट साहित्यकारों को सम्मानित किया गया। श्री सत्यदेव जी विद्यालंकार की सेवा में, जिन्होंने अनेक हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं का सम्पादन किया है और अनेक उच्चकोटि की पुस्तकें लिखी हैं-- ग्यारह सौ रुपये, अभिनन्दन-पत्र और सरोपा हिन्दी विभाग के निदेशक डा० परमानन्द जी ने भेंट किया। इसी प्रकार डा० जीत सिंह जी सीतल, निदेशक, पञ्जाबी विभाग ने श्री सन्तसिंह सेखों को अभिनन्दन-पत्र, ग्यारह सौ रुपये और सरोपा भेंट किया। उर्दू के विख्यात एवं लब्धप्रतिष्ठ कवि श्री कृपाल सिंह बेदार जी को श्री लाल सिंह जी ने उर्दू साहित्य के विशिष्ट साहित्यकार के रूप में अभिनन्दन-पत्र,

सरोपा और ११ सौ रुपये भेंट किए । हिन्दी पञ्जाबी और उर्दू के राज्य कवियों–प्रो. परमानन्द, श्रीमती प्रभजोत कौर और अर्श मलसियानी को छः छः सौ रुपये भेंट किये गये । तदनन्तर, हिन्दी, पञ्जाबी और उर्दू में प्रकाशित अथवा लिखित रचनाओं पर पुरस्कार दिये गए । हिन्दी की उत्तम रचनाएं ये हैं :—

श्रेणी	पुस्तक का नाम	लेखक
(१) वैज्ञानिक साहित्य	(१) केशरोग चिकित्सा	कु० शिक्षा भल्ला
	(२) आम वात	श्री विनय कुमार

उल्लिखित दोनों पुस्तकें समान-कोटिगत घोषित होने से प्रथम पुरस्कार को पांच पांच सौ रुपयों में बांट दिया गया । पूरा पुरस्कार एक सहस्र रुपये सर्वोत्तम पुस्तक पर दिया जाना था ।

(२) साधारण विज्ञान	(१) रोकेट क्या है ?	श्री डी. आर० सचदेवा, ५०० रु०
(३) कविता	(१) पुरवैया के नूपुर	श्री देवराज दिनेश, १००० रु०
(४) कथा-उपन्यास	(१) उजाले के उल्लू	श्री महीप सिंह, ५०० रु०
(५) शोध/भाषा विज्ञान या निबन्ध	(१) हिन्दी कहानी और फैशन	श्री उपेन्द्रनाथ अश्क, १००० रु०
(६) उत्तम प्रकाशित	(१) निरुक्त (हिन्दी)	मेहरचन्द लछमनदास, ७५०)

अन्त में हिन्दी, पञ्जाबी, उर्दू के उन साहित्यकारों या कलाकारों को जो विषम परिस्थितियों में हैं को अठारह हजार रुपया वितीर्ण करने के लिये नामों की घोषणा की गई और अध्यक्षीय भाषण के साथ समारोह समाप्त हुआ ।

५/१०।७२

भाषा विभाग, पंजाब
वार्षिक रिपोर्ट
१९६४–६५

भाषा विभाग राज्य की भाषाओं के विकास और पंजाब सरकारी भाषा अधिनियम, १९६० के अनुसार प्रशासनिक काम-काज में उनके प्रचालन के दोहरे प्रयोजन में उत्साहपूर्वक कार्य चलाता रहा है। विकास और प्रचालन के दोनों क्षेत्रों में वर्ष १९६४–६५ के दौरान की गई प्रगति किसी भी तरह कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। पंजाब पहला राज्य है जिसने भाषा की प्रगति के लिये अलग विभाग स्थापित किया तथा भाषाओं के विकास और प्रगति के निमित्त विभिन्न साहित्यिक गतिविधियों में और राज्य भाषाओं को प्रशासन में सफ़लता से प्रचालित करने के कामकाज में तालमेल करने के लिये ज़िला भाषा कार्यालय स्थापित किए।

प्रचालन

विभाग ने ९०,८९३ पृष्ठों और १६,०१४ फार्मों का सफ़लता से अनुवाद सम्पन्न किया। ये आंकड़े वर्ष १९६५–६६ के अन्त तक के लिये सरकार द्वारा नियत लक्ष्यांक १,२८,३३० पृष्ठों और १६,४४१ फार्मों के मुकाबले में हैं। सम्भावना है कि शेष कार्य अगले वर्ष १९६५–६६ के अन्त तक समाप्त हो जायेगा। इसके अतिरिक्त विभाग ने सरकारी कर्मचारियों को पंजाबी/हिन्दी टाइप और आशुलिपि का प्रशिक्षण देने के लिये राज्य के सभी ज़िला तथा उप-मण्डल मुख्यालयों में ३२ प्रशिक्षण केन्द्र स्थापित किए। इस वर्ष के दौरान १९३८ पंजाबी/हिन्दी आशुलिपिकों और टाइपिस्टों ने प्रशिक्षण प्राप्त किया तथा इस प्रकार इन भाषाओं में प्रशिक्षित ऐसे कर्मचारियों की संख्या ३८५४ तक पहुंची है जो राज्य के ज़िला तथा उप-मण्डल के विभिन्न कार्यालयों में काम चलाने के लिये पर्याप्त है।

रिपोर्टाधीन वर्ष के आरम्भ में विभाग ने हिन्दी / पंजाबी की टाइप-मशीनों के निर्माताओं को इस बात के लिये प्रोत्साहन देने के सफल प्रयत्न किये कि वे हिन्दी और पंजाबी की मशीनें नवीनतम 'की बोर्ड' के अनुसार बनवाएं। यह जान कर प्रसन्नता होगी कि अब हिन्दी और पंजाबी टाइप-मशीनों की कोई कमी नहीं है तथा वे कार्यालयों में काम में लाने के लिये पर्याप्त संख्या में प्राप्य हैं।

विभाग ने सभी ज़िला, उप-मंडल तथा तहसील के मुख्यालयों में पहले की तरह ही हिन्दी और पंजाबी की वर्ष में दो परीक्षाएं ली हैं। परिणाम-स्वरूप ४०३४ सरकारी कर्मचारियों ने इन भाषाओं में योग्यता प्राप्त की है। इस प्रकार इन भाषाओं में योग्यता प्राप्त कर्मचारियों की कुल संख्या ६१,९०४ हो गई है।

शिक्षा-क्षेत्र में हिन्दी और पंजाबी को शिक्षा के माध्यम के रूप में अपनाने में सहायता देने के लिये विभाग ने वैज्ञानिक और सामाजिक दोनों विषयों के लिये तकनीकी शब्द बनाने के अभिप्राय से एक शब्दावली अनुभाग स्थापित किया। रिपोर्टाधीन वर्ष के दौरान ५,००० अधिक शब्द बनाए गए तथा उन्हें अन्तिम रूप दिया गया। विभाग ने पहले ही प्रशासनिक तथा सामान्य शब्दों की एक शब्दावली तैयार की है जिसमें २०,००० तकनीकी शब्द हैं तथा इसके अतिरिक्त विभाग ने विभिन्न स्कूल विषयों से सम्बन्धित १२,००० से अधिक शब्दों की एक और शब्दावली भी तैयार की थी।

विकास

भाषाओं का विकास करने और उन्हें सम्पन्न बनाने के लिये विभिन्न स्कीमें इस वर्ष के दौरान सफलतापूर्वक चलाई गई हैं।

विभाग ने पंजाबी-पंजाबी शब्दकोश की चौथी जिल्द के लिये १५,७५२ नये शब्द तैयार किये और ७,६४९ शब्दों को अन्तिम रूप दिया। इसी तरह उर्दू–हिन्दी-पंजाबी शब्दकोश के लिये ५,३५३ शब्दों को अन्तिम रूप दिया गया। हिन्दी-पंजाबी शब्दकोश का संशोधित संस्करण मुद्रण के लिये तैयार किया गया।

पंजाबी विश्वकोश की प्रथम दो जिल्दों को अन्तिम रूप दिया गया और तीसरी जिल्द की ५०० प्रविष्टियों को तैयार करवाया गया । पंजाबी-हिन्दी कोश की दूसरी जिल्द को मुकम्मल किया गया, जिसमें ५,८८१ प्रविष्टियां हैं। संस्कृत-हिन्दी-पंजाबी कोश का कार्य संतोषजनक ढंग से चलता रहा और उसकी ७,१९७ प्रविष्टियों को अंतिम रूप दिया गया । उल्लेखनीय बात यह है कि पंजाबी लिपि में संस्कृत की प्रविष्टियों को लिखने के लिये अपेक्षित विशेष ध्वनि-चिह्न बनाए गए और उनको राज्य के प्रसिद्ध भाषा वैज्ञानिकों की विशेष कमेटी द्वारा अंतिम रूप दिया गया ।

पंजाब के साहित्य की अभिवृद्धि के लिये दो दर्जन से अधिक पुस्तकें तैयार करवाई गईं। इनमें से कुछ को पुन: प्रकाशित किया गया, कुछ का अनुवाद किया गया, कुछ का लिप्यन्तरण किया गया और कुछ को संपादित किया गया। विभाग ने अब तक ११८ ऐसी पुस्तकें प्रकाशित की हैं जो कीमत पर मिलती हैं। इसके अतिरिक्त ४० पुस्तकें साहित्य प्रचारार्थ छाप कर मुफ्त बांटी ।

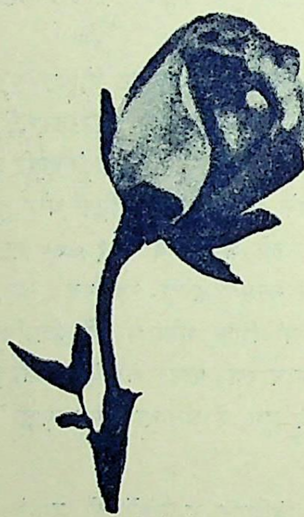
रिपोर्टाधीन वर्ष में विभाग ने उत्कृष्ट घोषित १४ वैज्ञानिक, तकनीकी और साहित्यिक पुस्तकों को १०,४०० रुपये का पुरस्कार दिया। इसी भांति बढ़िया छपाई वाली पुस्तकें प्रकाशित करने वाले हिन्दी/पंजाबी प्रकाशनों को १,७५० रुपये के दो पुरस्कार दिये । इसके अतिरिक्त वैज्ञानिक और तकनीकी विषयों की आठ पुस्तकों के प्रकाशन के लिये उनके लेखकों को ३१,००० रुपये की वित्तीय सहायता दी जिन्होंने अपनी हस्तलिपियां सरकार द्वारा स्थापित विशेषज्ञ कमेटी से अनुमोदित करवाई थीं । इस तरह प्रादेशिक भाषाओं में वैज्ञानिक पुस्तकों का प्रकाशन आरम्भ हो जाएगा और साधारण पाठक को विज्ञान की बुनियादी बातों से जानकारी होगी जिसकी आज के अणु युग में अत्यन्त आवश्यकता है।

उत्तरी भारत की विभिन्न भाषाओं की प्रगति और तालमेल के निमित्त विभाग ने कवि सम्मेलन, नाटक और वाद-विवाद प्रतियोगिताएं, लेखक गोष्ठियां और साहित्यिक भाषण आदि के १५० से अधिक कार्यक्रम आयोजित किए ।

अपने विशेष कार्यक्रम के रूप में विभाग ने पंजाबी, हिन्दी और उर्दू के एक-एक लेखक और दो-दो कवियों को इस वर्ष सम्मानित किया। विभाग ने इस प्रकार आज तक उपर्युक्त भाषाओं के ४० लेखकों को सम्मानित किया है। इस सम्बन्ध में पंजाब राज्य भारत के अन्य राज्यों के लिये दृष्टांत है।

विभाग की चारों साहित्यिक पत्रिकाएं पंजाब के विद्वानों और सृजनात्मक लेखकों को साहित्यिक-सहायता प्रदान करती रही हैं। इनके विशेषांकों---विशेषतया हिन्दी जन-साहित्य और पंजाबी जन-साहित्य के 'नेहरू अंक' की सभी ओर से प्रशंसा हुई है।

विभाग ने इस वर्ष प्रादेशिक भाषाओं के विकास और प्रचालन के लिये बारह लाख से अधिक रुपये खर्च किये। इस प्रयोजन के लिये विभाग के १९६५-६६ के बजट में १५,४४५६० रुपये की रकम नियत की गई है।



हरियाणवी और उसका शब्द-कोष

डा० नानक चन्द शर्मा

किसी भाषा के शब्द-कोष का सामान्य परिचय प्राप्त करने से पूर्व उसकी प्रमुख विशेषताओं को जान लेना नितान्त आवश्यक जान पड़ता है। इस उद्देश्य से हम हरियाणवी की कतिपय मोटी-मोटी विशेषताओं पर दृष्टिपात करते हुए इस के शब्द–कोष पर विचार करेंगे।

हरियाणवी के स्वरों का उच्चारण विवृत एवं अपेक्षाकृत विलंबित है। इसके 'आ', 'ई,' 'ऊ', 'ए', और 'ओ' में से प्रत्येक स्वर के ह्रस्व और दीर्घ दो-दो उच्चारण हैं क्योंकि इस भाषा में दीर्घ स्वरों को ह्रस्व करने की ओर साथ ही ह्रस्वीकृत स्वर से अगले व्यंजन को द्वित्व करने की प्राकृत भाषाओं वाली प्राचीन प्रवृत्ति आज भी ज्यों की त्यों विद्यमान है, उदाहरण के लिये देखिए :—

दीर्घ स्वर—आला, जाला, ताला, रीस, , जीत, मीत, रूँख, फूल, मूली, भेस, देस, ल्होस, खोस ।

ह्रस्वीकृत दीर्घ स्वर—आँद्दर, खाँद्दर, चाँद्दर, कोॅक्कर, ढीॅक्खर, टीॅक्कड़, ऊँक्खल, हूॅल्क्खा, गूॅद्दड़, बेॅल्ला, धेॅल्ला, चेॅल्ला, चोॅक्कस, चोॅब्बर, कोॅट्ठा, लोॅट्ठा।

उच्चारण के दृष्टिकोण से हरियाणवी की दूसरी प्रमुख विशेषता है तालव्यीकरण की प्रवृत्ति जो केन्द्रीय हरियाणवी को बांगरू से पृथक् करती है। भाषा को लिपिबद्ध करते हुए इसे सामान्यत: 'य्' द्वारा ही प्रकट किया जाता है, यथा च्यार, ग्याॅभण , घोड़्या आदि । यहाँ श > स हो जाता है परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि तालव्यी करण की उक्त प्रवृत्ति इस क्षति की पूर्ति सी कर रही है, यथा—शान > स्यान, शाही > स्याही ।

हकार ध्वनि—'हरियाणा प्रदेश' की शक्ति सम्पन्न जातियों का बलिष्ठ उच्चारण उनकी वाणी के प्रत्येक स्वर और व्यंजन से फट पड़त है जो अपनी कर्कशता में भी आकर्षक एवं दीर्घता में भी मधुर है (डा० शंकर लाल यादव)

यह एक स्थूल सा विचार है । हमारे विचार में किसी भाषा के बलिष्ठ अथवा गरिष्ठ उच्चारण का कारण सामान्यतः उस भाषा में हकार ध्वनि और मूर्धन्य वर्णों का बाहुल्य हुआ करता है। हकार ध्वनि के सम्बन्ध में स्थूल रूप से इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि हरियाणवी में इसकी बहुलता ही नहीं प्रत्युत बहुलता की चरम सीमा विद्यमान है। यहां तक कि इसके लगभग सभी स्वरों का औरस्यीकरण हो जाता है । कुछ नमूने नीचे दिए जाते हैं (यहां संबंधित स्वर के आगे 'ह' लगा कर औरस्यीकरण प्रकट किया जा रहा है) :

(क) हकार के आगम से स्वरों का औरस्यीकरण, यथा—साॅह्‌मी, बाॅह्‌सड़ा । इन शब्दों में पहले 'ह' की ध्वनि नहीं थी ।

(ख) पहले से विद्यमान हकार के कारण स्वरों का औरस्यीकरण – बाहर > बाॅह्‌र, दोहरा > दूॅह्‌रा ।

(ग) वर्णविपर्यय के कारण हकार की ध्वनि का अपने स्थान से निपात और इसके फलस्वरूप पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती स्वर का औरस्यीकरण—यथा : ग्यारहवीं > ग्याॅह्‌रमीं, बारहवीं > बाॅह्‌रमीं ।

(घ) परवर्ती वर्ण में विद्यमान 'ह' की ध्वनि अपने स्थान पर रहती हुई भी पूर्ववर्ती स्वर को प्रभावित करके उसका औरस्यीकरण करती है ।
यथा—सोॅह्‌धी ।

मूर्धन्य वर्ण—पहले कहा जा चुका है कि हरियाणवी की कर्कशता का एक कारण मूर्धन्य वर्णों का बाहुल्य है । इनमें भी णकार हरियाणवी की पुरानी और इतनी प्रिय ध्वनि है कि इसने यत्र-तत्र अथच लगभग सर्वत्र विदेशी नकार को भी णकार' में बदल कर ही ग्रहण किया है, यथा —टेस्सण, लालटण, बटण, दॉम्मण, फोरण, हाण (आन, थोड़ा समय, देर)

मूर्धन्य वर्णों वाली स्थिति 'ल़' पर भी लागू होती है । यद्यपि यह वर्ण पद के आदि में नहीं मिलता तथापि पदान्त अथवा पद के मध्य में यह बहुलता से पाया जाता है ।

यकारादि को जकारादि में बदल कर बोलने की प्रथा यजुर्वेद की माध्यन्दिन शाखा से प्रारंभ हुई थी —पदादौ विद्यमानस्य ह्यसंयुक्तस्य यस्य च आदेशोहि जकारः स्याद्युक्तः सन् हरणेन तु (लघु माध्यन्दिनीय शिक्षा) । इसके फलस्वरूप हरियाणवी में 'यकार' के दर्शन कहीं नहीं होंगे । इसी प्रकार संस्कृत का 'व' हरियाणवी में सर्वत्र 'ब' में बदल गया है क्योंकि यह भी उसी शाखा के सिद्धान्तानुसार—अर्थात् पद का आदि व > व्व बोले जाने से (गुरुर्वकारो विज्ञेयः पादादौ पठितो भवेत्, लघु माध्यान्दिनीयशिक्षा) — 'व' में बदल गया है ।

हरियाणवी में विकारी संज्ञाएं—'आं' प्रत्यय के संयोग से बहुवचन रूप संपन्न करती हैं। आकारान्त संज्ञाओं के अन्त में तालव्यीकरण की प्रवृत्ति के कारण इसी प्रत्यय का स्वरूप–याँ हो जाता है।

कारक चिन्ह—(क) संस्कृत के कारकों अथवा विभक्तियों की स्थिरता प्राकृत काल में ही समाप्त हो चुकी थी इससे प्रतीत होता है कि साधारण लोगों की भाषा सरलीकरण को ओर अग्रसर हो चुकी थी। यह प्रवृत्ति इतनी अधिक प्रवल हो उठी कि कर्म-सम्प्रदान अथवा कर्ण-अपादान या कर्ता-कर्म-सम्प्रदान इत्यादि का विचार तो दूर रहा, कर्म के स्थान पर अधिकरण और अधिकरण के स्थान पर कर्म कारक का प्रयोग उसी काल में होने लगा। 'शेषे षष्ठि' के विचार से सम्बन्ध कारक की गति सर्वथा निर्बाध हो गई। हरियाणवी में 'नाई का' कहने से 'नाई का लड़का', 'नाई की' से 'नाई की लड़की': 'मेरै' से 'मेरै घर' आदि की ध्वनि निकल आती है। इस प्रकार हरियाणवी अभिव्यक्ति में संबंध कारक के विस्तृत प्रयोग से एक विचित्र प्रकार की संक्षिप्तता आ गई है। इसके अतिरिक्त हरियाणवी में संबंध कारक के इलावा केवल तीन चिन्हों से अर्थात् 'नै', तैं तथा मैं या पै से समस्त कारकों की रचना संभव है।

(ख) हरियाणवी में एक ही समय में एक से अधिक कारक चिह्नों का प्रयोग भी पाया जाता है, यथा :—

(१) टांड पै तै जेली तार ल्या

(२) नाई कै नैं बुलांदा ल्याइए।

(३) बहू कै कमीज के कपड़ै मैं तैं आध गज चोक्कस बाँच्चैगा, छोहरी कै मैं तै कितणा बाच्चैगा

(ग) यहां पूर्वकालिक क्रिया के अन्त में "नै" परसर्ग का निरर्थक प्रयोग पाया जाता है, यथा : खा कै नै सो जा अर मार कै नै भाज जा।

(घ) कभी कभी कर्ता की विभक्ति उससे बिछुड़ कर अलग हुए विशेषण के साथ भी आती देखी जाती है। यह भावावेश की अवस्था में ही पाया जाता है, यथा—

कालै मूंह आली रांड नै डाक्कण सी ने खालिआ।

(ङ) हरियाणवी में पंजाबी की भांति संबंध कारक के चिह्न 'का' 'की' आदि के बहुवचन का प्रयोग सामान्यतः नहीं पाया जाता परन्तु निम्न लिखित स्थिति देखिए :

उन क्यां पै के धर्या सै (उनके लड़कों के पास कुछ नहीं है।)

उन कीआं पै के जाइएगा (उनकी बातों पर क्या ध्यान देना है)।

साधारण बोलचाल में ऐसा वाक्य सर्वसाधारण की जिह्वा पर मिलेगा। ध्यान से देखने पर विदित होगा कि उपर्युक्त वाक्यों में प्रयुक्त 'का', 'की' के

बहुवचन 'क्यां' और 'कीआं' से 'लड़कों' और 'बातों' का अध्याहार हो जाता है। ये संज्ञाओं की भांति प्रयुक्त हो रहे हैं। इन वाक्यों में अपेक्षित संज्ञाएं प्रयुक्त होने पर इनका वहुवचन रूप सम्पन्न नहीं होगा, यथा—उनकी बात्यां पै के जाइएगा ?

'का' 'की' के बहुवचन की पद्धति पर 'घणा' और सारा विशेषणों के रूप भी प्रयोग में आते हैं।

ऊपर कहा गया है हरियाणवी के विशेषणों के साथ कहीं कहीं परसर्ग भी पाया जाता है। ऐसी स्थिति में विशेषण अपने स्वाभाविक स्थान से बिछुड़ कर अलग पड़े होते हैं। अर्थात् कुछ विशेष्य से पहले और कुछ विशेष्य के बाद ; परन्तु ध्यान रहे कि बाद में आने वाले विशेषणों के साथ ही विशेष्य के परसर्ग की आवृत्ति आवश्यक हो जाती है।

सर्वनाम :—हरियाणवी के सर्वनामों के संबंध में दो बातें विशेष उल्लेखनीय हैं। एक यह कि निश्चयवाचक सर्वनाम 'यू', 'योह', यो, वोह, 'वे' के स्त्रीलिंग रूप 'भी क्रमश : 'या', 'वा' होते हैं। दूसरी यह कि कतिपय सर्वनाम अपने कारक चिन्हों के साथ घुल मिल गए हैं, यथा : मन्नै, मनैं, तन्नैं, तनैं, उन्नै मत्तै, मत्ती, तत्तै, तत्ती आदि। क्रियाओं के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय हैं :

(क) हिन्दी में जहां सहायक क्रिया के रूप में 'है' का प्रयोग होता है वहाँ हरियाणवी में 'सै' का प्रयोग पाया जाता है तथापि पठित लोगों के सम्पर्क से 'है' भी हरियाणवी के लिये सर्वथा विदेशी नहीं है।

(ख) वर्तमान काल में हिन्दी में जहां केवल 'है' का प्रयोग होता है वहां निश्चयात्मकता पर बल देने के लिये हरियाणवी में "सैगा" का प्रयोग होता है, यथा : ओ घर में सै (वह घर में है) परन्तु ओ घर में सैसैगा। (वह घर में अवश्य है)।

(ग) इच्छा प्रकट करने के लिए हिन्दी में जहाँ वर्तमान कालिक कृदन्त का प्रयोग होता है, वहां हरियाणवी में इच्छार्थक णिजन्त रूप के साथ 'है' या 'ऐ' का प्रयोग होता है यथा : मैं बी जाऊं है/ऐ (मैं भी जाता) मैं बी कपड़े धोऊं है (मैं भी कपड़े धोता)।

हरियाणवी में सामान्यत: कर्मवाच्य का प्रयोग नहीं होता। 'हवा द्वारा वृक्ष गिराया गया' के स्थान पर 'हवा ने वृक्ष गिराया' या वृक्ष हवा से गिर गया' 'ही कहा जाएगा तथापि 'लाड्डू बंड्डे सैं' या 'हा रै मार्‌या गया रै' जैसे भाववाचक प्रयोग अभीष्ट मात्रा में मिलेंगे।

हरियाणवी शब्द-कोष

हरियाणवी की मूलभूत विशेषताओं पर दृष्टिपात करने के पश्चात् अब इसके शब्दकोष पर विचार करना संगत जान पड़ता है। "शब्द समूह की दृष्टि से प्रत्येक भाषा एक प्रकार से खिचड़ी होती

है । किसी भी भाषा के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि वह अपने आदि विशुद्ध रूप में आज तक चली आती है " (डा० धीरेन्द्र वर्मा—हिन्दी भाषा का इतिहास, पृ० ६८) इस लिए किसी भी भाषा के शब्द समूह का अध्ययन प्रस्तुत करते समय शब्दों के विभिन्न स्रोतों को अलग-अलग श्रेणियों में विभक्त करना अधिक सुविधा-जनक रहता है ।

श्रीयुत टर्नर ने नैपाली कोष की भूमिका में लिखा है कि आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के शब्द प्रायः छः स्रोतों से आए हैं । डा० उदय नारायण तिवारी जी का भी ऐसा ही विचार है और उनका कथन है कि आधुनिक भाषाओं का शब्द कोष का अध्ययन करते समय इन मूल स्रोतों में शायद ही कहीं थोड़ा बहुत परिवर्तन करना पड़े । डॉ० धीरेन्द्र वर्मा जी ने हिन्दी शब्द समूह को तीन श्रेणियों में विभक्त किया है : (१) भारतीय आर्य भाषाओं का शब्द समूह; (२) भारतीय अनार्य भाषाओं से आए हुए शब्द (३) विदेशी भाषाओं के शब्द । उपर्युक्त वर्गीकरण में शीर्षक (१) को आगे तीन—तत्सम और अर्द्ध—तत्सम तद्भव और देशज—श्रेणियों में विभक्त कर लिया जाएतो हम टर्नर महोदय के वर्गीकरण के निकट पहुंच जाते हैं । यही वर्गीकरण डॉ० तिवारी जी को भी मान्य है ।

हरियाणवी शब्द-समूह पर विचार करते समय हम डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के वर्गीकरण का अनुसरण करेंगे, परन्तु उपर्युक्त तीन श्रेणियों के अन्तर्गत न रखे जा सकने वाले शब्दों के लिये हमें एक अन्य श्रेणी भी बनानी पड़ेगी, अर्थात्—

(४) "हरियाणवी टकसाल" में बने शब्द ।

(i) भारतीय आर्य भाषाओं का शब्द समूह

हमनें ऊपर कहा है कि वैयाकरण इस शब्द समूह को प्रायः तीन विभागों में विभक्त किया करते हैं, अर्थात् (क) तत्सम और अर्द्ध—तत्सम, (ख) तद्भव (ग) देशज । हरियाणवी में अधिकांश तद्भव शब्द ही देखने को मिलेंगे । तत्सम और अर्द्ध—तत्सम शब्दों की संख्या बहुत न्यून है । 'जल, पूजा, नदी आदि कुछ एक शब्द ही तत्सम रूप में देखने को मिलते हैं और इसी प्रकार धरम, करम, किरसन, दरसन परेम, आदि अर्द्ध-तत्सम शब्द भी हरियाणवी में अधिक नहीं हैं । देशज—अर्थात् वे शब्द जो संस्कृत साहित्य में नहीं मिलते और जिनका उल्लेख केवल प्राकृत काल तक मिलता है, हरियाणवी तक पहुंचते पहुंचते बदल गए हैं । अतः इन्हें भी तद्भव की संज्ञा प्रदान करना युक्तियुक्त है ।

अतः हम कहेंगे कि हरियाणवी **पूर्णतः तद्भव शबदों के भण्डार से परिपूर्ण** संवृद्ध और सशक्त भाषा है । ये शब्द—रत्न ही इसकी अमूल्य निधि हैं ।

(ii) भारतीय अनार्य भाषाओं से आए शब्द

हमारे यहाँ तामिल, तेलगू द्राविड़ कोल या मुंडा भाषाएं ही अनार्य कही जाती हैं। आधुनिक काल में इन भाषाओं के शब्दों का हरियाणवी तक पहुंचने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता क्योंकि पारस्परिक सम्पर्क से ही एक भाषा दूसरी भाषा के प्रभाव को ग्रहण किया करती है और आजकल इन भाषाओं के साथ हरियाणवी का सीधा सम्पर्क नहीं है तथापि अन्य आ० भा० आ० भाषाओं की भान्ति हरियाणवी में भी कोई ऐसा तत्व विद्यमान हो सकता है जो द्राविड़ या कोल भाषा से सम्बन्ध रखता हो। विद्वानों का विचार है कि जब आर्य लोग द्राविड़ और कोल जाति के सम्पर्क में आये तो आर्यों की देववाणी उन लोगों की भाषा से अवश्य प्रभावित हुई और अनार्य भाषाओं के शब्द आर्य भाषा में ले लिये गए। हरियाणवी के लिये ये शब्द वस्तुतः आर्य भाषा के शब्दों के समान ही हैं क्योंकि ये भी अन्य आर्य भाषा के शब्दों कीभांति प्राकृत और अपभ्रंश की चक्की में पिस कर ही हरियाणवी तक पहुंचे हैं। साधारणतः मूर्धन्य वर्णों के शब्द द्राविड़ भाषाओं के प्रभाव से निर्मित माने जाते हैं। बीस-बीस करके गिनने का रिवाज हरियाणवी में भी मिलता है और डा० धीरेन्द्र वर्मा जी के मतानुसार यह कोल भाषा का प्रभाव है। इसी प्रकार 'कोड़ी' आदि कुछ एक अन्य शब्द भी शायद कोल भाषाओं से आए हों। संभव है कि हरि० 'पिलूरिआ' द्राविड़ के 'पिल्ला' शब्द से निर्मित हुआ हो। वहां इसका अर्थ 'पुत्र' है परन्तु हरि० में इसका अर्थ 'कुत्ते का बच्चा' है।

(iii) विदेशी भाषाओं के शब्द

हरियाणवी में मिलने वाले विदेशी शब्द दो स्रोतों से आए :--

(क) अरबी फारसी और तुर्की के शब्द--मुसलमान जाति के सम्पर्क और अरबी फारसी के माध्यम से।

(ख) अंग्रेज़ी, फ्रांसीसी, डच, और पुर्तगाली के शब्द--सैनिकों और पढ़े लिखे लोगों के माध्यम से।

(क) अरबी-फारसी के शब्द

डा० शंकरलाल यादव जी लिखते हैं--'लगभग ३०,४० वर्षों से कुछ सांगीत की किताबें अवश्य इस बोली में लिखी मिलती हैं जिन में भी बोली का शुद्ध रूप नहीं आ पाया है। उर्दू-फारसी के विदेशी शब्द जो जन मानस में अपनी पैठ नहीं कर पाए हैं, पर्याप्त मात्रा में इन सांगीत पुस्तकों में मिलते हैं।"[१] यह ठीक है कि सागीतों में प्रयुक्त अरबी-फारसी के शब्द कृत्रिम से जान पड़ते हैं,

---

१ हरियाणा प्रदेश का लोक साहित्य, पृष्ठ ८२

परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि सदियों से बसे मुसलमानों ने और इन लोगों की भाषा ने हरियाणवी को बिल्कुल प्रभावित नहीं किया है । अरबी-फारसी के ही नहीं अपितु इनके माध्यम से कई-एक तुर्की के मोटे मोटे शब्द हरियाणा-जन-मानस में इतणे गहरे पैठ गए हैं कि वे इन्हें रंच मात्र भी विदेशी प्रतीत नहीं होते परन्तु उनकी युक्तियुक्त व्याख्या प्रस्तुत करने के लिये अरबी-फारसी का ज्ञान अपेक्षित है । वे लोग इनका निर्बाध रूप से प्रयोग करते हैं, इनके माध्यम से अपने भावों का प्रकाशन करते हैं परन्तु कोई विदेशी उनसे किसी विशेष शब्द की व्याख्या मांगने लगे तो शायद वे प्रस्तुत न कर सकें । ऐसी व्याख्या संभवतः वे अपने देशज और आर्यभाषा से परम्परा प्राप्त शब्दों की भी न दे सकें । व्याख्या देना उनका काम नहीं, उनका काम है उनका प्रयोग करना और प्रयोग के सहारे अपनी बात समझाना; बस । हाँ, भाषा शास्त्री को उनकी व्याख्या प्रस्तुत करने के लिये अरबी-फारसी का ज्ञान ग्रहण करना पड़ेगा । इस कथन की पुष्टि के लिये हम दो-एक लोकोक्तियां प्रस्तुत करते हैं—

(१) गूदडिया मइकोल हुरमत मरै जडाई

(मोटे कपड़े पहनने वाला मज़े में रहता है और शर्म करने वाला जड़ाया मरता है ।)

(२) किसबी ने किसब फाब्बै और करै तो कूत्तक बाज्जै

(जिस का काम उसी को साजे और करे तो ठैंगा बाजे)

(३) आवै मिश्रां तोप तल्ला जावै मिश्रां खैर सल्ला ।

(यह लोकोक्ति ऐसे व्यक्ति के संबंध में कही है जो घर से ठीक-ठाक जाए पर घर आने पर क्रोध से अभिभूत हो ।)

इन लोकोक्तियों को समझने के लिये मरकोल (माकूल) हुरमत किसब कूत्तक (कुतकः और खैर सल्ला को समझना बहुत आवश्यक है। इन सभी शब्दों का रूप भी इतना बदल गया है कि जिससे इन शब्दों के जन-मानस में गहरे पैठने की ध्वनि स्पष्ट मिल रही है । इनके अतिरिक्त नीचे लिखे शब्द और उनके सामने उन के मूल रूपों को देख कर इस कथन की परिपुष्टि हो जाती है :—

काली़ ज़ाल़ (काला से काली पर ज़ाल वस्तुतः है और इस को समझे बिना इसका अर्थ भी समझ में नहीं आएगा । 'काली़ जाल़ माणस' उस व्यक्ति के लिये प्रयुक्त होता है जो दिल में कपट रखता है और एक नम्बर धोखेबाज है ।

बागली — बग़ली) भिखमंगा की

ऐसी झोली जिसे वे कंधे पर डाल कर घूमते हैं ।
अव्वल (अव्वल) काफ़ी, पर्याप्त—इतना पर्याप्त की जिसे थोड़ा न कहा जा सके ।
राम (आराम)
वाज (आवाज़)
असनाई (आशनाई) सम्बन्ध
सहूर, सूहर (शऊर)
लसकरिआ (लश्करिया) लोकगीतों में पति के लिए (विशेषतः परदेशी पति) प्रयुक्त होने वाला सम्बोधन वाचक पद
मेर (मेहर)
अफसोच (अफसोस) सोच के साम्य पटु
कत्तल (क़तला टुकड़ा)
खुबात (क़बाहत परिश्रम)
कामड़ी (क़मची)
कारस्तानी (कारे शैतानी)
कागद (काग़ज़)
काल्ली (कायल कष्ट)
खूंडा (कुंद)
कुड़की (कुरकी)
गिरदोर (गिरदावर)
खामखां
गज्झक (ग़ज़क़)
खाखी (खाकी)
खदान्ना (खजाना)
खिजमत (खिदमत)
खोमचा (ख्वानचा)
सरां (सारए)
जबरजस्त (जबरसस्त)
तोहमंद (तोहमत)
दरखास (दरख्वास्तत)
दस्माल (दस्तमाल
दारा (दायरा);
डीमक (दीमक)
दोजक (दोज़ख़)
नजर कुजर (नज़र गुज़र)
ल्हास (नाश)
नीत (नीयत)
फजीत (फ़ज़ीहत)
फरेज (परहेज़)
पतावा, पेतवा (पाताब।)
पांह्चा (पांयचा)
पावा (पाया)
बलकन (बत्कि)
ज्यास्ती (ज्यादती)
काम्मल (कामिल)

यह सूची जानबूझ कर छोटी रखी जा रही है कि जिस से व्यर्थ आकार न बढ़े और यथावत बात भी समझी जा सके । ये ऐसे शब्द हैं जो हरि० में पारस्परिक सम्पर्क से ही अरबी अथवा फारसी से आए हैं । इनके अतिरिक्त बहुत से ऐसे शब्द भी पर्याप्त मात्रा में मिलेंगे जिन्हें डा० तिवारी जी का अनुसरण करते हुए निम्नलिखित शीर्षकों में बांटा जा सकता

है :—(इन श्रेणियों के बहुत से शब्द ऊपर भी आ चुके हैं)

(क) राज्य, युद्ध, शिकार संबंधी शब्द

(ख) शासन, कानून तथा कर संबंधी शब्द

(ग) धर्म सम्बन्धी शब्द

(घ) संस्कृति शिक्षा, संगीत, साहित्य संबंधी शब्द

(ङ) विलास व्यापार आदि भौतिक संस्कृति से संबंध रखने वाले शब्द ।

अ० फा० के ऐसे शब्द प्रायः सभी आ० भा० आ० भाषाओं में प्रचुर मात्रा में मिलते हैं । अतः यहां नमूने प्रस्तुत करने का अभिप्राय व्यर्थ में कलेवर वृद्धि ही होगा । नीचे कुछ तुर्की के शब्द दिये जाते हैं :—

तुरक—तुर्क (अर्थ है मतलब पूरा होने पर आंखें बदलने वाला व्यक्ति)

तुर्की से:

कुतका—कुतकः

तमाच्चा—तमाचः

तमंचा—तमनचः

तोप—तोप

कुड़ता—कुड़तला

कुड़ती—कुड़तली

अन्त में केवल एक बात कहनी आवश्यक है । वह यह कि अरबी-फारसी से आने वाले शब्द भी तद्भव की कोटि में ही रखे जाएंगे । यहां भी तत्सम अथवा अर्द्ध–तत्सम शब्दों की संख्या नगण्य है ।

(ख) अंगरेजी आदि के शब्द

अंगरेज़ी, 'पुर्तगाली फ्रांसीसी[1] आदि भाषाओं के शब्द हरियाणवी में बहुत कम हैं । ये शब्द अधिकतर सैनिकों के माध्यम से या पढ़े लिखे लोगों के माध्यम से ही लोक जीवन में आए हैं । इनकी बानगियां ही पर्याप्त होंगी । अंगरेज़ी से आने वाले शब्दों के उदाहरण निम्नलिखित हैं :—

चानस	बुरस
डरोर	जंगलोस्सन
टिकसी	हस्पताल
रंगरूट	डाग्दार
सलूट	पब्लक
टेस्सण	परेट्
मिटरी	अंजन
पिलसण	लम्बर
लम्प	मील्
जंटरमेन	मसीन
बूट	बाट्री
बटण	डरॉम्मा
लोट	

१. फ्रांसीसी या पुर्तगाली भाषाओं की शब्दों सूची तैयार करते समय डा॰ धीरेन्द्र वर्मा जी के हिन्दी भाषा के इतिहास में दी गई सूची से सहायता ली गई हैं

पुर्तगाली शब्दों के उदाहरण निम्नलिखित हैं :—

अलमारी, कमीज, कप्तान काज, गोभी, तमांबू (तम्बाकू) तोलिआ, लीलामी (नीलाम), पादरी, पिस्तोल, पीपा, बालटी, बिसकुट, बोतल, मेज, फ्रांसीसी—कारतूस, अंगरेज़, चुरट

(iv) **हरियाणवी टकसाल के शब्द**

कोई भी जीवित भाषा केवल पैतृक सम्पत्ति के सहारे आगे नहीं बढ़ती प्रत्युत वह अपनी स्वाभाविक प्रगति के लिये अपनी निजी टकसाल में नए नए सिक्के तैयार करती रहती है। इसी प्रकार बहुत से पुराने शब्दों का प्रयोग बंद भी हो जाया करता है । प्रादेशिक भाषाओं में लोग अपने अपने व्यवसाय की आवश्यकताओं के अनुसार, नई-नई वस्तुओं के नवनिर्माण के साथ-साथ अथवा ताशचोपड़ खेलते हुए मनोरंजन के हेतु नए नए शब्दों की उद्भावना किया करते हैं और उनमें से बहुत से शब्द टकसाल से निकलने वाले नए चमकदार सिक्कों की भांति चल निकलते हैं । इनमें विशेषकर ऐसे शब्द जो हमारा मनोरंजन किया करते हैं, बार बार की आवृत्ति से जड़ पकड़ लेते हैं और क्रमशः चिरस्थायी भी बन जाते हैं । नीचे हरियाणवी टकसाल के कुछ ऐसे ही सिक्कों की आभा प्रकीर्ण की जा रही है—

झम्मन	(मोटा)
घिरलतित	(व्यर्थ का काम)
कचघरड़	(अधपकी)
घेर घिराली	(जलेबी)
हट्ट	(काना)
भंबो	(मोटी भद्दी स्त्री)
फोतरा	(थोड़ा, रंच मात्र)
बोट	(सुन्दर स्त्री)
ल्हूंल्ला	(अफवाह)
घंट	(बदमाश)
ऐंडी	(शरारती)
मुराड़	(कलंक)
मुरली	(मुरली मारे बैठणा) निराशा की स्थिति
ढाट्टा	मुंह पर बंधी पट्टी
डाड्ठी मेजर	(दाढ़ी वाला)
घोग्गड	(मोटा)
मोग्घड़	(मोटा)
गंडस्या	(सुंदर स्त्री)
लपेड़ा	(थप्पड़)
झांपट	(थप्पड़)
टणखोप्पर	(बातें बनाने में अत्यंत चतुर)
ढोट्ठा	(मारे बैठणा) (धरना)
हडंफा	(भद्दे पांव वाली)
पड़चंदा	(झूठा दोष)
जबक	(वहम, आदत, स्वभाव)
करंड	(कठिन)
कचमल	(कटणा) स्वादिष्ट वस्तु मिलने पर 'कचमल कटगे' कहा जाता है ।

(शेष पृष्ठ २४ पर)

प्राचीन भारत में राज्य की संप्रभुता और उसकी स्वीकृति

डॉ० हरिहर नाथ त्रिपाठी

संप्रभुता आधुनिक शब्द माना जाता है, लेकिन इसका अस्तित्व वैदिककाल से भारतीय राजनीति में रहा है। वैदिक काल से १६वीं शती तक देश, काल और परिस्थिति के अनुसार उसके स्वरूप और स्तर में परिवर्तन होता रहा है। लेकिन इस परिवर्तन के साथ एक बात ध्यान देने की रही है कि कभी भी उसका स्वरूप, विशेषतया स्मृतिकाल तक, केन्द्रीभूत नहीं हुआ। इसका कारण यह है कि भारत में संप्रभुता का संचालन सभा एवं समिति जैसी सम्प्रभु संस्थाओं के माध्यम से होता रहा। राजतन्त्र का विकास इन सामाजिक संस्थाओं से हो सका, फलतः राजतन्त्र या संप्रभुता को अभिव्यक्त करने वाले किसी भी संगठन के साथ सामाजिक संबन्ध अवश्य लगा रहा। राजा के लिये अन्तिम काल तक यह व्यवस्था थी कि व्यवस्थापन एवं शासन में वह एकाकी कार्य नहीं कर सकता था। उसके साथ सामाजिक प्रतिनिधि एवं मन्त्रिमण्डल का सम्बन्ध बना रहा। यहां तक कि विधायिका शक्ति राजा के हाथ में कभी भी नहीं रही। फलतः संप्रभुता का एकमात्र अधिष्ठान राजा न हो सका।१

संप्रभुता के कुछ मूल लक्षण होते हैं। कौन राज्य संप्रभु है और कौन नहीं इसके ज्ञान के बाद संप्रभु राष्ट्र को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में स्थान दिया जाता रहा है। आज भी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन में इस बात पर ध्यान दिया जाता है। जब तक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन किसी राज्य की संप्रभुता को स्वीकृति नहीं देते तब तक उसकी संप्रभुता सार्वभौम नहीं हो सकती। कौटिल्य मानते हैं कि केवल जनपद,

१. द्रष्टव्य : आर० सी० मजूमदार, कारपोरेट लाइफ इन एंशेंट आफ इंडिया पृ० ३७
एन० एन० ला, आस्पेक्ट्स आफ एंशेंट इंडियन पालिटी, पृ० १
के० पी० जायसवाल, हिन्दू पालिटी, पृ० २८, जिल्द २
अल्तेकर, स्टेट एण्ड गवर्नमेंट इन एंशेंट इंडिया, पृ० ६७।

क्षेत्रफल से राज्य राज्य नहीं माना जाता, उसमें मनुष्य हों और संविधान या राष्ट्र में भक्ति रखते हों। कौटिल्य ने व्यक्ति के गुणों में 'भक्त एवं शुचैं' विशेषण लगाया है। स्पष्ट है कि संप्रभु राष्ट्र के लिए एक संविधान में विश्वास करने वाले नागरिक हों। इस प्रकार कौटिल्य ने राष्ट्र की संप्रभुता का जो रूप रखा है उसके अनुसार उसमें जनसंख्या क्षेत्रफल आदि के साथ संविधान के प्रति नागरिकों में एकता होना आवश्यक है। उसके साथ वे यह मानते हैं कि मन्त्रिमण्डल भी होना चाहिए। अर्थात् राजतन्त्र में भी राजा के हो जाने पर राज्य संप्रभु नहीं हो जाता। उसके साथ सामाजिक संगठन का भी होना आवश्यक है।[1]

कौटिल्य के समय से आटविक राष्ट्रों के सम्बन्ध में अधिक विचार आने लगता है। उनमें उक्त विशेषताएं नहीं पाई जाती हैं। कबीलों को राज्य की संप्रभुता के भीतर स्थान दिया जाता है। डा० राय चौधरी ने माना है कि समुद्रगुप्त ने विभिन्न आटविक राज्यों (जंगली रियासतों) को नष्ट किया और उसका प्रमाण इलाहाबाद के स्तम्भ लेख में है।[2] कौटल्य के विवरण से ज्ञात होता है कि इन रियासतों की सीमित रूप में स्थानीय स्वतन्त्रता मिलती थी किन्तु उन्हें संप्रभु नहीं कहा जा सकता था। युद्ध के समय उनका उपयोग किया जाता था और उस समय उनकी संप्रभुता पर-स्पष्ट नियन्त्रण हो जाता था।

कौटिल्य ने आर्य और अनार्य दो भागों में राज्य को बाँटा है। अनार्य राज्य का तात्पर्य जातिगत से नहीं है। उसका तात्पर्य है सभ्यता के साथ बर्बरता करने वाले राज्य के रूप में विकास करना। कौटिल्य मानते हैं कि जिस राज्य के प्रति अन्य राजा या राष्ट्रमण्डल को यह विश्वास हो कि यह राज्य मानवता के सामान्य नियमों का पालन न कर सकेगा उसको राष्ट्रमण्डल का सदस्य नहीं बनाना चाहिए। इस रूप में आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय विधान पक्ष का सामने आता है।[3] आज भी चीन को राष्ट्रसंघ का सदस्य अभी तक नहीं बनाया गया क्योंकि उसने मानवाधिकार घोषणा पत्र की नैतिकता के नियमों में विश्वास नहीं उत्पन्न किया।

---

१. नह्ययजनपदो राज्ञं जनपदं वा भवतीति कौटल्य :। अर्थ० १३।४।
भक्तशुचिमनुष्या इति जनपद सम्पद्। अर्थ० ६।१।
यस्य स्फीतो जनपदः सम्पन्न प्रिय राजस :।
सम्पुष्ट पुष्ट सचिवो दृढमूलः सः पार्थिवः। महा० शा० ६४।३।

२. पोलिटिकल हिस्ट्री आफ एंशेंट इंडिया, पृ० ४५१

३. लारेंस, प्रिंसिपल्स आफ इंटरनेशनल लॉ, पृ० ५०

कौटल्य एवं अन्य आचार्यों के विवरण से स्पष्ट होता है कि सभी राज्य समानस्तर के नहीं है। उसमें सम, हीन और ज्यायान् तीन भेद होते हैं। उन्हें समान, निम्न एवं उच्च कहा जा सकता है १ इस आधार का स्पष्टीकरण उनके वर्गीकरण से हो जाता है। मौर्य और गुप्तकाल में विभिन्न प्रान्तों का संगठन कुछ गणतन्त्रात्मक रूप से किया गया था२। उन्हें स्थानीय प्रशासनिक अधिकार प्राप्त थे। उनके निरीक्षण के लिये केन्द्र से अधिकारी नियुक्त थे ३। इस प्रकार के राज्य का एक वर्ग कहा जा सकता था। दूसरा वर्ग हर्षवर्धन का था। उसमें आन्तरिक बाह्य शासन केन्द्र से नियन्त्रित होते थे। इन राज्यों का विस्तार इस रूप में था कि उनकी आवांतर इकाइयां भी थीं, उनमें ही हीन और सम का सम्बन्ध स्पष्ट होता है। सभी राज्य समान न थे उनमें सामन्त आदि भी थे। महाभारत ऐसे राजाओं का उल्लेख करता है। कौशल के महेन्द्र महाकान्तर के व्याघ्रराज कुरुल के मन्त्रराज आदि इसी कोटि के थे। इनके ऊपर समुद्रगुप्त की संप्रभुता थी।

कौटिल्य के विवरण में राज्यों के न्यास (ट्रस्ट) का भी रूप सामने आता है। उनके अनुसार दुर्बल राज्य का संरक्षण करना प्रबल राज्य का कर्त्तव्य होता है। इसके लिए दुर्बल राज्य को स्वयं प्रबल राज्य का समाश्रय ग्रहण करना पड़ता था४। समाश्रय शब्द षाड्गुण्य से भी आता है। मनु के अनुसार किन स्थितियों में समाश्रय ग्रहण करना पड़ता है इसका विवरण इस प्रकार है, "राज्य अधिक स्थिति से दुर्बल होने एवं अन्य प्रबल शत्रु से पीड़ित होने पर समाश्रय की स्थिति में आता है।" इस प्रकार की विशाल सूची अशोक और समुद्रगुप्त के समय में उपलब्ध होती है।५ इनके संरक्षण में अनेक राज्य संरक्षण पाते थे, कौटिल्य उन स्थितियों का विवरण प्रस्तुत करते हुए, जिनमें समाश्रय की अपेक्षा होती है, इस निष्कर्ष पर आते हैं कि संरक्षक राज्य को संरक्षित की आन्तरिक स्थिति में भी हस्तक्षेप करने का अधिकार रहता है।६ इस स्थिति में संरक्षित राज्यों को संरक्षक के उत्सवों में करद के

१. अर्थ ७/३/: शुक्र १/१८४-७
२. मजूमदार एंशेंट इंडिया, पृ० ११८
३. महा० शा० ६६/१० ।
४. शक्तिहीन स्समाश्रयेत्. अर्थ० ७।१।
५. अर्थसम्पादनार्थञ्च पीड्यमानस्य शत्रुभिः साधुपु व्यपदेशार्थं द्विविधः समाश्रयः मनु०७।१६८.
६. लब्धसमाश्रयः समयाचरित्वद् भर्तरिवर्तेत
दुर्गादीनि च कर्माण्यावाहपववाह पुत्राभिषेकश्च पण्य-
हस्तिग्रहणसत्रयात्राविहारगमनानिचानुज्ञातः कुर्वीत . अर्थ० ७।१५।

रूप में उपस्थित होना पड़ता रहा । उनको अन्तर्राष्ट्रीय संगठन में स्थान एवं सदस्यता नहीं मिलती थी ।

प्राचीन भारत में राष्ट्रमंडल में सदस्यता के पूर्व उसे पूर्ण संप्रभु राज्य नहीं माना जाता था ।१ फलत: अन्तर्राष्ट्रीय संगठन में स्थान पाने एवं अन्तर्राष्ट्रीय अधिकारों की सुविधा पाने के लिये आवश्यक था कि वे राष्ट्रमंडल के सदस्य हों । इसके लिये कुछ विशेष नियमों का पालन करना पड़ता था । राज्य स्वतंत्र होने के बाद अन्तर्राष्ट्रीय उत्सवों में आमन्त्रित किये जाते थे और वहां उसकी स्वीकृति होती थी । इस प्रकार के उत्सव राजसूय, अश्वमेघ आदि होते थे । इनमें सभी राजा या राज्य नहीं आमन्त्रित किए जाते थे । इनमें वे ही आ सकते और स्थान प्राप्त कर सकते थे जिनकी संप्रभुता मान ली गयी हो । इसके अतिरिक्त स्वतन्त्र राष्ट्र का सहयोगी राष्ट्र सदस्यता के लिये राष्ट्रमंडल में उसकी ओर से पक्ष रखते थे । धर्मपाल ने चक्रायुद्ध के लिये इसी प्रकार का पक्ष रखा और मत्स, भोज, भद्र, कुरु, अवन्ति गान्धार आदि ने उसका समर्थन किया, चीन की सदस्यता के लिए आज भी इसी प्रकार का प्रयास किया गया। स्वतंत्र भारत, पाकिस्तान, बर्मा और लंका की सदस्यता के लिये ब्रिटेन ने राष्ट्र संघ में पक्ष प्रस्तुत किया था ।

राज्यों की संप्रभुता के समय हमने संकेत दिया कि स्तर तीन प्रकार के थे । उनके आधार थे शक्ति और सिद्धि । शक्ति तीन प्रकार की होती थी--मन्त्र, प्रभु और उत्साह शक्ति । इसी प्रकार मन्त्र, प्रभु और उत्साह सिद्धि भी होती थी । इन्हीं की उत्तमता और हीनता के आधार पर सम, हीन और ज्यायान की श्रेणी होती थी२ । इन आधारों पर उनके व्यवहार के तीन पक्ष आते हैं --अन्तर्राष्ट्रीय एवं विधीय समारोह, उत्सव आदि और अन्तर्राष्ट्रीय समारोह । इनमें अन्त के दो अवसरों पर मानववादी दृष्टिकोण होने से राज्यों में विषमता जैसा व्यवहार कम था और सभी का आदर समान रूप से होता था । किन्तु प्रथम में राज्यों के साथ स्थान और सम्बन्ध उनके स्तर के आधार पर किया जाता था । उनके आसन से लेकर व्यवहार के छोटे से काम में यह स्तर देखा जाता था । शुक्र ने अपने काल के जिन स्तरों का वर्गीकरण किया है उसमें सामन्त से लेकर चक्रवर्ती सम्राट् तक का स्तर स्पष्ट होता है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध में इन स्तरों का व्यवहार पूर्वकाल से विशेषतया ब्राह्मण काल से चला आ

---

१. सौ०बु० ६।३-२५।

२. अर्थ ७।१०।; ६।२० ।

रहा है। सार्वभौम, एकराट, आदि की स्थितियां ज्यायान् की ही कोटि की हैं। आज भी राष्ट्रसंघ में पांच बड़ों की स्थिति विश्व के राष्ट्रों में सर्वोच्च है।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में परस्पर सम्बन्ध स्थापित करने के भी तीन आधार थे। इन के आधार पर राज्यों के परस्पर गुट बन जाते थे। इन आधारों पर संगठित गुट का वर्गीकरण कौटिल्य ने तीन भागों में किया है--आर्य, यवन और अनार्य। आर्य राज्यों से उनका तात्पर्य हिन्दू और बौद्ध जैसे भारतीय राज्यों से है। यवन से तात्पर्य ग्रीक जैसे अभारतीय राज्य से है। अनार्य में आटविक आदि राज्य आते हैं। कौटिल्य ने आर्य गुट को उत्तम ही नहीं एकमात्र उपयुक्त बताया है।१ लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं कि अनार्य या यवन राष्ट्रों के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता। उनके साथ सम्बन्ध हो सकते हैं किन्तु उनकी नीति और उच्चता के स्थान पर आर्य पद्धति ही श्रेष्ठ है।२ महापद्म नन्द की मृत्यु के बाद आर्य और अन्य दो गुटों के बीच संघर्ष हुआ जिसमें मौर्यों एवं गुप्तों ने आर्य पद्धति की सत्ता स्थापित की। यह संघर्ष केवल राज्यों का ही नहीं सभ्यताओं का भी था।

उक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि शक्ति, सुख और सिद्धि के आधार पर राज्यों के स्तर थे। उनका अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध उन्हीं के आधार पर होता था।

संप्रभुता प्राप्त राज्यों को अधिकार था कि उदीयमान राज्यों को संप्रभुता की स्वीकृति दें उनकी स्वीकृति के बाद ही वे संप्रभु माने जा सकते हैं।४ अश्वमेधादि यज्ञों का धार्मिक की अपेक्षा राजनीतिक महत्त्व अधिक था। राजसूय, वाजपेय, अश्वमेध एवं ऐन्द्रमहाभिषेक के माध्यम से राष्ट्रसंघ का राजनीतिक स्तर स्थिर होता था।५ सिकन्दर के आक्रमण के समय यूनानियों ने इसका व्यवहार देखा था। इस प्रकार राज्यों की प्रभुता का सिद्धान्त और व्यवहार दोनों भारतवर्ष की प्राचीन राजनीतिक विचारधारा में क्रियाशील रहा।

○ ○ ○

---

१. इनवेजन आफ इंडिया बाई अलेक्जेन्डर : पृ० २६३, ३५४

२. शुक्रनितिसार ७।४।

३. मजूमदार एंशेंट इंडिया पृ० २६

४. यस्मै वै राजानोराज्यमनुमन्येत स राजा भवति नस यस्मै न.

शत० ब्रा० ३।५।४

५. एन० एन० ला, आस्पैक्ट्स आफ एंशेंट इंडियन पालिटी, पृ० १५-१६

शुक्र १।१८४-१८७।

बी०के० सरकार, हिन्दू पालिटी, पृ० २६०-२६३

स्वयंभू की रामकथा

डा० देवेन्द्र कुमार

स्वयंभू अपभ्रंश के महान् कवि हैं। इनका समय ९वीं सदी के प्रारंभ में माना जाता है। 'पउम चरिउ'—इनका राम कथा पर लिखित प्रबंध काव्य है। रामकाव्य परंपरा के प्रथम कवि बाल्मीक माने जाते हैं। उनके बाद विमल सूरी ('पउम चरित्र प्राकृत) का नाम आता है और तब रविषेण के पद्मचरित का। ठीक इसके बाद स्वयंभू का 'पउम-चरिउ' लिखा गया। इस प्रकार ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में, प्रस्तुत रचना का महत्त्व है ही, साथ ही शिल्प और शैली के विचार से भी, इसका कम महत्त्व नहीं क्योंकि इसका प्रभाव रामचरितमानस तक देखा जाता है। स्वयंभू के अनुसार इस काव्य की रचना की प्रेरणाएं तीन हैं। एक तो रामकथा का जैन दृष्टिकोण से काव्यीकरण, दूसरे आत्माभिव्यक्ति और तीसरे यश विस्तार की कामना। स्वयंभू ने अपने काव्य के प्रारंभ में रामकथा की जो परंपरा दी है, उसके अनुसार एक दिन विपुलाचल पर्वत पर अंतिम तीर्थंकर महावीर का समवशरण आता है और राजा श्रेणिक, गौतम गणधर से पूछते हैं कि दूसरे सम्प्रदायों में राम कथा उल्टी सुनी जाती है, जैन दृष्टिकोण से रामकथा का क्या स्वरूप है? गणधर कथा प्रारंभ करते हैं। राजा श्रेणिक बीच बीच में प्रश्न पूछता जाता है। गणधर को यह कथा तीर्थंकर महावीर से प्राप्त हुई थी। स्वयंभू स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं वह जिस रामकथा रूपी नदी को बांधने जा रहे हैं वह महावीर के मुख विवर से निकल उन्हें प्राप्त हुई। गौतम गणधर के बाद रामकथा को साक्षात् देखने वालों में प्रमुख हैं इन्दुभूति धर्माचार्य, भट्टारक कीर्तिधर और रविसेन। यह तो हुई जैन परंपरा। कवि यह पहले ही कह चुका है कि दूसरे धर्मों में यह कथा कई रूपों में प्राप्त थी। ऐतिहासिक परंपरा के साथ, रामकथा की काव्य परंपरा का उल्लेख भी स्वयंभू करते हैं कि उनकी यह राम-कथा रूपी नदी अक्षरों के विस्तार जल से शोभित है। यह, अलंकार छंदों की मछलियों को धारण करती है (अर्थात् इसमें गति और स्वच्छता है।) इसमें

समासों के लम्बे प्रवाह हैं। संस्कृत और प्राकृत के दो किनारे हैं, जो देशी भाषा (अपभ्रंश) के जल से उज्ज्वल हैं। अर्थों की बहुलता से कहीं कहीं इसकी लहरें गूढ़ हो गई हैं। यह आश्वासों (संधियों) के तीर्थों से प्रतिष्ठित है।१ यह काव्य लिखने की दूसरी प्रेरणा है 'आत्माभिव्यक्ति'। कवि कहता है "मैं राम काव्य के माध्यम से अपने आपको प्रकट करता हूँ।"

परन्तु इसमें कवि का साहित्यिक व्यक्तित्व ही व्यक्त समझना चाहिए। अर्थात् इसमें अपने युग के प्रभावों और काव्य-शिल्प की किंचित् झलक देने का प्रयास भी है। कवि की तीसरी प्रेरणा है 'यश का विस्तार'। वह स्पष्ट कहता है रामकथा के कीर्तिन से कीर्ति बढ़ती है।'

रामकथा का उद्गम तीर्थंकर महावीर से मान लेने पर भी, जैन परंपरा में उसकी दो धाराएं हैं। एक गुण भद्रवाली और दूसरी 'पउम चरिअ' वाली। स्वयंभू ने दूसरी परंपरा में अपनी रामकथा कही है, जो आदिकाव्य के बहुत कुछ निकट है। हिन्दू परंपरा में भी रामकथा की कई धाराएं हैं। जो उसकी व्यापकता और गतिशीलता को बताती हैं। तुलसीदास जी ने स्वीकार किया है "हरिकथा अनंता"! हिन्दू और जैन दृष्टिकोण में, रामकथा को लेकर, मूल अन्तर यह दिखाई देता है कि एक में रामकथा स्वतंत्र है जबकि दूसरे में वह राक्षस और वानर वंशों के संदर्भ में कही गई है। लगता है हिन्दू विश्वास में राक्षस और वानर जातियों की जो व्याख्या है, उसके निराकरण के लिये इन कवियों ने यह क्रम स्वीकार किया है। स्वयंभू की रामकथा, तुलसी की रामकथा एक सिद्ध रामकथा है। तुलसी के राम अवतार लेते हैं, स्वयंभू के राम, पूर्वजन्म के संस्कारों के कारण जीवन धारण करते हैं। तुलसी के राम की हर लीला का कोई न कोई उद्देश्य है, स्वयंभू के राम के जीवन की भी प्रत्येक घटना का संबंध उनके पूर्वजन्म से है। अभिप्राय यह कि रामकथा एक निश्चित परिधि में घूमती है।

स्वयंभू का पउम चरिउ तीन जिल्दों का महाकाव्य है, परन्तु उसमें रामकथा का वास्तविक प्रारंभ होता है दूसरे भाग

---

१. वद्धमाण मुह कुहर विणिग्गय, रामकहा-णइ एह कमागय।
अक्खर-वास-जलोह मणोहर, सु अलंकार-छन्द मच्छोहर।
दीह समास पवाहा वङ्किय, सक्कय पाइय पुलिगलंकिय।
देसी भाषा उभय तडुज्जल कवि दुक्कर-घग सद्दसिलायल।
अत्थ वहल कल्लोला णिट्ठिय आसासय-सम तूल परिट्ठय।
एह राम कह सरि सोहन्ती पाणहर देवहिं दिट्ट वहन्ति।

से । पहले विद्याधर कांड में परंपरा और राक्षस वानर वंशों का विस्तार से वर्णन है । दूसरे भाग में, विभीषण एक जैन मुनि सागर बुद्धि से पूछता है कि रावण कब तक राज्य करेगा । उत्तर में वह बताते हैं कि दशरथ के पुत्र राम (बलदेव) और लक्ष्मण (वासुदेव) रावण का अन्त कर देंगे । यह सुन कर विभीषण दशरथ और जनक का सिर काटने के लिये जाता है । परन्तु नारद यह रहस्य दो राजाओं को बता देते हैं । वे अपनी लेपमय मूर्ति रखवा देते हैं, विभीषण उन्हीं मूर्तियों के सिर काट कर ले जाता है । इसके बाद ही, राजा जनक और दशरथ कौतुकमंगल नगर जाते हैं । वहां राजा शुभमति की कन्या कैकेयी दशरथ को वरमाला पहनाती है । इस पर, दूसरे राजा उन पर आक्रमण कर देते हैं । इस संघर्ष में कैकेयी राजा की सक्रिय मदद करती है । जीत के बाद दशरथ उसे वर देते हैं । वह उन्हें भविष्य के लिये सुरक्षित रखती है । वह राजधानी अयोध्या लौट आते हैं । उनके चार पुत्र हुए । अपराजिता से राम, सुमित्रा से लक्ष्मण, कैकेयी से भरत, और सुप्रभा से शत्रुघ्न । मिथिला के राजा जनक की कुल दो संतान हुईं—सीता और भामंडल । किसी पूर्वजन्म के वैर के कारण, उसे एक विद्याधर उठा कर ले जाता है । राम का बचपन हमें नहीं सा ज्ञात होता है । एक बार शबर और पुलिंद राजा जनक पर आक्रमण कर देते हैं । जनक दशरथ से सहायता मांगते हैं । दशरथ स्वयं जाना चाहते हैं, परन्तु राम उन्हें मना कर, स्वयं जाते हैं । भिल्लराज को मार कर वह जनक को आश्वस्त करते हैं । जनक अपनी लड़की सीता राम को देने का संकल्प कर लेते हैं । इसी बीच एक अनहोनी होती है । सीता दर्पण में अपने बाल सुलझा रही थी, पीछे से नारद बाबा आ धमके । वह चिल्ला उठी ! सेवक ने आकर नारद मुनि को अपमान के साथ निकाल दिया । नारद जाकर भामंडल को सीता का चित्र बता कर उसे भड़का देते हैं । वह सीता के प्रेम में पागल है । उसकी बुरी हालत देखकर राजा एक विद्याधर के द्वारा जनक को उठा मँगाते हैं । जनक उसे बताते हैं कि सीता राम को दी जा चुकी है । अन्त में निश्चय किया जाता है कि जो समुद्रावर्त और वज्रावर्त धनुषों को चढ़ा देगा, सीतादेवी उसे मिलेगी । मिथिला में दोनों धनुष रखे जाते हैं । राम उन्हें चढ़ा देते हैं । वधुओं के साथ वे अयोध्या लौट आते हैं जहां उनका धूमधाम से स्वागत होता है ।

एक दिन अपने संतरी का जर्जर बुढ़ापा देख कर राजा दशरथ विरक्त हो जाते हैं । इस अवसर पर भामंडल भी वहां आता है । कैकेयी अपने वर राजा से मांगती है । दशरथ भारी हृदय से राम को आदेश

देते हैं कि वे भरत को राज्य देकर बनवास के लिये जाएं। राम, यह आदेश मान लेते हैं। परन्तु भरत राज्य लेने को तैयार नहीं होता। राम बड़ी कठिनाई से उसे समझाते हैं। इस प्रकार बनवास का प्रसंग आते ही कवि का हृदय कुछ भारी हो उठता है। कुछ रुक कर वह आदिनाथ तीर्थंकर को नमस्कार कर वह राम के चरित की विशेषताओं का उल्लेख करता है। कवि कहता है :--

भरहो बद्धए पट्टे तो णिबूढ महाहउ।
पट्टणु उज्झ मुएवि गउं वणवास हो॥
राहउ॥

राम-रावण युद्ध, प्रस्तुत बनवास का ही अनिवार्य परिणाम था। कवि आगे फिर कहता है :--

तहिं मुणि सुव्वय तित्थे
बुहयण कण्ण रसायणु
रावण रामहुँ जुज्झु
तं णिसुणहु रामायणु।

राम के बनवास से दशरथ बहुत दुखी हैं, पर वह सत्य से नहीं डिगते, राम सबसे विदा लेते हैं, राम अपनी माता से बनबास का औचित्य यह कह कर सिद्ध करते हैं कि यदि मैं यहाँ रहूँगा तो तुम भरत से पूरा प्रेम नहीं कर सकोगी। सीता भी राम के साथ है। लक्ष्मण यह सब देख कर आग बबूला हो उठता है। राम उसे समझाते हैं। अपने प्रवास की पहली शाम वे सिद्धकूट जिन मंदिर में बिताते हैं। परियात्र पर्वत पार करते ही उन्हें गंभीर नदी मिलती है। राम सीतादेवी को हथेली पर बैठा कर, नदी पार करते हैं। राम के अभाव में अयोध्या में सन्नाटा छा जाता है। भरत राम को लौटाने के लिये जाते हैं, जब वह अपने लक्ष्य में सफल नहीं होते तो यह प्रतिज्ञा कर लेते हैं कि राम के लौटते ही मैं जिन–दीक्षा ग्रहण कर लूंगा। राम बन में ही भरत को राज्यपट्ट बांध देते हैं। वापस आकर वह सारा हाल अपनी माताओं को बताते हैं।

तापस और धानुष्क वन पार कर राम एक गोठ के पास से निकलते हैं। फिर अरण्यक और चित्रकूट पार कर, वे दशपुर पहुंचते हैं! वहां वे श्री कुटुम्ब का उद्धार करते हैं! उसी से उन्हें सिंहोदर और वज्रकण के युद्ध का पता लगता है। उसके बाद कल्याणमाला रुद्रभूति वालिखिल्य और अरुण गांव के एक गरीब ब्राह्मण का प्रसंग आता है। राम एक वृक्ष के नीचे पहली वर्षा बिताते हैं। एक यक्ष विद्या के बल पर नगरी का निर्माण करता है। राम जिन मंदिरों में दान करते हैं। वह गरीब ब्राह्मण भी दान लेने के लिये आता है। वहां से वे जीवन्त नगर जाते हैं, वहां राजा भरत का लेख आता है। वहां का राजा भरत का विरोध करता है, राम नट के प्रच्छन्न रूप में उसे धर दबोचते हैं। लक्ष्मण के प्रवास की सूचना पाकर राजकन्या आत्म-हत्या करना चाहती है।

लक्ष्मण से उसकी शादी की बात पक्की हो चुकी थी। ठीक समय पर लक्ष्मण उसे मिल जाते हैं। नंदावर्त का राजा अनन्तवीर्य, भरत के विरुद्ध विद्रोह करता है। राम उसे भरत के अधीन रहने के लिये विवश कर देते हैं। राजा अनंतवीर्य दीक्षा ग्रहण कर लेता है। जयन्त पुर होकर, वे तीनों क्षेमांजली नगर पहुंचते हैं। वहां के राजा अरिदमन की शक्ति झेल कर लक्ष्मण जितपद्मा को प्राप्त करते हैं। फिर वे वंशस्थल में कुलभूषण देश भूषण मुनि का उपसर्ग दूर करते हैं। राम सीता को विभिन्न तीर्थों का परिचय कराते हैं। मुनि को ज्ञान की प्राप्ति होती है। वे राम को उपसर्ग का कारण बताते हैं। गरुड़ उन्हें दो विद्याएं प्रदान करता है। मुनि राम को जैनव्रत देते हैं। लक्ष्मण कोई भी व्रत स्वीकार नहीं करता। दण्डकारण्य में पहुंच कर राम एक लतागृह में रहते हैं। कवि उनकी गृहस्थी का सुन्दर वर्णन करता है। सीता मुनि गुप्त सुगुप्त को आहार-दान देती है। उसके प्रभाव से जंगल में पांच महाश्चर्य प्रगट होते हैं। रत्नों की वृष्टि से पक्षिराज के पंख सुनहले हो जाते हैं। सीता भी महामुनि से व्रत ग्रहण करती है। दूसरे दिन क्रौंचनदी पार करने पर लक्ष्मण बांसों के झुरमुट में जा पहुंचता है। वहां उसे चन्द्रहासतलवार मिलती है। तलवार से वह बांस काटता है तो उसमें से एक कटा हुआ सिर गिर पड़ता है! लक्ष्मण अपनी कुटिया में आ जाते हैं। थोड़ी देर में, रावण की बहन चन्द्र नखा आती है और अपने बेटे का कटा सिर देख कर, फूट फूट कर रो पड़ती है। वह हत्यारे को ढूंढती है। सामने राम लक्ष्मण को देख कर मोहित हो उठती है। लक्ष्मण उसे अपमानित कर भगा देते हैं। वह आकर अपने पति से सब वृत्तान्त कहती है। खरदूषण राम पर आक्रमण करते हैं। राम लक्ष्मण को सीता की रक्षा में छोड़, सामना करने जाते हैं। खर युद्ध में मारा जाता है। लेख पाकर रावण उसकी सहायता के लिये आता है। रावण राम की प्रशंसा करता है। सीता के प्रति वह आसक्त हो उठता है। इस काम में वह अवलोकिनी विद्या की सहायता मांगता है। विद्या पहले तो उसे समझाती है, पर वह जब नहीं मानता, तो वह सिंहनाद करती है। सिंहनाद सुनकर लक्ष्मण राम की सहायता के लिये दौड़ते हैं। रावण सूने में सीता का अपहरण कर ले जाता है। जटायु रावण से संघर्ष कर अपने प्राण गंवा बैठता है। रास्ते में विद्याधर रत्नकेशी रावण का विरोध करता है, पर वह हार जाता है। सीता को रावण उपवन में ठहरा देता है। इधर राम उसके वियोग में दुखी हैं, वह पागल जैसा प्रलाप करते हैं। एक जैन साधु उन्हें संसार की नश्वरता का पाठ पढ़ाते हैं। राम की समझ में कुछ नहीं आता। वह पेड़ पौधों से सीता का

पता पूछते हैं। लौट कर लक्ष्मण राम की दशा देख कर हैरान है। उसकी समझ में नहीं आता कि वह क्या करे। विराधित राम को धीरज बंधाता है। राम एक जिनमंदिर में आश्रय लेते हैं। स्वयंभू की रामकथा का यह उलझनभरा प्रसंग है। इधर सीता दुखी है उधर राम। रावण अलग परेशान है। इस पर भी बहन चन्द्रनखा उसे पति का बदला लेने के लिये उसे भड़का रही है। मंदोदरी जब देखती है कि उसका पती किसी भी हालत में नहीं मानेगा, तो वह सीता देवी को समझाने जाती है। सीता उसे दो टूक जवाब देती है। रावण की लाचारी का मुख्य कारण यह है कि उसने मुनि अनन्तवीर्य से यह व्रत लिया कि वह परस्त्री से जबर्दस्ती नहीं करेगा। भय और प्रलोभन, दोनों सीता पर काम नहीं करते। विभीषण सीता को सांत्वना देता है और अपने भाई को बुरा भला कहता है। रावण की मंत्री-परिषद् उसकी विरहावस्था पर गंभीर मंत्रणा करती है।

धीरे धीरे राम की शक्ति बढ़ रही है। खर-दूषण के युद्ध में राम का पराक्रम देख कर सुग्रीव उनकी शरण में आता है। राम नकली सुग्रीव से उसकी पत्नी वापस दिलाते हैं। सुग्रीव, विद्याधर सूर्यरव का पुत्र है। सुग्रीव सीता की खोज में लगता है। विद्याधर रत्नकेशी से सीता का पता पाने में वह सफल होता है। वह इसकी सूचना राम को देता है। परन्तु रावण से सीता का उद्धार, वह एक प्रकार से असंभव मानता है। तब लक्ष्मण कोटिशिला (एक शिला जिसके बारे में यह प्रसिद्ध था कि जो इसे उठा लेगा वह रावण को समाप्त कर देगा) उठा कर सुग्रीव को आश्वस्त करते हैं। सुग्रीव के अनुरोध से हनुमान के पास दूत जाता है। हनुमान खर दूषण का दामाद है, इसलिये वह राम का विरोधी है। परन्तु किसी प्रकार उसे राम के पक्ष में कर लेता है। हनुमान राम से मिलने आते हैं। राम उन्हें संदेशवाहक बनाकर लंका भेजते हैं। कई अवरोधों को पार कर, हनुमान लंका में प्रवेश करते हैं। उनकी भिड़न्त लंका सुन्दरी से होती है, बाद में दोनों प्रणय सूत्र में बंध जाते हैं। हनुमान विभीषण के घर ठहरते हैं। विभीषण उन्हें अपना निश्चय बताता है। हनुमान सीतादेवी से भेंट कर उन्हें ले चलने का प्रस्ताव करते हैं, परन्तु सीता सम्मानपूर्वक जाना ही पसन्द करती है। हनुमान पहचानों की अदला-बदली करते हैं। सीता अब प्रसन्न रहती है, इसका रावण पक्ष के लोग गलत अर्थ लगाते हैं। मंदोदरी फिर सीता के पास आती है, पर उसे मुंह की खानी पड़ती है। सीता से विदा होकर हनुमान लंका में उत्पात मचाते हैं! उन्हें बंदी बनाकर रावण के सम्मुख उपस्थित किया जाता है। हनुमान रावण को जैनधर्म की शिक्षा देता है। रावण

असमंजस में है, एक ओर सीता का सौंदर्य है और दूसरी ओर परलोक की चिन्ता। हनुमान वापस आकर राम को सब समाचार देते हैं। राम चढ़ाई का निश्चय कर लेते हैं। उनका पहला पड़ाव हंसद्वीप पर होता है।

राम की सेना के नगाड़ों की आवाज़ सुनकर निशाचरों में हलचल मचने लगती है। विभीषण राम से मिल जाता है। भामंडल भी, राम की सहायता के लिये आता है। एक बार फिर अंगद को दूत बनाकर भेजा जाता है। उसका दौत्य असफल होने पर, युद्ध छिड़ जाता है। दोनों दल अपनी अपनी जीत के बारे में आश्वस्त हैं। तुमुल युद्ध के अनन्तर भी जीत का फैसला नहीं हो पाता। लक्ष्मण को शक्ति लगती है। राम की सेना में थोड़ी देर के लिए कुहराम मच जाता है। विशल्या सुंदरी के स्नानजल से लक्ष्मण की शक्ति भाग खड़ी होती है। रावण दूत भेज कर, सीता के बदले समूचा राज्य देने का प्रस्ताव करता है। उसका प्रस्ताव ठुकरा दिया जाता है। रावण नंदीश्वर पर्व की आराधना करता है। वह बहुरूपिणी विद्या की सिद्धि करता है। राम के लोग उसकी साधना में विध्न डालते हैं, पर व्यर्थ। उसे विद्या सिद्ध हो जाती है। रावण एक बार फिर सीता को समझाता है, पर वह टस से मस नहीं होती। अन्त में रावण कई अपशकुनों के बीच युद्ध भूमि में प्रवेश करता है। लक्ष्मण के चक्र से उसके धराशायी होने में देर नहीं लगती। विभीषण और रावण का अन्तःपुर शोकसागर में डूब जाता है। राम सबको सान्त्वना देते हैं। फिर मरघट की ज्वालाओं के प्रकाश में जीवन के चिरन्तन सत्यों का विश्लेषण करते हैं। राम रावण की शवयात्रा में भाग लेते हैं। अन्तिम उत्तरकांड का प्रारंभ रावण की मृत्यु की प्रतिक्रिया से होता है। इसी बीच अप्रमेय नामक एक जैन महामुनि आते हैं जो सबके पूर्व भवों का विस्तार से उल्लेख करते हैं। मंदोदरी, इन्द्रजीत और मेघवाहन, संसार से विरक्त होकर सन्यास ग्रहण करते हैं। राम लक्ष्मण विभीषण के साथ लंका में प्रवेश करते हैं। विभीषण का राज्याभिषेक होता है। राम कुछ दिनों के लिये वहीं ठहरते हैं। इतने में नारद मुनि आकर राम को अयोध्या की खबर देते हैं। वह लंका से अपने घर के लिये जाते हैं। मातृभूमि देखकर राम फूले नहीं समाते। भरत, दीक्षा ग्रहण कर लेता है। राम राज्य का बटवारा कर देते हैं। वह अपनी प्रतिज्ञा पर अटल है। रामराज्य का उदय। राम, लोकापवाद के बहाने सीतादेवी को निर्वासित कर देते हैं। लक्ष्मण इसका विरोध करता है। कवि कहता है कि लोकापवाद एक बहाना था, यथार्थ में राम का मन सीता से फट चुका था।

सुनसान जंगल में उसे राम का साला वज्रजंघ मिलता है। वह सीता को अपने घर ले जाता है। वहां वह दो पुत्रों को जन्म देती है। लवण और अंकुश। वे बहुत सी धरती जीतते हैं, अन्त में राजा पृथु पर आक्रमण करते हैं। राजा उन्हें अपनी कन्याएं प्रदान करता है। नारद मुनि से सीता निर्वासन की घटना जानकर, दोनों कुमार अयोध्या पर आक्रमण कर देते हैं। अन्त में दोनों का मिलाप होता है। इसका श्रेय नारद मुनि को है। लवण अंकुश का अयोध्या में स्वागत होता है। सबको सीता की अनुपस्थिति खलती है। राम सीता को लेने एक दल भेजते हैं। सीता किसी प्रकार आती है। राम निर्दयता से उसके ऊपर शंका प्रगट करते हैं। सीतादेवी डरती नहीं, वह अग्निपरीक्षा का प्रस्ताव रखती हैं, और उसमें वे खरी उतरती हैं। राम सीता को बधाई देते हैं और घर चलने का अनुरोध करते हैं। परन्तु सीता इसके लिये प्रस्तुत नहीं। वह जानती है कि दूसरों के कहने पर राम ने जो संताप उसे दिया है, सैंकड़ों मेघ बरस कर भी, उसे शान्त नहीं कर सकते। वह दीक्षा ग्रहण कर लेती है। यह सुनकर राम विह्वल हो उठते हैं। सकल भूषण महामुनि को देख कर उनका मोहजाल कट जाता है। विभीषण की प्रार्थना पर महामुनि सभी लोगों के पूर्व-भवों का कथन करते हैं, धर्म का उपदेश भी वह देते हैं। अन्त में गौतम गणधर राजा श्रेणिक के अनुरोध पर भविष्य कथन करते हैं। कारणवश, भामंडल और हनुमान समझाता है। उन्हें कुछ शांति मिलती है। राम को केवल ज्ञान की प्राप्ति होती है। सीतेन्द्र वापस आकर राजा दशरथ का भविष्य पूछता है। अन्त में राम शाश्वत स्थान को प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार पांच कांडों और ९० संधियों में समाप्त होने वाली यह रामकथा काव्य पिता और पुत्र दोनों के द्वारा लिखा गया। ८२ संधियां पिता ने लिखीं और शेष आठ उसके पुत्र त्रिभुवन स्वयंभू ने। प्रश्न उठता है कि कवि ने अपनी कृति को पूरा छोड़ा या अधूरा। इसके भिन्न-भिन्न उत्तर दिये गए हैं। मेरे विचार से इस पर स्वयंभू के दृष्टिकोण को देखना चाहिए। उन्होंने राम-रावण युद्ध के प्रसंग में राघव चरित की जिन विशेषताओं का उल्लेख किया है उनमें एक 'सीता का सतीत्त्व' भी है। स्वयंभू द्वारा लिखित ८२वीं संधि सीता निर्वासन के साथ समाप्त हो जाती है। कवि के दृष्टिकोण से सीता को पूर्ण सतीत्व उसके दीक्षा लेने में है। अतः यही मानना चाहिए कि स्वयंभू अपनी कृति पूरी नहीं कर सके थे, उसे उन के पुत्र ने पूरा किया। यदि स्वयंभू के काव्य को ८२ वीं संधि पर समाप्त माना जाय तो उसके अन्त में कवि के कुछ दार्शनिक निष्कर्ष होने चाहिएं, जैसा कि नियम है, पर वे वहां नहीं हैं। पहले विद्याधर कांड में वानर राक्षस और

विद्याधर जातियों के विकास की कथा है। दूसरे अयोध्याकांड में कैकेयी के विवाह से लेकर सीता के अपहरण तक की कथा आ जाती है। तीसरे सुंदरकांड में राम की विराधित सुग्रीव और हनुमान से भेंट होती है। सीता का पता लगता है और हनुमान दूत बन कर जाते हैं। युद्धकांड में रावण की हार होती है। मंदोदरी आदि जिन दीक्षा ग्रहण करते हैं। राम इसे पसन्द नहीं करते।

एक दिन स्वर्ग में इन्द्र देवताओं से कहता है कि राम को संसार से विरक्त किस प्रकार किया जाय। दो देवता स्वर्ग से आकर कहते हैं कि 'राम मर गए'। यह सुनते ही लक्ष्मण के प्राण पखेरू उड़ जाते हैं। राम भाई की मृत्यु पर दुःख से पागल हो उठते हैं। वह विश्वास ही नहीं कर पाते कि उनका भाई मर सकता है। बड़ी कठिनाई से राम को उक्तदेव नाटकीय ढंग से यह समझा पाते हैं। राम दीक्षा लेकर, कोटिशिला पर तप करने लगते हैं। इतने में सीता का जीव, जो स्वर्ग में इन्द्र बना था, राम को विचलित करना चाहता है। उन्हें अपनी साधना में अडिग देखकर, वह नरक में जाकर रावण और लक्ष्मण को मिलता है। उत्तर कांड में विभीषण की राजगद्दी से लेकर, बाद की सभी घटनाएं आती हैं। इस कांड की १३ संधियों में ८ त्रिभुवन स्वयंभू की हैं। कथा का समापन करते हुए त्रिभुवन रामायण के पांच पर्याय देता है—"चेष्टित, अयन, चरित, करण और चारित्र"। उसके अनुसार राम के चेष्टित को रामायण कहते हैं। अन्त में वह, आरोग्य, समृद्धि, शान्ति और सुख की विश्वकामना के साथ काव्य समाप्त करते हुए यह आशा करता है कि उसकी रामकथा रूपी कन्या को, विंदई (आश्रयदाता, जिसके अनुरोध से त्रिभुवन ने पउमचरिउ के शेष भाग को पूरा किया) का मन रूपी पुत्रवरण करे।

○ ○ ○

(पृष्ठ १० का शेष)

कलघूग	(मचाणा) (आफत उतारना)
खख्या	(आशंका)
खचैडू	(बुद्धिहीन, बेअकल)
खड़ंग	(सूखी रोटी)
खुरंड	(पपड़ी)
खेखड़ी	(तरह तरह के आडंबर रचाने के लिए खेड़ी खिडाणा' प्रयुक्त किया जाता है।
टिंडवालना	(खोजना)
डां	(नाम)
झॉपफू	(मोटे मुंह और भद्दे बालों वाला)

● ● ●

गुप्ता जी का जीवन-दर्शन

रमेशचन्द्र गुप्त

स्वर्गीय राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के जीवन-दर्शन पर विचार करने से पूर्व यह स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा कि जीवन-दर्शन से हमारा तात्पर्य क्या है? जीवन के विभिन्न पक्षों के प्रति विशिष्ट दृष्टि का होना ही जीवन-दर्शन है। जीवन-दर्शन पर किसी का व्यक्तिगत अधिकार नहीं है। प्रत्येक मनुष्य इस दिशा में स्वतन्त्र दृष्टि का निर्माण कर सकता है। जीवन के प्रति प्रत्येक व्यक्ति की निजी विचारधारा होने पर भी यह आवश्यक नहीं है कि वह उसे व्यक्त भी करे। हां, कवि अथवा लेखक अपवाद–स्वरूप हैं–वे अपनी रचनाओं में स्थान-स्थान पर इसका संकेत करते रहते हैं। समर्थ कवियों की कृतियों में तो जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण अनिवार्य रूप से विद्यमान रहता है। प्रतिभाशाली कवि या लेखक जीवन के महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार किए बिना रह ही नहीं सकता। संभवतः इसी कारण कॉलरिज ने कहा है कि संसार में कोई भी ऐसा महान् कवि नहीं हुआ जो साथ-ही साथ महान् दार्शनिक भी न रहा हो। यहां यह ज्ञातव्य है कि 'दर्शन' से कॉलरिज का अभिप्राय जीवन को देखने की एक विशिष्ट तथा क्रमबद्ध प्रणाली से ही है।

यह भी विचारणीय है कि जीवन-दर्शन और संस्कृति एक-दूसरे के पर्याय हैं अथवा इनमें किसी प्रकार का वैभिन्य है। वस्तुतः व्यावहारिक और तात्विक दृष्टि से इन दोनों में अभेद है। जीवन-दर्शन के अन्तर्गत हम जिन तत्त्वों पर विचार करते हैं वही संस्कृति के भी अंग हैं। विभिन्न विद्वानों ने संस्कृति पर विचार करते समय उसे जीवन तथा जिन्दगी के सन्दर्भ में ही ग्रहण किया है। कवि दिनकर के अनुसार "संस्कृति जिन्दगी का एक तरीका है और यह तरीका सदियों से जमा होकर उस समाज में छाया रहता है। जिसमें हम जन्म लेते हैं।"[१] अतः यह स्पष्ट है कि जीवन-दर्शन और संस्कृति लगभग एक ही दिशा की ओर इंगित करते हैं।

---

१. संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ ६५३

गुप्तजी महाकवि होने के साथ-साथ भारतीय संस्कृति के अन्यतम आख्याता थे । उनके काव्य में स्थान-स्थान पर भारतीय संस्कृति का सुन्दर निरूपण हुआ है । तथा इसी सन्दर्भ में उनका जीवन-दर्शन भी उभर कर सामने आ गया है । 'साकेत' में उनकी जीवन विषयक मान्याताएं अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत तथा सुसम्बद्ध रूप में अभिव्यक्त हुई हैं । विवेचन की व्यवस्था एवं सुविधा के लिये गुप्त जी की इन मान्यताओं पर हम विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत विचार करेंगे ।

१. **व्यक्ति और समाज**—मनुष्य के मन में प्रायः प्रश्न उठता है कि उसका जीवन केवल अपने सुख दुःख के लिये है अथवा जिस समाज में वह रहता है उसके प्रति भी उसका कुछ कर्त्तव्य है ? मानव-कल्याण का श्रेष्ठ मार्ग तो यही है कि वह केवल व्यक्तिगत सीमा में आबद्ध न रह कर स्वयं को समाजोन्मुखी बनाने का प्रयास भी करे । व्यक्तियों के सामूहिक रूप का नाम ही समाज है । समाज का सुख-दुःख प्रकारान्तर से व्यक्ति से ही सम्बन्ध रखता है । अतः व्यक्ति और समाज दो पृथक् वस्तुएं न होकर अन्योन्याश्रित हैं। गुप्त जी की भी यही मान्यता है। वे व्यक्ति और समाज में संतुलन रखने के पक्षपाती हैं । उनके व्यक्ति का आदर्श अपने तक ही सीमित न होकर समाज-सापेक्ष है—

"एक तरु के विविध सुमनों-से खिले,
पौरजन रहते परस्पर हैं मिले ।"

डा० कमलाकान्त पाठक ने इस सम्बन्ध में अपने शोध-प्रबन्ध में ठीक ही लिखा है कि—"गुप्त जी ने व्यक्ति-निरपेक्ष समाज अथवा समाज-निरपेक्ष व्यक्ति की कल्पना नहीं की ।"१

२. **मर्यादा एवं शिष्टाचार**—गुप्त जी के जीवन-दर्शन की सब से बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने समाज में मर्यादा और शिष्टाचार के पालन पर विशेष बल दिया है। पश्चिमी सभ्यता की अनुचित स्वच्छन्दता और अमर्यादित दृष्टिकोण को वे भारत में नहीं देखना चाहते । 'साकेत' में उनके राम की स्पष्ट स्वीकारोक्ति है कि "मैं आया, जिसमें बनी रहे मर्यादा" । राम की इस उक्ति को यदि कविवर मैथिलीशरण गुप्त का सिद्धान्त-वाक्य मान लिया जाय तो अनुचित न होगा । साकेत में अन्यत्र भी उन्होंने यही प्रतिपादित किया है —

"जितने प्रवाह हैं, बहें—अवश्य बहें वे
निज मर्यादा में किन्तु सदैव रहें वे ।

मर्यादा-प्रेमी होने के साथ-साथ गुप्तजी के पात्रों में शील-सौन्दर्य की पूर्ण सन्निहिति रही है । डा० उमाकान्त गोयल के अनुसार, "गुप्त जी का तो काव्य

---

१. मैथिलीशरण गुप्त, व्यक्ति और काव्य, पृष्ठ १११

ही मानवीय सम्बन्धों का काव्य है । अतः उसमें सुष्ठु शिष्टाचार के राशि-राशि निदर्शन सहज उपलब्ध हैं ।"[१] एक-दूसरे से वार्तालाप करते समय उनके पात्र आर्य, आर्या, आर्यपुत्र, नाथ, शुभे, भद्रे, प्रिये आदि सम्बोधनों का प्रयोग करके अपनी शिष्टता का परिचय देते हैं । देखिए —

(अ) "आर्य, छाती फट रही है हाय ।"

(आ) "भद्रे, न भरत भी उसे छोड़ आए हों !"

(इ) "प्रिये, ठीक है, किन्तु हमें भी करना है कर्त्तव्य-विचार ।"

३. **परम्पराओं में विश्वास**—आधुनिक युग में रहते हुए भी राष्ट्रकवि गुप्त जी प्राचीनता के प्रबल पोषक थे । भारत की प्राचीन मान्यताओं के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा थी । 'साकेत' में राम-विवाह, राम-राज्याभिषेक, दशरथ-मरण आदि प्रसंगों के अवसर पर उन्होंने भारत की चिर-प्रचलित रीति-मान्यताओं के अनुसार ही सभी कार्य सम्पन्न कराये हैं । अमंगल, अपशकुन आदि से बचने के लिये माथे पर मंगल-तिलक लगाने, चूड़ियां पहनने, तोरण-पताकाएं अथवा बन्दनवार बांधने आदि का वर्णन इसी आस्था के कारण किया गया है । युद्ध के लिये प्रयाण करने से पूर्व शत्रुघ्न के माथे पर उर्मिला द्वारा मंगल तिलक की व्यवस्था भी इसी कारण की गई है —

"जीतो तुम—श्रुतिकीर्ति ! तनिक रोली तो लाना,
टीका कर दूं, बहन, इन्हें है झटपट जाना ।"

४. **पारिवारिक जीवन**—गुप्त जी मर्यादावादी कवि थे और जीवन में मर्यादा को अंगीकार करने वाला कवि प्रायः पारिवारिक जीवन की सुख-समृद्धि भी चाहता है । इसी कारण गुप्त जी को भी पारिवारिक जीवन का कवि मानना अनुचित न होगा । 'साकेत' में चित्रित रघु-परिवार आदर्श पारिवारिक जीवन का चित्र प्रस्तुत करता है । उसमें गृह-कलह का अभाव है । अयोध्यावासी रघुकुल के इस आदर्श पारिवारिक जीवन से प्रेरणा प्राप्त करते हैं —

"नहीं कहीं गृह-कलह प्रजा में, हैं सन्तुष्ट तथा सब शान्त ।
उनके आगे सदा उपस्थित दिव्य राजकुल का दृष्टान्त ।"

५. **भौतिक समृद्धि**—देश की जनता के प्रतिनिधि कवि होने के कारण गुप्तजी काल्पनिक स्वर्ग के स्थान पर धरती से प्यार करते थे । उन्होंने भौतिक समृद्धि की उपेक्षा नहीं की । इस लोक में उनकी दृढ़ आस्था थी । 'जयभारत' में उन्होंने स्पष्ट कहा है—"खोके यहां सब, वहीं हम पायेंगे क्या ?" (पृष्ठ २७९)

---

१. मैथिलीशरण गुप्त : कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता, पृष्ठ ४६०

उन के द्वारा चित्रित साकेत-समाज में चित्र, मूर्ति, वास्तु, संगीत आदि कलाओं की पर्याप्त उन्नति है। साकेत नगरी के निम्नलिखित वैभवपूर्ण चित्रण से सहज स्पष्ट है कि गुप्त जी भौतिक समृद्धि के प्रति उदासीन नहीं थे --

"बज रही है द्वार पर जय दुन्दुभि
और प्रहरी हैं खड़े प्रमुदित सभी
क्षौभ के छत में लटकते गुच्छ हैं
सामने जिनके चमर भी तुच्छ हैं।"

६. **नारी का स्थान**--मैथिलीशरण जी के जीवन-दर्शन में नारी को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है। कवि ने नारी को पुरुष से किसी प्रकार भी हीन नहीं माना। उनका दृढ़ मत है कि नारी के सहयोग और सहभोग के अभाव में पुरुष निर्जीव हो जाता है। उसके सभी कार्य अपूर्ण रह जाते हैं। संभवतः इसी कारण 'साकेत' में वन-गमन के समय सीता जी राम के साथ चलने के लिये हठ करती हुई कहती हैं--

"मातृ-सिद्धि, पितृ-सत्य सभी,
मुझ अर्द्धांगी बिना अभी --
हैं अर्द्धांग अधूरे ही,
सिद्ध करो तो पूरे ही।"

इन पंक्तियों द्वारा गुप्त जी को यही अभिप्रेत रहा है कि नारी को नर के समान प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए। नारी सम्बन्धी अनुदार दृष्टिकोण उन्हें अमान्य है।

नारियों के प्रति आदर भाव रखने के कारण ही गुप्तजी ने कतिपय उपेक्षित स्त्री-पात्रों को अपना काव्य-विषय बनाया अथवा उनके चरित्र में संशोधन किया। उदाहरण स्वरूप 'साकेत' की उर्मिला तथा कैकेयी को लिया जा सकता है।

७. **प्रभृत्ति अथवा निवृत्ति**--गुप्त जी ने परलोक की कल्पना में ही विचरण नहीं किया, उन्हें इस प्रत्यक्ष दिखाई पड़ने वाले लोक में पूर्ण आस्था थी। उन्होंने मानव की भौतिक उन्नति की उपेक्षा नहीं की। प्रकारान्तर से कहा जा सकता है कि वे प्रवृत्ति-मार्गी थे। उनके अनुसार संयमपूर्ण जीवन-यापन करते हुए इस संसार में ही मुक्ति को प्राप्त किया जा सकता है। प्रवृत्ति-मार्गी होने पर भी गुप्तजी का आदर्श केवल भोग-पक्ष तक ही सीमित नहीं रहा। त्याग को भी उन्होंने समान महत्त्व दिया है। 'साकेत' के पांचवें सर्ग में भगवान् राम ने इन दोनों को जीवन के लिए समान आवश्यक माना है --

"त्याग और अनुराग चाहिए बस, यही।"

वास्तविकता भी यही है कि भारतीय संस्कृति में एक ओर तो आध्यात्मिकता को काम्य माना गया है, तथा दूसरी ओर भौतिक जीवन की भी उसमें एकान्त उपेक्षा नहीं है। तात्पर्य यह है कि दोनों का अपूर्व सामंजस्य ही मानव के लिये कल्याणकारी है।

८. **राजतन्त्र की स्थापना**——शासन-पद्धति की दृष्टि से गुप्त जी को राजतन्त्र का समर्थक कहना अनुपयुक्त न होगा। यद्यपि उन्होंने अपनी काव्य-कृतियो में प्रजातन्त्र अथवा साम्यवाद आदि का प्रतिपादन भी प्रकीर्ण रूप से कर दिया है, किन्तु उनकी दृष्टि अन्ततः राजतन्त्र पर जाकर विराम करती है। 'अजित' नामक काव्य कृति में उन्होंने 'पड़े न कोई प्रजातन्त्र वालों के पाले' (पृष्ठ ३६) कह कर प्रजातन्त्रात्मक शासन-पद्धति का स्पष्ट विरोध किया है। इसके विपरीत 'साकेत' की "राजा हमने राम, तुम्हीं को है चुना" जैसी पंक्तियां इस ओर इंगित करती हैं कि कवि का राजतन्त्र की स्थापना में विश्वास था यद्यपि उन्होंने राजतन्त्र में स्वेच्छाचारिता को स्थान नहीं दिया।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त के जीवन-दर्शन के मूल में आदर्श की भावना रही है। इसी आदर्शवादिता के कारण उन्होंने मर्यादा की आवश्यकता पर बल दिया है और पारिवारिक जीवन को श्रेष्ठ माना है। मर्यादा की विद्यमानता में लौकिक जीवन की सुख-समृद्धि उन्हें इष्ट थी। वे संसार से पलायन नहीं चाहते; हां, संसार में रह कर शील-सौन्दर्य अर्थात् शिष्टाचार की उपेक्षा उन्हें सह्य नहीं।

जीवन-दर्शन की सफल अभिव्यक्ति उसी दशा में की जा सकती है जब कलाकार ने जीवन के प्रति उस दृष्टिकोण-विशेष को स्वयं चिन्तन कर के प्राप्त किया हो। दूसरों की मान्यताओं के आधार पर प्रतिपादित जीवन-दर्शन अधिक प्रभावपूर्ण तथा व्यावहारिक नहीं बन पाता। कहना न होगा कि गुप्त जी का जीवन-दर्शन सम्बन्धी दृष्टिकोण उन के निजी चिन्तन का परिणाम है। वह किसी मतवाद से अनुप्राणित न होकर पूर्णतः निष्पक्ष है। उसे व्यवहार में लाना भी कठिन नहीं। वस्तुतः गुप्त जी के सम्बन्ध में यह कहना अत्युक्ति न होगा कि उन्होंने जिस जीवन-दर्शन का प्रतिपादन किया है वह वर्तमान विश्व के अन्धकारपूर्ण वातावरण में पड़े हुए मानव को सरलतापूर्वक बाहर निकाल कर प्रकाश से परिपूर्ण आनन्द-लोक में ले जाने की पूर्ण सामर्थ्य रखता है।

समर्थ कवि सहृदय के जीवन-दर्शन का निर्माण या उसमें परिवर्तन करने में सक्षम होता है। राष्ट्र कवि होने के कारण गुप्त जी पर दायित्व था कि वे स्वस्थ जीवन-दर्शन को प्रस्तुत करें। अपने इस दायित्व को उन्होंने सफलतापूर्वक निभाया और आदर्श जीवन-दर्शन का रूप हमारे सम्मुख रखा। भारतीय संस्कृति उसमें पूर्णतः सुरक्षित है।

○ ○ ○

साकेत में प्राचीन संस्कृति की झलक

प्रो० दाता राम

संस्कृति की कोई सीमित परिभाषा करना कठिन है। संस्कृति का संबन्ध संस्कार से है। संस्कृत अवस्था का नाम ही संस्कृति है—अर्थात् संस्कृति मानव जीवन की वह अवस्था है जहां उसके प्राकृत रागद्वेषों में परिमार्जन हो जाता है। यह परिमार्जन, यह संस्कार, उसे अपनी स्वाभाविक आकांक्षा-प्रवृत्ति निवृत्तियों के यथार्थ सामञ्जस्य द्वारा करना पड़ता है। एकाकी मनुष्य में जो स्वाभाविक रूप से भाव उठते हैं, उनके मूल में स्वार्थ की प्रेरणा होना अनिवार्य है। अतः उनकी सीमा आत्म साधना तक ही सीमित रहती है, परन्तु जीवन में व्यक्ति का अस्तित्व समाज का अंग स्वरूप ही है, स्वतंत्र नहीं। इसलिये उसे अपने राग विरागों में संयम और समन्वय की आवश्यकता पड़ती है; उनको व्यक्तित्व के स्तर से उठा कर समाज के स्तर पर लाना पड़ता है, अपने को दूसरों की सापेक्षता में देखना पड़ता है। यहीं से संस्कृति का जन्म होता है। दूसरे रूप में हम यूं भी कह सकते हैं कि सामयिक जीवन की आन्तरिक मूल प्रवृत्तियों का सम्मिलित रूप ही संस्कृति है। संस्कृति को प्राप्त करने के लिये जीवन के अन्तस्तल में प्रवेश करना पड़ता है। स्थूल के आवरण के पीछे जो सूक्ष्म का सत्य, शिव और सुन्दर स्वरूप छिपा हुआ है संस्कृति उसको ही पहचानने का प्रयत्न करती रहती है। जड़ता से चैतन्य की ओर, शरीर से आत्मा की ओर, रूप से भाव की ओर बढ़ना ही उसका लक्ष्य है। यह है संस्कृति की आन्तरिक धारणा। अब प्रश्न यह है–संस्कृति का व्यक्त रूप क्या है? सँस्कृति का व्यक्त रूप है–सभ्यता–अर्थात् आचार, विचार, विश्वास, परंपरायें, शिल्पकौशल और माध्यम है कला, साहित्य आदि।

प्रत्येक देश या जाति की अपनी सामाजिक प्रेरणाएं अपनी आशा और विश्वास है। अतः उसकी अपनी संस्कृति भी होती है। जिस पर उसकी जलवायु, भौगोलिक स्थिति तथा उसकी ऐतिहासिक

परंपराओं का प्रभाव होता है । भारत की भी अपनी संस्कृति है । भारतीय संस्कृति अत्यन्त प्राचीन है । गुप्त जी भारतीय संस्कृति के कवि हैं यह उनका सब से बड़ा गौरव है और यही उनकी प्रमुख विशेषता है ।

साकेत प्रबन्धकाव्य है, जिसके चरित्र नायक हैं, भारतीय प्राचीन संस्कृति के सबसे महान् प्रतिष्ठापक भगवान राम । साकेत में गुप्तजी ने राम-रावण युद्ध को ही सांस्कृतिक प्रश्न बना दिया है । यह एक राजा से दूसरे राजा का बैर वर्णन नहीं है । अपितु यह है आर्य संस्कृति का अन्य संस्कृति से संघर्ष और उस पर विजय । भरत, लक्ष्मण तथा अयोध्यावासी सीता को राम पत्नी के रूप में इतना नही देखते जितना भारत लक्ष्मी अथवा आर्य संस्कृति के रूप में ।

राम की विजय एक भारतीय संस्कृति की ही विजय है । साकेत के आदर्श चरित्र है, भरत और राम, प्रधान चरित्र है उर्मिला । उर्मिला के जीवन की विभूति है त्याग । परन्तु इस त्याग में अनुराग का योग है, यह त्याग भावुकता का परिणाम है ज्ञान का परिणाम नहीं । आठवें सर्ग में सीता राम, राम रावण, एवं राम जाबालिका संवाद भी इसी ओर संकेत करता है । इस त्याग का आधार है कर्म ! कर्त्तव्य-शीलता ही चरित्र का सब से बड़ा गौरव है । जीवन को साकेत में संघर्षमात्र कहा है साकेत के प्रत्येक पात्र का चरित्र कर्म-प्रधान है यथा,--

माना आर्य सभी भाग्य का भोग है
किन्तु भाग्य भी पूर्व कर्म का योग है ।

सामाजिक जीवन के लिए मर्यादा पालन अनिवार्य है --

यथा--

निज मर्यादा में किन्तु सदैव रहें वे !

प्रत्येक मनुष्य को यही समझना चाहिए कि--

केवल उनके ही लिये नहीं यह धरणी
है औरों का भी भार धारिणी भरणी
जनपद के बन्धन मुक्ति हेतु हैं सब के
यदि नियम न हों, उच्छिन्न सभी हों कबके ।

प्राचीन भारतीय संस्कृति विधान के मुख्य अंग हैं, वर्ण व्यवस्था और आश्रम धर्म । साकेत में इन दोनों का शुद्ध रूप मिलता है ।

पारिवारिक जीवन समाज का आदर्श परिवार समाज का ही संकीर्ण रूप है, समाज का आदर्श है, परिवार सदृश होना और परिवार का आदर्श है समाज के समान होना । साकेत का समाज ऐसा ही है --

यथा एक तरु के विविध सुमनों-से खिले
पौरजन रहते परस्पर हैं मिले ।

स्त्री पुरुष का सम्बन्ध, पिता पुत्र का संबंध, भाई भाई का संबंध, भाभी देवर का संबंध, सास बहू का संबन्ध, सपत्नियों का परस्पर व्यवहार इत्यादि भारतीय

परिवार के सभी संबंध आदर्श रूप में साकेत में मिलते हैं।

साकेत में साम्यवाद लोकतन्त्र आदि विचारधाराओं का व्याख्यान भी बहुत स्पष्ट रूप में मिलता है, परन्तु कवि ने भारतीय संस्कृति के अनुरूप ही राजतंत्र में आस्था प्रकट की है और साकेत में उसी का प्रतिपादन किया है। भारतीय संस्कृति में राजा का बड़ा गौरव है, राजा की परिभाषा असाधारण है, वह स्वेच्छाचारी अधिकार तृप्त मानव नहीं हो सका। उसके लिये केवल बल, वैभव, प्रतिभा ही पर्याप्त नहीं है—उसकी सब से महान् विशेषता है—लोक-सेवा की भावना। राज्य राजा की संपत्ति नहीं, प्रजा की थाती है, प्रजा के अर्थ हैं — सारा साम्राज्य। राजा सब कुछ स्वेच्छा से कर्ता-धर्ता नहीं है, उस पर व्यवस्थापिका सभा का नियन्त्रण है — यथा — 'वही हो जोकि समुचित हो सभा में। राजा का ज्येष्ठ पुत्र ही राज्य का उत्तराधिकारी होता है, जैसे साकेत में 'मुकुट है ज्येष्ट ही पाता हमारा' परंतु अन्य राजपुत्रों को भी उचित पदवी मिलती है, साकेत के राम को इसका पूरा ध्यान है— वे सीता से कहते है —

"रहेगा साधु भरत का मन्त्र, मनस्वी लक्ष्मण का बल तन्त्र,
तुम्हारे लघु देवर का धाम, मात्र दायित्व हेतु है राम।

केवल यही सब कुछ नहीं, राजा को सद्गुणों का प्रतीक होना चाहिए। साकेत की प्रजा के समक्ष राज-परिवार का पवित्र आदर्श उपस्थित है। इसी लिये उनका जीवन सर्वथा संतुष्ट और शान्त है।

"नहीं कहीं गृह कलह प्रजा में है सन्तुष्ट तथा शान्त।
उनके आगे सदा उपस्थित दिव्य राजकुल का दृष्टान्त।"

प्राचीन भारतीय संस्कृति काल में, राजा प्रजा के मध्य में शासक और शासिता का अंतर नहीं है। पूर्ण हैं, राजा प्रजा की प्रीतियां, प्रजा राजा की प्रकृति है, यह है साकेत के राजा की परिभाषा। इस आदर्श से यदि राजा च्युत हो जाय तो प्रजा को अधिकार है कि वह अपने बल, लोक मत का प्रयोग करे। राजा यदि अपने उत्तरदायित्व का पालन करना भूल जाय और राज्य को अपनी भोग सामग्री बना ले तो इस सम्बन्ध में कवि ने शत्रुघ्न द्वारा अधोलिखित विचार प्रस्तुत करवाये हैं, "दूर हो ममता विषमता मोह!" इतना ही नहीं वह आगे बढ़ता है और साम्यवाद की स्पष्ट घोषणा करता है—

"विगत हो नरपति रहें नरमात्र
और जो जिस कार्य के हों पात्र
वे रहें उस पर समान नियुक्त
सब जियें ज्यों एक ही कुलभुक्त !

परन्तु भारतीय संस्कृति को यह नियम मान्य नहीं, इसीलिये कवि भरत के शब्दों में उसका बड़ा सुन्दर निराकरण करता है --

अनुज उस राजस्व का हो अंत
हंत जिस पर कैकेयी के दंत
किन्तु राजे रामराज्य नितान्त।
विश्व के विद्रोह कर के शान्त।

यदि राजा राज्य से स्खलित हो जाय तो अवश्य ऐसे राज्य का अंत कर देना उचित है परन्तु क्रांति का उपयोग केवल शान्ति व्यवस्था के लिये ही उचित है, कुराज्य का अंत होना चाहिए। सुराज्य का नहीं। रामराज्य तो सर्वथा प्रशंसनीय है। समग्र राज्य के कल्याण के लिए एकराज्य का होना उचित है क्योंकि 'एक राज्य न हो बहुत से हों जहां राष्ट्र का बल बिखर जाता है वहां।'

भारतीय संस्कृति भी इसी का अनुमोदन करती हैं, राज्य में शान्ति-स्थापना के लिये युद्धबल भी आवश्यक होता है, यथा साकेत में--

इसी हेतु है जन्म टंकार का
न टूटे कभी तार झंकार का।।

इस प्रकार साकेत का युद्धबल प्राचीन भारतीय संस्कृति का सूचक है। भारतीयों का आदर्श, त्याग और तप अवश्य रहा है परन्तु जीवन के आनन्द का उपभोग करना वे सभी जानते थे। भुक्ति और मुक्ति के उचित सामञ्जस्य द्वारा ही उनके जीवन में शान्ति का प्रसार होता था। भारत की भौतिक सभ्यता भी अत्यन्त सम्पन्न थी, यहां की, सुख संपत्ति को देख कर विदेशी लोग ईर्ष्या करते थे। साकेत काव्य में सम्पन्न भौतिक जीवन का चित्र प्रस्तुत किया गया है। शत्रुघ्न द्वारा भारत की समृद्धि का वर्णन साकेत में किया गया है। ललितकलाएं भारत में पूर्ण रूप से विकसित थीं--संगीत नाटक, चित्र, शिल्प सभी वस्तु अपने यौवन में थीं, वैद्य नवीन वनस्पतियों की खोज करते थे। सौगन्धिक नव नव सुगंधियां निकालते थे, तन्तुवाय नये नये वस्त्र बुनते थे। धर्म का पूर्ण विकास था। भूमिगर्भ विद्या के विद्वान् भूमिमध्य भाग की खोज करते थे। कृषक बीज वृद्धि का इतिहास रखते थे। सभी परिवारों में तोता मैना पालने की व्यवस्था थी।

साकेत में भारतीय संस्कृति को पूर्ण रूप से ग्रहण किया गया है। यद्यपि संस्कृति का स्वरूप सदा एक जैसा नहीं रहता, उसमें समय के अनुसार परिवर्तन होते रहते हैं, परन्तु यह केवल बाह्य उपकरणों के विषय में सत्य है। संस्कृति के अन्तर्गत एक बार प्रतिष्ठित हो जाने पर फिर सदा स्थिर रहते हैं। भारतवर्ष में वैदिक, जैन, बौद्ध, ब्राह्मण, ग्रीक पौराणिक, मुसलिम, और अन्त में पाश्चात्य यूरोपियन आदि अनेक संस्कृतियों

का जमघट रहा । अतएव भारतीय संस्कृति में देश, काल के अनुसार परिवर्तन होना स्वाभाविक है। फिर भी भारतीय संस्कृति का मूल रूप सुरक्षित रहा है। क्रान्ति के इस युग में प्राचीन संस्कृति के गौरव को सुरक्षित रखने का सब से बड़ा दायित्व कवियों पर है और इस दायित्व को जिस कवि ने जितना पूरा किया—उतना ही वह भारतीय कवि है। साकेत का कवि ऐसा ही भारतीय कवि है। उसकी सार ग्राहिणी दृष्टि ने पूर्णतया संस्कृति के मूल तत्वों को पहिचान कर उनकी प्रतिष्ठा की है। साथ ही स्वस्थ विदेशी प्रभावों का भी भारतीय आदर्शों से समन्वय किया है। साकेत में प्राचीन और नवीन का सामञ्जस्य इस प्रकार हुआ है कि नवीन के लिये उसने सर्वत्र प्राचीन आधार ही चुना है। इसलिये वह उधार लिया हुआ नहीं लगता। प्राचीन में जो बुरा है वह उसे मान्य नहीं। नवीन में जो अच्छा है उसे अमान्य नहीं।

अपनी संस्कृति के पूर्ण समर्थक तथा अनुपम चित्रकार मैथिलीशरण गुप्त जी ने साकेत काव्य की रचना करके जीवित भारत जाति को नवजीवन प्रदान करने का स्तुत्य प्रयत्न किया है। यथा—हिन्दी के महान् कवि संत तुलसीदास, जयशंकर प्रसाद जी ने अपनी रचना में भारतीय संस्कृति का चित्र प्रदर्शित किया—इसी प्रकार मैथिलीशरण गुप्त जी ने आज के युग में साकेत का सृजन करके भारतीयों के हृदय में प्राचीन भारतीय संस्कृति का बीजारोपण किया है।

○ ○ ○



गुरु गोबिन्दसिंह के दरबारी हिन्दी के कुछ पंजाबी कवि

○

डा० सुरेन्द्र माथुर

इस लेख के माध्यम से मेरा उद्देश्य हिन्दी के कुछ ऐसे कवियों का परिचय प्रस्तुत करना है जो गुरु गोबिन्दसिंह के आश्रय में रह कर हिन्दी में काव्य रचना करते थे । इनमें से बहुत से कवियों की लिपि यद्यपि गुरुमुखी रही है, फिर भी उनका हिन्दी काव्य उत्कृष्ट कोटि का बन पड़ा है। मुग़ल शासकों के अत्याचारों के कारण आज इन कवियों में से बहुत कम के जीवन और साहित्य का लेखा-जोखा प्राप्त हो पायाहै। शेष या तो पंजाब प्रान्त में दब गया है या अन्धकार के गर्त में विलीन हो गया । इस दिशा में अधिक खोज की आवश्यकता है । आज जो हस्तलिखित पुस्तक 'सिख रेफ़रेंस पुस्तकालय' में सुरक्षित है उसमें पंजाब के हिन्दी के कुछ ही कवियों का नाम उनकी रचनाओं के उद्धरणों सहित दिया हुआ है । इसमें विशेषकर आलम, राजाराम, सय्यद, तेजभान, वली, चन्द, गोकल, साईदास, बाल्मीक, गोनाल, विहारी, केशो, जादो, गियान, चंदा, नंदलाल, फतामियां, लारडी, सुरंग, खियानी, आडा, जगतभान, महानन्द, नानक और देवा के नाम गिनाए गए हैं ।

आज हिन्दी अनुसंधान क्षेत्र में प्रगति होने के बाद भी लोगों की दृष्टि उन कवियों की ओर से उदासीन सी रही है। राष्ट्रभाषा हिन्दी के इन कवियों की काव्य-रचनाओं को एकत्रित करने की आवश्यकता आज भी बनी हुई है । इनमें से कुछ कवियों की रचनाएं हिन्दी के प्रसिद्ध कवियों से किसी प्रकार भी कम महत्त्व की नहीं हैं । गुरु गोबिंदसिंह के दरबारी कवियों की संख्या कुछ लोग ५२ बतलाते हैं और कुछ ७२ तक । इन समस्त कवियों के काव्य में विशेष रूप से वीर रस का, आध्यात्म का एवं सिखों के धार्मिक आदर्शों और मान्यताओं का प्रतिपादन ही किया गया है । आगे हम

इस समस्या का समाधान न करके केवल कुछ कवियों का संक्षिप्त परिचयमात्र ही दे रहे हैं :—

चन्दन—ब्राह्मण जाति का कवि था। इसने गुरु गोबिन्दसिंह की वीरता, उदारता, दानशीलता, और विद्वत्ता की प्रशंसा सुनकर इनका आश्रय स्वीकार किया था। इस कवि ने दरबार में अपनी योग्यता का प्रदर्शन एक सवैयेमात्र से किया था—यथा —

नव सात तिये, नव सात किये,
नव सात पिये, नव सात पियाए।
नव सात रचे, नव सात बदे
नव सात पिया पहि दायक पाए।
जोत कला नव सातन की——
नव सातन को मुख अंचर छाए।
मानहुँ मेघ के मण्डल में——
कवि चन्दन चन्द कलेवर छाए।।

अब तक चन्दन कवि का कोई भी ग्रन्थ प्राप्त नहीं हो सका है। यह चन्दन कवि संवत् १८४५ वि० में 'काव्याभरण' ग्रंथ की रचना करने वाले 'चन्दन' से भिन्न हैं। कहते हैं कि उपर्युक्त सवैये को सुनकर (प्रसन्न होने के कारण) ही गुरु गोबिन्दसिंह ने इन्हें अपना दरबारी कवि बनाया था।

अमृतराई—लाहौर का निवासी था। छैलराई इन के पिता का नाम था। आनन्दपुर आकर इन्होंने गुरु गोबिन्दसिंह के दरबार में सम्मान पाया था। गुरु की आज्ञा से ही इन्होंने महाभारत के सभापर्व का अनुवाद किया था। एक उद्धरण से यह स्पष्ट होता है कि यह अनुवाद 'सभा परब' के शीर्षक से हुआ था —यथा—

'सभा-परब' तातें बनवायो,
स्रवण जोग कविता मन भायो।
साठ सहस्र रुपया दीना,
सिरोपाउ पशम्बर भीना।

इस कवि के लिये यह अभी भी प्रसिद्ध है कि ये लाहौर किसी भी मूल्य पर छोड़ना नहीं चाहते थे और कहते थे 'पाइए करोर तउ न जाइए लाहौर ते।' उस समय लाहौर कितना सुन्दर नगर था यह उनके एक छन्द से स्पष्ट लक्षित होता है और शायद यही कारण था कि वे इस नगर को छोड़ना नहीं चाहते थे—यथा देखिए—

बाढ़त पुरान कहूँ नाचत निरतकारी,
गावत है गीत कहूँ मीठी धुनि मोर ते।
कौतुक कहानी केल जहां तहां हांसी खेल,
साधन सों मेल, डर हैं न ठग चोर ते।
लौने लौने रूप सभ भूप भेष देखियत,
अमृत सहज सुख साँझ और भोर ते।
रति पति भोग तहां रोग ना बियोग भोग
पाइए करोर तौ न जाइए लाहौर ते।

'गुरु विलास' ग्रंथ से यह भी संकेत मिलता है कि इन्होंने नवरसों पर भी कोई ग्रंथ लिखा था। इनके 'चित्रविलास' नामक ग्रंथ में लाहौर, इरावती, आदि की प्रशंसा का गुणगान भी मिलता है।

अधिकतर कवित, सवैया और छप्पय के माध्यम से इन्होंने गुरु गोबिन्दसिंह की उदारता, यश, पराक्रम आदि का सुन्दर चित्रांकन इस ग्रंथ में किया है। नवरसों का प्राप्त उद्धरण बड़ा ही अनूठा बन पड़ा है देखिए ––

प्रिया प्रेम से शिंगारी, हास्य सों विनोद भाए,
दीनन पै करुणा अनुसारी सुख दीनो है।
कीनो अरि रूंड मुंड रुद्र रस भरयो झुंड,
फौजन सुधारन में वीर रस कीनो है।
डंक सुन लंक भयभीत, शत्रु वाम निन्दा,
विक्रम प्रबल अद्भुत रोस लीनों है।
ब्रह्म ग्यान सम रस अश्रित विराजे सदा,
श्री गुरु गोबिन्द राइ नवो रस भीनो है।

सेनापति––ये गुरु गोबिन्दसिंह के दरबारी कवि थे। 'कवित्तरत्नाकर' के लेखक सेनापति से ये भिन्न हैं। सेनापति इनकी उपाधि थी। गुरुमुखी लिपि में लिखा इनका 'गुरु शोभा ग्रंथ' प्रकाशित भी हो चुका है। दूसरे ग्रंथ का संकेत स्वयं कवि ने इस प्रकार दिया है––

गुरु गोबिंद की सभा मांहि लेखक परम सुजान।
'चाणाकै' भाषा करी कवि सेनापति नाम!!

इनका यह 'चाणक भाषा' ग्रंथ अब तक प्राप्त नहीं हो पाया है। इनके 'गुरु शोभा ग्रंथ' से यह पता चलता है कि आप अपने गुरु पर पूर्ण विश्वास रखने वाले कवि थे। खालसा के आदर्शों के विशेष प्रेमी थे। दूसरों की सेवा करने की इनकी लगन थी। इनकी कविताओं में खालसा के गुण, केश, कृपाण का वर्णन भी मिलता है। युद्ध के दृश्यों के वर्णन में वीर रस का अच्छा संचार हुआ है जो इनके काव्य की सफलता का प्रमाण है। इन्होंने अपने काव्य में दोहा, चौपाई, कवित्त, सवैया और छप्पय का जम कर प्रयोग किया है। इनके कवित्त और छप्पय बड़े अनूठे हैं। गुरु गोविन्दसिंह के अवतार रूप को इन्होंने दोहे में प्रस्तुत किया है ––

निरंकार आकार कर मनसा मन बीचार।
मुकत करन संसार को प्रगट भये करतार।।
करन करावन हार प्रभु समरथ सिंह गोबिंद।
कलाधार परगट भये चहुं दिश भये अनंद।।

कवि सेनापति ने अजीतसिंह का 'युद्ध वर्णन' बड़े ही सजीव रूप में चित्रित किया है। उसकी वीरता को देख कर सूर्य छिप जाता है, पवन मन्द पड़ जाती है और देवतागण प्रसन्न होकर विमानों पर चढ़ कर दृश्यों का अवलोकन करते हैं। देखिए––

ता दिन गढ्यो रण खंभ सिंघ रणजीत धरत पटु
धरत लरज, उठी धूर, भान छिप गए आप घर।
पवन मंद दुरि रहि रैन भई दिवस छपानो,
लरजै सकल अकाश तोप छूटी परभानो।

बज्यो निशान तिहुं लोक में सुन देवतन मन
यों भरो,
चढ़ि चढ़ि विवान देखन चले, सशंकर समेत
नहीं को रहयो ।।

हंसराम—ये प्रमुख दरबारी कवि माने जाते हैं । इनका प्रमुख काव्य ग्रंथ 'भरण करण' है । इस ग्रंथ के आधार पर इनका संवत् १७५२ में विद्यमान होना लक्षित होता है । गुरु गोविन्दसिंह के दरबार के ये सुन्दर कवि थे । इनकी कविताओं पर गुरु जी इन्हें प्रतिदिन के दान और सम्मान के अलावा साठ हजार टके भी दिया करते थे । इस बात का स्पष्टीकरण कवि द्वारा स्वयं एक स्थल पर किया गया है । कवि कहता है—

प्रथम क्रिपा करि राख कर गुरु गोन्विद
उदार ।
टका करे बख्शीश तब मोको साठ हजार ।

गुरु की इस उदारता पर इन्होंने अपनी शुभकामनाएं व्यक्त करते हुए कहा था—"जौ लौं ध्रुव धरनि तरुन तेज राजै जग, तौ लौं गोविंदसिंह तेरे शीश साहबीं ।' 'भरण करण' के अतिरिक्त गुरु की आज्ञा से इन्होंने महाभारत के एक अंश 'करण मरण'[१] का ब्रजभाषा में अनुवाद किया था । कवि ने ग्रंथारंभ गुरु प्रशंसा वाक्यों से किया है । इसी ग्रंथ में कवि ने गुरु गोविंदसिंह की वीरता, विद्वत्ता, उदारता, दानशील भावना, सेना, युद्धीय विजय और दरबारी दृश्यों का चित्रांकन भी प्रस्तुत किया है । यह ग्रंथ वीर रस से सराबोर है । हंसराम ने गुरु को शांति और मुक्ति का दाता कहते हुए लिखा है —

अबध अनाए कहाँ, तिलक बनाए कहाँ,
द्वारका छपाए कहाँ,कहां तन ताईयति है ।
कोविद कहाए कहाँ, बेनी के मुंडाए कहां
काशी के बसाए कहाँ, लाहा लाखीयत है ।
महिम मनाए कहाँ, भूपति रिझाए कहाँ
कहाँ 'हंसराम' जो धरा में धाईयति है ।
चार हूँ बरन ताँके हरन कलेश गुर,
गोबिन्द के चरन मुकति पाईयति है ।।

सैणा—गुरु गोबिन्दसिंह के दरबार का यह सुन्दर लिपिक और कवि था । कहते हैं एक बार किसी अपराध के कारण यह दरबार से भाग गया था । परन्तु कुछ दिन बाद जब उसने अपना एक दोहा चौपाई छन्द लिख कर गुरु के पास प्रेषित किया तो गुरु गोविन्दसिंह जैसे उदारशील व्यक्ति ने उसे क्षमा करके पुनः कार्य पर लगा दिया था । सैणा की अन्य कविताएं प्राप्त नहीं होती हैं केवल यह छन्द ही मिलता है —जिसमें उसने प्रभु से बिछुड़ने, बुरे व्यक्तियों की संगति में पड़ने पर पश्चाताप की भावना को दिखाया है । गुरु की महिमा और गति को भी उसके द्वारा स्वीकारा गया है । यथा देखिए —

जब के प्रभु ते बीछुरे, कीयो क्रिषि को ठाट ।
विषमन संगत हम करी भए जाट के जाट ।।

---

१. इसकी हस्तलिखित प्रति पटियाला पुस्तकालय में आज भी सुरक्षित है ।

अंब का मुख प्रभु कउ दिखराऊँ,
सिमिर नाम नित जाण नहिं जाई ।
नारदादि की मति भरमाई ।

धन्नासिंह—प्रसिद्ध कवि चन्दन का मान-मर्दन करने वाला अभिमानी धन्नासिंह गुरु गोबिंदसिंह का दरबारी सेवक कवि था। कहते हैं एक बार चन्दन कवि से वाद-विवाद हो जाने पर उसने यह चमत्कार पूर्ण छन्द उसे सुनाया था जिसका अर्थ न पाने के कारण चन्दन को मात खानी पड़ी थी। इस छन्द में कवि ने अनेक गूढ़ बातों को ठूंस ठूंस कर भरने का प्रयास किया है, देखिए—

मीन मरे जल के परसे, कबहूँ न,
मरे पर पावक पाए ।
हाथी मरे मद के परसे कबहूँ न,
मरे तन ताप के आए ।
तीय मरे पिय के परसे कबहुं न,
मरे परदेस सिधाए ।
गूढ़ मैं बात कही दिगराज विचार सके न,
बिना चित लाए ।।
कंडल मरे रवि के परसे कबहूं न,
मरे ससि की छबि पाए ।
मित्र मरे मित के मिलवे कबहूं न,
मरे जब दूर सिधाए ।
सिंह मरे जब मांस मिले कबहूं न,
मरे जब हाथ न आए ।
गूढ़ मैं बात कही.........!!

चन्द—चन्दन से भिन्न 'चन्द' नाम का भी एक कवि गुरु गोबिन्दसिंह के दरबार में था। लाहौर निवासी इस कवि के प्राप्त छन्दों से मात्र यही अनुमान लगाया जा सकता है कि यह कवि सब गुरुओं को एक ही रूप में मानता था। अपनी इस भावना को उसने नानक, गुरु गोबिंदसिंह एवं सतगुरु के एकीकरण में व्यक्त किया है, देखिए —

कल मैं भइओ एक मरद नानक है नाम जाको
ताते भए नो एक जोती सुहाइओ है ।
फेर गुरु गोबिन्द सिंह कलगी अवतार हुए
खड़ग धारी होइ महल दसवां कहाइओ है ।
तेईअन मैं आए बीच पैठे समाए
गुर दुनींआं बसाए जाए पाऊंटा बसाइओ है ।
सतिगुर बचन सार मरद गुरका बिचार
गोबिन्दसिंह क्रिपा ते दास 'चन्द'
सुनाइओ है !!

आशासिंह—ये मूलरूप से दरबार के पेशकार थे और साथ-साथ कुछ कविताएं भी कर लिया करते थे। ये सिख थे। परोपकारी और चरित्रवान् होने के कारण गुरु गोबिन्दसिंह की इन पर विशेष कृपा थी। एक बार इसी परोपकार के कारण गुरु जी इन पर कुपित हुए। आशासिंह ने ग्लानि और पश्चाताप के साथ अपनी क्षमा-याचिका कविता के माध्यम से गुरु गोबिंदसिंह के पास लिख कर भेज दी। गुरु जी याचिका देख कर प्रसन्न हुए और उन्हें पुनः काम प्राप्त हो गया। उस याचिका की कुछ पंक्तियां यहां प्रस्तुत की जा रही हैं जिनसे कवि की काव्यात्मक

परिपाटी का सहज अनुमान लगाया जा सकता है, देखिए :—

मुख कारो मेरो करै, करत न पर उपकार।
ताहू को मन करत निज, कारो बदन निहार।
फट जाती दो टूक भई,
रुदन करत लिख जात।
पर स्वारथ उपकार बिन,
मुझे न सुपने शान्त ।।
मेरी खता उर नहिं जानहु,
अपनो लीजै विरद पछानहु।
सरब लच्छ जग मैं इह तोरी,
रबाबंतु मुंच जीव करि जोरी ।।

ननुआ कवि—'इन्ट्रोडक्शन टु पंजाबी लिटरेचर' के पृ० १५७ पर इस ग्रंथ के लेखक श्री मोहनसिंह ने इस कवि को पंजाब के कृष्ण भक्त कवियों के बीच रखा है। ननुआ का नाम भवनदास, ग्वालदास, भगवान, बालकृष्ण, रसकलाल, अनन्तदास, मनहर माधो और जोगी के साथ लिया गया है यद्यपि इस कवि का अब तक कोई कृष्ण भक्ति सम्बन्धी ग्रंथ उपलब्ध नहीं हो सका है। गुरु गाथा का गान इनके एक छन्द में दृष्टव्य है—

लोचन निपट लालची मेरे।
भुक्खे धावें त्रिपित न पावें
सदा रहें गुरु सूरत घेरे।
जोड़े हाथ अनाथ नाथ पहि
अपने ठाकुर को घेरे
'ननुआ' हेर हेर हैराना
गुरु सूरत बिच हरि जो हेरै ।।

हरि कवि—गुरु गोबिन्दसिंह के दरबारी कवियों में ये प्रमुख थे। इनकी कविता वीर रस प्रधान है। अपनी ओजस्वी भाषा में इन्होंने अनेक युद्धों का वर्णन प्रस्तुत किया है। ये वर्णन यह स्पष्ट करते हैं मानो कवि युद्धों में भी गुरु के साथ रहता था। इन के फुटकर छन्द ही प्राप्त हो सके हैं कोई स्वतन्त्र मौलिक ग्रंथ अब तक प्रकाश में नहीं आया है। दृश्यों की सजीवता और अत्यन्त ओजपूर्ण भाषा में प्रस्तुत छन्द निश्चय ही इन्हें भूषण के अत्यधिक निकट ले जाते हैं। इनकी चमत्कारपूर्ण उक्तियों से गुरु जी सदा प्रसन्न रहते थे। सेना के प्रस्थान के समय का एक चित्र देखिए—

भभरयो भभीषन भवन तजि भटकत,
ठहे पैर लंक की निशानन के बाजे ते।
पापर से फूटत धराधर सू चूर होत,
सिन्धु अकुलात राजराजन के गाज ते।
बरनत 'हीर' गुरु गोबिन्द सिंह तिहारे त्रास,
दबत फिरति अरि कंदरान भाज ते।
चूर होत कमठ, दरारे दाघ अरकत,
फटे फन सहस प्रबल दल साजे ते ।।

इनकी रचना का प्रतिपाद्य विषय उत्साह नामक स्थायी भाव को जागृत करना था। स्वाभाविक रूप से वीर रस का परिपाक होने के कारण ही गुरु गोविन्द सिंह इनकी प्रतिष्ठा करते थे और अपने को गौरवान्वित समझते थे। सेना की इस विलक्षण शक्तिमत्ता के वर्णन में

यद्यपि अतिशयोक्ति की मात्रा अधिक है फिर भी उत्साह या उत्तेजना की मात्रा में कोई कमी नहीं दिखाई देती है। कवि की काव्यगत भावनाएं अत्यन्त सुन्दर रीति से अवतीर्ण हुई हैं। और उसमें काव्य कला के प्रत्येक तत्व का सफल सन्निहन हुआ है। प्रत्येक छन्द में विस्तीर्ण भाव सुगुम्फित है। इन के काव्य में वीर रस की आत्मा सजीव रूप में साकार हो सकी है और कवि अपने लक्ष्य की सम्पूर्ति में पूर्ण सफलता उपलब्ध कर सका है।

हाथियों की मार को एक छन्द में बड़े ही ओजस्वी रूप में परिगृहीत किया गया है--

फोरत पहारन चुवत मद धारन जे,
गठन ऊदारन लखे तें बड़ी गत (शरीर) के।
धूरि भेरे धूसरे धरनि धसकति पग,
कज्जल से काटे वे दतारे महा गति के।
गाजे रन साजे, गज ऐसे पीलवान बने,
बरनत हीर महाबीर रतिपत के।
महा अंग भाटे ते विदारे श्री गुविन्दसिंह
डीलन डरारे हठे हिन्दवान पति के।।

कवि की प्रतिभा अपनी पूर्ण शक्ति के साथ अवतीर्ण होकर सजीव छन्दों में मुखरित हो उठी है। न केवल भाव एवं भाषा अपितु शैली, गुण तथा वृत्ति आदि सभी उपयुक्त कला-तत्वों का भी इतना सुन्दर समन्वय इन के छन्दों में उपलब्ध होता है, कि रस विभाव, अनुभाव, स्थायीभाव एवं संचारीभाव के समुचित सहयोग से अपने उद्रेक की चरम अवस्था को प्राप्त कर लेता है और छन्द अध्येता की उत्साह वृत्ति का तुरन्त ही स्पर्श करते हैं और रस की दृष्टि से घनीभूत होकर उसके अन्तस् में पैठते चले जाते हैं। अपने वीर काव्य में हीर ने युद्धीय वातावरण की अत्यन्त सजीव आयोजना की है।

मंगल--गुरु गोविन्दसिंह के दरबारी कवियों में मंगल का महत्वपूर्ण स्थान था। इनकी संवत् १७५३ की रचना 'सलय परम' महाभारत के 'शल्य पर्व' का अनुवाद है। यह अनुवाद कार्य इन्होंने गुरु की आज्ञा से किया था। इनकी रचना की कुछ पंक्तियों से ऐसा ज्ञात होता है मानो गुरु ने कभी प्रसन्न होकर इन्हें 'अरब खरब' की धनराशि भी अर्पित कर दी थी। इस बात को इन्होंने गुरु गोविंद की वंदना के साथ लिखा है --यथा देखिए --

अरब खरब बहु दरब दे, करि कविजन को काज
जौ लौ धरन अकाश, गिरि चन्द सूर सुर इन्द,
तौ लौ चिर जीवै जगत, साहिब गुर गोबिंद।।

पटियाला पुस्तकालय में सुरक्षित, गुरुमुखी लिपि में बद्ध इनकी 'सरल प्रश्न' नामक पुस्तक भी उपलब्ध होती है। इस कृति में गुरु गोबिंद सिंह की उदारता, वीरता, दानशीलता का गुणगान अंकित है। कहीं कहीं पर इस कवि ने ब्रज, पंजाबी और पहाड़ी मिश्रित भाषा के माध्यम से वीररसपूर्ण कवित्त और सवैयों की रचना भी की है। महाभारत के सन्दर्भ में गुरु

का पराक्रम दिखाने के साथ साथ कवि उनकी दानवीरता को बड़े ही सुन्दर शब्दों में व्यक्त करता है–

जाचे ध्रू पायो है अमर पद सुर लोक,
नामा जू के जाचे, दीउ देहुरा फिराई जी ।
विपदा में लंका दीनी जाचे ते विभीषन को,
मंगल सुकवि जांचै मंगल सुनाई जी ।
द्रोपदी नगन होत जाच्यो सभा माहि ठाढ़े,
अम्बर लें अम्बर महि पै रहे छाई जी ।
ऐसो दान दैबो कौन, कोउ सति गुरु बिना,
और कउ न जाचीए बिना गोबिंद राई जी !!

आलम–हिन्दी के प्रसिद्ध कवि आलम का कविता काल आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ३२६ दसवां सं०) संवत् १७४० से केवल सं० १७६० तक ही माना है। उनके शब्दों में ये जाति के ब्राह्मण थे पर शेख नाम की रँगरेजिन के प्रेम में फंसकर पीछे मुसलमान हो गए और उसके साथ विवाह करके औरंगज़ेब के पुत्र मुअज्ज़म के आश्रय में रहने लगे थे । संवत् १७६० के बाद की काव्यरचना का संकेत शुक्ल जी ने नहीं दिया है यद्यपि आलम ने संवत् १७६० के उपरान्त गुरु गोबिन्दसिंह का आश्रय प्राप्त किया था । यहां रहकर भी वे काव्य रचना करते रहे। यह संकेत हमें गुरु जी के 'विचित्र नाटक' की दो पंक्तियों से मिलता है । जहां कहा गया है––'जब बल पार नदी के आयो आन आलमें हमैं जगायो' । आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास में इनकी कविताओं के एक संग्रह 'आलम केलि' का संकेत दिया है और साथ ही यह भी कह दिया है कि इन के कुछ उत्कृष्ट पद ग्रंथों में संग्रहीत मिलते हैं जिनसे इनकी अन्य काव्य ग्रंथियों का निर्देश भी मिल जाता है। आलम के कवित्त बड़े ही सरस बन पड़े हैं' । यथा देखिए ––

प्रेम-रंग पगे जगमगे जगे जामिनि के,
जोबन की जोति जगि जोर उमगत हैं ।
मदन के माते मतवारे ऐसे घूमत हैं,
झूमत हैं झुकि झुकि झंपि उघरत हैं ।
आलम सो नवल निकाई इन नैनन की,
पाँखुरी पदुम पै भँवर थिरकत हैं ।
चाहत हैं उड़िबै को, देखत मयंक-मुख ,
जानत हैं रैनि तातें ताहि में रहत हैं ।।

ये प्रेमोन्मत्त कवि थे । इनकी तरंग के कारण ही 'प्रेम की पीर', या 'इश्क का दर्द' इनके एक एक वाक्य में लबालब भरा हुआ है । इनकी बहुत सी कविताएं गुरुमुखी लिपि में भी मिलती हैं यह गुरु गोबिन्द सिंह के दरबार का प्रभाव ही कहा जा सकता है । कुछ लोग मधवानल कामकंदला को भी इनकी रचना बताते हैं । गुरु गोबिन्द सिंह की यशोगाथा कवि के द्वारा बड़ी ही सुन्दर बन पड़ी है । उदाहरणार्थ एक कवित्त प्रस्तुत है देखिए–

शोभा हू के सागर, नवल नेह नागर हैं,
बल भीम सम, सील कहां लौं गनाइए ।
भूमि के विभूषण, जू दूषन के दूषन,
समूह सुख हूँ के सुख देखे ते अघाइये ।

हिम्मत निधान, आनदान को बखाने जाने,
आलम तमाम नाम आठों गुन गाइए ।
प्रबल प्रतापी पातशाह गुरु गोबिन्द जी,
भोग की सी भौज तेरे रोज रोज पाइए ।

इस उद्धरण से गुरु की दानशीलता और पातशाही स्पष्ट है ।

सुन्दर––ये गुरु गोबिंदसिंह के दरबारी कवि थे । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा उल्लिखित सुन्दर कवि से ये नितान्त भिन्न हैं । सुन्दर-शृंगार, सिंहासन बत्तीसी और बारहमासा आदि इनके कोई ग्रंथ नहीं हैं । वरन् कुछ छन्द ही यत्रतत्र इनके नाम के मिलते हैं जिन के अन्तर्गत कवि ने गुरु गोबिन्दसिंह की उदारता, दानशीलता, यश आदि का गुणगान किया है । गुरु को देवताओं का सिरमौर , कुल का कलश, कामना का कल्पतरु आदि आदि-विशेषणों से मंडित किया गया है । आगे कवि की इस भावना को एक छन्द में देखिए ––

बेदन मंहि शाम सुनो, सिन्धु मिरज़ादा मेरु,
मंडल मही मैं, गुरिआई गुन गाए हो ।
शरम के सागर, सपूतन के सिरमौर,
सुन्दर सुधासर से 'सुन्दर' गनाए हो ।
रचन में दान वानि बानी हरिचंद की सी,
बिदत बिनय बड़े बंस चलि आए हो ।
तेज को तरनि तरवार को परसराम,
गरन मँहि ऐसे गुरु गोबिन्द कहाए हो।।

सुदामा––गुरु गोबिन्दसिंह के दरबारी कवियों में कवि सुदामा भी थे । यह बुंदेलखण्ड के ब्राह्मण थे । इन्होंने गुरु गोबिन्दसिंह की दानशीलता का गुणगान बड़े ही सुन्दर रूप से प्रस्तुत किया था । गुरु को कृष्ण मान कर सुदामा की मित्रता का स्मरण दिला कर इन के द्वारा प्रसन्न किया गया था । अपने एक छन्द में इसी भावना को इन्होंने अंकित किया है–देखिए ––

एक संग पढ़े अवंतका संदीपन के,
सोई सुध आई तो बुलाई बूझी बामाँ मैं ।
पुंगीफल होत तो असीस देतो नाथ जी को,
तंदुल ले, दीजे, कंध लीजे फटै जामा मैं ।
दीन दुआर सुनि कै दयाल दरबार मिले,
एतो कुछ दीनो पाइ अगनत सामा मैं ।
प्रीति करि जाने गुरु गोबिन्द के मानैं,
तातें वहै तू गोबिन्द वहै बाभन सुदामा मैं ।

कुवरेश––ये भी गुरु गोबिन्द सिंह के दरबारी कवि थे । ये प्रसिद्ध आचार्य केशवदास के पुत्र बताये जाते हैं । गुरु के दरबार में इन्हें बड़ा सम्मान मिला था और उन्हीं की आज्ञा से इन्होंने महाभारत के द्रोणपर्व का अनुवाद किया था । यह ग्रंथ संवत् १७५२ में निर्मित हुआ था ऐसा संकेत ग्रंथ से ही मिलता है यथा––

संवत् सत्रह सौ अधिक बावन बीते और
तामैं कवि कुवरेश यह कियो ग्रंथ को डौर ।

इस ग्रंथ के अंतिम अंश में कवि कुवरेश ने सभी गुरुओं की वन्दना भी

अंकित की है जिसमें नानक, अंगद, अमरदास, रामदास, अर्जुनदास, हरिगोबिंद, हरिराम, हरिकृष्ण , तेग बहादुर के साथ साथ गुरु गोबिन्द सिंह का महत्त्व इन शब्दों में प्रदर्शित किया गया है —

गुरु गोबिंद नरिंद हैं तेग बहादुर नंद,
जिनते जीवित हैं सकल भूतल कविबुध ब्रन्द
नदी सतंद्रु तीर तहि शुभ अनन्दपुर नाम,
गुरु गोबिन्द नरिंद के राजत सुभग सुधाम।

उपर्युक्त कवियों के जीवन एवं साहित्य का यहां मात्र संकेत कर दिया गया है। इन के अतिरिक्त भी अनेक हिन्दी के पंजाबी कवि गुरु गोबिंदसिंह के दरबार में थे जिनकी खोज की एवं उन के साहित्य के अध्ययन की आवश्यकता आज भी बनी हुई है।

○ ○ ○



अनुवाद और शब्दउधार की समस्या

(क)

हरिचन्द्र पाराशर

भाषा मनुष्य को मनुष्यता प्रदान करती है। मनुष्य को यदि वाणी का वरदान न मिला होता, तो न तो उसकी मानसिक शक्ति का विकास और निखार होता, और न ही समाज का संगठन हो पाता। भाषा के द्वारा ही एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के निकट आता है, और इसी से समाज का संगठन होता है। जिस तरह भौगोलिक सीमाओं के अनुसार मानवीय सभाज के विभिन्न समुदाय होते हैं, उसी तरह भाषा के भी विभिन्नता समुदाय बन जाते हैं। विभिन्न भाषा समुदायों में भाषाओं की विभिन्नता के विभिन्न स्तर होते हैं। भौगोलिक दूरी के कारण भाषा के विभिन्न रूपों में दुर्बोधता बढ़ती है, और एक सीमा आती है जब कोई दो भाषाएं आपस में एकदम अलग सी दीखती हैं।

मनुष्य मात्र की यह आधारभूत प्रवृत्ति है कि वह अपनी भाषा के अतिरिक्त अन्य भाषा में सक्रिय रुचि रखता है। यह रुचि पढ़े लिखों तक ही सीमित नहीं, अपितु अनपढ़ों में भी आम देखा जाता है कि वे भी साथ वाले विभिन्न भाषी जनपद की भाषा को ध्यान से सुनते हैं, और कुछेक शब्द भी ग्रहण करने का यत्न करते हैं। मनुष्य जैसे ही दूसरी भाषा को जानने लगता है उसका ध्यान सर्वप्रथम इस बात की ओर जाता है कि उस दूसरी भाषा में किन शब्दों और कैसे वाक्यांशों में विचार प्रकट किये जाते हैं। इस प्रकार की सोच विचार ही अनुवाद की ओर पहला पग है।

यदि मनुष्य में विदेशी भाषा को जानने पहचानने की सहज प्रवृत्ति न होती तो एक भाषा समुदाय का दूसरे भाषा समुदाय के साथ कभी भी सामाजिक समागम न हो सकता। मनुष्य और मनुष्य के मध्य की इस खाई पर सेतुबन्धन का कार्य अनुवाद ही करता है। अनुवाद की आधारभूत धारणा यह है कि एक ही विचार विभिन्न शाब्दिक अभिव्यक्तियां धारण कर सकता है, उनके पीछे वैचारिक समानता सम्भव होती है। विचार

का सम्बन्ध तो मानवीय मस्तिष्क के साथ है, इसलिये उसमें तो समानता सम्भव है, परन्तु शब्दों में समानता अवश्यम्भावी नहीं । यह आवश्यक नहीं कि अंग्रेज़ी की "फैमिली" हिन्दी के परिवार के बराबर हो । **शब्द-कोशों में दिए गए तथा-कथित समानार्थक शब्दों में समानता कदापि नहीं होती केवल आसन्नता ही होती है ।** आसन्न शब्दों में से किसी एक शब्द का सही चयन कर सकना अथवा कर लेना ही अनुवादक की पहली समस्या है । शब्दों की **आभासी समानता** (Illusory correspondence) के मायावी रूप से बच निकलना ही अनुवादक की पहली सफलता है ।

जिस तरह दो राष्ट्रों के रीति-रिवाज, खेल तमाशे अलग और विभिन्न होते हैं, उसी प्रकार उनकी भाषाओं में आभासी-समानता वाले शब्दों की वास्तविक आर्थी सीमा अलग सी होती है । शब्दों के प्रोद्भूत फलितार्थ की समझ तभी हो सकती है जब उस भाषा का क्रियात्मक और व्यावहारिक ज्ञान प्राप्ति किया जाए । मुहावरे और अभिव्यक्ति विषयक अन्य शैलीगत बातें राष्ट्रीय जीवन के विकास से सम्बन्धित होती हैं, लोकोक्तियां और कहावतें भी राष्ट्रीय जीवन की पैदावार होती हैं, उनका अनुवाद अक्षरशः नहीं किया जा सकता । एक भाषा की लोकोक्तियों के अनुरूप दूसरी भाषा की लोकोक्तियों को ढूंढकर उनमें से उपयुक्त को छांटना होता है । शब्द चयन के समय अनुवादक का ध्यान समानार्थक शब्दों की ओर होता है और मुहावरों के अनुवाद में तुल्यभाव की ओर । **अक्षरशः रहने के प्रयत्न और मुहावरेदार होने के प्रयत्न के समन्वय का अनुवाद में बहुत महत्त्व है ।** इस समन्वय का आधारभूत सिद्धांत उपयोगितावाद है । अनुवाद का उद्देश्य यही है कि अन्य भाषा के परिधान को हटा कर आवृत्त विचारों को सुबोध किया जाए, अर्थात् उन्हें उस भाषा विशेष से अनभिज्ञ व्यक्तियों के लिये सुलभ बनाया जाए ।

अनुवाद करने से पहले अनुवादक को उस, काल विशेष की प्रवृत्तियों को ध्यान में रखना होता है जिसमें अनुवाद्य पुस्तक के रचयिता ने रचना की थी, इसी तरह मूल लेखक के विचारों और भावनाओं को समझने का प्रयत्न करना होता है, तथा मूल लेखक के पाठकों की भावनाओं आदि का अनुमान करना होता है । इनके बिना अनुवाद को आत्मान्तरण (Metempsychosis) की संज्ञा, नहीं दी जा सकती, अर्थात् अनूदित पुस्तक नें यह गुण नहीं आ सकता कि मूल लेखक की आत्मा को पाठक तक सही रूप में लाया जा सके ।

अनुवाद के सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रश्न ऐसे हैं जिनका उत्तर निश्चित रूप

से नहीं दिया जा सकता :--

(१) (क)--अनुवाद मूल लेखक का समकालीन प्रतीत हो।
(ख)--अनुवाद अनुवादक का समकालीन प्रतीत हो।

(२) (क)--अनुवाद में मूल लेखक की शैली प्रतिफलित हो।
(ख)--अनुवाद में अनुवादक की शैली प्रतिफलित हो।

(३) (क)--अनुवाद में मूल के विचारों की समानता होनी चाहिए।
(ख)--अनुवाद में मूल के शब्दों तक की तुल्यता होनी चाहिए।

(४) (क)--अनुवादक को अनुवाद में मूल की अपेक्षा कुछ घटा-बढ़ी कर देनी चाहिए।
(ख)--अनुवाद में उपर्युक्त प्रकार की कोई भी घटा-बढ़ी नहीं चाहिए

प्रसिद्ध विचारक सैवोरी का विचार है कि अनुवादक को अपना व्यक्तित्व एक दम महत्त्वहीन बना देना चाहिए :--

"He (Translator) must efface himself and allow Rome or Berlin to speak directly to London or Paris".

(Theodire Savory)

अनुवादक तो मूल रचयिता के मन और पाठक के मन के मध्य में एक लड़ी मात्र है। इसी प्रकार का विचार रौज़ेटी ने इन शब्दों में लिखा है :--

"The work of the Translator (and with all humanity be it spoken) is one of some self denial".

—(Rosseti)

आत्म-निरोध के अनुशासन के बिना अनुवाद कदापि मूल के प्रति विश्वसनीय नहीं रह सकता। सच्चे अनुवाद का पहला गुण वफादारी के असूल का पालन है। अनुवादक को इतना ही अधिकार है कि उसकी भाषा मुहावरे, अभिव्यक्ति और वाक्य में सही हो। इससे अधिक कुछ नहीं। मूल लेखक की शैली उसके अपने व्यक्तित्व से भी प्रभावित होती है, और अपने समय के साहित्यिक स्तर से भी। अनुवादक ने अपनी भाषा में से ठीक शब्दों के चयन के द्वारा अनूदित सामग्री की शैली से उपर्युक्त दोनों बातों की रक्षा करनी होती है। इसी में उसके शब्द-चयन का कमाल है।

परन्तु अनुवाद की व्यावहारिक अपेक्षाएं इन सैद्धान्तिक वीथियों से एक दम अलग होती है। अनुवादक की अपनी भाषा में साहित्यिक योग्यता उच्चकोटि की होनी चाहिए। अनुवाद्य विषय विशेष के साथ उसकी जानकारी विश्वसनीय, पक्की और गहरी होनी चाहिए। मूल

लेखक की शैली के साथ उसे सहानुभूति होनी चाहिए। अनुवाद्य भाषा में उसका ज्ञान आलोचनात्मक होना चाहिए। इसके साथ अनुवादक जब तक कर्मिष्ठ, अध्यवसायी, ईमानदार और अन्तर्द्रष्टा न बनेगा, तब तक वह अपने अनुवाद को मूल का प्रतिनिधि नहीं बना सकेगा। अनुवादक को यह समझना चाहिए कि **उसका प्रयत्न ही उसका पुरस्कार है, अनुवाद करते समय जो बौद्धिक आनन्द उसे प्राप्त हुआ है, वही उसका उद्दिष्ट था।** अनुवाद के द्वारा उसने अन्य भाषा के बहुमूल्य विचारों को अपनी भाषा में उल्था कर अपने सहभाषियों की सेवा की है। **सामान्य मानवता को यही उसकी देन है।**

जो व्यक्ति व्यवसाय के रूप में अनुवाद का कार्य करता हो, उसके लिये यह परम आवश्यक है कि वह अपनी भाषा में मौलिक साहित्यिक निबन्ध आदि लिखता रहे, इससे अपनी भाषा में उसका क्रियाशील ज्ञान बढ़ेगा तथा वह निस्संकोच भावसे धारा प्रवाह रूप में अपनी भाषा लिखने में अभ्यस्त हो जायेगा।

अनुवाद की कई श्रेणियां हैं। सब से पुरानी श्रेणी क्लासीकल भाषाओं से आधुनिक भाषाओं में अनुवाद करने की है। क्लासिकल भाषाओं से इतना अधिक अनुवाद हुआ है कि अनुवाद का सामान्य अर्थ ही यह बन गया है कि क्लासीकल भाषा से आधुनिक भाषा में किसी पुस्तक को उल्थाना ही अनुवाद है। क्लासीकल भाषाओं की प्रकृति आधुनिक भाषाओं से एक दम अलग थी, **भाषा के संघटनात्मक रूप के अनुसार उसके भाषियों की विचार शैली में भी अन्तर आता है,** अथवा ऐसे कह सकते हैं कि भाषा के संघटनात्मक रूप के अनुसार अभिव्यक्ति के ढंग में आबद्ध विचारावली का अर्थापन (decoding) एक विशिष्ट ढंग से होता है और उसका पुनः शब्दबन्धन (encoding) भी एक विशिष्ट ढंग में। इसी प्रक्रिया में अनुवाद्य से अनुवाद में अन्तर आ जाता है। इस अन्तर को कम करने के लिये अनुवादक के लिये यह आवश्यक है कि वह मूल लेखक के साथ मानसिक लगाव (Psychical affinity) स्थापित करे।

कविता का अनुवाद अपने आप में एक अलग श्रेणी है। अनुवाद के विचार से कविता को शब्दों की कला कहा गया है, The art of employing words in such a manner as to produce an illusion on the senses; the art of doing by means of words what the painter does by the means of colours.

कविता में छन्द लयात्मक होता है, और भावना ऐन्द्रिक; भाषा अत्यधिक अलंकृत और शब्दक्रम व्याकरणातीत, किसी वस्तु अथवा स्थिति में विशिष्ट

लक्षण मापने की क्षमता होती है, जो हर किसी के बस की बात नहीं । इन्हीं बातों को दृष्टि में रखते हुए यह कहा जाता है कि कविता का अनुवाद असम्भव है । अनुवाद कला के प्रसिद्ध लेखक पोस्टगेट का यह सिद्धांत है कि कविता का अनुवाद कविता में ही किया जाना चाहिए, और यह भी अधिमानतः कवि द्वारा । छन्द के सौन्दर्य-बोध वाले प्रभाव के बिना कविता विनष्ट हो जाती है, इसलिये कविता का अनुवाद गद्य में उपयुक्त नहीं ।

वैज्ञानिक साहित्य के अनुवाद में कुछ अलग प्रकार की समस्याएं होती हैं । उसमें वस्तु का ही महत्त्व होता है, शैली का नहीं । वैज्ञानिक साहित्य के अनुवादक को उस विषय विशेष का पारंगत होना चाहिए, अन्यथा अनुवाद स्पष्ट और सुबोध नहीं होगा । विज्ञान की हर शाखा में कुछेक विशिष्ट शब्द होते हैं, उन शब्दों के पूर्ण अर्थ जाने बिना सही अनुवाद सम्भव नहीं । वैज्ञानिक साहित्य में से पुस्तकों के अनुवाद की अपेक्षा पत्रिकाओं में से निबन्धों आदि का अनुवाद किया जाना अधिक आवश्यक है क्योंकि निबन्धों के अनुवाद से अपनी भाषा में विज्ञान की उस शाखा सम्बन्धी समकालीन जानकारी बढ़ती रहती है, और परिणामस्वरूप विशिष्ट रुचि और विशिष्ट शब्दावली दोनों का विकास होता रहता है । इससे पाठकों के वैज्ञानिक स्वभाव में निखार आता है । इस शाखा के अनुवादक के सामने उद्देश्य "भाष्य की सुस्पष्टि होना चाहिए, क्योंकि इस अनुवाद के पाठक ज्ञान और सूचना के जिज्ञासु होते हैं ।" यहां अनुवादक को "पाठक-विश्लेषण" के चक्र में पड़ने की आवश्यकता नहीं होती । सभी पाठक एक ही प्रकार की शाब्दिक यथार्थता के साथ सम्मिश्रित अभिव्यक्ति की प्रांजलता चाहते हैं । इस अनुवाद में यह विशेषता आ जानी चाहिए कि यह पता न लगे कि अनुवाद किस भाषा से किया गया है । वैज्ञानिक रचना में वाग्मिता और भावना बिल्कुल नहीं होती । यह बात अनुवादक को भली प्रकार से हृदयंगम कर लेनी चाहिए । तभी वह अपने अनुवाद में जानकारी और ज्ञान को प्रेषणीय बना सकेगा । इस प्रेषणीयता में परिशुद्धता होनी आवश्यक है क्योंकि **विज्ञान की एक रचना को एक ही भाषा में दो बार अनूदित करने की आवश्यकता नहीं होती ।**

प्रशासनिक-न्यायिक सामग्री के अनुवाद में साहित्यिक और वैज्ञानिक अनुवाद की समस्याओं के अतिरिक्त एक प्रमुख समस्या यह है कि इसमें प्रयुक्त शब्दावली में कठोर समानता होनी चाहिए । एक ही अधिनियम और उसके सजातीय नियम में विदेशी भाषा के एक शब्द के लिये अपनी भाषा के दो शब्द नहीं चलाए जा सकते, अंग्रेज़ी शब्द प्राईस या तो "मूल्य" होगा या कीमत, दोनों नहीं

हो सकता अन्यथा न्यायालय में उस शब्द की दुविधा के कारण न्याय करने में बाधा पड़ेगी ।

वैज्ञानिक और प्रशासनक-न्यायिक साहित्य के अनुवाद के लिये यथेष्ट शब्दा-वली का पूर्व-निश्चयन अत्यन्त अनिवार्य है। शब्दावली की समस्याएं एक अलग विषय है ।

अनुवाद के विकास का इतिहास भारत की अपेक्षा यूरोप में अधिक व्यवस्थित रूप से उपलब्ध होता है । वहां इसकी प्रथम रेखा ईसापूर्व तीसरी शताब्दी में मिलती है, जिस पहले अनुवादक का नाम रिकार्ड से उपलब्ध होता है वह है एक यूनानी गुलाम लिवियस एण्डरौनिकस जिसे गुलामी से रिहा कर दिया गया था और जिसने ऑडेसी (Odyssey) का अनुवाद लैटिन में किया था। इसके पश्चात् नेवियस और एनियस नाम के लैटिन विद्वानों ने यूनानी नाटकों का अनुवाद लैटिन में किया था। सिसरो और ? टुलस द्वारा किए गए अनुवाद इतिहास प्रसिद्ध हैं। आठवीं नौवीं शताब्दी में सामी राज्य के विकास के साथ बगदाद में अरबी साहित्य के विकास के लिये अन्य भाषाओं से अनुवाद कार्य एक बड़े पैमाने पर शुरू हुआ था । तब वहां कई भारतीय बौद्ध भिक्षुओं ने भी संस्कृत से अरबी में अनुवाद करने में पर्याप्त सहायता दी थी । वहीं बगदाद में अरस्तु, पैलेटो, हिप्पोक्रेट, गैलन तथा अन्य यूनानी विद्वानों की कृतियों के अनुवाद सीरिया के विद्वानों ने अरबी में किये थे । इन्हीं दिनों लहासा में भारतीय भिक्षुओं ने संस्कृत ग्रन्थों के तिब्बत की भोट भाषा में अनुवाद किए और वहां से वे अनुवाद चीनी में हुए । ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में टोलेडो में अरबी भाषा से लैटिन में अनुवाद आरंभ हुए । इस तरह पहले यूनानी अरस्तू का अनुवाद सीरियन भाषा में हुआ, फिर सीरियन से अरबी में, और तब अरबी से लैटिन में । टौलेडो में एक सौ साल तक बहुत बड़ा कार्य होता रहा । सन् ११४१–४३ में रौबर्ट डी रीटाइन ने कुरान का पहला अनुवाद लैटिन में किया था ।

इन्हीं दिनों की एक विशेष घटना यह है कि महात्मा बुद्ध की एक गाथा यूनानी में ईसाईयत रंग में लिखी हुई थी । यूनानी से उसका अनुवाद लैटिन में (Liber Ges'orum Barlaamet Josaphent नाम से हुआ। सभी युरोपी भाषाओं और ईसाई चर्चों में इसका अत्यधिक प्रभाव रहा । **बौद्ध धर्म के दो नायक यूरोपी ईसाई समझे गए, यह अनुवाद का करिश्मा है ।**

चौदहवीं से सोलहवीं शताब्दी तक युरोप की विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं में कई प्रकार के अनुवाद होते रहे ।

इंगलैंड में प्रथम एलेज़बेथ का युग अनुवाद का प्रथम युग था, और द्वितीय एलेज़बेथ का युग अनुवाद का दूसरा महत्त्वपूर्ण युग । ये दोनों युग इंग्लैंड में साहस और खोज के युग थे । **अनुवादकों ने भी योगदान दिया, वे भी अन्य भाषाओं के पास गए, वहां की उपयुक्त विचारावली को अपनी भाषा में जुटा कर ले आए, मानों अन्य देशों की पूंजी जीत कर आए हों ।** इन्हीं दिनों भारत में संस्कृत और फारसी के पारस्परिक अनुवाद हुए ।

उन्नीसवीं शताब्दी में तो टौमस कारलाईल, बाइरन शैली और लौंगफैलो जैसे प्रसिद्ध साहित्यकारों ने अनुवाद का कार्य किया । सन् १८६१ में मैथियों आरनाल्ड का प्रसिद्ध निबन्ध " On Translating Hcms" लिखा गया । इस निबन्ध में काव्य के अनुवाद के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण विचारविमर्श है । इसके अतिरिक्त डराइडन के अनुवादकला सम्बन्धी विचार महत्त्वपूर्ण हैं ।

आधुनिक औद्योगिक सभ्यता में अनुवाद की मांग दो कारणों से बढ़ती जा रही है । एक तो यह कि हम क्लासीकल साहित्य पढ़ना चाहते हैं परन्तु क्लासीकल भाषा नहीं सीखना चाहते । दूसरा यह कि हम ज्ञान-वृद्धि के उद्देश्य से विभिन्न भाषाओं के समकालीन साहित्य पढ़ना चाहते हैं । ये दोनों मांगें अनुवाद द्वारा पूरी होती हैं । भारत में एक तीसरी मांग है अंग्रेज़ी के स्थान पर हिन्दी आदि का प्रचालन । यह प्रचालन भी अनुवाद की सहायता का अपेक्षी है ।

अनुवाद की सबसे बड़ी समस्या यह है कि अन्य भाषाओं के विचारों को अपनी भाषा में उल्थाते समय शब्दों की कमी को किस प्रकार पूरा किया जाए । इस सम्बन्ध में भाषाशास्त्रीय 'शब्द-उधार' के साधन को अपनाना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । 'शब्द-उधार' वाले साधन को अंग्रेज़ी ने सर्वाधिक अपनाया है । हम यहां उसी का उदाहरण विस्तृत रूप से प्रस्तुत करते हैं ।

(ख)

शब्दावली के विकासार्थ अंग्रेज़ी का उदाहरण

यूरोप में आर्य लोगों का प्रस्थान और वास किसी बड़े और संगठित अभियान या उपक्रम का परिणाम नहीं था, वरन् वे लोग वहां छोटी-छोटी टोलियों में गए और अलग-अलग बसे । तुलनात्मक व्याकरण के अध्ययन से यह बात एक दम स्पष्ट हो जाती है कि बाद में आने वाली टोली पहले बसी टोली को या तो आगे धकेल कर खुद उसकी जगह बस गई, या उसमें से होकर गुज़र गई और उस पर अपना कुछ प्रभाव छोड़ गई । यदि आरंभ में आर्यों की दो धाराएं मान ली जाएं ......दक्षिण-पूर्वी और उत्तर-पश्चिमी तो कहना होगा कि दक्षिण-पूर्वी धारा की

प्रथम टोलियां जब ईरान और सिन्धु नदी के आस पास बस कर ज़ोरास्त्री और ब्राह्मणी रूप में प्रकट हो रही थीं, तब ब्रिटेन में उत्तर-पश्चिमी धारा की कैलट टोली बस रही थी । उसके बाद ब्रिटेन में ट्यूटौनी, एंग्ली, सैक्सनी, और नार्मनी टोलियां पहुंचीं । कैल्ट टोली के आर्य लोग इंग्लैंड, वेल, स्काटलैंड और आयरलैंड में बस गए थे । उनकी जीवन-शैली आदिम प्रकार की थी उसके पश्चात पैगन रोम वहां गए , इन्होंने इंग्लैंड के थोड़े से भाग पर बस्ती स्थापित कर ली , परन्तु यह बस्ती चिरस्थायी नहीं रही । एंग्ल और सैक्सन नामक टोलियों ने अपने सैनिक और धर्म-प्रचारत्मक उपक्रम से वहां के इतिहास को बदल दिया । कुछ ही समय बाद स्कैंडैवी पोतों पर ट्यूटोनी टोली वहां आ धमकी, यह टोली अपने प्रभाव की छाप अभी लगाने को थी कि नार्मनी टोली आ गई । आर्यों की टोलियों के इस प्रकार के आगमन को हम तरंग और हिलोर की छपछपाहट का एक खेल कह सकते हैं । ओवेन बारफील्ड के शब्दों में Settlement of the Aryans in this country (England) is to be reminded irresistibly of the rhythemic wash and backwash, the little accidental interplays of plash and ripple, which accompany the tide as it fills an irregularly shaped pool.

इस हिलोर और तरंग की प्रत्येक छपछप ने भाषा पर कुछ न कुछ अपना प्रभाव अवश्य छोड़ा । इसके स्पष्ट संकेत इंग्लैंड के दरियाओं के व्यक्तिवाचक संज्ञा शब्दों में मिलते हैं । सबसे अधिक स्पष्ट प्रभाव पांचवीं-छटी शताब्दी में आने वाले एंग्लो-सैक्सन टोलियों का है । सन् ५९७ में जब अगस्टाईन इंग्लैंड में उतरा, तब मानों ईसाईयत रोम से इंग्लैंड में राजनयिक रूप में पहुंची । नौवीं-दसवीं शताब्दी में जब स्कैंडेविया के डेन लोग इंग्लैंड में आए, तब वे लोग वहां के लोगों के साथ अच्छी तरह घलमिल गए, और परिणामस्वरूप डेन लोगों की भाषा के बहुत से शब्द इंग्लैंड की स्थानीय भाषा में मिल गए । भाषा-विज्ञान की दृष्टि से यह कहा जाता है कि सर्वनाम प्रभाव से अछूते रहते हैं, परन्तु इंग्लैंड की स्थानीय भाषा में 'दे', 'देयर', 'देम', 'शी' सर्वनाम, अपने न होकर स्कैंडेवियन भाषा के हैं । इस तथ्य से अनुमान लगाया जा सकता है कि अंग्रेज़ी भाषा को ग्रहण और पाचन शक्ति आरंभ से ही कितनी महान् और तीक्ष्ण है ।" "लॉ" और "हस्बैंड" जैसे सामाजिक महत्त्व के शब्द भी स्कैंडवी भाषा के हैं क्योंकि इंग्लैंड में डेनिश प्रभुत्व सामाजिक और राजनीतिक महत्त्व का था । अदालतों से छन कर आने वाले शब्दों में एक अद्भुत शक्ति होती है क्योंकि उनमें जीवन का सामाजिक और तार्किक पक्ष प्रधान

और सुस्पष्ट हुआ करता है ।

चौदहवीं शताब्दी में इंग्लैंड में अंग्रेज़ी भाषा का निखार अरंभ हुआ तब इंग्लैंड के पढ़े लिखे लोग फ्रैंच भाषा पढ़ना गौरव समझते थे । स्थानीय भाषा एकदम गौण थी । साहित्य क्षेत्र में यह चौसर का युग था । और उन्हें अंग्रेज़ी काव्य का 'प्रथम जनक' की पदवी दी गई है । परन्तु काव्यात्मक दृष्ट से हरबर्ट जे० सी० ग्रियर्सन और जे० सी० स्मिथ के मतानुसार इनकी कविता "French poetry written in English coloured by the English temperament and character and beginning to show the effect of the Literature of Itally. थी । भाषा वैज्ञानिक दष्टि से उस समय की अंग्रेज़ी को बार फील्ड ने 'French badly pronounced' कहा है । अंग्रेज़ी भाषा और साहित्य की ऐसी निर्धन स्थिति के होते हुए भी सन् १३५६ में अंग्रेजी को लंदन की शैरिफ अदालतों की भाषा घोषित कर दिया गया और छे साल बाद सन् १३६२ में उसे बादशाही अदालत और पार्लिमेंट की भाषा घोषित किया गया । इस घोषणा का जादू का सा असर हुआ । दो दहाकों के बाद अंग्रज़ी की स्थिति बहुत सुधर गई । सन् १३८५ में त्रिवैसे लिखते हैं, 'Boys know no more French than their left heel' काव्य-शास्त्रीय दृष्टिकोण से चौसर ने एक महत्वपूर्ण कार्य यह किया कि उसने अंग्रजी के बलात्त्मक स्वराघात वाली विधि (Stres s system) का फ्रैंच के अक्षरीय विधि (Syllalic system) के साथ ग्रन्थिबन्धन कर दिया । काव्य क्षेत्र में यह ग्रन्थिबन्धन बहुत फलीभूत हुआ ।

समय ने करवट बदली, सन् १४५३ में कस्तनतुनिया का पतन हुआ, यूनानी विद्वान् अपनी पोथियों लेकर शरणार्थी बन कर इटली पहुंचे, इटली में यूनानी के प्रति फिर प्यार जागा । ब्रिटेन में हैनरी अष्टम साहित्यिक रुचि के सम्राट् थे, अतः अंग्रेज़ी दरबार साहित्य और संस्कृति का केन्द्र बना । राज्याश्रम से साहित्य में जो जागरण आया वह "टयूडर नव जागरण" के नाम से विख्यात है । इंग्लैंड में यूनान और रोम के क्लासीकल साहित्य की निरन्तर धारा आई, जिससे अंग्रज़ी में 'साहित्य-उधारों' की मानो बाढ़ आ गई । नए शब्दों की बटालियन से सर्वसाधारण चकाचौंध की रहा था 'भाषाई पैरोटी' का यह तलागम भले ही तब अस्वाभाविक दीखता था, परन्तु इससे पर्यायकी समृद्ध हुई, और धीरे धीरे आर्थी विभेद होने लगा, अंग्रज़ी में आत्म-चेतना आन लगी । यूनानी और लैटिन से आए अनगिनत शब्दों के बिना अंग्रज़ी में कभी भी आत्मचेतना ना आ पाती । पन्द्रहवीं सदी की अंग्रेज़ी में ड्रामा, क्लाईमैक्स,

पैराग्राफ जैसे ग्राम शब्द भी नहीं थे, ये शब्द उसमें यूनानी से बाद में ग्राए । कई बार ऐसा भी हुग्रा कि ग्रंग्रज़ी ने दूसरी भाषा से शब्द लेकर उसका रूप ग्रौर ग्रर्थ बदल दिया ग्रौर फिर उस भाषा न ग्रपने ही शब्द को ग्रंग्रज़ी से नए ग्रर्थ में ग्रहण किया, जैसे ग्रंग्रज़ी स्पोर्ट शब्द का मूल फ्रैंच, 'डिस्पोर्ट' है जिसका ग्रर्थ था ग्रपने ग्रापको ग्रपने साधारण दैनिक कार्य से भिन्न किसी ग्रन्य दिशा में ले जाना । ग्रंग्रेज़ी में फ्रेंच 'डिस्पोर्ट' 'स्पोर्ट' बन कर फिर फ्रेंच में नया ग्रर्थ ग्रौर नया रूप लेकर गया ।

ग्रंग्रेज़ी ने शब्दों के उधार केवल यूनानी ग्रौर लेटिन से ही नहीं लिए, उन्हें ग्ररबी के शब्द स्पेनी की मार्फत ग्रहण किये । कुछ हिन्दी शब्द भी पुर्तगाली से होकर बहुत पहले ग्रंग्रेज़ी में पहुंच गए थे । ग्रफ्रीका से 'नीगरी" ग्रौर "बनैना" पुर्तगाली के रास्ते ग्रंग्रेज़ी के पास पहुंचे ग्रौर ग्रंग्रज़ी न ग्रपना लिए । सत्रहवीं सदी में वाणिज्यिक ग्रौर वित्तीय संस्थाग्रों का विकास हुग्रा, ग्रौर उसके साथ शब्दावली में समृद्धि हुई । ग्रंग्रेज़ी कैपिटल ग्रंग्रेज़ी कैटल का दोहरा रूप है, परन्तु ग्रर्थ में बहुत विस्तार हो गया है, क्योंकि वाणिज्यिक वातावरण में "कैपिटल" शब्द ग्रपनाया गया था । लैटिन धातु फिनिस से बना हुग्रा 'फाहननस' शब्द जब पहले पहल ग्रंग्रेज़ी में ग्राया तो उसका ग्रर्थ जुर्माना ग्रथवा ज़ब्ती था, इसका वर्तमान ग्रर्थ ग्रठारहवीं सदी में फ्रांस से ग्राया । उन्नीसवीं सदी में जब यांत्रिक ग्रौर वैज्ञानिक विकास हुग्रा, तो शब्दावली में नई उद्-भावनाएं ग्राईं ।

जिस सुविधा ग्रौर स्वाभाविकता से ग्रंग्रेज़ी भाषा ने दूसरी भाषाग्रों की पैदावार को हथियाया है, ग्रौर ग्रपनाया है, वह एक दम ग्रनुकरणीय है । विजातीय तत्वों को ग्रपने ग्राप में समोकर उसे ग्रपन जीवन के रक्त का ग्रंश बना लेना ग्रंग्रेज़ी की सर्वविदित ग्रौर महान् विशेषता है, ग्रौर यही इसकी शक्ति का रहस्य है । एक विद्वान् ने ग्रंग्रेज़ी के सम्बन्ध में कहा है :— Historically, the English language is a muddle, actually it is a beautiful, personal and highly sensitive creature.

ग्रंग्रेज़ी भाषा का स्वभाव सुग्राही ग्रौर सूक्ष्मग्राही है । क्रियात्मक शब्द के चेतन रूप को इस भाषा ने भलीभांति पहचाना है । शब्द का चेतन स्वरूप यह है कि प्रयोग के बाद उसका ग्रपना हाडमांस बन जाता है, उसमें शब्द वाले गुण प्रच्छन्न हो जाते हैं, वह हाडमांस के चेतन प्राणी की तरह व्यवहार करता है । शब्द ग्रपने इसी व्यवहार के कारण बढ़ता है ग्रौर "शब्द ब्रह्म" की संज्ञा को प्राप्त होता है । जो लेखक शब्द के इस चेतन रूप को नहीं जानता, नहीं पहचानता, वह शब्द का सही

प्रयोग नहीं कर सकता । वक्ता अथवा लेखक का माध्यम शब्द ही होता है, वही उसके भावों और विचारों को मूर्त रूप देता है । व्यक्त होने से पहले शब्द लेखक के आभ्यन्तर में उस विचार अथवा भाव के साथ एक रूप होता है । इसीलिये कहा गया है कि अव्यक्त शब्द भी एक ठोस वस्तु होता है परन्तु पत्थर की तरह ठोस नहीं, बल्कि मानवीय मुख की तरह। जिस तरह मुखाकृति मनोविकारों के अनुसार कुछ कुछ बदलती रहती है, उसी तरह शब्द के आर्थी विस्तार में पाठ के समूचे आशय के अनुसार घटाबढ़ी होती रहती है । यह घटाबढ़ी साथ साथ रहने वाले विभिन्न कबीलों में भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा व्यक्त होती है, और जैसे जैसे उन कबीलों की भाषा में लेन-देन बढ़ता है वैसे-वैसे पर्यायकी समृद्ध होती है । अंग्रेजी की पर्यायकी बहुत समृद्ध है और उसमें फिर से आर्थी विस्तार की घटाबढ़ी को पहचाना जा रहा है । **पर्यायकी का आधार है शब्द-उधार ।**

सोलहवीं-सत्रहवीं सदी में जब अंग्रेजी में नए शब्दों की धारा बहुत तेजी से आई थी, तब शब्द निर्माण की दो स्पष्ट शैलियां बनीं एक **बेंकन शैली** और दूसरी **मिल्टन शैली** । **बेंकन शैली** में एक ही विचार को प्रकट करके लिये अंग्रजी शब्द के साथ साथ लातीनी शब्द का प्रयोग मिलता है । बेंकन की प्रसिद्ध पुस्तक "Advancement of learning" के किन्हीं भी दो पृष्ठों में इस प्रकार के दस उदाहरण मिल जायेंग । अंग्रेज़ी और लातानी के जो शब्द उन दिनों समानार्थक समझे जाते थे, वे आजकल भिन्नार्थक हो गए हैं । उदाहरणार्थ action, business और eloqusnce, speech आदि । इस शैली की 'विमर्शित आवृत्ति'' (deliberate duplication) ने अंग्रेज़ी कानों को लातीनी आवाज़ों का अभ्यस्त बना दिया । मिल्टन-शैली में नए लातीनी शब्दों को इतना नहीं अपनाया गया जितना कि अंग्रेजी में पहले से प्रचलित परन्तु अपभ्रंश बने शब्दों का तत्समीकरण करके उनके मूलअर्थों को फिर से प्रचलित किया गया ।

विचार और भाव इतने अधिक होते हैं और भिन्न-भिन्न कबीलों के आपसी मेल-जोल से उनमें इतनी अधिक वृद्धि हो जाती है कि उतनी मात्रा में शब्द कदापि नहीं बनाए जा सकते । इसलिये यह आवश्यक हो जाता है कि एक ही शब्द से एक से अधिक अर्थ ग्रहण करके काम चला लिया जाए । किसी भी जनसमुदाय के वैचारिक, नैतिक और सामाजिक स्तर में जैसे जैसे परिवर्तन आता है वैसे वैसे वह परिवर्तन भाषा में रजिस्टर होना मांगता है । वह जनसमुदाय तत्काल अपने सामान्य प्रचलित शब्दों की आर्थी सीमा में घटाबढ़ी करके काम चला लेता है । इसलिये

प्रत्येक शब्द की आर्थी सीमा की घटाबढ़ी के इतिहास में मानवीय चिन्तन के छाया चित्र छिपे होते हैं जो भाषा-विज्ञान के प्रकाश से उघड़ जाते हैं। अर्थों में मानवीय मस्तिष्क की चिन्तना के आकार छिपे होत हैं इसलिये शब्दों के रूपों और अर्थों का अध्ययन मानवीय समाज के इतिहास का एक सफल व्याख्याकार हो सकता है, परन्तु अभी तक इस अध्ययन का पूरा लाभ नहीं उठाया गया है। अंग्रेज़ी शब्द "क्वलेटी" के अनेक अर्थ हैं, और इसका सही हिन्दी प्रतिशब्द ढूंढना कठिन है। यह शब्द सबसे पहले लातीनी विद्वान् सिसरों द्वारा "qualitas" के रूप में प्लेटों के Poiotes के लिये प्रयुक्त किया गया था। मूल यूनानी शब्द का अभिप्राय whatness of a thing से था। इस धारणा तक पहुंचने के लिए प्लैटों का दार्शनिक प्रज्ञा ने कितनी बौद्धिक यात्रा की होगी, इसका अनुमान हम नहीं लगा सकते। उस धारणा के प्रतिशब्द को सिसरों ने जिस रूप में समझा उसके अनुसार उसने लातीनी प्रतिशब्द घड़ लिया, जो अंग्रेज़ों में क्वलेटी बन कर आज अनेक अर्थों का धारक है। प्राचीन यूनानी साहित्य में "इलैक्ट्रोन" शब्द आता है, जिसका अर्थ वृक्ष के पत्तों की नमी है। इस शब्द से आधुनिक अंग्रेज़ी "इलैक्ट्रिसिटी" आदि है और आधुनिक परमाणु विश्लेषण से सम्बन्धित "इलक्ट्रोन" भी। परन्तु यह "इलैक्ट्रोन" शब्द और प्राचीन यूनानी "इलैक्ट्रोन" शब्द भले ही शब्द शास्त्रीय दृष्टि से एक है, परन्तु इनकी आर्थी सीमा एकदम अलग है।

उन्नीसवीं सदी में यांत्रिक और औद्योगिक प्रभावों ने भी भाषा को अनेक शब्द दिये हैं और पुराने प्रचलित शब्दों को भी प्रभावित किया है। प्राचीन यूनानी भाषा 'में मेछेने' शब्द का अर्थ शारीरिक श्रम से सम्बन्धित किसी छोटी मोटी "डिवाइस" से था, परन्तु सत्रहवीं सदी में इसका अर्थ आधुनिक मशीन हो गया। अंग्रेज़ी भाषा में उन्नीसवीं सदी यांत्रिक और जैविक धारणाओं के सम्मिश्रण के दृष्टिकोण से बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसका आर्थी अध्ययन इस बात को सिद्ध करेगा कि वैचारिक प्रक्रिया को शब्दों ने बहुत सीमा तक प्रभावित किया है। यह एक विलक्षण बात है क्योंकि साधारणतया तो वैचारिक प्रक्रिया ही शब्दों को प्रभावित करती है। दार्शनिक दृष्टि से कह सकते हैं कि **हम शब्दों के सहारे सोचते हैं और एक ही शब्द को कई विचारों के लिये प्रयुक्त करते हैं, जैसे ही एक सैट में नए अर्थ प्रवेश पा लेते हैं, वे हमारे कई सिद्धान्तों में घुस आते हैं, और हमारे सारे विचार जगत को प्रभावित करते हैं। इस तरह से हम, हमारे जीवन और हमारी संस्थाएं "शब्द माया" का शिकार हैं।**

शब्द वक्ताओं के मानसिक आकारों के छायाचित्र होते हैं और शब्दों का इतिहास वक्ताओं के विकास का व्याख्याकार।

● ● ●

हरबल्लभ सङ्गीत समारोह

कौशल कुमार धौम्य

सांस्कृतिक परम्पराएं राष्ट्र के व्यक्तित्व का मुख्य एवं महत्वपूर्ण अङ्ग हुआ करती हैं। इसी लिये स्वराज्य की गरिमा से विभूषित राष्ट्र भी यदि अपनी बपौती को उपेक्षित कर दें अथवा अन्य जाति या राष्ट्र का अन्धानुकरण करने लगें तो निश्चय ही वे वास्तविक रूप में परतन्त्र ही होते हैं। और भारत जैसा गौरवशाली अतीत रखने वाला राष्ट्र तो अपनी संस्कृति की समृद्ध कड़ियों को संजोए बिना अपने वर्तमान और भविष्य को सजा ही नहीं सकता, अपने स्व के व्यक्तित्व में निखार ला ही नहीं सकता ।

हमारे शास्त्रीय संगीत की परम्परा भी राष्ट्र की अन्यतम अमूल्य सांस्कृतिक निधियों में से एक है। सांस्कृतिक जागरण के इस काल में हमें उसे उचित रूप से विकसित तथा प्रचारित तो करना ही होगा, उसकी परम्परागत मद्धम, किन्तु सभी प्रकार के झंझाओं से सफलरूपेण जूझती चली आ रही लौ की पूर्णतः रक्षा करनी होगी और उसकी अरुणिम आभा से राष्ट्र के प्रत्येक कोने में प्रकाश भरना होगा । सङ्गीत की समृद्धि के लिये आज विभिन्न स्तरों पर देश भर में विभिन्न प्रयास हो रहे हैं। आकाश वाणी के विविध केन्द्रों ने सङ्गीत के कलाकारों को पुराने सामन्ती दरबारों से भी बढ़ कर प्रश्रय तथा प्रोत्साहन दिया है। देश के अलग-अलग प्रदेशों में समय-समय पर शास्त्रीय सङ्गीत की सभाएं होती हैं जिन में प्रत्येक प्रदेश का राष्ट्र के इस नवजागरण में सांस्कृतिक स्वातन्त्र्य में अपना योगदान होता है ।

'हरबल्लभ सङ्गीत मेला' पंजाब प्रदेश के जालन्धर शहर में होने वाला एक ऐसा ही महत्त्वपूर्ण शास्त्रीय सङ्गीत समारोह है। इस समारोह की सब से बड़ी विशेषता यह है कि यहां पर सङ्गीत प्रेमी श्रोताओं को बिना किसी टिकट या खर्च के सङ्गीत सुधापान करवाया जाता है जोकि संभवतः देश के अन्य किसी भी सङ्गीत समारोह म नहीं होता । यह मेला प्रत्येक वर्ष २६ दिसम्बर से २९ दिसम्बर अर्थात् चार दिन तक चलता है

ग्रौर प्रत्येक दिन प्रातः, दोपहर तथा रात्रि काल में तीन बैठकें होती हैं। एक बहुत बड़े पंडाल में धान की पुग्राल ग्रादि पर दरियां बिछा कर श्रोताग्रों के बैठने केलिये इतना उत्तम प्रबन्ध होता है कि गाढ़े शीत में भी किसी को सारी रात का जागरण कोई कष्ट नहीं देता। श्रोताग्रों के सामने एक विशाल तथा उन्नत मञ्च बना रहता है जिस पर देश के उच्च कोटि के कलाकार ग्रपनी कला का प्रदर्शन करते हैं ग्रौर प्रत्येक श्रोता सुविधापूर्वक कलाकार का दर्शन तथा उसकी कला का श्रवण करता है।

संङ्गीत के इस वार्षिक महायज्ञ का ग्रारंभ गुरु स्वामी हरवल्लभजी ने ग्रपने गुरू स्वामी तुलजा गिरि जी महाराजकी स्मृति स्वरूप किया था। तब यह मेला जनवरी मास में हुग्रा करता था ग्रौर देश के विभिन्न प्रदेशों से साधु-संयासी तथा स्वामी तुलजा गिरि जी के भक्त स्वामी जी की बरसी के दिन उनकी समाधि पर ग्रपनी श्रद्धांजलि ग्रर्पित करने के लिए एकत्रित होते थे। मेले का ग्रारंभ हवन-यज्ञ तथा भजन-कीर्त्तन से होता था ग्रौर उसमें ध्रुपद (ध्रुवपद) की शास्त्रीय पुट रहती थी। स्वामी हरवल्लभ गिरि स्वयं एक बहुत ग्रच्छे ध्रुपद गायक थे। उनकी प्रेरणा से जालन्धर, ग्रमृतसर तथा होशियारपुर जिलों में बहुत ग्रच्छे ग्रच्छे सङ्गीत के कलाकार पनपे। स्वामी हरबल्लभ जी के बाद उनके योग्य शिष्य पं० तोलोराम जी ने ग्रपने गुरु की स्मृति को स्थायी रूप देने के लिये ग्राज से १० वर्ष पूर्व इस मेले को बहुत ही भव्य तथा गौरवशाली संगीत समारोह का रूप दे दिया ग्रौर यह जनवरी की बजाय दिसम्बर मास में मनाया जाने लगा। तब से ग्राज तक देवी तालाब जालन्धर के प्रांगण में प्रति वर्ष मनाए जाने वाले इस मेले में देश के ग्रनेकों महान् कलाकार भाग ले चुके हैं। जिन में पं० विष्णु दिगम्बर, पं० ग्रोंकार नाथ, पं० कृष्ण शंकर, बाल गुरु, मोला बख्श, बड़े गुलाम ग्रली खां, ग्रमीर खां, रविशंकर, ग्रली ग्रकबर, भीम सेन जोशी, राम नारायण, सलामत-नज़ाकत, नारायण राव व्यास, पटवर्धन, बिस्मिल्ला खां, हुसन लाल, गुदई महाराज, कृष्ण महाराज, ग्रनोखे लाल, चतुर लाल, प्रेम बल्लभ ग्रादि ग्रनेकों महान् गायक तथा वादक हैं। एक समय था कि हरवल्लभ राग मेले के मंच पर कलाप्रदर्शन कलाकार के लिये बहुत गौरव तथा प्रतिष्ठा की बात समझी जाती थी। यही नहीं ग्रपितु यह उनकी कला की सनद मानी जाती थी।

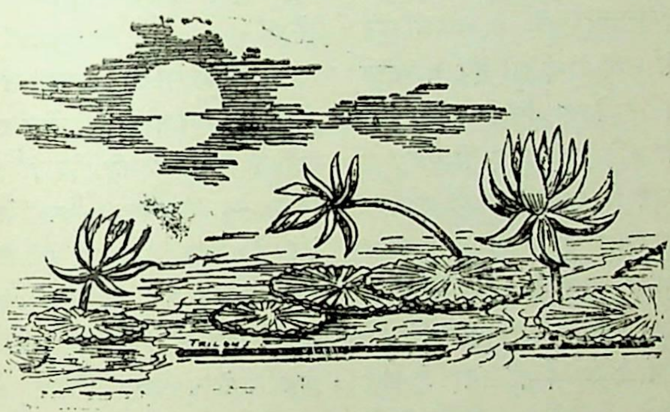
देश का सौभाग्य है कि सङ्गीत की इस सुधा सरिता को प्रवाहित रखा जा रहा है। प० ग्रश्विनी कुमार, उप-पुलिस महाधीक्षक की कलाप्रियता तथा कर्मठता ग्रौर सङ्गीत महासभा के ग्रन्य उत्साही सदस्यों की लगन से ही यह संभव हो रहा है। ग्राजकल कलाकारों को

बहुत अच्छी रकम देकर बुलाया जाता है और उस पर भी श्रोताओं पर टिकट खर्च आदि का कोई प्रतिबन्ध नहीं होता। सङ्गीत समारोह का सारा व्यय सभा चन्दा इकट्ठा करके करती है। कभी कभार सरकार तथा संगीत-नाटक अकादमी आदि से भी आर्थिक सहायता प्राप्त हो जाती है। किन्तु आवश्यकता इस बात की है कि इस समारोह के लिय कोई निश्चित आर्थिक सहायता प्रतिवर्ष प्राप्त हो और श्रोताओं की सुविधा के लिये एक भव्य सङ्गीत भवन का निर्माण करवाया जाए।

इस वर्ष के मेले में कम से कम एक लाख श्रोताओं ने सङ्गीत का आनन्द प्राप्त किया होगा। गायकों में बड़े गुलाम अलीखां, लक्ष्मीशंकर, पं० जसराज तथा पं० हुसन लाल, जैसे लब्धप्रतिष्ठ गायकों और वादकों में विलायत खां सितार वादक, राम नारायण सारंगी वादक, पं० हुसन लाल वायलिन वादक, बिस्मिल्ला खां, शहनाई वादक, तथा चतुरलाल और प्रेम वल्लभ तबला वादकों ने बहुत उच्च कोटि की कला का प्रदर्शन कर श्रोताओं को रसाप्लावित किया।

हरवल्लभ राग मेले का शास्त्रीय सङ्गीत के इतिहास में गौरवशाली स्थान है और इसी कारण से जालन्धर नगर तथा पंजाब प्रदेश हमारे राष्ट्रीय सांस्कृतिक मानचित्र में प्रदीप्त हैं।

● ● ●



राष्ट्र जागरण के अग्रदूत—मैथिलीशरण गुप्त

सत्यपाल गुप्त

महाकवि मैथिलीशरण गुप्त भारतीय संस्कृति के अनन्य उपासक, राष्ट्र को नवचेतना प्रदान करने वाले तथा भारत के उत्थान के लिये सदा सक्रिय रहने वाले महा पुरुष थे। आपको यदि राष्ट्र की भावनाओं का प्रतिनिधि कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। आपकी रचनाओं को जो लोकप्रियता मिली वह अन्य किसी कवि को अपने जीवन-काल में प्राप्त नहीं हुई। आपकी इन रचनाओं से सारे राष्ट्र को एवं भारतीय समाज को नवचेतना मिली। आपको यदि मनीषी कवि कहा जाए तो गलत न होगा। आपने हिन्दी कविता को वर्तमान सुगठित रूप दिया। आपको जहां राष्ट्र कवि के रूप में आदर एवं श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं वहां आपको एक महान देशभक्त एवं कर्म योगी के रूप में भी श्रद्धा के फूल अर्पित करते हैं। आपने जहां देशवासियों को पराधीनता के बंधनों को काट फैंकने का संदेश दिया वहां स्वयं भी इस महा संग्राम में सक्रिय भाग लिया तथा कई बार जेल की यातनाएं सहीं।

मैंने इस छोटे से लेख में आपके महान व्यक्तित्व एवं रचनाओं का संक्षिप्त विवरण देने का प्रयास किया है ताकि देशवासी एवं साहित्यकार आप के इस ज्योतिपुंज जीवन से प्रेरणा प्राप्त कर भारतीय संस्कृति एवं भारतीय स्वतंत्रता को चिरस्थायी बनाने के लिये प्रयत्नशील रहने का व्रत लें।

आपका पवित्र जन्म संवत् १९४३ में चिरगांव (झांसी) में हुआ। आपको साहित्य साधना की प्रेरणा अपने पूज्य पिता सेठ रामचन्द्र गुप्त से मिली। सेठ जी स्वयं भी एक सफल कवि एवं साहित्यकार थे। साहित्य साधना की इस प्रेरणा को आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी से प्रोत्साहन मिला। सर्वप्रथम आपकी रचनाएं सम्वत् १९६४ में "सरस्वती" में प्रकाशित होनी प्रारम्भ हुई। आप जहां सादा जीवन व्यतीत

करते थे वहां आपका सब से अच्छा गुण यह था कि आप बड़ी सफ़ाई से रहते थे । आप की भव्य आकृति बहुत प्रभावशाली थी । आप विशेष प्रकार की पगड़ी बांधते थे और वस्त्र भी विशेष ढंग के पहनते थे । आप विनोदप्रिय और हंसमुख महापुरुष थे जो स्वयं हंसी मजाक करते थे तथा दूसरों के हास्य विनोद का पूरा आनन्द लेते थे । आपकी मैत्री बहुत पक्की होती थी । जिससे एक बार सम्बन्ध हो गया उससे सदा के लिये नाता जुड़ गया । आप छोटे बड़े का भेदभाव न रखते थे तथा सब से समान रूप से स्नेह करते थे । आप पान खाने के आदी थे तथा चाय का भी बहुत शौक रखते थे । आप सदा खादी पहनते थे तथा देश-प्रेम और राष्ट्रीय भावना जनता एवं साहित्यकारों में फैलाना अपना धर्म समझते थे । आपमें सौजन्यता एवं नम्रता भी असीम थी । जहां आप देश के महा-पुरुषों की प्रतिष्ठा करते थे वहां रामायण के पात्रों में आपका विशेष अनुराग था । आपने इनका अपनी रचनाओं में सुन्दर वर्णन किया है । आप एक महान हिन्दी सेवी थे तथा सदा नए कवियों, लेखकों एवं हिन्दी सेवियों को उत्साह प्रदान करते रहते थे । आपकी यह प्रबल इच्छा थी कि राष्ट्रभाषा निरन्तर उन्नति करे किन्तु इसमें सद्भावना बनी रहे तथा सब का सहयोग इसे प्राप्त रहे ।

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी आप का बहुत सम्मान करते थे क्योंकि वे आपको एक निष्ठावान् देशभक्त एवं महान साहित्यकार समझते थे । आपने भारत छोड़ो आंदोलन के समय भारी त्याग किया तथा आप सन् १९४१ में गिरफ्तार हो गए । आपके परिवार, आप के प्रेस तथा सम्पत्ति को सदा विदेशी सरकार से खतरा बना रहा । १९४२ में आपका साहित्य सदन राजनैतिक कार्यों के लिये गुप्त केन्द्र रहा था जहां भारतीय स्वतंत्रता संग्राम सम्बन्धी गुप्त योजनाएं तैयार की जाती थीं । आप देश की पुरानी परम्पराओं से, पुराणों एवं गौरव गाथाओं से पूर्ण परिचित थे । आपकी धारणा शक्ति महान थी । आप संस्कृत के मधुर श्लोकों को निरन्तर सुनाया करते थे ।

आपकी भावनाएं व्यक्तिगत न होकर सम्पूर्ण राष्ट्र में व्यापक थीं । आप अर्ध शताब्दी तक राष्ट्र के कवियों एवं राजनैतिक हलचलों के मार्गदर्शक बने रहे; आपकी सब से बड़ी साहित्यिक विशेषता यह थी कि आपने भारत के प्राचीन साहित्य की कथाओं को राष्ट्र-भाषा में प्रस्तुत किया तथा साकेत, जयद्रथ वध, पंचवटी, यशोधरा द्वारा भारतीय जीवन के आदर्शों को जागृत किया । आपने विभिन्न संस्कृतियों एवं सभ्यताओं का गम्भीर अध्ययन किया तथा उन पर अपनी रचनाएं सुन्दर ढंग से लिखीं ।

जहां आपने भगवान राम, भगवान कृष्ण, महात्मा बुद्ध सम्बन्धी पुस्तकें लिखीं वहां सिक्ख, ईसाई, मुसलिम आदि धर्मों के महापुरुषों सम्बन्धी अपनी कृतियां हिन्दी जगत् को दीं। आपके साहित्य का अमर संदेश विश्वबन्धुत्व एवं मानवीय एकता है। आपके साहित्य में गाँधीवादी विचारधारा के भी दर्शन होतें हैं। पहले आपने व्रज में लिखना प्रारम्भ किया और फिर खड़ी बोली को भरपूर करना प्रारम्भ किया। आपने रामायण के आदर्शों पर न केवल अपने जीवन को ढाला बल्कि सारे राष्ट्र को इन आदर्शों पर चलने की प्रेरणा दी। आप स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद राष्ट्रकवि के रूप में राज्य सभा के सदस्य मनोनीत किये गए। आपने हिन्दी कविता को नई शैली प्रदान की। आप बारह वर्ष तक राज्य सभा के सदस्य रहे तथा प्रायः कविता में ही अपना भाषण दिया करते थे। आपको साकेत पर १२०० रुपये का मंगलाप्रसाद पारितोषिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग की ओर से दिया गया तथा ५०० रुपये का पुरस्कार हिन्दोस्तानी एकेडमी से प्राप्त हुआ। कुछ समय पहले आपकी हीरक जयन्ती बहुत उत्साह से मनाई गई तथा आपको एक वृहद अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया गया। आपके छोटे भाई श्री सियारामशरण गुप्त भी एक सफल एवं प्रसिद्ध कवि थे। आपको पद्म विभूषण की उपाधि से भी सम्मानित किया गया।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद जबकि आप हिन्दी का पूर्ण प्रचलन देखना चाहते थे, किन्तु यह न हो सकने के कारण कई बार बहुत उदासीन होते थे तथा अपनी दुःखी एवं निराशाजनक भावनाओं को निम्न शब्दों में प्रकट करते थे :—

राजा अब अंग्रेज नहीं अंग्रेज़ी रानी।
करती उससे अधिक यही अपनी मनमानी।

आप द्वारा लिखित 'भारत भारती' बहुत लोकप्रिय हुई तथा राष्ट्रभक्ति की गीता बन गई। कौन ऐसा भारतीय है जिसने इस महान रचना को पढ़ कर इससे प्रेरणा प्राप्त न की हो। आपने इस द्वारा देश की पराधीनता के समय उसकी समस्याओं को समझ कर जनता को स्वतंत्रता के लिये जागरुक किया तथा उसमें देशाभिमान भरा जो सारे देश में गूंज उठा :—

मानव भवन में आर्यजन
जिसकी उतारें आरती।
भगवान भारतवर्ष में
गूंजे हमारी भारती।
नई पौ फटी, रात कटी,
तमकी अन्तर पटी हटी।
उठो, उठो, बोलो बोलो,
खोलो मनोद्वार खोलो।

आपने इस रचना में बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया "हम कौन थे, क्या हो गये हैं और क्या होंगे अभी" तथा उसका स्वयं ही

सुन्दर शब्दों में उत्तर दिया । इस कृति ने दासता में पड़े एशियायी लोगों को दासता से छुटकारा पाने का संदेश दिया इन शब्दों में:—

त्याग हमारा धर्म, किन्तु हम हरण कभी
न सहेंगे ।
दानवत्व से मानवत्व का वरण कभी न
सहेंगे ।
किसी आततायी का तुष्टीकरण कभी न
सहेंगे ।

"साकेत" आपकी दूसरी अमर कृति है जिसका नाम अयोध्या के प्राचीन नाम पर रखा गया है। गुप्त जी ने इतिहासकारों एवं पूर्व कवियों द्वारा उपेक्षित उर्मिला एवं उसके बलिदानों के लिये प्रशंसा की। इस अमर महाकाव्य के लिखने में आचार्य द्विवेदी जी ने प्रेरणा दी जिसे गुप्त जी ने निम्न शब्दों में स्वीकार किया है :—

करते तुलसी भी कैसे मानस नाद ।
महावीर का यदि उन्हें मिलता नहीं प्रसाद । ऐसा प्रतीत होता है कि व्याकुल विरहिणी उर्मिल की विभिन्न मनोवृत्तियों एवं भावनाओं का विषद वर्णन करने के लिये ही यह महाकाव्य लिखा गया ।

"यशोधरा" आपकी तीसरी महान कृति है जिस में आपने महात्मा बुद्ध की पत्नी यशोधरा द्वारा भारतीय नारी के आदर्श एवं उच्च चरित्र निर्माण का महान कार्य किया है। नारी जीवन की व्याख्या कितने सुन्दर शब्दों में की गई है —

अबला जीवन हाय, तुम्हारी यही कहानी
आंचल में है दूध और आंखों में पानी ।

यशोधरा का वात्सल्य वर्णन बहुत स्वाभाविक और सरस है ।

आपने "गृहस्थ गीता" नाम की पुस्तक लिखी जिसमें यह बताया गया कि हमें किस प्रकार एक दूसरे से व्यवहार करना चाहिए । कैसे उठना, बैठना चाहिए, सार्वजनिक स्थानों को कैसे साफ रखा जाता है। आपने मधुसूदन दत्त के बंगला महाकाव्य जयद्रथ बध का हिन्दी रूपान्तर तैयार किया था। "द्वापर" प्रसिद्ध काव्य में कृष्ण चरित्र को एक मौलिक एवं नवीन ढंग से पेश करने का प्रयास किया गया है। इसमें भगवान कृष्ण, बलराम, नारद, वसुदेव, कंस, यशोदा, आदि के चरित्रों को मनोवैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा नए ढंग से पेश किया गया है। "जयद्रथ बध" एक आख्यान काव्य है । यह महाभारत पर आश्रित देशभक्ति के भावों से ओतप्रोत रचना है। "त्रिपथगा" में पांडवों के तीन मार्मिक चित्र पेश किये गए हैं । 'अनघ' में गांधीवादी आदर्शों का चित्र बौद्ध-जातक कथा द्वारा प्रस्तुत किया गया है । "गुरुकुल" में सिक्ख गुरुओं का बहुत सुन्दर शब्दों में वर्णन किया गया है । 'नहुष' में यह बताया गया है कि मनुष्य अपने अच्छे कार्य द्वारा उत्थान एवं सद्गति को प्राप्त कर लेता है और बुरे कार्यों द्वारा गिरावट की ओर जाकर

फिर से उत्थान के लिये प्रण करता है। "पंचवटी" एक महाकाव्य है जिसमें भगवान राम का चरित्र है। 'काबा और कर्बला" में हुसैन और उस के कुटुम्ब के कष्टों का आलम्बन लेकर मुस्लिम संस्कृति का वर्णन किया गया है। 'कुणालगीत' में अशोक के पुत्र कुणाल के त्याग का वर्णन किया गया। 'अर्जन और विसर्जन' में ईसाई संस्कृति को लिया गया है। "झंकार" में रहस्यवादी रचनाएं संकलित हैं।

आपने कविता के अतिरिक्त कुछ नाटक भी लिखे जिनमें "तिलोत्तमा" "चन्द्रहास" आदि उल्लेखनीय हैं!

इन कृतियों के अतिरिक्त आपने "वैतालिक", "हिन्दू", "विश्व वेदना", "शकुन्तला", "रंग में भंग", "किसान", "स्वदेश संगीत", "पत्रावली", "शक्ति", "गुरु तेग वहादुर" "वन वैभव", "सैरन्ध्री", "सिद्ध राज", "मंगल घट" "विकट भट," आदि मौलिक रचनाएं हिन्दी साहित्य को दीं। आपने बंगला से "मेघनाद वध" का अनुवाद किया। इसके अतिरिक्त आपकी "पलासी का युद्ध", "वीरांगना," "उमर खय्याम", "विरहिणी व्रजांगना", आदि अनूदित रचनाएं हैं। आपने "संसार" नामक एक बहुत ही सुन्दर कविता लिखी जिसमें संसार की अवस्था का बहुत वास्तविक चित्र प्रस्तुत किया गया है। उसकी कुछ पंक्तियां निम्न प्रकार से हैं:—

क्या यही संसार मेरा ?
अरी प्रकृति कह, क्या यही चिर-नाट्य जीनागार तेरा।
मृत्यु से पहले जहां जन ही जनों को मारते हैं?
आप अपनी-सी पराई परी कौन विचारते हैं
स्वर्ण-मृग सा रक्षकों का रूप भिक्षुक धारते हैं।
दुरितघीपर धन धरा पर हाथ पैर पसारते हैं
शांति पर डाले पड़ा है शस्त्र शासन सघन तेरा।
शिशु जहां शुष्कस्तनी मां को, अधीर पुकारते हैं।

आपके निधन से हिन्दी कविता में एक युग का अन्त हो गया है। आप देश सेवा का एक महान् उदाहरण हमारे सामने छोड़ गये हैं। आपका सारा जीवन हमारे लिये देश और साहित्य की सेवा का एक महान उदाहरण पेश करता है।

हम आपको महाकवि सुमित्रानन्दन पंत के शब्दों में निम्न श्रद्धांजलि दे सकते हैं:—

क्या दूं आज, आप चिर मैथिलीशरण!
युग युग तक यह देश, करेगा श्रद्धार्पण ।।

○ ○ ○

सिकंदरकालीन पंजाब

देवदत्त शर्मा

सिकन्दर विक्रम सम्वत् ४८३ (फरवरी ३२६ ईसवी) में सिंधु के इस पार आया। उसने झेलम शहर और जलालाबाद के दरम्यान—ओहन्द नामी स्थान पर झेलम पार किया। वह उसी वर्ष अक्तूबर-नवम्बर में व्यास तट पर पहुंचा और वहीं से लौटने पर विवश हुआ। उसके प्रायः एक वर्ष बाद वह पाटल (बहमनाबाद—सिंध) से स्वदेश के लिये प्रस्थान कर गया। विक्रम सं० ४७८ में पंजाब में यूनानी सत्ता नष्ट हो गई, और उसके एक वर्ष बाद, यहाँ यूनानियों के विरुद्ध भारी विद्रोह हुआ। रावी पार करने से पहले उसने गुरदासपुर के समीप किसी जगह १२ स्तंभ बनवाए और सूर्य को बली दी। जब तक पंजाब में यूनानी सत्ता रही—उनके अधीनस्थ राजे यहां आकर प्रतिवर्ष बली देते थे और पूजा करते थे। महाभारत के यद्ध के २७४८ वर्ष बाद, सिकन्दर पंजाब आया। इस घटना का वर्णन, भारत के तत्कालीन इतिहासकारों ने नहीं किया। भारत की उपसीमा पर जब इतनी बड़ी घटना हुई—तो उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। इस बारे में जो कुछ जानकारी प्राप्त है—वह यूनानी इतिहासकारों के वृत्त से ही प्राप्त हुई है। इन सब वृत्तों का अंग्रेज़ी अनुवाद हुआ है। जब इन वृत्तान्तों से आधुनिक पंजाब की तुलना की जाती है —तो कुछ आश्चर्यजनक तथ्य सामने आते हैं। इनमें सामाजिक, आर्थिक, भौगोलिक प्रशासनीय और सांस्कृतिक तथ्य शामिल हैं। जब सिकन्दर वापस गया तो सिंधु समुद्र में उस जगह गिरता था जहां बहमना (ब्राह्मण) बाद (पाटला) बसा हुआ है, अर्थात् कच्छ कीरन में। आज यह रन भारत और पाकिस्तान की सीमा पर है। वहां घास का विशाल मैदान है। इस रन का क्षेत्रफल कई मील है। अब सिंधु इस जगह से बहुत दूर उत्तर में हट कर, समद्र में गिरता है। उन दिनों सरस्वती और घग्घर, सतलुज में मिलते थे और इन तीनों का नाम हकरा था। महाभारत काल में यही सरस्वती वर्तमान कच्छ को पार करके अरब सागर में गिरती थी। महाभारत में

चर्चा आती है कि भगवान कृष्ण के अग्रज श्री बलराम कच्छ से सरस्वती के किनारे चलते चलते कुरुक्षेत्र तक गए थे। जिस दिन वह वहां पहुंचे—उस दिन वहां भीम-दुर्योधन का गदा युद्ध हो रहा था। दुर्योधन श्री बलराम का प्रिय शिष्य था। जब उन्होंने उस की दुर्गति देखी और यह सुना कि भीम ने उसकी जंघा पर वार करके धर्मयुद्ध का उल्लंघन किया है तो वह आपे से बाहर हो गए और भीम को मारने के लिये दौड़े। परन्तु भगवान कृष्ण ने बीच में ही रोक लिया। आज यह सरस्वती यहीं कहीं करनाल जिले में खो जाती है और घग्घर भी राजस्थान की मरुभूमि में, सूरतगढ़ के आसपास, बिलीन हो जाता है। दोनों नदियाँ सतलुज से बहुत दूर हैं।

बिक्रमाब्द २२०० पूर्व से लेकर वि०सं० १९१४ तक सारे पंजाब और उप-भारत पर—राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक और आर्थिक दृष्टि से ईरान का गहरा प्रभाव पड़ा है। महाभारत के युद्ध के बाद, जब देश में कोई चक्रवर्ती शक्ति न रही तो पंजाब के अनेक जनपद स्वतन्त्रता का उपभोग करने लगे। उन्हीं दिनों इस उपभारत की ओर ईरान शाखा वाले आर्यों का ध्यान आकर्षित हुआ। यहाँ सदियों तक ईरान वालों या मध्य एशिया की बर्बर जातियों का शासन रहा। इस तरह पंजाब खानपान, रहनसहन भाषा और शासन की दृष्टि से विदेशी प्रभाव क्षेत्र बन गया था। जब कभी उत्तर पथ में कोई बलवान राजशक्ति आयी जैसे पुष्यमित्र, विक्रमादित्य, जयपर साही और रायपिथौर, उसने इस भारतीय भूभाग का पुनरोद्धार करने का यत्न किया। मुग़ल शासकों की भी यही नीति रही। वे सदा ही इस बात के लिए सचेष्ट रहे—विशेषकर औरंगजेब—कि भारतीय केन्द्रीय राजसत्ता का प्रभाव सिंधु से पार तक रहे। इसी नीति के अधीन उसने अफगानिस्तान (महाभारत कालीन कम्बोज जनपद) जीता। अंग्रेज़ भी इसी नीति पर अमल करते रहे। महाभारत काल से अंग्रेज़ी राज तक भारत में पूर्ण शांति और व्यवस्था रखने के लिये यह आवश्यक समझा गया कि उपद्रव केन्द्रों के समीपतम स्थान तक अपनी सीमा रहे, अर्थात् ईरान और मध्य एशिया तक। ईरानी और यूनानी प्रभाव के कारण इस सप्तसिन्धु देश का नाम पंजाब पड़ा और 'सिधु' का सकार 'ह' कार बन कर हिन्दु बना। भाषा की इसी दृष्टि से 'सप्ताह' 'हफता' बना और ईरानी प्रसिद्ध देवता अहुर मज्द 'असुर' बना। यह घृणासूचक है: क्योंकि पूर्वी भारत वालों का सांस्कृतिक दृष्टि से तत्कालीन पंजाब और उससे पश्चिम वालों से घृणा थी। इसी विचार के

अधीन आर्य देवता 'इन्द्र' ईरान में 'शैतान' बन गया ।

ईरान के दारा प्रथम और दारा तृतीय ने पंजाब को ईरानी साम्राज्य का अंग बनाया । जब परसीपोलिस में दारा और सिकन्दर में युद्ध हुआ तो दारा की सेना में पंजाबी सैनिकों की भारी संख्या थी और यहां से अनेक जंगी हाथी भी गए थे । इतिहास से यह बात स्पष्ट है कि पंजाब वाले अनंतकाल से वेतन भोगी सैनिक रहे हैं । होरोडोटस (७८६) पर लिखा है कि "ईरान के शासक जरसीज Xərxes के सेनापतित्त्व में भारतीय (पंजाबी) सैनिक पहली बार युरोप की भूमि पर लड़ने आए । वे सूती वस्त्र पहनते थे । वे धनुष-बाण से लड़ते थे । उनके बाणों पर लोहे के फल लगे रहते थे । वे खजर और छोटे-छोटे भाले भी रखते थे जिन से वे दस्ती लड़ाई में काम लेते थे । इन भारतीय सैनिकों में देर तक और दूर तक लड़ने का दम था । पंजाब से जरसीज को पैदल, घुड़सवार, रथी, हाथी सवार सभी तरह की सेना मिली थी । उनके साथ लड़ाकू कुत्ते भी भारी संख्या में थे ।"

होरोडोटस ने यह भी बताया है कि जब जरसीज मारा गया तो ईरानी सेना का नेतृत्त्व मरडोनियस ने संभाला और ये भारतीय सैनिक उसके साथ भी रहे।

'इण्डिका' के लेखक मैकग्रिण्डेल ने बताया है कि गागामेला के युद्ध में जो सिकन्दर और दारा तृतीय के दरम्यान हुआ-- दारा के साथ अनेक भारतीय सैनिक थे ।

स्वात नदी के तट पर अश्वकों (अश्वक, अश्वकायन—पाणिनी ४,१,११०) और सिकन्दर के दरम्यान भीषण रण पड़ा । इसमें अश्वक जनपद की राजमाता ने स्वयं सैन्य सञ्चालन किया । उसके साथ स्त्रियों की भी भारी संख्या थी । उसके पास ३०,००० सवार, ३० जंगी हाथी और ७,००० पैदल थे, वह इस यद्ध में हार गई । इस सेना में ७,००० भारतीय वेतन भोगी सैनिक भी थे । हार के बाद सिकन्दर ने उन्हें अपने सैन्य दल में लेना चाहा । परन्तु भारतीयों ने इसे देशद्रोह समझा और इन्कार कर दिया । उन्होंने रात के अंधरे में सिन्धु की ओर कूच बोल दिया और सिकन्दर की सेना के हाथों सब क़त्ल कर दिए गए । सिकन्दर इसी स्वात के किनारे किनारे चल कर सिन्धु तट पर पहुंचा था और यही वह रास्ता है जिसे अफ़गानिस्तान पर चढ़ायी करते समय, अंग्रज़ों ने अपनाया था । कहते हैं किसी ज़माने में आर्य भी इसी रास्ते से सिंधु तट तक आए थे । यह भी एक मत है कि प्राचीन काल में इस स्वात की गणना 'सप्तसिंधुओं' में होती थी ।

जब सिकन्दर सिंधु तट पर पहुंचा तो उसके साथ ३०,००० सैनिक थे जिनमें यूनानी, ईरानी, बलोच, बलख, बलक़ाती

अफगान, हिन्दुकुश प्रदेशीय और मध्य एशियायी थे। यूनानी घुड़सवार थे और शेष पैदल। इन यूनानियों के पास लम्बे लम्बे भाले होते थे।

बौधायन विक्रमाब्द ५०० वर्ष पूर्व धर्म शास्त्रानुसार पंजाब में निम्नलिखित गणराज्य थे––पुस्थल, मद्र, गांधार, खस, क्षुद्रक, मालव, वसाति, सिंधु और सौभीर। महाभारत में वर्णन आता है कि ये सारे गणराज्य 'आराष्टक' थे; अर्थात् वहां राजा नहीं था। उन्हें 'वाहिका' संज्ञा भी दी गयी है। 'इण्डिका' नामी पुस्तक में इन गणों के युद्धकौशल, की प्रशंसा की गई है। इन के अतिरिक्त दो और गणों की भी चर्चा आती है, अर्थात् किरात (पहाड़ी) अटाविक (जंगली)। पाणिनी ने इन्हें 'आयुध जीवी' संज्ञा दी है। उसने यह भी बताया है कि उनमें से कुछ गणों ने सिकन्दर को नाकों चने चबाए। क्षुद्रकों और मालवों ने मिल कर सिकन्दर का सामना किया था और उससे सैनिक संधि की थी। कहा जाता है कि मालवगण ब्राह्मण था। उसकी सैनिक संख्या ५००० थी और वे सब के सब सिकन्दर से लड़ते हुए मारे गए थे। इसी तरह पञ्चनद नामी शहर के ब्राह्मणों ने अपने राजा को देशद्रोही घोषित किया––क्योंकि वह सिकन्दर से मिल गया था। उन्होंने सर्वसाधारण को प्रेरणा दी कि वे देशद्रोही सिकन्दर से लड़ें और सारे नागरिक लड़ते हुए मारे गए।

जब सिकन्दर यहां आया तो यहां (पंजाब में) पांच स्वतन्त्र राजा भी थे–– चित्र वर्मा (कुल्लू), सिंहनाद (मलयी), पुश्करा़क्ष (काश्मीर), सिंधुसेन (वैसंधव), मेघ (पारसीक)।

जब सिकन्दर स्वदेश लौटा तो वह सारा साम्राज्य निकानोर को सौंप गया था। यह निकानोर इन्हीं अश्वकों के हाथों मारा गया था क्योंकि उन्होंने बगावत कर दी थी। जब सिकन्दर कंधार का प्रदेश शशिगुप्त नामी एक भारतीय को सौंप तक्षशिला पहुंचा तो वहा भी विद्रोह हो गया था। शशिगुप्त को विवश किया गया कि वह यूनानियों का साथ छोड़ दे। उन दिनों यह कंधार भी भारत का भू-भाग ही समझा जाता था। जब निकानोर मारा गया तो सिकन्दर ईरान की खाड़ी में पहुंच चुका था। उसने वहीं से तक्षशिला के राजा को अपने साम्राज्य का प्रधान शासक नियुक्त किया। वह लौटते समय अपने साम्राज्य के ६ भाग कर गया था और छहों का अलग अलग गवर्नर था, जैसे पीथन (सिंध में) निकानोर सिंधु के उपस्थित देश राजधानी पुश्कलवती, आज चारसद्दां, आविस यारटस काबुल घाटी यह सिकन्नदर का श्वसुर था। अंगिराज सिंध ––झेलम अन्तर्वेद, पौरव

झेलम से रावी तक, अभिसार (काश्मीर) ।

उन पर सिकन्दरकालीन कुछ गण-राज्यों की चर्चा की गई है । इनमें से मद या मद्रक गणराज्य बहुत पुराना था । पाण्डव पत्नी मरद्री यहीं की थी । यह गणराज्य द्वाबा रचना में बसा हुआ था । इनका रूप राजा था । ऐत्रेय ब्राह्मण में और बृहदारण्यक में भी इसकी चर्चा है । गुरु गोबिन्दसिंह जी के जीवनकाल में भी यह अन्तर्वेद 'भद्र' ही कहलाता था । प्रयाग के किले में जो शिलालेख है उससे विदित होता है कि यह गण समुद्रगुप्त का करद था । बंगाल के राजा धर्मपाल के एक ताम्रपत्र में भी मद्रकों की चर्चा आयी है । मद्रकों की राजशक्ति कब खत्म हुई इतिहास इस बारे में मौन है ।

सिंध सागर के बारे में बड़ी संक्षिप्त सी चर्चा पायी जाती है । यहां का राजा अंभि सिकन्दर से मिल गया था और उसे ५६ जंगी हाथी और ३,००० बैल भेंट में दिए थे । बाद में यहां मौर्यों का राज्य रहा है । यहां विक्रम पूर्व की दूसरी, तीसरी सदी के कुछ सिक्के मिले हैं । उन पर लिखा है : 'नगर निगम जनपद',— 'ग्राम नगर निगम' । यहां राजा था । उसके परामर्शदाता मुखिया कहलाते थे । गांवों का समूह 'ग्रामिका' कहलाता था । ये संघ बड़े शक्तिशाली और अधिकार सम्पन्न थे । अपने मुखिया को दण्ड दे सकते थे और उस पर केस चला सकते थे। ये संघ दो तरह के थे, जैसे—सैनिक वार्ता, व्यापार तथा राजनीतिक वार्ता ।

स्टीन और एरियन ने द्वाबा सिंध सागर (झेल सिंध अन्तर्वेद) की कुछ चर्चा की है । यह गण अभिसार कहलाता था । इस गण ने पौरवों को सिकन्दर के विरुद्ध सैनिक सहायता का वचन दिया था । परन्तु गुप्त रूप से सिकन्दर के साथ संधि वार्ता भी करते रहे ।

पौरव गणराज्य (द्वाबा चज) के ३०० नगर थे । उन के पास ५० हज़ार पैदल, ३,००० घुड़सवार, १००० रथी और १३० जंगी हाथी थे ।

पाणिनी के गणपाठ में द्वाबा बारी के गणराज्य की चर्चा भी आती है । इस गणराज्य का नाम था 'भागल' । यह गण-राज्य राजा के अधीन था । इसी राजा ने सिकन्दर को यह सलाह दी थी कि वह आगे पूर्व भारत की ओर न बढ़े । बढ़ेगा तो मगधराज नन्द से पार न पा सकेगा । (मैक ग्रिण्डेल, पृ० २८२)

स्ट्रेब्रो (पृ० ४३८–४५) ने सिकन्दर-कालीन व्यास के पूर्वीय देश की चर्चा भी की है । उसने लिखा है वहां यौद्धेय गण रहता था । ये बड़े कुशल रणवीर थे । उनकी विधान सभा में ५,००० सदस्य थे । प्रत्येक सदस्य को राज्य की ओर से एक एक हाथी मिला हुआ था । कौटिल्य

ने इन्हें 'वार्ताशास्त्रोपजीवी' की संज्ञा दी है। अर्थात् यह गण कलाकौशल, व्यापार और युद्धप्रिय था। विक्रमाब्द पूर्व ७ वर्ष में इस गण ने सौराष्ट्र पर चढ़ाई की थी। गिरनोर पर्वत के एक शिलालेख में इस चढ़ाई की चर्चा है। इस गण को शकों ने नष्ट किया। विक्रम की पांचवीं सदी में इन्होंने फिर सिर उठाया। विजय गढ़ (भरतपुर) से जो सिक्का मिला है उस पर लिखा है: 'यौद्धयानामजय मन्त्रधारणम', 'यौद्धेयगण पुरास्कृता'। इन सिक्कों पर 'महाराज, महासेनापति' भी लिखा हुआ है। यह गण कार्तिकेय की पूजा करता था। इनके वंशज जोहिया राजपूत कहलाते थे और सतलुज के किनारों पर बहावलपुर में बसे हुए थे।

सिकन्दर के ज़माने में मालव और क्षुद्रक बहुत शक्तिशाली गण थे। महाभारत पतञ्जलि और कात्यायन ने इनकी चर्चा की है। जहां कहीं चर्चा हुई है, वहां इन दोनों गणों की एक साथ चर्चा आयी है। जैसे कात्यायन और पतञ्जलि दोनों ने लिखा है: 'इकाकि क्षुद्रकेरजितम'। क. प्र. जायसवाल ने लिखा है कि क्षुद्रकों ने सिकन्दर को हरा दिया था। डियोडोरस ने लिखा है कि सिकन्दर से लड़ने के लिए दोनों गणों ने ९० हज़ार पैदल, १० हज़ार सवार और ९०० रथी जुटाए। परन्तु प्रधान सेनापति के चुनाव पर झगड़ा हुआ और लड़ाई न हुई। कर्टियस ने लिखा है कि दोनों गणों के १५० सरदार अपने अपने रथों में सवार होकर आत्म-समर्पण करने आए। उनका ठाठबाठ देख कर सिकन्दर स्तब्ध रह गया। उन्होंने सिकन्दर को ३० सवार, १०३० रथ जिनमें ४-४ घोड़ जुते हुए थे, बहुत सा कीमती रेशमी और सूती कपड़ा, कुछ सिधाए हुए शेर और मगरमच्छ की बहुत सी खालें भेंट कीं। फ़िरोज़पुर और भठिण्डे का इलाका आज भी इसी गण के नाम पर मालवा कहलाता है। करकोट ज़िला जयपुर (राजस्थान) से कुछ सिक्के मिले हैं जिन पर लिखा है—"मालवा नाम जयः!"। ये सिक्के ब्राह्मी में हैं। ये सिक्के विक्रमाब्द पूर्व ३०० के हैं। एलन का मत है कि विक्रमाब्द ४०० तक यह मालव गण पूर्वी राज-स्थान पर राज करते रहे। समद्रगुप्त के इलाहाबाद वाले शिलालेख से भी यही सिद्ध होता है। इस गण की राजशक्ति शकों और कुशाणों ने नष्ट की।

यूनानियों ने सांगला के इलाके में चीते, हाथी, जंगली भैंसे, जंगली बकरे और ऐसे ही अनेक पशु देखे थे। उन्होंने सांप पहली बार यहीं देखा। यूनानी चिकित्सकों ने सांप काटे का इलाज भारतीयों से सीखा। उन्होंने सुश्रुत का अध्ययन यहीं किया। उन्हीं द्वारा यह पुस्तक रोम पहुंची और वह इसका लेटिन में अनुवाद हुआ। कपास की खेती

भी उन्होंने पहली बार यहीं देखी। वे नहीं जानते थे कि सूती कपड़ा किस चीज़ से बनता है। उन्होंने यहां के समाज में दो ही वर्गों की चर्चा की : फिलासफर, (ब्राह्मण) और लड़ाके (क्षत्रीय) उन्होंने पंजाब की समृद्धि की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। उन्होंने यह भी लिखा है कि लाहौर, अमृतसर और सयालकोट (साकल) के निवासी कुरूप बच्चों को पैदा होते ही मार देते थे।

कौटिल्य अर्थशास्त्र में दो और जनपदों की चर्चा आती है जिनके नाम 'क्षत्रिय' और 'ओसाडी' लिखे हैं। एरियन ने भी इन की चर्चा की है और बताया है कि व्यापार और फौजी नौकरी इनका मुख्य व्यवसाय था। पतंजलि ने ओसादी और 'शिवि' दो गणों की चर्चा की है, परन्तु उनका कही कोई विस्तार से विवरण नहीं है। इस क्षत्रीय जनपद का एक सिक्का होशियारपुर ज़िले से मिला है जिस पर लिखा है 'राजन्य जनपद से'।

● ● ●



संकलन कर्त्ता—प्यारा सिंह पद्म

पंजाब के प्रमुख हिन्दी साहित्य-रत्न

नाम	समय	विशेष रचना
१—गोरख नाथ	(९४०-१०३१ ई०)	गोरख वाणी
२—चंद बरदाई	(१२२५-५० ई० रचनाकाल)	पृथ्वीराज रासो
३—गुरुनानक देव	(१४६९-१५३९ ई०)	आदि गुरु ग्रन्थ में वाणी
४—सूरदास	(१४७८-१५८० ई०)	सूर सागर
५—अब्दुल रहीम ख़ान ख़ाना	(१५५३-१६२५ ई०)	रहिमन सतसई
६—भाई गुरदास	(१५५३-१६३७ ई०)	कवित्त सवैये
७—गुरु अर्जुन देव	(१५६३-१६०६ ई०)	आदि ग्रन्थ में वाणी
८—कलसहार भट्ट	(१६०० ई० रचनाकाल)	आदि गुरु ग्रन्थ में वाणी
९—हृदयराम भल्ला	(१६२३ ई० रचनाकाल)	हनुमान नाटक
१०—चतुरदास	(१६३५ ई० रचनाकाल)	भागवत् एकादश स्कंध
११—राजाराम दुग्गल	(१६४७ ई० रचनाकाल)	सूर रम्भावत्
१२—मनोहरदास निरंजनी	(१६५९ ई० रचनाकाल)	ज्ञान मंजरी
१३—दयालानंद अनेमी	(१६७९ ई० रचनाकाल)	विज्ञान गीता
१४—हरिया	(१६५०-७५ ई० रचनाकाल)	फुटकर वाणी का ग्रन्थ
१५—श्री गुरुतेग बहादुर	(१६२१-१६७५ ई०)	आदि ग्रन्थ में वाणी
१६—श्री गुरुगोबिन्दसिंह	(१६६६-१७०८ ई०)	दशम ग्रन्थ
१७—चंद्र सेन सेनापति	(दशमेश का दरबारी कवि)	श्री गुरु शोभा
१८—अमृतराय लाहौरी	(,,)	सभापर्व, चित्र विलास
१९—गुरदास गुणी	(१७०३ ई० रचनाकाल)	कथा हीर रांझन की
२०—मंगल	(,,)	सल्य पर्व
२१—हंस राम	(,,)	कर्ण पर्व
२२—तन सुख लाहौरी	(१६८४ ई० रचनाकाल)	हितोपदेश

नाम	समय	विशेष रचना
२३—टहिकन जलालपुरी	(१६९९ ई० रचनाकाल)	अश्वमेध भाखा
२४—सुखदेव	(दशमेश का दरबारी कवि)	अध्यात्म प्रकाश
२५—अणी राय	(दशमेश का दरबारी कवि)	जंगनामा
२६—वलीराम	(दारा शिकोह का मुन्शी)	विचार सरोवर, अवगत हुलास
२७—गरीब दास	(१७१७ ई० रचनाकाल)	फुटकर वाणी
२८—प्रहलाद	(१७१९ ई० रचनाकाल)	उपनिषद् भाखा संग्रह
२९—खुशहाल चन्द	(१७००-१७६० ई०)	बिशन पदे
३०—बाबा गिरधर दास	(१७१३ ई० जन्म)	कुंडलिए गिरधर दास
३१—संत दास छिब्बर	(१७७७ ई० रचनाकाल)	जन्म साखी गुरु नानक शाह जी की
३२—रामप्रसाद निरञ्जनी	(१७९९ ई० रचनाकाल)	योग वसिष्ठ भाखा
३३—सुखा सिंह पटना	(१८वीं शताब्दी)	सर्वलोह प्रकाश
३४—संत सहिजराम	(१८वीं शताब्दी)	आसावरियां
३५—पंडित गुलाब सिंह	(१७३२-१८०० ई०)	भाव रसामृत, मोखपंथ
३६—बावा संत रेण	(१७४१-१८७१ ई०)	गुरु नानक दिग् विजय
३७—सुखा सिंह	(१७६८-१८३८ ई०)	गुरु विलास
३८—भाई संतोख सिंह	(१७८८-१८४३ ई०)	श्री गुरु प्रताप सूर्य्य
३९—साधु निश्चल दास	(१७९२-१८९२ ई०)	विचार सागर
४०—पंडित हरिदयाल	(१८२३ ई० रचनाकाल)	सारुक्तावली
४१—बीर सिंह बल	(१८२४-५४ ई० रचनाकाल)	गुरु कीर्ति प्रकाश, सिंह सागर
४२—कृष्ण लाल	(१८२९ ई० रचनाकाल)	सम्पूर्ण महाभारत
४३—उमादास	(१८२७-७७ ई० रचनाकाल)	महां भारत के कई पर्व
४४—दल सिंह	(,,)	आनंद प्रकाश सतसई
४५—कीर्त्त सिंह	(,,)	सतसैया रामायण
४६—टहिल सिंह	(१८३४ ई० रचनाकाल)	अलंकार सागर सुधा
४७—बुद्ध सिंह लाहौरी	(१८४१ ई० रचनाकाल)	बुद्धि वारधि
४८—गणेश दास	(१९वीं शताब्दी)	फतिह नामा गुरु खालसा जी का

नाम	समय	विशेष रचना
४९--साहिब सिंह मृगेंद	(१८७६ देहांत)	मन मानस प्रवाह, भक्तिभाव प्रभाकर।
५०--राम सुखराय	(१९वीं शताब्दी)	जस्सा सिंह विनोद ।
५१--पंडित श्रद्धाराम फिलौरी	(१८०७-१८८१ ई०)	सत्यामृत प्रवाह ।
५२--संत गुलाब दास	(१८०९-१८७३ ई०)	गुलाब चमन, उपदेश विलास ।
५३--बावा राम दास	(१८२३-६८ ई० रचनाकाल)	राजनीति, गण प्रस्तार प्रकाश ।
५४--पं० बसंत सिंह ऋतुराज	(१८२३-१८७९ ई०)	बसंत सतसई ।
५५--साधु अमीरदास	(१८२३-४३ ई० रचनाकाल)	कृष्ण साहित्य सिंधु, व्रजराज विलास सतसैया ।
५६--पंडित तारा सिंह नरोत्तम	(१८६५-८९ ई० रचनाकाल)	गुरमति निर्णय सागर
५७--ज्ञानी ज्ञान सिंह	(१८२२-१९२१ ई०)	श्री गुरु पंथ प्रकाश ।
५८--संत निहाल सिंह सोहलां	(१८३०-१८८९)	कवींद्र प्रकाश ।
५९--संत निहाल सिंह लाहौरी	(यही समय)	निर्मल प्रभाकर, सिक्खी प्रभाकर ।
६०--कवि निहाल	(१८४०-६५ ई० रचनाकाल)	सुनीति पंथ प्रकाश ।
६१--हरिनाम कवि	(१८३८ ई० रचनाकाल)	निहाल सिंह प्रमोदु चन्द्रिका ।
६२--बावा सुमेर सिंह	(१८६६ ई० रचनाकाल)	गुरु पद प्रेम प्रकाश ।
६३--पं० रतन हरि	(उन्नीसवी शताब्दी)	गुरु नानक चंद्रिका ।
६४--गणेशा सिंह वेदी	(उन्नीसवीं शताब्दी)	गुरु नानक सूर्योदय ।
६५--साधु गोविंद सिंह निर्मले	(उन्नीसवीं शताब्दी)	इतिहास गुरु खालसा

नोट--प्राय: ये रचनाएँ गुरुमुखी लिपि की हस्तलिखित प्रतियों में सुरिक्षत हैं, पंजाब के शोध कार्यकर्त्ता तथा विद्यार्थियों को चाहिए कि वे इन महान् साहित्य सेवियों पर काम करके कीर्त्ति तथा उपाधि प्राप्त करें ।

--०--

'बच्चन का व्यक्तिवाद'

पवित्रा शर्मा

मानव सामान्यतया सामाजिक विधि–निषेध रूढ़ि वातावरण के अनुरूप अपने को ढालता हुआ समाज का अभिन्न अंग बन कर समाज में रहने का प्रयत्न करता है, परन्तु कभी कभी इनकी अतिशयता उसके अहं को चुनौती दे बैठती है, तब वह उसके विरुद्ध विद्रोह करने के लिये वाध्य हो जाता है। ऐसी अवस्था में पुरानी मान्यताएं और आस्थाएं निष्प्राण होती दिखाई देती हैं और मानव जीवन के नवीन मूल्यों की स्थापना की बात सोची जानी है, मनुष्य में व्यक्तिवादी भावना का उदय होता है जिसके परिणामस्वरूप वह अपने को समाज के दृष्टिकोण से न देख कर समाज को अपने व्यक्तित्व के परिप्रेक्ष्य में आंकता है। यह एक ऐतिहासिक सत्य है जिसकी आवृत्ति विश्वसाहित्य में समय समय पर विभन्न कारणों और परिस्थितियों में होती रही है।

बीसवीं शताब्दी का व्यक्तिवाद अपने उग्रतम रूप में हमारे सामने आता है। विज्ञान युग में मशीनों की खड़खड़ाहट और युद्धों के कोलाहल में मानव का स्वर दबने लगा, सामन्ती साम्राज्यशाही और पूंजीवादी व्यवस्था ने उसके व्यक्तित्व को कुचलना चाहा तो मार्क्सवादी विचार-धारा ने उसे व्यापक सामाजिक डांचे के एक सामान्य अंश से कुछ अधिक मानने से इन्कार कर दिया। इन सब की एक प्रबल प्रतिक्रिया ही व्यक्तिवाद के रूप में हमारे सामने आई। फ्रायड, ऐडलर और यूंग जैसे मनोविश्लेषण पण्डितों ने मनोविज्ञान संबन्धी ऐसे नवीन .तथ्य प्रस्तुत किये जिनसे युग युग से मान्य नैतिक आदर्श थोथे प्रतीत होने लगे। योरोप के विर्जीनिया, वुलफ, जैयजज्वायस, म.म, नोवोकोव, इलियट, इज़रापाऊँड और सार्त्र जैसे कलाकारों ने व्यक्तिवाद को एक निश्चित स्वरूप दिया है।

हिन्दी साहित्य में व्यक्तिवादी भावना के प्रथम दर्शन छायावादी काव्य में किए जा सकते हैं जो द्विवेदी कालीन अतिनैतिकता और रूढ़िवादिता के विरुद्ध विद्रोह स्वरूप पनपी, परन्तु छायावादी काव्य की वैयक्तिकता प्रच्छन्न है। वह

रहस्य और दर्शन का आवरण ओढ़ कर चलती है। इस शाश्वत अलौकिक सूक्ष्म एवं वायवी भावना के स्थान पर उत्तर छायावादी काव्य में क्षणजीवी लौकिक मांसल एवं स्थूल व्यक्तिवाद ने जन्म लिया जिसका आधार कवि की व्यक्तिगत बौद्धिक चेतना संवेदना है। बच्चन इस धारा के प्रमुख कवि हैं। उन्होंने व्यक्तिवाद के जिस नवीन रूप की स्थापना की उस पर ख़ैयाम दर्शन का प्रभाव भी स्पष्ट है। फिर भी प्रमुख धारा से कुछ हट कर नहीं चले हैं। अतः उनके व्यक्तिवाद का अध्ययन सम्पूर्ण धारा के संदर्भ में तुलनात्मक रूप में ही किया जाना चाहिए।

यद्यपि व्यक्तिवादी काव्य का उदय छायावाद के खंडहरों पर हुआ और उसके अनेक तत्त्व इसमें सम्मिलित है। परन्तु फिर भी इन दोनों में पर्याप्त भिन्नता है। जहां संश्लिष्ट प्रवृत्तियों का काव्य होने के कारण छायावाद कुछ दुर्बल तत्वों के होते हुए भी आस्था, विश्वास, सौन्दर्य और आस्तिकता का काव्य बना रहा वहां उसके विघटन से ही उद्भूत व्यक्ति-वादी कविता नें वही तत्त्व ग्रहण किये जो कुछ तो युगीन परिस्थितियों और कुछ उसके निर्माताओं की अपनी वैयक्तिक रुचियों के कारण वेदना पराजय, प्रेम अथवा यौवन के उद्दाम स्वरूप का एकरस परिचय ही दे सके।

इस प्रकार इन व्यक्तिवादी कवियों ने छायावाद के इन तत्त्वों को ग्रहण करते हुए भी अपने काव्य में यथावत उनका वर्णन नहीं किया वरन् छायावादी काल्पनिकता और आवरणप्रियता के प्रति तीव्र और बहुत कुछ स्वाभाविक प्रतिक्रिया के वश में अपनी प्रगाढ़ अनु-भूतियों के रंग में रग कर बहुत कुछ बदले हुए रूप में प्रस्तुत किया। वैयक्तिक सुख-दुःख की अभिव्यक्ति छायावादी कवियों की भी विशेषता थी। छायावाद का कवि अपनी बातों को कुछ रहस्यात्मक ढंग से प्रस्तुत करता था और लक्षण का आश्रय लेकर उनका गहरा संकेतमात्र कर देता था जैसे——

कभी तो जग में पावन प्रेम
नहीं कहलाया पापाचार,
हुई मरू की मरीचिका आज
मुझे गंगा की पावन धार। (पंत)

परन्तु बच्चन जैसे व्यक्तिवादी कवियों ने अनुभूतियों को साफ साफ बिना किसी आवरण के व्यक्त किया है। वह 'एकान्त संगीत', 'मिलनयामिनी' या 'प्रणय पत्रिका' को निस्संकोच प्रस्तुत कर सकता है। उसे विस्मय है कि इस वृद्ध जग को उसकी जवानी क्यों अखरती है जबकि वे सब भी अपनी अपनी उमर में

यह सब कुछ करते आए हैं। बस इतना ही है कि——

मैं छिपाना जानता तो जग मुझे साधु समझता,
शाप मेरा बन गया बस छलरहित व्यवहार मेरा ।

उत्तर छायावादी काव्य के नींव भी व्यक्तिवाद पर टिकी हुई है। परन्तु व्यक्ति के अपने सुख–दुःख राग-द्वेष, अभाव और आकांक्षाओं आदि को इतनी स्थूल और स्पष्ट तथा निस्संकोच अभिव्यक्ति न तो छायावादी काव्य में हुई और न ही परवर्ती काव्य में ही संभव हो सकी। संकोचहीनता और साहस के साथ व्यक्ति मन की कुण्ठाओं और दुर्बलताओं का प्रत्यक्षीकरण प्रयोगवादी काव्य की भी महत्त्वपूर्ण विशेषता है परन्तु इतनी स्थूलता और प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति उनमें भी नहीं है। प्रतीकों तथा अन्य प्रकार के आवरणों से लिपटी छायावाद तथा प्रयोगवाद की छायामय तथा कुंठित वैयक्तिकता से भिन्न बच्चन जैसे कवियों ने हिन्दी काव्य जगत को एक भिन्न प्रकार की ही वैयक्तिकता से प्रथम बार परिचित करवाया।

छायावाद और प्रयोगवाद के कवियों ने वैयक्तिकता की भावना से ओतप्रोत होते हुए भी सामाजिक चेतना की एक हल्की लौ भी आदि से अन्त तक जलती रहती है, परन्तु बच्चन जैसे व्यक्तिवादी के लिये सामाजिकता हार्दिक स्वर न बन सकी। व्यक्तिवादी कवि ने यदि समाज को देखा भी है तब भी अधिकांशतः अपने व्यक्ति की आंखों से।

बच्चन के व्यक्तिवाद का अवसान न तो आध्यात्मिकता में होता है और न ही निर्वैयक्तिकता में। वह पूर्णतया पार्थिव है और निजी है। "छायावाद में भिन्न प्रभावों के कारण एक विश्वात्मा की स्वीकृति, कम से कम सिद्धान्त रूप में अवश्य थी, परन्तु इस कविता का कोई ऐसा आस्तिक आधार नहीं है। इसका व्यक्तिवाद मान्य आस्थाओं के प्रति संदेह और विद्रोह को लेकर चला है। उसके मूल में एक ओर आध्यात्मिक विश्वासों के प्रति सन्देह और दूसरी ओर नैतिक और सामाजिक निधान के प्रति विद्रोह का भाव है।" डा० नगेन्द्र का उक्त मत बच्चन के व्यक्तिवाद के रूप को पूर्णतया स्पष्ट करता है।

वैयक्तिक सुख–दुःख तथा प्रणय को व्यक्त करते समय छायावाद के कवि भी यदा कदा स्पष्ट हो जाया करते थे जिसका प्रमाण पंत की 'ग्रन्थि' और प्रसाद की 'आंसू' जैसी कृतियां हैं, परन्तु इन कवियों को इतनी स्पष्टता ही पर्याप्त न प्रतीत हुई थी—उन्होंने इस से आगे बढ़ कर प्रणय सम्बन्धी अभिव्यक्तियों में किसी प्रकार की अप्रत्यक्षता को प्रश्रय नहीं दिया। उसकी सर्वथा स्पष्ट, सर्वथा मुखर और अकृत्रिम अभिव्यक्ति को ही अपना लक्ष्य घोषित

कर उसकी पूर्ति के हेतु अपनी सारी क्षमताओं के साथ संलग्न हुए। बच्चन स्वच्छन्दपूर्ण मुक्त तथा बाधारहित प्रेम के उपासक थे——

'जब करूँ मैं प्यार हो न मुझ पर कुछ नियन्त्रण ,
कुछ न सोमा कुछ न बंधन, तब रुकूँ जब प्राण प्राणों से करें अभिसार ।

(एकांत संगीत)

प्रचलित सामाजिक नियम तथा रीतियां उनके इस दृष्टिकोण एव मान्यताओं के सर्वथा विपरीत थी, अतः इस सम्बन्ध में बच्चन की पहली टक्कर समाज और उसके इन नियमों तथा बन्धनों से हुई जो उनकी दृष्टि में आवश्यक थे । उन्होंने समाज और उसके इन अनुचित बंधनों के प्रति पूरी शक्ति के साथ अपनी आवाज़ उठाई तथा अपने ऊपर होने वाले समाज के अत्याचारों का भी व्यापकता से उल्लेख किया ——

अल्पतम इच्छा यहां मेरो वनी बन्दी पड़ी है।
विश्व क्रीड़ास्थल नहीं रे, विश्व कारागार मेरा। (मधुकलश)

बच्चन ने प्रणय के स्थूल से स्थूल और मांसल चित्र ही नहीं खींचे बल्कि अनेक स्थूलों पर तो उच्छृङ्खलता का भी परिचय दिया है जैसे——

अब उर लाज किससे लग रहीं है
आंख केवल प्यार की अब जग रही है।

(मिलन यामिनी)

अथवा——

कितना दासनामय रागिनी है।

परन्तु व्यक्तिवादी बच्चन द्वारा चित्रित प्रणय का रूप सदा ही विकृत अथवा विरूप हो, ऐसा नहीं है । उसका एक आकर्षक पक्ष भी है जो काफी प्रभावित करता है और वस्तुतः छायावादी आवरण-प्रियता तथा अतीन्द्रियता के विरुद्ध उनकी प्रतिक्रिया को अपने सुलझे और स्पष्ट रूप में उपस्थित करता है । बच्चन की इस प्रकार की कविताएं उनकी अनुभूतियों की संयत अभिव्यक्ति करने के कारण ही अस्वस्थता अथवा अश्लीलता से दूर प्रणय को उसकी सारी सरलता एवं स्वच्छता के साथ उपस्थित करती है——

यह चाँद नया है नाव नयी आशा की——

(प्रणय–पत्रिका)

छायावादी काव्य में जहां व्यक्तिवादी भावनाओं की व्यापक अभिव्यक्ति है वहां बच्चन के व्यक्तिवाद ने कहीं कहीं अहंवाद का रूप धारण कर लिया जो कि आधुनिक युग की विविध विकृतियों का ही परिणाम है । छायावादी कविता व्यक्तिवादी न रह कर व्यक्तिगत हो रही थी । इसके मूल में कवियों की अहंवादिता ही थी । अहंवाद की इस प्रवृत्ति का यह परिणाम हुआ कि जीवन संघर्ष में पराजित कवि अपने अहं के घेरे के भीतर जम कर वैठ गया । अब उसेने समाज की चिंता थी न लज्जा और भय । इसका परिणाम

यह हुआ कि वह खुले रूप से प्रेमिका का रूप चित्रण करने लगा। यद्यपि छायावादी कवियों का भी यह विषय था परन्तु उन्होंने जहां कहीं भी इस प्रकार का वर्णन करना चाहा है वहां उन्होंने प्रत्यक्ष रूप में अपनी प्रिय के सौन्दर्य का वर्णन न कर प्रकृति को इसे माध्यम बनाया अर्थात् परोक्ष रूप से प्रिया और प्रत्यक्ष रूप प्रकृति का वर्णन किया। इसके विपरीत बच्चन ने अभिसार, विरह की अनेक दशाएं, जीवन की अनेक सफलताएं, मृत्यु-पूजा, शराब और साकी से दिल बहलावा आदि का वर्णन अत्यन्त खुले शब्दों में किया है। बच्चन के पूर्ववर्ती छायावादी कवि व्यक्तित्व के उपासक तो थे परन्तु अहं के नहीं। वह अपने प्रति जागरूक रहते हुए भी जगत से सम्बन्ध त्याग नहीं करते थे। अतः वह अहंवादी नहीं व्यक्तिवादी थे।

जब व्यक्तिवादी कवि का अहं अधिक उग्र रूप धारण कर लेता है तब उसे कहीं शान्ति प्राप्त करने का स्थान प्राप्त नहीं होता --

अरे है वह शरणस्थल कहां?
जीवन एक समर है सचमुच
पर इसके अतिरिक्त बहुत कुछ।
(आकुल अंतर)

तब बच्चन को स्वयं उसका जीवन उसके व्यक्तित्व को छलता हुआ मालूम पड़ता है—

छल गया जीवन मुझे भी
और देखने में था अमृत वह
हाथ में आ मधु गया रह
और जीह्वा पर हलाहल विश्व का वंचन
मुझे भी (आकुल अंतर)

इस प्रकार व्यक्तिवादी कवि को जब चारों ओर निराशा ही निराशा दृष्टिगोचर होती है तो कभी कभी वह नियतिवादी भी बन जाता है और अपनी पराजय स्वीकार कर कह उठता है --

हो नियति इच्छा तुम्हारी पूर्ण, मैं चलता चलूंगा।
पथ सभी मिल एक होंगे तम फिरे यम के नगर में
यह है कुपथ पर पांव मेरे आज दुनिया की नज़र में (मधु कलश)

अथवा

एक दिन मैं लिया था काल से कुछ श्वास का ऋण
आज भी उसको चुकाता ले रहा कर गिनगिन।
भूलकर जग ने किया किस किस तरह अपमान मेरा
पूछता जग क्यों निराशा से भरा है गान मेरा
(मधुकलश)

अन्य लोगों द्वारा प्रकट की हुई संवेदना भी अब कवि को भारी मालूम पड़ती है--

किन्तु इस आभार का अब हो उठा है बोझभारी
क्या करूँ संवेदना लेकर तुम्हारी क्या करूँ।
(आकुल अंतर)

कवि की वेदना का भार इतना बोझिल हो गया है कि वह जीवन से निराश हो अपने को मुर्दा समझने लगा है और मृत्यु की छाया उसे चारों ओर दिखाई पड़ती है——

आओ सो जायं मर जायें
स्वप्नलोक से हम निर्वासित
कब से ग्रह सुख को लालायित
आओ निद्रा पथ में छिपकर
हम अपने घर जायें। (निशा निमंत्रण)

इस प्रकार की बातें तभी कवि के मुख से निकलती हैं जब कि कवि का व्यक्तिवाद घोर अहंवाद का रूप धारण कर लेता है । तब उसे अपने से बाहर देखने का अवकाश कहां । वह अपनी रुचि के अनुरूप अपनी अनुभूतियों का स्वच्छन्द चित्रण करता है । इस प्रकार का चित्रण नरेन्द्र शर्मा, अंचल आदि कवियों में अधिक मिलता है परन्तु बच्चन में इनका बाहुल्य है । 'आकुल अंतर' में मिलन की घड़ी का चित्रण वे इन शब्दों में करते हैं——

आज अधर से अधर मिले हैं
आज बांह से बांह मिली
आज हृदय से हृदय मिले हैं
मन से मन की चाह मिली
चांदसितारे मिलकर गाओ (आकुल अंतर)

अथवा——

तब तक समझूं कैसे प्यार
अधरों से जब तक न कराये
प्यारी उस मधु रस का पान।
(आकुल अंतर)

यूं तो बच्चन का समस्त काव्य ही व्यक्तिवादी है और स्वानुभूति पूर्ण है परन्तु 'निशा निमंत्रण' 'एकान्त संगीत' और 'आकुल अंतर' में इनके व्यक्तिवाद ने उग्रतम रूप धारण कर लिया है । इसके पश्चात् 'आकुल अंतर' के उत्तरार्द्ध में आकर कवि बाह्य जगत की ओर भी देखने लगा है और इसके पश्चात् कुछ रचनाएं पूर्ण तथा बहिर्मुखी हैं परन्तु 'मिलन यामिनी' और 'प्रणय पत्रिका' में कवि फिर अन्तर्मुखी हो गया है । इन कृतियों में कवि का संसार उसके और उसकी प्रेयसी तक ही सीमित है और उसी की उसने अनेक प्रकार से अभिव्यक्ति दी है । यहां आकर कवि यह कहता है ——

तृप्ति क्या होगी अधर के रसकणों से
खींच लो तुम प्राण ही इन चुम्बनों से
प्यार के क्षण में मरण भी तो मधुर है
प्यार के पल में जलन भी तो मधुर है

इस संग्रह की अनेक कविताएं ऐसी हैं जो 'निशा निमंत्रण' और 'एकान्त संगीत' के आत्मलीन कवि को निराशा और पीड़ा के क्षणों से बहुत कुछ दूर वैयक्तिक प्रणय के उन्माद, आशा तथा उत्साह के स्वरों का गान करते हुए प्रस्तुत करती है और कभी-कभी तो वैयक्तिक प्रणय के माध्यम से ही अधिक प्रशस्त पथों तक भी कवि को ले जाती है ।

बच्चन के व्यक्तिवाद का विवेचन करते हुए अन्त में यही कहा जा सकता है कि यद्यपि छायावादी कवि भी अपने

व्यक्तित्व का उपासक था और उसने भी अधिकतर अपने व्यक्ति से सम्बन्धित रचनाओं की सृष्टि की है परन्तु फिर भी वह बाह्य जगत से सम्बन्ध नहीं छोड़ता। उसने अपनी पीड़ा में जगत की पीड़ा के दर्शन किये हैं और उसके निवारण के लिये भी याचना की है परन्तु व्यक्तिवादी कवि शील शक्ति, सौन्दर्य से मुक्त होकर उद्दाम वासना की लहरों में डूबता उतरता दिखलाई पड़ता है। यद्यपि कवि बाद की कृतियों में आकर सर्वथा बहिर्मुखी हो गया है, परन्तु वहां आकर उनकी कविताएं उस उच्च कोटि में नहीं आतीं। इनकी व्यक्ति प्रधान बहिर्मुखी रचनाओं में तो इतनी नीरस अभिव्यक्ति है कि बच्चन वह बच्चन नहीं रह जाते। अतएव इन्होंने अपनी कृतियों में छायावादी कवियों से भिन्न व्यक्तिवाद के दर्शन हमें कराये जो प्रभाव और व्यवहार की दृष्टि से परवर्ती प्रयोगवादी और 'नई कविता' के व्यक्तिवाद से भी भिन्न है।

● ● ●



संस्कृत अनुसन्धान आवश्यक

"संस्कृत के विभिन्न अंगों पर आधुनिक दृष्टि से अनुसन्धान किये जायें। संस्कृत का प्रौढ़ पाण्डित्य नष्ट होता जा रहा है, उसकी रक्षा की जानी चाहिए। स्नातकों को सम्बोधित करते हुए प्रधान मन्त्री ने कहा कि संप्रदाय और वर्गभेद की पुरानी रूढ़ियों से ऊपर उठ कर संस्कृत वाङ्मय की इस घोषणा को सामान्य जनता तक पहुंचाना होगा कि मनुष्यों में भेद, ऊँच-नीच का भाव और किसी धर्म के प्रति घृणा हमारे शास्त्रों की मर्यादा और भारतीय संस्कृति की दृष्टि से संगत नहीं है।"

[वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के दीक्षान्त समारोह के अवसर पर दिये गये प्रधान मन्त्री जी के भाषण से उदधृत]

नियम

१--जन-साहित्य तथा सप्तसिन्धु में छपने के लिये भेजी जाने वाली सामग्री यथासम्भव सरल, सुबोध तथा सारगर्भित होनी चाहिए ।

२--लेख, कहानी, निबन्ध आदि सामान्यतः सफेद कागज पर और उसके एक ओर टाइप किये होने चाहिए ।

३--सप्तसिन्धु में शोधपूर्ण लेख तथा जन-साहित्य में सृजनात्मक रचनाएँ प्रकाशित होती हैं ।

४--अनुवाद या लिप्यन्तर के साथ मूल लेखक की अनुमति भेजनी आवश्यक है ।

५--लेखकों को लेख प्राप्ति की सूचना प्रायः १५ दिन के अन्दर दे दी जाती है ।

६--अस्वीकृत रचनाओं के सम्बन्ध में सूचना देने का नियम नहीं है ।

७--अस्वीकृत सामग्री लौटाने का नियम नहीं है ।

८--सामग्री के संशोधन एवं प्रकाशन के विषय में सम्पादक का निर्णय अन्तिम माना जाएगा ।

९--लेखों में प्रतिपादित विचारों के लिए सम्पादक उत्तरदायी नहीं होगा ।

१०--समीक्षार्थ पुस्तक की दो प्रतियां भेजनी चाहिएं ।

११--रचना के आरम्भ या अन्त में लेखक का पूरा नाम (अपने हस्ताक्षरों सहित) व पता स्पष्ट लिखा होना चाहिए ।

१२--लेखों, आदि के साथ टिकट न भेजे जाएं ।

१३--रचना के साथ लेखक रचना की मौलिकता और उसके अप्रकाशित होने का एक प्रमाण-पत्र भी भेजेगा ।

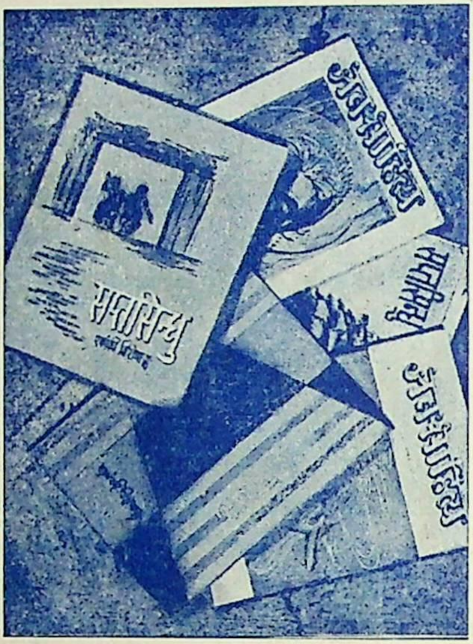
१४--लेख साम्प्रदायिक, राजनैतिक, और अश्लील नहीं होना चाहिए । इस तथ्य का प्रतिपादक एक प्रमाण-पत्र रचना के साथ भेजा जाए ।

१५--रचनाओं के गुण-दोष विवेचन पर किसी भी प्रकार का पत्र-व्यवहार या विचार-विमर्श नहीं किया जाएगा ।

--सम्पादक

हिन्दी विभाग, पंजाब के दो अनूठे मासिक प्रकाशन

सप्त सिन्धु



जन साहित्य

शोधपूर्ण एवं आलोचनात्मक साहित्यिक प्रबंधों का एक बोधक संचयन।

व्यंग्य-विनोद एवं सृजनात्मक सरस साहित्य का एक रोचक संकलन ।

दोनों पत्रिकाएँ डी० पी० आई०, पंजाब, डायरैक्टर पंचायत, पंजाब, तथा संचालक, लोक शिक्षण , मध्यप्रदेश, द्वारा पंजाब के सभी स्कूलों, कालेजों, लायब्रेरियों एवं पंचायतों तथा मध्यप्रदेश के स्कूलों, कालेजों एवं लायब्रेरियों के लिए स्वीकृत हैं ।

बढ़िया काग़ज़, सुन्दर छपाई, आकर्षक गेट-अप

प्रत्येक का :—

वार्षिक ६ रुपये **एक प्रति ५० पैसे**

आज ही निदेशक, हिन्दी विभाग, पंजाब, पटियाला को मनीआर्डर भेजकर ग्राहक बनिए।

श्री लाल सिंह, डायरैक्टर जनरल, भाषा विभाग, पंजाब, पटियाला द्वारा प्रिंटिंग एण्ड स्टेशनरी डिपार्टमैंट, पंजाब, पटियाला से छपवाकर प्रकाशित किया गया ।

सम्पादक—डा० परमानन्द

सप्तसिन्धु

12-5-65

मई, १९६५

हिन्दी विभाग, पंजाब, पटियाला

५० पैसे

○ देश के युवकों से मैं विशेष रूप से अनुरोध करूंगा, क्योंकि वे आने वाले कल के नेता हैं और उन पर भारत के मान और स्वतंत्रता की रक्षा का भार आयेगा। मेरी कामना है कि युवा और सुदृढ़ हाथ भारत की प्रज्जवलित मशाल को ऊपर उठाये रखें और उसके प्रकाश को धुंधला न होने दें, जिससे कि वह प्रकाश घर घर में पहुंचकर हमारी जनता में श्रद्धा, साहस और समृद्धि उत्पन्न करे।

○ भारत ऊंचा उठे। भारतवासी दुनिया के किसी भी देश के नागरिकों से पिछड़े न रहें। वे उन्नत नागरिक बनें। बस यही मेरी अभिलाषा है।

○ सच्चा नागरिक वह है जो निजी स्वार्थों से अधिक अपने समाज और खास तौर से अपने राष्ट्र के हित के लिये सोचे एवं क्रियाशील हो। भारत को ऐसे ही सच्चे नागरिकों की आवश्यकता है।

—जवाहरलाल नेहरू

सप्त-सिन्धु

इमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः

सम्पादक--डा० परमानन्द

वर्ष–१२ मई, १९६५ अंक–५

वेद-सुधा

उद्यानं ते पुरुष! नावयानम्
जीवातुं ते दक्षतांति कृणोमि ।
आ हि रोहेममममृतं सुखं रथम्,
अथ जिविदथमावदासि ।

[अथर्व ८, १, ६]

"हे मनुष्य ! तेरा उत्थान ही हो, उन्नति ही हो; नीचे (पतन) कभी न हो । तेरे जीवन को शक्तिशाली बनाता हूं । इस अमृतमय सुखकारी रथ पर त चढ़ जा । बुढ़ापे में जीर्ण होकर भी ज्ञान का प्रचार करता जा ।"

सम्पादकीय

भारत की वीर वाहिनी

अत्याचारी चीन आक्रान्ता को हमने अपनी पावन भारत-भूमि से खदेड़ना है-- युद्धविराम की अन्यायपूर्ण कल्पित सीमाओं को भारत ने न कभी माना है और और न मानेगा। हिमाच्छित धवलगिरि की चप्पा चप्पा धरती भारत की है और उसे हमने फिर से लेना ही है। यह अवस्था समर-विराम की नहीं प्रत्युत क्षणिक परिस्थितिओं का सन्तुलनमात्र ही इस विश्राम का लक्ष्य है। परन्तु चीन अपनी कूटनीति द्वारा पाकिस्तान को अपने प्रवञ्चना-प्रपञ्च में पूर्णतया फंसा चुका है। इन दोनों देशों की दुरभिसन्धि के द्वारा भारत को पुनः धर्मयुद्ध का निमन्त्रण स्वीकार करना पड़ रहा है। यद्यपि स्वभावतः हम शान्तिप्रिय हैं--हमारे राष्ट्रनेता विश्वशांति की महिमा को पूरी तरह से जानते हैं तथापि हम राष्ट्र-सम्मान को संकट में डाल कर भारत की गौरवमयी अतीत वीर परम्पराओं को भूल कर शान्तिगान नहीं कर सकते। आज पाकिस्तान ने भी हमें ललकारा है--भारत का यौवन अब भी आत्म-सम्मान रखता है। हमारे प्रधान मन्त्री श्री लाल बहादुर शास्त्री जी ने ठीक कहा है:--"भारत सरकार के मस्तिष्क में तनिक भी सन्देह नहीं कि पाकिस्तान को पूरी तरह से भारत से निकल जाना होगा और हम अपनी सीमाओं से उसे खदेड़ कर ही रहेंगे।"

इस कथन के पीछे भारतीय वीर परम्परा की अविच्छिन्न धारा है। बड़े बड़े आततायी आक्रान्ताओं को भारतीय युवकों ने अतीत में भी पछाड़ा है। चीनी साम्राज्य की मान-मर्यादा को तो विध्वस्त किए हुए अभी कुछ शतियां ही व्यतीत हुई हैं जब पेशावर के महाराजा कनिष्क ने उन्हें समराङ्गण में लोहे के चने चबाने पर विवश किया था। तिब्बत (त्रिविष्टप्) तो विशाल भारत का ही एक अंग बना हुआ था। अब भी लद्दाख के मोर्चे पर भारतीय सैनिकों ने अपनी

अजय्य शक्ति का परिचय दिया है। भारतीय वीर वाहिनी के जयघोष से आज विश्व का प्राङ्गण मुखरित हो रहा है।

परन्तु पाकिस्तान अमरीका से उधारी शक्ति लेकर अपने में फूला जा रहा है। उसे अब दिन में तारे दीखने लगे हैं। सोचता है कि भारत अब चीन के साथ संघर्ष में रत है। यह समय है कि मैं भी कुछ लूट लूं। भारत की नवनिर्माण की प्रशान्त-ज्योत्स्ना को देख कर वह ईर्ष्या की आग में जल उठा है। भाखड़ा डैम तथा अन्य उद्योगों को पनपता देख कर वह अंगारों पर लेटने लगा है। यदि पाकिस्तान सच्चे अर्थ में प्रगति चाहता तो वह भी इस निर्माणपथ को अपना सकता था। परन्तु वह तो उस रेत के समान है जिसमें अपनी उष्णता तो है नहीं--परन्तु जो निदाघ के मध्यान्ह मार्त्तण्ड की प्रखर धूप से सन्तप्त होकर शान्ति-प्रिय पथिकों के चरणों को झुलसना चाहता है--परन्तु शान्तिपथ का पथिक अपने पाओं के जूतों से सन्तप्त रेत को कुचल कर आगे बढ़ता ही जा रहा है।

पता नहीं पाकिस्तान को अब तक भी गत इतिहास से शिक्षा क्यों नहीं मिली ? १९४८ में भारत के जवानों ने केवल पाकिस्तान से डट कर लड़ाई ही नहीं की प्रत्युत अपनी विजय के झण्डे शत्रुओं को खदेड़ कर गाड़े थे। उस समय परिस्थितियां भी अनुकूल नहीं थी। अभी भारत का विभाजन हुआ ही था। लाखों हिन्दु-मुसलमान भारत से आ जा रहे थे। उनका तांता बन्धा हुआ था। उनके आवास की विकट समस्या थी। स्वतन्त्र भारत की सरकार अभी तक पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित भी नहीं हो सकी थी। सैन्य-संगठन भी अभी विचाराधीन ही था। अनेकों मुसलिम अधिकारी या सैनिक पाकिस्तान में जा चुके थे। अंग्रेज अफसरों के स्थान भी रिक्त थे। तथापि नये सैनिक अधिकारियों ने शून्य स्थानों को जैसे तैसे सम्भाला। परन्तु उनकी पराक्रम शक्ति में कुछ भी शिथिलता नहीं आई। जैसे जैसे भारतीय अधिकारी अपने सैनिकों के साथ काश्मीर में पहुंचते रहे--आक्रान्ताओं के कदम पीछे हटते रहे। बड़ी विकट कठिनाइयां थीं। स्थलमार्ग से सेना का पहुंचना कठिन था। वायुयानों के द्वारा सैनिक अनवरत जाते रहे। उनकी वीरता, पराक्रम, और अनुपम देशभक्ति ने उन्हें कभी शिथिलोत्साह नहीं होने दिया। पाकिस्तानी लुटेरा सैनिकों के कदम देश पर बलिदान होने वाले भारत वीरों के सामने कैसे टिक सकते थे। १ जनवरी, १९४९ को यदि अस्थायी

युद्धविराम का समझौता न होता तो आज पाकिस्तानी लुटेरा जम्मू और काश्मीर से बाहर होता। उन हिमाच्छित उत्तुङ्ग शैल शिखरों पर भारतीय वीर सैनिकों ने जो लोमहर्षण संग्राम किया उसका उदाहरण अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। जोजीला के दर्रे से पार होकर भारतीय जवानों ने भयंकर हिमपात होते हुए भी जब पाकिस्तानी सेना पर आक्रमण किया था तो शत्रुओं की सेनाओं को भाग जाने में ही अपना कल्याण दीखा। विश्व ने पहली बार यह देखा कि आठ दस हजार फुट की ऊंचाई पर जवान अपना जौहर कैसे दिखा सकते हैं। यह एक चमत्कार था। संसार को विश्वास न आता था। एक अंग्रेज भारतीय सैनिक अधिकारी ने जो अवकाश पर लण्डन गया हुआ था--वहां से पण्डित जवाहर लाल जी को लिखा था कि "आपको इस प्रकार के असत्य समाचार नहीं प्रकाशित करने चाहिए।"

यह है भारत की सैन्य शक्ति की अजेयता, अक्षुण्णता और ध्रुव साहस। आज पाकिस्तान उस अवसादपूर्ण अपने गत इतिहास को भूल कर पुनः सोते सिंह को जगाना चाहता है, युद्ध यद्यपि हमारा आदर्श या ध्येय नहीं। हम तो "जीओ और जीने दो" के सिद्धान्त पर आस्था रखते हैं। परन्तु ऐसा करते हुए हम भारत की प्रभुसत्ता को आंच नहीं आने देंगे। राष्ट्र-सम्मान की रक्षा सब सिद्धान्तों से ऊपर है। भारत आज कृत-संकल्प है कि वह अपनी प्रभुसत्ता की रक्षा प्राण-पण से करेगा। हमें भारत की वीर-वाहिनी पर पूर्ण आस्था है और वह सदा के समान आक्रान्ता को खदेड़ कर ही रुकेगी। हम युद्ध चाहते नहीं। यदि हम पर थोंपा जाय तो उससे कतराते भी नहीं। भगवान् कृष्ण ने कहा है :--

"सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ
लभन्ते युद्धमीदृशम्।" ।।गीता।।

(मासिक प्रकाशन——मई, १९६५)

वर्ष १२ ग्रंक ५

सम्पादक—डा० परमानन्द

परामर्श समिति

श्री कृष्ण मधोक
(सहायक निदेशक, अनुवाद)

श्री गुरुदत्त शर्मा
(सहायक निदेशक, अनुवाद)

श्री हरिचन्द पाराशर
(सहायक निदेशक, अनुवाद)

श्री त्रिलोकीनाथ रञ्जन
(सहायक निदेशक, कोश)

श्री ओम् प्रकाश भारद्वाज
संयोजक
(सहायक निदेशक, विकास)

हिन्दी विभाग, पंजाब, पटियाला

कवि-घनानन्द के काव्य में भाव-तत्त्व

बैजनाथ सिंहल

हिन्दी साहित्य के मध्यकाल को दो भागों में विभाजित किया गया है :—

१. पूर्वमध्यकाल और २. उत्तरमध्य-काल । मूलतः उपरोक्त काल में तीन प्रकार की काव्यधारायें प्रवाहित थीं—(१) भक्ति की (२) रीति की और (३) स्वच्छन्द वृत्ति की । भक्तिधारा का उद्गम, पूर्ण विकास और चरम परिणति पूर्वमध्यकाल में ही हुई । अतः पूर्वमध्यकाल को भक्तिकाल का भी नाम दिया गया । निस्संदेह भक्तिकाल का प्रभाव अपने छिटे-पुटे रूप में आगे के साहित्य पर भी पड़ा और हिन्दी साहित्य में इसका अत्यधिक महत्त्व है तो भी स्वीकार करना होगा कि भक्ति ही उक्त काल का साध्य थी और कविता उसके लिये साधनमात्र । इस कथन की पुष्टि तो कबीर जैसे कवियों के अस्तित्व से हो जाती है ।

दूसरी रीतिधारा में साध्य काव्य ही था और साधन भी काव्य ही । परन्तु काव्य में साध्य और साधन पर सम्यक दृष्टि अपेक्षित है, जबकि रीति-कविता में इसका न्यूनाधिक रूप में अभाव है । काव्य के बहिरंग पर अधिक ध्यान देना रीति-कवियों का लक्ष्य सा बन गया था जिसके फलस्वरूप अन्तरंग कुछ सीमा तक उपेक्षित सा रह जाता था । इस पर कुछ निश्चित एवं निर्धारित विधि एवं नियमों में जहां कहीं भी किसी प्रकार की त्रुटि हुई तो रीति-कर्त्ता निम्नकोटि का कवि-कर्म समझते थे ।

तीसरी काव्यधारा थी स्वच्छन्द काव्यधारा । रीति की भांति इस काल में भी साधना और साध्य दोनों काव्य ही थे यहां अन्तर यह था कि इस धारा के कवियों ने साधना की अपेक्षा साध्य पर अधिक बल दिया । लेकिन उसका अर्थ यह भी नहीं है कि यहां पर साधन को सर्वथा तिलांजलि दे दी हो । दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि रीतिधारा की साज-सज्जा में बुद्धि का योग अधिक है जिसके कारण काव्य का साध्यभाव खिसकता सा

नज़र आता है और इसी कारण भाव इसका किंकर है। इसके विपरीत स्वच्छन्द काव्य की रानी अनुभूति है और उसकी दासी है—बुद्धि ।

"रीझी सुजान सची पटरानी बची बुद्धि बावरी है करि दासी ।"

इस प्रकार रीतिधारा की झील से स्वच्छन्द धारा की नहर का उद्गम हुआ। स्वच्छन्द काव्य के भावभावित होने के कारण आंतरिकता इसका सर्वोपरि गुण है। यहां स्मरण रखना होगा कि यही वह दृष्टि है जिसके द्वारा इन कर्त्ताओं की रचनाओं के मूल उत्स तक पहुंचा जा सकता है ।

स्वच्छन्दधारा के प्रमुख-कर्त्ताओं में रसखान, आलम, बोधा, ठाकुर, घनानन्द और द्विजदेव कवियों के नाम लिये जा सकते हैं । इनके अतिरिक्त कुछ अन्य कवि भी इस धारा में मिलते हैं, परन्तु इन सब में श्रेष्ठ घनानन्द ही हैं । घनानन्द की श्रेष्ठता का कारण उनकी अभिव्यक्ति में साहित्यिक निखार और संवेदना की सहजता है जबकि अन्य कवियों में केवल वेदना की सहज अभिव्यक्तिमात्र है । समुचित रूप में कहा जा सकता है कि स्वच्छन्द धारा के कवियों में यदि एक गुण उपलब्ध होता है तो घनानन्द में उन सबके गुणों का समावेश है। उनकी श्रेष्ठता का आभास स्वयं उनकी निम्न-लिखित पंक्ति से होता है :—

"लोग हैं लागि कबित्त बनावत मोहि तो मेरे कबित्त बनावत"

घनानन्द की काव्य रचना के दो प्रकार हैं—१. प्रेम-संवेदना की अभिव्यक्ति, २. भक्ति संवेदना की अभिव्यक्ति । घनानन्द काव्य के प्रशस्तिकार ब्रजनाथ ने घनानन्द की कविता के मीमांसक के जो गुण कहे हैं, वे वास्तव में घनानन्द के ही हैं ।

"नेही महा ब्रज-भाषा प्रबीन और
सुन्दरतानि के भेद को जानैं
जोग-वियोग की रीति मैं कोबिद भावना
भेद स्वरूप को ठानैं
चाह के रंग भीज्यौ हियो, बिछुरे मिलैं
प्रीतम सांति न मानैं
भाषा-प्रबीन सुछंद सदा रहैं, सो घन जी के
कबित्त बखानैं ।"

तथा

"प्रेम सदा अति ऊंचो लहै,
सु कहै इहि भांति की बात छकी
सुनि कै सबके मन लालच दौरे,
पै बौरे लखैं सब बुद्धि चकी
जग की कविताई के धोखे रहैं,
ह्यां प्रबीनन की मति जाति जकी
समुझै कविता घनानंद की,
हिय आंखिन नेह की पीर तकी ।"

इस प्रकार "बिछुरे मिलैं प्रीतम सांति न मानैं" वाले प्रेम समुद्र के गोताखोर की

कविता का उनके लिये "समुझे कविता घनानंद की हिय, ग्रांखिन नेह की पीर तकी।" यथार्थ ही है । ग्रौर, "जग के कविताई के धोखे रहैं हयाँ प्रवीनन की मति जाति जकी ।" इस प्रकार के काव्य-मार्ग के प्रवीण-पथिक भी जिस रचना को देख कर चकपका जायें, उसकी उत्कृष्टता का सहज ही ग्रनुमान किया जा सकता है ।

ग्राचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी का कथन है कि "घनानन्द को प्रेम की गूढ़ ग्रन्तर्दशाग्रों को व्यक्त करने में सब से ग्रधिक सफलता मिली है । प्रेम की जो भी परिस्थितियां हो सकती हैं, सबका परिचय घनानन्द की कविताग्रों से हो जाता है ।" शुक्ल जी का कथन घनानन्द के समस्त काव्य मन्थनोपरान्त नवनीत निष्कर्ष है ।

ग्रतः "सुनि कै सब के मन लालच दौरे पै बौरे लखैं सब बुद्धि चकी ।" ग्रादि केवल मात्र उत्कृष्ट ग्रालोचकों के कथनों को मान लेना उचित नहीं है, जब तक कि उनके काव्य को समुचित रूप में पढ़ा न जाये ।

यद्यपि घनानन्द जी ने संयोग ग्रौर वियोग दोनों का वर्णन किया है, परन्तु उनकी वृत्ति संयोग वर्णन में ग्रधिक रमी नहीं । सम्भवतः इसीलिये उनके संयोग वर्णन में वह मार्मिकता नहीं जो वियोग वर्णन में है । वे प्रधानतः वियोग के कवि हैं ।

समसामयिक कवियों से ग्रनुभूति-जन्य विरह-वेदना ही घनानन्द को श्रेष्ठतर स्थान प्रदान करती है । उनकी वियोगानुभूतिपरक रचनाग्रों में उन के प्राण बोलते प्रतीत होते हैं । शंभुप्रसाद बहुगुना के ग्रनुसार "ग्रनुभूतियां, ग्राकांक्षाएं, मनोवृत्तियां, उनमें ग्रविच्छिन्न रूप से करुण-संगीत में घनीभूत होकर सहज स्वाभाविकता के साथ पूर्ण रूप से व्यक्त हुई हैं ।"

प्रस्तुत स्थल पर शंभुप्रसाद बहुगुना एक प्रकार से संकेत करते हैं कि घनानन्द के काव्य में जो कुछ भी हलचल है, वह भीतर की ही है ।

घनानन्द की स्वच्छन्दता का ग्राधार उनकी ग्रनुभूति होने के कारण उनके विरह निवेदन में गहरी ग्रनुभूति,ग्रत्यन्त विषाद-भरी कातरवाणी, ग्रसीमित पीड़ा, द्रवित कर देने वाली दीनता ग्रौर चुभने वाली कसक प्रखर प्रवाह में प्रवाहित है । उनका जीवन निराशा के ग्रन्धकार से परिपूर्ण है ग्रौर व्यथा की उत्ताल तरंगें वियोग पारावार में ग्रभिवृद्धि करती हैं । पगपग पर ऐसे भयंकर ग्रौर कालसदृश वातावरण में वे ग्रपनी जीवन नौका खेते चल रहे हैं, परन्तु एकमात्र धैर्य का ग्रवलम्ब पाकर ही तो । प्रेम मार्ग की उपरोक्त कठिनाइयां उन्हें नहीं रोक सकतीं । इसी कारण प्रिय के प्रति उन के प्रेम में उत्तरोत्तर ग्रभिवृद्धि होती रहती है । उनका प्रेम तो

चातकों जैसा है, अनुकूल परिस्थिति हो अथवा प्रतिकूल उसे आंच नहीं आती। कभी कम नहीं होता और अन्त होने का तो सवाल ही पैदा नहीं होता। और यही एकांगी प्रेम की विशेषता है जो प्रिय के अनुकूल न होने पर भी बढ़ता ही है। चातक का प्रेम एकांगी होता है और घनानन्द का भी एकांगी ही है। चातक का प्रिय मेघ उसकी तनिक भी परवाह नहीं करता है और तुलसीदास जी के शब्दों में

"उपल बरसि, गरजत तरजि, डारत कुलिस कठोर

फिर भी

चितव की चातक मेघ तजि कबहूँ दूसरी ओर।"

यही उपरोक्त एकनिष्ठता घनानन्द में भी लभ्य है; चातक से घनानन्द के प्रेम में एक विशिष्टता यह है कि चातक प्रिय मेघ उस पर कभी-कभी अनुग्रह अवश्य करता है, परन्तु घनानन्द का प्रिय सुजान तो बिल्कुल ही मौन बैठा है।

यदि शृंगार की वियोग प्रधान दृष्टि पर विचार किया जाये तो यह परम्परा विविध रूपों में, विभिन्न कालों में अवतरित होती है, परन्तु कवि घनानन्द में तो यह उन के समकालीन कवियों से भी कहीं अधिक, विशिष्ट और अलग रूप में सामने आती है।

स्मृति का धुंधले रूप में से निकल कर, स्पष्ट से स्पष्टतर होने में ही वियोगावस्था की अनुभूति भी तीव्र से तीव्रतर होती चली जाती है। विशेषकर संयोगावस्था की अनुभूतियां वियोगावस्था की स्मृति को घनीभूत कर देती हैं। प्रिय के रूप-सौंदर्य का ध्यान आयेगा तो चिर-तृषित नेत्र अकुलाएंगे ही! यही सौंदर्यानुभूति घनानन्द को भी विह्वल किये हुए है।

"छबि को सदन, मोद-मंडित बदन-चंद
तृषित चखन अब कब धौं दिखायहौ।
चटकीलो भेष करैं, मटकीली भांति सों ही,
मुरली अधर धरैं लटकत आयहौ।"

नेत्रों की संयोगकालीन और वर्तमान स्थिति में कितना अन्तर पड़ गया है, देखिए :—

"तब तो छबि पीवत जीवत हे,
अब सोचन लोचन जात जरे
हित पोष कै तोष सु प्रान पलै,
बिललात महादुख दोष भरे
घन आनंद भीत सुजान बिना,
सब ही सुख साज समाज टरे
तब हार पहार से लागत हे,
अब आनि कै बीच पहार परे।"

प्रिय के रूप-माधुर्य का स्मरण भी आखिर कहां तक करे? वेदना तो निरन्तर बढ़ रही है, और उसका एकमात्र आधार है—उसका प्रिय। उसके अतिरिक्त वह यह सारा कुछ बताये भी तो किसे बताये। लेकिन वह निष्ठुर ध्यान तक नहीं देता। ऐसा लगता है मानों प्रेमिका को भूल कर अब निष्ठुरता ही उसकी चिर-

संगिनी हो गई है। अब तो उसका प्रिय ही सकुशल रहे यही उसकी कामना है। इसमें उसके प्रिय का दोष नहीं, यह सब दोष तो उसकी अपनी किस्मत का है।

"जासो प्रीति ताहि निठुराई सों निपट नेह,
कैसे करि जिय की जरनि सो जताइयै ।
महा-निरदई दई कैसे कै जिवाऊं जीव,
वेदन की बढ़वारि कहां लौ दुराइयै ।
दुख का बखान करिबै को रसना कै होति,
ए पै कहुं वा को मुख देखन न पाइयै
रैन दिन चैन को न लेस कहुं पैये,
भाग आपने ही ऐसे दोष काहि धौं लगाइयै ।"

आगे चल कर प्रिय अपने प्रेम की शपथ याद दिलाता है और अपनी विवशता का स्मरण दिलाता है । इस प्रकार वियोगावस्था में उत्पन्न हुई सभी अवस्थाएं घनानन्द के सामने हरदम चक्कर लगाती सी प्रतीत होती हैं। प्रत्येक प्रेमी को अपने प्रेम की निष्ठता पर सर्वाधिक विश्वास होता है। प्रेम की रीति वही समझ सकता है जिसने कभी प्रेम किया हो। इस प्रकार की रुखाई से तो प्रतीत होता है कि उनके प्रिय को प्रेम का पता ही नहीं। गलती से ये उनके प्रेम-पाश में बंध गये । लेकिन इनका प्रेम तो सच्चा था जो कि अब भी उन्हीं के प्रति है । अब तो बस संयोगकालीन बातें अपनी मूक वाणी से प्रिय तक पहुंचाने के सिवा और कोई चारा नहीं :—

"क्यों हंसि हेरि लियो हियरा,
अरु क्यों हित के चित्त चाह बढ़ाई
काहे को बोलि सुधासने बैननि,
चैननि मैन निसैन चढ़ाई
सो सुधि मो हिय में घना आनंद,
सालति क्यों हु कढै न कढ़ाई
भीत सुजान अनीति की पाटी,
इतै पै जानिये कौने पढ़ाई ।"

इसी प्रकार निरन्तर स्मृति उपालम्भों में परिवर्तित हो जाती है । अत्यन्त बाध्य होकर वह कह उठता है कि उस समय तो बड़ी-बड़ी बातें करते थे । आने की एक निश्चित अवधि बता गये थे । बार-बार प्रेम जताते थे । अब वह प्रेम कहां ढल गया ? यदि तुम्हारे मन में तोड़ने ही की थी तो विश्वासघाती स्नेह क्यों जोड़ा ? क्या प्रेम लगा कर तोड़ने के लिये होता है? जो काम करना न आता हो तो वृथा में ही बिना सोचे-समझे उसमें धंसना ठीक नहीं होता :—

"मन मांहि जो तोरन ही की हुति,
बिसवासी स्नेह क्यों जोरत है।"

और

"कछु नेह निबाह न जानत हे,
स्नेह की धार में काहे धँसे ।"

लेकिन इतना कुछ कह देने से तो केवल मन को सान्त्वना मिल सकती है और वह भी अत्यन्त अल्पकाल के लिये । बजमारा विरह तो पिंड ही नहीं छोड़ता । अन्ततः

पत्र लिखने की सोचती है —लेकिन उसके पास समय कहां ? दिन-रात प्रिय की मूर्ति उसके नेत्रों के आगे घूमती रहती है। उसकी एक अभिलाषा थी प्रिय से एक बार साक्षात् कर उससे आलिंगन करने की। शायद वह स्वप्न में ही पत्र लिख देती, परन्तु स्वप्न में उपरोक्त अभिलाषा आन व्यक्त होती है। उसके दर्दीले बोल जिह्वा तक पहुंचते ही भस्म हो जाते हैं। पत्र लिखते समय अंगुली बहक जाती है क्योंकि विरह ने तो उसे दाँती से घायल कर दिया है। अब तो पत्र प्रेषित करने में भी वह असमर्थ है।

"घनानन्द जीवन प्राण लसौं,
लिखो किही भांति परैं पतियां।"

कवि कहता है ऐसी निष्ठुरता तो शत्रु में भी नहीं होती। रह-रह कर प्रेम-कथा याद आती है और वियोग में वह जहर में बुझे वाण की सी लगती है। प्रेम में इस तरह तड़पा-तड़पा कर प्राणान्त की स्थिति तक पहुंचा देना सर्वथा अनुपयुक्त है। संसार की यह रीति भी कितनी विलक्षण है कि जिससे हृदय खोल कर बात करो वही उपेक्षा करने लगता है। वियोग में प्रेमी की आंखों की व्याकुलता चित्रपट की भांति साकार व मूर्तिमान हो गई है। नेत्र दिन रात ऊबे-ऊबे से रहते हैं। बिना प्रियदर्शन के अब उनमें जलन सी रहने लगी है। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें भस्मक रोग हो गया है।

"देखिए दसा अंखियां असाध निपेटनी की,
भस्मी बिथा पै नित लंघनि करति हैं।"

भस्मक रोग में रोगी सामान्य भोजन का कई गुणा अधिक करने लगता है लेकिन उसकी भूख शान्त नहीं होती। और विलक्षणता की बात तो यह है कि वह नित्य दुबला होता जाता है। परन्तु यहाँ आंखें केवल पेटू नहीं निरातम पेटू हैं, 'निपेटनी' हैं। फिर भी नित्य भस्मक और लंघन। यदि प्रियदर्शन से कुछ लाभ हो सकता है तो वह अप्राप्य है।

उपरोक्त भस्मरोग कवि घनानन्द के विरह का चरम रूप है। भले ही यह अतिशयोक्तिपूर्ण प्रतीत होता हो, परन्तु इसे पढ़ते ही पाठक कवि-हृदय के उस भाग में उतर जाता है जिसने इस गहन-दर्द को प्रसूत करके, सहज ही पाठक को तादात्म्य कर लेने पर बाध्य कर दिया है। तादात्म्य का कारण कवि और पाठक का अनुभूति साम्य है। जहां तीखी बुभुक्षा पर ध्यान गया सारी योजना स्पष्ट है।

भस्मक रोग हो भी क्यों न ? संयोगकालीन दृश्यों का अजस्र प्रवाह अब हृदय-विदारक चोटें मार रहा है। संयोग में नेत्र रूप रस पीते नहीं अघाते थे। प्रायः वियोग में संयोगकालीन सुख प्रतिक्रिया स्वरूप मन को दुगने दुःख से भर देते हैं। सुगन्धि तक मन को उद्दीप्त

कर देती है। मन की गांठ सुलझ नहीं पाती :—

"बिकच नलिन लखैं, सकुचि मलिन होति,
ऐसो कछु अंखियां अनोखी उरझनि है
सौरभ समीर आये बहकि दहकि जाये,
राग-भरे हिय में विराग, मुरझनि है।
जहां जान-प्यारी रूप गुन को न दीप लहै,
तहां मरै ज्यौ परे विषाद-गुरझनि है
देखिए अटपटी दसा अंखियां निपेटनी की,
क्यों हूँ घनानन्द न सूझै सुरझनि है।"

इस प्रकार ये करुणा-भरे चीत्कार स्वाभाविक रूप से उपालम्भों में बदल जाते हैं। प्रिय उसे समझ कैसे सकते हैं, उन्होंने तो दुःख का सामना किया ही नहीं। भला जो कष्ट जानता ही नहीं वह उसकी गहराई तक कैसे पहुंचे। जो निरन्तर लेता ही रहे और देना न जाने उसे क्या पता कि वियोग में किसी पर कैसी गुजरती है।

"लै ही रहे हौ, सदा मन और को,
दैबे न जानत जान दुलारे
देख्यो न है सपनेहु दुख,
त्यागे संकोच और सोच विचारे।"

कई स्थानों पर उपालम्भ श्लिष्ट हो गये हैं जो सूरदास की गोपियों के उपालम्भों से भी बढ़ कर लगते हैं।

"कहौ कौन धौं पाटि पढ़े हो लला,
मन लैहू पै देहु छटांक नहीं।"

भावों की कितनी गहरी और सुन्दर अभिव्यंजना 'घनानन्द' में प्राप्त होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेम की व्यथा सहने में अनेक दशाएं काव्य में वर्णित की गई हैं। प्रेम के क्षेत्र में इतनी सूक्ष्मता किसी भी अन्य कवि में दिखाई नहीं देती। भावों की इतनी गहन अभिव्यंजना किसी भी अन्य शृंगारी कवि में उपलब्ध नहीं। सभी कल्पित प्रेम की मंजूषा लिए खड़े हैं। अनुभूति-जन्य विरह केवल घनानन्द ही में प्राप्य है।

कवि घनानन्द के प्रेम की वास्तविक उत्कृष्टता तो उन कवित्तों में व्यक्त होती है जहां वे प्रेम पथ पर अडिग होकर, अपने प्रेम को आशा की डोर से बांध कर जीवन-यापन करने की दृढ़ होड़ लगाये हैं। वे मछली की भांति कायर नहीं है जो आशा को नाममात्र भी नहीं जानती और 'नीर-स्नेही' को कलंक लगा कर प्राण-त्याग देती है। घनानन्द के प्रेम के समक्ष मीन और पतंग की साधना तुच्छ है।

"हीन भये, जल मीन अधीन,
कहा कछु मो अकुलानि समानै
'नीर-स्नेही' को लाय कलंक,
निरास ह्वै कायर त्यागत प्रानै।"

इस प्रकार के एकांगी प्रेम पर आश्चर्य होना कोई असम्भव बात नहीं। आशा का सम्बल तो यहां तक है कि यदि प्रिय मुख दिखाना नहीं चाहते तो न दिखायें, वह तो केवलमात्र पीठ देख कर ही सन्तोष कर लेगा। प्रिय को उपालम्भ देना तो घनानन्द के विचारों में भूल है। इसमें सारा दोष उसके हृदय का है। उसका प्रिय तो

चन्द्रमा-सदृश है । भला कहीं चन्द्रमा को भी चकोरों की कमी होती है :—

"कहा कहु चंद ही चकोरन की कमी है"

इस प्रकार—"हेत पग्यो किधौं प्रेत लग्यो है" वाली अवस्था को पार कर स्वयं को भी कवि दोषी ठहराता है ।

घनानन्द के भाव त्यौहार-वर्णन को भी घेरे में लिये हुए हैं । फागुन महीने में भला उड़ाये गए रंग तो उसके पीले पड़े अंगों के सामने तुच्छ हैं ।

और प्रकृति-चित्रण में भी घनानन्द के भाव उत्कृष्टतम रूप में सामने आये हैं । प्रकृति के चिर-सहचरी होने के कारण संयोग और वियोग दोनों अवस्थाओं में कवि का ध्यान उस ओर गया है । प्रकृति संयोग में सुखकारी और वियोग में विरह-दुख को तीव्र करने वाली होती है । प्रकृति का विरहोद्दीपनकारी रूप ही घनानन्द ने प्रधानतया लिया है, परन्तु स्मरण रखना होगा कि उसका चित्रण अनुभूतिपरक ही हुआ है । रीतिकालीन कवियों की भांति केवल प्रकृति के बाह्य स्वरूप को ही उन्होंने नहीं लिया ।

रात्रि उनको भयंकर नागिन लगती है । फूल में कांटे उगे हुए प्रतीत होते हैं । चांदनी में जैसे अग्नि की दाहकता है । वर्षा की बूंदें उन्हें जलाती हैं । और चातक, मयूर, कोकिल, बोल बोल कर जैसे उसके प्राण ही निकाल रहे हों सभी कुछ उनके विपरीत हो गया है ।

"सुधा तें स्रवित विष, फूल में जमत शूल
तम उगलित चन्द, भई नई रीति है
जल जारैं अंग, राग करैं सुरभंग
सम्पत्ति विपत्ति पारैं, बड़ी विपरीति है।"

विरह के अन्तर्गत प्रकृति के इस क्रूर और विपरीत रूप की ओर ही उनका ध्यान नहीं गया, प्रकृति की विरही के प्रति समानुभूति का चित्रण भी उनके काव्य में मिलता है ।

"विकल–विषाद भरैं, ताहि की तरफ तकि,
दामिनि हूँ लहकि बहकि यौं जरयौ करै ।

और:—

बूंद न परति मेरे जान-प्यारी ! तेरे
विरही को हेरि, मेघ आंसुनि झरयौ करैं ।"

इससे सूक्ष्म और भावात्मक रूप और हो भी क्या सकता है । विरही को देख कर ही बादल आंसू झरते हैं और उसके विषाद को न देख सकने के कारण बिजली जल उठती है ।

प्रकृति का तीसरा रूप जो पशु-पक्षियों के उन्मादक स्वरों से विरही के हृदय को कुरेद कुरेद कर व्यथा जगा देता है, वह भी अपने में किसी प्रकार कम नहीं ।

"कारी कूर कोकिला कहां को बैर काढ़ति री,
कूकि कूकि अब ही करेजो किन कोरि लै
पैंडे परे पापी ये कलापी, निसद्यौस ज्यों ही,
चातक घातक, त्यों ही तू हू कान फोरि लै

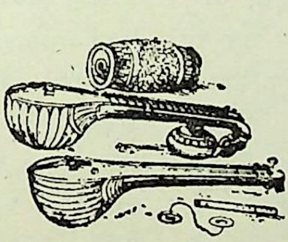
आनन्द के घन, प्रान जीवन सुजान बिना,
जानि कै अकेली, सब घेरो दल जोरि लै ।
जौं लौं करैं आवन विनोद बरसावन वे,
तौ लौ रे डरारे बजभारे घन घोरि लै ।"

अभी भी प्रिय के आने की आशा कितनी बलवती है । प्रकृति के माध्यम से भावों की ऐसी कमनीय योजना बहुत ही कम कवियों में उपलब्ध है । इस प्रकार घनानन्द के भावों का सम्यक विवेचन करने के उपरान्त आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्द––"यद्यपि इन्होंने संयोग और वियोग दोनों पक्षों को लिया है, पर वियोग की अन्तर्दशाओं की ओर ही दृष्टि अधिक है।" यथार्थ ही है ।

इस प्रकार घनानन्द का प्रेम लौकिकता की गहराइयों से गुजरता हुआ अध्यात्म के शिखर पर भी प्रतिष्ठित होता है और यही वियोग श्रीकृष्ण की ओर ढल गया है। प्रेम में मांसलता का स्थान ले लिया है रहस्यमय पारलौकिक आध्यात्म ने । परन्तु भावों की अभिव्यंजना भक्ति-भावना के आवरण से स्पष्ट नहीं हो सकी । अतः लौकिक काव्य में ही उस के दर्शन होते हैं ।

वस्तुतः घनानन्द रीति-बन्धन से मुक्त, स्वच्छन्द मनोवृत्ति वाले कवि थे । विरह और उसकी अनेक अन्तर्दशाओं अन्तवृत्तियों के वर्णन की ओर ही उनका ध्यान था । कल्पना को प्रश्रय न देकर अपने हृदय के पूर्ण योग-सहित अपने काव्य को अनेक नूतन और कमनीय भावों से रंजित किया। अनुभूति-जन्य प्रेम-पीर की अभिव्यक्ति होने के कारण उनके हृदय का उद्वेग मानों काव्य- रूप ग्रहण कर लेता है । उन के काव्य की प्रत्येक पंक्ति में विरह-विह्वल आंसू तैरते प्रतीत होते हैं । अनुभूति की सत्यता और वेदना की गहराई को व्यथायुक्त रूप देने में कार्य किया उनकी प्रांजल-भाषा ने । पाठक पढ़ते समय काव्य-पुस्तक का अस्तित्व भूल कर ऐसा अनुभव करता है मानो साक्षात् कवि से उसकी व्यथा सुन रहा हो । इस प्रकार कवि घनानंद की भाव अभिव्यंजना हर प्रकार से श्रेष्ठ और उत्कृष्ट है ।

○ ○ ○



'नवीन' जी की पत्रकारिता

डाँ० लक्ष्मी नारायण दुबे

'नवीन' जी की पत्रकारिता एवं सम्पादन-कला का प्रत्यक्ष एवं प्रमुख संबंध कानपुर की मासिक पत्रिका 'प्रभा' एवं दैनिक तथा साप्ताहिक पत्र 'प्रताप' से रहा है । 'प्रताप' से ही उन्हें सम्पादक के रूप में विशेष ख्याति प्राप्त हुई । 'प्रभा' के जुलाई, सन् १९२३ से 'नवीन' जी ग्रौर श्री माखनलाल चतुर्वेदी सम्पादक हुए । ग्रक्टूबर, १९२३ ई० से 'नवीन' जी ही 'प्रभा' के एकमात्र सम्पादक रहे ग्रौर ग्रन्त तक बने रहे । इनके सम्पादन काल में चित्रों के ग्राधार पर लिखित कविताग्रों का क्रम क्षीण हो गया ग्रौर पत्रिका में व्यंग्य चित्रों के प्रकाशन की संख्या बढ़ गई । 'नवीन' जी के ही सम्पादन में ही 'झण्डा विशेषांक' प्रकाशित हुग्रा था जिसकी सर्वत्र प्रशंसा हुई ग्रौर उस युग के पत्रों ने इसका बड़ा ग्रभिनन्दन किया । इसमें झण्डा सत्याग्रहियों के परिचय, बलिदान की कथा ग्रौर ध्वज-विषयक कविताग्रों का समावेश था । इसके १०८ पृष्ठों के विशाल कलेवर में विपुल सामग्री भरी पड़ी है । 'बेलगांव कांग्रेस ग्रंक' भी ग्रत्यन्त सुन्दर निकला था ।

'प्रभा' में 'नवीन' जी ने ग्रनेक प्रकार की सम्पादकीय टिप्पणियां लिखीं यथा 'शंख-ध्वनि', 'मध्य एशिया पर यूरोप की ग्रांखें', 'ग्रन्यायी कानून की ग्रांत' ग्रादि, उनकी टिप्पणियों एवं ग्रग्र-लेखों में राष्ट्रीयता तथा निर्भीकता के प्रचुर ग्रंश प्राप्त होते हैं । इस समय वे सामान्य भाषा का ही प्रयोग करते थे । श्री रामनाथ 'सुमन' ने 'नवीन' की 'प्रभा' सम्पादन-कला ग्रौर तद्विषयक ग्रादर्श का निरूपण करते हुए लिखा है कि ''मुश्किल से दो एक ऐसे मिलेंगे, जो 'चीज़' देखते हैं, समझते हैं कि कविता क्या चीज़ है ग्रौर महत्त्वपूर्ण रचनाएं किसे कहते हैं ? जिन सम्पादकों से ग्रभी तक मुझे काम पड़ा है, उनमें 'प्रभा'—सम्पादक ग्रौर नवीन-स्कूल के सहृदय कवि पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' मुझे इस विषय में बहुत ग्रच्छे लगे । तुकबन्दी होने पर वे बड़े-बड़े कवियों की 'कविताएं' लौटा देते थे । मित्रता भी उन्हें लुभा न सकती थी—

यों तो दोष सब में होते हैं, उनमें भी थे। उन्होंने कितनी ही बार मेरी तुक-वन्दियां, मेरे लेख लौटा दिये हैं। उनका यह व्यवहार समालोचकोचित न्याय पर आश्रित था, इसलिये कभी मेरे मन में कुभाव न आया, वरन् स्नेह और श्रद्धा बढ़ती गई। 'प्रभा' ने अपने जीवन में, औसतन, सब हिन्दी-पत्रिकाओं से अच्छी कविताएं और गम्भीर लेख निकाले। अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति सम्बन्धी वे विद्वतापूर्ण टिप्पणियां और सम्पादकीय गद्य-काव्य आज भी याद आते हैं।"

'प्रताप' में प्रारम्भ से ही 'नवीन' जी सह-सम्पादक के रूप में कार्य करते रहे। वे सर्वप्रथम साप्ताहिक 'प्रताप' के दो अंकों के सम्पादक १७ सितम्बर, १९२३ व २४ सितम्बर, १९२३ तक बने। गणेश जी के आत्मोत्सर्ग के पश्चात् ५ अप्रैल, १९३१ से 'नवीन' जी 'प्रताप' के मुद्रक, प्रकाशक और सम्पादक हो गए। बाद में 'नवीन' जी एवं श्री हरिशंकर विद्यार्थी ही 'प्रताप' के मुख्य कार्यकर्ता रहे। 'प्रताप' ट्रस्ट के ये दोनों महानुभाव आजन्म ट्रस्टी बने रहे। ५ जुलाई १९३१ ई० के अग्रलेख 'क्या सूबे में आग लगाने का इरादा है ?' के प्रसंग में 'नवीन' जी पर धारा १२४–ए का अभियोग चला था।

'नवीन' जी ने अपने जीवन का बहुत-सा भाग पत्रकार-कला की साधना में ही व्यतीत किया। पत्रकारिता की शिक्षा 'नवीन' जी ने गणेश जी के चरणों में बैठ कर ली है। उनकी सम्पादकीय टिप्पणियों में युग तथा समाज को आबद्ध किया गया है। 'प्रताप' पर चले दो प्रसिद्ध मुकद्दमे—'राय बरेली मानहानि केस' और "मैनपुरी अभियोग" के मूल स्रोत 'नवीन' जी के ही क्रान्तिकारी अग्रलेख थे। उनकी 'वे' शीर्षक सम्पादकीय टिप्पणी, सर्वोत्कृष्ट टिप्पणी मानी जाती है। इसके अतिरिक्त 'पधारो देव', 'मिर्ची की धुनी और तमाचा', 'ओल्डमैन आफ दी सी', 'काला साइमन बनाम गोरा साइमन', 'लंगोटी की धूम', 'विषपान' आदि प्रख्यात अग्रलेख माने गये हैं। श्री श्रीकृष्ण दत्त पालीवाल ने लिखा है कि उसके लेखों की धाक थी। अंग्रेजी के अच्छे-अच्छे दैनिक पत्रों में भी बालकृष्ण के लेखों की चर्चा होती थी। उनका अंग्रेजी भाषा पर भी सम्यक् आधिपत्य था और इसके भी वे पत्रकार हो सकते थे, परन्तु राष्ट्र-भाषा के प्रेम ने उन्हें ऐसा नहीं बनने दिया।

गणेश जी की पत्रकारिता के आदर्श, सिद्धान्त और सम्पादकीय लेखन की पद्धति से 'नवीन' जी की पत्रकारिता में साम्य एवं वैषम्य दोनों ही हैं। गणेश जी जहां 'जनभाषा' का प्रयोग करते थे, वहां 'नवीन' जी 'संस्कृत निष्ठ' हिन्दी का। गणेश जी विशुद्ध देशभक्त तथा निर्भीक पत्रकार थे परन्तु 'नवीन' जी में इन गुणों के होते हुए भी, कवि हृदय का स्वामित्व था जोकि

उन के गद्य पर भी आच्छादित है । 'नवीन' जी स्वतः आन्दोलित हो अन्यों को आन्दोलित करते थे जबकि गणेश जी स्वयं आन्दोलित न हो, दूसरों को उत्प्रेरित कर दिया करते थे । गणेश जी के अग्रलेखों में राजनैतिक प्रखरता मिलती है जबकि 'नवीन' जी में साहित्यिक प्रशस्ता। गणेश जी की अपेक्षा 'नवीन' में भावावेश, जोश, मर्यादा, का अतिक्रमण के अंश अधिक दृष्टिगोचर होते हैं । 'नवीन' ने अपने पत्रकार-पथ पर सदा सर्वदा उसी प्रदीप को प्रज्वलित रखा जिसमें से गणेश जी द्वारा प्रवर्तित मानव-सेवा, तपश्चर्या, साहसशीलता तथा ओजस्विता की उज्ज्वल किरणें निस्रत हो रही थीं । श्री मन्मथनाथ गुप्त ने 'नवीन' में पाठक को उत्तेजित कर देने का सबसे बड़ा गुण पाया था ।

'नवीन' जी पत्रकारों तथा उनके संघों के प्रति भी सदैव सचेष्ट तथा हितकारी रहा करते थे । उनके मतानुसार, पत्रकार को अपने दिमाग की खिड़कियां सदा खुली रखनी चाहिए और फाकामस्ती में रहकर भी अपने सिद्धान्त से च्युत नहीं होना चाहिएं । वे सन् १९५१ में मध्यभारत पत्रकार परिषद् के अध्यक्ष भी निर्वाचित हुए थे । आचार्य शिवपूजन सहाय ने लिखा था कि उसके (प्रताप) कुशल सम्पादक पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', अमर शहीद विद्यार्थी जी के शोचनीय अभाव में भी, उसका झण्डा पहले ही की तरह ऊंचा किये हुए हैं । उसके सम्पादकीय स्तम्भों में हृदय की ज्वाला, मस्तिष्क का तेज, आत्मा की हुंकार ध्वनि, भाषा का चमत्कार और रणचण्डी की ललकार भरी होती है । 'नवीन' की सम्पादन-कला हिन्दी पत्रकारिता का आभूषण है ।

○ ○ ○

तपस्विनी-महादेवी—
एक साक्षात्कार

○

डा० दुर्गादत्त मैनन

शैशव के भोलेपन के अनन्तर ज्यों ही कुमारावस्था ने शरीर में पदार्पण किया तो मेरा साहित्यिक परिचय महादेवी जी से होना आरम्भ हुआ। इस भाव प्रवण वयः सन्धि में मैंने उनकी कविताओं से पर्याप्त प्रेरणा प्राप्त की। मेरा भावुक हृदय इन कविताओं के अन्तस्तल में अजस्र वाहिनी सरस्वती की पीयूष धारा के समान प्रच्छन्न नई प्रेरणाओं और कल्पनाओं के स्वप्निल जगत् में खोया सा रहने लगा। अप्रबुद्ध कुमार के समान मैं इन कविताओं के रहस्य को जानने का प्रयास करने लगा।

उस समय कवयित्री महादेवी मुझे एक ज्योति, एक ज्योत्स्ना एक नीहारिका के समान प्रतीत होती थीं। मैंने अपने बाल-सुलभ विचारों और भावनाओं के अनुसार उस समय जो उनका बाह्य रूप उतारा था, वैसा ही साक्षात्कार के समय में उन्हें पाया।

यौवन की दहलीज पर कदम रखते हुए ही मैंने अधिक जिज्ञासा से उनकी गीतमयी वाणी में कुछ प्रणय का मांसल रूप झांकने की चेष्टा की।

वेदना, विरह, आतुरता, मानसिक संकोच, और भावों की तरलता में मुझे भग्न निराशा, अतृप्त एवं अपूर्ण प्रणय का लास्य दीखने लगा। वीणा वादिनी महादेवी के सौम्य और माधुर्यमय रूप में हृदय में सुगुप्त वासनाओं का आभास होने लगा।

डा० नरेन्द्र के समान मैं उनकी रचनाओं में अजीर्ण वासनाओं और अवचेतन भावनाओं का चित्र निहारने लगा।

महादेवी जी का वह निर्मल चित्र कुछ अन्य प्रकार के संवेदनाओं और अनुभूतियों के कारण कुछ धूमिल सा प्रतीत होने लगा।

इस काल में आपकी रचनाओं का विशेष अध्ययन किया गया। उनके सहयोगी कवियों के साथ उनकी तुलना का प्रयास भी किया। पन्त, निराला और प्रसाद की रचनाओं से महादेवी जी की विचार शृंखला की समता अंशों में उपलब्ध

हुई, परन्तु अधिक अनुसंधान करने पर उनमें विषमता अधिक मात्रा में प्रतीत हुई ।

उनकी रहस्य भावना, उनका छायावाद, उनके शब्द-चित्र, उनके संस्मरण और उनके रेखाचित्र सभी मुझे अन्य कवियों से सर्वथा विभिन्न अनुभव हुए ।

कुछ लोगों ने उनकी तुलना मीरां से की और उन्हें इस युग की मीरां कह कर अपनी अनभिज्ञता का परिचय दिया । कुछ लोग मीरां से आगे बढ़कर उनके अन्तर में विरहिणी राधा का उन्मुक्त प्रणय झांकने लगे । आधुनिक युग के शोध-पत्रों के लेखकों ने विश्वविद्यालयों से डाक्टरेट की पदवी प्राप्त करने के लिये कभी उनकी तुलना कबीर से कभी पश्चिमीय कवयित्री रोजिटी और कभी उनकी समता भारत कोकिला सरोजिनी नायडू से की । परन्तु उनकी वास्तविक मनः स्थिति विचित्र अनुभूति एवं उनके गीतों और चित्रों के रहस्यमय पक्षों को कोई भी न जान सका ।

महादेवी जी साक्षात्कार से पूर्व इसी प्रकार प्रत्येक भावुक व्यक्ति के लिये सदा ही एक पहेली सी बने रहते हैं । जैसा मैंने अनुभव किया वैसे ही अन्य महानुभावों के साथ अनेक अवसरों पर वार्तालाप करते हुए ज्ञात हुआ ।

आधुनिक समीक्षकों के नवीन समीक्षा के मानदण्डों के आधार पर किसी साहित्यकार की सच्ची समीक्षा के लिये उसके जीवन एवं उन विभिन्न परिस्थितियों तथा प्रतिवेशों का ज्ञान आवश्यक होता है, जिनसे गुजरते हुए उसने अपनी भावनाओं को मांसल रूप दिया । परन्तु मेरा अपना यह विचार है कि यदि जीवन के ज्ञान के साथ ही साथ वह उस कलाकार का साक्षात्कार भी करे, तो वह उसकी उचित समीक्षा कर सकता है । प्रत्यक्ष और परोक्ष में केवल इतना ही भेद होता है कि पहले से निश्चयात्मक प्रतीती होती है और दूसरे से केवल स्वप्न अथवा आकाश के प्रसूनों की केवल कल्पनामात्र की जाती है । एक यदि जीवित और जागृत वस्तु का दर्शन कराता है, तो दूसरा केवल उसका आभासमात्र ही सुझाता है ।

इन कारणों से मैं कुछ समय से उस काल की प्रतीक्षा में था कि उनका साक्षात्कार करके ही उनकी वास्तविकता को जाना जा सके ।

पांच वर्ष के लगभग समय हुआ कि मुझे अपने कालेज के छात्रों के पर्यटन दल के साथ उत्तरी भारत के विभिन्न ऐतिहासिक स्थानों को देखने के लिये जाना पड़ा । मैंने इस दल में केवल उन्हीं छात्रों को चुना जो इतिहास, प्राचीन वास्तुकला एवं साहित्य में अधिक रुचि रखते हों ।

यह छात्रों का दल मंसूरी, नैनीताल, लखनऊ, कानपुर होता हुआ प्रयागराज के पवित्र स्थान पर भी पहुंचा ।

छात्रों को संगम में स्नान करा कर एवं अक्षयवट के माहात्म्य तथा किले के अन्दर अभी तक सुरक्षित अशोक के धर्म अभिलेख सम्बन्धी सभी वृत्तान्त जान कर मैंने जब छात्रों से भावी कार्यक्रम के बारे में पूछा तो उन्होंने महादेवी जी के दर्शन करने की एकस्वर से उत्कट अभिलाषा प्रकट की ।

मेरा मन भी उनके सुझाव से आनन्दित हो उठा। बचपन की साध को पूरा करने का यह अच्छा दैवी अवसर प्राप्त हुआ ।

हम लोग त्रिवेणी से ही महादेवी जी के निवास-स्थान की ओर चल पड़े ।

महिला विद्यापीठ का नाम हम लोगों ने सुन रखा था । प्रयागराज के टट्टुनुमा घोड़े ढिल-मिल चाल से इक्कों को खींचते हुए हमें विद्यापीठ के उस फाटक के पास ले गये, जिससे छात्रों का ही नहीं अपितु प्रत्येक नवागंतुक का प्रवेश निषिद्ध था ।

अन्त में कुछ चक्कर काट कर हमारा दल आचार्या जी के भवन की ओर मुड़ा ।

इसमें प्रवेश की कोई वाधा नहीं थी । केवल एक साधारण परिचारक ने हमारे आगमन की सूचना आचार्या जी को दी ।

छात्र कुतूहल से उनके आगमन की प्रतीक्षा करने लगे । मैं भी कुछ भावावेश में खोया हुआ सा अपने मन में चिर अंकित उनके रूप को साक्षात्कार करने के लिये उत्सुक हो उठा । कौमारावस्था, तारुण्य और प्रौढ़ता के अन्तरालों से झांकता हुआ उनका चित्र धूमिल सा होकर सामने आने लगा।

परिचारक ने आकर सूचना दी आज आचार्या जी इस समय विद्यापीठ के किसी आवश्यक कार्य में व्यस्त हैं। उन्हें अत्यन्त खेद है कि वे आज आप लोगों को समय नहीं दे सकेंगी । कल आप लोग ठीक ३ बजे मध्यान्होत्तर यहां आ जायें और वार्तालाप के अनन्तर कुछ साधारण सा जलपान का भी प्रबन्ध यहां होगा ।

हम लोग मन ही मन हिन्दी की वीणा-वादिनी शारदा की प्रशंसा करते हुए प्रयागराज की अविस्मरणीय विभूति भारत के प्रधान मन्त्री पंडित जवाहरलाल नेहरू के शैशव की क्रीड़ास्थली आनन्दभवन को देखने के लिये चल पड़े ।

शीतऋतु की वह रजनी एक बिरहिणी की अश्रुधारा के समान समाप्त होने में नहीं आती थी। मैंने उस ज्योत्स्ना रहित निशा में अपने मन को एकाग्र कर उन सब प्रश्नों को मौखिक रूप में संगठित करने का प्रयास किया, और छात्रों को भी कहा गया कि वे व्यक्तिगत प्रश्न के अतिरिक्त एक एक प्रश्न उन से पूछ सकते हैं ।

अत्यन्त प्रतीक्षा के अनन्तर अगले दिन का वह समय आ ही गया जब मैं

अपने छात्रों के दल को लेकर ठीक समय से कुछ पूर्व ही महिला विद्यापीठ के बाह्य भाग में निर्मित आचार्या जी के नीड़ के पास पहुंच गया ।

परिचारक को जैसे पहले से ही आदेश दिया गया था उसने हमारे दल को बिना किसी रोक टोक के आचार्या जी के अतिथि गृह के आलेख्य भवन में आराम से बैठा दिया ।

यह आलेख्य भवन भारत की महान् विभूति महादेवी जी की वेशभूषा के समान श्वेत परिधानों से पूर्ण था । इसमें एक मंच पर एक वीणा रक्खी हुई थी । दूसरे कोने में उनका एक भव्य तैल चित्र रखा हुआ था । चित्र यद्यपि महादेवी जी की आयु और रूप का ठीक परिचय नहीं देता था परन्तु उसमें उनका प्रबुद्ध व्यक्तित्व स्पष्ट झलकता था । मुखाकृति से सौम्यता, सरलता और नैसर्गिक माधुर्य स्पष्ट अभिव्यक्त होता था ।

आलेख्य भवन के अन्य पार्श्व में श्वेत खद्दर में सिमटा हुआ सा एक सोफा भी था । आगन्तुकों के लिये उपाधानों सहित कुछ अन्य भी छोटे-छोटे मंच रखे हुए थे । यह छोटा सा भवन वास्तव में महादेवी जी की अन्तरात्मा का प्रतिबिम्ब सा था ।

चारों ओर सुव्यवस्था, शालीनता, और सुरुचिपूर्ण उपकरणों का चुनाव किया गया था ।

आलेख्य भवन की सज्जा मृच्छ-कटिक के नायक चारुदत्त के प्रासाद का स्मरण करा देती थी ।

इतने में महादेवी जी के पदचापों की ध्वनि सुनाई दी । मैंने छात्रों को संकेत से मौन कराया एवं उन के अभिनन्दन के लिए तैयार रहने को कहा ।

महादेवी जी खद्दर के श्वेत परिधान में लिपटी हुई हमारे समक्ष उपस्थित हो गईं । समय की गति ने उन्हें अब प्रौढ़ा बना दिया था । अलकों में चांद की रश्मियां झांकने लगी थी । देहलता में कुछ शिथिलता और दुर्बलता के साथ ही साथ पीलापन भी दिखाई देता था ।

कहानियों में सुनी हुई परियों के समान मन्द मुस्कान से उन्होंने हमारा स्वागत किया ।

•

सब के बैठ जाने पर साधारण सा छात्रों का तथा अपना परिचय देकर हम लोगों में इस प्रकार वार्तालाप होने लगा । मैं अपने मन में स्थिर होकर भारत की नारियों का मुखर प्रतिनिधित्व करने वाली उस तपस्विनी उपासिका की ओर देख देख कर यह सोचने लगा कि वास्तव में जो रूप मैंने आपका आयु के विभिन्न मध्यान्तरों में आंका था । वही रूप आज प्रत्यक्ष देख रहा हूँ । अन्तरात्मा की वाणी और भावनाओं के धूमिल चित्र कभी मिथ्या नहीं होते ।

इतने में महादेवी जी ने इस प्रकार हमारी निस्तब्धता को भंग किया ।

महादेवी जी–मुझे खेद है कि मैंने आप लोगों को कल समय नहीं दिया । जीवन कुछ ऐसा जटिल सा होता जाता है कि उससे मुक्त होने का जितना भी प्रयास किया जाता है मानव उतना ही उसमें फंसता जाता है ।

मैं—हम लोग आपके अत्यन्त अनुगृहीत हैं कि आपने हम लोगों के लिये इतने व्यस्त होते हुए भी कुछ समय निकाल ही लिया । आप जैसे लोगों का तो दर्शन ही महान् पुण्यों से प्राप्त होता है ।

महादेवी जी—भाई ! अपने को इतना तुच्छ न समझा करो । मानव चाहे कितना ही बड़ा क्यों न हो जाये, अन्त में वह मानव ही रहेगा ।

मैं—मानव की यह परिभाषा शास्त्रीय तो नहीं साहित्यिक ही प्रतीत होती है ।

महादेवी जी—शास्त्र और साहित्य में बड़ा भेद है । शास्त्र मस्तिष्क की उपज है और साहित्य हृदय की अनुभूति है ।

मैं—तो आप के विचार में शास्त्र निकम्मा है । क्या मानव को केवल हृदय की ही आवश्यकता है ?

महादेवी जी—भाई ! तुम तो व्यर्थ में वाद विवाद पर तुल पड़े । मैं तो एक साहित्यकार के अन्तस्तल की भावना को अभिव्यक्त कर रही हूँ । संसार की इस दौड़ में मस्तिष्क और हृदय अर्थात् दर्शन और शास्त्र एक दूसरे से पृथक् नहीं किये जा सकते ।

अच्छा भाई, इस विवाद को यहीं बन्द करो । छात्रों को संबोधित करती हुई आपने फिर कहा—मेरे राष्ट्र के होनहार लालो, क्या तुम हम भाई, बहिनों के वाद-विवाद निपटाने का प्रयास न करोगे ?

एक छात्र—आचार्या जी ! यह तो आप दोनों के लिये आवश्यक प्रश्न है । आप लोगों की आयु में समझौता कम ही होता है । हम लोग इस हारजीत के झगड़े में न पड़ कर जीवन के उषाकाल में समझौते के ही संबल से आगे बढ़ते हैं ।

महादेवी—आधुनिक युग का छात्र कितना प्रतिभाशाली हो सकता है, यह मैं आज ही अनुभव कर रही हूँ । यह समझौता, यह सामंजस्य ही तो जीवन का रस है ।

द्वितीय छात्र—आचार्या जी ! आपके कथनों में कुछ कवियों जैसी अतिरंजकता है । आप आजकल के युवकों के अवगुणों की उपेक्षा करती हैं ?

महादेवी—किसी युग में भी मानव आदर्श नहीं बन सका । आदर्श भावना तो एक कल्पनामात्र है । परन्तु मैं इतना अवश्य मानती हूँ कि आधुनिक युग के युवक का बौद्धिक स्तर अपने पूर्वजों की अपेक्षा काफी ऊंचा है ।

वार्तालाप की दिशा को तोड़ते हुए मैंने कुछ धृष्टता का सहारा लेकर महादेवी जी से पूछा कि आपकी कविता का प्रेरणासूत्र कौन है ?

महादेवी—अब मैं कवियों की भाषा में ही इसका उत्तर दे रही हूँ । प्रेरणा वास्तव में किसी से भी नहीं प्राप्त होती । यह तो आत्मा की अपनी ही पुकार है । कई लोग कहते हैं कि करुणा की भावना मेरी रचनाओं में बौद्ध आगमों के अध्ययन से हुई है । कई लोग कहते हैं कि मैंने माता के स्तन्य और पिता के स्नेह के साथ इसे पाया । सब कुछ सीमा तक ही सत्य है । मैंने जो कुछ गाया क्योंकि मैंने जो कुछ लिखा, वह गीतमय है, तालमय है, लास्यमय है । मैंने पावस के बादलों से अपने हृदय के आंसुओं को मिला कर जो गाया क्या वह किसी ग्रन्थ या व्यक्ति से सीखा जा सकता है ? ओह ! मैं बातों में बहुत कुछ कह गई ।

मैं—आपने हमारी एक समस्या का तो समाधान कर दिया । क्या मैं आपसे यह पूछने की धृष्टता कर सकता हूँ कि आपके गीतों में जो प्रणय याचना, विह्वलता विवशता, तादात्म्यता और समर्पण की भावना पाई जाती है, उसे निरीन्द्रिय न कह कर मांसल अथवा स्थूल वासना का प्रच्छन्न आवरण क्यों न कहा जाये ?

महादेवी—भाई ! तुम मुझे समझने में यहीं तो त्रुटि करते हो । मांसल स्थूल वासना, ये सब शब्द सापेक्ष हैं । यौवन की उत्ताल तरंगों में बहने वाले के लिये इनका अर्थ कुछ और है । कुछ इनके माध्यम से निस्सीम की ओर बढ़ते हैं । परन्तु मैं ऐसा नहीं मानती ।

प्रणय के लिये आलंबन और उद्दीपन दोनों ही आवश्यक हैं । परन्तु यही दोनों उस व्यक्ति के लिये और ही भाव को द्योतित करते हैं, जो शैशव से ही इनसे ऊंचा उठ जाता है । क्या नचिकेता का उदाहरण आप को बताने की कोई आवश्यकता है ?

मैं भी बचपन से ही कुछ ऐसे ही

वातावरण में पली हुई हूँ। मेरे लिये वेदना, करुणा ही आलंबन है, विषाद और अवसाद ही मेरे लिये उद्दीपन हैं। मैं जग को अपने में और अपने को जग में देखती हूँ। मेरा स्व संवेद्य दुःख ही परसंवेद्य अवस्था में पहुंच कर एक रूपता को प्राप्त करता है।

मैं—तो क्या आपकी दृष्टि में संसार के स्थूल सुख निरर्थक हैं?

महादेवी—भाई! मैं यह कब कहती हूँ।

मैं—स्थूल और मांसल भी संसार में एक विशिष्ट दिशा की ओर संकेत करते है?

मैं—मैं तो यह समझता हूँ कि आपकी सुख दुःख की परिभाषा केवल कल्पनामात्र है।

महादेवी—भाई! कल्पना उसी की की जाती है, जिसका अस्तित्व होता है।

एक छात्र—आचार्या जी, हम लोगों के काम की भी कोई बात करें। आप दोनों फिर दार्शनिक बनते जा रहे हैं।

महादेवी—युवक! तुम मुझ से जो चाहो पूछ सकते हो। केवल मेरे पारिवारिक जीवन अथवा व्यक्तित्व के संबंध में कोई भी प्रश्न न पूछना।

द्वितीय छात्र—आपने अपनी रचनाओं को सहसा क्यों बन्द कर दिया।

महादेवी—जीवन में रचना के विशिष्ट क्षण होते हैं। उनमें मैंने लिखा, गाया, मैं रोई और हंसी। अब वे क्षण जा चुके हैं।

अब मैं वह वीणा हूँ, जो तुम्हारे सामने रखी है। उसके तार टूट चुके हैं। सान्ध्य गीतों को गाकर क्या कोई उषाकाल के गीत गाता है?

तृतीय छात्र—आप लेखिका भी हैं और चित्रकार भी हैं। इन दोनों में आपको कौन प्रिय है?

महादेवी जी—मुझे तो दोनों ही प्रिय हैं। मैंने लेखनी को छोड़ कर कुछ समय के लिये तूलिका का सहारा लिया। परन्तु दूसरे ही क्षण में अनुभव करने लगी कि मैं गलत रास्ते पर चल रही हूँ। गीतों में तो निस्सीम और सूक्ष्म से मिलने को तड़पती रही और अब मैं मांसल और स्थूल की ओर जा रही हूँ। यह विचार आते ही मैंने इन चित्रों को बनाना बन्द कर दिया।

हिन्दी के साहित्यकारों की दयनीय मनोवस्था पर तथा देश में होने वाली घटनाओं पर कुछ समय तक प्रकाश डालते हुए आपने ठीक चार बजे अपने परिचारक को पुकारा और पूछा कि जलपान का प्रबन्ध हो गया है?

उसके हां करने पर आप अपने आसन से उठ खड़ी हुईं । उस समय वास्तव में देवेन्द्र सत्यार्थी के शब्दों में आप महाश्वेता ही प्रतीत होती थीं ।

जलपान के समय आप छात्रों से कई प्रकार के प्रश्न पूछती रहीं । स्वयं कुछ भी न ग्रहण कर आपने अतिथियों को ही बार बार गरम गरम पकौड़े, समोसे, एवं मिठाइयों को लेने का आग्रह किया ।

बिदा होते समय अस्ताचल गामी अंशुमाली की रश्मियों ने उनकी सुन्दर मुखाकृति के चारों ओर तक प्रकाश का वृत्त सा बना दिया । वृक्षों के अन्तराल से छन कर उगती हुई संध्याकाल की आभा ने उनमें श्वेत वस्तुओं को आरक्त कर दिया ।

उनकी इस भव्य मूर्ति को देख कर मेरे हृदय से ये शब्द सहसा निकल पड़े—तपस्विनी महादेवी ! तुम वास्तव में इस वृद्ध भारत की विभूति हो । तुम्हारे गीत हिमाचल से लेकर कन्या कुमारी तक सदा गूंजते रहेंगे ।

तुम्हारा संदेश पाकर भारत के तरुण देश की रक्षा के लिये तन-मन-धन सब कुछ न्योछावर कर देंगे ।



कृष्ण भक्ति काव्य में शृंगारपरक एवं भावनापरक गीतिकाव्य

डा. मुरारि लाल शर्मा 'सुरस'

महाभारतकाल से पुराणकाल तक के साहित्यावलोकन से पता चलता है कि कृष्ण का ऐश्वर्य और पराक्रमपूर्ण चरित ललित साहित्य का विषय तो नहीं बना था किन्तु लोकगीतों और लोककथाओं के माध्यम से उनके सम्बन्ध में मधुर और ललित कथाएं कदाचित् अधिक प्रचलित हो चली थीं और उन्होंने लोक-मानस को भी मुग्ध कर लिया था। 'महाउमग्ग' जातक के कामपीड़ित वासुदेव कृष्ण के उल्लेख से भी यह सूचित होता है कि उनके शृंगारी जीवन से सम्बन्धित कथाएं लोक-प्रचलित रही होंगी ।१ यही लोक-प्रचलित कथाएं जनमानस के विश्वास का अंग बन गईं तब कृष्ण के शृंगारी चरित का रूप पुराणों में भी लिखा जाने लगा ।२ इस प्रकार हरिवंश आदि पुराणों में कृष्ण के राजसी वैभव-विलास के ऐश्वर्यपूर्ण चरित तथा गोपाल रूप में उनमें ग्रामीण क्रीड़ा केलि के माधुर्यपूर्ण चरित के द्विविध रूपों को समन्वित किया गया ।३ इसी प्रकार की परम्पराओं के रिणाम-स्वरूप भागवत पुराण में कृष्ण के जन्म से द्वारका-प्रवास तक के सम्पूर्ण चरित का पूर्ण रूपेण विकास किया गया और कृष्ण के ऐश्वर्यपूर्ण और माधुर्य रूपों का विकसित रूप ही साहित्य का अंग बना। कुछ विद्वान माधुर्य भक्ति के विकास में बौद्ध तांत्रिक-साधना का भी हाथ मानते हैं। उनका कहना है कि "बौद्ध सहजिया सम्प्रदाय वास्तव में मधुर भाव का पोषक था ।"४

---

१. हिन्दी साहित्य, द्वितीय खण्ड—सम्पादक डा० धीरेन्द्र वर्मा (१९५९ ई०) पृ०३३४।

२. हरिवंश पुराण, विष्णु पर्व, अध्याय ६७, ८८, ८९।

३. हिन्दी साहित्य, द्वितीय खण्ड, पृ० ३३५।

४. हिन्दी अनुशीलन—धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक (१९६० ई०) पृ० ४९६—९७)

कुछ भी हो, मधुर भाव की व्यजना के लिये दक्षिण भारत के आलवार भक्तों के मनमोहक गीतों को भुला देना घोर अपराध होगा क्योंकि इन गीतों में आत्मा परमात्मा से सम्बन्धित माधुर्य भावनाओं का सम्यक् निर्वाह करते हुए विरह-व्यथिता नायिका (आत्मा) की मिलनोत्सुकता का बहुत ही भावपूर्ण वर्णन हुआ है ।

प्राकृत गाथाओं का संग्रह 'गाहा सत्तसई' नाम से मिलता है। विद्वानों का अनुमान है कि हाल सातवाहन ने ये गाथाएं प्रथम शताब्दी ईसवी में संकलित कराईं किन्तु हमें इतना तो निःसंकोच स्वीकार कर ही लेना चाहिए कि ये गाथाएं लिपिबद्ध किये जाने के बहुत पहले से ही लोक-प्रचलित रही होंगी । इन गाथाओं में गोपाल कृष्ण की प्रेम क्रीड़ाओं के वे अनेक संदर्भ दिये गये हैं जिनका (परवर्ती काल में) कृष्ण भक्ति में उपयोग हुआ। यद्यपि गाहासत्तसई में भक्ति-भावना का संकेत नहीं मिलता, फिर भी गाथाओं की यह शृंगारिक परम्परा बारहवीं शताब्दी तक उत्तरोत्तर धार्मिक तत्वों से अभिभूत होकर और भी अधिक भक्ति भाव-समन्वित हो गई ।[१] अपभ्रंश-काल की रचनाओं–तिसट्ठि महापुरिस गुणालंकार, हेमचन्द्र रचित शब्दानुशासन प्रबंध चितामणि . प्राकृत पैंगलम् आदि— में भी प्रेमारूपाभक्ति का निरंतर विकसित रूप अंकित किया गया ।

कृष्ण भक्ति के विविध सम्प्रदायों से माधुर्य भाव के स्वरूप और विस्तार को बहुत बड़ा योग मिला । सम्प्रदायाचार्यों ने वृन्दावन को नित्य 'लीला' केन्द्र माना और राधा तथा गोपियों के साथ कृष्ण के विविध रास-विलास का मुक्तकों तथा गेय पदों के रूप में वर्णन किया । निम्बार्क सम्प्रदाय ने राधा भाव या गोपीभाव को स्वकीया प्रेम तक सीमित करके उसमें संयोगपक्ष को ही विशेष प्रश्रय दिया । इसी परम्परा का अनुसरण करते हुए महाकावि जयदेव ने 'गीत गोविन्द' में राधा-कृष्ण की निकुंज लीला का विस्तारपूर्वक वर्णन किया । बंगाल के कवि चण्डीदास ने सहजिया सम्प्रदाय की मान्यताओं के अंतर्गत परकीया भाव के द्वारा मधुर भाव को चरम विकास तक पहुंचाया । मैथिल कोकिल विद्यापति ने भी परकीया प्रेम को आदर्श मान कर काव्य-रचना की । इसी परम्परा का विकसित रूप चैतन्य सम्प्रदाय की मधुरा भक्ति में दिखाई दिया जहां माधुर्य भाव के उज्ज्वलरस की चरम परिणति परकीया प्रेम में ही मानी गई । वल्लभ सम्प्रदाय के कवियों ने भी माधुर्य भाव के क्षेत्र की व्यापकता को राधा और गोपियों के परकीया प्रेम के आदर्श रूप में स्वीकार

१—हिन्दी साहित्य, द्वितीय खण्ड, पृ० ३३७ ।

किया ।१ क्योंकि परकीया भाव में प्रेमानुभूति की विविधता, नित्य नवीनता और मर्यादा बंधनों का अतिक्रमण करके भी उसमें जीवनी शक्ति को तीव्रतर बनाये रखती है; किन्तु सूरदास के काव्य का अनुशीलन करने से ज्ञात होता है कि उन्होंने अपने काव्य में राधा को स्वकीया और परकीया दोनों रूपों में चित्रित करके राधा-कृष्ण की विलास लीलाओं का अद्भुत संगम उपस्थित किया है । राधा वल्लभ सम्प्रदाय में न तो परकीया भाव की स्वीकृति है, न विरह भाव की; वहां तो निकुंज लीला का वृन्दावन-रस नित्य मिलन के रूप में कल्पित किया गया है । इस सम्प्रदाय में राधा प्रेम ही आलम्बन है और कृष्ण उसके आश्रय । ये 'नित्य-विहार' में 'तत सुखि' भाव से रास क्रीड़ा करते हैं और उनके परिकर और सहचरीगण भी इसमें उनकी सहायता करते हैं । निकुंज लीला का यह आदर्श थोड़े रूप भेद से अन्य कृष्ण भक्ति सम्प्रदायों में भी उपलब्ध होता है । वल्लभ सम्प्रदाय की सब से बड़ी विशेषता कृष्ण के प्रति सखा भाव और वात्सल्य भाव की भक्ति का विशिष्ट रूप ही है । हरिदासी सम्प्रदाय में सखी भाव से युगल सरकार की अष्टयाम सेवा और निकुंज लीला का विधान है ।

महाराष्ट्र के भक्त कवि नामदेव ने राधा के परकीया रूप की स्वीकृति में समाज की मर्यादा-प्रतिष्ठा के भंग होने का ध्यान रख कर कृष्ण और रुक्मिणी के दाम्पत्य भाव को विशेष मान्यता दी और रुक्मिणी को स्वकीया के रूप में अंकित किया ।

निर्गुनिए संतों ने दाम्पत्य भाव को पृष्ठभूमि में रख कर स्वकीया रूप से माधुर्य भाव की भक्ति को अभिव्यंजित किया किन्तु परकीया भाव को स्वीकार नहीं किया क्योंकि उसमें प्रेम उच्छृङ्खल रूप, अनैतिक आचरणों का वर्णन और मर्यादा के उल्लंघन की बात थी ।

माधुर्य भक्ति का चरमोत्कर्ष तो काव्यों में प्रकृति को उद्दीपन रूप में अपनाने पर ही हुआ । पुराणकाल में कृष्ण और गोपियों के विविध रास-विलास तथा उनकी लीलाओं का जो रूप अंकित किया गया उसमें प्रकृति के उपमानों तथा प्राकृतिक वातावरण की सहज सृष्टि करके कवियों ने काव्य में ऐसी स्फुरणा भर दी कि काव्य और प्रकृति का समन्वय भक्ति की आधार भूमि बन गया । इसी लिये प्रकृति चित्रण के रूप प्रकारों —षड्ऋतु वर्णन और बारहमासा को अपनाया गया जो परवर्ती काल में काव्य रूप (पोइटिक फार्म) की भांति विकसित हुए । भक्ति काव्य में प्रकृति के उद्दीपन का चित्रण कदाचित इसलिये आवश्यक समझा गया जिससे माधुर्य

१—हिन्दी साहित्य, द्वितीय खण्ड, १९५९ ई० पृ० ३४७

भक्ति के अंतर्गत संयोग के सुखद वातावरण में ऐसी 'रस निष्पत्ति' हो सके कि भक्त उसमें तन्मय होकर सगुण साकार भगवान की लीलाओं का पूर्णानन्द प्राप्त कर सके। संयोग के सुखद क्षणों की पूर्णाभिव्यक्ति के लिये 'षड्ऋतु वर्णन' किया गया । दूसरी ओर वियोग में विरहिणी नायिकाओं (गोपियों) में प्रकृति के उद्दीप्न रूप से जिन भावनाओं की सृष्टि हुई उसको प्रदर्शित करने के लिए 'बारहमासा' की पद्धति को अपनाया गया ।

ब्रजभाषा के कृष्ण-भक्ति-काव्य की शृंगारपरक और भावनापरक कविताओं का प्रभाव राम काव्य धारा पर भी पड़ा। तुलसीदास की गीतावली तथा कृष्ण-गीतावली और जानकी रसिक शरण के 'अवधी सागर' (सं० १७६०) ग्रंथों पर कृष्ण काव्य का यथेष्ट प्रभाव है ।१ श्रीरामचन्द्र और सीता की अष्टयाम सेवा, उनका रास, नृत्य, विहार आदि कृष्णकाव्य की परम्परा के रूप में ही लिखे गए हैं । परवर्तीकाल में तो राम के मर्यादा चरित्र को (राधाकृष्ण के शृंगारी चरित्र की भांति) शृंगारी वृत्तियों से लिप्सित करके अंकित किया गया ।२ इतना ही नहीं इसके आधार पर सम्प्रदायों का प्रवर्तन भी आरम्भ हो गया । 'स्वसुखी शाखा' और 'तत्सुखी शाखा' में राम-सीता की पति-पत्नी रूप में सेवा तथा सखी भाव से उनकी उपासना की पद्धति प्रचलित की गई । आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इन संप्रदायों की इस परम्परा तथा तज्जनित साहित्य की कड़े शब्दों में भर्त्सना की है ।३

● ● ●

१. हिन्दी साहित्य का आलो० इतिहास —डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ६८० ।
२. वही, पृ० ६८४ तथा ६९० ।
३. हिन्दी साहित्य का इतिहास—२००९ वि०, पृ० १५३-१५४ ।

श्री सोहनलाल द्विवेदी कृत--

कुणाल

लीलाधर वियोगी

श्री सोहनलाल द्विवेदी भारतीय संस्कृति एवं राष्ट्रीयता के भावुक चितेरे हैं। उन के द्वारा रचित 'कुणाल' खड़ी बोली के गौरव-ग्रन्थों में से एक है। भारतीय इतिहास के एक उज्ज्वल पृष्ठ को, अतीत की एक गौरव गाथा को कवि ने मनोहारी काव्य के रूप में प्रस्तुत किया है। 'कुणाल' एक ऐतिहासिक काव्य है। सर्ग-संख्या के आधार पर तो इसे 'महाकाव्यों' की कोटि में भी रखा जा सकता है पर इसे 'खण्डकाव्य' मानना ही उपयुक्त है। महाकाव्य के लिये अपेक्षित विस्तार तथा घटना-बाहुल्य आदि इसमें नहीं है--अतः 'कुणाल' खण्डकाव्य ही है। नायक (कुणाल) के जीवन से सम्बन्धित एक ही प्रमुख घटना, उसके जीवन का एक ही महत्त्वपूर्ण पक्ष इस काव्य में मुख्य रूप से वर्णित है।

कुणाल की विमाता तिष्यरक्षिता उसके सम्मोहक रूप तथा कान्तिमान तारुण्य पर आसक्त होकर कुणाल से प्रणय-निवेदन करती है। कुणाल अपने आदर्श पर अडिग रहता है। वह विमाता की इस अमर्यादित-आसक्ति की अवहेलना कर देता है। नारी का, राज-महिषी का असफल-प्रणय भीषण प्रतिशोध में परिवर्तित हो जाता है। फलस्वरूप, कुणाल को न केवल तक्षशिला के शासक-पद से च्युत करके निर्वासन का दण्ड दिया जाता है, अपितु उसकी आंखे भी निकलवा दी जाती हैं। नेत्रहीन 'कुणाल' अपनी पत्नी 'कांचना' के साथ तक्षशिला से प्रस्थान करके वर्षों तक भटकते रहते हैं। एक दिन संयोगवश वे दोनों पाटलिपुत्र पहुंचते हैं। वृद्ध सम्राट् अशोक का अपने प्रियपुत्र कुणाल से पुनर्मिलन होता है। भगवत्-कृपा से कुणाल को नेत्रों की प्राप्ति होती है। सम्राट् अशोक, कुणाल को राज्य सिंहासन पर आसीन करके स्वयं तपस्या के लिये चले जाते हैं। स्पष्ट ही 'कुणाल' के कथानक में महाकाव्योचित विस्तार तथा घटनाओं की विविधता नहीं है, किन्तु एक उत्कृष्ट एवं सफल 'खण्डकाव्य' की सम्पूर्ण विशेषताएं 'कुणाल' में विद्यमान हैं।

कुणाल में घटनाओं का नियोजन अत्यन्त स्वाभाविक तथा शृंखलाबद्ध है । कवि ने प्रारम्भ में पाटलिपुत्र की भव्यता का अत्यन्त मनोरम चित्रण किया है । साथ ही, ऐतिहासिक दृष्टि से भी पाटलिपुत्र की यथार्थ झांकी अंकित की है। राजधानी के सामाजिक, धार्मिक तथा राजनैतिक जीवन का सजीव चित्र कवि ने उपस्थित किया है । द्वितीय और तृतीय सर्ग में कुणाल के जन्म, शैशव तथा तारुण्य का चित्रण है, साथ ही, जलधि से गम्भीर सम्राट् अशोक के व्यक्तित्व का वर्णन है । चौथे सर्ग में तिष्यरक्षिता के हृदय में उत्पन्न वासना, कुणाल से 'प्रणय निवेदन' का वर्णन है । पाँचवें सर्ग में तिष्यरक्षिता के मन में उठने वाले वैचारिक-प्रभंजन तथा संताप का मार्मिक चित्र है तो छठे में भीषण प्रतिशोध का वर्णन है । सातवें सर्ग में तिष्यरक्षिता की अन्याय-पूर्ण, कठोर तथा अनुचित आज्ञा को लेकर एक 'चर' तक्षशिला जाता है। आठवें सर्ग में राजकुमार कुणाल 'नेत्रदान' कर के कांचना सहित तक्षशिला से निर्वासित होता है । नवम सर्ग में बहुत ही करुण, सरस तथा भावमय गीत हैं । दशम सर्ग में दैव-योग से कुणाल और कांचना इधर उधर भटकते हुए पाटलिपुत्र पहुंचते हैं । एकादश और द्वादश सर्गों में सम्राट् अशोक के द्वारा कुणाल को राज्य सौंप कर स्वयं गृह त्याग का वर्णन किया गया है ।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि कवि ने प्रथम तीन सर्गों में मुख्य 'कार्य' की पृष्ठभूमि का निर्माण किया है। किन्तु यह पृष्ठभूमि भी आगामी घटनाओं को तीव्रतर एवं प्रभावशाली बनाने में सहायक सिद्ध होती है, अतः इसे कथानक के विकास की दृष्टि से असम्बद्ध अथवा अनावश्यक नहीं माना जा सकता । चौथे सर्ग से मुख्य 'कार्य' का आरम्भ होता है । पांचवें और छठे में तिष्यरक्षिता के अनुताप तथा प्रतिशोध की भावनाओं का वर्णन है । नारी-हृदय की भावनाओं का मनोवैज्ञानिक निरूपण होने के कारण इन सर्गों में कार्य-व्यापार शिथिल सा होने लगा है, किन्तु सातवें सर्ग से कथा में फिर तीव्रता एवं क्षिप्रता आती है। आठवें सर्ग तक कथानक चरम बिन्दु तक पहुंचने लगता है । तक्षशिला के परित्याग और पाटलिपुत्र को प्रत्यागमन तक के कई वर्षों के व्यवधान को कवि ने कुणाल के 'पथ गीतों' से ही पूरने का प्रयत्न किया है । इतने दीर्घकाल में घटित होने वाली अनेक घटनाओं का वर्णन किया जा सकता था पर लेखक ने उसे अत्यन्त संक्षेप में ही प्रस्तुत किया है। यह कुछ अस्वाभाविक लगता है, पर 'खण्डकाव्य' में घटनाओं का अधिक विस्तार अपेक्षित नहीं होता, इसलिये 'कुणाल' में यह कोई दोष नहीं माना जाना चाहिए । वैसे भी कुणाल के

नवम सर्ग के गीत इतने हृदय-हारी हैं कि पाठक सहज ही समय-सीमा आदि के विचार से ऊपर उठ जाता है। दशम और एकादश सर्ग में कथा अत्यन्त तीव्र गति से उपसंहार की ओर अग्रसर होती है और अन्तिम सर्ग में सम्राट् अशोक के गृह-त्याग के साथ ही कथानक का अवसान हो जाता है। इस प्रकार कुणाल की कथा का क्रम स्वाभाविक, शृंखला बद्ध, मनोवैज्ञानिक तथा गतिशील है।

कथानक के समान ही 'कुणाल' में पात्रों का चरित्र भी अत्यन्त मार्मिक, चित्ताकर्षक एवं प्रभावशाली है। राजकुमार कुणाल अत्यन्त रूपवान, तरुण तथा कला-प्रेमी युवक है। उसका चरित्र आत्म-संयम, मनो-निग्रह, पितृ-वत्सलता और महान् त्याग की भावना से ओतप्रोत है। तिष्यरक्षिता की प्रणय याचना को अस्वीकार करना, राज्यादेश के सम्मुख नतमस्तक होकर सहर्ष आंखें निकलवा देना, प्रजा द्वारा राजकीय आदेश के विरुद्ध विद्रोह करने की प्रेरणा मिलने पर भी विचलित न होना तथा तक्षशिला से निर्वासित हो कर बन बन में फिरना, इतना ही नहीं, तिष्यरक्षिता तक को क्षमा-प्रदान करने के लिये अशोक से याचना करना——कुणाल के महान चरित्र तथा उसकी नैतिकता के निदर्शन् हैं। कांचना, कुणाल की पति-परायणा पत्नी है वह रूपवती, तरुणी तथा त्याग और कष्ट सहिष्णुता की साक्षात् मूर्ति है। वह पति की छायानुवर्तिनी है। उसका चरित्र पाठकों के हृदय में सहज ही करुणा की भावना का उद्रेक करता है। फिर भी 'कांचना' का चरित्र अपेक्षाकृत कम ही विकसित हुआ है।

तिष्यरक्षिता अनुपम सौन्दर्यशालिनी युवा 'रमणी' है। वह राजमहिषी भी है। वह वासना की साकार प्रतिमा तथा प्रतिशोध की साक्षात् ज्वाला है। उसके अंग अंग में काम की तरंग तरंगित है। कामातुर तथा वासनान्ध तिष्यरक्षिता के लिये नैतिकता, मर्यादा, आदि का कोई महत्त्व शेष नहीं रह जाता। तिष्यरक्षिता के प्रति जहां कवि पाठक के हृदय में घृणा की उद्दीप्ति करने में सफल रहा है, वहां अन्त में उसके प्रति सहानुभूति की भावना जागृत करने में भी उसे सफलता प्राप्त हुई है। तिष्यरक्षिता के 'रमणी' रूप की तथा उसके अन्य गुणदोषों की सफल एवं कलापूर्ण अभिव्यजना 'कुणाल' में हुई है।

सम्राट् अशोक का चरित्रांकन भी एक परम पराक्रमी शूरवीर तथा तेजस्वी शासक और मनस्वी मानव के रूप में हुआ है। उसके चरित्र में 'कलिंग-विजेता' का दर्प है तो एक नारी के सम्मुख पराजित होने वाली सुकोमल भावना भी। वह 'वज्रादपि कठोर' हैं तो 'कुसुमादपि कोमल' भी। अशोक में शासकों की

कठोरता है तो मानवीय करुणा भी। अन्त में काषाय धारण करके अशोक का गृह–त्याग उनकी निःस्पृहता का सूचक है। कवि ने इतिहास के अनुसार ही सम्राट अशोक के चरित्र की रूप-रेखा का निर्माण किया है। 'कुणाल' का एक अन्य महत्त्वपूर्ण पात्र है—वह 'चर' जो तिष्यरक्षिता की निर्मम आज्ञा को तक्षशिला ले जाता है। कवि ने उस की मानसिक अवस्था का उसकी सेवा-वृत्ति जन्य विवशता का तथा उसकी भावना और 'कर्तव्य' का हृदय-हारी वर्णन किया है।

'कुणाल' में यद्यपि वर्णनात्मक प्रसंगों का अभाव नहीं है, पर उस में भावमय तथा रसात्मक चित्र ही अधिक हैं। आरम्भ में ही 'कुणाल' के जन्म, शैशव और बाल-माधुरी के वर्णन द्वारा कवि वात्सल्य की व्यंजना करने में सफल हुआ है। "आंगन में बाल खिलौना था" और "वह धूल भरा नटखट आया" ये दोनों गीत शिशुओं के नटखटपन और बाल-सुलभ भोलेपन व चपलता के मनोहर उदाहरण हैं। 'तिष्यरक्षिता' प्रसंग में शृंगार रस की सफल उद्भावना हुई है। कामनाओं के विहग उसके हृदयोद्यान में मधुर कलरव करने लगे। वासना की कलियां मधुगन्ध बिखराने लगी। अभिलाषाओं का सतरंगी इन्द्र धनुष नई शोभा के साथ उसके हृदय-अम्बर में उदित हुआ। कवि ने उसके अंग-प्रत्यंग की चारुता के वर्णन के साथ ही उसके अन्तःकरण में उद्दीप्त वासना को भी अनेक मादक प्रतीकों की सहायता से अभिव्यंजित किया है। 'प्रणय-निवेदन' के अन्तर्गत तिष्यरक्षिता की यौवन-श्री का अत्यन्त मादक चित्र कवि ने प्रस्तुत किया है। तिष्यरक्षिता ने जिन रस-सिक्त शब्दों में कुणाल से प्रणय-याचना की है वे वास्तव में कवि की कल्पना -शक्ति का ही चमत्कार है। स्पष्ट ही कवि शृंगार रस चित्रण में सफल है।

तक्षशिला से राजकुमार कुणाल के निर्वासन के समय जनता के 'उत्साह' भाव की अल्प सी व्यंजना होते होते सारा दृश्य एकदम करुण हो उठता है। राजकुमार कुणाल और उसकी पत्नी कांचना का तक्षशिला से प्रस्थान–राम और सीता के अयोध्या से निर्वासित होने की करुण पुनरावृत्ति है। "दो विदा आज अन्तिम प्रणाम" इस गीत के समय तो समस्त जनसमुदाय के साथ सहृदय पाठक की आंखें भी आर्द्र हो जाती हैं। इसी प्रकार पथ-गीतों में भी करुण रस का परिपाक हुआ है। अशोक और कुणाल के मिलन के अवसर पर तो करुण रस अपनी चरमावस्था तक पहुंच गया है। यहीं पर सम्राट् अशोक के चरित्र का उत्कर्ष भी कवि ने प्रदर्शित कर दिया है। उसके 'ओज' और 'क्रोध' की सफल अभिव्यक्ति हुई है। पर अन्ततोगत्वा ग्रन्थ की समाप्ति

शान्त-रस में ही हुई है । और यही इस काव्य का 'अंगी' रस बन गया है । इस विषय में आचार्य नन्द दुलारे बाजपेयी का कथन भी महत्त्वपूर्ण है । वह लिखते हैं :—"इस काव्य का मुख्य रस शान्त ही है। करुण रस की भी धारा इसमें बही है, किन्तु सम्पूर्ण काव्य का पर्यवसान शान्त में ही हुआ है । भारतीय आदर्शों के उपासक कवि के लिये शान्त रस की यह नियोजना स्वाभाविक ही है।"

"करुणा की वर्षा हो अविरल"—इस शान्तिदायक गीत के साथ यह काव्य समाप्त हुआ है।

'कुणाल' में कुछ एक ऐसे भावमय, मधुर और मार्मिक स्थल हैं—जिनकी योजना से कवि की प्रबन्ध चातुरी का सहज ही परिचय मिल जाता है । अशोक का व्यक्तित्व निरूपण, कुणाल और तिष्य-रक्षिता की यौवन अवस्था का वर्णन, तिष्यरक्षिता के द्वारा प्रणय-याचना तथा क्रूर प्रतिशोध का वर्णन नारी हृदय में उत्पन्न होने वाले भावों का उतार-चढ़ाव स्पष्ट ही कवि की प्रबन्ध कुशलता एवं कल्पना प्रवणता के उदाहरण हैं । इसी प्रकार तिष्यरक्षिता के द्वारा अशोक से वरदान पाने के लिये "कैकेयी और दशरथ" वाले दृश्य की आवृत्ति कवि ने की है तो तक्षशिला से कुणाल की विदाई में 'राम वन गमन" की स्मृति आ जाती है ।

'कुणाल' के 'नवम सर्ग' के गीत साकेत के नवम सर्ग के गीतों की याद दिलाते हैं। पाटलिपुत्र में कुणाल और कांचना का याचक रूप में आकर पाटलिपुत्र के पुराने वैभव को स्मरण करना और अन्त में पिता-पुत्र का मधुर मिलन आदि बड़े ही रससिक्त प्रकरण हैं । पाठक का सहज ही इन प्रसंगों में साधारणीकरण हो जाता है । 'लोकजीवन' में अतिशय प्रचलित 'पूरन-भगत' की कहानी से सादृश्य होने के कारण 'कुणाल' को हम जनसाहित्य का प्रतिनिधि काव्य भी मान सकते हैं ।

भावपक्ष के विषय में इतने विवेचन के अनन्तर भाव अभिव्यंजना के अन्य साधनों—भाषा सौष्ठव अलं ति तथा छन्द योजना पर भी विचार करना समीचीन जान पड़ता है।

'कुणाल' परिनिष्ठित खड़ी बोली में लिखित काव्य है। संस्कृत के तत्सम शब्दों का इस में बाहुल्य से प्रयोग किया गया है । संस्कृत शब्दावली के प्रचुर प्रयोग के कारण कुणाल में 'समस्त पदों' का प्रयोग अधिक होना भी स्वाभाविक ही है क्योंकि संस्कृत भाषा की प्रकृति समास प्रधानता की ओर ही है । काव्य की भाषा यत्रतत्र कुछ क्लिष्ट-सी हो गई है पर कुछ तो ऐतिहासिकता की रक्षा के लिये और कुछ भाव-गाम्भीर्य

के कारण ऐसा होना अनुचित अथवा अस्वाभाविक नहीं है। जहां इसमें इन्द्र के लिये 'आखंडल' जैसे शब्द का प्रयोग हुआ है, वहां भावानुरूप सरल स्वाभाविक एवं सुबोध शब्दावली भी इस काव्य में विद्यमान है। वात्सल्य वर्णन तथा करुण चित्रों में भाषा एकदम सहज-सरल है तो शृंगार प्रसंग में पद-लालित्य है। 'रूप-चित्रण' में तो कवि की भाषा में अनूठी चित्रात्मकता है। 'अर्थ ध्वनन' की अपूर्व क्षमता 'कुणाल' की भाषा में विद्यमान है।

गम्भीर एवं तीव्र अनुभूतियों की स्पष्ट एवं तद्वत् अभिव्यक्ति के लिये सालंकार भाषा अपेक्षित होती है। वे अनुभूतियां साधारण भाषा की पकड़ में नहीं आ पातीं। परिणामस्वरूप कवि को अरूप को रूपायित करने के लिये, परोक्ष को प्रत्यक्ष करने के लिये सालंकार भाषा का सहारा लेना पड़ता है। कुणाल की भाषा भी अलंकृत है। शब्दालंकारों में से अनुप्रास तथा वीप्सा का ही प्रयोग कवि ने किया है। अर्थालंकारों के अन्तर्गत उपमा, रूपक, और उत्प्रेक्षा का ही प्रयोग अधिकतर कवि ने किया है। स्थूल वस्तुओं के लिये सूक्ष्म जगत के उपमान प्रयुक्त हुए हैं तो सूक्ष्म को स्थूल के द्वारा स्पष्ट किया गया है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं :— 'थी प्राचीर धैर्य-सी निर्मित', 'तर्क सी अलकें लहरातीं', 'बाहु थे आजानु विस्तृत ज्यों महान-विचार', 'मानस की मधुमय आशा सी'— ऐसी अनेक उपमाएं और उत्प्रेक्षाएं और भी प्रस्तुत की जा सकती हैं। 'तर्क सी अलकें' में प्रसाद जी का इड़ा का स्मरण हो आना सहज एवं स्वाभाविक है तो "झुकी साथ ही अचल प्रार्थना-सी कांचना कुमारी भी" में भी प्रसाद जी की 'किरण' कविता यह पंक्ति स्मरण हो उठती है "धरा पर झुकी प्रार्थना-सदृश मधुर मुरली सी फिर भी मौन'। कवि ने अनेक रूपकों का भी स्वाभाविक प्रयोग किया है। दो एक उदाहरण ही पर्याप्त होंगे :— 'देखने को कुणाल मुख चन्द्र, बढ़ा जनगण जलनिधि-समवेत' 'दुर्दिनों के मेघ से था घिरा मौर्याकाश। एक कुल नक्षत्र से छाया अनन्त प्रकाश'। 'लगे कामना के पक्षीदल करने मधुमय कलरव' इत्यादि।

श्री सोहनलाल द्विवदी ने विशेषण विपर्य्य और मानवीकरण का भी सुन्दर एवं समुचित प्रयोग किया है :—'रनिवास उठा, आ गया सह्म', 'पाटलिपुत्र पढ़ रहा था अपने जीवन के कंचन-पृष्ठ', 'वातायन और सुन्दर गवाक्ष, थे देख रहे मादक कटाक्ष।' निष्कर्ष यह है कि कुणाल के काव्य-सौष्ठव की वृद्धि में अलंकारों का भी महत्त्वपूर्ण योग है।

'कुणाल' का छन्द-वैविध्य भी दर्शनीय है । कवि ने प्रत्येक सर्ग में नये छन्द का प्रयोग किया है । नवम सर्ग में तो सरस एवं भावमय गीत हैं ही, अन्य सर्गों में भी भावानुकूल गीतों की रचना की गई है । कवि ने प्रसंगानुसार छन्द परिवर्तित करके तथा विविध भावों की अभिव्यंजना के अनुकूल छन्द चयन कर के कुणाल की रोचकता को अक्षुण्ण बना लिया है।

'कुणाल' में 'दिल्ली' शब्द का प्रयोग तथा एक आध भाषा सम्बन्धी अशुद्धि अवश्य है पर समग्र रूप से हिन्दी के कुणाल विषयक साहित्य में तो यह सफलतम तथा श्रेष्ठतम कृति है। हिन्दी के खण्ड-काव्यों में 'कुणाल' का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है ।

● ● ●



पर्वतीय लोक साहित्य में धार्मिक उत्सव और ऋतुएँ

शमी शर्मा

समस्त पर्वतीय प्रदेश में विभिन्न धार्मिक उत्सव मनाए जाते हैं। होली, वैसाखी, दीवाली इत्यादि सभी त्यौहार समस्त भारतवर्ष की भान्ति पर्वतीय प्रदेश में भी मनाए जाते हैं। यद्यपि इनकी स्थानीय रीतियों में थोड़ा परिवर्तन है, मूलाधार एक समान है। कुल्लू में दीवाली का त्यौहार देरी से मनाया जाता है। इस थोड़े परिवर्तन का कारण है यहां की विभिन्न मान्यताएं। इन प्रमुख त्यौहारों के अतिरिक्त यहां के अपने स्थानीय त्यौहार भी हैं। ये सब यहां की पृथक मान्यताओं पर आधारित हैं। इनका प्रभाव वहां के लोक गीतों और लोक गाथाओं से विदित होता है। लोक साहित्य पर ये स्थानीय त्यौहार महत्त्वपूर्ण प्रभाव डालते हैं। कांगड़ा, चम्बा और जम्मू में त्यौहारों की समानता है जिसका पता यहां इस पर्वतीय प्रदेश के "मिंजरों" के त्यौहार से लगता है। समूचे प्रदेश में श्रावण के महीने में यह "मिंजरों" का त्यौहार मनाया जाता है। इस दिन गृह स्वामिनी नारियां, सौभाग्यवती नव-विवाहिताएं, युवतियां अच्छे स्वादु भोजन बना कर नदी के किनारे सान्ध्यवेला में, नदी-प्रवाह का पूजन करती हैं। नदी में पक्वान्न ऋतुफल पुष्प इत्यादि प्रवाहित करते हुए नीर-वन्दना की जाती है। इसके साथ ही उस विजन घाटी में नदी तट के किनारे गहरी सांझ के हल्के अन्धकार में एक साथ कितने ही कोकिला-कण्ठों से लोकगीतों की धुन सरिता के कलकल शब्द में अपना स्वर विसर्जन कर देती है। एक हो जाती है।

काँगड़ा प्रदेश में भाद्रपद के अन्त में एक और स्थानीय त्यौहार मनाया जाता है जिसे "सैर" कहते हैं। यह त्यौहार आश्विन संक्रान्ति को मनाया जाता है। ग्राम के सभी ग्रामीण इसे सहर्ष मनाते हैं। अपने इष्टमित्रों को बुलाते हैं, उनके घर जाते हैं। कितने ही लोकगीत आलापती ग्राम-वधुएं अपने हर्षोल्लास की

अभि व्यक्ति करती हैं। रात को नापित अपने हाथमें एक बांस की करनी में गंधाक्षत, धूप, दीप और फूलों से सुसज्जित 'सैरी' लेकर प्रत्येक के घर में वन्दना करवाता है। यह त्यौहार समस्त कांगड़ा, कुल्लू और चम्बा प्रदेश में मनाया जाता है। "सैरी" के त्यौहार का महत्त्व अत्यधिक है। इसका अभिप्राय वर्षाऋतु में नीरोग रह कर मङ्गलमय दिवस यापन हो जाने से है। दूसरी ओर धान्य और मक्की की सब से बड़ी फसल तैयार हो जाती है। "मिंजरों" में प्रवाह पूजन से अभिप्राय है कि इस वर्षाऋतु में हमारी नदियाँ, नाले, जल प्रवाह से परिपूरित रहें।

माघ संक्रान्ति से एक महीना पूर्व गांव की छोटी-छोटी लड़कियां लोहड़ी त्यौहार की लुकड़ियां गाने में व्यस्त हो जाती हैं। प्रत्येक घर से धान्य एकत्रित करती हैं। ये लोहड़ी त्यौहार की लुकड़ियां यहाँ के लोक साहित्य में विशेष स्थान रखती हैं। अब इनके गाने का रिवाज़ आधुनिकता की लपेट में आकर कम होता जा रहा है फिर भी कांगड़ा प्रदेश की मान्यताओं में यह तथ्य विशेष महत्त्वपूर्ण है। इनकी गिनती भी अधिक है और स्थान भी विशिष्ट है।

इसी प्रकार होली और बसन्त के त्यौहार आते हैं। बसन्त के साथ मेले प्रारम्भ हो जाते हैं। मेलों का प्रारम्भ शिवरात्री से होता है। मण्डी में भूतनाथ के मन्दिर में शिवरात्री का मेला सात दिन रहता है। अन्य स्थानों पर जहां जहां शिव के मन्दिर हैं वहां रात को गायकों की मण्डलियां इकट्ठी हो जाती हैं। अनेक प्रसिद्ध शिवालयों में संगीतकारों की सभाएं एकत्रित होकर रात्रि जागरण पर गाने के जलसे प्रारम्भ होते हैं। स्त्रियां शिवार्चना के कई अपनी विभाषा में स्वरचित रचनाएं गाती हैं। सैरी त्यौहार के पश्चात् वर्षा ऋतु की समाप्ति हो जाती है और शरद् का प्रारम्भ। आकाश शुभ्र हो जाता है और प्रकृति वर्षा-स्नात निर्मल निखरी। इस ऋतु में ही महिषासुर मर्दनी दुर्गादेवी के मन्दिर पर शरद् नवरात्र की धूमधाम प्रारम्भ हो जाती है। नवरात्र में समस्त देवी के पीठों में विशेष अभ्यर्चना की जाती है और प्रत्येक गृहस्थी इन सिद्ध वरदाई क्षेत्रों में माता के दरबार पर प्रार्थनाएं करते हैं अपने परिवारिक सुख, आरोग्यता, धन धान्य और संसार की शान्ति के लिए। अनेक स्त्रियां माता की भेंटें गाती हैं, और व्रजेश्वरी, चामुण्डा, ज्वालामुखी, चिन्तपूर्णी, नयनादेवी और आशापुरी के मन्दिरों में अपार यात्रियों की भीड़ एकत्रित हो जाती है। लोकगीतों में भेंट के रूप में लोकसाहित्य का साक्षात् रूप हमारे सम्मुख प्रस्तुत होता है जैसे :—

जै जै माता दी जै जै दुर्गा दी करदा जा तू
भले कम्मे ते ना घबरा तू

ग्रौर

ऐ चौंडा माता तू गुठड़िए
किन्नी मनाई ए
हे चौंडा माता तूं मेरे मुन्नुएं मनाई ए ।

इसी प्रकार की ग्रनेक भेंटें गाई जाती हैं। लोग नवरात्र में एक दो रात्रिवास ग्रवश्य करते हैं ग्रौर फिर प्रभातियां ग्रौर बिहागड़े चार बचे, प्रत्यूष में गाने प्रारम्भ हो जाते हैं :—

कालया कुक्कड़ा ग्रो तेरी झांग बुरी,
जे तैं निदर गुग्राई ए।
ग्रङ्गण मेरे वो राधाकृष्ण खड़े
चरणां पींदी धोई धोई ए ।
ग्रङ्गण मेरे वो शिव शक्ति खड़े
मैं ता रही पापण सोई ए ।

कितनी भाव प्रवण गीतिका है। भक्तिपरक होते हुए इसमें उपदेशात्मक भाव ग्रभिव्यंजित भी है "मैं ता रही पापण सोई ए" मैं पापिन तो सोई ही रह गयी ग्रौर भगवान् मेरे घर ग्रा गये ।

होली के समय में लोग ढोल, नरसिंगे लेकर हर्ष मनाते हैं । रंग फैंकते हैं ग्रौर कितनी सुन्दर झांकियां निकालते । रात को होली दहन करते हुए लोकगीत गाते हैं—

ग्राज रंग में, वृज में सब रंग में,
ग्रो रंगील छैल खेलो होरी ।
उचिग्रां रा पिप्पलां ए भारी पींघां जे पैय्यां,
झूट ग्रावे राधा गोरी ।

ग्रौर

मेरे दोनों बसंती रंग दे लाला
मेरे पीग्रा ने रंगाई सो रंग दे लाला
भरी पिचकारी डारी सनमुख तारी
ग्रंगिग्रा ताँ भिज जाँदी सारी ।
\ ए लाला--

होली के त्यौहार का सम्बन्ध कृष्ण की रास लीला से है। गोपियों को पिचकारी मारते हुए कृष्ण लीला का वर्णन लोक गीतों में इतस्ततः ग्रनेक स्थलों पर उपलब्ध है । कांगड़ा तूलिका के चित्रों में भी होली का बहुत सुन्दर चित्र ग्रंकित है जो मधुमास का सूचक है ।

सैरी, लोहड़ी ग्रौर दशहरे के त्यौहार कुल्लू में भी मनाए जाते हैं । किन्तु वहां कुछ त्यौहार जैसे फागली, कुल्लू की दीवाली उनके ग्रपने हैं । कुल्लू प्रदेश के उत्तरी भाग में कट्राँई से ऊपर "फ़ागली" का त्यौहार है । यह शीतकाल में होता है ग्रौर एक एक स्थान पर निरंतर पांच छः रोज़ चलता है । लोग ग्रपने घर इष्ट मित्रों सम्बन्धियों को ग्रामन्त्रित करते हैं । देसी मदिरा, झोल इत्यादि पीकर ये लोग शीत की उस लम्बी रात को गीत गाते बिता देते हैं । कुल्लू में प्रमुख त्यौहार विजयदशमी है । यह त्यौहार एक सप्ताह चलता है । लोग ग्रपने स्वच्छ सुन्दर परिधान पहिन कर देवताग्रों के ग्रागे नाचते हैं । इस ग्रवसर पर कितने ही लोक-गीत गाये जाते हैं । उन गीतों में त्यौहार

के हर्ष प्रसन्नताओं के भावों को अधिक सरस शैली में संबद्ध किया है। जीवन के उल्लास से वे गीतिकाएं अभिसिञ्चित हैं और स्वरों के आरोह–अवरोह में उर-स्पर्शी तन्मयता है :—

मूं जाणा दसमी बोला दसमी
लाणा रेशमी थीपू मूं जाणा दसमी
तू ऐंजै दसमी बोला दसमी
लाई चितरा पाटू तू ऐंजे दसमी
मूं लागी खाणे री बोला खाणे री
आणी गरी रा गोला मूं लागी खाणेरी
तू खाई राजी ओ बोला राजीआ
आणनू झुरीऐ गोला
जैवे एली दसमी बोला दसमी
ऐंजी पाहुणी मेरी बजै बोला दसमी।

शीतकाल की रात में जब आकाश निर्मल होता है, चांद अपनी कौमुदी चारों ओर बिखेर देता है युवक और युवतियां इकट्ठे होकर नृत्य करते हैं। युवक युवतियों के युगल-गान वार्तालाप ढंग से ध्वनित होते हैं। कितना मार्मिक दृश्य होता है :—

युवक——मेरी लाहलड़िए एज खेलणा खोले
लाहलड़िए
युवती——मेरी लाहलड़िए खेली जाँघड़ू
शौलें मेरी लाहलड़िए
युवक——मेरी लाहलड़िए एज मिलणा
गौले मेरी लाहलड़िए
युवती——मेरी लाहलड़िए हाजी नी
रांभड़ै रौले मेरी लाहलड़िए

युवती आओ खलिहान में खेलें। खेलूं कैसे मेरे तो खेलते खेलते पांव थक चुके हैं। तो आओ हम गले मिल लेंवे यह कैसे हो सकता है जब परिचय भी नहीं हुआ है। जब नाचते नाचते थक जाते हैं तो :—

चोला घरा वे जाणा मेरे चिड़ूआ
घोरा जाई की खाणा मेरी चिड़ीए
घीऊ खिचड़ी खाणा मेरे चिड़ूआ
चोला मण्डी वे जाणा मेरे चिड़ूआ।

कुल्लू और चम्बा, मण्डी (हिमाचल प्रदेश) के लोक नृत्य अर्ध वृत्ताकार में चलता है। नर्तक भूषणालंकृत हो अपने स्वच्छ हिम से श्वेत ऊर्ण चोले पहिन नाचते हुए एक साथ लोकगीत की धुन आलापते हैं। सिर पर काली टोपियां कलगियां लगी पहिनी होती हैं। नाचते और गाते समा सा बन्ध जाता है।

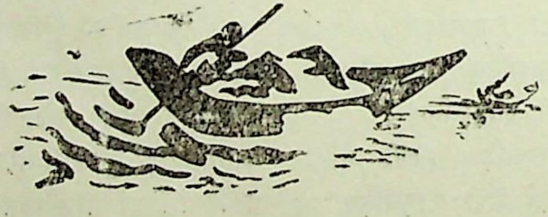
पर्वतीय भू-भाग में जहां त्यौहारों का लोकगीतों के साथ विशेष सम्बन्ध है वहां ऋतुओं के भी पृथक् लोकगीत हैं। चैत्र मास में किशोरियां रली का पूजन करती हैं। पूजा का आधार है कि मधुमास में पार्वती ने भगवान् शंकर की पूजा कर सौभाग्य, अभिलषित वर प्राप्त किया था। कन्याओं की टोलियां विभिन्न लोक-गीत गाती पूजा करती हैं। उनके प्रत्येक कृत्य के पृथक लोकगीत हैं। बैसाखी के दिन बड़ी धूमधाम और सजधज के साथ ये किशोरियां गीत गाती और अत्यधिक

विछोह प्रकट करती हुई उन माटी की बनो हुई मूर्तियों को गहरे जल में प्रवाहित करती हैं। उस समय कितनी ही स्त्रियां, पुरुष उस दृश्य को देखने के लिये एक साथ नदी तटों पर एकत्रित हो जाते हैं। कन्याओं के मुख से बिछोड़े के लोक गीत ध्वनित होते हैं और वातावरण में एक करुण दृश्य की झलक परिलक्षित होती है। उन लोकगीतों में करुण रस अभिप्रेत है:—

सारा ताँ म्हीना रलीए पूजा कित्ती,
रलिए पूजा कित्ती हुण होए पैर बछोड़ेए—

चौमासे में सावन के झूले पड़ जाते हैं। उन पर झूलती हुई ग्राम वधुओं के कितने लोक गीत सुनाई पड़ते हैं। बरसात की झड़ी के साथ लोकगीतों की झड़ी सी लग जाती है। दूसरी ओर धान्यारोपण करती हुई कृषक वधुएं लोकगीत गाती हैं। इस ऋतु में ही 'नाग' के वार और 'गुग्गा' नवमी के वार लगते हैं। उन में जाती हुई नारियां लोक-गीत गाते गाते अपना हृदय उंडेल कर रख देती हैं। कोकिला कण्ठों से सारी पर्वतीय घाटियां अभिगुञ्जित हो जाती हैं। और कितने ही लोकगीत एकसाथ ध्वनित होते हैं।

अतः लोक साहित्य का सृजनात्मक क्षेत्र ये विभिन्न ऋतुएं और लौकिक त्यौहार हैं। इनमें ही हमारे उस साहित्य का निर्माण हुआ है जो आज एकाङ्गी बन गया है, जो साहित्य का अभिजात्य अङ्ग होते हुए भी परित्यक्त, दयनीय दशा में है। समाज की वास्तविकता, उसकी परम्पराओं तथा स्तर का मानदण्ड लोक साहित्य है। इस अविभाज्य-अङ्ग के परित्याग से समाज की अङ्गहीन वाली दशा हो जाती है। हम अपने स्थानीय त्यौहारों और श्रेष्ठ परम्पराओं का अनुमान, उन से ग्रथित, सम्बन्धित, लोक साहित्य से लगाते हैं। लोक-गीतों में वे परम्पराएं सम्बद्ध हैं। विभिन्न ऋतुओं में कवि की सरस वाणी इन मौखिक गीतों में ही मुखरित हुई हैं। अत्यधिक पुराने होते हुए भी आज वे नवीन हैं, मौलिक और नित युवा से दिखाई देते हैं। वेगवती भावनाओं का अदम्य प्रवाह उनमें निर्बाध गति से प्रवाहित है। इनमें गति है, एक प्रेरणा है।



हिन्दी काव्य में राष्ट्रीयता

ईश्वर गुप्त

राष्ट्रीयता मानव-आस्था का वह स्तर-विशेष है, जहां व्यक्ति की चेतना समष्टि की ओर झुकती हुई 'विशिष्ट भौगोलिक सीमाओं' तक जाकर रुक जाती है। 'विशिष्ट सीमाएं' राष्ट्र की ही सीमाएं हैं। जियरन के शब्दों में राष्ट्रीयता का प्रश्न, इन्हीं सीमाओं में, सामूहिक जीवन, सामूहिक विकास और सामूहिक आत्म-सम्मान से जुड़ा हुआ है। जनता की भावात्मक समग्रता——इमोशनल इन्टेग्रेशन ऑफ दी पीपुल——उसे रूप देती है। राष्ट्रीय काव्य इसी चेतना की अभिव्यक्ति है। भावपरक समग्रता के लिये अपने देश के समस्त परिवेश-प्रकृति और मानव-से आत्मीयता वांछित है। धर्म, राजनीति आदि अनेक धरातलों पर राष्ट्रीय चेतना का उदय होता है। इतिहास जिस धरातल को उभारता जाता है, उसी के अनुसार तत्त्वों का अनुपातिक मिश्रण भी बदलता है और राष्ट्रीय काव्य का स्वरूप भी। राष्ट्रीयता के संबंध में एक प्रचलित 'वाद' है कि वह मानव-चेतना का नया दिशा प्रवाह है। इस वाद के अनुसार राष्ट्रीयता फ्रांस आदि योरोपीय देशों की अठारहवीं शती में हुई राज्य-क्रांतियों की देन है। इस 'राष्ट्रीयतावाद' को राष्ट्रीय-चेतना का एक आयाम माना जा सकता है। यहां आकर राष्ट्रीयता को एक नयी अर्थवत्ता मिली है। 'ऐन्साइक्लो-पीडिया ब्रिटेनिका' के 'नैशनलिज्म' (राष्ट्रीयतावाद) लेख से स्पष्ट है कि मातृभूमि, जातीय परम्पराओं, राष्ट्र की भौगोलिक सीमाओं के अन्तर्गत सत्ताओं के प्रति अनुराग सदैव ही किसी न किसी रूप में विद्यमान रहा है पर "नेशनलिज्म' अठारहवीं शती की ही देन है। इस संबंध में यहां इतना ही कहना अलम् होगा कि इस धारणा के अनुसार राष्ट्रीयता प्रादेशिक स्वातन्त्र्य से संबंधित है, जहां राष्ट्र जनता का राज्य है, राजा अथवा सामन्तादि का नहीं अर्थात् जहां जनता की आस्था राष्ट्र पर सीधी केंद्रित हो, किसी अन्य आलंबन के माध्यम से नहीं।

विकसनशील राष्ट्रीयता का आधार देश की जनता की भावात्मक समग्रता है, अतः यह आश्चर्य की बात नहीं कि राष्ट्र की

परिकल्पना भारतीय वाङ्मय में वेदों से ही मिलने लगती है। अथर्ववेद के भूमि-सूक्तों में मातृभूमि का स्तव करके वैदिक दृष्टा अपने राष्ट्र में क्रांति और बल का संचार करने१ या राष्ट्र की स्वतंत्रता के द्वेषी आक्रामक का गर्व खर्व करने२ के लिये याचना करता है। उसमें एक निरंतर विजयी जाति का उल्लास है। बाद में राष्ट्रीयता ने जो रूप पकड़ा, वह कृषि-युग की देन थी। जैसा डा० इन्द्रनाथ मदान लिखते हैं३ कृषि कर्म ने जीवन में स्थिरता की चेतना ला दी क्योंकि उसके लिये किसी एक ठिकाने से बंधना आवश्यक था। समय और सम्पत्ति के नये प्रतिमान जीवन में उतरे। रक्षण की प्रवृत्ति ने राज्य-व्यवस्था की उद्भावना की। जनता का कार्य कृषि करना था, और एक विशिष्ट वर्ग का कार्य राज्य-संचालन द्वारा जनता के अधिकारादि की रक्षा करना। रक्षक वर्ग स्वाभाविक है सम्मानित था तथा शांति-समृद्धि काल में वह कला का संपोषण करने में भी समर्थ था। इन परिस्थितियों के कारण राष्ट्र के संबंध में भौगोलिक चेतना की प्रधानता थी। भारत के भरत खंड, आर्यावर्त जैसे नाम तथा राजा के चक्रवर्तित्त्व की धारणा इसी के परिचायक हैं। राज्य कई होते थे, चक्रवर्तित्त्व की धारणा का मूल यहीं है। राष्ट्र की भौगोलिक एकता की यही चेतना सिकन्दर के आक्रमण के समय चन्द्रगुप्त में प्रबुद्ध हुई थी। राजा भी केवल फल का उपभोक्ता नहीं होता था, लोकरंजक भी था। गोपाल हाल्दार जब कालिदास से इण्टरव्यू लेते हैं४, (इसकी सच्चाई का विश्वास उन्होंने दिलाया है), और पूछते हैं : जन-कल्याण आपका काव्य नहीं है, आपने राज्यस्तुति की है? तो कालिदास आशंकित से कहते हैं :— 'क्या कहते हैं आप? प्रजा का कल्याण न होने से फिर राज्य का कल्याण कहां?' राष्ट्रीयता राजा के माध्यम से प्रबुद्ध थी।

× × ×

यवनों का आक्रमण-काल भारतके राष्ट्रीय जीवन की विशृंखलता की सूचना देता है। राज्यों की छोटी–छोटी बीसियों इकाइयां अपनी लघु सीमाओं में भी अहंकार से अभिभूत थीं। गृहयुद्धों ने इन्हें भीतर से खोखला कर रखा था, और भारत की स्वतंत्रता छीनने को आतुर यवन आक्रामकों

---

१. सा नो भूमि स्त्विषि बलं राष्ट्रे दधात्तूत्तमें।

२. यो न द्वेषत पृथिवि य पृतन्याद
योऽभिदा सामान्यमनसा यो वधेन।
नं नो भूमे रन्धय पूर्व कृत्वरि।

३. माडर्न हिन्दी लिटरेचर (पृ० १३-१४)।

४. हंस—१ : अक्टूबर १९५७: पृष्ठ ३७

को देख कर भी ये अनदेखा कर रहे थे । फिर भी आक्रमण होने थे, हुए । राज-चारणों ने आश्रयदाता नरेशों के शौर्य-वीर्य को उद्‌बुद्ध किया । पारस्परिक वैमनस्यवश आश्रयदाताओं की अनुचित प्रशस्ति भी गानी पड़ी । हिन्दी के कवि य ही चारण थे अतः उस युग का समस्त काव्य राष्ट्रीय नहीं हो सका । मधुकर की 'जयमयंक जसचंद्रिका' राष्ट्रीयता की प्रतिरोधात्मक रचना ही है । वह केवल व्यक्ति-आराधना का पुष्प है। पृथ्वीराज रासो, आल्हा, हम्मीर रासो, खुमान रासो आदि में इस चेतना की स्वस्थ अभिव्यक्ति है । तत्कालीन रुचि के अनुकूल व्यक्ति-आराधना तथा शौर्य और प्रेम का शब्द पोष्य रूप उनमें ग्रथित है ।..........

जातीय-चेतना अभी उभरी नहीं थी अतः प्रायः उनमें "हम जनता को तो नहीं पढ़ पाते, राजनीतिक संघर्षों-विघर्षों का आभास अवश्य पा जाते हैं "१ उनमें युद्धों की टंकार है ।

गही तेग चहुवान हिंदवान राने,
गजं जूथ परिकोप केहरि समानं ।
सिरं नाथ कस्मान पृथिराज राजं,
पकरिये साहि जिमि कुलिंग बाजं ।
(चंदबरदायी)

कोहे चलिय हम्मीर, बीर गअजुह२ संजुत्ते ।
किअहु कट्ठ आ कंत, मुच्छि मेच्छिअ३ के पुत्ते ।। **(शारंगधर)**

आततायियों के विरोध में उनका देशानुराग फूट पड़ता है, पर उसमें जन-उद्‌बोधन अधिक नहीं है । 'आल्हा' में महोबा के दो वीर-भ्राता जनता के सामूहिक आत्मसम्मान का प्रतिनिधित्व अवश्य करते हैं । वस्तु-तत्व की दृष्टि से इनमें ऐतिहासिकता का अनुरोध नहीं है ।

× × ×

राष्ट्रीयता का दूसरा चक्र भक्ति के सांस्कृतिक पुनरुत्थान के समय चलता है, जातीय चेतना का उदय होता है । यह आंदोलन सभी का था । वह तुर्कों और मुगलों के शासन तंत्र का भी विरोधी था, सामंतीय उत्पीड़न का भी, फिर भी जातीय एकता प्रधान थी ।

"हिन्दु मुसलमान खुदाई के बंदे।"

कबीर का व्यक्तित्व इस दिशा में प्रखरतम है । अस्तव्यस्त परम्पराओं का स्वीकार उनमें नही है । आस्था का क्षेत्र इतना व्यापक था कि राष्ट्रीय सीमाओं को लांघ कर उसने मानवीयता को आवृत्त किया है । फिर भी मांग तो युग की ही थी । निजता में वह अंततः निवृत्तिपरक भी नहीं रहा, बिलकुल 'सहज' बन गया ।

जातीय चेतना का प्रतिनिधि तुलसी है । उनमें सांस्कृतिक तत्त्वों का उभार बहुत है । एबरक्राम्बी के अनुसार तो शास्त्रीय महाकाव्य का रचयिता सदैव राष्ट्रीय

१. शांतिप्रिय द्विवेदी : "युग और साहित्य"
२. गजयूथ
३. मूर्छित म्लेच्छ

काव्य का निर्माता होता है । तुलसी के बारे में तो इसी से स्पष्ट है कि काशी में आठ मारुति मंदिरों की स्थापना, वहां संकीर्त्तन तथा शरीर संवर्धन द्वारा सांस्कृतिक और राजनैतिक-सामाजिक जागरण का सक्रिय प्रयास है । यवन अभी म्लेच्छ बने हुए थे, क्योंकि हूणों आदि की भांति वे घुलेमिले नहीं थे । तुलसी का कलि-निरूपण म्लेच्छ शासन का चित्रण है ।

दारिद दसानन दबाई दुती दीनबंधु,
दुरित दहन देखि तुलसी हहा करी ।
खेती न किसान को,
भिखारी को न भीख बलि
बनिक को बनिज न,
चाकर को चाकरी ।..........

फिर भी युग द्वारा आरोपित सीमाओं का सर्वथा परिहार वे न कर सके थे । वर्ण-व्यवस्था असी वीर्यगत ही थी ।

अकबर की राजनीति से फिर भी शांति थी, पर शनैः शनैः करके औरंगजेब के समय हिंदुत्व नृशंसता से पीड़ित हुआ । गुरु गोविंद सिंह, छत्रसाल और शिवाजी हिन्दुत्व के आत्मसम्मान के प्रतीक बन कर आये । गोविंद सिंह स्वयं ओजपूर्ण अभिव्यक्ति में सहज समर्थ थे । 'छत्रसाल' को 'लाल' मिल गया था, शिवा को 'भूषण' । रीति की निर्जीव रूढ़ियों की कारा से मुक्त होकर स्वस्थ चेतना का अभिनिवेश इन के काव्य में है । 'भूषण' के राष्ट्रीय कृतित्व को स्पष्ट करते हुए श्री सावरकर 'हिन्दुत्व' में लिखते हैं :

"सवाई जयसिंह ने भूषण के कहने से ही उत्तरी भारत के नरेशों का नेतृत्व ग्रहण किया था ; जिसमें स्वराज्य भावना का उद्योग निहित था ।...हमारे उन राष्ट्रीय चारणों में जो हिन्दू स्वाधीनता के युद्ध के उस काल में देशभर में भ्रमण करके हिन्दुस्तान को 'तस्मात्वमुत्तिष्ठ यशोलभस्व' का उपदेश दे रहे थे, महाकवि भूषण बहुत प्रसिद्ध हैं । उन्होंने औरंगजेब को ललकार कर कहा था—

"हिंदुन के पतित सों न बिसात
सतावत हिंदुन गरीबन पाय कै ।"

यह राष्ट्रीयता हिंदू जातीयता थी । यवनों के प्रति उदारता उनमें आने लगी थी । भूषण ने अकबर की प्रशंसा की है, छत्रसाल और शिवाजी स्वयं उदार थे, छत्रसाल के गुरु प्राणनाथ ने 'कुलजम' ग्रंथ में हिंदू-यवन भावात्मक समग्रता का प्रतिपादन किया है, पर अभीष्ट यह था कि वे रहें, सहअस्तित्व हो, पर शासक की तरह नहीं । भारत पर अधिकार हिंदुओं का है । वस्तु की दृष्टि से ऐतिहासिकता का आग्रह है । यही परम्परा १८५७ के संग्राम की काल सीमाओं का स्पर्श करती है ।

सीमा-स्पर्श की बात इसलिये उल्लेखनीय है कि अब तक दोनों विजातीय

शक्तियां परस्पर संघर्ष और प्रतियोगिता की तो रेखायें खींच रही थीं पर उस नवागन्तुक शक्ति को पहचानने में असमर्थ थीं जिसने उन्हें अंततः अपने ही घर से परित्यक्त कर देना था। जागृति पर व्यापक बन्धुत्व की चेतना उदित होती है और उसका परिणाम होता है ५७ का महासंग्राम, पर विफल। जागृति का कारण पाश्चात्य सम्पर्क और 'इतिहास' स्वयं था।

× × ×

राष्ट्रीयता के नये आयाम की रेखायें सुस्पष्ट होने लगती हैं। मध्यवर्ग की गतिशील चेतना का उदय, धार्मिक प्रतिबंधों की क्षीणता की उत्कट इच्छा, जीवन और शिक्षा का व्यवहारीकरण एवं जन-भाषाओं (वर्नाक्युलर्स) की उन्नति आदि अनेक तत्त्वों का इस नये आयाम के निर्माण में योग है। राजा राममोहन राय के प्रयास धर्म, समाज, शिक्षा, के क्षेत्र में ही थे। दयानंद, परमहंस, विवेकानंद, केशवचंद्र सेन आदि के भी अपने अपने दृष्टिकोण थे। यह विविधता एक ओर मध्यवर्गीय चेतना को क्रियाशीलता का परिचय देती है, दूसरी ओर प्रचलित समाज-व्यवस्था की अस्वीकृति की ओर भी इंगित करती है।

हिन्दी काव्य का भारतेन्दु काल राष्ट्रीय चेतना के सांस्कृतिक और सामाजिक स्तरों को विशेष रूप से पकड़ कर चला है, पर राजनीति में अधिक अंतर नहीं आया। उनकी राजभक्ति और राष्ट्र-भक्ति में संघर्ष पर परिस्थितियों ने राज-भक्ति की भित्ति को दृढ़ कर दिया था। राज्यारोहण पर विक्टोरिया के आश्वासन :

It is our earnest desire to stimulate the peaceful industry, to promote works of public utility and improvement ......

का मनोवैज्ञानिक प्रभाव इसी दिशा में पड़ना स्वाभाविक था। दूसरा प्रमुख कारण राज-शक्ति का आतंक भी था, जो भारतीयों के विद्रोह की प्रतिक्रिया ही थी :

कठिन सिपाही-द्रोह अनल, जो जल-बल नासी।
जिन भय सर न हिलाइ सकत कहुं भारतवासी।। (प्रतापनारायण मिश्र)

भारतेन्दु स्वयं इससे पहले ही 'ब्रिटिश पालिसी एक्ट की हाकिमेच्छा नामक दफ़ा' की गतिविधि पहचान चुके थे। इस दमन, आतंक आदि के कारण भारतीय मन में पराजय, आत्महीनता, मुक्ति की असंभावना के निराशात्मक प्रभाव डाले, जिनकी अभिव्यक्ति काव्य में निष्क्रिय क्षोभ और आत्मालोचना द्वारा हुई :

जन्म-पत्र विधि मिले ब्याह नहिं होन देत अब।
बालकपन में बयाहि प्रीतिबल नास कियो सब ।।.......(भारतेन्दु)

वर्तमान की अस्वीकृति के कारण चेतना अतीत में भी पलायन कर गयी । उसे अतीत पर अभिमान है, उल्लास नहीं । अतीत का "गौरव और भविष्य के गुलाबी संकेतों की अनभिज्ञता उसके वर्तमान को इतना कटुतर बना देती है कि वह आत्म-विध्वंस की कामना करने लगता है । गंगा-यमुना 'देहू भरत भुव तुरत डुबाई' में उसे उद्धार दिखाई देता है या फिर वह आर्त्त विनय कर सकता है :

हम आरत-भारतवासिन पैं, अब दीनदयाल कृपा करिये ।

(प्रतापनारायण मिश्र)

व्याप्ति में यह जागरण केवल 'हिन्दी, हिंदू, हिंदुस्तान' तक सीमित था । यवन-शासकों की नृशंसता की स्मृति से वे क्षुभित थे, यवन जाति के प्रति उदासीन ।

हिन्दी काव्य में राजनैतिक दृष्टि से राष्ट्र-भक्ति का रूप अभी नहीं मिलता । राजतंत्र का कहीं विरोध है, तो वह आर्थिक भूमिका पर ही है । भारतेन्दु को अंग्रेज़ी राज में ख्वारी केवल 'धनि विदेस चलि जात' की ही लगी थी । आर्थिक-दासता का पक्ष भी उभर कर आता जा रहा था :

देस नगर बानक बनो, सब अंग्रेजी चाल ।
हाटन मैं देखहु भरो, बस अंग्रेजी माल ।।

(प्रेमघन)

१८८५ में राष्ट्रीय संस्था कांग्रेस के स्थापन के बाद राष्ट्रीय चेतना, उसकी आशा आकांक्षाओं को कुछ विस्तार अवश्य मिलता है, पर वह मुखर नहीं हो पातीं । अर्थ-व्यवस्था ही इतनी शोचनीय है कि खून पसीना एक करके अन्न उत्पन्न होता है, पर

"जम के दूत उसे खेतों से ही उठवा ले जाते हैं ।"

(बालमुकुंद गुप्त)

अकालों का लगातार सिलसिला इस दयनीय अवस्था को और भी क्षोभद बना देता है ।

राष्ट्रीय चेतना का वास्तविक उदय द्विवेदी काल के आरंभ में ही होता है । १९०४ में 'छिपकली-सा' जापान रूस को पराजित करता है । पश्चिम के आतंक की पोल खुलने पर पूर्व में आत्मविश्वास तथा आत्मनिर्भरता की भावना का उदय होता है । १९०५ में बंग-विभाजन की योजना ने तत्काल ही इस चेतना को रूप दे दिया । ब्रिटिश शासन का विरोध और माल का बहिष्कार हुआ । स्वदेशी आंदोलन चला । देव स्तव का समय समाप्त होता है, सीधे देशवासियों से अपील की जाती है :

आओ, एक प्रतिज्ञा करें एक साथ सब जीवें मरें ।

× × ×

अपनी चीजें आप बनाओ, उनसे अपना अंग सजाओ ।।

मातृभूमि का स्तवन बहुत तीव्रता और बहुत परिमाण में होने लगता है । भारत की प्रकृति सजीव, आकर्षक और आत्मोत्सर्ग की प्रेरक हो जाती है । श्रीधर पाठक, पूर्ण,

महावीर प्रसाद द्विवेदी, गुप्तबंधु, रामनरेश त्रिपाठी आदि अनेक कवि इस दिशा में उत्साह दिखाते हैं।

इस युग की चेतना की अभिव्यक्ति गुप्त में सर्वाधिक हुई। उनकी भारतभारती फिर उससे प्रेरित मिश्रबंधु की 'भारत विनय' बहुत प्रचलित एवं प्रशंसित हुई। यह चेतना थी:

तेरा अतुल अतीत काल है,
आराधन के योग्य, समर्थ।
वर्तमान साधन के हित है,
और भविष्य सिद्धि के अर्थ॥
(मातृभूमि : मैथिलीशरण)

साधना में इनकी प्रगाढ़ आस्था थी। निराशा तथा आत्म-क्षोभ के लिये स्थान नहीं रहा। उनकी दृष्टि में तो 'भारत यदि श्मशान है तो शिव का, और शिव के साथ शक्ति भी स्वतः होगी ही' (नैराश्य-निवारण : मैथिलीशरण गुप्त) अन्तर्प्रांतीय और अंतर्धार्मिक जनैक्य भी इसी साधना का एक महान चरण है। गुप्त-बंधु, पूर्ण, मिश्रबन्धु आदि ने इस दृष्टिकोण को बहुत उभारा।

वर्तमान की यह साधना स्थूल ही नहीं थी; मानसिक स्तर पर भी हुई। अतीत की परम्पराओं की वैज्ञानिक व्याख्याएं की गयीं; यदि वैज्ञानिक सूत्र नहीं मिले तो उनका बौद्धीकरण कर लिया गया। हरिऔध के 'प्रियप्रवास' तथा गुप्त के अनेक खण्डकाव्यों में यह प्रवृत्ति लक्षित होती है। साथ ही चरित्रों का निर्माण भी नयी, सामयिक यथार्थ की भूमिका पर हुआ। प्रणयनिष्ठ 'राधा' तक समाज-सेविका बन गयी। व्यक्ति का जीवन सामाजिक प्रयोजन के लिये प्रदत्त हो जाता है। देशप्रेम की अभिव्यक्ति में कलात्मक सूक्ष्मता का समावेश माखनलाल चतुर्वेदी की 'पुष्प की अभिलाषा' जैसी गीतियों से हुआ।

यह युग राजनैतिक दृष्टि से बहुत लंबे उलट-फेर का काल है, अतः राष्ट्रीय चेतना भी आस्था तथा निर्माण की भावना लिये भी बड़ी ढुलमुल सी रही। सतही बात यह है कि इस युग के आरंभ से ही कांग्रेस में दो दल—गरम और नरम चले आ रहे थे। १६०८ में तिलक के जेल जाने, और लाजपत के निर्वासन पर कांग्रेस नरम दल के हाथ में आयी, उसके शासन सुधरवाद स्वीकार करने से उसका जन-सम्पर्क बहुत कम हो गया जो गांधी-युग में पुनः स्थापित हुआ।[१] फिर भी जनता का राष्ट्रीय आवेश क्षीण हो गया। उधर अंग्रेज़ों की कूटनीति ने मुस्लिम-लीग की स्थापना की, उन्हें पृथक् निर्वाचन-प्राधिकार भी दिये और साम्प्रदायिक द्वेषता का बीज बो दिया। परिस्थितिवश यह द्वेषता तब तो इतनी न फल सकी, हां परस्पर उदासीनता अवश्य छा गयी। हाली का 'मुसद्दस' और गुप्त की

१. कांग्रेस का इतिहास : पट्टाभि सीतारामैया।

'भारत-भारती' में यही परस्पर उदासीनता है। ये सब दुष्प्रभाव १९१५ के लगभग फिर दूर होते हैं। लीग ने तुर्की के प्रश्न पर राज-विरोधी होकर स्वशासन की घोषणा की, एनीबेसेन्ट और तिलक ने उधर, १९१६ ई० में, होमरुल लीग बनाई। १९१५' में गोखले के देहावसान पर कांग्रेस उग्रदलीय तिलक के हाथ में आ ही चुकी थी। अतः हिन्दी काव्य में भी स्वराज की अभिलाषा की अभिव्यक्ति हुई :

हमको तो स्वपद विहीन कहीं
है स्वयं राज्य भी इष्ट नहीं।

इस अधिकार-चेतना के साथ उग्र नीति और जातीय-प्रांतीय बंधनों के अतिक्रमण की भी योजना होती है :

कह दो 'हर-हर' यार या
अल्ला-अल्ला बोल दो। (स्नेही)

इसी आवेश में 'झांसी की रानी' जैसी कविताएं सामने आती हैं।

'भावी सिद्धि के अर्थ' भारत को एक दृष्टिकोण रूस के स्वातन्त्र्य से मिलता। 'स्नेही' और 'त्रिशूल' द्वारा इसके प्रति आकर्षण भी व्यक्त हुआ :

समदर्शी फिर साम्यरूप धर जग में आया।

पर तभी गांधी ने भारतीय राजनीति में विलक्षण -साधक के रूप में प्रवेश किया। सत्य और अहिंसा का प्रचार होने लगा। १९१९ में जलियांवाला कांड हो गया। भारत विद्रोही हो गया पर गांधी के चरण चिन्हों पर उसे एक अभिनव साधन मिला। अहिंसा और सत्याग्रह से श्लिष्ट होकर असहयोग की चेतना उभरी। लक्ष्य भी सुस्पष्ट रूप में सामने आया 'उचित और शांतिमय साधनों से स्वराज्य प्राप्ति' तथा 'आर्थिक और सामाजिक और धार्मिक भूमियों की उन्नति।' बुद्धिजीवी वर्ग में फैलकर यह चेतना सर्वत्र प्रसारित हो गयी। गांधी ने स्वयं किसान का वेश चुना अतः सामाजिक और आर्थिक विषमताओं के चित्रण में कवियों को प्रेरणा मिली। स्नेही का 'कृषक क्रन्दन', गुप्त का 'किसान' खण्डकाव्य के रूप में कृषक जीवन की शोचनीयता का मर्म द्रावक अंकन करते हैं। 'अछूत' और 'विधवा' के प्रति सहानुभूति का प्रसार हुआ, कवि अभिवक्ता बने।

राष्ट्रीय चेतना में, इस काल में, एक नया आवेश भरा गया। माखनलाल चतुर्वेदी, राम नरेश त्रिपाठी, सुभद्रा कुमारी, नवीन आदि में यही आवेश है। प्रसाद और गुप्त में यह आवेश सांस्कृतिक होकर गंभीरता का रूप धारण करता है। श्रीमती चौहान की कविताओं का विश्लेषण करते हुए शमशेर का कथन है——

> कविताओं की वह भरी पूरी जिन्दगी सन् '१९-२० और '३०-३१ के उन्नत राष्ट्रीय उठान की जिन्दगी है; उसके बाद की या आज की नहीं। उसके बाद तो ज़िंदगी के मिलेजुले

सपने ही टूट गये । वह जातियों का सामान्य हेलमेल और आदर्शों की एकता खत्म हो होती गयी ।...

(दोआब)

व्यक्ति-प्रशस्तियां अब भी गायी जाती रहीं, परन्तु वे केवल गांधी, तिलक, शिवा आदि तक ही सीमित नहीं रहीं ; सुभद्रा जी समर से लौटते हुए विजयी सैनिक-मात्र का 'स्वागत' करती हैं ।

कांग्रेस की रीति-नीति की अदल-बदल के कारण भारतीय जनता में फिर '२४ से २८' तक शांति छाई रही परन्तु परिस्थिति-वश फिर सत्याग्रह का क्रम दोहराया जाता है । दमन और आतंक की प्रक्रिया तीव्र होती है और प्रतिक्रिया में भारत की अधिकार भावना भी :

"गूंज उठी ललकार जवाहर की,
आदेश पूज्य बापू का,
घूम गया आंखों के आगे,
खून राजगुरु भगत सिंह का ।
भारत के जर्रे जर्रे पर,
अब होगा अधिकार हमारा –"

गुप्त भारत की धर्मपोली—विश्वस्त बारडोली के सत्याग्रह के प्रति आस्थावान होते हैं । प्रसाद भी अभियान गीत गा उठते हैं —

हिमाद्रि तुंग-शृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती ।
स्वयम्प्रभा समुज्जवला स्वतंत्रता पुकारती ।।
प्रशस्त पुण्य पंथ हैं, दृढ़ प्रतिज्ञ सोच लो ।
अमर्त्य वीर-पुत्र हो, बढ़े चलो, बढ़े चलो ।।

साधन विफल होते हैं । राष्ट्रीय चेतना में एक ओर क्रांति कामना प्रबल होती है ;

जल उठ, जल उठ, अरी धधक उठ,
महानाश सी मेरी आग [भगवती वर्मा]

नवीन 'पराजय-गीत' गाने में भी नहीं चूकते जिसमें आत्म-विक्षोभ, निराशा की अभिव्यक्ति है ।

यह सब होते हुए भी यह काल राष्ट्रीय-काल का नहीं, छायावादी काव्य का था । 'व्यक्ति के निर्माण' से उसका उन्मेष हुआ था । राष्ट्र की स्वातन्त्र्य चेतना उसमें रूपांतर से अभिव्यक्त हो रही थी। शिवदान सिंह चौहान के मन से छायावाद व्यक्ति के मुक्तिकामी असंतोष की ही देन है । डा० नगेन्द्र के अनुसार 'जिन परिस्थितियों ने कार्यवृत्ति को अहिंसा की ओर प्रेरित किया था, उन्हीं ने मनोवृत्ति को छायावाद की ओर ।' अस्तु, वहां स्वातन्त्र्य-चेतना सूक्ष्म मानसिक व्यक्तित्व पर आच्छादित है, जो कला के क्षेत्र में प्रतिफलित हुई । फिर भी वस्तु की दृष्टि से छायावाद ने दलितों को भी व्यापक, मानवीय संवेदना दी है । प्रसाद और निराला का कृतित्व इस दृष्टि से अधिक प्रशस्य है । प्रसाद की तो "कामायनी" तक मनु के पीछे स्वयं कुटिया छाती रहती है, शाल बीनती तथा तकली कातती है । निराला भिक्षुक, और विधवा आदि के प्रभावशील द्रावक चित्र प्रस्तुत करते हैं । महादेवी में नारी के

प्रति अजस्र करुणा है । छायावाद-युग समाप्त होते होते भारतीय-इतिहास में विघटन वेला आती है । काव्य में यही सक्रांति-युग है । छायावाद की सूक्ष्मता के अतिरेक के विरुद्ध प्रतिक्रिया तो होती ही है ; वस्तुविषय की दृष्टि से काम वर्जनाओं और अर्थ-विषमताओं की अभिव्यक्ति होती है । काम-वर्जनाओं तथा प्रणय-अतृप्तिजन्य निराशा की ही यद्यपि प्रमुखता रही, पर उसकी चर्चा यहां अवांतर है । अर्थ विषमताओं के निरूपण में मार्क्सवाद का नया प्रभाव जुड़ जाता है। इससे सामाजिक भूमिका की पुष्टि को उत्साह मिलता है :

देख कलेजा फाड़ कृषक दे रहे,
हृदय-शोणित की धारें ।
और उठी जाती उन पर ही,
वैभव की ऊंची दीवारें ॥
(दिनकर)

पंत की 'मानव-पशु' 'युगवाणी' तथा रामविलास शर्मा की 'कलियुग' और 'हड्डियों का ताप' जैसी रचनाएं सामने आती हैं । सैद्धांतिक-प्रेरणा के लिये निरंतर प्रयास जारी हो जाते हैं, यद्यपि भारतीय समाज के ढांचे पर उन सिद्धान्तों का निदर्शन रामेश्वर करुण 'करुण सतसई' में सन् ३४ में ही कर चुके थे। 'हंस' इस चेतना के प्रसार का माध्यम बनता है, शिवदान सिंह चौहान प्रेरक । सन् ४०–४४ के बीच परिस्थितियों में अजब सी लचक आ जाती है । रूस पर जर्मनी का आक्रमण का तात्कालिक प्रभाव मार्क्सीय चेतना के प्रसार में तो सहायक होता है , पर–राष्ट्र नीति के लिये राष्ट्र-नीति को धक्का लगता है। कवि यमुना की धार पार रोती-कलपती दिल्ली की तरफ नहीं देखता, मास्को को देखता है । 'लाल निशान' ही सर्वत्र दीखने लगता है । पर' ४२ का आंदोलन फिर देश-भक्ति और क्रांति की जीवन्त प्रेरणा देता है :

कौन चुनौती देता है रे,
सागर के उस पार से ।
गोरापन सब खो जायगा,
काले की फुफकार से !
हम आज़ादी के दीवाने,
जान हथेली पर लिये––
(ईश कुमार)

नरेन्द्र शर्मा, अंचल, भगवती चरण, नवीन, नेपाली सभी में आवेश छा जाता है। सोहन लाल द्विवेदी की सांस्कृतिकतामय, आत्म-उत्सर्ग की भावना मुखर होकर वंदना के बोल गा उठती है ।

वंदना के इन स्वरों में एक स्वर मेरा मिल लो
हो जहाँ बलि-शीश अगणित, एक सिर मेरा मिला लो ।

बच्चन आदि अनेक कवि भी गांधी की सांस्कृतिक चेतना की ओर झुकते हैं । 'सूत की माला' की रचना होती है । 'वर्तमान' में साधन चलते रहते है । भावी सिद्धि की कल्पना अंततः साकार होती है । १९४७ के १५ अगस्त को भारत स्वतंत्र

हुआ । राष्ट्रीय साधना का काल एक प्रकार से समाप्त हुआ । जीवन में उल्लास छा गया । नवोदित स्वतंत्र भारत-राष्ट्र का स्तवन शतशः कंठों से मुखरित हुआ । भावी उन्नति के प्रति आस्था लिये गिरिजाकुमार माथुर की सजग वृत्ति गा उठी !

आज जीत की रात,
पहरुए सावधान रहना !
शोषण से मृत है समाज,
कमजोर पुराना घर है,
किन्तु आ रही नयी जिन्दगी,
यह विश्वास अमर है
जन-गंगा में ज्वार
लहर तुम प्रवहमान रहना !

इस स्थल से भारत की राष्ट्रीय चेतना में नव आयाम का सूत्रपात है । देश विभाजित हुआ, साम्प्रदायिकता के कारण । पर जैसा डा० गंगाधर झा ने लिखा है, १ भारत में धार्मिक-एकता बनी रही। धार्मिक तथा सांस्कृतिक स्वतंत्रता— जो अतीत के भारत की विशेषता थी पुनः प्रतिष्ठित हुई है । परन्तु अर्थ-वैषम्य, सामाजिक-कुरीतियां तथा भाषा, प्रांतीयता-आदि कुछ समस्यायें अभी तक भारत को जकड़े हुए हैं । भाषा, प्रांतीयता के प्रश्न फिर भी इतने जटिल प्रतीत नहीं होते जितने सामाजिक अंधविश्वासों और आर्थिक वैषम्य के प्रश्न । गर्हित सामाजिक व्यवस्था के कारण ही शंभूनाथ सिंह को भारत पर आक्रोश है ।

आर्थिक स्वातन्त्र्य के लिये दो प्रकार के विशिष्ट प्रयास हो रहे हैं। एक विनोबा की 'सर्वोदय' पद्धति है, जिसका वियोगी हरि, गोविंद वल्लभ पंत, गुप्त आदि पर काफ़ी प्रभाव है । यह शांतिवादी दर्शन काव्य को कटु नहीं होने देता न ही व्यंग्य का समावेश होने देता है, अतः सर्वोदयवादी काव्य प्रचारात्मक ही हो पाया है । उधर मार्क्सवादी काव्य भी इस दृष्टि से प्रायः प्रचारात्मक रहा, पर उसके व्यंग्य बहुत कटु होते हैं। अब स्वस्थ दृष्टिकोण, स्वस्थ कलात्मकता के प्रयास चल रहे हैं ।

अंततः राष्ट्रीय चिंतन-धारा के अद्यतन विकास में भारत ने काफ़ी कुछ पाया है, पर अनुपलब्ध भी 'फ़िफ्थ कालम' की वस्तु नहीं है । आर्थिक स्वातन्त्र्य, रूढ़ियों से मुक्ति उसकी राष्ट्रीय अपेक्षाएं हैं । प्रांतीयता, दलबंदी, तथा साम्प्रदायिक कटुता का परिहार अपेक्षित है । भारत के आंतरिक एवं बाह्य उत्थान के लिये राष्ट्रीय काव्य की अपेक्षा तो सदैव रहेगी पर काव्य को इस सीमा में नहीं बंधना होगा । वह बंधता भी नहीं है, बंधा हुआ भी नहीं है । जीवन के व्यापक नये मूल्यों, मानवतावादी दृष्टिकोण की विवृत्ति, कहें कि विश्व चेतना के उद्घाटन में ही काव्य का जीवन है ।

● ● ●

१. आलोचना : अंक २६ 'राष्ट्रीय चेतना का विकास'

बाबू गुलाबराय के सैद्धांतिक समालोचना-ग्रंथ और उन पर पाश्चात्य प्रभाव

○

शिव प्रसाद गोयल

हिन्दी समालोचना-जगत् में शुक्ल-युग में बाबू गुलाबराय का प्रमुख स्थान है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, बाबू श्यामसुन्दरदास तथा मिश्र बंधुओं के अनन्तर समालोचना-क्षेत्र में बाबू जी की गणना होती है । इस पीढ़ी के समालोचकों में समय की गति और ताल के साथ आगे बढ़ते रहने वालों में वे अग्रगण्य हैं ।

बाबू जी की समालोचना के दो पक्ष हैं—१. सैद्धांतिक तथा २. व्यावहारिक । जिस समालोचना में साहित्य के विविध अंगों और विधाओं के विवेचन के साथ कुछ सिद्धान्त स्थिर किये जाते हैं, वह सैद्धांतिक समालोचना होती है और जिसमें उन सिद्धान्तों के आधार पर किन्हीं कृतियों का मूल्यांकन किया जाता है, वह व्यावहारिक समालोचना होती है । प्रस्तुत लेख में हम उनकी सैद्धांतिक समालोचना के ग्रंथों तथा उन पर पड़ने वाले पाश्चात्य प्रभावों पर विचार करेंगे ।

'नवरस'

बाबू गुलाबराय का सैद्धांतिक समालोचना सम्बन्धी सर्वप्रथम ग्रंथ है, "नवरस"। इसका लघु संस्करण सन् १९२७–२८ में प्रकाशित हुआ था । फिर इसका बड़ा परिवर्तित और परिवर्धित संस्करण सन् १९३२ में निकला । हिन्दी में 'नवरस' के प्रकाशन से पूर्व इस विषय का केवल महाराज अयोध्या का 'रस-रत्नाकर' उपलब्ध था । किन्तु उसमें बाबूजी के 'नवरस' के से विवेचन का अभाव था । श्री कन्हैयालाल पोद्दार का 'काव्य कल्पद्रुम' तब तक प्रकाश में न आया था । इस प्रकार समालोचना-जगत् में रस मीमांसा के क्षेत्र में बाबू जी अग्रदूत कहे जा सकते हैं ! मनोविज्ञान के पंडित बाबू गुलाबराय ने रस-विषय को नूतन भूमिका में देखते

हुए यह अनुभव किया कि 'रीतिग्रंथों में जो नवरसों का वर्णन है, उसके आधार पर भावों का मनोविज्ञान भली भांति लिखा जा सकता है। उन्होंने इस बात का पूर्ण उद्योग किया कि रसों के वर्णन में जो गूढ़ मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त अप्रस्तुत रूप से वर्तमान हैं, उनका पूर्णतः उद्‌घाटन हो जाय।

'नवरस' ६३४ पृष्ठ का एक बड़ा ग्रंथ है, जिसमें १८ अध्याय हैं। इसमें लेखक ने रस-विषय को मनोविज्ञान की छाया में समझने-समझाने का एक नया दृष्टिकोण अपनाया है। रीतिकाल में रस की इतनी मिट्टी पलीत हुई है कि आधुनिक वैज्ञानिक युग में लोग काव्य और रस को व्यावहारिक जीवन में घातक समझ कर छोड़ने लगे।[१] बाबू जी ने इस मनोवृत्ति का परिष्कार करने के लिये ही प्रस्तुत ग्रंथ की रचना की। 'नवरस' का उद्देश्य है, जीवित मानव-समाज और उसके काव्यमय चित्रों को रुचि के साथ समझने में सहायता पहुंचाना। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति में बाबू जी ने मनोविज्ञान का सहारा लिया है और इस क्षेत्र में उन पर पाश्चात्य मनोविज्ञान का प्रभाव स्पष्ट है।

नारी के सम्बन्ध में प्रचलित धारणाओं को बाबू जी ने जो नवीन रूप प्रदान किया है, उसमें पाश्चात्य मनोविज्ञान का हाथ कामवासना के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—"कुछ मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि स्त्री वा पुरुषों में कामेप्सा का आधिक्य मस्तिष्क की एक बीमारी के कारण होता है। पुरुषों में यह बीमारी Satyriasis (सेटीरिएसिस) और स्त्रियों में Nynphomania (निनफोमेनिया) अर्थात् कामोन्माद कहलाती है।[२] Psychoanalysis और Sub-conscious शब्द न जाने कितनी बार आए हैं। उन्होंने शृंगार रस और कामवासना में एकत्व स्थापित किया है तथा परकीया नायिका और उप-पति के प्रेम को उचित घोषित किया है। यहां बाबू जी पर जोसेफ बुअर्ट और आस्ट्रियन विद्वान् सिग्मंड फ्रायड का प्रभाव स्पष्ट है। फ्रायड ने व्यक्ति के मानसिक जगत को दो स्तरों में विभाजित माना है—चेतन और अचेतन। चेतन वह भाग है जिसका हमें सक्रिय ज्ञान रहता है और जो हमारी समस्त सामाजिक क्रियाओं को परिचालित करता है। अचेतन वह भाग है जिसका सक्रिय ज्ञान नहीं होता किन्तु वह व्यक्ति की उन अनेक अक्षय इच्छाओं का भंडार है जो अज्ञात रूप से उसकी प्रत्येक गतिविधि को

---

१. लोग अभी तक काव्य का विषय बहुत अनुपयोगी समझते हैं और इसी कारण वर्तमान समाज में काव्य का यथोचित आदर नहीं।

—नवरस, गुलाबराय, (द्वितीय संस्करण की भूमिका), पृ० ६

२. नवरस, बाबू गुलाबराय, पृ० १६०

नियंत्रित एवं परिचालित करती रहती हैं। चेतन मन में हमारी सभी इच्छाएं समाहित नहीं रहतीं। इस स्तर पर हमारी वे ही इच्छाएं रहती हैं जो प्रचलित सामाजिक नैतिकता की कसौटी पर खरी उतरती हैं और जिन्हें सामाजिक मान्यता प्राप्त है। किन्तु अचेतन मन हमारी सभी दमित, निर्वासित एवं अतृप्त इच्छाओं का भंडार है। वे सभी इच्छाएं, जिन्हें सामाजिक मान्यता प्राप्त नहीं है, यहां आकर एकत्र हो जाती हैं। अचेतन मन में स्थित ये असामाजिक इच्छाएं बार बार चेतन मन में आने का प्रयास करती हैं। फ्रायड का निष्कर्ष है कि सभ्यता के विकास के साथ मनुष्य की अचेतन स्थित कुंठाओं का दमन तीव्रतर होता जा रहा है और फलस्वरूप मनुष्य के विक्षिप्त होने की सम्भावनाएं अधिक बढ़ती जा रही हैं।[१] उपपति और परकीया का प्रेम सामाजिक मान्यता के विपरीत और अचेतन स्थित दमित वासना का चेतन में प्रवेश कर उसकी पूर्ति के प्रयास का परिणाम है, जो मनुष्य को भावी विक्षिप्तता से बचाने वाला है। इसी में उक्त प्रेम की सार्थकता कही जा सकती है जिसे बाबू जी ने उचित माना है।

हिस्टीरिया, कामोन्माद आदि अनेक मानसिक रोगों को पहले दैवी आपदा या भूत-प्रेतादि का प्रकोप समझा जाता था। ऐसे अनेक मानसिक रोग थे जिनका निदान और जिनकी चिकित्सा चिकित्सक जगत में नहीं थी। वियना के विद्वान् जोसेफ ब्रुऊर्ट ने इन अनेक पीड़ाओं का कारण पीड़ित व्यक्तियों का मानसिक असन्तुलन बताया। वे इस परिणाम पर पहुंचे कि मनोजगत के व्यवस्थित होते ही ये व्यक्ति साधारण स्वस्थ प्राणियों के समान जीवन-यापन में समर्थ हो जायेंगे। उसके बाद पाश्चात्य जगत् में मनोविश्लेषण सम्बन्धी अनेक रहस्यपूर्ण अनुसंधान हुए जिनके फलस्वरूप अनेक मानसिक उलझनों को सुलझाया गया। बाबू जी ने काम-वासना को समझाने में इन्हीं पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों के सिद्धान्तों को अपना आधार बनाया है। जब वे यह कहते हैं कि 'हमारे जीवन में हमारी कामवासनाएं बहुत बड़ा हिस्सा घेरे हुए हैं'[२] तब वे

---

१. देखिए (a) Civilization and its Discontents, Freud.
(b) The relation of the poet to day-dreaming, collected papers, Freud, p. p. 183
(c) Psychology and Literature, Jung, Chapter modern man in Search of Soul.
(d) Psychology of C. J. Jung, Dr. Jolan Jacopi, Chapter—Nature and Structure of Psyche.

२. नवरस, गुलाबराय, पृ० १५५

अप्रत्यक्ष रूप से फ्रायड, एडलर और जुग आदि पाश्चात्य मनोविश्लेषण शास्त्रियों का प्रभाव स्वयं स्वीकार करते हैं ।

'नवरस' के चौथे अध्याय में हास्य रस के अन्तर्गत ह्यूमर (Humour) तथा विट् (Wit) का अन्तर समझाने में[१] बाबू जी ने आइ०ए० रिचार्डस, टी० एस० इलियट आदि पाश्चात्य विद्वानों के विचारों का आश्रय ग्रहण किया हैं। इसी प्रकार सात्विक भावों का वैज्ञानिक विवरण प्रस्तुत करते हुए शरीर विज्ञान की समस्त प्रक्रिया समझाने में, षड्ऋतु के प्रसंग में गणित विज्ञान का हिसाब फैलाने में[२] जो अतिविज्ञानवाद प्रस्तुत किया गया है,[३] वह सब पश्चिम के विज्ञानवाद का ही प्रभाव है । किन्तु इस सब विवेचन का अभिप्राय यह नहीं है कि बाबू जी ने अपने सैद्धांतिक विवेचन में पश्चिम का अन्धानुकरण किया है । बाबू जी ने पौर्वात्य और पाश्चात्य प्रभाव तो अवश्य ग्रहण किया है। किन्तु उनके विवेचन में उनकी मौलिकता स्पष्ट झलकती है ।

'सिद्धान्त और अध्ययन'

बाबू जी का दूसरा सैद्धांतिक आलोचना का ग्रंथ है—सिद्धान्त और अध्ययन । इस ग्रंथ में पौर्वात्य और पाश्चात्य आचार्यों के मतों का दिग्दर्शन कराते हुए बाबू जी ने इस ग्रंथ में साहित्यिक सिद्धांतों का विवेचन किया है । इस ग्रंथ में बाबू जी का दृष्टिकोण प्रायः समन्वयात्मक रहा है । कला की परिभाषा[४] और कला के प्रयोजन[५] बताते समय वे सभी दृष्टिकोण उपस्थित कर अपना समन्वयात्मक मत देते देखे जाते हैं । बाबू जी ने कला और काव्य का घनिष्ट सम्बन्ध बताया है । भारत में काव्य को कला के आवरण में देखने परखने की परिपाटी नहीं मिलती । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल काव्य को कला के अन्तर्गत नहीं मानते । पश्चिम में काव्य को कला माना गया है और ललित कलाओं में सर्वश्रेष्ठ कहा गया है । बाबू जी पर इस क्षेत्र में रस्किन, मैथ्यू आर्नोल्ड आदि विद्वानों का प्रभाव दिखाई देता है। वे आस्कर वाइल्ड आदि के 'कला कला के लिए' अथवा ए० सी० ब्रैडले के 'काव्य काव्य के लिए' का सिद्धांत नहीं मानते । वे उसे लोक

---

१. नवरस, गुलाबराय, पृ० ४३६-४३७

२. वही, पृ० ३१२

३. वही, पृ० ५५३ से ५६०

४. सिद्धांत और अध्ययन, गुलाबराय (द्वि० संस्करण), पृ० २२-२३

५. वही, पृ० ५०

हिताय और तुलसी के स्वांतः सुखाय के योग से निर्मित मानते हैं । उनका कथन है कि जब तक लोकहित के साथ अन्तः का रस नहीं मिलेगा, तब तक वह काव्य नहीं बनेगा, नीति ग्रंथ ही रहेगा । बाबू जी के इस विवेचन में उनकी समन्वयात्मक मौलिकता दृष्टिगोचर होती है ।

बाबू गुलाबराय सुन्दरं के उपासक हैं । बाबू जी ने कला और साहित्य में भाव-सौंदर्य को महत्त्व दिया है । भारत में भाव-सौंदर्य की अपेक्षा कर्म-सौंदर्य को अधिक महत्ता दी जाती है, किन्तु पश्चिम में लैसिंग के सौंदर्य शास्त्र तथा विकलमैन, कालरिज[१] और क्रोचे के भाव-सौन्दर्य के सिद्धान्तों का बड़ा मान है ।[२] बाबू गुलाबराय की सौन्दर्योपासना पर लैसिंग के सौन्दर्य शास्त्र तथा क्रोचे के अभि-व्यंजनावाद की छाप पड़ी है जो पश्चिम की देन है ।

बाबू जी की तीसरी पुस्तक है 'काव्य के रूप'। 'सिद्धांत और अध्ययन' में उन्होंने काव्य के व्यापक सिद्धान्त प्रस्तुत किए हैं तो 'काव्य के रूप' में काव्य साहित्य की विविध विधाओं का शास्त्रीय विवेचन और उनका हिन्दी सम्बन्धी इतिहास भी प्रस्तुत किया है । इसमें अंग्रेज़ी के उदाहरण केवल तुलना के लिये आए हैं । 'सिद्धांत और अध्ययन" तथा "काव्य के रूप" दोनों ग्रंथ मिल कर काव्या लोचन के क्षेत्र को पूरा कर देते हैं । "काव्य के रूप" में जहां महाकाव्य और नाटक के क्षेत्र में बाबू जी ने प्रौर्वात्य सिद्धांतों का ही मुख्य रूप से पल्ला पकड़ा है, वहां कहानी और उपन्यास के विवेचन में पाश्चात्य सिद्धान्तों का अधिक आश्रय लिया है । इस ग्रंथ में बाबू जी पर पाश्चात्य प्रभाव विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है ।

बाबू जी के सैद्धान्तिक-विवेचन के सब ग्रंथों के अध्ययन से जो सामान्य प्रभाव निष्पन्न होता है, वह यह है कि उन्होंने अपने सैद्धान्तिक विवेचन में प्रायः पूर्व और पश्चिम के सिद्धान्तों का समन्वय करके उसे एक नवीन रूप प्रदान किया है—दोनों के साम्य चौर वैषम्य या पार्थक्य का निर्देश करते हुए दोनों में समता स्थापित कर एक नूतन उपलब्धि की है । कहीं-कहीं तो उन पर पाश्चात्य प्रभाव बहुत गहरा और स्पष्ट है और कहीं-कहीं साधारण और परोक्ष ।

● ● ●

---

१. सौंदर्य के माध्यम से भावों का वह उन्मेष जो तात्कालक सुखानुभूति की सृष्टि करता है, काव्य है । —कालरिज

२. देखिए— प्रस्तुत लेखक का लेख, 'क्रोचे का अभिव्यंजनावाद', सप्तसिंधु, मार्च, १९६१, पृ० ८

कश्मीरी कहावतों में स्वाभिमान

शिबन कृष्ण रैणा

मूलतः स्वाभिमान मनुष्य के आत्म या अपने व्यक्तित्व में, उसके विश्वास का द्योतक है। व्यक्तित्व के दो पक्ष हैं, एक आंतरिक और दूसरा बाह्य। आंतरिक व्यक्तित्व का संबंध व्यक्ति-विशेष की भावनाओं, उसकी अनुभूतियों, उसकी संवेदनाओं, उसकी चिंतन शक्ति आदि के समाहित रूप से है। बाह्य व्यक्तित्व से तात्पर्य व्यक्ति के शारीरिक श्रम व जीवन में उसके संघर्ष की समर्थता से है।[1] व्यक्तित्व के इन्हीं दो रूपों पर व्यक्ति का दृढ़ एवं स्थायी विश्वास 'स्वाभिमान' कहलाता है। स्वाभिमान की प्रक्रिया पर विचार करते हुए टामशो शिबोटानी (Tomotsu Shibutani) ने लिखा है कि प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी रूप में अपनी सत्ता का मूल्यांकन करना चाहता है। इस सत्ता या अस्तित्व के मूल्यांकन से अभिप्राय है व्यक्तित्व से सम्बन्धित उन तत्त्वों की प्रतिष्ठा को स्वीकार करना जो उपयोगी हैं।[2] ये उपयोगी तत्त्व व्यक्ति के व्यावहारिक प्रतिरूप कहे जा सकते हैं।

संक्षेप में, स्वाभिमान अथवा आत्म-सम्मान व्यक्ति-विशेष का अपने व्यक्तित्व पर विश्वास, सत्ता एवं अस्तित्व पर आस्था तथा अपनी महानता एवं उत्कर्षता के प्रति आदर-भाव है।

कश्मीरी की मानव-स्वभाव सम्बन्धी कहावतें 'स्वाभिमान' के निम्नलिखित

---

१. देखिए पृष्ठ ३३३, Elements of Human Psychology.

By. H. C. Warren.

"Personality is the entire mental organisation of a human being at any stage of development. It embraces every phase of human character, intellect, temperament, skill, morality and every attitude that has been built up in the course of one's life."

२. देखिए पृष्ठ ४३३, Society and Personality.

By Tomostu Shibutani.

पक्षों पर प्रकाश डालती है --

(१) स्वाभिमान, उसका मानव जीवन में महत्त्व,

(२) स्वाभिमान, उसका मनुष्य में अभाव,

(३) स्वाभिमान, उसका जीविका-निर्वाह से सम्बन्ध।

स्वाभिमान, उसका मानव जीवन में महत्त्व

व्यावहारिक दृष्टि से स्वाभिमान मनुष्य का प्रधान गुण है। मर्यादित एवं सम्मानित जीवन-यापन के लिये मनुष्य में इस गुण की विशेष महत्ता है। स्वाभिमान के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए एक कश्मीरी कहावत है :—

"जिसने मान (स्वाभिमान) की रक्षा की, उसने अपने आप की रक्षा की।"१

स्वाभिमानी केवल उसी वस्तु को स्वीकार करता है जो उसे आदर एवं सम्मान के साथ मिलती है। भले वह वस्तु उपयोग की दृष्टि से साधारण क्यों न हो। इसके विपरीत अनादर से दी गई कोई बहुमूल्य वस्तु भी उसे ग्राह्य नहीं। इस बात की पुष्टि यह कहावत करती है —

"इज्जत से दी गई कौड़ी बेइज्ज़ती से दी गई खरवार (९६ सेर) से श्रेष्ठ है।२

स्वाभिमान अथवा आत्म-सम्मान को बनाये रखना या उसे खो देना, यह मनुष्य के अपने हाथ में है। इसका सीधा सम्बन्ध व्यक्ति-विशेष के अधिकारों से न होकर उसके कर्मों से होता है। समाज में औरों से अच्छा व्यवहार तथा स्वयं अच्छे कर्म करने से मनुष्य के स्वाभिमान की पुष्टि होती है और इसके अभाव में बेइज्ज़ती। इस भाव को निम्नलिखित कहावत यों व्यक्त करती है :—

'अपनी इज्ज़त अपने हाथ में होती है।३

स्वाभिमान, उसका मनुष्य में अभाव

स्वाभिमान के अभाव में व्यक्ति समाज में आदर नहीं पाता। ऐसे व्यक्तियों में आत्म-निर्णय के विवेक तथा स्वतन्त्र चिंतन की शक्ति का अभाव रहता है। इस स्वभाव के व्यक्ति दूसरों के ही शासन में जीवन काटते हैं। इस सम्बन्ध में कहावत है —

"स्त्री लोलुप पति"४

यह कथन ऐसे छिछले, लोलुप तथा कायर व्यक्ति के लिये प्रयुक्त होता है जो अपनी पत्नी के वश में रह कर, उसकी उंगलियों के इशारों पर नाचता हुआ जीवन-यापन करता है। ऐसे व्यक्तियों में स्वाभिमान का सर्वथा अभाव होता है।

---

१. "योम्य रोछ मान, तजम्य रोछ पान"

२. "यज़तअच हार बेयज़तो हंअज़ न खार"

३. "पनुन यज़जत पानस अथि"

४. "ज़नानअ ज़ुय"

स्वाभिमान के अभाव में व्यक्ति को समाज के सामने लज्जित एवं अपमानित होना पड़ता है और वह इस अपमान का प्रतिकार करने में अपनी असमर्थता पर स्वयं को कोसने लगता है।

जिस स्त्री या पुरुष में स्वाभिमान नहीं है, उसे व्यावहारिक तथा सामाजिक दृष्टि से निर्लज्ज समझना चाहिए। ऐसे लोग अपने स्वाभिमान व आत्म-सम्मान को तिलांजलि दे कर दूसरों के अधीन रह कर, उन के लिये सस्ते मनो-रंजन और आत्म-विनोद का विषय बन जाते हैं। एक कहावत है —

"ऐ निर्लज्ज स्त्री! तू तो बिना किसी लाभ के नाच रही है।"१

यह कथन किसी ऐसी अस्वाभिमानी स्त्री के लिये प्रयुक्त होता है जो अपनी मर्यादा के प्रतिकूल दूसरों के लिये मनो-रंजन के साधन जुटाये।

स्वाभिमानी व्यक्ति अपने गम्भीर तथा संयमित स्वभाव के कारण सर्वत्र आदर पाते हैं। ऐसे व्यक्तियों को जिनमें आत्म-सम्मान की भावना नहीं, तिरस्कृत एवं अपमानित होना पड़ता है। उनकी सत्ता तथा उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा हलकी पड़ जाती है और वे बनावटी संतोष जता कर कुण्ठाग्रस्त रहते हैं। इन व्यक्तियों के स्वभाव पर यह कहावत व्यंग्यपूर्ण कटाक्ष करती है —

'उसके सिर पर पगड़ी के स्थान पर रस्सी है।"२

स्वाभिमानी कभी किसी के सामने मांगने के लिये हाथ नहीं पसारता, यह कार्य उसकी मर्यादा के अनुकूल नहीं। क्योंकि किसी की मिन्नत करने से व्यक्ति का स्वाभिमान घटता है। स्वाभिमान के अभाव में परवश होकर दूसरों के सामने हाथ फैला कर वे अपने अस्तित्व तथा सत्ता का हनन करते हैं, एक कहावत है—

"मांगना और मरना।"३

स्वाभिमान, उसका जीविका-निर्वाह से सम्बन्ध

स्वाभिमान को बनाये रखने के लिये व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह जीविका का स्वयं उपार्जन करे। इसके लिये वह बिना परवशता के तथा स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी जीविका के लिये परिश्रम करता है तथा उसका फल सुख से भोगता है। कहावत है —

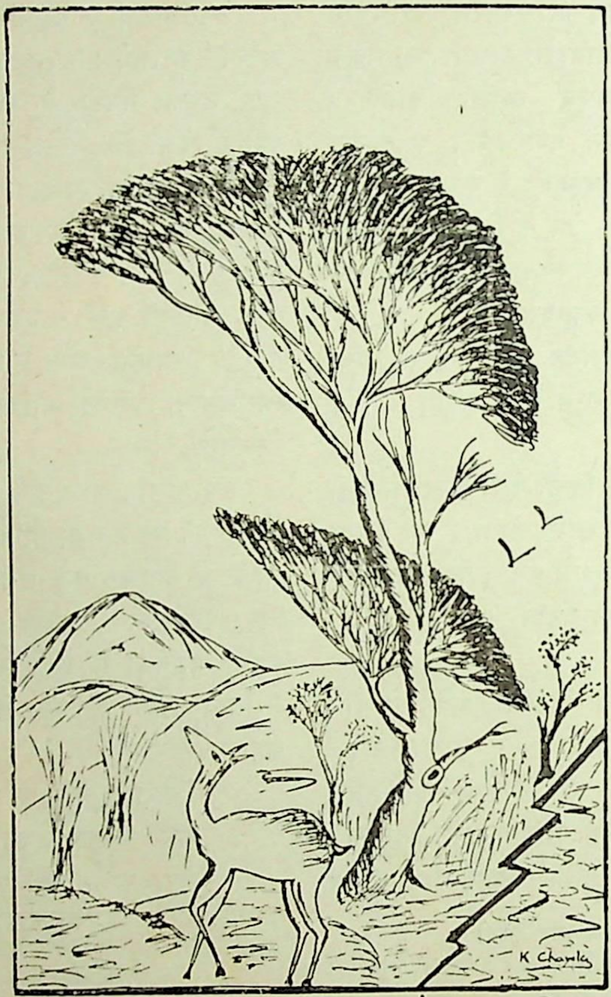
"कमाना गधे की तरह चाहिये और उसका उपभोग राजा की तरह करना चाहिए।"४

१. "नाहकय नचतय बेतूरी"
२. "दस्तार कनि छस रज़ कलस प्यठ"
३. "मंगुन त मरुन"
४. "कमावुन खरअ संअद्‌य पअठ्य ख्युन राजअ संअद पअठ्य।"

जीविका-निर्वाह के लिये स्वाभिमानी जन कभी पराश्रित नहीं रहते । परन्तु ऐसे व्यक्ति जिनमें आत्म-सम्मान की भावना नहीं, जो दूसरों के टुकड़ों पर पलते हैं, अपने महत्त्व को खो देते हैं ।

इस भाव की एक कहावत है —

"जिसने लोगों (दूसरों) के भात व रोटी के टुकड़ों पर दृष्टि रखी वह अपनी सत्ता खो बैठा ।" ● ● ●



नियम

१—जन-साहित्य तथा सप्तसिन्धु में छपने के लिये भेजी जाने वाली सामग्री यथासम्भव सरल, सुबोध तथा सारगर्भित होनी चाहिए।

२—लेख, कहानी, निबन्ध आदि सामान्यतः सफेद कागज पर और उसके एक ओर टाइप किये होने चाहिए।

३—सप्तसिन्धु में शोधपूर्ण लेख तथा जन-साहित्य में सृजनात्मक रचनाएँ प्रकाशित होती हैं।

४—अनुवाद या लिप्यन्तर के साथ मूल लेखक की अनुमति भेजनी आवश्यक है।

५—लेखकों को लेख प्राप्ति की सूचना प्रायः १५ दिन के अन्दर दे दी जाती है।

६—अस्वीकृत रचनाओं के सम्बन्ध में सूचना देने का नियम नहीं है।

७—अस्वीकृत सामग्री लौटाने का नियम नहीं है।

८—सामग्री के संशोधन एवं प्रकाशन के विषय में सम्पादक का निर्णय अन्तिम माना जाएगा।

९—लेखों में प्रतिपादित विचारों के लिए सम्पादक उत्तरदायी नहीं होगा।

१०—समीक्षार्थ पुस्तक की दो प्रतियां भेजनी चाहिएं।

११—रचना के आरम्भ या अन्त में लेखक का पूरा नाम (अपने हस्ताक्षरों सहित) व पता स्पष्ट लिखा होना चाहिए।

१२—लेखों, आदि के साथ टिकट न भेजे जाएं।

१३—रचना के साथ लेखक रचना की मौलिकता और उसके अप्रकाशित होने का एक प्रमाण-पत्र भी भेजेगा।

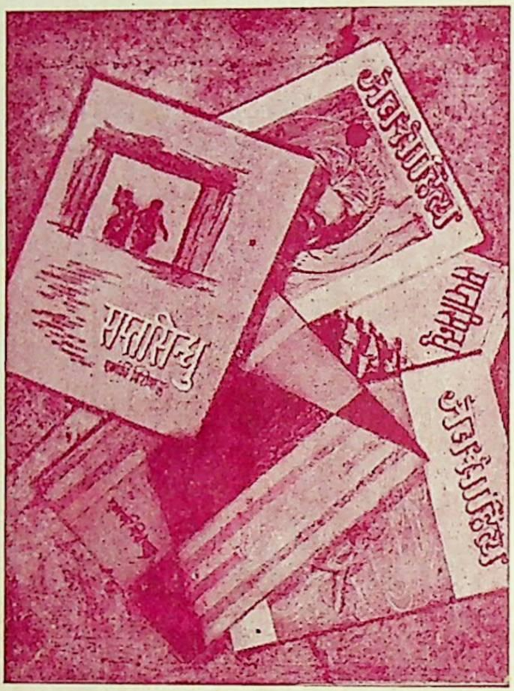
१४—लेख साम्प्रदायिक, राजनैतिक, और अश्लील नहीं होना चाहिए। इस तथ्य का प्रतिपादक एक प्रमाण-पत्र रचना के साथ भेजा जाए।

१५—रचनाओं के गुण-दोष विवेचन पर किसी भी प्रकार का पत्र-व्यवहार या विचार-विमर्श नहीं किया जाएगा।

—सम्पादक

हिन्दी विभाग, पंजाब के दो अनूठे मासिक प्रकाशन

सप्तसिन्धु



जनसाहित्य

शोधपूर्ण एवं आलोचनात्मक साहित्यिक प्रबंधों का एक बोधक संचयन।

व्यंग्य-विनोद एवं सृजनात्मक सरस साहित्य का एक रोचक संकलन ।

दोनों पत्रिकाएँ डी० पी० आई०, पंजाब, डायरैक्टर पंचायत, पंजाब, तथा संचालक, लोक शिक्षण, मध्यप्रदेश, द्वारा पंजाब के सभी स्कूलों, कालेजों, लायब्रेरियों एवं पंचायतों तथा मध्यप्रदेश के स्कूलों, कालेजों एवं लायब्रेरियों के लिए स्वीकृत हैं ।

बढ़िया काग़ज़, सुन्दर छपाई, आकर्षक गेट-अप

प्रत्येक का :—

वार्षिक ६ रुपये एक प्रति ५० पैसे

आज ही निदेशक, हिन्दी विभाग, पंजाब, पटियाला को मनीआर्डर भेजकर ग्राहक बनिए।

श्री लाल सिंह, डायरैक्टर जनरल, भाषा विभाग, पंजाब, पटियाला द्वारा प्रिंटिंग एण्ड स्टेशनरी डिपार्टमैंट, पंजाब, पटियाला से छपवाकर प्रकाशित किया गया।

सम्पादक—डा० परमानन्द

सप्तसिन्धु

जून, १९६५

हिन्दी विभाग, पंजाब, पटियाला

५०
पैसे

○ देश के युवकों से मैं विशेष रूप से अनुरोध करूंगा, क्योंकि वे आने वाले कल के नेता हैं और उन पर भारत के मान और स्वतंत्रता की रक्षा का भार आयेगा। मेरी कामना है कि युवा और सुदृढ़ हाथ भारत की प्रज्जवलित मशाल को ऊपर उठाये रखें और उसके प्रकाश को धुंधला न होने दें, जिससे कि वह प्रकाश घर-घर में पहुंचकर हमारी जनता में श्रद्धा, साहस और समृद्धि उत्पन्न करे।

○ भारत ऊंचा उठे। भारतवासी दुनिया के किसी भी देश के नागरिकों से पिछड़े न रहें। वे उन्नत नागरिक बनें। बस यही मेरी अभिलाषा है।

○ सच्चा नागरिक वह है जो निजी स्वार्थों से अधिक अपने समाज और खास तौर से अपने राष्ट्र के हित के लिये सोचे एवं क्रियाशील हो। भारत को ऐसे ही सच्चे नागरिकों की आवश्यकता है।

—जवाहरलाल नेहरू

सप्तसिन्धु

(मासिक प्रकाशन--जून, १९६५)

वर्ष १२ अंक ६

सम्पादक––डा० परमानन्द

परामर्श समिति

***श्री कृष्ण मधोक**
(सहायक निदेशक, अनुवाद)

***श्री त्रिलोकीनाथ रञ्जन**
(सहायक निदेशक, कोश)

***श्री ओम् प्रकाश भारद्वाज**
संयोजक
(सहायक निदेशक, विकास)

***श्री गुरुदत्त शर्मा**
(सहायक निदेशक, अनुवाद)

***श्री हरिचन्द पाराशर**
(सहायक निदेशक, अनुवाद)

हिन्दी विभाग, पंजाब, पटियाला

सम्पादकीय

महाकवि सूरदास का जन्मस्थान
(नवीन गवेषणा)

हिन्दी (व्रज भाषा) के महाकवि सूरदास जी पञ्जाब के सिही ग्राम (जो दिल्ली के निकट है) में उत्पन्न हुए और यही उनका जन्म ग्राम आज तक माना जाता है। परन्तु अब श्री तोताराम जी पंकज ने इस विषय में अपनी नई शोध के आधार पर घोषित किया है कि सूरदास जी वास्तव में साही ग्राम के निवासी थे जो जिला आगरा में स्थित है।

इस विषय में विद्वानों का मत-वैविध्य चिरकाल से चला आ रहा है। और श्री पंकज जी इस सन्दर्भ में कुछ नये तथ्य प्रकाश में लाये हैं।

इनका कहना है कि सूरदास की भाषा में विस्पष्ट रूप से व्रज भाषा तथा आगरा क्षेत्र की भाषा का पुट है। इसमें सन्देह नहीं कि हरयाणवी अथवा दिल्ली भाषा की झलक सूरदास की प्रयुक्त पदावली में नहीं दीखती। सूर जी ने दिल्ली अथवा सिही की चर्चा या संकेत कहीं नहीं किया। परन्तु इस पर भी पुरानी परम्परा के आधार पर यही कहा जाता है कि वे १८ वर्ष की अवस्था तक सिही में रहे।

पंकज जी श्री हरिराम जी की पुस्तक भावप्रकाश की प्रामाणिकता में सन्देह करते हैं। इस पुस्तक में सिही को (जहां सूरदास जी का जन्म हुआ माना जाता है) दिल्ली से आठ मील दूर माना गया है जबकि यह स्थान दिल्ली से बीस मील के लगभग दूर है।

साही वास्तव में ही आगरा से आठ मील की दूरी पर भरतपुर जाने वाली सड़क पर स्थित है। पंकज जी की यह भी धारणा है कि सूरदास जो नेत्रहीन होने के कारण अपनी जन्मभूमि से बहुत दूर की यात्रा नहीं कर सकते थे विशेषतया जबकि उन दिनों में यात्रा की सुखद सुविधाएं जैसी अब हैं--प्राप्य नहीं थीं।

प्रायः विद्वानों की यह धारणा है कि इस महाकवि ने अपनी कविताएं अधिकतया संकट में गौघाट पर बैठ कर लिखी थीं जो स्थान साही से केवल चार मील दूर है। इसमें पंकज जी की मान्यता को कुछ सहारा अवश्य मिलता है।

एक यह भी किंवदन्ती है कि सूरदास जो कूएं में गिर जाने से अन्धे हो गए थे। यहां यह दन्तकथा है कि साही गांव के कूएं में ही वे गिर गये थे। पंकज जी कहते हैं कि सूरदास जो १८ वर्ष इसी साही ग्राम में रहे थे। यहीं से वे गोघाट पहुंचे थे, यहीं उनका साक्षात्कार बल्लभाचार्य जी से हुआ था और तब इन्होंने 'सूर सागर' लिखना प्रारम्भ किया था।

अठारहवीं शती के अन्त में उत्पन्न 'सूर शतक' के लेखक राधा कृष्ण दास जी ने भी साही को ही सूर का जन्म स्थान होना लिखा है।

पंकज जी का परिश्रम अवश्य स्तुत्य है। अभी इस विषय में बहुत कुछ लिखा और पढ़ा जाना अवशिष्ट है। आशा है विद्वान् लोग इस विषय में आगे अनुसन्धान जारी रखेंगे। तभी कोई अन्तिम निर्णय हो सकेगा। हम पंकज जी के परिश्रम को प्रशंसा करते हैं कि वे नये तथ्यों को प्रकाश में लाए हैं।

सन् १९४७ के अनन्तर अवधी साहित्य

डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित

अवधी जीवित बोली है, जिसमें आज भी साहित्य सृजन हो रहा है, और आज भी दैनिक जीवन में वह भावाभिव्यक्ति का माध्यम बनी हुई है। अवधी की साहित्यिक परंपराएं अत्यन्त गौरवपूर्ण और उज्ज्वल रही हैं। इस भाषा, विभाषा या बोली के माध्यम से पचासों महाकाव्यों का प्रणयन हुआ है, जिनमें से कतिपय प्रकाश में आए और अधिकांश आज भी अप्रकाशित हैं। तुलसीदास, मलिक मोहम्मद जायसी, कुतुबन, मंझन, नूर मुहम्मद, शेख नबी, शेख निसार, नजफ अली सलोनी, कासिम शाह, घाघ, भड्डरी, गिरधर कविराय, सबल सिंह चौहान, प्रतापनारायण मिश्र, धनसिंह राय, भावन, भौन, शम्भुनाथ मिश्र, महावीर प्रसाद द्विवेदी, द्वारिका प्रसाद मिश्र जैसे महाकवियों की प्रतिभा का प्रकाशन जिस बोली के माध्यम से हुआ हो, उसके सौभाग्य की समता कौन भाषा कर सकती है ? अवधी काव्य धारा आज भी साहित्य के धरातल पर प्रवाहमान है। तुलसी से बहुत पूर्व अविभूत संतो ने भी अवधी के माध्यम से अपने विचारों को काव्य परिधान पहना कर जनता तक पहुंचाया था। और आज भी इस परम्परा को अपनी प्रतिभा से बल देने वाले कवियों की संख्या कम नहीं है।

सन् १९४७ भारतीय इतिहास में महत्त्वपूर्ण वर्ष है। सैंकड़ों वर्षों की दासता की शृंखलाएं विच्छिन्न हुईं। राजनीतिक परिस्थितियों के साथ ही साथ साहित्यिक प्रवृत्तियों में भी परिवर्तन समुपस्थित हुआ। समाज एवं जीवन की प्रगति की दिशाओं में परिवर्तन हुआ। जीवन के मापदण्ड और मूल्य बदल गये। अवधी के कवि और लेखक इन ऐतिहासिक परिवर्तनों तथा क्रांतियों द्वारा समुपस्थित अभिनव वातावरण से अछूते न रहे। यह सत्य है कि 'कृष्णायन' के अनन्तर

अवधी में आजतक दूसरा महाकाव्य या चरित काव्य नहीं लिखा गया, न श्रीयुत द्वारिका प्रसाद मिश्र जैसी उत्कृष्ट काव्य प्रतिभा ही आज अवधी के किसी कवि- में है, फिर भी अवधी काव्य क्षेत्र कवि विहीन नहीं है। जहां 'कृष्णायन' हिन्दी साहित्य के इतिहास में अपने उत्कृष्ट काव्यत्व, महाकाव्यत्व और भाषा सौष्ठव के कारण बारम्बार समारोह पूर्ण शब्दों में उल्लिखित होगा वहां रमई काका, भुशुण्डि, वागीश, ब्रजनन्दन, पढीस, लिखसि, हितैषी, कृपाशंकर मिश्र आदि अपने तीव्र व्यंग्य, शब्दचयन तथा ग्रामीण जीवन की छटा की अभिव्यक्ति के लिये सदैव स्मरण किये जायेंगे । 'कृष्णायन' के अनन्तर अवधी काव्य स्फुट और विविधता से पूर्ण है। आज अवधी में काव्य लिखने वाले प्रतिभावान् कवियों की संख्या प्रायः ७०.७५ है। इन कवियों ने काव्य विषय को आधुनिक जीवन से ग्रहण किया है, समाज से ग्रहण है। इनके विषय में रोचक बात यह है कि ये अपनी सरकार की नीति और योजनाओं का पूर्णतया समर्थन भी करते हैं, और सरकार की असफलताओं, महंगाई, गरीबी, बढ़ती हुई बेकारी, बीमारी, भ्रष्टाचार, पक्षपात-वाद, भाई भतीजावाद, जातिवाद आदि की उत्कट निंदा भी करते हैं सन् १९४७ के बाद के कवियों की रचनाएं लघु पर व्यंयों से पूर्ण हैं। ये रचनाएं पाठकों या श्रोताओं के अन्तस को छूने में समर्थ है । बढ़ती हुई महंगाई, बेकारी तथा भ्रष्टाचार ने आज के कवियों को सर्वाधिक आकर्षित किया है । आजका अवधी कवि राष्ट्रीयता की भावना से अनुप्राणित होकर चीनियों के अन्याय पूर्ण अभियान की निन्दा और आलोचना एवं भारतीय सैनिकों की वीरता का गान करने में भी किसी से पीछे नहीं है। तात्पर्य यह है कि अवधी का कवि आज भी अपने दायित्वों से पूर्णतया परिचित और सक्रिय है। जीवन, समाज, संसार की गतिविधि से वह परिचित एवं जागरूक है । आज की अवधी कविता का वर्ण्य विषय दो भागों में विभाजित किया जा सकता है । प्रथम है सामाजिक तथा द्वितीय है राजनीतिक। सामाजिक विषयों में उक्त समस्या, मुकदमेबाजी वरखोज़, किसान, वृद्ध विवाह, खलिहान, लक्ष्मी पूजन, सोना लोहा, परवक्षता, पुरानी चुनरी, दिगशूल, धरती, व्रत के ढोंग, चुनाव, शराब के दुष्प्रभाव, बेकारी, मकानों की दुर्लभता, घूसखोरों की वंदना, महंगाई में पर्व, कंट्रोल की दुकान, क्रोधी अफसर, जननी की आशा, अन्न देवता, गोधन, दुखी गांव, गांव का तालाव, कृपण सास, दीवाली, खटमल, फैशन विशेषतया उल्लेखनीय हैं । इनमें से प्रत्येक विषय का हमारे दैनिक जीवन से सम्बन्ध है। कवियों विशेष कर रमई काका, भुशुण्डि, कृपा-

शंकर मिश्र, नूतन, देहाती, ब्रजनन्दन, लिखीस, वागीस, शास्त्री, आदि ने इन विषयों में व्यंग्यों के माध्यम से आज के विडम्बना पूर्ण जीवन का चित्रण किया है। व्यंग्य लेखन में बैसवारे का प्रत्येक कवि कुशल है। हिन्दी के पाठकों को बैसवारे के प्रसिद्ध लेखकों निराला, सेन ही, हितैषी, रामविलास शर्मा, नन्द दुलारे वाजपेयी, देवीदत्त शुक्ल, प्रताप नारायण मिश्र के मार्मिक व्यंग्य बिसरे नहीं होंगे। उपर्युक्त वर्ण्य विषय में देश की दुर्दशा और सामाजिक विपन्नता का चित्रण हुआ है। इन विषयों में सत्य एवं यथार्थ कटु रूप में सामने आता है। राजनैतिक विषयों में भारत की महानता, भारत की दुर्दशा, गांधी, नेहरू, राजेन्द्र प्रसाद तथा सुभाष बोस की उपलब्धियों का विशेष वर्णन है। इस दृष्टि से रमई काका की 'भारत का सिपाही', नेताजी का तुलादान, भुशुण्डि की 'भारत के वीर' तथा कृपा शंकर मिश्र की रचना 'सैनिक की पाती' विशेष रूप से पठनीय हैं। अवधी के कवियों ने चीनी आक्रमण के अवसर पर ओज-पूर्ण उत्कृष्ट रचनाएं प्रस्तुत की है। नेता जी बैसवारे के कवियों के प्रियजन नायक हैं। रमई काका का 'नेता जी' शीर्षक आल्हाखण्ड विशेष जन-प्रिय है। यह आल्हाखण्ड नस नस में वीर रस का संचार करने वाला है।

अवधी के कवियों का नीतिकार रूप बड़ा आकर्षक और प्रभावशाली रमई काका, देहाती, भुशुण्डि की कहावतें बहुत प्रचलित हैं। काका की रचना से कुछ पंक्तियां यहां उद्धृत हैं :

ई आही पक्के लखनउवा ।
कहै चीन के दूने दाम,
बात बात मां करें सलाम ।
चीकट तकिया चटक लिहाफ,
घर मां गन्दे बाहर साफ ॥
बड़ा तकल्लुफ कड़के खाय,
याक कौर का सत्तर दांय ॥
नाजुक देहीं सिर पर पल्ला,
आंखिन सुरमा अंगुरिन छल्ला ॥
तितुर लड़ावें कैवा कवुतरन के हैं फेर ॥
तिथि तेउहार उडे कनकउवा,
जानि लीन्हों पक्का लखनउवा ॥

इसी प्रकार परमातमादीन पांडे की कहावतें बैसवारे में बहुत प्रिय हैं। उदाहरणार्थ यहां कतिपय पंक्तियां दी जाती हैं :—

१. नंगा, मंगा, भंगा तीन ।
साथ न लीजै आतमदीन ॥
२. गांठी, लाठी, काठी तीन ।
पोढि के बांधो आलमदीन ॥
३. साखी, माखी, पांखी तीनि ।
तुच्छ कहावै आतमदीन ॥

अवधी के नीतिकारों में खगनिया विशेष प्रसिद्ध है। खगनिया पुरवा (ज़ि० उन्नाव) की रहने वाली और बासू तेली की पुत्री थी। अशिक्षित

खगनिया की कतिपय पहेलियां यहां उद्धृत हैं।

१. भीतर गूदर ऊपर नांगि,
पानी पिये परारा मांगि ।
तिहि की लिखी करारी रहै,
बासू केरि खगनिया कहै। दावात।

२. लम्बी चौड़ी आगुर चारि,
दुहूँ ओर ते डारेनि फारि ।
जीव न होय जीव का गहै,
बासू केरि खगनिया कहै ।।कंघी।। ८

इसी परम्परा में कवि देहाती की रचनाएं भी पठनीय हैं :

बनकट चाकर पौंकट जूत ।
चंचल बिटिया बंचर पूत ।।
नटखट तिरिया लागे भूत ।
लडे मुकदिमा बिना सबूत ।।
कहै दिहाती रखियों याद ।
इनकी धोय गई मर्याद ।।

इस प्रकार आज के अवधी काव्य का वर्ण्यविषय विविधता सम्पन्न तथा सरस है ।

अवधी कवियों की रचनाओं से उनके व्यक्तित्व की मस्ती सरलता एवं निर्भयता प्रतिबिम्बित होती है। सम्भवतः यह इस अवध प्रदेश का पुण्य प्रभाव है। 'कवि न होउ नहि चतुर कहावौ' लिख कर महाकवि तुलसीदास ने जो विनम्रता का परिचय दिया था, वह आज के कवियों के लिये आदर्श बन गया । पं० द्वारिका प्रसाद मिश्र से लेकर आज तक तरुण कवि सुन्दर सरस छन्दों की रचना करता हुआ भी आत्मनिवेदन में तत्पर है।

प्राचीन अवधी काव्य की रचना प्रमुखतया दोहा चौपाई छन्दों में हुई । यह परम्परा जायसी से लेकर द्वारिका प्रसाद मिश्र तक अक्षुण्ण रही है परन्तु आज का कवि इस दृष्टि से परम्परा का विसर्जन करके आगे बढ़ गया है । आज सवैय्या, धनाक्षरी, कवित्त, गज़ल, दोहा, रोला, आदि अवधि कवियों के प्रिय छन्द हैं । इन प्रचलित छन्दों के अतिरिक्त गीत, गज़लों में भी अवधी कविता की रचना हो रही है । कृपाशंकर मिश्र वर्तमान अवधी के बेजोड़ प्रतिभा-सम्पन्न कवि हैं। खड़ी बोली और अवधी दोनों में ही मिश्र जी काव्य रचना करते हैं। मिश्र जी ने अवधी में भी अतुकांत काव्य रचना की है । उदाहरणार्थ :

ठाढ है हरु नीम्बी की डार,
कल्वाना वैलु ठाढ पगुर्याय,
दुसरका परा,
गलारे कउबा रव्वादै कान,
किलोनी चपठा
गउझारि के नीम्बि के तरे परा
जर जर खेतिहर ।।

रमई काका सभी प्रकार के छन्दों का प्रयोग करने में कुशल है । उनका एक विरह छन्द देखिए --

जेठ दुपहरिया मां लूक के बयरिया,
देंहिया उधारे माडे मड़नी किसनवा ।

थके थके पांव धरे डगमग होइकै,
तन ते बहत बूंद बूदन पसिनवा ।।

अवधी के लोक छन्दों का प्रचुर प्रयोग मिलता है । बिरहा, बिदेसिया छन्दों का तो खूब प्रयोग हुआ ही है, साथ ही आल्हा छन्द में भी प्रचुर रचना हुई है । अवधी के अनेक आल्हाखण्डों की रचना हुई, जिनमें रमई काका का 'नेता जी' तथा ललिता प्रसाद मिश्र की रचनाएं विशेष प्रसिद्ध हैं । प्राचीन एवं नवीनतम छन्दों का प्रयोग बराबर अवधी में हो रहा है, यह अवधी की प्रगतिशीलता का द्योतक है । लोकोन्मुख होने के कारण तथा युग की लोक चेतना की पुकार का अवधी ने लोक धुनों और सभी प्रकार के छन्दों को अपनाया है ।

इसकी दृष्टि से अवधी काव्य का मूल्यांकन भी आवश्यक है । आज अवधी में शृंगार, हास्य, करुण तथा वीर रसों की अभिव्यक्ति विशेष हो रही है । हास्य रस की रचना में रमई काका, भुशुण्डि, कृपाशंकर मिश्र, देहाती, वागीश आदि विशेष सफल हुए इनका हास्य शिष्ट, मर्यादित तथा व्यंग्य प्रधान है । करुण रस से ओतप्रोत कविताएं रमई काका कृपाशंकर मिश्र, व्रजनन्दन, नूतन, दीप नारायण दीप, आदि लिखने में सफल हुए हैं । और वीर रस की रचना तो प्रायः प्रत्येक कवि ने सफलता के साथ की है । हास्य एवं वीर रस अवधी के कवियों को बहुत प्रिय है ।

अवधी का यह सौभाग्य है कि अनेक कवयित्रियां भी इस भाषा में काव्य रचना कर रही हैं । खगनिया का उल्लेख ऊपर हो चुका है । सन् १९४७ के बाद दमयन्ती दीक्षित, तोरन देवी शुक्ल 'लली' सुमित्रा कुमारी सिन्हा, आदि ने प्रचुर अवधी काव्य रचना की है । इनका योगदान महत्त्वपूर्ण है। सुमित्रा कुमारी सिन्हा ने अवधी में सुन्दर गीतों की रचना की है । आषाढ़ का आगमन, 'माटी के न्योता' उनकी प्रसिद्ध रचनाएं हैं । दमयन्ती दीक्षित की अप्रस्तुत योजना बड़ी स्वाभाविक और अच्छी है । उदाहरणार्थ :

ह्वई रहा रहे दिन का अन्त,
पच्छिम मां छाई अरुनाई ।
मानो रजनी के मांग भरै,
संध्या कुंकम अच्छत लाई ।

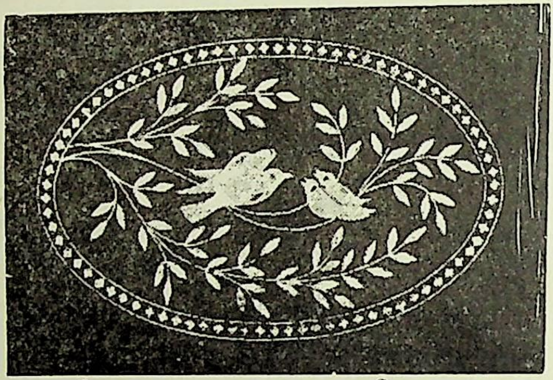
कवयित्रियों के काव्य का वर्ण्य-विषय प्रकृति चित्रण से अधिक सम्बन्धित है। इनकी अप्रस्तुत योजना सरल एवं स्वाभाविक है ।

सन् १९४७ के बाद का अवधी साहित्य एकांगी नहीं है अर्थात् उसमें कविता, कहानी, नाटक निबन्ध साहित्य की सभी विधाओं की रचना हुई है और हो रही है । रमई काका ने अवधी में अनेक सुन्दर नाटकों का प्रणयन किया है । काका

एकांकी रचना में भी कुशल है। भुशुण्डि ने अवधी में कहानियों और गद्य पैराडी की रचना की है। 'उसने कहा था' के आधार पर लिखित उनकी पैराडी बड़ी रोचक है। रमई काका ने अवधी में निबन्धों की रचना भी की है, जो समय समय पर लखनऊ इलाहाबाद रेडियो से प्रसारित होते रहे हैं।

अवधी लोक गीतों के संग्रह एवं आलोचनात्मक अध्ययन का कार्य लखनऊ एवं इलाहबाद विश्वविद्यालयों में सम्पन्न हो रहा है। इस दिशा में इन्दुभूषण पाण्डेय का प्रयास सराहनीय है। उनकी पुस्तक 'अवधी लोकगीत' इस दिशा में प्रथम प्रयत्न है।

● ● ●



क्या हम सौ वर्ष जी सकते हैं?

सन्त राम

"बहुत शीघ्र वह युग आ रहा है जब प्रत्येक मनुष्य सौ वर्ष तक जीता रहेगा। वह दिन दूर नहीं है जब मनुष्य अपने जीवन की पूरी अवधि विताने के बाद ही इस संसार से विदा हुआ करेगा।"

ये शब्द हैं प्रोफैसर अन्नाअस्लन के जो रूमानिया की प्रसिद्ध रिसर्च इन्स्टीट्यूट आफ बायालोजी आफ एजिङ्ग की निर्देशक महिला हैं। श्रीमती जी एक लंबे समय से बुढ़ापे के साथ युद्ध में लगी हुई हैं। वे चिकित्सा-जगत् में बड़ी प्रतिष्ठा की दृष्टि में देखी जाती हैं। बुढ़ापे का सामना करने के लिये उन्होंने एक औषध भी निकाली है। वह एच ३ के नाम से विख्यात है। प्रोफैसर हैलन फ्रेज़ल प्रोफैसर अस्लन से अपनी मुलाकात का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि मुझे यह बात मालूम थी कि प्रोफैसर की आयु ६४ वर्ष है परन्तु जब वह बैठी हुई मुझसे बातें कर रही थीं तो उसकी आयु किसी तरह भी चालीस वर्ष से अधिक नहीं जान पड़ती थी।

"वे यह कहती हुई मुझ से मुलाकात के लिये आई थीं कि मैं आपको केवल दस मिनट दे सकती हूँ, मुझे अभी एक कान्फ्रेंस के लिये हंगरी जाना है। श्वेत परिधान पहने एक रूमानिया का डाक्टर दुभाषिया का काम कर रहा था। कोई प्रश्न पूछने से पहले दुभाषिया का काम करने वाले डाक्टर ने मुझ से कहा कि डा० अस्लन सन् १९४९ से वृद्ध होने की प्रक्रिया के संबंध में शोधकार्य में व्यस्त हैं। सन् १९५१ में हमारे लोकराज के स्वास्थ्य रक्षा मंत्री ने यह संस्थान स्थापित कर दिया। डा० अस्लन उसकी निर्देशक हैं।

मैंने प्रोफैसर अस्लन की ओर देख कर पूछा; 'मैं यह जानना चाहता हूँ कि बुढ़ापा किसी व्यक्ति की आयु में कब आरम्भ होता है।'

प्रोफेसर अस्लन ने उत्तर दिया, 'प्रायः चालीस वर्ष की आयु में। उपचार चालीस वर्ष की आयु में ही आरम्भ हो जाना चाहिए। औषध का नाम एच ३ है। इस औषध में संस्थान के नुसखे के

अनुसार तैयार की हुई दो प्रति शत प्रोकेन सम्मिलित है। संस्थान के दो विभाग हैं। पहला विभाग शस्त्र-चिकित्सा और औषध्योपचार का है। इसमें समस्त संसार से रोगी उपचार के लिए आते हैं। प्रत्येक रोगी की पहले प्रयोगशाला में परीक्षा की जाती है, ताकि उसकी जीवन-संबंधी अवस्था का अनुमान हो जाय। डा० अस्लन ने अपना वार्तालाप जारी रखते हुए कहा कि विभिन्न अंगों के बूढ़ा होने की गति विभिन्न होती है। सबसे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन सदा मस्तिष्क और मज्जातंतु रचना में होते हैं।

रोगी एक मास तक संस्थान में ही रहते हैं। सप्ताह में तीन बार उनके इंजेक्शन लगाए जाते हैं। इसके बाद वे अपने घर चले जाते हैं। परन्तु उपचार दो तीन वर्ष तक जारी रहता है। कई लोगों में बुढ़ापे के प्रभाव अपरिवर्तनीय होते हैं। कई दूसरे लोगों में इन प्रभावों को रोका जा सकता है।

दुभाषिया डाक्टर ने बताया :—एक प्रसिद्ध ग्रन्थकार चिकित्सा कराने के लिये आए। संस्थान में भरती होते हुए उन्होंने बताया कि मैं दो तीन घंटा प्रतिदिन से अधिक काम नहीं कर सकता। छः मास चिकित्सा कराने के बाद वे प्रतिदिन दस ग्यारह घंटे काम करने लगे। और उनका जी चाहता था कि अभी और काम करता रहूँ। यही अवस्था यहां लगभग सभी रोगियों की हो जाती है। जब वे रोगी संस्थान में भरती होते हैं तो बहुत हताश और निराशावादी होते हैं। फिर शनैः शनैः वे आशावादी और सोत्साह होते जाते हैं।

संस्थान के दूसरे विभाग में दो सौ मनुष्य स्थायी रूप में रहते हैं और सारी आयु भर रहते रहेंगे। स्त्रियों और पुरुषों की संख्या बराबर बराबर है। उनमें से कई लोगों की चिकित्सा एच ३ के द्वारा की जाती है और किसी किसी के ऐसे इंजेक्शन लगाये जाते हैं जो सर्वथा प्रभावहीन होते हैं। परन्तु उनको इस बात का ज्ञान नही रहता कि उन्हें प्रभावहीन इंजेक्शन लगाए जा रहे हैं।

प्रोफैसर अस्लन ने अपने वार्तालाप में बताया कि "बुढ़ापे की समस्या विज्ञान से संबंध रखती है; शासन को इसमें दिलचस्पी लेनी चाहिए हम उससे पहले ही मर जाते हैं जब हमें मरना चाहिए था। वह युग अधिक दूर नहीं है जब हम विज्ञान की सहायता से सौ वर्ष तक जीते रह सकेंगे और उस आयु को पहुंच कर सुखी और नीरोग भी रहेंगे।"

यहाँ तक पहुंच कर प्रो० अस्लन विदा हो गईं। उनके चले जाने के बाद उनके साथी रूमानवी डाक्टर ने मुझे एक एलबम दिखाई। उस में रोगियों के चित्र थे—उपचार के पहले के भी और उपचार के बाद के भी। उन्होंने एक ऐसे रोगी के

चत्र की ग्रोर जो बिल्कुल गंजा था, संकेत करते हुए कहा – "यह रोगी ४६ वर्ष की ग्रायु में बिल्कुल बूढ़ा हो गया था, परन्तु ५१ वर्ष की ग्रायु में फिर इस पर यौवन ग्रा गया ।"

"चिकित्सा-काल में दो दो वर्ष बाद इस रोगी के कई फोटो लिये गए । प्रत्येक चित्र में क्रमशः यौवन के फिर से लौट ग्राने का प्रभाव स्पष्ट है । एक चित्र में गंजे सिर पर थोड़े थोड़े बाल निकल ग्राए हैं । दूसरे चित्र में वे काले ग्रौर घने हो गये हैं । सबसे बाद के चित्र में मुखमण्डल पर यौवन की कान्ति है । सिर पर सघन ग्रौर चमकदार केश हैं । मुखमण्डल पर प्रतिभा ग्रौर दृढ़ संकल्प के लक्षण हैं ।"

एक ग्रौर चित्र की ग्रोर संकेत करके उन्होंने कहा, "देखिए, इस व्यक्ति की ग्रायु १०६ वर्ष है । उपचार के पहले के चित्र में इस के बाल सफेद हैं । उपचार के बाद वाले चित्र में इसके बाल कृष्ण वर्ण हो गये ।"

उन्होंने यह भी कहा कि "श्वास की नालियों के रोग, जोड़ों की पीड़ा ग्रौर जोड़ों की सूजन का उपचार भी एच ३ से बड़ी सफलता पूर्वक किया है । छः रोगी हमारे यहां ऐसे हैं जिनकी ग्रायु एक सौ दस वर्ष से ग्रधिक है । उन्होंने एक रूमानवी रोगी को बुलवाया । उसकी ग्रायु ११६ वर्ष थी । वह ग्रच्छा हृष्ट पुष्ट मनुष्य था। मुखमण्डल पर नीरोगता के लक्षण थे ग्रौर बाल बिल्कुल काले थे ।

श्री एलन फ्रेज़ल कहते हैं, "प्रोफैसर ग्रस्लन का ग्रस्पताल सरकारी ग्रस्पताल है । मेरी समझ में वार्द्धक्य के विदेशी विशेषज्ञों को चाहिए कि वे इस ग्रस्पताल का निरीक्षण करें । चिकित्सा-शास्त्र से मेरा कोई संबंध नहीं फिर मुझे समय भी बहुत कम मिला । मैंने जो दो चार प्रश्न किये वे दुभाषिए के द्वारा किये ।"

जार्जिया के संबंध में प्रसिद्ध है कि वहां वृद्ध लोगों की संख्या सदा ग्रधिक रहती है । गत मनुष्य गणना की गिनती से मालूम होता है कि इस प्रजातंत्री देश में ६२००० ग्रस्सी वर्ष या इस से कुछ ग्रधिक वर्ष के मनुष्य हैं । इनमें से केवल एक तिहाई पुरुष ग्रौर शेष स्त्रियां हैं ।

कहते हैं, जार्जिया में लगभग सदा दो सहस्र मनुष्य सौ वर्ष या उससे ग्रधिक वर्ष की ग्रायु के वर्तमान रहते हैं । बड़े बड़े उन्नत देश भी इस विषय में जार्जिया का सामना नहीं कर सकते । ग्रमेरिका में दो सहस्र मनुष्य सौ वर्ष की ग्रायु के हैं । इंग्लैण्ड में ३०१, फ्रांस में २६१ ग्रौर जापान में ६७ ।

प्रोफैसर ग्रेगरी टप्स फेलोरी कहते हैं कि फ्राँसीसी पत्रकार गलबर ब्लाख ने ग्रपनी पुस्तक, "हम १५० वर्ष तक जीते रहेंगे" के लिये विषय वस्तु एकत्र करते समय मुझसे पूछा था कि जार्जिया में लोगों

की आयु अधिक होने का कारण क्या है। तो मैंने केवल एक शब्द में उनके इस प्रश्न का उत्तर यह दिया था—"काम" ।

कुछ लोग भूल से यह समझते हैं कि आरोग्य को बनाए रखने और दीर्घायु प्राप्त करने का सर्वोत्तम साधन आराम और आलस्य में समय बताना है । वैज्ञानिक शोध में अब यह बात प्रमाणित हो चुकी है कि कोई आलसी मनुष्य कभी दीर्घ आयु प्राप्त नहीं कर सकता । जार्जिया के बूढ़े मनुष्यों की डाक्टरी परीक्षा करने से विदित हुआ कि उनकी प्रबल बहुसंख्या अपनी आयु में कभी बीमार नहीं पड़ी । सचाई यह है कि इनकी यह डाक्टरी परीक्षा भी सारी आयु में पहली परीक्षा थी । अपनी दीर्घायु के रहते भी वे सहकारी या सरकारी खेतों में चाय की वाटिकाओं में, पशुओं की देख भाल में या मुर्गियों के पालने में हलके हलके काम करते रहते हैं । उनमें से कई शिकार भी खेलते हैं और रचनात्मक कार्य भी करते हैं । उदाहरणार्थ एक सहकारी किसान ए. एच. पेंलिया है । उसकी आयु ११२ वर्ष है । लखेरी ग्राम का निवासी है । वह चक्की चलाता है । यह चक्की एक सहकार खेत से सम्बद्ध है । वह एक संगीत मण्डली का एक सदस्य भी है ।

एयरी मिकावे एक स्त्री है। उसकी आयु ६३ वर्ष है । मदेनी ग्राम की रहने वाली है । वह एक चाय की वाटिका में काम करती है । बहुत दिन से इस की पेन्शन हो चुकी है । परन्तु वह काम छोड़ना नहीं चाहती । वहां चाय का सब से पहला पौधा इसी ने लगाया था । मदेनी ग्राम में १२८ मनुष्य ६५ वर्ष की आयु के हैं और ३० से अधिक अस्सी वर्ष की आयु के हैं । इस बात के रहते कि उन्हें पर्याप्त पेन्शन मिलती है वे बराबर अपने कर्त्तव्यों का पालन किये जाते हैं । इन वृद्ध व्यक्तियों में प्रचुरता ऐसे लोगों की है जिनकी स्मरण शक्ति और मज्जातन्तु रचना बहुत अच्छी दशा में है । इन्हें पुराने समय की घटनाएं बहुत अच्छी तरह याद हैं और इनकी नेत्र-दृष्टि और श्रवण -शक्ति बनी हुई है ।

ये लोग दिन में तीन या चार बार मिलाजुला आहार नियत समयों पर करते हैं, परन्तु कभी पेट भर कर नहीं खाते । इनमें से अधिकतर मसाले खाना पसंद करते हैं । मसालों में उनके पौष्टिक खाने स्वादिष्ट बन जाते हैं और उनको भूख खुल जाती है । इनमें से कई वृद्ध लोगों की धारणा यह है कि प्रचुर मात्रा में अंगूर और दूसरे फल, मधु और तरकारियां खाने से उनका स्वास्थ्य अच्छा रहता है ।

इसमें सन्देह नहीं कि जार्जिया के अधिवासियों के लंबी आयु पाने का एक बड़ा कारण वहां का जलवायु, सूर्य का रश्मि-प्रसार और विद्युत कणों से परिपूर्ण पवनें भी हैं । इन सब से शरीर को

बनाए रखने में सहायता मिलती है। लंबी आयु तक पहुंचने की व्यवस्था पचास या साठ वर्ष की आयु हो जाने के पश्चात् नहीं वरन् शिशु के जन्म के साथ ही इसकी चिन्ता आरम्भ हो जानी चाहिए । पर्य-वेक्षणों से यह बात भली भांति विदित हो गई है कि प्रत्येक व्यक्ति बुढ़ापा आने की गति को धीमा करके अपनी आयु में कतिपय वर्षों की वृद्धि कर सकता है।

समय से पूर्व वार्द्धक्य के प्रकट हो जाने का संबंध मज्जातंतु रचना के सामान्य कर्त्तव्यों में विघ्न उत्पन्न हो जाने से है । मज्जातंतु रचना की थकान और दुर्बलता मानसिक शरीर के प्रभावित होने की क्षमता को दुर्बल बना देती है। इसका परिणाम यह होता है कि जीवन-पदार्थ घुलने लगता है और कोषाणु और झिल्लियां नष्ट होने लगती हैं और कोषाणुओं के स्वतः नवजीवन धारण करते रहने की प्रक्रिया में विघ्न पड़ने लगता है । इसलिये मज्जातंतु जाल की सुधि लेते निरीक्षण करते और शक्ति पहुंचाते रहना आव-श्यक है ताकि इ र का स्तर ऊंचा रह सके।

संसार में काम सबसे बड़ा प्रेरक है। यह बात अधिक महत्त्व नहीं की कि कोई मनुष्य का काम करता है, परन्तु अपने काम के विषय में उसके मानसिक भाव को बहुत महत्त्व प्राप्त है। काम करने वाले की पाबंदी, नियमबद्धता, प्रतिदिन का युक्तियुक्त और परिमित कार्यक्रम, काम विश्राम, निद्रा और आहार की नियमित व्यवस्था ये सब चीजें काम करने वाले की क्षमता को अधिक काल तक बनाए रखती हैं। जो काम मर्यादा से अधिक भारी मालूम दे वह जीवन को नष्ट कर डालता है। वह बुढ़ापे को द्रुतगति से निकट ले आता है ।

कई लोगों की धारणा है कि इंजीनियर या डाक्टर, या अध्यापक और विशेष रूप से साहित्यकार और कलाकार के बौद्धिक कामों में किसी व्यवस्था या कल्पना की आवश्यकता नहीं होती । वे अधिकतर रचनात्मक प्रेरणा पर निर्भर करते हैं। यह धारणा सत्य नहीं है । वैज्ञानिक या प्रख्यात साहित्यकार, जिन्होंने सार्वजनिक जीवन पर अपना संस्कार छोड़ा है, नियमित रूप से एक व्यवस्था बना कर जीवन बिताते थे । वे नियत समयों पर काम करते थे, विश्राम करते और सोते थे ।

बौद्धिक कार्य करने वालों के लिये सर्वोत्तम मनोरंजन के काम, भ्रमण, विनोद, बागवानी, पर्यटन, मछली का शिकर और खुले मदान में टहलना है।

विश्राम का विशिष्ट और बहुमूल्य रूप निद्रा है। जो लोग बहुत अधिक बौद्धिक कार्यों में अस्त रहते हैं उन के लिये अधिक देर पक सोना हितकर है।

उत्तम स्वास्थ्य बनाए रखने और जीवन को लंबा बनाने के लिये पाचन

शक्ति को ठीक रखने और स्वास्थ्यकर आहार को बहुत महत्त्व प्राप्त है। सवेरे नाश्ता किये बिना काम में व्यस्त हो जाना स्वास्थ्य के लिये हानिकारक है।

मदिरा और मादक पदार्थों का अधिक सेवन शरीर की प्रतिरोध की शक्ति को कम कर देता है और बहुत से रोगों का कारण बन जाता है। तम्बाकू खाना और पीना भी हानिकारक है।

वृद्ध लोगों के लिये यह आवश्यक है कि वे कुछ हलका व्यायाम प्रतिदिन नियमित रूप से करें।

अब तो बुढ़ापे के प्रभावों को रोकने के लिये बहुत सी दवाइयां भी बन गई हैं। विशेषतः प्रोफैसर अस्लन के संस्थान में जो औषधियां इस उद्देश्य के लिये उपयोग में लाई जाती हैं उनका हितकर होना एक बड़ी सीमा तक सर्वमान्य है। विटामिन (प्राणतत्व) और होरमोन भी बुढ़ापे की रोकथाम के सिलसिले में बहुत महत्त्वपूर्ण सेवाएं कर चुके हैं। परन्तु स्वास्थ्य को ठीक रखने और स्वास्थ्यकर खाद्यों का सेवन करने की आवश्यकता पर जितना भी बल दिया जाय थोड़ा है। यदि स्वास्थ्य ठीक नहीं है और आहार घटिया और अपूर्ण है तो कोई भी औषध अपना प्रभाव नहीं रख सकती।

सारांश यह कि प्रत्येक व्यक्ति का परम धर्म है कि वह बुढ़ापे के प्रभावों का अपनी पूरी शक्ति के साथ मुकाबला करे और अपनी आयु को लंबा बनाने और काम करने की शक्तियां बनाए रखने का प्रयत्न करे।

○ ○ ○



माहिल

जगदीशचन्द्र मिश्र

उत्तर भारतीय ग्राम्य अंचलों में सर्वाधिक प्रचलित, वीररस से परिपूर्ण लोकगाथा 'आल्हा' में माहिल का वही स्थान है, जो स्थान पौराकि आख्यानों में नारद जी का है। यह भी बड़े महत्त्व की बात है कि लोक-जीवन में नारद एवं माहिल को समान स्थान प्राप्त है। आज भी हम झगड़ा लगाने वाले चुगल-खोर को नारद या माहिल की संज्ञा दे देते हैं। आपके मनोरंजनार्थ 'आल्ह-खण्ड' की पृष्ठभूमि पर उस माहिल की चर्चा यहां की जा रही है जिसके विषय आल्हा गायक बड़े व्यंग्य भरे शब्दों में कह उठता है :—

बनिया चूकै बैयारे से
औ उस्ताद चूकै तरुआरि
चूकै माहिल न चुगली से
येके जानै सकल जहान।

आल्हा गायक के अनुसार इस बात को सारा संसार जानता है कि माहिल चुगली से नहीं चूक सकता। इसी प्रमाण से सोचा जा सकता है कि माहिल अपने कार्य में कितना माहिर था।

उत्तर प्रदेश की वीर भूमि झाँसी कमिश्नरी के जालौन जिले में उरई के प्राचीन किले का भग्नावशेष आज भी विद्यमान है, जहाँ किसी समय माहिल उसकी शोभा बढ़ाया करता था। उरई एक छोटी सी रियासत थी किन्तु माहिल की प्रतिष्ठा में कोई कमी न थी। उसकी अच्छी-अच्छी जगहों में रिश्तेदारियां थीं। कालिंजर के महाराजा परमाल उसके सगे बहनोई थे जिनसे माहिल की बड़ी बहन मल्हना का ब्याह हुआ था। 'आल्ह-खण्ड' के प्रमुख प्रतापी योद्धा—आल्हा और ऊदल दोनों उसके सगे भांजे थे जो देवला और तिलका के उदर से पैदा हुए थे। परमाल का बेटा ब्रह्मा भी उसका भांजा था जो कम प्रतापी नहीं था। इन्हीं कारणों से माहिल का अपने युग में बड़ा सम्मान और महत्त्व था और लोग उसकी बातों पर ध्यान देते थे। किन्तु माहिल का स्वभाव इन सबसे एक दम भिन्न था।

वह झगड़ा लगाने में बड़ा पटु था। कहते हैं चुगली किये बिना उसके पेट का पानी ही नहीं पचता था।

'आल्ह खण्ड' में कुल ५२ किलों का वर्णन आता है। माहिल नारद की ही भांति चाहे जिस किले में जब जाये, कोई रोक नहीं थी। इसीलिये आल्हा काल की समस्त लड़ाइयों में माहिल का प्रमुख हाथ रहता था। 'आल्हा' की अधिकांश लड़ाइयों को जन्म देने वाला भी यही बताया जाता है। इसी लिये आल्हा गायक माहिल को नारद ज़ी का अवतार बताता है। आल्हा की पंक्तियों सहित उस की चुगली के दो-एक प्रमाण दिये जा रहे हैं :—

आल्हा-ऊदल के बचपन की बात है। एक दिन ऊदल जंगल में शिकार खेलने के लिये सज धज कर निकलता है। इसी बीच माहिल उसे टोक देता है :—

नरम जवानी माहिल बोलै
अदल सुनिल्य बात हमार
किहय तयारी तू कहँवाँ क
काहे बान्हि लिह्य हथियार ?

पहिली ही तैयारी पर टोके जाने से ऊदल को बुरा तो बहुत लगा किन्तु मामा को कुछ कहने की हिम्मत न पड़ी। उसने कहा :—

नरम जवानी उदल बोलै
मामा सुनिल्य बात हमार
किहा तयारी हम बवुरी बन
हम जंगल के भये तयार,
मुर्चा लागल तरुअरिया में
जाइ छोड़ाउब खेलि सिकार।

ऊदल की बात सुन माहिल मुस्कराने लगा उसने व्यंग्य कसते हुए कहा :—

कहिया क तरुअरिया तू भइ ल्य
कहिया बान्हि लिहय हथियार
बाप तुम्हारे मारे गइले
लसिया असी कोस गन्हाइ
ठटरी बान्ही बा बरगद में
जेके गीध नोचि के खाइँ

फिर क्या था, ऊदल के सारे विचार ही पलट गये :—

सुनिके बतिया तब मामा कर
ऊदल भये कुदि तइयार
हाथ कटरिया लेइके ऊदल
तब हियरा में लिहा डटाय
हाल, बताव मोरे दादा कै
नाहीं त गला काटि मरि जाब

चुगली तो लगा दी माहिल ने ऊदल से किन्तु जब वह आवेश में आकर वहां जाने के लिये तैयार हो गया तो माहिल घबड़ा उठा। ऊदल जो उसका सगा भांजा था, भला उसे वह कैसे संकट में डाल सकता था। आल्हा गायक बड़ी चतुरता से इस स्थल का निर्वाह करता है :—

अपने मन में माहिल सोचै
औ ऊ सोचि सोचि रहि जाइ

मुरहा लड़िका जच्छराज कै
जानी बाटै मरम हमार
हाल बताई जौ अबहीं हम
तब ई गला काटि मरिजाइ
सनकी देइ देइ माता पर
बेटा सुनिल्य बात हमार
जाइ के पूछ महतारी से
जानी नाहीं बाटै हमार
सुनली बतिया हम कहली है
नाहीं बाटे देखी हमार ।

किन्तु अब ऊदल कहां रुकने वाला था । 'बाप का वैरी जे ना मारै, ओकर मांस, गीध ना खाई' का मंत्र जपने वाला ऊदल मां के पास जाता है और सारी घटना का ज्ञान प्राप्त कर चल पड़ा यह रहा माहिल की चुगली का परिणाम ।

चुगली करते समय माहिल कभी भी नहीं सोचता था कि इससे किसी अपने खास का अहित होने वाला है । आप उस स्थल की बात सुनें जिस चुगली ने संपूर्ण आल्हा-काल का ही अन्त कर दिया । विभिन्न लड़ाइयों के बचे-खुचे अन्य समस्त प्रतापी योद्धा इस युद्ध में समाप्त हो गये और आल्हा युग ही समाप्त हो गया । यह घटना माहिल के अपने सगे भांजे ब्रह्मा के ब्याह और गौने से संबन्धित है जिस का जन्म आल्हा की पंक्तियों में इस प्रकार होता है :—

लगी कचहरी परमालिक कै
भस्माभूत लगा दरबार
इन्द्र क बइठक छत्री बैठे
ठेहुनन धरी नगिन तरुआरि
दुर्गा लोटि रही पलथी पर
जइसै लोटै करियवा नाग
मोछा मिरोरैं भाइ देंह तोरैं
जइसे बिछी उठावै आर
ओही समइया माहिल पहुंचा
और दरबार के बीच मझार
ओही समइया माहिल पहुंचा
और दरबार के बीच मझार
नाच तायफन क बन होइगा
तबला जाजिम पर रखाय
सात हाथ के सिंहासन पर
बैठा जहां रजा परमाल
दगी सलामी तब माहिल कै
परमालिक ने दिया असीस
जुग जुग बाढ़ तू माहिल अब
तोहरी फते रहै तरुआरि
नरम जबानी माहिल बोलै
जीजा मान बात हमार
बारह बुरिस क भैंने होइगा
तू कतहूँ न किह्य बियाह
बरिस तेरहवां जब लगि जइहैं
पातक तोहै नरक लेइजाय
क्वारी बिटिया पृथीराज कै
बेला देइ हौ जेकर नाऊँ
व्याह कराउब हम दिल्ली में
जीजा मान बात हमार ।

परमाल माहिल के मुंह से अपने बेटे ब्रह्मा की शादी दिल्ली के प्रतापी राजा पृथ्वीराज की बेटी बेला के संग कराने की बात सुन कर कांप उठा :—

नउआँ सुनि के दिली गढ़ कै
ओनकर हिला बतीसौ दाँत ।

और उन्होंने तत्काल माहिल को जवाब दे दिया :—

कि दस लेइ के कि दस देइ के
हम कतहूँ अब करब बियाह
जीयत दिल्ली हम जाबै ना
दिल्ली मोरे मान कै नाहिं ।

लेकिन वाह रे माहिल । क्या मजाल कि उसका पासा बेकार जाय । उसने जोश भरे शब्दों में कहा :—

येतना सुनि कै माहिल बोलै
जीजा भले गय बउराइ
हमहीं अगुआ हमहीं भगुआ
हमहीं सेनन क सरदार
व्याह करउबै हम भैने कर
तब बृज माहिल नाऊँ हमार ।

'बृज माहिल' शब्द का प्रयोग कर आल्हा गायक माहिल पर अच्छा व्यंग्य कसता है । जिस समय हजारों श्रोताओं के बीच ढोलक पर थाप देता हुआ आल्हा गायक उक्त पंक्तियां सुना जाता है। हंसी का एक मण्डप व्यापी फुहारा फूट पड़ता है । इस प्रकार माहिल की जब जब चर्चा आती है आल्हा गायक उस पर व्यंग्यपूर्ण शब्द छोड़ता जाता है जो वीर रस से सराबोर गाथा में चटनी का काम करते चलते हैं ।

एक अन्य स्थल देखें—परमाल द्वारा महोबा से निकाले जाने पर आल्हा-ऊदल कन्नौज के राजा लाखनसिंह के यहां रहने लगे । लाखन भी अपूर्व बलशाली योद्धा था । आल्हा में उसे ऊदल के टक्कर का योद्धा बताया गया है :—

लाखन लोटवा से भुइं हालै
औ उदले से दऊ डेराइं

रहते रहते ऊदल और लाखन में काफी घनिष्ठता हो गयी । उधर माहिल इसी बीच दिल्ली जा पहुंचा । महाराज पृथ्वीराज को जबरन बेला के ब्याहने का बदला लेने के लिये अच्छा अवसर बताते हुए कहा परमाल ने आल्हा-ऊदल को कसम दिला कर निकाल दिया है :

पानी पीय जौ मोहबा में
जइसे गऊ रकत होइजाइ
रोटी खाय जौ मोहबा में
जइसे गउ मास केउ खाइ ।

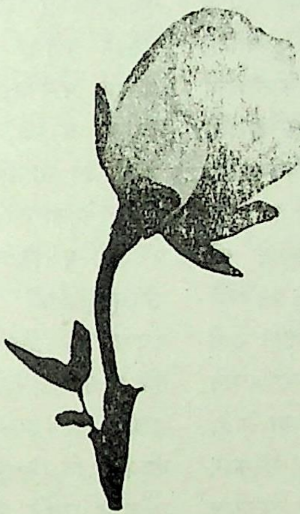
इसलिये अब वे परमाल की मदद के लिये कभी नहीं आयेंगे । पृथ्वीराज को माहिल की बात उचित जान पड़ी और उसने माहिल पर चढ़ाई कर दी किन्तु आल्हा ऊदल चुप नहीं बैठे रह सके जिससे लाचार होकर पृथ्वीराज को मात खानी पड़ी ।

इसी प्रकार संपूर्ण आल्हा में माहिल अपने कार्य में संलग्न मिलता है । तारीफ

तो यह कि अपने तर्कों से वह कभी भी असफल नहीं हुआ। यदि माहिल न होता तो आल्हा की यह महिमा न होती। उसी प्रकार जैसे सकुनी के न रहने पर महाभारत काल कोई और ही काल होता। आल्हा गाथा शायद तब होती भी न और होती भी तो बनजवा, वहुलिया, सोरठी, आदि की भांति सस्ते कोटि की गाथा होती। इस प्रकार माहिल की भी अपनी एक आवश्यकता थी। अपने स्थान पर उसका महत्त्व किसी से भी कम नहीं है। वह सब को खुश रखना चाहता था और सभी किलों की गूढ़ बातों का ज्ञान रखता था।

पौराणिक काल के नारद एवं महाभारत काल के शकुनी की भांति आल्हा काल का माहिल साहित्य जगत का तीसरा चुगलखोर है जिसने एक अनूठे इतिहास को जन्म दिया। ऐसे माहिल को भला कैसे भुलाया जा सकता है।

○ ○ ○



मेघदूत में बिम्ब-विधान

डॉ० हरिश्चन्द्र वर्मा

अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् के सम्बन्ध अथवा क्रिया-प्रतिक्रिया पर ही सृष्टि की गतिशीलता निर्भर है। यहां अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् का अभिप्राय समझना उपयोगी होगा। भारतीय शास्त्रों में मन को अन्तःकरण कहा गया है। अन्तःकरण का अर्थ है आन्तरिक इन्द्रिय, जो चक्षु, श्रवण, नासिका आदि बाह्य ज्ञानेन्द्रियों के सहयोग द्वारा दृश्यमान जगत् का बोध कराती है ! यह मन या अन्तःकरण विषय-बोध के अतिरिक्त, स्मरण, कल्पना, अनुभव, विचार, तर्क, इच्छा आदि करने की क्षमताओं, से युक्त माना गया है।१ यहां अन्तःकरण को ही अन्तर्जगत् कहा गया है। इस प्रकार अन्तर्जगत् का अभिप्राय मनुष्य को भीतर के सूक्ष्म जगत् से है, जिसमें सभी भाव या मनोविकार संस्कार रूप में अवस्थित रहते हैं, और अनुकूल आलम्बनों के प्रत्यक्ष होने पर जागरित हो उठते हैं। ये आलम्बन बहिर्जगत् से सम्बन्ध रखते हैं। यहां बहिर्जगत् का आशय समझ लेना अपेक्षित है। वास्तव में, प्रत्येक प्राणी के लिये उसका मन ही अन्तर्जगत् है, और सैद्धान्तिक रूप में अपने को छोड़ कर शेष समस्त चराचर जगत् उस प्राणी के लिये बहिर्जगत् है। व्यावहारिक रूप में देखें तो प्रत्येक प्राणी का बहिर्जगत् वहीं तक सीमित है, जहां तक उसका अनुभव-क्षेत्र है। बहिर्जगत् वस्तुओं और प्राणियों का समूह होने के कारण प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से अन्तर्जगत् को प्रभावित करता है। बाह्य जगत् के सम्पर्क से मनुष्य के अन्तर्जगत् पर जो प्रभाव पड़ता है, वही उसकी अनुभूति होती है। इस प्रकार, मूलतः मनुष्य की सभी प्रकार की अनुभूतियों का आधार बहिर्जगत् ही है। "संसार-सागर की रूप–तरङ्गों से ही मनुष्य की कल्पना का निर्माण और इसी की रूप-गति से उसके भीतर विविध भावों या मनोविकारों का विधान हुआ है। सौन्दर्य, माधुर्य, विचित्रता, भीषणता, क्रूरता इत्यादि भावनाएं बाहरी रूपों और

१. See. The Dictionary of philosophy: D. D. Runes, P. 198

व्यापारों से ही निष्पन्न हुई हैं।"१ इस प्रकार मन अपनी संवेदनात्मक सत्ता के प्रसार के लिए बाह्य रूपों और व्यापारों की अपेक्षा रखता है। वह अपनी भागेष्मा से बाह्य वस्तु-व्यापारों को रंग कर सजीव रूप प्रदान करता है ! मन पहले बाह्य वस्तुओं के प्रति आत्मीयता का सम्बन्ध स्थापित करता है और उनको आत्मसात् करता है, फिर उनकी कविता, कला आदि विविध रूपों में अभिव्यक्ति करता है। बाह्य रूपों की मानसिक अभिव्यक्ति ही, जो कविता कला आदि का मूलाधार है, बिम्ब कहलाती है। डा० हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने बिम्ब-विधान की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए कहा है, "कारण यह है कि कवि का प्राथमिक कर्त्तव्य बिम्ब-ग्रहण कराना है, और उसका साधन अप्रस्तुत विधान है। इसके बिना कवि मनोरम भाव को हृदयहारी बना कर अपना वक्तव्य कह ही नहीं सकता।"२

मानव-हृदय सगुण और साकार का पुजारी है। इसीलिये वह सामान्य के स्थान पर विशेष को, असीम के स्थान पर ससीम को, अज्ञात के स्थान पर ज्ञात को, अमूर्त के स्थान पर मूर्त को ही अपनी भाव राशि अर्पित करता चलता है। जब हमारी वृत्ति बहिर्मुखी होती है, तो वस्तु सौन्दर्य के प्रत्यक्ष दर्शन द्वारा हमारी रागात्मक सत्ता तरङ्गायित हो उठती है, किन्तु वृत्ति के अन्तर्मुखी होने पर देखे या अनुभव किये गये रूप-व्यापारों के प्रत्यक्ष न होने पर भी, उन के मानसी विम्ब हमारी रागात्मक वृत्ति के संचार के आधार बनते हैं। इस प्रकार "बाहर और भीतर दोनों ओर रहते हैं रूप ही।"३ वस्तुतः कला और कविता के भीतर रूपात्मक (objective) और भावात्मक (Subjective) आधार अविच्छिन्न और संपृक्त रहता है।४ बिम्ब (Image) ही वह मूल आधार है, जहां बाह्य रूपात्मक सत्ता और रागात्मक सत्ता का सामञ्जस्य घटित होता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सभी प्रकार की कलात्मक अभिव्यक्ति के मूल में 'विम्ब' ही मूल तत्त्व है और बिम्ब का मूल आधार बाह्य आलम्बनों का

---

१. दे० चिन्तामणि (प्र० भ०): आ० राम चन्द्र शुक्ल, पृ० २८२

२. हिन्दी-साहित्य—पृ० ४५६

३. चिन्तामणि (प्र० भा०)—आ० शुक्ल, पृ० २४३

४. "————the seperation between feeling tone and real object is an abstraction. In reality they are one—part of the one active Subject-object relation."
Illusion and Reality: Christopher Candwell.
P. 148

आंख, नाक, कान आदि ज्ञानेन्द्रियों द्वारा बोध या अनुभव है । बिना विषय-बोध के बिम्ब-विधान हो ही नहीं सकता है । पृष्ठभूमि में गोचर और मूर्त्त रूपों के प्रतिष्ठित होने के कारण यह स्पष्ट ही है कि अदृश्य, अरूप, सामान्य या जाति का बिम्ब-विधान नहीं हो सकता । मन के आवेगों का सम्बन्ध आलम्बनों (वस्तु, व्यक्ति, दृश्य) के इन्द्रिय-संस्पर्श से है । इसलिये बिम्ब चक्षु, श्रवण , त्वक्, नासिका, जिह्वा—इन पांचों ज्ञानेन्द्रियों और अन्तःकरण की संयुक्त क्रियाओं की परिणति है । उपर्युक्त पांचों ज्ञानेन्द्रियों में अपने-अपने विषयों—रूप, ध्वनि, स्पर्श, गन्ध और रस —की ओर प्रवृत्ति होती है , किन्तु अन्तःकरण इन सब में से प्रत्येक के साथ प्रवृत्त होने की अद्भुत क्षमता रखता है । इस प्रकार ऐन्द्रियक विषय-बोध के आधार पर बिम्बों का विभाजन रूप-बिम्ब, ध्वनि-बिम्ब, स्पर्श-बिम्ब, गन्ध-बिम्ब और रस-बिम्ब के रूप में किया जा सकता है ।[1] रूपात्मक बिम्ब तो प्रायः सर्वत्र ही होते हैं, किन्तु सूक्ष्म होने के कारण ध्वनि-बिम्ब अपेक्षाकृत कम होते हैं । तलवारों की 'खनखनाहट', आभूषणों की 'झंकार', भौरों की 'गुज्जार', 'पक्षियों के कलरव' आदि के बिम्ब तो शब्दों की ध्वननशीलता के आधार पर कविताओं में अंकित किये भी जाते हैं, किन्तु झंझावात, विद्युत्क-म्पन, बनों की नीरवता, गहन गुफाओं की अस्पष्ट गम्भीर ध्वनि के बिम्ब अपने स्वरूप की जटिलता के कारण आंशिक रूप में ही उभर पाते हैं । ध्वनि की भांति ही गन्धात्मक बिम्ब भी सूक्ष्म होते हैं । गैंदा, गुलाब, रजनीगन्धा आदि में से किसी की भी सुगन्ध से युक्त समीर के झोंके के सम्पर्क से तुरन्त ही तत्सम्बन्धी बिम्ब अन्तःकरण में उभर आते हैं । किसी उपवन, गीली भूमि, तुरन्त जोते गए खेत की गन्धानुभूति अपने तात्विक रूप में अधिक महत्त्वपूर्ण न होते हुए भी परि-स्थिति या प्रदेश विशेष की समग्र प्रभावो-त्पादकता में सहायक होती है । रस तो स्वयं वस्तु की रसनीयता अथवा आस्वादन से सम्बन्धित है, अतः सैद्धान्तिक दृष्टि से वस्तु से पृथक् रस-बिम्ब की संभावना ही हो सकती है । उदाहरणतः आम, नींबू, अङ्गूर आदि के रस की एक बूंद के चखाये जाने पर ही हमें पहले पता न होने पर भी तुरन्त पता लग जाता है कि यह रस अमुक वस्तु का है । कवि लोग फीका,

1. "Visual images are the best known, but it is important to recognise that every kind of sensation may have its corresponding images." Principles of Literary criticism: I. A. Rechards, P. 106.

तीखा, कड़वा, मधुर आदि स्वादसूचक शब्दों द्वारा रसानुभूति के भी बिम्ब उभारने को प्रयत्नशील रहते हैं। स्पर्शानुभूति कठोर, खुरदरे, भुरभुरे, चिकने आदि शब्दों द्वारा व्यक्त की जाती है। उपर्युक्त बिम्बों में रूपात्मक बिम्ब ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं, शेष को सैद्धान्तिक रूप में ही स्वतंत्र कहा जा सकता है, अन्यथा व्यावहारिक दृष्टि से ये सभी बिम्ब वस्तु के रूपात्मक बिम्ब में संयुक्त होकर ही प्रस्तुत होते हैं और उसको पूर्ण और प्रभावोत्पादक बनाते हैं।

द्रष्टा या कवि की दृष्टि से भी बिम्ब-विधान पर विचार करना उपर्युक्त होगा। आचार्य शुक्ल ने बिम्ब-विधान (रूप विधान) के तीन प्रकारों —प्रत्यक्ष रूप-विधान, स्मृत रूप-विधान, और कल्पित रूप-विधान—का विवेचन किया है।[१] वस्तुतः बिम्ब-विधान अधिकांशतः स्मृत ही होता है।[२] प्रत्यक्ष रूप-विधान नाम का वर्गीकरण पूर्णतः असंगत प्रतीत होता है, क्योंकि प्रत्यक्ष-चाक्षुष सन्निकर्ष से विषय बोध (Perception) होता है और विषय के प्रत्यक्ष होने पर उसका बिम्ब तो मन में उभरता है किन्तु वही विषय-बोध का क्षण कलात्मक अभिव्यक्ति का क्षण न होने के कारण बिम्ब-विधान की आवश्यकता नहीं पड़ती। उनकी स्वयं की मान्यता में प्रत्यक्ष रूप-विधान का विरोध स्पष्ट है। ये कहते हैं, "अतः जहां तक काव्य की प्रक्रिया का सम्बन्ध है वहां तक रूप और व्यापार कल्पित ही होते हैं। कवि जिन वस्तुओं और व्यापारों का वर्णन करने बैठता है, ये उस समय उसके सामने नहीं होते, कल्पना में ही होते हैं।"[३] ध्यानपूर्वक सोचने से स्पष्ट होगा कि स्मृत बिम्ब-विधान और काल्पनिक बिम्ब-विधान में मौलिक अन्तर नहीं है। स्मृतिजन्य बिम्ब वस्तु—व्यापारों की पुरानी अनुभूतियों के पुनरुत्पादक होते हैं, जबकि काल्पनिक बिम्बों में उनके उननिर्मायक अवयवों का संशोधित, परिवर्धित अथवा उदात्तीकृत रूप में संयोजन होता है, जो पहले पृथक् पृथक् कवि की अनुभूति के विषय बन चुके होते हैं। इसलिये वे अपेक्षाकृत अधिक नूतन, आकर्षक और प्रभावोत्पादक होते हैं। अतः काल्पनिक बिम्बों में स्मृत

१. चिन्तामणि (भाग १)—पृ० २४३

२. Images are "Concious memories which reproduce a previous perception, in whole or in part", in the absence of the Original Stimulus to the perception." C. W. Bray
"Encyclopaedia Britannica. V. 12 (1959) P. 102

३. चिन्तामणि (भाग १) १९५० ई०—पृ० २४५

की अपेक्षा संयोजन तथा उदात्तीकरण की ही नवीनता है । इस प्रकार मूलतः सब बिम्बों की आधार स्मृति ही होती है।१ बाद में कल्पना स्मृत रूपों का ही नव संयोजन-संशोधन करती है। काल्पनिक बिम्बों में वैयक्तिक कृतित्व या मौलिकता वहीं तक उपयोगी और प्रभावोत्पादक है जहां तक वे समाज-सापेक्ष सामान्य भाव-भूमि का अतिक्रमण करके वैचित्र्य का रूप नहीं ग्रहण करते। समाज-निरपेक्ष तथा घोर वैयक्तिक बिम्बों का उदाहरण स्वप्न में दिखलाई पड़ता है। ये अति वैयक्तिक अथवा स्वप्निल बिम्ब व्यक्ति को सामाजिक यथार्थ से दूर एक निजी विचित्र लोक में लीन रखते हैं।

विषय-क्षेत्र की दृष्टि से बिम्बों की कोई सीमा नहीं। पौराणिक, ऐतिहासिक, भौगोलिक, धार्मिक, प्राकृतिक आदि ज़ीवन और जगत् के बहुविध बिम्बों का समावेश काव्य-कृतियों में नैसर्गिक रूप में पाया जाता है । तत्त्वतः विषय क्षेत्रों की सुनिश्चित सीमा निर्धारित न होने के कारण तथा विषयों की अनन्तता के कारण विषय-क्षेत्र की दृष्टि से बिम्बों का कोई उपयुक्त तथा वैज्ञानिक वर्गीकरण नहीं किया जा सकता ।

यहाँ बिम्ब के काव्योपयोगी आदर्श स्वरूप पर विचार करना भी युक्तिसंगत होगा । वास्तव में बिम्ब की भावाभिव्यञ्जकता ही उसकी सफलता की कसौटी है। बिम्ब के निर्मायक अवयवों—रूप, रङ्ग गन्ध आदि के व्यौरे पूर्णतः संश्लिष्ट होकर ही उसके प्रभाव की पूर्णता को व्यक्त कर सकते हैं, किन्तु व्यौरों की स्थूलता और अभिधात्मक विशदता से किसी बिम्ब में अर्थ-गरिमा नहीं आती, बल्कि वह बिम्ब के इस स्वरूप पर निर्भर करती है कि वह एक मानसिक घटना के रूप में किन-किन संवेदनाओं को कितनी गहराई से उभारने की क्षमता रखता है। बिम्ब का उत्कर्ष इसी में है कि वह संक्षिप्त और नवीन हो तथा गंभीर संवेदनाओं को झंकृत करने की सामर्थ्य रखता हो । डॉ० हरद्वारी लाल शर्मा के अनुसार, "मौलिक (प्राइमार्डियल) सम्पूर्ण (आर्गनिक) और स्वयम्भू, ये सौन्दर्यानुसन्धायिनी प्रतिमा (एस्थेटिक इमेज) के विशेष लक्षण हैं।"२ इस प्रकार गंभीर अर्थ-व्यञ्जकता

---

१. "There is no kind of mental activity in which memory does not intervene. We are most familiar with it in the case of images ————." Principles of Literary Criticism : I. A. Rechards, P. 106

२. हिन्दी साहित्य कोश : सं॰ डा॰ धीरेन्द्र वर्मा (दे॰ सौन्दर्यानुसन्धायिनी प्रतिमा) पृ० ८६०

ही बिम्ब की सफलता का प्रमुख मानदण्ड है।

मानसी बिम्ब की काव्यमयी अभिव्यक्ति के लिये शब्द, अलंकार, संगीत, लय, छन्द आदि साधनों का उपयोग किया जाता है। शुक्ल जी ने बिम्ब-विधान के लियेलाक्षणिकता, विशेष रूप-व्यापार-सूचक शब्द-योजना, नाद-सौष्ठव, साभिप्राय विशेषणों और नामों के प्रयोग पर बल दिया है।[1]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम अनेक महत्त्वपूर्ण निष्कर्षों पर पहुंचते हैं :—

(१) प्रवृत्तिशील मानस में बाह्य वस्तु-व्यापारों की अभिव्यक्ति ही बिम्ब है, जो कविता, कला आदि का मूल तत्त्व है।२ बिम्ब में रूपात्मक (Objective) और रागात्मक (Subjective) आधार अविच्छिन्न एवं सम्पृक्त होते हैं। (२) रागात्मक प्रवृत्तिशीलता का आधार गोचर और मूर्त्त होने के कारण बिम्ब-विधान में ऐन्द्रियक विषय-बोध का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस आधार पर बिम्बों का वर्गीकरण रूप-बिम्ब, ध्वनि-बिम्ब ,आदि प्रकारों में किया जा सकता है (४) सभी प्रकार के बिम्बों का आधार स्मृति ही है, कल्पना स्वयं विविध स्मृत स्वरूपों की संयोजन की शक्ति से युक्त नवीनता-विधायक मानसिक प्रक्रिया है (५) बिम्बों में नवीनता, मौलिकता अथवा वैयक्तिकत का तत्त्व वहीं तक उपादेय है जहां तक वह लोक-सामान्य भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित है और संप्रेषणीय है। (६) बिम्बों की अर्थ-गरिमा रूपात्मक व्यौरों की निर्जीव संयोजना पर आश्रित न होकर उनकी मानस को अधिकाधिक तरङ्गायित करने की सामर्थ्य पर निर्भर है। (७) विषय क्षेत्र की दृष्टि से बिम्ब, भौगोलिक,ऐतिहासिक,पौराणिक आदि अनेक प्रकार के हो सकते हैं। (८) बिम्ब-विधान के लिये संगीतात्मक और लाक्षणिक शब्द-योजना तथा अनुकूल छन्द आदि की आवश्यकता है।

बिम्ब-विधान के तात्त्विक विवेचन के पश्चात् मेघदूत में बिम्ब-विधान की विविधता और व्यञ्जकता पर विचार करना है। वस्तुतः मेघदूत प्राकृतिक, मानवीय, और दिव्य रूपों के एक ही संवेदना सूत्र में गुम्फित, मर्मस्पर्शी चित्रों की मनोरम चित्रशाला है। मेघदूत में बिम्बों की विविधता , सजीवता और नवीनता का रहस्य यही है कि कवि ने मानव-प्रकृति और वाह्य प्रकृति को केवल आमने सामने रख कर ही नहीं देखा है, अपितु दोनों को मूलतः एक ही रूप में अनुभव किया है। जहां प्रकृति की विविध एवं व्यापक रङ्गस्थली मानवीय भावनाओं के वहुविध संचार के लिये नवीन क्षेत्र प्रदान करती चलती है, वहां

१. चिन्तामणि (भाग १) १९४८, पृ० १७५—८०

अन्तः प्रकृति बाह्य प्रकृति के रूपों और क्रियाव्यापारों में संवेदना का संचार करती है । कालिदास ने प्राकृतिक साहचर्य से वियुक्त मानव-जीवन की कहीं कल्पना भी नहीं की है । इसी प्रकार मानवीय संवेदनशीलता से विरहित प्रकृति उनकी कल्पना से बाहर है । मेघदूत में यक्ष और यक्षिणी दोनों को ही प्रकृति का अनुरागपूर्ण साहचर्य सुलभ है, साथ ही प्रकृति के सभी उपकरण---मेघ, नदी, वन, पर्वत आदि--- मानवीय रागात्मकता से स्पन्दित हैं । अकेले मेघ में ही कवि ने कुलीनता, मित्रता, सहानुभूति, प्रेम, श्रद्धा, करुणा आदि अनेक मानवीय गुणों और भावों का सन्निवेश करके उसे एक विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान किया है । यह ही नहीं, कवि ने मेघ को हृदय और आत्मा से भी संयुक्त बतलाया है ।१ यहां यह विशेष ध्यान देने योग्य है कि कालिदास ने प्राकृतिक और मानवीय जीवन में असीमता, अनन्तता, विपुलता और अपरिसीम उल्लास और वैभव का समावेश करके दिव्य जीवन की विराट् उद्भावना की है ! इस प्रकार कालिदास की दृष्टि और रागात्मकता का संचरण-क्षेत्र प्रकृति और मानव से लेकर दिव्य लोकों तक व्याप्त होने के कारण ही उनके बिम्बों में बहुत अधिक विविधता आ गई है। अकेला मेघदूत ही अनेकानेक प्रकार के बिम्बों के सुन्दर निदर्शन प्रस्तुत करने में समर्थ है ।

मेघदूत में विविध विस्तार की योजना के कारण ऐन्द्रियक विषय-बोध का आधार पुष्ट है । यह ऐन्द्रियक विषय-बोध ही भावोद्रेक का आधार बन कर कविता और कला को जन्म देता है ।२ यही कारण है कि मेघदूत में रूप-बिम्बों, ध्वनि-बिम्बों, गन्ध-बिम्बों, रस-बिम्बों और स्पर्श-बिम्बों का सफल समावेश हुआ है । उपर्युक्त सभी प्रकार के बिम्बों के नैसर्गिक तथा उदात्तीकृत (Sublimated) दोनों ही प्रकार के उदाहरण मेघदूत में सुलभ

---

१. दे० १. एभि साधो हृदयनिहितैर्लक्षणैर्लक्षयेथा । मेघ० (उ०, २०)
सं० सुधीर कुमार गुप्त ।
२. तत्सन्देशैर्हृदयनिहितैरागतं त्वत्समीपम् । मेघ० (उ०,३९)
३. प्रायः सर्वो भवति करुणा वृत्तिरार्द्रान्तरात्मा । मेघ० (उ०, ३३)

2. "The essential realism of passion, which cannot live on abstraction, but must have actualities to feed upon, does not absolve a truly passionate poet from the contact of the senses and touch of the earth; but from this his poetry springs Antaeus like in to fuller being." Hist. of Sans. Lit. S. N. Dasgupta and S. K. De. V. I. P. 24

हैं। उदात्तीकृत बिम्बों में भी ऐन्द्रियक विषय-बोध आधार रूप में अधिष्ठित है। कवि की शब्द-शक्ति की पराकाष्ठा तो वहां मालूम पड़ती है, जहां एक-एक पंक्ति में ही गूढ़ भावों के व्यञ्जक बिम्बों को सिमेट लिया गया है। "साभ्रेऽह्नीव स्थलकमलिनीं न प्रबुद्धां न सुप्तां"१ में विरह विकलाङ्गी यक्षिणी की विषमावस्था को, मेघाच्छादित सूर्य वाले दिन में, रात्रि के अभाव से न तो पूर्ण रूप से मुंदी हुई और दिन होते हुए भी सूर्य के न दिखलाई पड़ने के कारण न ही पूर्ण रूप से खिली हुई विषमावस्था वाली स्थलकमलिनी के चित्र में निरूपित किया गया है। इसी प्रकार "जातां मन्ये शिशिरमथितां पद्मिनीं वान्यरूपाम्"२ में विषण्णवदना विरहिणी यक्षिणी का चित्र प्रस्तुत किया है। "राशीभूतः प्रतिदिशमिव त्र्यम्बकस्याट्टहासः३ में स्थूल कैलास पर्वत का चित्र शिवजी के हास्य की सूक्ष्म रेखाओं द्वारा अंकित किया गया है। विरहिणी यक्षिणी की व्याकुलता, उन्मादावस्था और विकलता—सूचक चेष्टाओं का अत्यन्त सजीव एवं सफल चित्र निम्नलिखित पंक्तियों में मिलता है:—

उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणां४
मद्गोत्रांकं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा
तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथंचिद्
भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती ॥

कवि ने "कुन्दक्षेपानुगमधुकरश्रीमुषाम्"५ अर्थात् 'कुन्द के फूलों के हिलने-डुलने का अनुसरण करने वाले भौरों की शोभा को चुराने वाले कह कर दशपुर की स्त्रियों के, मेघ-दर्शन से उत्पन्न कुतूहल के कारण चञ्चल नेत्रों का गत्यात्मक चित्र उपस्थित किया है। यह ही नहीं कालिदास ने लज्जा श्रद्धा, वासना, मानसिक विक्षोभ और असूया आदि सूक्ष्म भावों के भी स्थिर और गत्यात्मक चित्र अंकित किये हैं। पू० मे० (५४) में कवि ने पार्वती की, गंगा के प्रति सपत्नी-भाव से उत्पन्न असूया का चित्रण किया है और साथ ही फेनों द्वारा पार्वती के भ्रूभङ्ग का उपहास करती हुई तथा अपने लहरों रूपी हाथों से शिव का केश-ग्रहण करती हुई

---

१. मेघ० (उ० ३०) सं० सुधीर कुमार गुप्त
२. मेघ० (उ०, २३)
३. मेघ० (पू०, ६२)
४. मेघ० (पू०, २६)
५. मेघ० (पृ०, ५१)

गङ्गा के चित्र में असूया-भाव की प्रतिक्रिया अंकित हुई है । पू० मे० (६६) में गंगा और कैलास के प्रणय का मधुर चित्रण हुआ है । उत्तर मेघ में यक्षिणी की दीनता, विवशता, उदासी और उद्विग्नता के अनेक चित्र सुलभ हैं ।

मेघदूत में रूप-बिम्बों के साथ ही सूक्ष्म गन्धानुभूति का भी समावेश किया गया है । "सद्यः सीरोत्कषण सुरभि क्षेत्र-मारुह्य मालं,१ में कवि ने तुरन्त जोते गये खेतों से उठती हुई गन्ध की अनुभूति व्यक्त की है "तस्यास्तिक्तैर्वनगज-मदैर्वासितं"२ में वन्य हाथियों के मदजल से सुवासित रेवा नदी के जल का उल्लेख हुआ है, साथ ही मदजल की तिक्तता के उल्लेख द्वारा रसानुभूति का भी समावेश किया गया है । पू० मे० (२१) में पृथ्वी की गन्ध का उल्लेख किया गया है । मेघदूत का कवि गन्धानुभूति के सूक्ष्माति-सूक्ष्म रूप के प्रति विशेष सजग प्रतीत होता है । 'गन्धवती' नदी का नाम तो विशेष रूप से गन्धानुभूति के आधार पर ही रखा गया है । 'कुवलयरजोगन्धिभि गन्धवत्याः"३ कह कर कवि ने गन्धवती नदी के गन्धयुक्त स्वरूप को लक्षित किया है ।

रूपात्मक बिम्बों की पूर्णता के लिये कवि ने ध्वनि-बिम्बों का भी सफल सन्निवेश किया है । ध्वनि-बिम्ब का उत्कर्ष निम्नांकित पंक्तियों में दर्शनीय है :—

शब्दायन्ते मधुरमनिलैः कीचकाः पूर्यमाणाः
संसक्ताभिस्त्रिपुरविजयो गीयते किन्नरीभिः।
निर्ह्रादस्ते मुरज इव चेत्कन्दरेषु ध्वनिः स्यात्
संगीतार्थो ननु पशुपतेस्तत्र भावी समग्रः।।(४)

अनेक स्थानों पर कवि ने रूप, गन्ध, ध्वनि, स्पर्श और रस के समन्वित बिम्बों की योजना की है । इस दृष्टि से निम्नांकित श्लोक विशेष उल्लेखनीय है :—

"दीर्घीकुर्वन् पटु मदकलं कूजितं सारसानां
पत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्री किषायः ।
यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिभङ्गानुकूलः
शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थना चाटुकारः ।।५

कहीं-कहीं कवि ने स्पर्श की अनुभूति का भी समावेश करके चित्रों को पूर्णता

---

१. मेघ० (पू०, १६)
२. मेघ० (पू०, २०)
३. मेघ० (पू०, ३७)
४. मेघ० (पू०, ६०)
५. मेघ० (पू०, ३२)

प्रदान की है । स्पर्श करने में कठोर ग्रौर उलझी हुई वेणी को बढ़े हुए नाखूनों से सुलझाती हुई यक्षिणी१ ग्रौर प्रिया के ग्रङ्गों के स्पर्श-सुख की संभावना मात्र से हिमालय पर्वत की ग्रोर से बहने वाली पवनों का ग्रालिङ्गन करने वाले यक्ष२ के चित्रों में स्पर्शानुभूति का सुन्दर समावेश हुग्रा है ।

यहाँ यह विशेष महत्त्वपूर्ण है कि कालिदास का ऐन्द्रियक विषय-बोध ग्रत्यन्त व्यापक एवं सूक्ष्म है । ग्राकार के गठन के साथ ही विविध वर्णों ग्रौर छायातप (Shade) की योजना दर्शनीय है । इस दृष्टि से पूर्वमेघ का वह चित्र उल्लेखनीय है । जिसमें कवि ने चींटियों के भिट्टों की चोटी से निकलते हुए, रत्नों की चमक के सम्मिश्रण से निर्मित सतरङ्गी इन्द्रधनुष का चित्र ग्रंकित किया है ।३ कालिदास को धरती की गन्ध से विशेष मोह मालूम पड़ता है । फूलों में कमल की गन्ध का विशेष उल्लेख हुग्रा है । गन्ध के साथ ही तिक्त, कषाय तथा मधुर रसों का भी समावेश हो गया है । कोमल ग्रौर कठोर दोनों ही प्रकार की ध्वनियों के बिम्बों का मेघदूत में प्राचुर्य है । ध्वनि-बिम्बों में शब्दों की ध्वननशीलता का विशेष ग्राश्रय लिया गया है । कालिदास ने स्पर्शानुभूति को भी समान महत्त्व प्रदान किया है । इसी ग्राधार पर कवि ने ग्रपने सभी नाटकों ग्रौर काव्यों में पात्रों के पारस्परिक ग्रालिङ्गन का ग्रत्यधिक उल्लेख किया है !

विषय-क्षेत्र की दृष्टि से भी ग्रकेले मेघदूत में ही ग्रनेक प्रकार के बिम्ब वर्तमान हैं । प्राकृतिक, भौगोलिक, उपदेश परक, प्रेममूलक, पौराणिक, लोक कथामूलक, मनोवैज्ञानिक ग्रादि विविध प्रकार के बिम्बों की योजना से मेघदूत में जीवन ग्रौर जगत् का बहुरङ्गी विस्तार दृष्टिगत होता है । सम्पूर्ण काव्य के क्रम पर विचार करने से स्पष्ट होगा कि कवि क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म बिम्बों की ग्रोर ग्रग्रसर होता गया है । पूर्वमेघ में प्रकृति का विविध विस्तार है । उत्तरमेघ में सौन्दर्य ग्रौर माधुर्य की मनोहर नगरी ग्रलका में ही प्रकृति के ग्रसीम वैभव एवं सदाबहारी स्वरूप का एकत्र समुच्चय है । तदुपरान्त यक्ष के घर के समीपवर्ती परिवेश में प्रकृति के वापी, रक्ताशोक, केसर, बाल मन्दार वृक्ष , उद्यान मोर, क्रीड़ाशैल ग्रादि चुने हुए प्रतिनिधि स्वरूपों का चित्रण है । इसके बाद यक्ष के विरह के कारण शोभाहीन ग्रौर मलिन यक्ष-गृह का वर्णन है । तत्पश्चात्

---

१. मेघ० (उ०, ३२)
२. मेघ० (उ०, ४७)
३. मेघ० (पू० १५)

विरहिणी यक्षिणी के शारीरिक एवं मानसिक उद्विग्नता सूचक व्यापारों की मर्मस्पर्शी योजना है। अन्त में यक्ष का भाव प्रवण सन्देश है। इस प्रकार मूर्त आधार और भावसत्ता क्रमशः सूक्ष्मता और सघनता की ओर अग्रसर हैं। इस वर्णन-क्रम में कवि को स्थूल से लेकर सूक्ष्म तक के अनेकानेक बिम्बों का काव्य में अंकित करने का अवसर मिल गया है।

बिम्बों की विविधता के मूल में कवि की उर्वरा उद्भावना शक्ति है, जो नित्य नूतन प्रसङ्गों का विधान करती चलती है। यक्ष द्वारा मेघ के लिये कुटज के कुसुमों से अर्घ्य दिये जाने का प्रसंग मेघ-दर्शन से पथिक-वनिताओं की उत्कण्ठा का प्रसंग, आम्रकूट पर्वत द्वारा मेघ के स्वागत का प्रसङ्ग, फूल चुनने वाली स्वेदयुक्त मालिनों का प्रसङ्ग, निर्विन्ध्या की काम-चेष्टाओं का प्रसङ्ग, चाटुकार शिप्रावात का प्रसङ्ग, पार्वती का गंगा के प्रति सपत्नी-भाव का प्रसङ्ग, देवाङ्गनाओं द्वारा मेघ को यन्त्रधारागृह बनाने का प्रसङ्ग आदि ऐसे प्रसङ्ग हैं जिनमें कवि की मौलिक एवं उर्वरा उद्भावना-शक्ति का परिचय मिलता चलता है। कवि ने प्रत्येक श्लोक में किसी न किसी नूतन प्रसङ्ग को रूप, ध्वनि गन्ध, आदि की अनुभूतियों का आधार बना कर अवतरित किया है। अनेक प्रकार के बिम्बों के सफल चित्रण के लिये कवि ने विविध गोचर आलम्बनों के अतिरिक्त अलंकार-योजना संगीत, और छंद का आश्रय लिया है। मन्दाक्रान्ता छन्द का गम्भीर और मन्थर गति वाला सङ्गीत प्रेम की व्यथापूर्ण स्मृतियों के चित्रण में अत्यन्त सहायक सिद्ध हुआ है।[1]

संक्षेप में, कालिदास को मेघदूत में विविध प्रकार के बिम्बों की अवतारणा में अद्भुत सफलता मिली है। इस सफलता के मूल कारण, उनका व्यापक एवं सूक्ष्म ऐन्द्रियक विषय-बोध, व्यापक आत्मीयता और सहज प्रवृत्तिशील संवेदना तथा उर्वरा उद्भावना शक्ति हैं !

○ ○ ○

1. "The Stately and long-drawn-out music of Mandakranta on the other hand, very well suits the picturesque and melancholy recollections of love in Meghaduta.

A. Hist. of Sans. Lit. S. N. Dasgupta and S. K. De. V. I,P. 151

संस्कृत साहित्य में हास्य

○

डा० हरिप्रकाश

संस्कृत विश्व की समस्त भाषाओं की जननी है । संस्कृत साहित्य का भण्डार इतना विपुल है कि उसकी समता के समक्ष किसी इतर भाषा का साहित्य टिक नहीं सकता । पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली के अनुगामी विद्वान् लोगों का कहना है कि संस्कृत में हास्य का नितान्त अभाव है । और जो है भी, वह कुरुचि-पूर्ण है । इस प्रकार के भ्रमपूर्ण विद्वानों का यह कथन सर्वथा गलत है ।

यदि वास्तविकता देखी जाए तो हमें प्रत्येक भाषा के साहित्य में हास्य इतनी मात्रा में नहीं मिलेगा, जितना दूसरे प्रकार के साहित्य में विदेशी दृष्टिकोण से संस्कृत में हास्य ढूंढना उचित नहीं । हमारे यहाँ भारत की अपनी परम्परायें रही हैं । विकृत अंगों वाले मनुष्य पर हंसना हमारी भारतीय परम्परा के विरुद्ध है । यही कारण है कि इस मर्यादा का पालन संस्कृत साहित्य में भी हुआ है । हमने अपने साहित्य में हास्य की सीमा को मर्यादित व सीमित करके रखा है । यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि संस्कृत में हास्य कुरुचिपूर्ण और निम्नकोटि का न होकर गम्भीर एवं उत्कृष्टकोटि का है और साथ ही वह प्रचुर भी है ।

संस्कृत के साहित्य का प्राचीन रूप नाटक कहे जा सकते हैं । वैसे तो ऋग्वेद संसार का आदि ग्रंथ है । उसमें भी हास्य के दर्शन होते हैं । इसमें ऋषियों और मुनियों की मेढ़कों से तुलना की गई है । यहाँ हम नाटकों की बात कर रहे हैं । हास्य पर सबसे प्राचीन ग्रन्थ भरतमुनि का है––'नाट्यशास्त्र' । इसमें वे कहते हैं––
"अथ हास्यो नाम हासस्थायी भावात्मक । स च विकृत परवेषालंकार-धाष्टर्य-लौल्प कुहकासत्प्रलापव्यंगदर्शनदोषोदाहरणादि-भिर्विभावैरुत्पद्यते ।"

अर्थात् हास्य रस का स्थायी भाव है–– हास । यह रस अन्य के विकृतवेष एवं अलंकार, धृष्टता से, लालच से, बाजीगरी से, झूठ बोलने से, विकृत अंगों के दर्शन से तथा दूसरे प्रकार के दोषों के दर्शन से होता है ।

भरतमुनि ने इससे पहले लिखा है कि शृंगार, रौद्र तथा वीभत्स रस ये

चार मुख्य रस हैं। अतः क्रम से हास्य करुण, अद्भुत और भयानक रसों की उत्पत्ति होती है तात्पर्य यह है कि भरत मुनि के नाटकों में कुल आठ रस हैं। वे नवम रस 'शान्त' की गणना नहीं करते। उनका कथन है–"शृंगाराद्धि भवेद्धास्य": (६–३६)। इससे स्पष्ट है कि हास्य को उन्होंने प्रधान रस की मान्यता नहीं दी, अपितु वह शृंगार से उत्पन्न होता है। हमें हास्य के दर्शन नायक-नायिका के वार्तालाप में अथवा विदूषकों की बातों में होते हैं। हास्य रस का मुख्यतः सम्बन्ध शृंगार से ही है।

हमने ऊपर लिखा है कि हमारे संस्कृत साहित्य में हास्य उथला उच्छृंखल और घटिया स्तर का नहीं, बल्कि उसमें गम्भीरता है। भरतमनि ने इस सम्बंध में भी कुछ स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

"स्त्री-नीच-प्रकृतावेव भूयिष्ठं दृश्यते रसः।" अर्थात् यह रस स्त्रियों और निम्न प्रकृति के आदमियों में अधिक देखने को मिलता है। इसलिये हमें 'भाणों' की रचना में अश्लील हास्य दिखाई देता है। संस्कृत में सैंकड़ों भाण हैं। हमारे मत में सम्भवतया 'पद्मप्राभृतक' सर्वोत्तम है। इनमें वेश्याओं तथा उनके घर छिपे हुए धर्मगुरुओं, सचिवों, शिक्षकों आदि का वर्णन किया गया है। इनमें अश्लीलता के खूब दर्शन होते हैं। परन्तु भाणों के कारण सम्पूर्ण साहित्य के हास्य को अश्लील कहना उसके साथ अन्याय करना होगा।

भरतमुनि ने हास्य के दो भेद किये हैं। एक आत्मस्थ और दूसरा परस्थ। जब कोई व्यक्ति स्वयं पर हंसे तो आत्मस्थ और जब दूसरों पर हंसा जाय तो परस्थ। इसके बाद ६ प्रकार और किये हैं। स्मित, हसित, विहसित, उपहसित, अपहसित तथा अति-हसित। स्मित और हसित उत्तम लोगों में, विहसित मध्य प्रकार के व्यक्तियों में और अन्तिम अपहसित तथा अति हसित निकृष्ट अथवा अधम दर्जे के लोगों में देखा जा सकता है।

स्मित में मुस्कान की अवस्था होती है, इसमें दन्तावली का प्रदर्शन नहीं होता है। हसित में दन्तपंक्ति थोड़ी सी अपनी झलक दिखाती है। विहसित में नेत्र सिकुड़ जाते हैं। मुख से आवाज आती है, मुख में लाली आ दौड़ती है। उपहसित में सिर हिलने लगता है, कन्धे सिकुड़ने लगते हैं। उपहसित बिना अवसर की हंसी होती है। नेत्र सजल हो जाते हैं। अतिहसित की अवस्था में नेत्रों से पानी गिरने लगता है, स्वर तेज हो जाता है और हाथों से कटि प्रदेश को दबा दिया जाता है।

हास्य के सम्बन्ध में इतना सूक्ष्म विवेचन भरतमुनि ने आज से सहस्रों वर्ष पूर्व कर दिया था। इससे स्पष्ट है कि

संस्कृत आदि भाषा होने के कारण इसमें ही हास्य का सर्वप्रथम सृजन किया गया ।

चार्वाक का कथन बहुत ही हंसाने वाला है । भारतीय परम्परा पर वे हास्य के द्वारा चोट करते दीखते हैं । प्रतिवर्ष हमारे भारत में पितरों के लिये श्राद्ध किया जाता है । इन श्राद्धों की चार्वाक ने खिल्ली उड़ाई है । चार्वाक कहते हैं—"मरा हुआ आदमी भला क्या खायेगा ? यदि एक व्यक्ति का खाया आ अन्न दूसरे व्यक्ति के पेट में चला जाता है तो परदेश जाने वाले के लिये श्राद्ध करना चाहिए, जिससे उनको मार्ग के लिये भोजन बांधने की कोई ज़रूरत नहीं ।"

आदि कवि बाल्मीकि का हास्य बहुत शिष्ट एवं मनोहर है । उन्होंने अपनी 'बाल्मीकि रामायण' के नवम सर्ग में मंथरा के कुचक्र में फंस जाने के बाद कैकेयी के द्वारा उस कुबड़ी की सुन्दरता, बुद्धि वेशभूषा और मटकीली चाल की जो व्याजस्तुति कराई है वह अत्यधिक मोहक है । कैकेयी कहती है—

नाहं समवबुध्येयं कुब्जे राज्ञश्चिकीर्षितम् ।
संति दुःसंस्थिताः कुब्जे वक्राः परमपापिकाः ।।

—हे कुब्जे ! मैं राजा (दशरथ) की करनी को नहीं समझ सकी थी । इस दुनिया में बहुत वक्र (कुटिल) और पापी लोग हैं ।

त्वं पद्ममिव वातेन सुनत प्रिय दर्शना ।
उरस्तेमिनिविष्टं वै यावत एकंधातसमुन्नतम्

—(मंथरे), तू वायु से नत कमल की भांति देखने में बहुत सुन्दर है । तेरा हृदय उन्नत है ।

अधस्ताच्चोदरं शान्तं सुनाममिव लज्जितम् ।
प्रतिपूर्णं च जघनं सुपीनौं च पयोधरौ ।।

—स्तनों की उन्नतावस्था देख कर सुन्दर नाभियुक्त उदर शरमा कर चुप है । जघन स्थल खूब अच्छी तरह भरा हुआ है, पयोधर पीन हैं ।

विमलेन्दुसमं वक्त्रमहो राजसि मंथरे ।
जघनं तव निर्भृष्टं रशनादामभूषितम् ।।

—निर्मल चन्द्र के समान तेरा मुखड़ा है । तेरा जघन भी चिकना, रोम रहित है वह करधनी से छविमान है ।

जंघे भृशमुपन्यस्ते पादो च व्यायतावुभौ
स्वमायताभ्यां सक्थिनभ्यां मंथरे सौम-वासिनि ।।
अग्रतो मम गच्छन्ति राजहंसीव राजसे
आसन्या। शबरे मायाः सहस्त्रभसुराधिपे

—हे मन्थरे ! जांघें भरी हुई होने के कारण ऐसा लगता है कि एक दूसरे से लगी ही जाती है । अर्थात् बहुत सुन्दर लग रही हैं । दोनों पैर लम्बे हैं । तू क्षौम वस्त्राभूषित है, जिस समय तू चौड़ी पिण्डलियों तक रेशमी साड़ी पहन कर मेरे सामने होकर गुजरती है उस समय तू राजहंसी की तरह ही आकर्षक लगती है । और

अभिषिक्ते च भरते राधवे च वनं गते ।
जात्येन च सुवर्णेन सुनिष्टप्तेन सुन्दरि ।।

—हे सुन्दरि ! भरत को राज्य-प्राप्ति पर तथा राम के बनवास होने पर मैं तेरे कूबड़ को बहुत अधिक तपे हुए स्वर्णिम पत्रों के द्वारा तुरन्त ढक दूंगी !"

स्वार्थ में अन्धी कैकेयी को कुब्ज़ा-मंथरा अत्यन्त प्रिय लगने लगी । कुरूप मन्थरा भी उसे रूपलावण्यमय दीखने लगी कैकेयी के मुख से बाल्मीकि ने इस प्रकार का वर्णन कराया है , जो बहुत ही सुन्दर बन पड़ा है ।

महाभारत में हास्य के अनेक स्थल हैं। महाभारत का जन-जीवन से अविच्छिन्न और निकट का सम्बन्ध है । इसलिये इसमें प्रचुर मात्रा में हास्य बिखरा पड़ा है । पाठक इन हास्य पिच्छल स्थलों को पढ़ कर हास्य के आह्लादकारी मनोरम संसार में जाकर लौटने की सुध खो बैठता है । अश्वनीकुमारों का सुकन्या को भ्रम में डालना, गौतम के वेष में इन्द्र का अहिल्या से रमण करना, स्त्री शिखण्डिनी का पुरुष वेष में राजपुत्री से व्याह करना आदि प्रसंग सब मनोरंजक हैं । यह स्थल विशेषतः उल्लेखनीय है कि जब और जहां पाण्डवों के राजसूय यज्ञ में दुर्योधन आता है तथा उसे जल में स्थल का और स्थल में जल का भ्रम होता है । इस मजाक के ही परिणाम स्वरूप उसके हृदय को आग लग गई । इसी घटना के पश्चात् उसने घोषणा की—"सूच्याग्रं न दास्यामि विना युद्धेन भारत ।" पुराणों में यत्र-तत्र सर्वत्र इस प्रकार के हास्य-व्यंग्य के अनेक स्थल भरे पड़े हैं । नारद-मोह का प्रसंग तो सर्वविदित और बहुचर्चित है ही । कालिदास, भारवि, माघ, रत्नाकर, हर्ष आदि के महाकाव्यों में हास्य के दर्शन होते हैं ।

अब हम नाटकों में हास्य क दर्शन करते हैं (करेंगे) । महाकाव्यों की अपेक्षा हास्य माला में तो कम गुण में अधिक है ।

संस्कृत के प्राचीनतम नाटककार 'भास' माने जाते हैं । उन्होंने १३ नाटक लिखे हैं । इसमें हास्य रस का काफी समावेश हुआ है । इसीलिये तो भास को कविता-कामिनी का हास कहते हैं :—"भासो हासः कवि–कुलगुरुः कालीदासो विलासः ।" इनके नाटकों का विदूषक गंवारपने का परिहास नहीं करता । भास के लगभग सभी नाटकों का हिन्दी में अनुवाद हो चुका है ।

इसके बाद 'मृच्छकटिक' नाटक के रचयिता शूद्रक का नाम आता है । इस नाटक में विदूषक और शकार, ये दो पात्र हास्यरस की सृष्टि करते हैं । इनके हास्य में तनिक भी दोष नहीं है । बहुत ऊंचे स्तर का हास्य है । अश्लीलता ढूंढने पर भी नहीं मिलती । शकार एक स्थान पर कहता है– 'हाँ मैं सुगन्ध को सुन रहा हूँ । शब्दों को देख रहा हूँ ।' एक दूसरे स्थान पर कहने लगता है—"हे वेश्या ! तू वंश को नाश कर देने वाली

है, धनहर्त्री है शील को खराब करने वाली है ! अरे ! इतने नामों के द्वारा तेरी स्तुति की, फिर भी तू प्रसन्न नहीं होती ।"

विदूषक भी बहुत सुन्दर हास्य की सृष्टि करता है । 'मृच्छकटिक' की रचना ईसा से तृतीय शताब्दी पूर्व हुई थी ।

कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' 'विक्रमोर्वशीय' तथा मालविकाग्निमित्रम्' ये तीन नाटक हैं । वैसे तो इन तीनों में हास्य है किन्तु 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में सर्वश्रेष्ठ हास्य है । प्रायः संस्कृत नाटकों में विदूषक पेटू होते हैं । उन्हें भोजन की भूख बहुत और क्षण-क्षण में तड़पाती है। अपनी तोंद पर हाथ फेरकर वे भोजन की याचना करते हैं—चर्चा करते हैं । परन्तु 'शाकुन्तल' का विदूषक कोरा पेटू नहीं, अपितु वह सामाजिक एवं राजनैतिक सूझबूझ भी रखता है । किसी किसी स्थान पर बड़ा तीखा व्यंग्य भी करता है ।

सुप्रसिद्ध सम्राट् हर्ष के 'प्रियदर्शिका', 'रत्नावली' एवं 'नागानन्द' ये नाटक विशेषतया उल्लेख्य हैं । तीनों में सुन्दर हास्य है । नागानन्द में नायक-नायिका के मिलन की घटना ही हास्य को बिखेरने लगती है ।

भवभूति की गणना संस्कृत के शीर्षस्थ नाटककारों में की जाती है । उनके द्वारा रचित तीन नाटक हमारे सामने आये हैं—१ महावीर चरित, २—मालती माधव, ३—उत्तररामचरित । इन तीनों नाटकों में भी हास्य के उत्तम कोटि के स्थल हैं । 'उत्तररामचरित' में एक स्थान पर राम, सीता और लक्ष्मण कुछ चित्रों की झांकी देख रहे हैं । लक्ष्मण उन चित्रों का परिचय करा रहे हैं । उन चित्रों में लक्ष्मण की सहधर्मिणी का भी एक चित्र है । लक्ष्मण उसका परिचय न करा कर आगे बढ़ जाते हैं । तो उस समय सीता जी प्रश्न करती हैं "वत्स, यह कौन हैं ?" लक्ष्मण बेचारे शर्मिन्दा से होकर मुंह फेर लेते हैं । भाभी ने देवर के साथ कितना मार्मिक मज़ाक किया है । इस तरह के अनेक हृदयस्पर्शी प्रसंग हमें इसमें देखने को मिलते हैं ।

कर्पूरमंजरी तथा विद्धशालभंजिका के रचनाकार राजशेखर नौवीं शताब्दी के हैं । इनका संस्कृत पर पूर्ण अधिकार था । बड़े रसिक थे और घुमक्कड़ के रूप में भी वे बहुत विख्यात थे । कर्पूरमंजरी प्राकृत में लिखा हुआ है । भले ही हास्य इसमें इतना उच्चकोटि का नहीं है, किन्तु मौलिक उपमाओं की रमणीय योजना प्रशंसनीय है । रानी की एक परिचारिका और विदूषक के वार्तालाप को पढ़िये :—

विदूषक :—अरे मैं ही तुम्हारे समक्ष कालाक्षरिक हूँ (काला अक्षर जानने वाला हूँ) मेरे श्वसुर के श्वसुर पराये घरों में पोथियां ढोते रहते थे ।

चेरी :—तब तो तुम्हारी विद्वत्ता परम्परागत है ।

विदूषक:––अयि भविष्य की कुटनि ! क्या मैं इस तरह का मूर्ख हूँ कि तू भी हंस जाय? अरे दूसरे के पुत्रों को भ्रष्ट करने वाली ! परम्परा क्या विद्वत्ता पर दोष लगाने वाली है ?

चेरी :–तेरी कविता इस तरह की है जिस तरह लम्बस्तनी के कण्ठ में माला तोन्दवाली की कंचुकी, कानी का काजल ।

विदूषक :—युधिष्ठिर का जो बड़ा (कर्ण अथवा कान) है उसको मैं उखाड़ दूंगा तेरा कान काट डालूंगा ।

चेरी :––"उत्तरा फाल्गुनी के पहले वाला हाथ मैं तेरा तोड़ डालूंगी ।"

गद्यग्रन्थ ५०० से ७०० ईसवी के मध्यकाल का दण्डी द्वारा कृत 'दशकुमार चरित' प्रख्यात है । इसको आद्योपान्त पढ़ने से ज्ञात होता है कि इसमें सामाजिक कुरीतियों और दुष्टाचारों की पोल खोली है । दुराचारों का भण्डाफोड़ करते हुए समस्त ग्रन्थ में विनोद-व्यंग्य के मोती नयनाभिराम मनकों की भान्ति विखरे पड़े हैं ।

७वीं शताब्दी में वाणभट्ट के हर्षचरित में तीव्र व्यंग्यों की वर्षा होती दिखाई पड़ती है । 'कादम्बरी' में एक चण्डिका के मन्दिर में रहने वाले किसी एक बूढ़े द्रविड़ का वर्णन किया है । इस प्रसंग में हास्य-व्यंग्य अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच कर अप्रतिम है। इसका एक अंश लीजिये—

"किसी कौतुकी द्वारा प्रदत्त अंजन लगाने से उसकी एक आंख जाती रही । दूसरी आंख बरकरार और निर्मल रखने के लिये अंजन लगाने के निमित्त वह एक शलाखा को चिकना करता था । उसके दान्त बड़े-बड़े थे । उनको खूबसूरत करने के लिये वह कड़वी लौकी का रस लगाता था । कोयले को हरे पत्तों के रस में पीस कर उसने स्याही बनाई थी, जिसको एक सीप में लिये हुए रहता था । यक्ष-कन्याओं से सहवास करने की उसे बहुत लालसा थी । लौकी (तूंबे) की वीणा को वह बजाया करता था उसकी ध्वनि को सुन कर बटोही उससे दूर चले जाते थे । वह तुरंग ब्रह्मचारी था । उस मन्दिर में आई हुई वृद्ध तपस्विनियों पर वशीकरण का चूर्ण छिड़काया करता (ईर्षालु होने के कारण) जब वह किसी तपस्वी का सम्मान होते देखता तो अपने गले में फांसी लगाने लगता था । एक दिन फलों को तोड़ते समय बन्दरों ने उसकी नाक नोच डाली थी । बारहमास उसको टूटी–फूटी खाट पर बैठा कर मधुक्रीड़ा करने वाले किसी दासी के साथ व्याह कराने ले जाते थे । वह काले कम्बल का टुकड़ा सिर पर धारण किये रहता था ।"

'पंचतंत्र' की कहानियां बड़ी लोकप्रिय और प्रसिद्ध हुई हैं । इसमें अनेक कहानियां हास्य से भरी पड़ी हैं । इस ग्रन्थ की रचना ५५० ई० से भी पूर्व हुई थी ।

'साहित्यदर्पण में ग्राचार्य विश्वनाथ ने हास्य का निम्नस्थित उदाहरण दिया है।

"गुरोर्गिरः पंचदिनान्यधीत्य,
वेदान्तशास्त्राणि दिन त्रयंच,
ग्रमी समाध्राय च तर्कवादान्,
समागताः कुक्कुटमिश्रपादाः ।"

(देखिए ग्रापके सम्मुख कुक्कुट मिश्र पधारे हैं। इन्होंने गुरु से केवल पांच दिन शिक्षा ग्रहण की है। समस्त वेदान्त शास्त्र तीन दिन में पढ़ा है तथा तर्कशास्त्र को तो फल की तरह सूंघ डाला है।)

सुभाषित के रूप में हास्ययुक्त छन्दों के नमूने लीजिये।

वृद्धावस्था भी हनुमानगढ़ी के जानवरों के समान होती है। हिन्दी के ग्रलमस्त कवि केशव को स्नान करती नवयौवनाग्रों ने 'बाबा' कह कर सम्बोधित किया तो बेचारे केशव मन मार कर रह गये। उनको बुढ़ापे में 'बाबा' शब्द सुनकर ग्रत्यन्त मानसिक पीड़ा हुई थी ठीक इसी प्रकार दो सीढ़ियां ग्रौर चढ़ कर एक रंगीला वृद्ध क्या कहता है, सुनिये :—

"शुभ्राश्चमें शिरसिजास्त्रिवली कपोले,
दन्तावलिर्विगलिता न च में विषाद, ।
हरणीदृशो युवतयः पथि मां विलोक्य,
तातेति भाषणपराः खलुवज्रपातः ।"

—"क्या करूँ? सिर के बाल श्वेत हो गये गालों पर झुर्रियां पड़ गईं, दांत टूट गये लेकिन इन सब बातों का मुझे तनिक भी दुःख नहीं है। हां, मार्ग में चलते समय जब वामलोचनाएं पूछ बैठती हैं—'बाबा' किधर चले हो (क्या बताऊं), तो उन मृगनयनियों का पूछना मेरे ऊपर वज्र के समान गिरता है।"

ग्रब लीजिये एक ग्रौर सुभाषित जवाईं लाल (जामाता) के प्रति श्रद्धांजलि के रूप में :—

"सदावक्रः सदाक्रूरः सदापूजामपेक्षते,
कन्यारा शिस्थितो नित्यः जामाता दशमो-ग्रहः ।"

—दामाद दसवां ग्रह है। वह हमेशा वक्र एवं क्रूर रहता है। सदा पूजा की इच्छा करता है। तथा सदैव कन्या राशि पर स्थित रहता है। सुभाषित के ग्रनन्तर ग्रब हमारी पहेलियां ग्राप पढ़ कर चटपट उत्तर दीजिये। पहेली इस प्रकार है।

"ग्रपदो दूरगामी च साक्षरो न च पण्डितः।
ग्रमुखः स्फुटवक्ता च यो जानति स पण्डितः।।

—उसके पांव नहीं हैं लेकिन दूर-दूर तक जाता है, पढ़ा लिखा है किन्तु विद्वान् नहीं, बिना मुंह का है किन्तु साफ-साफ बोलता है। जो इस पहेली को बतायेगा वही विद्वान् कहला जायेगा। ग्रच्छा, हम पाठकों को क्यों विद्वान् बनने का स्वर्णिम ग्रवसर दें। स्वयं को ही विद्वान् कहलवाना चाहिए। ग्रब लीजिये उत्तर—"पत्र।"

दूसरी पहेली सुनियेगा :—

"वृक्षाग्रवासी न च पक्षिराजः
त्रिनेत्रधारी न च शंकरोऽयम् ।

त्वग्वस्त्रधारी न च सिद्ध योगी,
जलं च बिभ्रन् न घटो न मेघः॥"

—वृक्ष के शिखर पर रहता है, किन्तु पक्षिराज (गरुड़) नहीं है। तीन आंखें हैं पर शंकर भगवान् नहीं। वृक्षों की छालों से बना वस्त्र धारण करता है, किन्तु योगी नहीं, पाठकों को मानसिक और मस्तिष्क की कसरत न करनी पड़े इसलिये कहे देता हूँ—"जटा-नारियल।"

एक पहेली है, जो आपके मस्तिष्क के अखाड़े को खूब अच्छी तरह कुरेद डालेगी, परन्तु मैं आपको कष्ट नहीं देना चाहूँगा :—

"अस्ति ग्रीवा शिरो नास्ति
द्वे भुजे कर-वर्जिते
सीता-हरण सामर्थ्यो न रामो
न च रावणः।"

— गला तो है, लेकिन सिर नहीं है, दो भुजाएं हैं, पर हाथ नहीं हैं। उसमें क्षमता इतनी है कि सीता को भी हरले, किन्तु न राम है और न रावण।" उत्तर है ब्लाउज़' या 'स्वेटर' अधिक आराम खोरी न कीजिये। दिमाग लड़ाइए इसके साथ। कैसे हुआ 'ब्लाउज' या स्वेटर?

"पैरोड़ियाँ"

पैरोडियां लिखने का प्रारम्भ संस्कृत-साहित्य में सैकड़ों वर्ष पूर्व हो चुका है? आधुनिक काल में पैरोडियां पर्याप्त मात्रा में लिखी जा रही हैं।

रोहतक के श्री रमेशचन्द्र शास्त्री 'शालिहास' संस्कृत में पैरोडियां लिखते हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपनी कविताओं का उद्देश्य 'स्वांतः सुखाय तुलसी रघुनाथ-गाथा' के रूप में प्रकट किया है, तो शास्त्री जी क्या फरमाते हैं:—

"स्वांतः सुखाय खलु 'बीबि' नुतिं तनोति।
हास्यार्थमेव मुददा कवि शालिहासः॥"

—"शालिहास" अपने मन का प्रसन्न करने के लिये और दूसरे सब लोगों को हंसाने के लिये आनन्दप्रदायिनी अपनी बीवी की स्तुति करता है।

महाकवि कालीदास ने अपने रघुवंश के सर्वप्रथम श्लोक में शिवपार्वती की वन्दना की है। उसने लिखा है —

"वागार्थाविवसंपृक्तौ वागर्थ प्रतिपत्तये।"

किन्तु इस श्लोक की पैरोडी देखिए :—

"वणिगर्थाविवापृक्तौ, हास्यस्य प्रतिपत्तये।
युगस्थ पितरौ वन्दे बाबू-बीबी स्वरूपिणौ।"

—मैं हास्य को प्राप्त करने के लिये बाबू—बीवी रूप वाले इस युग के माता-पिताओं की वन्दना करता हूँ। जो बनिये के धन की तरह हमेशा अमिलित अवस्था में रहते हैं।

एक और पैरोडी लीजिये :—

"सुनील-नर्गीसौ" वन्दे पति-पत्नी—
स्वरूपिणौ,
याभ्यां बिना न पश्यन्ति जना :
"फिल्म" स्थमीश्वरम्॥"

इसका अर्थ आप पाठकों पर ही छोड़ता हूँ। ○ ○ ○

अब्दुल रहमान कृत--

संदेश रासक में शृँगार वर्णन

○

कृष्ण दत्त शर्मा

हिन्दी साहित्य रूपी उषा के प्रांगण से जहां एक ओर मैथिली कोकिल विद्यापति की आभामय किरण ज्योतित हुई वहां उसी के गर्भ से पूर्व लालिमामय रूप को धारण कर मुलतान नामक नगर में हिन्दी साहित्य के प्रथम सन्देश काव्य संदेश रासक के रचयिता अब्दुल रहमान का आविर्भाव हुआ। जिसने अधिक मात्रा में 'रासा' छन्द का प्रयोग करते हुए प्रकृति के माध्यम से शृंगार रस में गहन अनुभूति उत्पन्न करने वाले, नायिका के विरह निवेदन को ही प्रमुखता प्रदान की है। विप्रलम्भ शृंगार का इतना अनूठा वर्णन हिन्दी साहित्य की इस प्रारम्भिक अवस्था में इतना मार्मिक वन पाया है कि नारी के हृदय में उत्पन्न होने वाली प्रत्येक अनुभूति क्रमानुसार स्वयं मानस के चित्र-पटल पर चलती हुई दिखाई देती है। इस आधार पर शृंगार वर्णन में काव्य उत्कृष्ट कोटि की रचना वन पाई है और विशेष कर उस अवस्था में, जबकि नायिका वर्षभर के वियोग का चित्रण कर पथिक के हृदय की कोमल भावनाओं को सहानुभूति के उद्गारों से परिपूर्ण करने में सफल होती है और. खम्भात की ओर प्रस्थान करने वाले पथिक को संदेश की सफलता के लिये शुभाशीर्वाद देकर जब ही नायिका विदा करती है तब ही कुछ क्षणों के अन्तर से पीछे घूम कर देखने में जिस विरहिणी के तप्त वियोग का अन्त होकर उसकी शृंगारिक भावनाओं के आधार उसके प्रियतम के दर्शन होते हैं, यह चित्रण सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य में ही नहीं अपितु विश्व-साहित्य में भी अपनी अद्वितीयता को स्थापित करता है। नितान्त वियोग शृंगार से परिपूर्ण तीसरे प्रक्रम: का अन्त प्रेमी और प्रेमिका के प्रेम मिलन की अनुभूति में होता है। इसने काव्य की प्रतिष्ठा को और भी उज्ज्वल बना दिया है।

संदेश रासक का सम्पूर्ण तीसरा प्रक्रम विरह की ज्वालाओं से धधकता हुआ दिखाई पड़ता है जिसमें एक पीयूष पति का वियोगिनी नारी के हृदय

की उच्छ्वास के रूप में धुआं निकलता स्पष्ट लक्षित होता है। इस कारण संदेश रासक एक विप्रलम्भ शृंगार प्रधान काव्य है, जिसमें उच्चकोटि के स्वाभाविक विरह वर्णन का निरूपण हो पाया है। इस दृष्टि से अपने काव्य रस का परिचय देते हुए अब्दुल रहमान ने स्वयं ही अपने काव्य के आरम्भ में स्पष्ट कर दिया है कि यह सन्देश रासक अनुरागियों का प्रेम-स्थल, कामियों का मन हरने वाला, कामदेव की महत्ता को स्पष्ट करने वाला, विरहिणियों के लिये मकरध्वज और रसिकों के लिये विशुद्ध रस संजीवक है। इस तथ्य निरूपण के पश्चात् इस दृष्टि से किसी भी अन्य भाव की पुष्टि की आवश्यकता नहीं पड़ती। तो भी सन्देश रासक के विप्रलम्भ शृंगार की प्रत्येक पंक्ति नारी के कोमल हृदय की परिचायक होते हुए भी उपालम्भ का सहारा लेकर अपने उस कठोर पति के प्रति, उसके द्वारा अवहेलना के व्यवहार के प्रति सदा जागरुक रहती हुई उसके अनुरूप भावों का स्पष्टीकरण करती है। नारी के हृदय का उत्पीड़न स्पष्ट करने में जहां एक ओर अब्दुल रहमान ने विशेष चातुरी का परिचय दिया है वहां दूसरी ओर विरह पक्ष की एक कड़ी को भी कहीं उदात्मकता के भावों को लेशमात्र छू लगने नहीं पाया।

सन्देश रासक के लेखक ने एक ही पद्यांश में नारी के सम्पूर्ण शरीर की आभा का चित्रण कर, पति वियोग में वही सुन्दर शरीर शिथिलता की किस सीमा को पहुंच गया है, इसका वर्णन करते हुए जिन नाटकीय भावों का चित्रण लेखक कर पाया है वह अत्यन्त मौलिक और मार्मिक है :—

—विजय नयरहु कवि वररमणि,
उत्तंगथिर थोरथणि विरड़लक्कि,
धयरट्ठ पउहरि।
दीणाणहि पहुणिहई, जल प्रवाह पवहंति
दीहरि।
विरहग्गिहि कणयंगितणु तह सामलिम
पवन्नु।
णज्जइ राहि विडंबिअउ ताराहिवइ
सउन्नु ।।२४।।

अर्थात्—विजय नगर की कोई ऐसी सुन्दरी रमणी जो ऊंचे स्थिर और स्थूल स्तनों वाली है, जिसकी कटि भिड़ के समान पतली है, जिसकी गति हंस के समान है, और जिसका मुख मलीन हो गया है, वह बहुत अधिक आंसुओं के कण प्रवाहित करती हुई मार्ग की ओर निहार रही है। स्वर्ण के समान अंगों वाली उस स्त्री का शरीर इतना विरह ज्वाला के कारण कालिमामय हो गया है और वह ऐसा मालूम होता है कि मानों राहू के द्वारा चन्द्रमा को पूर्ण रूप से ग्रसित कर लिया गया हो।

विरहणी नायिका के अंगों का चित्रण करने में अब्दुल रहमान को विशेष सफलता

प्राप्त हुई है। विरह अग्नि में जलती हुई नारी के केवल नख-शिख का ही नहीं अपितु उसके मुखारविन्द पर घटित होने वाली विरह की रेखाओं का इतना सजीव चित्रण हो पाया है, जिसके आधार पर नारी में विरह का मानवीकरण हो गया है--

फुसई लोचन रूवई दुक्खत,
धीमल्ल पमुकक मुह विज्जंभई अणु अंग भोउइ।
विरहनलि संतबिआ, ससई दीह करसाह तीउइ ॥

अर्थात् —वह नायिका रोती हुई आँखों से आंसू पोंछ रही है और दुख से आर्त होकर रो रही है। उसकी बिखरी हुई लटें मुख पर छाई हुई हैं। वह जम्हाई लेती है, अपने कोमल अंगों से अंगड़ाई लेती है, विरहानल से दुखी होने के कारण वह लम्बी लम्बी ठण्डी साँसे लेती है और उंगलियों को तोड़ती है।

विरहावस्था में नारी की कोमलता का चित्रण, उदात्मकता से दूर रह कर, कर सकना अब्दुल रहमान की मुख्य विशेषता है। नारी की तीव्र गति के कारण, उसके शरीर पर धारण की हुई वस्तुओं के घात तक का चित्रण करना उसकी कोमलता को चार चांद लगाने में ही सहायक होता है।

तह मण्हर चल्लंतिय चंचल रमणमरि।
छूडावि खिसिय रसणावलि किंकिण-रव पसरि।
त जल मेहल ठवई गंठि णिटठुर सुहाय,
तुडिय ताव थूलावलि णवसरहारलय।
सा तिवि संवारि विच इवि किवि संचरिय।
णेवर चरण विलग्गिवितह पहि पंखु डिय।।

अर्थात्—तेज़ी से गति धारण करने के परिणाम स्वरूप उस विरहिणी नायिका के चंचल रमण भार से करधनी छूट कर गिर पड़ी और उसकी किंकिणियों का स्वर चारों ओर फैल गया। जब उस सुभगा ने टूटी करधनी को सुदृढ़ गाँठ बाँध कर ठीक किया ही था कि तब तक उसकी स्थूल मोतियों वाली नवीन हार लता टूट गई। ज्यों त्यों कुछ उठा कर, कुछ छोड़ कर वह आगे चली ही थी कि पैरों में फंस कर रास्ते में नूपुर टूट गया।

जब नायिका पथिक को सन्देश देने के लिये कुछ समय ठहरने की प्रार्थना करती है तो पथिक मार्ग की दूरी के कारण विह्वल हो जाता है तब कवि ने पथिक के हृदय में करुणा उत्पन्न करने के लिये विरहिणी नारी का चित्रण कर पथिक को नारी का सन्देश सुनने को बाध्य किया है।

जब विरहिणी सन्देश कथन की भूमिका देती है तो नारी के वियोग-मय भावों में स्त्री हृदय की परवशता, व्याकुलता एवं विदग्धता एक साथ मुखरित हो उठी है -- एक पत्नी के द्वारा अपने प्रियतम के कोमल मनोभावों को छूने

वाली बात इससे बढ़ कर ग्रौर क्या कही जा सकती है :--

--गरुवउ परिहवु कि न सहउ,
पई पोरिस निल एण ।
जिहि ग्रंगिहि तू विलसिया,
ते दद्धा विरहेण ।।

ग्रर्थात–तुम्हारे जैसे पौरुष सम्पन्न पति के रहते हुए मैं ऐसा पराभव कैसे न सहूँ ? जिन ग्रंगों के साथ तुमने विलास किया है ग्राज वही ग्रंग विरह द्वारा जलाए जा रहे हैं ।

किसी पुरुष के लिये उसके पौरुष को चुनौती देने से बढ़ कर ग्रौर क्या बात हो सकती है । पथिक को संदेश कहते कहते विरहिणी इतनी व्याकुल हो जाती है कि उसकी ग्राँखों से बहने वाले ग्राँसुग्रों को देख कर पथिक से उसके ग्रांसुग्रों के भार को सहा नहीं गया ग्रौर कहता है कि हे देवि ! किसी प्रकार ग्रपने ग्रांसुग्रों को रोको ग्रौर जाते हुए पथिक का ग्रमंगल न करो । इतना सुन कर विरहिणी ग्रत्यन्त सरल एवं कोमल शब्दों में कहती है :--

"मई न रुन्नु विरहग्गि धूम लोयण सबणु"

ग्रर्थात् मैं थोड़े ही रो रही हूँ, यह तो विरहाग्नि के धूएं से ग्रांखे सजल हो ग्राई हैं ।

विरहिणी नायिका के हृदय उद्‌गारों का चित्रण उसके रूप लावण्य के ग्राधार पर कवि ने महती विद्वत्ता का परिचय दिया है। श्री विश्वानाथ त्रिपाठी के शब्दों में, "-- सन्देश रासक में यद्यपि विरह के ग्रन्तर्गत शारीरिक दशाग्रों का ही वर्णन ग्रधिक हुग्रा है, किन्तु कवि ने उसे इतने मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया है कि वह हृदय में बहुत दूर जाकर गहरी संवेदना को जगाता है । बाह्य व्यापारों को चित्रित करने में भी संदेश रासक की पदावली ग्रत्यन्त प्रभावशालिनी है । कवि की भाव प्रेरित ग्रनुभूति-स्वादित वाणी सीध ग्रन्तस्तल तक पहुंचे बिना बीच में रुकना नहीं जानती । कारण यह है कि ग्रद्दहमान (ग्रब्दुल रहमान) ने सदैव स्वाभाविकता ग्रौर मार्मिकता का ध्यान रखा । साधारण कवियों की भान्ति वे चमत्कार के लोभ में नहीं पड़े ।

प्रकृति वर्णन के माध्यम से विरह निरूपण–

किसी भी काव्य में प्रकृति चित्रण दो रूपों में होता है । प्रथम कवि प्रकृति का स्वतन्त्र ग्रालम्बन के रूप में प्रयोग करते हैं किन्तु वहां कवि मानव हृदय के उद्‌गारों का प्रकृति में मानवीय करण कर उसका स्वतन्त्र रूप से ही चित्रण कर पाता है । किन्तु प्रकृति का दूसरा रूप कवियों के लिये ग्रधिक प्रयोग का साधन है जिसमें प्रकृति का साधन नायक ग्रथवा नायिका के भावों के उत्तेजक रूप में किया जाता है । ग्रब्दुल रहमान ने भी प्रकृति का दूसरे रूप में प्रयोग किया है । विरहिणी नायिका के जीवन की एक वर्ष की विरहा-वस्था को ऋतु वर्णन के ग्रन्तर्गत प्रकृति

वर्णन कर उसका लेखक ने सफल निरूपण किया है। लालसा भरी दृष्टि से प्रेयसी का अपने पति के लिये संदेश सुनते सुनते तथा उसकी करुणामय अवस्था का दिग्दर्शन करते हुए पथिक ने जब नायिका से पूछ ही लिया कि आपने एक वर्ष की विरहावस्था का चित्रण किया। संदेश रासक के तृतीय प्रक्रम को यदि प्रकृति वर्णन अंक ही कह दिया जाए तो किञ्चित मात्र भी अत्युक्ति न होगी। ग्रीष्म ऋतु से लेकर वसन्त तक के वर्णन में विरहिणी पर क्या-क्या बीता, उसका सम्पूर्ण चित्रण श्रेष्ठ पूर्वक करने में अब्दुल रहमान जैसा श्रेष्ठ कवि सफल न हो, यह किंचित् मात्र भी आशा नहीं की जा सकती। सभी ऋतुओं में नायिका की विरहाग्नि किस प्रकार प्रज्वलित होती हुई दिखाई गई है, इसका एक उदाहरण देखिए --

ग्रीष्म वर्णन--

पिउ चाव इहिं मणिज्जइ नवधन करवरिंहिं,
सलिल निबहु तुच्छच्छउ सरइ तरंगिणिंहि।
फल हारिण उन्नमियउ अईसच्छ यइ सुहि,
कुंजर सवण सरिच्छ पहल्लिट गंध वहि ॥
तह पतिह संसग्गिहि चूपांक रिवरिय,
करि पंति परिवस यइ णिवउ णिरंतरिय।
लई पल्लव झुल्लंति समुट्ठिय करुणा झुणि,
हउ किय णिस्साहार पहिय साहारवणि ॥

अर्थात्--नवीन बादलों की लालसा से चातक "पियू, पियू" शब्द करते हैं। नदियों का जल साफ, सुन्दर एवं पतला होकर बहता है। सहकार वन में आम के वृक्ष फलों के भार से झुक गये और अधिक सुन्दर लगने लगे। हाथियों के कान जैसे हिलते हुए गंधव व पत्तों के साथ सटी हुई तोतों की पंक्तियां बैठी हुई हैं और वे तोते पत्तों के साथ झूलते हैं तो करुण ध्वनि उठती है। पथिक ! सहकार वन ने मुझे बे सहारा कर दिया।

वर्षा वर्णन--

ग्रीष्म ऋतु के समान वर्षा वर्णन भी विरहिणी नायिका के लिये दग्धकारी है। आकाश मेघाच्छन्न हो, मोर पायलें डाल रहे हो, तड़ तड़ करती चपला क्या नारी के अन्तस्थल में प्रिय-मिलन के भावों को साकार जगा नहीं देती, इसका सजीव चित्रण कवि इन पंक्तियों में सफलता पूर्वक कर पाया है :--

झंपवि तम बद्धलनदसह दिसि छायउ अबेरु
उन्नवियउ धुरहुरइं घोरू घणु किस नाउंबरू।।
णहहा मग्गि णहबल्लि तरल तडय डिवि तडक्कई ।
दहुर रउणु रउद्द कुवि सहविण सक्कइं
निबउ निरन्तर नीर हर दुद्धर धरधारोह मरू।
किम सहउ पहिय सिहर ट्ठियइ दुसहउ कोइल रसइ सरू ।

अर्थात्--दसों दिशाओं में बादलों ने आकाश को अन्धकार से घेर लिया। घोर गर्जना करते हुए सघन काले बादल

आकाश में छा गए। आकाश मार्ग में तड़ तड़ करके चंचल बिजली तड़क रही है। दादुरों के रहने का रौद्र शब्द कोई सहन नहीं कर पाता। मेघों का निपट निरन्तर क्रम रूई के छोटे-छोटे पहलों के सज्जित समूह की भांति लगता है। पथिक! ऐसे समय में, मैं शिखर स्थित कोयल की दुःसह कूक कैसे सुनूं!

शरद वर्णन—विरहिणी नायिका के द्वारा श्रद्धा पूर्वक दक्षिण की ओर देखती हुई जब उस ने अगस्त ऋषि रूपी तारे को देखा, तो पावस का अन्त समझ कर तथा रंग बिरंगी दिशाओं को देख कर, उस विरहिणी नायिका के हृदय में विरह की ज्वालाएं प्रज्वलित हो उठीं। शरद ऋतु में स्त्रियों को सुन्दर वाद्य बजाती हुई, गलियों में घूमती और कुण्डलाकार नाचती हुई, तथा दीपावली के अवसर पर सुन्दर दीपकों को जला कर, घर की शोभा बढ़ाती हैं, ऐसी अवस्था में भी नायिका अपने प्रियतम के अरसिक होने की कल्पना कर, अपने हृदय के उद्गारों को स्पष्ट करती हुई कहती है कि जब शरद ऋतु में घर घर में प्रसन्नता के शादियाने बज रहे हों तो क्या ऐसी अवस्था में प्रिय का मिलन न होने के कारण सभी दुखों का भार विरहिणी नारी के ही कन्धों पर डाल दिया गया है —

इमि किवि केलि करहि संपुन्निय,
भई पुणु रमणि गमिय उत्विन्निय,
अच्छइ धरि धरि गीउ खन्नउ,
इक्कु सभग्गु कह महु दिन्नउ।

हेमन्त वर्णन—जब शरद् काल के रमणीय समय में भी वियोगिनी नायिका को अपने प्रियतम का मिलन न हो पाया, तो नारी ने कामदेव के वाणों से प्रतिभिन्न अवस्था में तुषार भार से श्वेत धवल गृहों को देखा। वियोगिनी की इस असहाय अवस्था का चित्रण कवि ने अत्यन्त मार्मिक ढंग से किया है —

सुरहि गंधु रमणीउ सरउ इम बोलियउ,
पावासुय अइधिद्विण बलि धरु संभरिउ,
इम अच्छउ जं करुण मयण पडिभिन्न सरि,
अवलोइय धवल हर से य तुस्सार भरि।

शिशिर वर्णन—शिशिर के समय जब सौभाग्य शालिनी युवतियां संयोगावस्था में अपने प्रियतम के साथ शय्यासन पर सुख पूर्वक जीवन व्यतीत कर रही हों, ऐसी अवस्था में एक विरहिणी के हृदय में किस प्रकार के भाव करवटें ले रहे हैं इसका सफल अनुभव करना अब्दुल रहमान के काव्य का गौरव है। कामदेव के बाणों से बिन्धी हुई युवती के पास ऐसी सुन्दर मिलन ऋतु में भी जब कोई आधार नहीं बन पा रहा, अपने प्रियतम के सहवास का, तो वह विरह ज्वाला में जलते हुए मन को ही दूत बना कर भेजती है। परन्तु शिशिर काल व्यतीत हो गया फिर भी प्रियतम नहीं आए।

न उनकी ओर से कोई सन्देश आया 'और न ही भावनाओं का तृप्ति प्रतिबिम्ब मन ही कोई उत्तर लेकर वापिस लौटा। ऐसी अवस्था में नारी के सन्तप्त हृदय की विशेष उद्विग्नता का चित्रण कर कवि ने शृंगार के विप्रलम्भ रूप में उत्पन्न होने वाले भावों से ओत प्रोत अपनी अनुभूति की प्रतिभा का परिचय दिया है। कवि सरल भाषा के माध्यम से मन को सम्बोधित करती हुई नायिका के द्वारा कितने गम्भीर भावों का चित्रण कर पाया है :—

भइ जाणिउ पिउ अणि मज्झ संतो सिहइ,
नहु मुणिअऊ खनु घिट्ठ सोवि महुमिल्हिहई।
पिउ णाविउ इहु दूउ गहिवि तत्थवि रहिउ,
सत्व हियउ महु दुक्खि भारिउ पूरिउ अहिउ।।

बसन्त वर्णन—पुष्पोल्लासित बसन्त के आगमन पर, जब दसों दिशाओं में सुन्दर एवं सरस रमणीयता का संचार हो गया और सूर्य ने अपनी मुग्धा किरणों से तरुणियों के शिशिर शोक का अन्त कर दिया। ऐसी अवस्था में जब फूलों पर भ्रमर मधु चाटते हुए, तीक्ष्ण कांटों की चिन्ता न करते हुए भी बिन्ध जाते हैं, रसिक लोग प्रेम के लोभ में शरीर तक का बलिदान कर डालते हैं। जब दसों दिशाएं नवीन कुसुमों से पूर्णतया सुशोभित हो उठीं, नव मंजरियों से आकाश में ही प्रतिछाया के रूप में वसन्त छा गया, चारों ओर मधुकर सरस ध्वनि कर रहे हों, और चारों में प्रेम पूर्ण लीलाओं के वातावरण में भी एक विरहिणी नायिका अपने निष्ठुर पति की प्रतीक्षा में विह्वल हो रही हो, इस प्रकार बसन्त की सुन्दर आभा को भी कवि ने विरहिणी नायिका के उद्‌गारों के उत्तेजक रूप में ही वर्णन किया है। बसन्त की शीतल समीर भी नारी के हृदय में उत्पीड़न एवं तपन उत्पन्न करने का कार्य करती है :—

णिवउंत रेणु धर पिडारीहि,
अहिय पर तविय नव मंजरीहि,
मरु सियलु वाई महि सीलयन्तु,
नहु जणउ सीउ न खिवइ तंतु।

इस प्रकार अब्दुल रहमान ने सभी ऋतुओं में नारी के वियोग जन्य भावों का स्पष्टीकरण करने के लिये ऋतु वर्णन के साथ प्रकृति वर्णन का उद्दीपन रूप में सुन्दर, मनोरम तथा वास्तविक चित्रण किया है। कवि की श्रेष्ठता जहां इस बात में है कि उसने एक वियोगिनी नारी के हृदय की भावनाओं को कुशलता पूर्वक समझने का प्रयास कर उसका सफल चित्रण किया है और विप्रलम्भ शृंगार का सभी अंगो सहित योग्य निरूपण कर पाया है वहां यह भी कवि के साहित्यिक गौरव को बढ़ाने में कम सहायक नहीं कि साहित्यिक विकास के आरम्भिक युग में कवि ने सभी ऋतुओं को विरहिणी नारी की वियोग जन्य ज्वाला को उद्दीपन करने में ही प्रयोग किया है। हिन्दी भाषा के आरम्भ के साथ

(शेष ५१ पृष्ठ पर)

आत्मातिक्रमण

○

ऋषभचंद

आध्यात्मिक दृष्टिकोण से जीवन की तुलना तीर्थयात्रा से की गई है और मनुष्य को अनंत का यात्री कहा गया है ।

किंतु वह ऐसा यात्री है जो ज्यों ज्यों आगे बढ़ता है, निरंतर बदलता जाता है, और उसकी यात्रा आत्माभिमुखी होती है—एक चेतना से दूसरी और फिर उससे भी दूसरी चेतना में प्रगति, जब तक कि परम अनन्त चेतना, "विष्णोर्यत् परमं पदम्" न प्राप्त हो जाय ।

यह प्रगति विकास का गूढ़ रहस्य है और विकास-क्रम में हमें जो भी जैविक या सतही मनोवैज्ञानिक परिवर्तन दिखलाई पड़ते हैं वे सभी आनुषंगिक और इसके परिणाम मात्र होते हैं ।

यदि हम पशुओं और पौधों के अन्तर को ढूंढ सकें तो वहां भी हम भौतिक अचेतनता के विरुद्ध भयंकर कठिनाई से आगे बढ़ती हुई चेतना की उसी प्रगति की साक्षी पायेंगे—अन्तर इतना ही है कि वह हमारी मानसिक चेतना नहीं होती ।

वास्तव में चेतना की एक स्थिति और संतुलन से दूसरी स्थिति और संतुलन में यात्रा, एक शिखर पर से दूसरे उच्चतर शिखर पर आरोहण—"सानोः सानुम्"—ही जीवन का सारा गुह्य लक्ष्य है, क्योंकि इसी प्रकार से वह उस अनंत आनन्द को प्राप्त कर सकता है जिसकी वह अज्ञात रूप से कामना करता है ।

अचेतन से अतिचेतन तक चेतना के स्तरों के अनन्त क्रम हैं—अचेतन चेतना की अनुपस्थिति नहीं चेतना का केवल निवर्त्तन है—आरोहण का सुदूर उत्तुंग एक सोपान है जिस पर हमारी सत्ता जन्म-जन्मांतर चक्कर लगाया करती है; और वह जिसे हम अज्ञानवश मृत्यु समझते हैं और जिससे डरते हैं, वह केवल चुनाव, आत्मसक्षात्करण एवं विश्राम की अवधि है जो इस अनिवार्य श्रम के लिये आवश्यक है ।

हमारी प्रकृति स्वयं ही हमें ऊपर की ओर ठेलती है और हमसे निरंतर आत्मातिक्रमण की मांग करती है । वह हमें अधिक देर तक किसी अवस्थाविशेष

अथवा किसी भोग विशेष में रमे रहने नहीं देती, एक भागवत असंतोष के साथ एड़ लगा कर हमें आगे बढ़ाती है।

यह यात्रा किस प्रकार आगे बढ़ती है ? इसे पहले तैयार करती एवं आगे ले जाती है अज्ञानमयी निम्न प्रकृति—अविद्या। धीरे धीरे टटोलती हुई, प्रायः अदृश्य रूप से, अनेकों हिचकिचाहट, संकट और फेर से होती हुई तथा बिना हमारी सत्ता की अनुमति एवं सहयोग के वह किसी न किसी प्रकार से इसे आगे बढ़ाती रहती है। हमारी सत्ता जब उसकी गोद में सोई या उनींदी पड़ी रहती है तब भी वह उसे दूध पिलाती एवं उसका पोषण करती है। और उसकी पूर्ण जागृति के इस महत्त्वपूर्ण साहस-कार्य के लिये वह किसी भी मूल्य की परवाह नहीं करती।

सुख तथा दुःख, संघर्ष तथा कष्ट, लाभ और हानि, मान एवं अपमान, विपत्ति एवं मृत्यु सभी उसकी चक्की में पिस जाने वाले अन्न हैं और वह हमारी सत्ता को इन सभी अनुभूतियों के भीतर से ले चलती है जिसमें कि इनसे कड़े धक्के खा कर वह अपने एवं जगत् के बोध में जागृत हो जाय जहां कि उसे प्रवृद्ध एवं पूर्ण होना है।

प्रगाढ़ दयालु एवं करुणामयी होने पर भी वह कठोरता और क्रूरता का मुखौटा पहन लेती है और अपने बच्चों को जीवन के कड़ुए विष का आस्वादन कराती है जिसमें के वे अमरत्व के अमृत के लिये अकुलाएं।

हमारी सत्ता को आगे बढ़ाने को उकसाने के लिये जो सबसे शक्त अस्त्र का उपयोग यह करती है वह है दुःख। पर जब हमारी सत्ता इतने पर्याप्त रूप से जग जाती है कि उसे अपना और अपने भविष्य का बोध हो जाता है तो उसमें यह अपने को अतिक्रमण करने के निमित्त एक चेतन संकल्प प्रवृद्ध करती है और उसे सिखलाती है कि वह कैसे इसके अज्ञान-जनित गुणों को नियंत्रित करे तथा उन पर विजय प्राप्त करे और उन्हें ज्ञान एवं आनन्द की वैचित्र्यमय लीला में धर्मान्तरित करदे।

श्री अरविन्द के अनुसार प्रकृति की आत्मातिक्रमण की विधि—क्योंकि प्रकृति भी आत्मातिक्रमण में अन्तरात्मा का अनुसरण करती है—आरोहण, प्रसारण एवं एकीकरण की त्रिविध क्रिया है।

सबसे पहली एवं सबसे मुख्य वस्तु है चेतना का आरोहण। चूंकि चेतना हमारी सत्ता का सार है। अतः सत्ता एवं प्रकृति के किसी भी प्रकार के आत्मातिक्रमण के पहले चेतना का आत्मातिक्रमण अत्यावश्यक है। जब हमारी चेतना किसी उच्चतर स्तर पर आरोहण करती है तो हम किसी ऐसी ऊंचाई पर केवल उठ ही नहीं जाते जहां से हम नए नए देश एवं दृश्य देख सकें पर स्वयं हममें ही

पर्याप्त मात्रा में परिवर्तन आ जाता है और हम जगत् को भीतर और बाहर नई आंखों से देखने लगते हैं। केवल नई वस्तुओं का दर्शन ही नहीं, सभी वस्तुओं के प्रति एक नई दृष्टि और जीवन के प्रति प्रगाढ़तर एवं विशालतर दृष्टिकोण, चेतना के आरोहण की प्रमुख विशेषता है।

यही कारण है कि चेतना के आरोहण को नव-जन्म की उचित संज्ञा दी जाती है—अस्तित्व के किसी अभूतपूर्व दृष्टि एवं दर्शन में जागरण। और जब हम और भी ऊपर आरोहण करते हैं तो हमारी दृष्टि और भी प्रगाढ़ और विस्तृत हो जाती है, हमारी आंखों के सामने नवीनतर सत्य तिर-तिर कर आने लगते हैं और जीवन के प्रति हमारे दृष्टिकोण में एक दूसरा सागरोपम परिवर्तन आ जाता है।

पर आरोहण के साथ साथ प्रसारण भी होना चाहिए, नहीं तो हम केवल ऊंचाइयों पर के सत्य को ही उपलब्ध कर पाते हैं, अपने चारों ओर फैले विस्तारों का सत्य हमसे छूट जाता है। परात्पर की ओर तीर की तरह जाने पर भी हमें विश्व को आलिंगन करना भूलना नहीं होगा और हमें परात्पर के उन सत्यों, सिद्धान्तों तथा शक्तियों के साथ तादात्म्य स्थापित करना होगा जो जगत् में अभिव्यक्त होना चाहती हैं।

बिना चतुर्दिक क्षैतिज विस्तार के सीधे लम्बरूप ऊपर आरोहण से जो उपलब्धि होती है वह सदा संकीर्ण एवं एकांगी होती है। साम्प्रदायिक धर्म एवं अध्यात्म के कट्टर एकांतिकता का बहुत कुछ मूल हमें इसी संकीर्णता में मिल सकता है।

किंतु आरोहण और प्रसारण अकेले ही जीवन के ऊपर कोई बहुत गहरा और दूरव्यापी प्रभाव नहीं डाल सकते यदि उनके साथ साथ एकीकरण की क्रिया भी न चलती रहे।

चूंकि आरोहण एवं प्रसारण का उद्देश्य जीवन तथा प्रकृति से सदा के लिये विदा ले लेना नहीं अपितु जगत् में उनकी पूर्ण पूर्णता एवं चरितार्थता है, यह अनिवार्य है कि हमारी प्रकृति के सभी भाग और हमारे जीवन के सभी तत्त्व उन्नत कर दिये जायें, सक्रिय एकत्व में एक कर दिए जायें तथा आरोहण और प्रसारण की उपलब्धियों में से ओत-प्रोत एवं रूपांतरित कर दिये जायें।

विकास के अन्वेषणात्मक अध्ययन से पता चलता है कि सर्वांगीण शुद्धि ही प्रकृति के कठोर श्रम का अंतिम लक्ष्य है और आत्मातिक्रमण का पूर्णतम अर्थ यही है। प्रकृति अपने प्राणियों के जीवन के विविध वैचित्र्यों का विकास करते समय उनकी भौतिक अंग रचना को सूख जाने अथवा म्लान हो जाने नहीं देती और

न उनके मन के विकास और वृद्धि में लगे रहने पर उन के प्राणिक अंगों को ही क्षीण होने देती है। प्राण, शरीर में जीवनी शक्ति का संचार करता है, और उसकी आदिम जड़ता को क्रमशः अधिकाधिक मात्रा में अपने वैद्युतिक शक्ति द्वारा स्थानान्तरित करता है, और मन, भौतिक चेतना को सुसंस्कृत एवं आलोकित करता है तथा अपनी परिवर्धनशील ज्योति द्वारा प्राण का स्पर्श कर उसकी उच्छृंखलता एवं अराजकता में व्यवस्था एवं छंद लाना चाहता है।

आत्मा के उच्चतर स्तरों पर हमारी सत्ता के आरोहण करने पर भी एकीकरण के इस कार्य को चालू रखना है। निश्चल-नीरव आत्मा या ब्रह्म की उपलब्धि होने पर प्रकृति के विकास-कार्य से एकाएक सम्बन्ध तोड़ लेना तथा अपनी सत्ता के सक्रिय भागों का सुनिश्चित बहिष्कार करना आध्यात्मिक अधीरता की एक तीव्र किंतु संकीर्ण गति है, पूर्ण भगवान को प्राप्त करने का विशाल एवं प्रशस्त तरीका नहीं। क्रमिक आलिंगन, सबों को अपने में समाविष्ट कर लेने वाला संश्लेषण एवं एकीकरण, विकास का सच्चा नियम है, तीव्र परित्याग या सीधा बहिष्कार नहीं।

जैसा कि हम देख चुके हैं, आरोहण का प्रत्येक महत्त्वपूर्ण पद एक नवजन्म होता है—चेतना का नव-जन्म, किंतु जब आरोहण, प्रसारण द्वारा पूरत एवं एकीकरण द्वारा पुष्ट होता है तो फलत: हमारी सारी सत्ता का ही नव-जन्म होता है। तब हमारे जीवन का क्षेत्र औरआ धार ही आत्मा के शिखरों पर उठ आता है, उनकी ज्योति में स्नान करता एवं उन के आनन्द के पालने पर झूलने लगता है। गीता की उक्ति, "मद्भावमागता :" में इसी सर्वांगीण शुद्धि का संकेत है। यह सर्वांगीण रूपांतर द्वारा भागवत प्रकृति का अंगीकरण है। यह हमारी सत्ता के शिखरों एवं आधार का अक्षुण्ण समस्वरता में मिलन है।

पर सारी सत्ता का आत्मातिक्रमण जीवन में प्राप्त करना बड़ा ही कठिन विषय है—अंतरात्मा की मुक्ति अथवा निरपेक्ष सत्ता में इसके लय हो जाने से भी बहुत ही अधिक कठिन। इसका शब्दतः अर्थ होता है अपने जीवन-काल में ही मरण की प्रायः अटूट शृंखला से होकर गुज़रना—अपनी मृत्यु से पहले ही बहुत बार मरना। पर यह मरना शेक्सपीयर के अर्थ में कायरों की मौत मरना नहीं, आत्मा के बहादुर सिपाही की तरह आध्यात्मिक वीर की तरह मरना है। इसका अर्थ होता है, जो कुछ हमारी सत्ता के भीतर मिथ्या तथा अदिव्य है, अज्ञानमय एवं अहंमन्य है—जो कुछ भी अंधकारपूर्ण उपत्यकाओं में हमारे कष्टमय जीवन को सदा के लिये बनाए रखना

चाहता है उसे काट कर फेंक देना। इसका अर्थ होता है आध्यात्मिक शक्ति द्वारा अपने सामान्य स्तर से बलात् खींच कर हमारा किसी उच्चतर स्तर पर रखा जाना।

इस खिचाई में झटका एवं मरोड़ की अनुभूति होती है, एक तीव्र पीड़ा का अनुभव, मानों हृदय की गांठें एकाएक छिन्न हो रही हैं—"भिद्यते हृदयग्रन्थिः" जो कुछ अब तक अपना था, प्रिय था अपनी आंखों का तारा था, हृदय को शीतल करने का अनुलेप था, उन सबों से जबरदस्ती अलगाव का बोध होता है। इसका अर्थ होता है इंच पर इंच, घड़ी पर घड़ी अपने को लुप्त होते देखना, पुराने बंधनों का कटना, जिस कुछ से भी अपनापन था, सौहार्द्र था उनसे दुःखपूर्ण विदा लेना, और तब तक इस प्रकार अनावृत होते चले जाना जब तक हम विशाल आकाश की सर्द हवा में खाली और नंगा होकर खड़े न हो जायें और अज्ञात के अथाह समुद्रों में यात्रा को चल न पड़ें। इस प्रक्रिया की पीड़ा कभी कभी बड़ी ही कष्टकर प्रतीत होती है—मृत्यु की पीड़ा से भी अधिक कष्टकर, क्योंकि हमारे अंदर का आदिम मानव सचमुच में बड़े कष्ट से मरता है। "हृदय के गुप्त प्रांतों में छिपी," कोई वस्तु अंतिम विदाई की दुःखद कल्पना से कांप उठती है। जीवन के सभी प्यार-सुखों से—"जिस आनन्द को उसे सदा के लिये त्याग देना होगा", उससे वह निराशोन्मत्त हो चिपटती है और अपने को दो परस्पर विरोधी आकर्षणों के बीच में छिन्न हुआ पाती है।

अथवा यात्री की चेतना अपने नव उपलब्ध शिखरों से चक्कर खाती हुई नीचे को पुराने परिचित चरागाहों में चरने, और अपनी प्यारी वस्तुओं में रस लेने एवं रम रहने को उतर आती है। तब फिर कुछ काल के लिये पुराना मोह जागृत हो उठता है, अतीत की अनेक छोटी छोटी प्रीतिकर वस्तुएं अपने वशीकरण जादू से उसे अभिभूत कर देती हैं—माया का इन्द्रजाल उसके चारों और फिर एक नए जादू का जाल बुन देता है। पृथ्वी सहसा वसंत के पुनरागमन से हँसती प्रतीत होने लगती है। हृदय की वासनाएं, जीवन की कामनाएं, मन की चाहें उस पर पहले से भी अधिक प्रबल सम्मोहन डालना आरंभ करती हैं और उससे अपने बीच रहने तथा फिर कभी न छोड़ने की मिन्नतें करनें लगती हैं। पर उसे उन्हें छोड़ना ही पड़ेगा, कारण कि ऊपर का आह्वान अनुल्लंघनीय है और अन्तर की लगन अनिवार्य है।

आवेगों के चीत्कार, इंद्रियों का आकर्षण, वासनाओं के हठ, भगवान् की पुकार और आत्मा की अभीप्सा के विरुद्ध नहीं टिक सकते। हृदय अथवा

इंद्रियों की शक्ति की अपेक्षा कोई अप्रमेय विशाल शक्ति उसे ऊपर उठा लेती है और वेग से आगे बढ़ाती जाती है, और उसके लिये तब तक कोई विराम या विश्राम नहीं होता जब तक कि वह "परात् परम्"— तक न पहुंच जाय तथा वैदिक ऋषियों के स्वर में स्वर मिला कर बोल न उठे, "मैं पृथ्वी से ऊपर अंतरिक्ष में चला आया हूँ। मैं अंतरिक्ष से ऊपर द्युलोक में चला आया हूँ, द्युलोक के आकाश से मैं सौर जगत् में, ज्योति में चला आया हूँ।"

पर आत्मातिक्रमण केवल संघर्ष एवं विषाद का विषय ही नहीं है। इसके अपने आश्चर्यों का पुलक है, हर्षों की उमंग है जिनकी हम मानव जीवन के सामान्य स्तर पर कल्पना तक नहीं कर सकते। ऊपर की उड़ान में यात्री की चेतना को एक शांति, एक स्वच्छन्दता, एक स्वच्छता, एक आनन्दमय भारमुक्ति, एक गंभीर निश्चल नीरवता का अनुभव होता है जो पार्थिव परिवेष्ठन में सर्वथा अज्ञात है। "अंधकार में सुनाई पड़ने वाली कनफुसकियों एवं चीत्कारों की" कोई परवाह न कर वह, "जीर्ण एवं क्षुद्र के परिवेश से" निकल कर, "सभी कोलाहल और संघर्ष को त्याग कर", आत्मा के विशाल शांत क्षेत्रों में पहुंच जाता है।

उन प्राचीरहीन प्रांतों में कामना की कोई उत्तेजना नहीं, महत्त्वाकांक्षा का कोई दंश नहीं, कोई भूली भटकी आशा नहीं, कोई भी झुलसाने वाली निराश नहीं—उन आक्रांतक द्वन्द्वों एवं रागों में से, जो पृथ्वी पर के हमारे अचिर और विक्षुब्ध जीवन को यंत्रणाओं से विह्वल कर देते हैं वहां कोई भी नहीं, उन उज्ज्वल विशाल प्रांतों में दुनिया के व्यर्थ बकवासों, घुलाने वाली चिंताओं, उसके मिथ्या चाकचक्यों के छलिया आकर्षण की कोई पहुंच नहीं। वहां जाकर यात्री को पता लगता है कि किस प्रकार क्षणभंगुर आकृतियों वाले लोक में वह रहा है, छाया से लिपटता रहा है और अनित्य सुखों की मृग-मरीचिका के पीछे दौड़ता रहा है। उसका आत्मा वहां पर निर्बन्ध मुक्त निःसीम होकर अपनी नैसर्गिक आभा से चमकने लगता है। वहां जीवन के नित्य सत्य उसकी खुली आंखों के सामने प्रत्यक्ष हो उठते हैं और उसे बाह्य आकृतियों के बन्धन से मुक्त कर देते हैं। वहां वह जान पाता है कि वास्तव में वह क्या है और आगे क्या हो सकता है, और अनन्त से प्रेम करने के कारण वह भगवान् की सर्वशक्तिमत्ता, सौन्दर्य और आनन्द से प्रीति करता है तथा अपने को अपनी अनन्त संभावनाओं की उपलब्धि के उपयुक्त बनाता है।

जो लोग आत्मातिक्रमण की इस प्रक्रिया से हो कर नहीं गुज़रे हैं उन्हें इसके साथ आने वाली अनुभूतियों का,

बारी-बारी से आने वाली आनन्द और उमंग की अनुभूतियों एवं संघर्ष तथा कष्ट की अनुभूतियों का, जिन्हें वैदिक ऋषि प्रतीकी भाषा में दिवा-रात्रि का गमनागमन कहते हैं। कुछ भी पता नहीं होता। उनका जीवन निकृष्ट स्तरों पर का एक नीरस जीवन होता है। किन्तु एक दिन वे भी इस नीरसता से चौंका कर जगा दिये जायेंगे। चूंकि मायाविनी प्रकृति अपने अन्तर में दयालु मां है, करुणामयी मोक्षदात्री है, वह जब सत्ता को मार कर जगाती है तो उसके सामने निस्सीम आत्म-परिपूर्णता के एक से एक चमचमाते आयामों को खोलती जाती है जो निर्मम आत्मातिक्रमण द्वारा ही प्रापणीय हैं।

हमारी इस अनेकावयवघटित सत्ता में अतिक्रमण का एकमात्र साधन है अंतरात्मा अथवा चैत्य। जब वह जगता है तो वह "अनन्त की सांसें लेने", "शाश्वत में अपने पंख तोलने," तथा देश और काल के बन्धनों से बच निकलने के लिये व्याकुल हो उठता है। निम्न प्रकृति के कारागार में इसका दम घुटने लगता है। मनुष्य के अन्तर में स्थित वास्तविक यात्री यही है। "हंसो भ्राम्यते"।

अभीप्सा और त्याग की द्विधा शक्ति से अंतरात्मा आत्मातिक्रमण करता है। त्याग इसे पार्थिव बन्धनों से मुक्त करता और अभीप्सा इसे अनन्त में प्रक्षिप्त कर देता है। त्याग है अंतग्रंथियों का खुलना और अंतर्बन्धनों का टूटना, तथा अभीप्सा सत्यं शिवं सुन्दरम् की उत्कट लगन। दोनों अपनी सहक्रिया द्वारा यात्री को मृत्यु और अंधकार के राज्य से परे ले जाते हैं —"तमसः परस्तात्"।

पर श्री अरविन्द इस बात पर बल देते हैं कि यदि आत्मातिक्रमण को जीवन में पूर्ण एवं फलद होना है तो यह आत्मातिक्रमण सारी सत्ता का ही आत्मातिक्रमण होना चाहिए न कि केवल चेतना का ही; और इसके लिये हमें प्रकृति की त्रिविध विधि का अनुसरण करना होगा — आरोहण, प्रसारण और एकीकरण। शरीर, मन, प्राण सबों को उनके निजी अहंकारमय विन्यासों तथा वैश्व अज्ञान की पकड़ से मुक्त कर उन्हे आत्मा की सत्य-ज्योति में उन्नीत करना एवं गत्यात्मक क्रियाशीलता की समस्वरता में एकतान कर देना होगा।

वह आत्मातिक्रमण आंशिक एवं अपूर्ण है जिसमें अंतरात्मा तो परमात्मा की महिमा में रूपांतरित हो स्थित रहता है और बाह्य सत्ता अज्ञान के अंधकार में पड़ी रहती है। सर्वांगीण आत्मातिक्रमण ही विकास का लक्ष्य और मनुष्य की अंतिम भवितव्यता है।

आत्मातिक्रमण मुक्ति एवं स्वतंत्रता का सब से बड़ा साधन है। जबकि संन्यासी अपनी कामनाओं–वासनाओं को बलपूर्वक

दबाता और उनसे मल्लयुद्ध करता रहता है, ज्योतिर्मय योगी शांत भाव से उनके ऊपर उठ जाता है और उन से मुक्ति का अनुभव करता है । आत्मातिक्रमण ज्ञान की एक मोक्षदायिनी क्रिया है और इसकी पूर्णता है पूर्ण आत्म सत्तांतरण द्वारा पूर्ण आत्म-परिपूर्णता; क्योंकि आत्मातिक्रमण से सत्ता का रूपांतर होना अनिवार्य है ।

● ● ●

(पृष्ठ ४३ का शेष)

प्रकृत वर्णन में ऋतुओं का विप्रलम्भ श्रृंगार के उद्दीपन के रूप में प्रयोग एक नवीन उद्भावना है । इससे पूर्व प्रकृति का प्रयोग स्वतन्त्र रूप में ही होता रहा है किन्तु इस आधार पर अब्दुल रहमान ने पुरानी प्रकृति के स्वच्छन्द प्रयोग की परिपाटी का अन्त में साहित्य, में नवीन अनुभूति का संचार करना उसकी प्रतिभा का ही द्योतक है । अब्दुल रहमान का श्रृंगार वर्णन पूर्ण रूप से निखर पाया है जिसने भावी कवियों के लिये एक मार्ग दर्शक का कार्य किया है !

● ● ●

यादव भूमि : अहीरवाल भाषा तथा लोक-गीत

विष्णुदत्त 'कविरत्न'

पंजाब के ज़िले गुड़गावां में रिवाड़ी एक मानी हुई तहसील है। वह भारत के स्वातन्त्र्य इतिहास में अपना एक विशेष स्थान रखती है। राव तेजसिंह यहां का प्रतिष्ठित अहीर था। अंग्रेज़ों के शासन में भी वह उनके अस्तित्व को अपने स्वतंत्र स्वाभिमान के सामने हेय समझता था। इसका मूल्य उसको इतना अधिक चुकाना पड़ा कि उसकी जायदाद ज़ब्ती को छोड़ कर देश-निकाले तक की सजा भुगतनी पड़ी, परन्तु वीर राव ने अपने विचारों को टस से मस न होने दिया। अपने वंश से विछुड़ कर भी अडिग रहा। झुका नहीं।

स्वतंत्रता-संग्राम, जिसको अंग्रेज़ों ने गदर के नाम से बदनाम किया था, उसको सक्रिय बनाने में राव तुलाराम ने अपनी बलिदानी दी —— देश को छोड़ कर ना मालूम कहां-कहां की ख़ाक छाननी पड़ी, परन्तु उस संग्राम को ठण्डा न पड़ने दिया। उन आज़ादी के दीवाने रावों का प्रतिनिधित्व बाद में राव लाल सिंह और राव युधिष्ठिर सिंह ने किया।

अंग्रेज़ों ने रिवाड़ी और इसके रावों से अप्रसन्न होकर कई बार इसको नष्ट-भ्रष्ट करने की चेष्टा की——परन्तु राजपूत अहीरों ने इसकी प्रतिष्ठा और मान-मर्यादा को यथावत् बनाए रखा। इसके लिये उनको कई बार प्रच्छन्न रूप में रहना पड़ा। खून खच्चर सही बलिदानियों-कुर्बानियों का सामना करना पड़ा। स्त्री-बच्चों को अंग्रेज़ों की तोपों के आगे भेंट किया। देशभक्तों को जितनी यातनाएं झेलनी पड़ती हैं, वे सब उन बेचारों ने सहीं।

अहीर शब्द को, ज़माने की तराश-ख़राश ने, न मालूम किस तरह मरोड़ तोड़ कर त्रिशंकू बना दिया। अन्यथा कृष्ण के पर्याय हरि से इनको हरि ही कहा जाता था। जिसके कारण आज ये लोग यादव पुकारे जाते हैं। भाषा विशेषज्ञों ने इन्हें भगवान कृष्ण का वंश ज सिद्ध किया,

है । आज अहीर जाति के लोगों को राव शब्द से भी सम्बोधित किया जाता है । कर्नल टॉड के इतिहास में एक स्थान पर लिखा है—

"Ahirs are Rajputs. from Mahahharta, it is known, that Ahirs were bloods of lord Krishna Lord Krishna belongs to yadava family."

इसके अतिरिक्त 'राजपूत वंशावली' में भी अहीर जाति का वर्णन यादववंश के अन्तर्गत मिलता है ।

कहने का तात्पर्य है कि अहीर जाति गुड़गावां के उत्तरी भाग में अधिकांशत: पाई जाती है । इनके कई परगने हैं, जिसको यादव भूमि के नाम से पुकारा जाता है । अलवर में बह रोड़, पटियाला में रानौंद (अब महेन्द्रगढ़) और नारनौल, नाभे में कान्ति क्षेत्र, जयपुर में मुंडावर और कोटकासिम हैं । ये सभी परगने लगभग रिवाड़ी के निकट पड़ते हैं ।

ग्राम कोसली यादव जाति का गढ़ है—भारत में सैनिक -सेवाओं के लिये यह जाति प्रसिद्ध है । यहां के फौजी वीरों ने अंग्रेज़ों से लेकर आजके स्वतंत्र भारत तक उज्ज्वल नाम कमाया है ।

कहते हैं एक वार अंग्रेज़ों ने अहीरों के एक परगने पर अचानक आक्रमण किया, तो खेतों में काम करती हुए एक नवयुवति अहीरी घुड़सवारों के घेरे में घिर गई—तो वह अपने हाथ में घास खोदने का खुरपा लेकर कहती है—

सखी सहेलीं भग पड़ी, हमते भगा न जाये ।
नीला घोड़ा खमखमा घिर गया चारों ओर ।
पर हे निगोड़ी ! जनम ये मिले न बारम्बार ।
बैरी तैं के भाजना, जा सनमुख तलवार ।।

[सखि, सहेलियां, यदि अंग्रेज़ों के घोड़ों से डर कर भाग गई है तो उन्हें भाग जाने दो । मुझे इसकी कोई चिन्ता नहीं । मैं उनके शक्तिशाली घोड़ों के घेरे से भयभीत नहीं होती हूँ । मैं तो भारत देश की युवति हूँ । परन्तु (सखि-सहेलियों को सम्बोधित करती हुई कहती हैं) हे निगोड़ी ! यह जन्म फिर-फिर न होगा अर्थात् ऐसा अवसर बार-बार नहीं मिलेगा शत्रु के सम्मुख होकर जूझना चाहिए । कभी भागना नहीं चाहिए । यह तो तलवार ही है—इसके सामने से क्या भागना ।]

जब एक गोरा (अंग्रेज़) हिम्मत कर के उस युवति पर बुरी दृष्टि डालना चाहता है तो वह वीरांगना अपने घास खोदने के खुरपे को छुपाए रखती है और पास में आते हुए गोरे की गर्दन में जोर से खुरपा मारती है ।

"ले रै चीते, कर मन चीते । (इच्छा)
जा तू जित तैं आयो ।
(दोग़ला–गोरा)
मूनैं समझ न हीणी–दुब्बल (कमजोर)
जैसो कियो सो पायो ।।

[युवति ने गोरे को चीते का सम्बोधन दोग़ला होने के कारण दिया है--कि ओ गोरे ! तू जा तेरे मन की इच्छा पूरी हो गई । जा तू जहां से आया है, वहां ही जा। तु मुझको दुर्बल (कमज़ोर) समझता था, परन्तु तूने जैसा किया वैसा ही फल तुझको मिल गया ।]

अहीर जाति सदा से वीर जाति होती आई है इसने अपने पराक्रमों के सामने बड़े-बड़े शत्रुओं के दांत खट्टे कर दिए हैं ।

एक बार एक पठान--जो उस समय मुसलमानी शासन का जंगजू सिपहसालार था। उसका नाम था 'वरिश्ताखान' वह अपने दोस्ते के साथ घूम रहा था । अहीर की छोरी मुरकली जंगल में भैंस चरा रही थी, पठान का दस्ता तो पीछे रह गया था, वह स्वयं उस भैंस चराती छोरी के पास आया ।

मुरकलीं ने पठान की बुरी निगाह देखी। पहले तो वह कुछ न बोली, परन्तु जब उसकी बुरी हरकतें देखीं --तो उसने पठान के पास जाकर उसकी खोपड़ी पर दो लाठी इतनी ज़ोर से मारीं कि वह घुड़सवार घोड़े पर से ही लुढ़कता हुआ भूमि पर आ गिरा । मुरकली बोली--

"मैं भी किहैं की बहू-बेटी हूं --
काहे अनीती ठाई । (अनीति)
नाह छेड़ता जो तू मूनैं--
काहे लाठी खाई ।
सो जा इब सदा-सदानैं--
तूनैं पीती गऊ सताई ।।"

(ओ पठान ! मैं भी किसी सज्जन की बहू-बेटी हूँ। मेरे साथ तूने क्यों अनहोनी बात की । यदि तू मुझे न छेड़ता या मुझ पर बुरी दृष्टि न डालता तो मैं तुझ पर क्यों लाठी का वार करती अर्थात् तू न मारा जाता । अब तू, सदा-सदा के लिये सो जा । अर्थात् तू मर जा । क्योंकि तूने पानी पीती हुई निर्दोष गऊ को सताया है ।)

यादव भूमि बोलती है --

जब फाल्गुण के महीने में चन्द्रमा की धवल ज्योत्स्ना में ग्राम की नारियां शीतल बालू के ढेर पर बैठ बैठ कर मस्ती में भर कर रंग भरे गीत गाती हैं, तो बालू का एक एक कण पुलकायमान हो जाता है --

चन्दा तरी चान्दणी में कोयलिया बोले ।
खेलण जोगी है रात राजा! कोयलिया बोले
(योग्य)
ननद-भौजाई खेलण लिकड़ी--
(निकली)
खेल खाल के घर बावड़ी ।
(लौटी)
धरती बैठो लणिहार, राजा कोयलिया बोली
अ(तिथि-बटऊ)
"कहां गई तेरी माय, कहां गया तेरो बाप
राजा कोयलिया बोली ।"
(मां)

"कोई पीहर गई मेरी माय,
दिल्ली गया मेरो बाप, राजा कोयलिया
बोली ।"
"के तो ल्यावै तेरी मां के तो ल्याव तेरो
बाप
(क्या तो लावे)
राजा कोयलिया बोल--"
"'चूंदड़ी त ल्यावे मेरी माय,
(चुन्नी)
दामण त ल्याव मेरो बाप । राजा
कोयलिया बोले ।"
(घघरी)

[चन्द्रमा की मधुर चांदनी में नवयुवतियां नाच-गा रही थीं । पुलक-पुलक कर अपनी समवयस्कों के साथ रंगरलियां मना रही थीं । उनमें ननद और भौजाई भी थी । जब वे खेलकर वापिस घर लौट कर आईं तो उन्होंने देखा कि उनके घर एक अतिथि (बहनोई) बहन को लेने के लिये आया हुआ बैठा था । वह उन स्त्रियों से पूछता है कि कहां तो तुम्हारी माता गई है और कहां तुम्हारा पिता ? तो उत्तर में भौजाई कहती है कि मां तो अपने पिता के यहां गई है और इसका पिता--दिल्ली किसी काम से गया है । वह अतिथि फिर पूछता है कि वह क्या लाने के लिये गए हैं ? तो युवति व्यंगहास में उत्तर देती है कि मां तो इस लड़की के लिये चुन्नी लेने गई है और बाप दामन अर्थात् थे घघरी लेने के लिये ।]

इसी प्रकार अगला लोक गीत वृक्षों के पीछे बोलते हुए पपीहे की मधुर ध्वनि को लेकर है । जब पपीहा बोलता है तो नवयुवति चौंक जाती है । वह समझती है कोई बाहर से आ रहा है-- तो वह अनुमान लगाते हुए गाती है--

बाग में पपीहा बोले,
मैं जाणू कोई आया री !
(समझी)
आयो री मेरो बब्बू बीरा--
के के चीजो ल्याओरी ।
(पहनन के वस्त्र-विशष)
(वस्तुएं)
मां की तीयल बाहण काजोड़ा-
इत्यादि)
बहू की झांझण ल्यायोरी ।
(पायल)
बाग में पपीहा बोले--
मैं जाणूं कोई आयो री ।।

(बाग में जब पपीहा कुहु-कुहु कर मधुर स्वर में बोलता है तो युवति चौंक जाती है और अनुमानतः कहती है कि शायद बाग में कोई अजनबी आया है। फिर वह अपने को स्थिर करके कहती है--नहीं नहीं । यह तो मेरा बीरा (भाई) आया है और वह क्या-क्या वस्तुएं लाया है ! माता जी के लिये तो उसकी तीयल (पहनने के वस्त्र विशेष), बहिन के लिये साड़ी इत्यादि बहू के लिये पायल आदि लाया होगा ।)

गांव में किसी लड़की का पीहर से सुसराल जाना भी एक विचित्र-पीड़ामय दृश्य होता है । उसकी संग सहेलियों का उससे छूटना उसको कितना अखरता है कि पाषाण-हृदय भी उस पीड़ा से छलक पड़ते हैं:—

जीजी रलमिल गुड़ियां खेलतीं —
(मिल जुल कर)
तूं चाली जीजा के साथ ।
(चली)
बाहण चाली सासरे ।

उसकी सहेलियां केवल स्नेहयुक्त इतना ही नहीं कहतीं बल्कि उसको उपदेश के रूप में यहां तक समझाती हैं —

जीजा ननद का कहणा मत गेरियो,
(आज्ञा की अवहेलना)
ननद धरम की बाहण ।
सुसरा धरम का बाप ।
बाहणा चाली सास रे ।
जीजी जीजा का कहणा मत गेरियो,
कटैं तेरे दिन-रात ।
बाहण चली सासरे ।
देवर संग का सुहेलड़ा—
(स्नेहमय साथी)
जैसे धरम का बीर ।
बाहण चली सासरे ।
जीजी, सासु का कहणा मत गेरियो,
सासु धरम की माय ।
बाहण चली सासरे ।

(साथ की सहेलियों का अपनी सुसराल जाती हुई सखी के साथ कितनी सहानुभूति और प्रेम है कि उसको जाते समय कितना सुन्दर उपदेश देती हैं कि हे बहिन ! अपनी ननद की अवज्ञा न करना, क्योंकि वह तुम्हारी धर्म-बहिन है । इसी प्रकार सुसर की भी आज्ञा मानना, क्योंकि वह भी तुम्हारा धर्म पिता है । जीजा अर्थात् अपने पति की आज्ञा की भी अवहेलना न करना, क्योंकि वह तुम्हारा रात-दिन का साथी है । देवर से भी बना कर रखना, क्योंकि वह तुम्हारा स्नेहमय साथी है फिर सास को भी प्रत्येक आज्ञा को मानना, क्योंकि वह तुम्हारी धर्म की माता है । लड़की को सुसराल में रह कर जिस जिस के साथ सम्बन्ध रखना होता है । उसके लिये उसकी साथिनों ने कितना उपदेशात्मक भावों का प्रदर्शन किया है ।)

एक नवौढ़ा नई-नई अपनी सुसराल में आती है तो वह अपने प्रिय पति से लोक-गीत में संकेत करती है—

राजा पतरे रे—राजा पतरे रे,
जैसे पतंग की डोर ।
शिखर दुपहरी मत आइ यो रे बलमा,
बलमा जागे रे ननद और सास,
राजा पतो रे, राजा पातरे......
सही सांझ मत आइयो रे बलमा,
बलमा जाग रे गली का पहरेदार,
पतरे रे—पतर रे ।

आधी रात चलै आइयो बलमा ।
सोवे ननद और सास ।
पतरे रे --पतरे रे ॥

[नायिका अपने नायक (पति) के सम्बन्ध में कहती है कि मेरे राजा (पति) अत्यन्त छरहरे बदन के सुन्दर हैं--और ऐसे सुन्दर हैं कि जैसे प्यारी पतंग की डोर। चूंकि वह नवयौवना है और शर्माती है, तो अपने पति से मिलने का समय अपने आपही निश्चित करती है, हे बालम ! बिल्कुल दोपहर के समय न आना, क्योंकि उस समय ननद और सास जागती हुई होती हैं। और ठीक शाम के वक्त भी न आना, क्योंकि गली का पहरेदार जागता हुआ होगा। अतः आप आधी रात के समय मुझसे मिलने के लिये आना, क्योंकि उस समय सास-ननद भी सो जायेंगी ।]

लोक-कवि लोक-जीवन का चित्रण लोक-सजीवता के रूप में करता है । लोक-कवि की पहुंच असूर्यम्पश्या तक सीधी होती है --यदि यह कहा जाए तो अनुचित नहीं कि वह व्यक्तिगत जीवन तक बिना किसी आश्रय के सीधा पहुंच जाता है। चाहे नगर में हों, चाहे गांव में स्त्री-पुरुष में मन मुटाव का हो जाना निकट स्वाभाविक है ।

पत्नी अपने पति से एक 'छठ के मेले' का उत्सव देखने के लिये हठ करती है, परन्तु उसका पति उस मेले में जाने के लिये स्त्री को मना करता है। दोनों में इस विषय को लेकर अनबन हो जाती है-

पत्नी--जोड़ हाथ बलमें तेरे आगे--
अब तुं मुंह से कह दे ।
छठ देखण मैं जाऊं बालमा !
इक रुपया मोहै दे दे ॥

पति--कहा कहै तुं धरती फोरे--
(गजब करना)
सुणिले मेरी प्यारी ।
(सुनले)
छठ देखण ना जाया करती-
भले घरों की नारी ।

पत्नी--संग सहेली जांये थोक की-
(मोहल्ला)
मैं कैसे रुक जाऊ ?
वहां दो आने की पऊवा--
बिकती जाय जलेबी खाऊं ॥

पति--लड्डू --पेड़ा और जलेबी--
सभी माल आजांगे ।
छठ पै ऐसा नंगा आवें--
(गुण्डे)
चौंट-चौंट खा जांगे ॥
(नौंच नौंच)

पत्नी ने जब पति के ये शब्द सुने तो उसके हृदय में बड़ी चोट लगी। क्योंकि अपनी संग की सहेलियों से मेले में चलने के लिए वह प्रण-प्रतिज्ञा कर चुकी थी। यदि वह उनके साथ न जाती तो उसका अपमान होता था। क्योंकि नारी को सब कुछ सहन हो जाता है परन्तु अपना अपमान बर्दाश्त नहीं होता। उसके लिये

वह उबल कर रणचण्डी तक बनने में नहीं हिचकती--

पत्नी--ऐसो के मेरे हाथ नहीं हैं--
जो मैं चुटवा लूंगी ।
काढ़ पना मोढ़े पै मारूँ --
(निकाल कर , जूती , मुंह पर)
सौ-सौ गारी दूंगी ।।
(गाली अब)

पति--मुंह ते तो तू समझा ली ईब--
(अब)
लाठी पै धर लूंगो ।
हर सुख नाट गयो है, मुंह ते--
जाण कभी न दूंगो ।।
(नाम, मना करना, मुझ से)

हठीली युवति पति के सिखावन को मानने को तैयार नहीं होती, बल्कि उसके विरुद्ध होकर अपने घर (पीहर) जाकर रहने की धमकी देती है--

पत्नी--देखो जावै तू अर हरसुख --
कैसे लट्ठ धरेगो ।
पीहर जाय रहूँगी ढ़ौटा !
मेरो कहा करैगो !

पति अपनी स्त्री को समझाता हुआ कहता है कि मैं देखता हूँ कि तुम अपने बाप के घर (पीहर) कब तक रह कर समय व्यतीत करोगी ! तुम्हारी नई तो उम्र है और अभी तक कोई बच्चा भी पैदा नहीं हुआ है । तुम किस प्रकार अपनी उम्र को व्यतीत कर सकोगी ?

पति--देखा जाए तेरो पीहर कब--
लौं नार डटेगी ?
नई उमर बालक ना पैदा--
कैसे उमर कटेगी ?

नारी अत्यन्त हठीली है । वह अपने अभिमान में इतनी चूर है कि पति की सब नसीहतें उसको भली नहीं लगतीं । बल्कि वह अपने यौवन के आवेश में कहती है --

पत्नी--कहा करूँ कित जाए--
छाती पै पहार धरयो है ।

औरौ जाय करूँगी--
(किसी और से शादी करलूंगी)
क्या पानी से देश भरो है !
(क्या और कहीं मेरे लिय ठिकाना नहीं है !)

जब स्त्री ने और विवाह करने के लिए अपने पति को चेलैंज दे दिया तो पति भी कुछ कम नहीं । उसने भी क्रोध में नारी से कहा --

पति--देखूं तोहे नार अबदार, (शक्तिवान)
कैसे खसम करैगी ।
काहे रंडुवा के घर--
पिटती रोज फिरैगी ।।

अहीरवाल भाषा में लोकजीवन के अनेक उदाहरण ऐसे पड़े हैं कि उनमें उपदेश के साथ साथ अनुभव भी हैं । यदि उनको धार्मिक दृष्टि से देखा जाए तो रामायण महाभारत, पुराणों के अने दृष्टांत इस खूबी से भरे पड़े हैं कि उनको

(शेष ७४ पृष्ठ पर)

हिन्दी-शब्द-समूह के ऐतिहासिक वर्गीकरण की समस्याएं

सुन्दर लाल शर्मा

वर्गीकरण के विभिन्न आधार :--

किसी भी भाषा के शब्द-समूह को पांच आधारों पर वर्गीकृत किया जा सकता है :--(१) शब्द-व्युत्पत्ति को आधार मानकर इसके अन्तर्गत हिन्दी में, रूढ़, यौगिक तथा योग रूढ़ नाम से तीन वर्ग निर्मित किये जाते हैं। (२) शब्द के जन्म-कारण को आधार मान कर इसके अन्तर्गत 'अनुकरणात्मक', 'अनुरणात्मक', 'श्रमपरिहारात्मक', 'भावसंकेतात्मक' 'मनोभावाभिव्यक्त्यात्मक,' आदि शब्द-श्रेणियां बनाई जाती हैं। (३) शब्द-शक्ति को आधार मान कर, इसके अनुसार शब्द के 'वाचक' 'लक्षक' तथा 'व्यंजक' तीन विभाग होते हैं। (४) प्रयोग को आधार मान कर (इसे 'व्याकरण को आधार मानकर' भी कहा जाता है) इसके अन्तर्गत शब्द के परम्परा के चले आये संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण , क्रिया, क्रियाविशेषण अव्यय, संबंधसूचक अव्यय, संयोजक अव्यय, विस्मयादिबोधक अव्यय--आठ भेद होते हैं। (५) शब्द के इतिहास को आधार मान कर, इसके अन्तर्गत हिन्दी में तत्सम, तद्भव, देशज तथा विदेशी आदि वर्ग बनते हैं।

उपर्युक्त पांच आधारों में अंतिम ही प्रस्तुत विवेचन का विषय है।

ऐतिहासिक वर्गीकरण का आशय :--

शब्द के इतिहास को आधार मान कर किसी भाषा के शब्द-समूह का वर्गीकरण करते समय दृष्टि शब्द के मूल उत्स पर रहती है। शब्द को जन्म देने वाली भाषा की खोज की जाती है और जननी-भाषा के आधार पर ही उस शब्द के वर्ग का नाम संकेतित कर दिया जाता है। वर्ग के नाम का अर्थ 'ऐतिहासिक' होता है , 'शाब्दिक' नहीं । 'तत्सम' का शाब्दिक अर्थ है 'उसके समान', किन्तु ऐतिहासिक वर्गीकरण के कोष में इसका एतिहासिक अर्थ–संस्कृत के समान ही ग्रहण किया जाता है।

हिन्दी शब्दों के ऐतिहासिक वर्ग :—

हिन्दी–शब्द समूह के ऐतिहासिक - वर्गीकरण की प्रक्रिया में अद्यावधि छः नाम देखने-सुनने को मिले हैं (१) "तत्सम (२) तद्भव (३) अर्द्धतत्सम (४) देशज (५) देशी तथा (६) विदेशी।" यों 'तत्समाभास', 'तद्भवाभास', 'विदेश्याभास' तथा 'देश्याभास' आदि वर्ग भी अपने अस्तित्व का छुट-पुट आभास देते रहे हैं। कहा जा सकता है कि आभास-विभागों के अन्तर्गत आने वाले शब्द अपना उस प्रकार का आभास-मात्र देते हैं, वास्तव में वे वैसे नहीं, इसीलिये हमने प्रस्तुत वर्गीकरण में उनके आभास का मुलम्मा उतार कर उन्हें उनके मूल वर्ग में पहुंचा दिया है। जैसे 'प्रण' तद्भव है, जोकि संस्कृत के 'पण' से विकृत हुआ है, किन्तु यह तत्सम के समान आभासित होता है, ऐसे शब्दों को हमने तद्भव के अन्तर्गत माना है। ऐसे ही कुछ भाषा-वैज्ञानिकों ने ऐतिहासिक वर्गीकरण के अन्तर्गत 'देश्यात्मक', अनुकरणात्मक आदि शब्द-वर्ग भी वनाए हैं, पर हमारे विचार से ऐसे वर्ग ऐतिहासिक वर्गीकरण की परिधि में न आकर, शब्द के जन्मकार पर आधारित वर्गीकरण के अन्तर्गत आते हैं।

आचार्य ग्रियर्सन, चेटर्जी तथा धीरेन्द्र जी शर्मा, तीनों ने हिन्दी शब्दसमूह को पांचों भागों में विभाजित किया है। (१) तत्सम (२) तद्भव (३) अर्द्ध-तत्सम (४) देशी तथा (५) विदेशी। डा० उदयनारायण तिवारी ने, कहीं-कहीं अपनी निजी व्याख्या का अधिकार सुरक्षित रखते हुए, उक्त 'पंचवर्ग' को ही ऐतिहासिक वर्गीकरण का आधार स्वीकार किया है। प्रसिद्ध वैयाकरण कामताप्रसाद 'गुरु' के पांच वर्ग ये हैं। (१) तत्सम (२) तद्भव (३) अर्द्धतत्सम (४) देशज तथा अनुकरणावाचक और (५) विदेशी। रामचन्द्र वर्मा ने वर्ग-निर्माण करते समय नाम तो लगभग ये पांच ही रखे हैं किन्तु उनमें से दो वर्गों (अर्द्ध तत्सम तथा परकीय) का अर्थ वे अपने ढंग से लेते हैं। डा० बाबूराम सक्सेना ने हिन्दी शब्दों के तत्सम, तद्भव, देशी, देशज तथा विदेशी नामों से पांच विधभाग किये हैं। 'हिन्दी 'शब्दानुशासन' के लेखक पं० किशोरीदास वाजपेयी ने हिन्दी-शब्दों को (१) तद्रूप (२) तद्भव (३) स्वकीय तथा (४) परकीय नाम के चार वर्गों में रखा है। श्री भोलानाथ तिवारी ने भी ऐतिहासिक आधार-भूमि पर हिन्दी शब्दों की (१) तत्सम (२) तद्भव (३) देशज तथा (४) विदेशी चार श्रेणियों की चर्चा की है, यद्यपि वे इन्हें समीचीन नहीं समझते।

तत्सम की व्याख्या :—

'तत्सम' की व्याख्या करने में भाषा वैज्ञानिकों तथा वैयाकरणों का लगभग मतैक्य ही रहा है। 'तत्' का अर्थ 'संस्कृत'

तथा 'सम' का अर्थ 'समान' लेकर, 'तत्सम' का अर्थ 'संस्कृत के समान' लिया जाता रहा है । 'तत्' का शाब्दिक अर्थ, 'उस' 'संस्कृत' के लिये रूढ़ हो गया है । हिन्दी ने वैदिक संस्कृत तथा लौकिक संस्कृत के जिन शब्दों को बिना कोई परिवर्तन किए, उनके मूल रूप में ग्रहण कर लिया है, वे सब 'तत्सम' के अन्तर्गत आते हैं । हां, यह अवश्य है कि उनमें से कुछ शब्दों के (विशेषत : अकारान्त शब्दों के, जैसे 'जल') संस्कृत उच्चारण तथा हिन्दी–उच्चारण किंचित भिन्न हो गये हैं । ये शब्द उच्चारण की दृष्टि से तो अधिकांश, तथा अक्षरों की दृष्टि से सभी संस्कृत और हिन्दी में समान हैं । हिन्दी में प्राप्य संस्कृत के इन शुद्ध तथा अविकृत शब्दों को 'तद्रूप', 'संस्कृत सम', 'तत्तुल्य' तथा 'समान शब्द' आदि नामों से भी अभिहित किया जाता रहा है ।

'तद्भव' की व्याख्या :—

'तद्भव' में भी 'तत्' संस्कृत का द्योतक है, तथा 'भव' का वाच्यार्थ 'उत्पन्न हुआ' लेकर, 'तद्भव' का अर्थ 'संस्कृत (रूप) से उत्पन्न हुआ' ग्रहण किया जाता है । हिन्दी के जो शब्द संस्कृत के शुद्ध शब्दों से विकसित या विकृत होकर अस्तित्व में आये हैं, वे सभी 'तद्भव' के अन्तर्गत आते हैं । सच तो यह है कि ये तद्भव शब्द ही हिन्दी की सबसे बड़ी पूंजी है, हिन्दी की सब क्रियाएं, सर्वनाम विभक्तियां ' 'तद्भव' के अन्तर्गत ही आती हैं । 'तद्भव' के 'संस्कृतभव', 'संस्कृत-योनि', 'तज्ज' तथा 'विभ्रष्ट' आदि पर्याय भी चलते हैं ।

'तत्सम-तद्भव' की समीचीनता:—

'तत्सम' और 'तद्भव' के उत्स, परम्परा और अर्थ की व्याख्या पर कई प्रश्न-चिह्न लगे हुए हैं । पहले 'तत्सम' को ही लीजिये : 'तत्सम' का 'संस्कृत के समान' अर्थ हम इसी आधार पर लेते हैं कि वह शब्द संस्कृत की सम्पत्ति है किन्तु यदि वह शब्द किसी आर्येतर भाषा से संस्कृत में आया हो तो हम उसे 'संस्कृत के समान' किस लॉजिक से कह सकते हैं ? कुछ भाषा-वैज्ञानिक यह मानते हैं कि आर्यों के आगमन् या आक्रमण से पूर्व 'सप्तसिन्धु' या 'मध्यदेश' में 'सिथियन' तथा द्रविड़ लोग निवास करते थे और आर्य-आर्येतर जातियों के इस पारस्परिक सम्पर्क से आर्यों की विजयी भाषा में अनार्यों की विजित भाषा के शब्द भी सम्मिलित हो गये । इस संबंध में Rev. R. Caldwell ने अपनी Comparative Grammaer of the Dravidian Languages में उल्लेख किया है कि उत्तरी भारत में जब आर्य पहले पहल सिथियन तथा द्रविड़ लोगों के सम्पर्क या संघर्ष में आये तो सिथियन भाषा की वाक्य रचना के आधार पर ही आर्य-भाषाओं की वाक्य रचना

का निर्माण हुआ तथा इन आर्य भाषाओं से संस्कृत में बहुत से शब्द भी आ मिले, उन्होंने संस्कृत-कोषों में प्रचलित ३७ शब्दों को द्रविड़ -उत्स के शब्द बताया है जिनमें 'अम्बा', 'कला', 'शव', 'नाना', 'नीर' तथा 'मीन' आदि शब्द भी सम्मिलित हैं। अब यदि कॉडवैल महोदय का मत सत्य माना जाये—कियत्काल के लिये ही सही —तो यह प्रश्न उठेगा कि 'नीर', मीन' आदि शब्दों को हम 'संस्कृत सम' माने या 'द्रविड़-भाषा-सम'?

वैसे कॉडवैल महोदय के मत का प्रतिवाद बड़े सशक्त ढंग से हो गया है। Mr. J. Beams ने अपनी 'Comparative Grammar of the Modern Aryan Languages of India" में प्रतिपादित किया है कि आर्यों तथा द्राविड़ों के निवास क्षेत्रों के बीच पर्याप्त दूरी थी और उस अन्तरप्रदेश में मुंडा जाति निवास करती थी। साथ ही Beams महोदय ने मध्यकालीन तथा आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की योगात्मक तथा अयोगात्मक प्रकृति को अपनी युक्ति का आधार बना कर सिद्ध किया है कि आर्य भाषाओं की वाक्य रचना के विकास-क्रम का द्रविड़ -भाषाओं की वाक्य रचना के विकास-क्रम से कतई मेल नहीं बैठता, और आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएं तो विश्लेषणात्मक हैं, कारक चिह्न तथा सहायक क्रियाओं के अलग से प्रयोग इसी विश्लेषणात्मक प्रकृति के परिचायक।

इतने पर भी हमारी मूल समस्या ज्यों की त्यों बनी है। इस ऐतिहासिक और भाषाई विवाद में न पड़ कर, आर्यों को बाहर से आया हुआ न भी मान कर तथा उन के इतर जातियों से संघर्ष की बात समाप्त करके भी, हमें इतना तो स्वीकारना ही होगा कि अति प्राचीन काल में अनार्य भाषाओं से आर्य-भाषा में कुछ न कुछ शब्द अवश्य आये होंगे, कोई जाति सभ्यता, संस्कृति और शक्ति की दृष्टि से कितनी भी धनी क्यों न हो, वह अपने सम्पर्क में आने वाली इतर जातियों की भाषाओं के शब्द लेती ही है और ऐसा संस्कृत ने भी किया होगा। आर्यभाषाओं के सन्दर्भ में 'अनार्य शब्दागम्' को ऐतिहासिक तथ्य मान लेने पर भी इस संबंध में दो बातों का विशेष ध्यान रखना होगा-(१) एक तो यह कि इन आर्येतर-स्रोत के शब्दों की निश्चित संख्या का, आज तक किसी को ज्ञान नहीं है (२) यदि कभी कोई छुट-पुट प्रयास इस दिशा में हुआ भी है तो अन्य विद्वानों ने उन्हीं शब्दों को लेकर यह दिखाया है कि ये तो संस्कृत की निजी पूंजी है। जैसे Rev. Caldwell ने संस्कृत में प्रायः ३७ शब्दों को द्रविड़

स्रोत के शब्द माना है, किन्तु कुछ विद्वानों ने कॉडवैल महोदय द्वारा गिनाये गये इन्हीं शब्दों को लेकर बताया है कि संस्कृत, वाङ्मय में इन शब्दों का प्रयोग दो हजार वर्षों से भी अधिक समय से होता आ रहा है जबकि द्रविड़ भाषाओं में उनका प्रयोग ईसा की आरम्भिक शताब्दियों में भी नहीं मिलता—सुलझाव और स्पष्टता को अभीप्सित मान कर हम हिन्दी में प्राप्त या प्रचलित उन सभी शब्दों को, 'तत्समे' मान सकते हैं जो वैदिक या लौकिक संस्कृत में उसी रूप में पाये जाते हैं; बिला लिहाज़ इस बात के कि वे वहां (संस्कृत) कहां से आये हैं। इस प्रकार हम 'तत्सम' का अर्थ 'संस्कृत में पाये जाने वाले रूप के समान' ग्रहण कर सकते हैं। 'तत्सम' का यह अर्थ लेने से इसके अर्थ-बोध में स्पष्टता और ऐतिहासिकता आ जाती है क्योंकि प्राकृत वैयाकरणों से लेकर हिन्दी के अधुनातम वयाकरणों तक सभी ने 'तत्सम' को लगभग यही आशय लेकर प्रयुक्त किया है। हमें तो, नई लीक बनाने के लिये ही नई लीक बनाना न जंचता है, न रुचता है।

ऐसे ही 'तत्सम—तद्भव' संबंधी एक उलझन और पैदा हो सकती है: 'तत्सम' और तद्भव' का परम्परागत वर्गीकरण इस मान्यता पर आधारित है कि 'प्राकृत संस्कृत उद्भूत है', लेकिन ऐसे विद्वानों का भी अभाव नहीं है जो यह मानते हैं कि वैदिक संस्कृत तथा लौकिक संस्कृत दोनों ही साहित्यिक भाषाएं हैं तथा इन दोनों का विकास सरस्वती और यमुना के क्षेत्र में इनसे पूर्व स्थित प्राकृत बोली से हुआ है। उक्त विद्वानों की यह भी मान्यता है कि प्राकृतों में 'तद्भव' संज्ञा से अभिहित किये जाने वाले शब्द, वैदिक संस्कृत या पाणिनीय संस्कृत से नहीं आये हैं, अपितु उनकी पूर्ववर्तिनी प्राकृत बोलियों से जिन्हें उनके अनुसार 'देश भाषा' भी कहा जाता था, आये हैं। 'प्राकृत संस्कृत उद्भूत नहीं है' के सम्बन्ध में सबसे पहले वाक्पतिराज (आठवीं शती ईस्वी) का कथन द्रष्टव्य है, 'सारी वाणियां इसमें (प्राकृत में) प्रविष्ट होती हैं और इससे बाहर आती हैं जैसे कि सारे जल समुद्र में गिरते हैं और उससे बाहर आते हैं। मूल :

'सयलाओ इमं वाया विसंति एत्तो य
णेंति वायाओ ।
'एंति समुद्दं चियणेंति सायराओ च्चिय
जलाइं ।।'

उपर्युक्त मत को धार्मिक कारणों से, जैन विचारकों ने विशेष बल दिया है। ग्यारहवीं शती ईस्वी के जैन विद्वान्, नमिसाधु का मत है, "प्राकृत का अर्थ है प्रथम उत्पन्न की हुई 'प्राक्+कृत; यह वाणी सभी अन्य वाणियों का उत्स है...शुद्ध होने पर इसे ही संस्कृत कहते हैं।" हेमचंद्र ने अपनी 'व्याकरण ' में तो प्राकृत को

संस्कृत से उत्पन्न बताया है, किन्तु अपनी परवर्ती कृतियों, 'काव्यानुशासन' तथा 'देशीनाम माला' में वाक्पतिराज तथा नमिसाधु के मत की पुष्टि की है।

प्राकृत की पूर्वस्थिति स्वीकार करने से 'तत्सम' और 'तद्भव' के परम्परागत अर्थों का परित्याग करना होगा। परम्परा से 'तद्भव' का अर्थ 'संस्कृत रूपों से विकसित या विकृत शब्द' लिया जाता है तथा इस विकास या विकार के तीन कारण—(१) लोप (२) वर्णादेश तथा (३) वर्णागम भी दिये जाते हैं। किन्तु प्राकृत की प्राथमिकता को मानने से तो तद्भव शब्द संस्कृत से विकसित या विकृत माने ही नहीं जा सकते, इसके विपरीत संस्कृत के तत्सम शब्द ही इन देश भाषाओं के शब्दों के शुद्ध किये हुए या विकृत रूप माने जायेंगे और संस्कृत-काल के उपरान्त भी यदि ये शब्द मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं में मिलते हैं, तो भी ये संस्कृत से नहीं, प्राचीन प्राकृतों की परम्परा से आये हुए कहे जायेंगे। इस तर्क से तो संस्कृत के 'तत्सम', 'तद्भव' हो गये तथा प्राकृतों में प्राप्य 'तद्भव' 'तत्सम' हो गये।

किन्तु ज्यों-ज्यों आर्य भाषाओं के, और विशेषत: भारतीय आर्य भाषाओं के सम्बन्ध में अनुसंधान की गति बढ़ती जा रही है, त्यों-त्यों इस भ्रामक सिद्धांत में विश्वास कम होता जा रहा है और अब वे विद्वान् फुनगी पर गिनने लायक ही रह गये हैं जिनकी अब भी यह मान्यता है कि संस्कृत प्राकृत-उद्भूत है। एक दो की बात हम नहीं कहते, प्राकृत वैयाकरणों में से अधिकतर ने अपनी कृतियों का आधार 'संस्कृत का प्राकृतों से पूर्व स्थित होना' ही बनाया है। 'प्राकृत संस्कृत उद्भूत है' मान्यता पर प्राकृत वैयाकरणों के मत द्रष्टव्य है : प्राकृत ऐसी भाषा है जिसकी प्रकृति या उत्स संस्कृत हो।

(१) 'प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवं प्राकृतमुच्यते
(मार्कण्डेय प्राकृत सर्वस्व)

(२) प्रकृतः संस्कृतयास्तु .विकृतिः प्राकृतोमता' (षड्भाषाचन्द्रिका)

(३) प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवत्वात् प्राकृतं स्मृतम्'
(प्राकृतचन्द्रिका)

नमिसाधु के 'प्राक्+कृत' वाली बात के सम्बन्ध में विद्वानों का कथन है कि यदि उनकी मान्यता सत्य होती तो यह शब्द 'प्राकृत' न होकर 'प्राक्कृत' होता; उनमें अर्द्ध मागधी के पक्षपात की बात भी लोग सोचते हैं। हेमचन्द्र के समानान्तर मत-परिवर्तन का उदाहरण हमें आचार्य ग्रियर्सन में मिलता है, आचार्य प्रवर पहले तो यह मानते थे कि संस्कृत प्राकृत से विकसित हुई किन्तु बाद में उन्होंने यह मान्यता बदल दी और प्राकृत को संस्कृत से विकसित भाषा मानने लगे। 'संस्कृत विश्वविद्यालय' वाराणसी के वर्तमान उपकुलपति (१९६४ ई०) श्री त्रिपाठी

का मत है कि प्राकृत लौकिक संस्कृत से ही निकली है क्योंकि यह वैदिक संस्कृत की अपेक्षा लौकिक संस्कृत से अधिक मिलती है। प्रोफैसर लैसेन तथा बैनफे प्रभृति विद्वानों ने तो यहां तक कहा है कि संस्कृत बोलचाल की भाषा थी, हां इतना ज़रूर है कि उसका बोलचाल वाला रूप पाणिनीय रूप से थोड़ा भिन्न होगा। कुछ विद्वानों का यह मत कि 'दोनों संस्कृत साहित्यिक भाषाएं हैं और इनसे पूर्व प्राकृत बोलियों का ही बोलचाल में प्रयोग होता था' भाषा-विज्ञान के हिसाब से तर्कसंगत नहीं लगता, क्योंकि ऋग्वेद-काल के भी पहले से चली आ रहीं (उनके अनुसार) प्राकृत बोलियों का वही रूप ईस्वी शती के पांच सौ वर्ष पूर्व से ५०० वर्ष बाद तक कैसे मिल सकता था? हां, किसी दुराग्रह के कारण ये लोग वैदिक संस्कृत की पूर्व वर्ती भाषा या बोली को 'प्राकृत' कहना चाहें तो कह लें, पर हम यह मानने को कभी तैयार नहीं हैं कि नास्तिक दर्शनों में प्रयुक्त प्राकृत और ऋग्वेद-काल से पूर्व की 'प्राकृत' (ऐसा कहने की छूट दी जा चुकी है) का एक ही रूप होगा।

सो अपने शब्दों का वर्ग-निर्धारण करते समय हमें 'वैदिक संस्कृत' जिसे 'वैदिकी', 'छन्दस्', 'प्राचीन संस्कृत' तथा 'वैदिक भाषा' आदि नामों से भी सुशोभित किया जाता है, ही को अपना यात्रारम्भ विन्दु मानना चाहिए। इस प्रस्थापना से 'तद्भव' का रूढ़ अर्थ ही हमें ग्राह्य है, हमें 'तद्भव' के अन्तर्गत वे सभी शब्द ले लेने चाहिएं जिनमें संस्कृत-शब्दों की कुछ परिवर्तित प्रतिच्छाया दृष्टिगत होती है।

हिन्दी और प्राकृत के सन्दर्भ में तद्भव से संबंधित एक प्रश्न और हो सकता है कि प्राकृत के वैयाकरण तो संस्कृत से विकसित-विकृत शब्दों को 'तद्भव' इसलिये मानते थे कि वे शब्द उनके यहां सीधे संस्कृत से आये थे, उनके लिए 'तत्+भव' शब्द का प्रयोग समीचीन ही था। किन्तु हिन्दी के संदर्भ में इनकी स्थिति पहले से कुछ भिन्न है। हिन्दी में संस्कृतमूल से विकसित शब्द दो प्रकार के हैं, एक वे जो आधुनिक काल में संस्कृत रूपों से विकसित हुए हैं, जैसे कृष्ण से 'किशन'। दूसरे वे जो मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं प्राकृत, अपभ्रंश आदि के माध्यम से अपने विभिन्न रूप बदलते हुए आये हैं जैसे 'अद्य' संस्कृत से चल कर प्राकृतों में 'अज्ज' रूप धारण करता हुआ हिन्दी में 'आज' बन कर आ बैठा। उपर्युक्त दो श्रेणियों में से पहली श्रेणी के शब्द तो, निश्चय ही, संस्कृत के तत्समों से सीधे विकसित होने के कारण 'तद्भव' होंगे, किन्तु अधिकांश को तो हमें प्राकृतों के तद्भवों से जन्म लेने के कारण 'प्राकृत-तद्भवज' या प्राकृत

भव' की संज्ञा देनी चाहिए, क्योंकि विकास-क्रम की दृष्टि से हम उन्हें 'संस्कृत-भव' तो कह ही नहीं सकते।

इस संबंध में हम पाठक को अपनी वह बात याद दिलाना चाहते हैं जो हमने इस लेख के आरम्भ में कही थी। वर्ग के नाम का अर्थ' ऐतिहासिक होता है 'शाब्दिक' नहीं इसलिये हम यहां यह निवेदन करदें कि हम 'तद्भव' को एक विशिष्ट अर्थ में ही प्रयुक्त करें और वह है :''संस्कृत रूप से एकदम या मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं के माध्यम से विकसित हुआ हिन्दी का हर कोई शब्द 'तद्भव' होगा'। देखा जाये तो 'तद्भव' के शाब्दिक अर्थ में भी यह प्रतिबंध कहीं नहीं है कि 'तद्भव' को संस्कृत से 'एकदम भव' होना चाहिए। हिन्दी को अपनी मातृ मातामही, संस्कृत के देश से चलकर अपने यहां तक आने वाले शब्दयात्रियों को यह कृतज्ञतासूचक छूट देनी चाहिए कि वे चाहे तो उसकी जननी भाषाओं के विश्राम-स्थलों पर श्रमपरिहार करते तथा कई-कई जोड़ी वस्त्र बदलते हुए उसके घर तक आयें, और चाहे मार्ग में विश्राम किये बिना केवल एक जोड़ा वस्त्र बदल कर ही सीधे उसके द्वार तक आयें, उन सबका, उसके द्वार पर 'तद्भव' जैसी 'जननी-भक्ति-सूचक' संज्ञा से ही स्वागत किया जायेगा।

अर्द्ध तत्सम क्यों ?

यहीं पर 'अर्द्धतत्सम' को भी देख-परख लिया जाये। आचार्य ग्रियर्सन, चैटर्जी तथा धीरेन्द्र वर्मा ने ऐतिहासिक वर्गीकरण के अन्तर्गत 'अर्द्धतत्सम' नाम से भी एक वर्ग की स्थापना की है। 'अर्द्धतत्सम' को वे 'तत्सम' और 'तद्भव' के बीच का वर्ग मानते हैं और इस श्रेणी में उन शब्दों को लेते हैं जो आधुनिक काल में या थोड़े समय पूर्व ही 'तत्सम' शब्दों से विकसित हुए हों, जैसे 'कृष्ण' से 'कान्ह', 'कान्हा', 'कन्हैया' आदि तो 'तद्भव हुए किंतु 'किशन', 'किशनु' आदि, उनके अनुसार 'अर्द्धतत्सम' की श्रेणी में आये। रामचन्द्र वर्मा ने उन शब्दों को 'अर्द्धतत्सम' माना है, "जिनका रूप प्राकृत में तो बदला हुआ अवश्य था पर जो प्राकृत से हिन्दी में ज्यों-के-त्यों आ गये—उनके रूपों में फिर कोई नया परिवर्तन नहीं हुआ। इस प्रकार के कुछ शब्द पुरानी हिन्दी में पाये या कहीं-कहीं गांव-देहातों में बोले जाते हैं। जैसे सं० 'अग्नि' से प्राकृत रूप 'अगिन' हुआ था, पर हिन्दी में वह आग हो गया। 'अगिन' अब भी कहीं-कहीं गांव-देहातों में बोला जाता है, यह 'अगिन' रूप उनके अनुसार 'अर्द्धतत्सम' कहलायेगा।"

हमने कई कारणों से इनका स्वतंत्र वर्ग स्वीकार न कर के इन्हें 'तद्भव' के अन्तर्गत ही लेते हैं। पहला कारण तो यह है कि ये शब्द संस्कृत वाले रूप में तो हैं नहीं, इन्होंने विकास की दिशा में एक पग बढ़ा ही दिया है, फिर हम इन्हें' तद्भव'

क्यों न मानें ? हमारे 'तद्भवों' के लिये केवल इतना ही तो आवश्यक है न कि उनका कोई रूप संस्कृत में अवश्य हो, मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं में उनका कोई रूप होना न होना कतई जरूरी नहीं है। दूसरे, यदि किसी 'तत्सम' के हिन्दी में दो 'तद्भव' चलते हों तो उन दोनों को तद्भव मानने में हमें क्यों कोई आपत्ति हो ? स्वयं संस्कृत में अक्षरों की थोड़ी भिन्नता मात्र लेकर कई क्रियाओं तथा बहुत सी संज्ञाओं के दो-दो रूप चलते हैं। संस्कृत का 'दैव' बिहारी ने 'दई नई यह रीत' में 'दई' करके प्रयुक्त किया है और हिन्दी के ग्राम क्षेत्रों में यह 'हाय दैया' में 'देया' होकर चलता है, 'दई—दैया' दोनों ही 'तद्भव हो' सकते हैं। तीसरे आधुनिक काल या थोड़े समय पूर्व की सीमाओं का निर्णय करना भी टेढ़ी खीर है। आधुनिक काल आरम्भ कौन सी शती, कौनसी दशाब्दि, कौन से वर्ष और कौन सी तिथि से माना जाये और कौन इसका निर्णय दे ? चौथे ये शब्द जब सरलता से 'तद्भव' वर्ग के अन्तर्गत आ सकते हैं तो अनावश्यक रूप से एक वर्ग और क्यों खड़ा किया जाये ?

देशजः——

प्राकृत वैयाकरणों ने 'देशज' के समान अर्थ में 'देशी', 'देश्य', 'देशी प्रसिद्ध' तथा 'देशीमत' आदि शब्दों को भी प्रयुक्त किया है। हेमचन्द्र उन शब्दों को जिनका विकास उनकी व्याकरण के नियमों द्वारा नहीं हुआ है तथा जो संस्कृत कोषों में प्रचलित नहीं हैं, 'देशी' मानते हैं। Beams 'देशज' के संबंध में लिखते हैं, 'देशज वे शब्द हैं जिनकी निष्पत्ति किसी भी संस्कृत-शब्द से नहीं है, और इसलिये इन्हें या तो देश के आदि निवासियों से लिया हुआ समझा जाता है या उत्तर संस्कृत-काल में आर्यों द्वारा आविष्कृत किया हुआ।

"Desajas are those words which cannot be derived from any Sanskrit word and are therefore considered to have been borrowed from the aboringines of the country or invented by the Aryans in Post-Sanskritic times"

—Beams : A Comparative Grammar of the Modern Aryan Languages of India.

'देशी' शब्दों के सम्बन्ध में A.F.R. Hoernle के विचार भी लगभग ऐसे ही हैं, 'वे (देश के वैयाकरण) इस नाम (देश्य) से ऐसे सभी शब्दों को वर्णित करते हैं जिनकी निष्पत्ति वे किसी संस्कृत शब्द से संतोषप्रद ढंग से नहीं दिखा सकते, इसलिये इनका उद्गम वे देश (ग्राम या प्रान्त) में समझते हैं। इन वैयाकरणों (की बात) से यह स्पष्ट नहीं होता कि ये शब्द आदि निवासियों से लिये गये हैं या उत्तर संस्कृत काल में ग्रामीण आर्यों ने इनका आविष्कार किया है या

वे संस्कृत के किसी रूप से ऐसे विकृत हो गये हैं कि पहचाने भी नहीं जाते ।" सर आर० जी० भंडारकर ने 'देशज' की परिभाषा इस प्रकार दी है, 'ऐसे शब्द जिनकी उत्पत्ति संस्कृत से नहीं दिखाई जा सकती और निश्चय ही उनका उद्गम कोई दूसरा ही है । (Bhandarkar Wioson Philological Lectures) डा० धीरेन्द्र वर्मा देशी को भारतीय अनार्य भाषाओं से आये हुए' शब्द स्वीकार करते हैं । डा० उदयनारायण तिवारी ने देशी की परिभाषा इस ढंग से दी है 'आज इससे—देशी शब्द से—उन शब्दों का तात्पर्य लिया जाता है जो भारत के आदिवासियों की भाषाओं तथा बोलियों से वैदिक तथा पाणिनीय संस्कृत एवं प्राकृत तथा नव्य आर्य भाषाओं में समय समय पर आये हैं ।' डा० बाबूराम सक्सेना ने 'देशी' को 'देश की अन्य भाषाओं से लिया हुआ ' तथा 'देशज' को 'आधुनिक समय की बोलचाल में स्वतः विकसित शब्द माना है । 'देशी' के विषय में डा० बाहरी का मत द्रष्टव्य है "देशी वे शब्द हैं जिन्हें जनसाधारण किसी ध्वनि या व्यापार को देख सुनकर सहज मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया के रूप में अन्तःप्रेरणा से अभिव्यक्त करते हैं, ऐसे शब्दों की परम्परा न आर्य है न आर्येतर और न विदेशी, बल्कि शुद्ध देशी है । " डा० भोलानाथ तिवारी देशज तथा देशी दोनों को 'देशज' के अन्तर्गत लेते हुए 'देशज' की परिभाषा ऐसे देते हैं 'देशज' शब्द उन्हें कहते हैं जो उपर्युक्त तीन (तत्सम, तद्भव तथा विदेशी) में किसी में न हों, अर्थात् जिनकी व्युत्पत्ति का पता न हो । दूसरे शब्दों में जो इन तीनों में न होकर देश में उत्पन्न या विकसित हुए हों ।"

प्राकृत-प्रसंग में 'देशी' की परिभाषाओं पर थोड़ा विचार करने से यह ज्ञात होता है कि प्राकृत वैयाकरणों के यहां 'देशी', 'देशज' तथा 'देश्य' में कोई अंतर नहीं है; ये तीनों शब्द एक ही अर्थ के द्योतक हैं और इस वर्ग के अन्तर्गत वे उन सब शब्दों को सम्मिलित करते हैं--(१) जिनकी निष्पत्ति संस्कृत-रूप से न हो (२) यदि हो भी, तो वह स्पष्ट पहचान के बाहर हो (३) जिनको उत्तर संस्कृत-काल में ग्राम निवासी आर्यों ने आविष्कृत किया हो (४) जो आर्येतर भाषाओं से आर्य-भाषाओं में आ गये हों ।

हिन्दी में भी अधिकांश भाषा-शास्त्रियों ने 'देशी' या 'देशज' को ऊपर वाले अर्थों में ही प्रयुक्त किया है, किन्तु कुछ-एक ने इन्हें दो स्वतंत्र वर्गों में वर्गीकृत किया है जिससे भ्रमोत्पादन हो गया है । डा० उदयनारायण तिवारी ने तो अनार्य-स्रोत के उन शब्दों को भी 'देशी' की श्रेणी में ला पटका है जो वैदिक या लौकिक संस्कृत में ही आ गये थे; यह और बात

रही कि हमें उनका ठीक-ठीक ज्ञान हो या न हो। डा० बाबूराम सक्सेना ने (डा० अम्बा प्रसाद सुमन द्वारा उद्धृत लेख सप्तसिन्धु पत्रिका १९६४) 'सामान्य भाषा विज्ञान, संवत् २०१३ में प्रकाशित P. १२६) 'देशी' तथा 'देशज' नाम से दो स्वतंत्र वर्ग बनाये हैं। डा० सक्सेना ने 'देशी' का अर्थ लिया है 'देश की अन्य भाषाओं से लिये हुए शब्द तथा 'देशज' को माना है जो शब्द आधुनिक समय की बोलचाल में स्वतःविकसित हुए हों।' जो शब्द डा० सक्सेना के 'देशज 'वर्ग के अन्तर्गत आयेंगे वे ही शब्द डा० बाहरी के 'देशी' वर्ग के अन्तर्गत आने चाहिएं। (ऊपर दी हुई डा० बाहरी की 'देशी' की परिभाषा देखिए) जिन शब्दों को डा० सक्सेना 'देशी' कहते हैं कामताप्रसाद 'गुरु' उन्हें 'देशज' कहना पसंद करेंगे, और श्री रामचन्द्र वर्मा उन्हें 'परकीय' शब्द से अभिहित करेंगे। (रामचन्द्र वर्मा का परकीय शब्द अंग्रेज़ी के 'फारन' के समान है और इसके अन्तर्गत वे अपने भाषा-क्षेत्र से बाहर के सभी शब्दों को लेते हैं)

हिन्दी के भाषा-शास्त्रियों का देशज-देशी भ्रम देख कर हमें तुलसी को निम्न पंक्तियों में ही अपना त्राण दिखाई देता है:

'कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल कोऊ माने।
तुलसीदास परिहरै तीनि भ्रम, सो आपन पहिचानै॥'

इसलिये हमें हिन्दी में भ्रम परिहार तथा इस वर्ग की स्पष्ट पहचान करने के लिये दो वर्ग न बना कर एक 'देशज' वर्ग ही रखना चाहिए।

इस संबंध में हमारा विनम्र निवेदन है कि जब प्राकृत-व्याकरणों में एक ही शब्द-'देशी', 'देशज' तथा 'देश्य' में से कोई एक—दोनों शब्द वर्गों (आर्यों द्वारा संस्कृतोत्तरकाल में आविष्कृत तथा देश की आर्येतर भाषाओं से आये हुए) का सफल प्रतिनिधित्व कर सकता था तो हिन्दी में ऐसा ही क्यों नहीं हो सकता? क्या हिन्दी का हाजमा इतना खराब हो गया है कि यह उक्त दोनों श्रेणियों के शब्दों को एक वर्ग के अन्दर नहीं पचा सकती? क्या परम्परा को तोड़ कर व्यर्थ में एक और वर्ग खड़ा करने से ऐतिहासिक वर्गीकरण की प्रक्रिया में किसी स्पष्ट सरलता की सृष्टि हो जायेगी? हम समझते हैं 'नहीं'। तो फिर हिन्दी का 'देशज' वर्ग भी हिन्दी-क्षेत्र में तत्सम, तद् भव परम्परा से स्वतंत्र, किसी भी काल में उत्पन्न शब्दों तथा देश के अन्य भाषा क्षेत्रों में किसी भी परम्परा और किसी भी काल में उत्पन्न होकर हिन्दी में आने वाले शब्दों, का वाचक और प्रतिनिधि हो सकता है। उद्देश्य पूर्ति करने में समर्थ तथा परम्परा से पुष्ट, वर्ग के होते हुए

भी नए वर्ग का निर्माण करना पांडित्य-प्रदर्शन के सिवा और क्या है ?

'देशज' और 'विदेशी' की अध्याच्छादक सीमायें

'देशज' तथा 'देशी' के दो स्वतंत्र वर्ग न बना कर दोनों का एक ही वर्ग बनाने से मूल समस्या का कुछ प्रतिशत अंशों में ही समाधान हुआ है; देशी-देशज की उलझनें अब 'देशज' के अन्तर्गत आ गई। प्राकृत वैयाकरणों को 'देशी' वर्ग के निर्माण करने में किसी भी कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ा, क्योंकि जो शब्द 'तत्सम' और 'तद् भव' की परिधि में नहीं आ पाते थे, झट से उन्हें 'देशी' कह दिया जाता था, किन्तु हिन्दी को नई आवश्यकताओं वश, विदेशी नाम से एक वर्ग और निर्मित करना पड़ा। विदेशी वर्ग के जन्म लेते ही यह आवश्यकता दुर्दम रूप में सामने आती है कि हम 'देशज' तथा 'विदेशी' की सीमाओं का ठीक ठीक निर्धारण करदें।

यों तो हिन्दी का साधारण-से-साधारण विद्यार्थी भी 'देशज' और 'विदेशी' शब्द वर्गों का अन्तर मोटे रूप में स्पष्ट कर देगा, किन्तु बात इतनी सरल नहीं है जितनी दिखाई देती है। अब तक की मान्यता के आधार पर जो शब्द 'देश' में जन्म लें वे 'देशज' तथा जो 'विदेशी भाषाओं से आयें वे 'विदेशी' समझे जाते रहे हैं। इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम प्रश्न यह है कि 'देश' किसे मानें ? किस वर्ष के मानचित्र को प्रामाणिक मान कर देश की सीमायें सुनिश्चित की जायें ? हंसी की बात नहीं है, कविवर 'दिनकर' की यह पंक्ति "मानचित्र में जो मिलता है वहीं देश भारत है।" अभिधा और लक्षण, दोनों ही शक्तियों से सही है, काव्य से भी अधिक यह भाषा-विज्ञान में सही उतरती है।

सन्' ३५ तक का भारत-चित्र लें तो ब्रह्मदेश की तिब्बती-चीनी कुल की भाषाओं से हिन्दी में आये हुए शब्द भी 'देशज' होंगे, किन्तु सन् '३५ के अधिनियम के पारित होते ही हमें ऐसे शब्दों की खोज करने बैठना होगा और अप्रैल सन्' ३७ में, ब्रह्मदेश के भारत से विलग होते ही उन शब्दों के विदेशी होने की विधिवत् घोषणा करनी होगी।

मई सन् ३७ से अगस्त सन्' ४७ तक चलने वाला भारत का मानचित्र लें तो आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएं सिन्धी (सिन्ध में प्रचलित) तथा लहंदा (पश्चिमी पंजाब में प्रचलित) तो देश की सीमाओं में पड़ेगी हीं और उनसे हिन्दी में आये हुए शब्दों को भी कोई देशज बनने से नहीं रोक सकता, साथ ही भारत के उत्तरी पश्चिमी सीमान्तों में बोली जाने वाली ईरानी-भाषा कुल की 'पश्तो' को भी आप देशी बनने से कानूनन नहीं रोक सकते और ऐसा ही दावा तिब्बती

चीनी भाषा कुल की लद्दाख में बोली जाने वाली बोलियां भी कर सकती हैं। किन्तु १४ अगस्त सन् ४७ के दिन, पाकिस्तान के जन्म लेते ही, सिन्धी और लहंदा, और साथ में पश्तो भी विदेशी भाषाएं हो जायेंगी तथा उनसे हिन्दी में–आये शब्दों पर जो अब तक देशज के घर में बैठे थे, विदेशी की मोहर लगानी होगी, क्योंकि पाकिस्तान को विदेश मानने से तो कोई इंकार कर ही नहीं सकता।

उपर्युक्त कठिनाइयों के होते हुए भी और यह स्वीकार करते हुए भी कि देश तथा भाषा-क्षेत्रों की सीमाएं, आजकल आये दिन बदला करती हैं, हमारे पास देश की सीमाओं को निर्धारित करने का भौगोलिक आधार के अतिरिक्त कोई पर्याय नहीं है। हां, इस पर्याय में अधिकतम स्थायित्व की सृष्टि करने का प्रयास हमारी ओर से अवश्य होना चाहिए।

भाषा की दृष्टि से यह प्रस्थापना सरल तथा स्थायी रहेगी कि हम भारतीय उपमहाद्वीप को देश मान कर चलें। इसकी इकाइयां भारत, पाक, लंका, नेपाल, ब्रह्मा, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक तथा आर्थिक दृष्टियों से तो एकीकृत समग्रता की द्योतक हैं ही, भाषाई दृष्टि से भी हम इन्हें भारत के विभिन्न भाषा-परिवारों के सूत्रों से बद्ध पाते हैं। पश्तो का थोड़ा सा क्षेत्र छोड़ कर पाकिस्तान के शेष भाग में प्रचलित सिन्धी, लहंदा तथा बंगला आधुनिक, भारतीय आर्य भाषाएं हैं और वहां की प्रमुख राजभाषा, उर्दू, अरबी-फारसी शब्दों की बहुलता लिये हुए खड़ी-बोली हिन्दी की एक शैली के अतिरिक्त और क्या है ? ऐसे ही श्रीलंका में प्रयुक्त होने वाली दोनों भाषाएं––सिंघली, भारतीय आर्यभाषा परिवार की सदस्या और तमिल, भारत के दूसरे ड़े भाषा-परिवार, द्रविड़ भाषा-परिवार, की सदस्या–ऊपर वर्णित ऐक्य की द्योतक हैं। आचार्य ग्रियर्सन ने भारत के भाषा-परिवारों में छठा वर्ग ब्रह्मदेश की 'करेन और मन' भाषाओं का ही बनाया था, ब्रह्मा की 'मन' भाषा उसी आग्नेय देशी परिवार की भाषा है जिसमें भारत की 'मुंडा' भाषायें भी आती हैं। ब्रह्मदेश की वे भाषाएं जो तिब्बती-चीनी कुल के अन्तर्गत आती हैं, 'बर्मी-आसामी' उपवर्ग के अन्तर्गत रखी जाती हैं। नेपाल की राज्य भाषा, 'नेपाली' जिसे पर्वतिया, 'गुरखाली' खसखुरा' आदि नामों से भी अभिहित किया जाता है, हिन्दी-प्रदेश की उपभाषाओं के पहाड़ी वर्ग के अन्तर्गत आती हैं, देवनागरी ही उसकी लिपि है। इसलिये 'देशज' शब्दों की परिधि निश्चित करने के लिये हमें भारत उपमहाद्वीप को ही अपना आधार मानना चाहिए। हमारे द्वारा मान्य भारत या स्वदेश की सीमाएं अत्यंत प्राकृतिक हैं, उन पर राजनीतिक उथल-पुथल का कभी कोई प्रभाव नहीं

होता। इस मानचित्र की सीमा बांधने के लिये किसी भी व्यक्ति को भारत उपमहाद्वीप के ठेठ पश्चिम में स्थित ताहर -पहाड़ियों से चल कर, कंधार के निचले पार्श्व से होकर, उत्तर को बढ़ते हुए हिन्दुकुश पर्वत पहुंचना होगा और वहां से महान् हिमालय पर चलते चलते 'नेफा' पहुंच कर नीचे मुड़ना होगा और ब्रह्मदेश की पूर्वी सीमा को पूरा पार करके समुद्र तक आना होगा और वहां से जलयान की सहायता से अंडेमान और सिंघल को अपने सीधे हाथ पर रखते हुए अपने यात्रारम्भ बिन्दु को प्राप्त करना होगा। राजनीतिक इकाइयों की दृष्टि से इस महाप्रदेश की पश्चिमी, उत्तरी तथा पूर्वी सीमाओं पर ब्लूचिस्तान, भूतपूर्व उत्तरी-पश्चिमी सीमा प्रान्त, कश्मीर, जम्मू, नेपाल, सिक्कम, भूतान, नेफा और ब्रह्मदेश स्थित होंगे तथा दक्षिण में हिन्द महासागर होगा। उक्त प्रदेश को प्रकृति ने ही कुछ निराला बनाया है, साम्राज्यवादी शक्तियों ने अवश्य ही इसे खंड खंड कर दिया है, किन्तु हमारे हृदयों में तो ये एक हैं, अखंड है, अमर है। किन्तु 'देशी' कहलाने की हकदार बनने के लिये प्रत्येक भाषा को एक शर्त अवश्य पूरी करनी चाहिए : कि उस भाषा के बोलने वालों की अधिकांश संख्या तथा जहां तक संभव हो सके, उसके विस्तार का अधिकांश क्षेत्रफल भारत उपमहाद्वीप की ऊपर वर्णित सीमाओं में ही स्थित हो। उदाहरण के लिये यदि भारत की सीमा पर स्थित कोई गांव या गांवों का समूह चीनी भाषा बोलता हो, तो इस आधार पर 'चीनी' 'देशी' भाषाओं की परिधि में नहीं आ सकती क्योंकि उसका अधिकांश क्षेत्र फल और जनसंख्या तो भारत के बाहर ही स्थित होंगे। इसी आधार पर हम 'पश्तो' को भी, यद्यपि वह उपमहाद्वीप के कुछ भागों में बोली जाती है, 'देशी' भाषा नहीं मानेंगे, 'पश्तो' का तो दूसरा नाम 'अफगानी!' या अफगानिस्तानी' ही विदेशी है। 'आग्नेय कुल' की मुंडा भाषाओं का क्षेत्र भारत ही है, अतः मुंडा भाषाओं के 'कौड़ी' जैसे शब्द 'देशी' होंगे। अंडमान भारत का प्रदेश है, वहां की 'अंडमानी' भाषा का विश्व के किसी भी भाषा-परिवार से अभी तक संबंध स्थापित नहीं किया जा सका है, उसका क्षेत्रफल तथा जनसंख्या भारत में ही स्थित है, अतः अंडमानी 'देशी' भाषा होगी। 'निकोबारी' तो मुंडा भाषाओं की बहन है ही। तिब्बती चीनी कुल की असम क्षेत्रों में प्रयुक्त होने वाली भाषाओं या बोलियों का 'बोड़ो' संज्ञा के अन्तर्गत आने वाल समूह, अपने अधिकांश क्षेत्र तथा जनसंख्या के आधार पर 'देशी' भाषा के अन्तर्गत आयेगा। विश्व-भाषा परिवारों से एकदम स्वतंत्र, कश्मीर के एक सीमित क्षेत्र में बोली जाने वाली,

'बरू शास्की' भी देशी भाषा मानी जायेगी। 'ब्रह्मदेशस्थ' 'करेन और मन' भाषा-परिवार, 'देशी' समझा जायेगा, 'पगोडा' शब्द हिन्दी में 'देशी' के अन्तर्गत होगा, कहना न होगा कि द्रविड़-कुल की तमिल, तेलगु, मलयालम तथा कन्नड़ देशी भाषाएं होंगी, 'पिल्ला' शब्द देशी होगा ! इन सब के साथ मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाएं-लहंदा, सिन्धी, मराठी, सिंघली, उड़िया, बंगला, असमी, बिहारी, पंजाबी, गुजराती, भीली, खान देशी, राजस्थानी, पहाड़ी और हिन्दी तो 'देशी' भाषाएं होंगी ही। ऊपर मोटे रूप में देशी शब्दों की सीमा बांधने का प्रयास किया गया है, स्पष्ट विभाजक रेखाएं इस संबंध में नहीं खींची जा सकती।

विदेशी :––

देशी भाषाओं तथा उनसे हिन्दी में आने वाले शब्दों, जो 'देशज' कहलायेंगे, की सीमाएं निश्चित करने से 'विदेशी' शब्दों की मर्यादाएं स्वयं निश्चित हो जाती हैं।

हिन्दी-शब्द-समूह का वर्गीकरण करते समय चौथा वर्ग 'विदेशीनाम' से बनाया जाता रहा है। डा० धीरेन्द्र वर्मा ने 'विदेशी' के अन्तर्गत फारसी, अरबी, तुर्की, पश्तो, अंग्रेजी, पुर्तगाली, फ्रांसीसी तथा डच आदि भाषाओं के शब्दों को लिया है। डा० बाबूराम सक्सेना विदेशी शब्दों को 'फारसी, अरबी, तुर्की, अंग्रेज़ी, आदि भाषाओं से आये हुए शब्द समझते हैं। पं० किशोरीदास वाजपेयी ने फारसी, अरबी, अंग्रेज़ी आदि को विदेशी भाषाएं मान कर इनसे हिन्दी में आये हुए शब्दों को 'विदेशी' या 'परकीय' कहा है। डा० भोलानाथ तिवारी ने लिखा है, 'विदेशी शब्द उन्हें मानते रहे हैं जो अपने देश के बाहर से आये हों'। डा० तिवारी उपर्युक्त विभाजन के औचित्य में सन्देह करते हैं, तथा सरलता की दृष्टि से 'विदेशी' के स्थान पर 'बाह्य' (Foreign) शब्द का प्रयोग करना अधिक समीचीन समझते हैं। रामचन्द्र वर्मा (हिन्दी प्रयोग) ने उन शब्दों के लिये, जो निजभाषा-क्षेत्र के बाहर से आये हैं, 'परकीय' शब्द का प्रयोग किया है।

किन्तु 'भारतीय उपमहाद्वीप को 'देशज' का आधार मानने के उपरान्त हिन्दी के विदेशी शब्दसमूह को तीन प्रभावों के अन्तर्गत रखना अत्यन्त समीचीन होगा :—

(१) मुस्लिम प्रभाव से आने वाले शब्द।
(२) यूरोपीय प्रभाव से आने वाले शब्द।
(३) अवर्गीकृत प्रभाव से आने वाले शब्द।

पहले प्रभाव के अन्तर्गत फारसी, अरबी, तुर्की, तथा पश्तो से आने वाले शब्द आ जाते हैं। दूसरे प्रभाव से आने

वाले शब्दों में अंग्रेजी, पुर्तगाली फ्रांसीसी, डच, तथा जर्मन आदि भाषाओं के शब्दों को लिया जा सकता है। तीसरे प्रभाव के अन्तर्गत उन शब्दों को रखा जा सकता है जिन्हें प्रथम दो प्रभावों के अन्तर्गत स्थान नहीं दिया जा सकता, जैसे 'लामा' शब्द तिब्बती से आया, 'लीची' शब्द 'चीनी' से आया। तीसरे प्रभाव की सीमाएं अनन्त है, उसके अन्तर्गत वे सभी शब्द लिये जा सकते हैं जिसका हिन्दी में, भविष्य में आना अवश्यम्भावी है, क्योंकि राज्य भाषा के पद का पर आसीन होकर, हिन्दी का सम्पर्क यूरोप और मुस्लिम देशों के अतिरिक्त अन्य देशों से भी अवश्य बढ़ेगा, नए-नए देशों से राजनैयिक, व्यापारिक, सांस्कृतिक, भाषाई संबंध स्थापित होंगे। विज्ञान तथा शिल्पविज्ञान के पारिभाषिक शब्द भिन्न-भिन्न देशों से लेने होंगे, जिन शब्दों को अफ्रीका तथा ऐशिया के देशों में रहने वाले प्रवासी भारतीय अपने साथ लाकर हिन्दी को अर्पित करेंगे, वे भी इस शीर्षक के अंतर्गत खप सकते हैं। रूस में तो हिन्दी अब (१९६४) उन तीन चार विदेशी भाषाओं में से है जिनमें से एक का अध्ययन वहां के छात्रों के लिये अनिवार्य कर दिया गया है। रूस की ओर से 'स्पूतनिक' आदि शब्द हमारी ओर आयेंगे और बुल्गानिन तथा ख्रुश्चोव की यात्रा के साथ, — उनकी ओर जायेगी हमारी 'नमस्ते:'।

अतः सभी दृष्टियों से विचार करने के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि हिन्दी के शब्द समूह का ऐतिहासिक वर्गीकरण करते समय 'तत्सम', 'तद्भव', 'देशज' तथा 'विदेशी' नाम के चार वर्ग ही पर्याप्त तथा उचित है।

(पृष्ठ ५८ का शेष)

ओझल नहीं किया जा सकता। अशिक्षित स्त्री-पुरुषों के हृदय में आदेश और उपदेश दोनों लोक राव की प्रेरणा से ओत-प्रोत हैं।

भाषा-विज्ञान की दृष्टि से देखा जाय तो अहीरवाल साहित्य भी हिन्दी साहित्य में एक कड़ी का काम दे सकता है। इसमें लोकोक्तियां और मुहावरे, नृत्य और टप्पे, जीवन की स्मृतियों के रूप में विद्यमान हैं।

शक्ति पूजा के

मूल स्रोत—वेद, उपनिषद्

वैदेही शरण शर्मा

भारतीय वैदिक वाङ्मय से लेकर पुराण-काव्य, तथा अन्य ऐतिहासिक ग्रन्थों को बहुत से पाश्चात्य विद्वान् डा० वेवर, कीथ, मैक्समूलर, सर विलियम जोन्स आदि ने अपनी प्रतिभानुसार अध्ययन किया तथा इन पर कुछ अपने विचार भी प्रस्तुत किये। स्वर्गीय पंडित जवाहरलाल नेहरू ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Discovery of India में वेदों तथा उपनिषदों की पूजन-परम्परा पर बहुत कुछ लिखा है। उनके विचारानुसार भारतीय धार्मिक सम्प्रदायों में शक्ति-पूजा (देवी पूजा) के मूल स्रोत भारतीय वेद तथा उपनिषद रहे हैं। प्रोफैसर मैक्समूलर ने उपनिषद को वेदान्त दर्शन का आदि स्रोत बताया है और उन्हें मानवीय भावनाओं को उच्चतम शिखर पर ले जाने वाली अद्भुत वस्तु स्वीकार किया है—

The Upanishads are the...... Sources of ...... the vedant philosophy, a system in which human speculation seems to me to have reached its very acine.

(History of Sanskrit literature)

वेदों तथा उपनिषदों में देवी सूक्त रात्री सूक्त, श्री सूक्त के अतिरिक्त कई ऐसे अध्याय मिलते हैं, जिनमें देवी (शक्ति) उपासना के विविध उपकरणों के साथ-साथ मनुष्य को एक विभिन्न आन्तरिक सुख की अनुभूति द्वारा उसे उन्नत शिखर पर पहुंचने के अनुपम साधन उपलब्ध होते हैं। जगद्गुरु शंकराचार्य ने शक्ति पूजा का माहात्म्य बताते हुए कहा है कि— शक्ति ही ब्रह्म, विष्णु, रुद्रादि की सारी शक्ति है, यदि इनमें से शक्ति को विलग कर दिया जाय तो नष्ट के समान हो जाते हैं, अर्थात् इनमें कुछ पराक्रम शेष नहीं बचता.....शिवः सत्यायुक्तो भवति स्पन्दितुमपि (आनन्द लहरी) शंकर सिद्धांत के जागरित स्वप्नमय जगत का सिद्धांन्त मुख्यतः इसी बात का निर्देश

करता है कि शक्ति के प्रकाश में मनुष्य सर्व सामर्थ्यवान हो जाता है । वह ज्ञानी बन कर अज्ञानमय स्थिति पर विजय पाता है । स्वप्नमय स्थिति में ज्ञान जगत से दूर अन्धकार में निवास करता है । देवी माहात्म्य (दुर्गा सप्तशती) के प्रथम अध्याय में ही भगवान् विष्णु को महामाया से दूर रह कर स्वप्नावस्था में विलीन दिखाया गया है । उस अवस्था में वे बिल्कुल निश्चेष्ट की भांति प्रतीत होते हैं, परन्तु ब्रह्मा जी ने महामाया का स्तवन कर उन्हें भगवान विष्णु में प्रविष्ट कराया तो वही विष्णु मधु, कैटभ नामक दोनों दैत्यों को मारने में सफल हुए ।

वस्तुतः उपनिषद् वेद का मुख्य उद्देश्य मनुष्य का कल्याण करना रहा है। ये मानवमात्र के अज्ञान को नष्ट कर ज्ञानाभिभूत करते रहे हैं । जो भी इनके निकट जाता है (इन्हें अवलोकन करने का सौभाग्य प्राप्त करता है) उसे किसी न किसी प्रकार कल्याण मार्ग पर ये अधिष्ठित कर ही देते हैं । आलोचक, समालोचक सभी इनसे ज्ञान की उज्वल वरदहस्त प्राप्त करते हैं । तन्त्रसार, मेरुतन्त्र, उड्डीयतन्त्र त्रिपुरारहस्यादि अन्य ग्रन्थों में बताया गया है कि महामाया से परे कोई चीज़ ही नहीं है। संसार का आविर्भाव, विनाश, सभी कुछ महामाया के ही वस में है—'त्वयैतत्पाल्यते देवी त्वयैतत्सृज्यते जगत्'— और इन्हीं के आशीर्वाद से मनुष्य मुक्ति को प्राप्त करता है—'सैषा प्रसन्ना वरदा नृणां भवति मुक्तये ।'

आदि शक्ति की दार्शनिकता

उपनिषदों में शक्ति का दूसरा नाम प्रकृति आया है, कहीं-कहीं यही शक्ति माया, अजर के नामों से भी सम्बोधित की गयी है । श्वेता स्वरोपनिषद् में कहा गया है कि माया नाम से कही जाने वाली शक्ति स्वरूपा प्रकृति का अधिपति परब्रह्म परमात्मा महेश्वर है । उस परमात्मा की शक्ति स्वरूप प्रकृति के ही अंग भूत कारण कार्य समुदाय से यह सम्पूर्ण जगत का आविर्भाव विनाशादि होता है "मायान्तु प्रकृति विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम् । तस्यावयवसम्भूतै व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ।"४/१०/। यही शक्ति स्वरूपा प्रकृति सांख्यकार के मत में 'पुरुष' के नाम से अभिहित है । देवी-उपनिषद में आया है कि एक बार देवताओं ने देवी के पास जा कर पूछा—हे महामाया तुम कौन हो । उसने कहा मैं ब्रह्म स्वरूप हूँ । मुझसे ही प्रकृति पुरुषात्मक अभिव्यत जगत् उत्पन्न हुआ है। मैं ही चिच्छक्ति आनन्द रूप और जड़शक्ति आनन्द स्वरूप हूँ—सर्वे देवा देवीमुपतस्थुः। कासि त्वं महादेवी । सा ब्रवीत्—अहं ब्रह्म स्वरूपिणी । मत्तः प्रकृति पुरुषात्मकं जगच्छून्यं चा शुन्यं च । अहमानन्दाना-

नन्दाः । विज्ञाना विज्ञाने अहम् । ब्रह्म ब्रह्मणि वेदितव्य । (अथर्ववेद)

वस्तुतः शक्ति शक्तिमान् का एकमात्र स्वरूप है । उससे बिलग कोई वस्तु नहीं । शक्ति कभी शक्ति के बिना रह नहीं सकती । शक्ति की व्याख्या करते हुए विद्यारण्य स्वामी का कहना है कि —कहीं किसी प्रकार भी शक्तिमात्र की पृथक् वस्तु के रूप में गणना नहीं होती— 'सर्वथा शक्तिमात्रस्य न पृथग्गणना क्वचिद्' ।

कभी आदि शक्ति की पूजा प्रायेण संसार भर में की जाती थी । प्राचीन रोम तथा ग्रीस के कई प्राचीन गाथाओ में (मिनर्वा) सरस्वती, लक्ष्मी, अन्नपूर्णादि देवियों की आख्यानें मिलती हैं, जिससे पता चलता है कि प्राचीन रोम में इनकी विशेष समयों का विधान अवश्य रहा है । मायावाद, प्रकृतिवाद पर आधारित कहे पाश्चात्य दार्शनिकों के सिद्धांत से भी यही निष्कर्ष निकलता है कि कभी शक्ति पूजन की परम्परा संसार भर में व्याप्त थी । महात्मा ईसा का कहना था कि मनुष्य जब तक भगवान् की प्रकृति से दूर रह कर साधना में सफल होने का प्रयत्न करता है तब तक उनकी वास्तविक सुखमय अवस्था को नहीं प्राप्त कर सकता । मनुष्य तो सच्चा सुखी और लोगों से स्नेह तभी प्राप्त करता है जब भगवान् की प्रकृति को ठीक ठीक समझ जाता है । भारतीय बौद्ध और जैन सम्प्रदायों में भी कभी शक्ति की उपासना पर बड़ा जोर दिया जाता था । गौतम बुद्ध ने माता का स्नेह सच्ची शक्ति की शरण से ही बताया है । धम्मपद में कुछ स्थलों पर इसका संकेत मिलता है ।

देवी उपासना की परम्परा भारत में बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है । पृथ्वी को माता के रूप में, गौ को मां के रूप में तथा भारत की स्त्रियों को भी माता का ही स्वरूप दिया गया है । इसी लिये स्मृतियों का कहना है कि–'यत्रनार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।' जहां इन कुलांगनाओं की पूजा होती है, वहीं देवताओं का निवास-स्थान बन जाता है । मोहन जोदड़ो तथा हरप्पा की खुदाइयों में मिट्टी की बहुत सी ऐसी प्रतिमाएं प्राप्त हुई हैं, जिनके आधार पर इनकी विशेष पुष्टि होती है । मेसोपोटामिया में भी ठीक इसी प्रकार की कुछ मूर्तियां प्राप्त हुई थीं । वहां शक्ति पूजा 'दी लेडी आफ माउण्टेन' के नाम से की जाती थी । नाम से पता चलता है कि वे लोग देवी की पूजा प्रायः पहाड़ों पर किया करते थे ।

भारत की, जैन, बौद्ध काल की कुछ मूर्तियों में भी तरह तरह की विभिन्न आकारों में महामाया भी परिकल्पना की गयी है । अध्ययनार्थ—ऋग्वेद ५।२८ १०,३६,४०,१,१६६–१+२,१०।८५ आदि शतपथ ब्राह्मण १४।३, १, आधुनिक हिंदी अंग्रेजी साहित्य में भी अनुसन्धान कर्ताओं ने इस पर बहुत प्रकाश डाला है । ००

चण्डीगढ़ में विशाल
यशपाल अभिनन्दन समारोह

राजेन्द्र भनोत 'शील'

"यशपाल जी ने न केवल हिन्दी अपितु समस्त भारतीय वाङ्मय को समृद्ध करने में कितना महान योग दिया है यह बात सूर्य की तरह स्पष्ट है। इसके साथ ही यशपाल साहित्य और यशपाल की सब से बड़ी विशेषता यह है कि ये जो भी अनुभव करते हैं, जो भी कहना चाहते हैं उसे स्पष्ट तथा बेलाग शब्दों में कहने का साहस इनमें अन्य साहित्यकारों की अपेक्षा सब से अधिक है।" ये हैं कुछ शब्द जो साहित्य गोष्ठी चण्डीगढ़ के तत्वावधान में आयोजित यशपाल अभिनंदन समारोह के अवसर पर अध्यक्ष पद से भाषण देते हुए प्रसिद्ध विद्वान् और लेखक डा० इन्द्रनाथ मदान ने कहे। इस मंगलमय उत्सव की अध्यक्षता आचार्य द्विवेदी करने वाले थे परन्तु वे अस्वस्थता वश इस अवसर पर पधार नहीं सके।

इस समारोह पर राजधानी के सभी भाषाओं के उपस्थित लगभग तीन सौ साहित्यकारों की ओर से यशपाल को स्नेहांजलि भेंट करते हुए गोष्ठी के संयोजक श्री श्रुति प्रकाश वाशिष्ठ ने कहा कि 'हम जब भी यशपाल के व्यक्तित्व और कृतित्व की ओर दृष्टि निपात करते हैं तो बरबस ही विद्रोही कवि नज़रुल इस्लाम का यह कथन स्मरण हो आता है--

"महा विद्रोही रण--क्लान्त
आमि सेई दिन हबो शान्त
जबे उत्पीड़ितेर क्रन्दन रोल
आकाशे वाताशे ध्वनिवेना
अत्याचारी र खड्ग कृपाणा
भीम रण भूमे रणिवेना ।।"

अर्थात् मैं महा विद्रोही रण क्लान्त होकर उसी दिन शान्त हूँगा जिस दिन न तो उत्पीड़न की करुणा-क्रन्दन ध्वनि आकाश में गूंजेगी और न अत्याचारी का खड्ग तथा कृपाण भयंकर होकर रण भूमि में दिखाई देगा। यह कथन यशपाल जी के जीवन और व्यक्तित्व पर पूरी तरह चरितार्थ होता है। क्योंकि भारतीय

स्वतंत्रता संग्राम के दिनों में इन्होंने एक अप्रतिहत सेनानी के रूप में ब्रिटश साम्राज्य को इस धरा से उखाड़ फेंकने के लिये निरन्तर कार्य किया और इसके बाद अपनी वज्र लेखनी द्वारा भारतीय समाज की अंध परम्पराओं, रूढ़ियों और शोषण पर सतत प्रहार करते रहे हैं।

ख्यातिप्राप्त विद्वान एवं जागरूक लेखक डा० सरनदास भनोत ने "यशपाल और उनकी दिव्या" नामक निबन्ध में यशपाल जी के व्यक्तित्व और उन के समग्र साहित्य का सामान्य रूप से और यशपाल की क्लासिक औपन्यासिक कृति 'दिव्या' का गम्भीर एवं विस्तृत समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया। इसके बाद कवि एवं लेखक डा० रमेश 'कुन्तल मेघ' ने 'विशाल पटल वाले उपन्यास और झूठा-सच' शीर्षक तुलनात्मक निबन्ध में विश्व साहित्य के विशाल पटल वाले उपन्यासों के परिप्रेक्ष्य में झूठा सच का मूल्यांकन किया।

साहित्यगोष्ठी के सभी सदस्यों और उपस्थित साहित्यकारों की ओर से अभिनन्दन पत्र भेंट करते हुए सिद्धहस्त पत्रकार श्री मदन मोहन गोस्वामी ने कहा कि "यशपाल ने त्रिगर्त की उस पावन भूमि में जन्म लिया जहां 'रक्तबीज' के समान क्रान्तिकारी देशभक्तों ने जन्म लेकर भारत मां की लाज बचाने के लिये प्राण तक न्यौछावर करने में भी कभी संकोच नहीं किया। आपने निरन्तर दो दशकों तक क्रान्तिकारी आन्दोलन का नेतृत्व किया और भगवती करालिका के रूप में भारत माता की अपने रक्त से अर्चना करने वाले क्रान्तिकारियों की यशोगाथा को विस्मृति के गर्भ में जाने से बचाने के लिये 'सिंहावलोकन' नामक तीन खण्डों के एक वृहद् ग्रंथ की रचना की। भारतीय वाङ्मय में आपका यही योगदान लेखक रूप में आपकी यशःकीर्ति को अक्षुण्ण रखने के लिये पर्याप्त था। परन्तु आपकी सशक्त लेखनी और विलक्षण मेधा को तो वह कार्य पूरा करना था जो स्व० प्रेमचन्द 'गोदान' के बाद अधूरा छोड़ गये थे। गद्य साहित्य की सभी विधाओं में कमाल हासिल कर आपने समाजगत सभी रूढ़ियों पर तीव्र प्रहार किया और उन्हें नई दिशा देकर अंधकार को प्रकाश में बदला। आज आपकी ख्याति भारतीय सीमाओं का अतिक्रमण कर दिग्दिगंत तक फैल चुकी है। आधुनिक भारतीय समाज को समग्र रूप में प्रस्तुत करने वाला आपका 'झूठा-सच' साहित्य क्षेत्र में एक नए अश्वमेध का सफल अनुष्ठान सिद्ध हुआ है। हिन्दी आप जैसे चक्रवर्ती लेखकों की जननी होकर कृत कृत्य हो गई है और भारतीयों को अब तालस्ताय, दोस्तोवस्की, गोर्की, रोम्यां रोला, विक्टर ह्यूगों, चार्लस डिकस्न आदि विप्रा साहित्य के दिग्गजों से

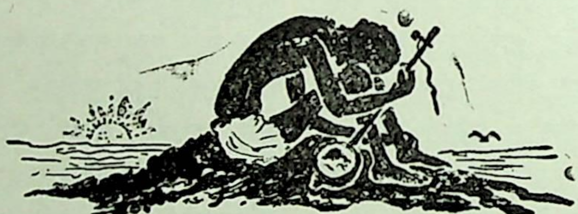
आतंकित होने की आवश्यकता नहीं और आज वे गर्व से कह सकते हैं कि उनके पास भी शरत्‌चन्द्र, प्रेमचन्द और यशपाल सदृश उपन्यासकार हैं।

समारोह का समारंभ महाप्राण निराला की अमर कृति 'वरदे वीणा वादिनी' से प्रारम्भ हुआ और राष्ट्रगान से परिपूर्ण। मध्य में प्रख्यात कवि 'श्री कान्त' ने युग कवि रवीन्द्र का "आदि भुवन मनमोहिनी" तथा श्री शौनक ने 'दोशी' के गीत प्रस्तुत किए। अन्त में कविवर पुरुषोत्तम कुमार ने उपस्थित सभी साहित्यकारों की ओर से श्री एवं श्रीमती यशपाल का यहां पधारने के लिये आभार प्रदर्शित किया।

रात्रि को राजधानी के साहित्यकारों की ओर से आरोमा होटल में एक प्रीति भोज का आयोजन किया गया।

उपस्थित साहित्यकारों में पंजाब सरकार के भाषा विभाग का प्रतिनिधत्व हिन्दी विभाग के निदेशक एवं वैदिक साहित्य के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् डा० परमानन्द और अनुवाद अधिकारी श्री गुरुदत्त शर्मा और श्री सत्यपाल गुप्त कर रहे थे।

अपने अभिनन्दन का उत्तर देते हुए यशपाल ने सबके प्रति आभार प्रदर्शित किया और कहा कि आलोचकों द्वारा मेरे साहित्य का मूल्यांकन बहुत कम हुआ है। मेरे विचार से इसमें आलोचकों का दोष कम और मेरा अधिक है क्योंकि शायद मैं जो कहना चाहता हूँ उसे अभी तक कह नहीं पाया हूँ। यशपाल को मार्क्ससवादी कहने वालों की शंका का निवारण करते हुए उन्होंने कहा कि मैं मार्क्सवादी नहीं हूँ अपितु समाजवादी हू। जहां तक मार्क्स के दृष्टिकोण के आर्थिक पक्ष का सम्बन्ध है मैं उससे सहमत हूं परन्तु दूसरी ओर मेरी दृढ़ धारणा है कि आज विश्व मार्क्स की दार्शनिक विचार धारा से सौ वर्ष आगे निकल गया है।



तमिष सीखने में हिन्दी लोगों की कठिनाइयां

ना. रामसुब्रमणियन्

अक्सर कहा जाता है कि तमिष एक कठिन भाषा है। उसकी ध्वनियां खाली डिब्बे में पत्थरों को रगड़ना जैसी है। वास्तव में न केवल यह धारणा भ्रामक है, साथ ही बिल्कुल झूठ भी है। भारत में हर एक भाषा की ओर संकुचित दृष्टि से देखने की आदत है। लेकिन भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से, हर एक भाषा का महत्त्व है। भाषा समाज के विचारों के आदान प्रदान के लिये है। अतः इस लेख में कोशिश की गई है कि हिन्दी भाषा भाषी को, तमिष सीखते समय होने वाली कठिनाइयों को कैसे दूर कर सकते हैं। भाषा विज्ञान की सहायता से इन को दूर कर सकते हैं। हिन्दी और तमिष भाषा ध्वनियों की तुलना से, इन दोनों भाषाओं पर प्रकाश डाला गया है। यद्यपि, हिन्दी भाषा-भाषी को ध्यान में रख कर यह लिखा गया है, फिर भी अन्य भाषा-भाषियों के काम में भी आ सकता है।

१. हिन्दी ध्वनियां :—

स्वर

	तालु		
	अग्र	मध्य	पश्य
संवृत	इ		उ
अर्द्ध संवृत	ए		ओ
अर्द्ध विवृत		अ	

दीर्घता :—केवल, इ, अ, उ में पाई जाती है। जैसे, ई, ऊ, आ

संयुक्त स्वर :—ऐ औ।

अनुनासिकता :— सभी स्वरों के साथ अनुनासिकता पाई जाती है।

१. तमिष ध्वनियां :—

स्वर

	तालु		
	अग्र	मध्य	पश्य
संवृत	इ		उ
अर्द्ध संवृत	ए		ओ
विवृत		अ	

दीर्घता :—सभी स्वरों में दीर्घता पाई जाती है। जैसे, ई, एा, श्रा, श्रा ो, ऊ

संयुक्त स्वर :—ऐ, श्रौ।

श्रनुनासिकता :—नहीं है।

तुलना :—हिन्दी श्रौर तमिष, इ ई, उ, ऊ में उच्चारण की दृष्टि से एवं स्थान की दृष्टि से कोई खास फरक नहीं है।

उदाहरण :

हिन्दी :—इसका, इनका, उसका, उनका, ईमान, ऊन श्रादि।

तमिष :—इवन् (यह), उन् (तुम्हारा), ई (मक्खी), ऊर (वासस्थल) श्रादि।

ए, श्रो।

हिन्दी में, ज्यादातर लोग भ्रम से यह कहते हैं, कि, ए श्रौर श्रो दीर्घ हैं। वास्तव में, हिन्दी ई, ऊ की तुलना से, श्रौर प्रयोगात्मक भाषा विज्ञान की सहायता से, यह सिद्ध हुश्रा है कि, हिन्दी ए श्रौर श्रो ह्रस्व है। साधारण बोली में भी ह्रस्व जैसे ही इनका प्रयोग होता है।

तमिष में, ह्रस्व ए, श्रो के साथ, दीर्घ एा, श्रा ो भी होते हैं जो हिन्दी में नहीं हैं। (दीर्घ ए श्रौर श्रो के लिये हिन्दी में चिन्ह नहीं हैं। श्रतः मात्रा की प्रयोग से, एा, श्रा ो लिख सकते हैं जो मुद्रण की दृष्टि से भी लाभदायक सिद्ध होते हैं।)

तमिष के ह्रस्व ए, श्रो के बारे में उच्चारण की दृष्टि से एक बात उल्लेखनीय है। तमिष ह्रस्व ए श्रौर श्रो का उच्चारण स्थान, क्रमशः हिन्दी इ, उ के श्रासपास है। श्रर्थात् तमिष, ए श्रौर श्रो, तमिष इ, उ के श्रासपास है। श्रतः जिह्वा की ऊंचाई तमिष ए श्रौर में, तमिष इ, उ के ज़रा सा नीचे हैं। श्रतः ध्यान से न सुनने पर, तमिष ए श्रौर श्रो, तमिष ई, ऊ के समान ज़रा सा बदल कर, हिन्दी लोगों को सुनाई देगी। इसी तरह, तमिष, एा, श्रा ो, के उच्चारण में, जिह्वा की ऊंचाई, ज़रा से नीचे हो जाती है। श्रतः, हिन्दी, ए श्रौर श्रो (ह्रस्व) के स्थान के श्रासपास, तमिष एा, श्रा ो श्रा जाते हैं। नीचे देखिए।

हिन्दी स्वर		तमिष स्वर	
इ	उ	इ	उ
ए	श्रो	ए	श्रो
	श्र	एा	श्रा ो
		श्र	

उदाहरण :

हिन्दी :—ए, श्रो एक, श्रोर

तमिषः—ए, एा, श्रो श्रा ो : एन् (मेरा) एान् (क्यों) श्रोटि (काटो), श्रोटि (दौड़ कर) श्रादि हैं।

(श्र) हिन्दी श्रौर तमिष श्र में फ़रक है। उपरोक्त कथन से पता चलेगा, कि जहां हिन्दी में, श्र, श्रो के नीचे, पश्च तालव्य

के पास है, वहां तमिष में अ, मध्य तालव्य से पश्च तालव्य की ओर, हिन्दी अ के उच्चारण स्थिति से ज्यादा खुला हुआ है। ओंठ भी ज़रा सा गोल बन जाता है।

उदाहरण :––हिन्दी–अब, आज।

तमिष –अवन् (वह)

आलै (कारखाना)

ऐ और औ में हिन्दी और तमिष में खास फरक नहीं है।

जैसे हिन्दी––ऐसा, और

तमिष––ऐयर (ब्राह्मण), औन्वै (एक नाम) आदि हैं।

व्यंजन। (वास्तव साधारण बोली में व्यवहृत व्यंजन ही दिये गए हैं। हिन्दी और तमिल में जो व्यंजन यहां छोड़े गए हैं, उन्हें महत्त्वहीन समझ कर मैं ने नहीं दिया है।)

हिन्दी

	ओष्ठ्य	तालव्य	मूर्धन्य	पश्च तालव्य	कण्ठ्य,	काकल्य
स्पर्श	प्	त्	ट्	च्	क्	
	फ्	थ्	ठ्	छ्	ख्	
	व्	द्	ड्	ज्	ग्	
	भ्	ध्	ढ्	झ्	घ्	
नासिक्य	भ्	न्	ण्	–	–	
पार्शविक	–	ल्	–	–	–	
लुंठित	–	र्	ड़्	–	–	
उक्षिप्त	–	स्	श्	–	–	ह्
अर्द्ध स्वर	व्	–	–	य्	–	–

तमिष

	ओष्ठ्य	तालव्य	मूर्धन्य	पश्च तालव्य	कण्ठ्य,
स्पर्श	प्	त्	ट्	च्	क्
	–	–	–	–	–
	–	–	–	–	–
	–	–	–	–	–
नासिक्य	म्	न्	ण्	–	–
पार्शविक	–	ल्	ल्	ष्	–
लुंठित	–	र्	–	–	–
उक्षिप्त	–	–	–	–	–
अर्द्ध स्वर	व्	–	–	–	य्

(ऊपर के हिन्दी व्यंजन में कुछ ध्वनि चिह्न को मैंने छोड़ दिया है। उर्दू, संस्कृत आदि से प्रभावित व्यक्तियों की बोली में उपरोक्त ध्वनियों के साथ फ़्, प्, ज़्, ख़्, ग़्, आदि ध्वनियां मिलती हैं। साधारण हिन्दी में इनका बहुत कम, या नहीं के बराबर प्रयोग होता है। ऊपर की तमिष ध्वनियों में भी ऐसी कुछ ध्वनियां मिलती हैं, जो व्यक्तित्व पर आधारित हैं। अतः वे भी छोड़ दी गई हैं। अतः जनसाधारण हिन्दी और तमिष की तुलना ही हमारा उद्देश्य है। तमिष में

ष के स्थान में ल का प्रयोग भी धीरे धीरे हो रहा है। अतः इनके उच्चारण में अपनी स्वतन्त्रता है।)

उच्चारण की दृष्टि से तमिष व्यंजन ध्वनियां :

हिन्दी और तमिष व्यंजनों में, प्, त् ट्, च्, क् एक जैसे हैं।

अतः इनके उच्चारण में दोनों भाषाओं में, स्थान और उच्चारण की दृष्टि से कोई कठिनाइयां नहीं हैं। सब अघोष हैं, अल्पप्राण हैं, और क्रम से ओष्ठव्य, तालव्य, मूर्धन्य, पश्च तालव्य और कण्ठ्य हैं। तमिष स्पर्श व्यंजन शब्द के आरंभ में आते हैं। शब्द के मध्य में द्वित्व हो कर ही आते हैं। (अन्य स्थानों के बारे में आगे देखेंगे।)

उदाहरण : (केवल तमिष शब्द और उनका अर्थ दिये गए हैं।)

प् : पू–फूल, उप्पू–नमक।
त् : मतु–शराब, मत्तु–मथिया।
ट् : पटु–लेटो, पट्टू–रेशम।
च् : चट्टम–कानून।
क् : कल–पत्थर, पक्कम–पास।

हिन्दी और तमिष नासिक्य व्यंजनों में काफी फरक नहीं हैं।

ओष्ठव्य, तालव्य, और मूर्धन्य, घोष, नासिक्य व्यंजन दोनों भाषाओं में मिलते हैं।

उदाहरण :—

मरम् : पेड़।
नाम् : हम।
मण् : मिट्ठी।

हिन्दी र् और तमिष र् में फरक केवल इतना ही है, कि तमिष 'र' में ज्यादा कम्पन है। दोनों सघोष, लुंठित व्यंजन हैं।

उदाहरण –

रवा––सूजी।
मरम्––पेड़।
ऊर्––जगह।

हिन्दी और तमिष, य, व में फरक नहीं हैं। दोनों अर्द्धस्वर हैं और स्थान की दृष्टि से क्रमशः, पश्च तालव्य और ओष्ठव्य हैं।

उदाहरण :

यारू––कौन
वा––आओ

हिन्दी और तमिष पार्शविक व्यंजन।

तमिष में तीन पार्शविक व्यंजन हैं जहां हिन्दी में एक ही है।

तमिष पार्शविक व्यंजनों में, ल को छोड़ कर, बाकी ल, ष के उच्चारण में, हिन्दी लोगों की कठिनाई दिखाई देती

हू ।

(ल) (ल) (ष)

लः––हिन्दी के समान ही, तमिष ल, सघोष, पार्शविक व्यंजन है ।

उदाहरण :

लट्टू––लड्डू

निलम्––ज़मीन

वाल––पूंछ

ल :––हिन्दी में यह ध्वनि नहीं है । इसके उच्चारण में हवा, "ल" के जैसे ही पाश्वों से निकलती है । लेकिन, जिहवा की नोक, मूर्धन्य स्थिति में, अर्थात्, पीछे की ओर मोड़ कर, ऊपर के तालू को छूता है । यह शब्द के मध्य और अन्त में ही आता है ।

उदाहरण :

वलम्––वहुता

वाल––तलवार ।

ष :––यह ध्वनि भी हिन्दी में नहीं है । इसका उच्चारण, ष· जैसा होता है । लेकिन, जिह्वा पलट कर रहती है, किन्तु पश्च तालव्य को नहीं छूती है । तालु और जिह्वा नोक के बीच में खुला हुआ मार्ग दिखाई देता है । हवा, पार्शवों से और खुले मार्ग से निकलती हैं । यह पश्च तालव्य, घोष, संघर्ष व्यंजन हैं । ष शब्द के मध्य में और अन्त में ही आता है ।

उदाहरण :

पष़म्––फल

वाष––जीते रहो ।

ऊपर की तीन ध्वनियों में ल, ष, सुलभ से प्रयत्न द्वारा सीखा जा सकता है । अभ्यासार्थ नीचे, ल, ल, ष, प्रयुक्त शब्द दिये गए हैं । एक एक शब्द को पांच बार आइनक के सामने खड़े होकर, उच्चारण करें । (आइनक की सहायता से स्थान की ठीक ठीक पहचान होता है)

ल	ल	ष
नीलम्–नीला	नीलम्–लंबाई	
मलै–पहाड़	––	मषै–बरसात
पलम्–बल	––	पषम्–फल
कुलम्–कल	कुलम्–तालाब कुल्लम्–छोटा	
कलै–कला	कलै–दूर करो	
इलै–पत्ता	किलै–डाल	
कुलै–गुच्छ		कुषै–जड़ी-बूटी
आल–बरखत	आल–मनुष्य	आषम्–गहराई
	उलु–एक कीड़ा	उषु–जोतो
	उलुन्तु–उड़द	उषुतु–जोत कर
वलै–जाली	वलै–कंकण	वाष–केला
विला–बगल	विला–बेल	विषा–त्योहार

ऊपर के शब्दों में, ल, ल, ष कभी-कभी

ल जैसा ही कुछ लोगों से उच्चरित किये जाते हैं। अर्थात् जहां ष है वहां ल कहते हैं। यद्यपि यह गलत है, फिर भी कम से कम ठीक मानना पड़ता है। अतः मषै को मलै भी कहें तो भी ठीक ही होगा। इस तरह के परिवर्तन से अर्थ में फरक पड़ने पर भी अनुभव से ठीक हो जायगा। अतः ल, ल, ष के उच्चारण में कोई कठिनाई नहीं है।

पहले कहा जा चुका है, कि स्पर्श व्यंजन प् त् ट् च् क्, तमिष में शब्द के आरम्भ में और द्वित्व होकर शब्द-मध्य में आते हैं। अब अन्य स्थानों में, अर्थात् शब्द के मध्य में, स्वरों के बीच में, और अनुनासिक्य व्यंजनों के सम्पर्क में कैसे होते हैं, इस पर विचार करेंगे।

(१) तमिष की उपरोक्त ध्वनियों का सघोष रूप भी मिलता है।

(२) शब्द के आरम्भ में सघोष व्यंजन कभी-कभी आता है, और इन स्थानों में अघोष व्यंजन के तरह उच्चारण होने पर भी अर्थ में फ़रक नहीं पड़ता है।

(३) शब्द के मध्य में, सारे अघोष व्यंजन, स्वरों के बीच में, सघोष बन जाते हैं।

(४) अनुनासिक्य ध्वनियों के सम्पर्क में अघोष ध्वनियां, सघोष बन जाती हैं। जैसे,

प्............ब् बन जाता है।

त्............द्

ट्............ड् (हिन्दी जैसे, तमिष में, ड् और ड़् अलग नहीं हैं)।

च्............ज्

क्..........ग्

उदाहरणार्थ :

लिखित रूप	**उच्चरित रूप**	**परिवर्तन**
लापम्—लाभ	लाबम्	प........ब
मतम्—धर्म	मदम्	त........द
मटम्—मठ	मडम्	ट........ड
निचम्—सच	निजम्	च........ज
अकम्—मन	अगम् (अहम)	क...ग (ह)
अम्पु—तीर	अम्बु	प........ब

यहां यह साफ़-साफ़ समझ लें कि तमिष लिपि ध्वनिग्रामक है। अतः जैसे ध्वनि विज्ञान के अन्तर्गत, मिलती जुलती संध्वनियों के परिवार को, एक ध्वनिग्राम के अन्दर ही मान लेते हैं, वैसे ही, तमिष लिपि में प, ब को संध्वनि मान कर, प ही लिखते हैं। फिर भी शब्द के बीच में, स्वरों के मध्य में, प को ब उच्चारण करते हैं। इसी तरह, स्वरों के बीच में, त, ट, च, क, क्रमशः द, ड, ज, ग उच्चरित किये जाते हैं। अतः तमिष सीखते समय इस विधि को याद रखने पर लिखित

भाषा को सीखना बहुत सरल हो जाता है। इस विधि को इस तरह याद रख सकते हैं कि तमिष में स्वरों के बीच में और अनुनासिक्य व्यंजनों के सम्पर्क में अघोष व्यंजन सघोष बन जाते हैं और लिखित रूप में अघोष ही मानते हैं।

हमने कहा था कि तमिष में नासिक्य ध्वनियां तीन हैं। वे हैं म, न, ण। इनमें--

न के अन्तर्गत ङ, और ञ संध्वनियां आ जाती हैं।

ङ कण्ठ्य ध्वनियों के सम्पर्क में आता है। पश्च तालव्य ध्वनियों के संपर्क में ञ आता है।

जैसे,

नान्–मैं, नाङकल–हम।

मनचल–मञ्जल–हल्दी।

ङ और ञ के लिये लिखित चिह्न मिलते हैं।

एक बात उल्लेखनीय है कि ब, त, ट, च, क को छोड़ कर अन्य संध्वनियों के लिखित चिह्न मिलते हैं। सघोष ध्वनि चिह्न, ज, जो च की संध्वनि ही है, मिलता है।

तमिष में, च की, तीन संध्वनियां हैं, जिनका चिह्न है। जैसे, स, श, ज हैं। इन में, श, मूर्धन्य ध्वनियों के संपर्क में आता है।

उ० कश्टम्–कष्ट आदि हैं

स, ज स्वरों के बीच में आते हैं। कोई जहां, कजम "हाथी" कहता है दूसरा, कसम कहता है। ये दोनों परिवर्तनीय हैं।

ह, ग जैसे ही क की संध्वनि है। इसका लिखित चिह्न है।

तमिष लिपि:—जैसे पहले कहा जा चुका है कि तमिष वर्णमाला, ज्यादातर ध्वनिग्राम पर आधारित है। लेकिन स्पर्श व्यंजनों को छोड़ कर बाकी नासिक्य संघर्षी संध्वनि चिह्न भी मिलते हैं। लुंठित में, र का एक चिह्न भी है, जो आजकल, र जैसे ही उच्चरित होता है। अतः उसको छोड़ सकते हैं। अतः लिखित तमिष भाषा में निम्नलिखित चिह्न मिलते हैं।

स्वर :—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए उा, ओ, आा

संयुक्त स्वर :—ऐ, औ।

व्यंजन लिपि चिह्न :—

क्, च्, ट्, त्, प् (कठिन व्यंजन–तमिष व्याकरण)

ङ, ञ्, ण्, न् म् (मध्य वर्ग)

य्, र्, ल्, ष्, व् (सुगम वर्ग)

ज, श, स, ह (संध्वनि चिह्न)

हिन्दी वर्णों के नीचे लकीर खींच कर जैसे पूर्ण व्यंजन बनाया जाता है, वैसे ही तमिष में बिंदी को अक्षर के ऊपर रख कर व्यंजन बनाते हैं। जैसे कं, चं, टं, तं, पं, आदि हैं। (हि० क्, च्.......) अक्षर के ऊपर से बिंदी हटा कर संयुक्ताक्षर

बनाते हैं। जैसे हिन्दी में क्+अ=क वैसे ही तमिष में कं+अ=क बन जाता है। द्वित्व लिखते समय जहां हिन्दी में आधा अक्षर लिखते हैं, वैसे ही तमिष में पूर्ण व्यंजन लिखते हैं।

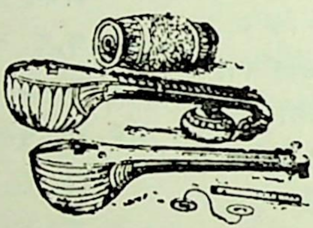
उदाहरण

हिन्दी पत्ता, तमिष में पतंता बन जायगा।

(हिन्दी में त् के बदले ऺ लिखते हैं लेकिन तमिष में तं को तं ही लिखते हैं)।

साधारण बोलचाल की भाषा से पता चलेगा कि संस्कृत आदि भाषाओं का शब्द समूह, कम परिवर्तन के साथ, अन्य तमिष शब्दों के बराबर प्रयुक्त होते हैं अतः इनको एक बार ठीक ठीक समझने पर उनके प्रयोग में पूर्ण अधिकार आ जाएगा। अतः तमिष सीखना, पढ़ना, बोलना, आपके लिये कठिन नहीं हैं।

○ ○ ○



प्रेमचन्द की भाषा-शैली

विनय कुमार

भाषा की दृष्टि से प्रेमचन्द महान् हैं। उनकी भाषा उनकी इतनी अपनी है कि उसका नाम ही 'प्रेमचन्दी भाषा' पड़ गया है, उनकी भाषा चुस्त मुहावरों से सजी है, उसमें उर्दू व फ़ारसी के चलते हुए शब्दों का प्रयोग होता है, प्रेमचन्द पात्रों के अनुसार भाषा बदल देते हैं। उनके मुसलमान पात्र कहीं ठेठ उर्दू, कहीं. फारसीमिश्रित हिन्दी बोलते हैं, उनके पंडित संस्कृत गर्भित भाषा का प्रयोग करते हैं, गांव का वातावरण उपस्थित करने के लिये वह प्रान्तीय और प्रादेशिक शब्दों का प्रयोग करते हैं; उनकी भाषा में लोच है, प्रवाह है और प्रसाद गुण है। प्रेमचन्द की यही विशेषता है। उनकी इस भाषा को हिन्दू व मुसलमान दोनों ही समझ सकते हैं, आज जिस 'हिन्दुस्तानी' की बात की जाती है, वह यही प्रेमचन्द की भाषा है।

तुलसीदास और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को जो इतनी लोकप्रियता प्राप्त हुई है, उसका एक कारण यह भी है कि उन्होंने सरल सुबोध एवं सरस भाषा में अपने साहित्य का सृजन किया। इन दोनों ने जनता की बात जनता की भाषा में कही थी। भारतेन्दु के उपरान्त यह भाषा विषयक विशेषता प्रेमचन्द में ही मिलती है।

साहित्य निर्माण में प्रेमचन्द ने भाषा को बहुत महत्त्व दिया था। साहित्य की व्याख्या करते हुए उन्होंने स्वयं लिखा था—

"साहित्य उसी रचना को कहेंगे, जिसमें कोई सच्चाई प्रकट की गई हो, जिसकी भाषा प्रौढ़, परिमार्जित और सुन्दर हो और जिसमें दिल व दिमाग पर असर डालने का गुण हो।" ऐसी भाषा से उनका तात्पर्य उस भाषा से था, जिसे हिन्दी व उर्दू जानने वाले दोनों ही समझ सकें। क्योंकि तत्कालीन परिस्थितियों को देखते हुए, उनके लिये भाषा का ऐसा स्वरूप अपनाना अनिवार्य भी था, उनकी इसी भाषा का नाम बाद में 'हिन्दुस्तानी' भी पड़ा। प्रेमचन्द भाषा के सरल रूप को महत्त्व ही देते थे। उन्होंने स्वयं कहा था—"वह ऐसी भाषा हो, जो

उर्दू और हिन्दी दोनों ही के संगम की सूरत में हो, जो सुबोध हो और ग्राम बोल चाल की हो ।"

'हिन्दुस्तानी' भाषा की चर्चा करते हुए वह स्वयं कहते हैं--"महात्मा गांधी हिन्दू मुसलमानों की एकता चाहते हैं, तो मैं भी हिन्दी और उर्दू को मिलाकर हिन्दुस्तानी बनाना चाहता हूँ ।"

प्रेमचन्द एक मध्यवर्गीय परिवार से सम्बन्ध रखते थे । उनकी सहानुभूति जन-साधारण से रही थी, वह अपने सन्देश को प्रत्येक भारतवासी तक पहुंचाना चाहते थे । इसके लिये यह आवश्यक भी था कि वह किसी एक ऐसी भाषा को अपनाते, जिसे सभी समझ सकते । इसीलिये उन्होंने जन-साधारण की भाषा को अपनाया था, वे स्वयं मानते थे कि "जो जन-साधारण का है, वह जन-साधारण की भाषा में ही लिखता है ।"

प्रेमचन्द उदार प्रकृति के थे, वे हिन्दी व उर्दू में भेद नहीं मानते थे, क्योंकि वे जानते थे कि हिन्दी व उर्दू में भेद तभी होता है, जब भाषा में संस्कृत या फारसी के जटिल शब्दों का प्रयोग होने लगता है । इस जटिल शब्दों के बाहुल्य को दूर कर देने से कोई विशेष भेद नहीं रह जाता । उस समय कुछ लोग इस बात पर बल दे रहे थे कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के लिये यह आवश्यक है कि उसमें संस्कृत के शब्दों का अधिक प्रयोग किया जाए, जिससे अन्य प्रान्त वाले उसे सुगमता से समझ सकें । इस बात का प्रेमचन्द ने निम्नलिखित शब्दों में खण्डन किया था--

"ऐसा करने से दूसरे सूबों के लोग चाहे आपकी भाषा समझ लें, लेकिन खुद हिन्दी बोलने वाले न समझ सकेंगे ।" डा० राम विलास शर्मा ने कहा कि--"वह हिन्दी उर्दू को उच्च वर्गों के हाथ से छीन कर जन-साधारण के काम काज में डाल कर उसे एक कर देना चाहते थे, जो वह वास्तव में पहले से ही थे । सिर्फ साहित्य में उसकी यह एकता पनप न पाई थी"--हिन्दी व उर्दू की इस एकता का उनका सबसे बड़ा प्रमाण यह था कि--"बोलचाल की हिन्दी समझने में न तो साधारण मुसलमानों को ही कोई कठिनाई होती है, और न बोलचाल की उर्दू समझने में साधारण हिन्दुओं को ही । बोलचाल की हिन्दवी व उर्दू प्रायः एक सी ही है ।" आगे इस बात को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं--

"आज हिन्दुस्तान के पन्द्रह-सोलह करोड़ के सभ्य व्यवहार और साहित्य की यही भाषा है, हां वह, लिखी जाती है--दो लिपियों में और इसी एतबार से हम उसे हिन्दी या उर्दू कहते हैं । पर वह है एक ही, बोलचाल में तो उसमें बहुत कम फर्क है । हां, लिखने में फर्क पड़ जाता है ।"

प्रेमचन्द जानते थे कि "हमारी राष्ट्रभाषा तो वही हो सकती है, जिसका आधार सर्वमान्य बोधगम्यता हो–– जिसे सब लोग सहज ही में समझ सकें।"

अतः प्रेमचन्द ने अपने साहित्य के लिये इस मिली जुली भाषा को ही उचित समझा। प्रेमचन्द के इस समन्वयवादी दृष्टिकोण को देख कर कुछ आलोचकों ने तो यहां तक कहा है कि––"प्रेमचन्द जी दो रुखी चालें चलना चाहते हैं, दोनों तरफ मिले रहना चाहते हैं।" पर यह आक्षेप निराधार है, क्योंकि ये आलोचक प्रेमचन्द के भाषा सम्बन्धी दृष्टिकोण की गहराई तक नहीं पहुंच सके। यह जान कर खेद होता है कि जिस बात को प्रेमचन्द इतने समय पूर्व ही जान गये थे, वही बात हमारे आलोचक गणों के मस्तिष्क में नहीं आयी।

डा० राजेश्वर गुरु भी कहते हैं कि–– "प्रेमचन्द जानते थे कि हिन्दुस्तानी को दी गई मान्यता से केवल राजनैतिक भला ही न होगा बल्कि उन्हें विश्वास था कि राष्ट्रीय पुनर्संगठन और पुनर्निर्माण तथा सांस्कृतिक पुनर्जागरण के लिये अभिव्यक्ति के ऐसे माध्यम की आवश्यकता है। वे हिन्दुस्तानी को दी गई मान्यता को इसी दृष्टिकोण से अनिवार्य समझते थे। क्योंकि हिन्दुस्तानी में पारस्परिक सम्पर्क की दीर्घ परम्परा है और हिन्दुस्तानी ही भारतीय विभिन्नत्व में अभिन्नत्व की स्थापना कर सकेगी। इस अडिग आस्था के साथ प्रेमचन्द ने तुलसी की तरह 'संसकीरत' को छोड़ कर 'भाखा' को अपनाया और उसके प्रचार प्रसार के लिए एक मिशनरी की भांति काम किया," अतः प्रेमचन्द ने अपने साहित्य के माध्यम के लिये 'हिन्दुस्तानी' भाषा को ही अपनाया था।

प्रेमचन्द की भाषा उत्तरोत्तर विकास को प्राप्त करती गई है, उनके वरदान और गोदान के कुछ एक अवतरणों से यह स्पष्ट हो जायेगी––

"कुछ और काल बीता, यौवन काल का उदय हुआ, विरजन ने उसके चित्त पर प्रताप चन्द का चित्र खींचना आरंभ किया। उन दिनों इस चर्चा के अतिरिक्त उसे कोई बात अच्छी न लगती थी, निदान उसके हृदय में प्रताप चन्द की चेरी बनने की इच्छा उत्पन्न हुई। पड़े पड़े हृदय से बातें किया करती, रात्रि में जागरण करके मन का मोदक खाती।"

––वरदान।

प्रस्तुत अवतरण में भाषा का प्रवाह अधिक नहीं है। इसमें उर्दू के शब्दों का प्रयोग भी नहीं है। संस्कृत के शब्दों का तथा मुहावरों आदि का प्रयोग किया गया है। लेखक की यह प्रारंभिक कृति है। अतः वह भाषा को विशेष महत्त्व दे रहा है। प्रेमचन्द उर्दू से हिन्दी जगत में आये, थे इसलिये उनकी इस कृति में

'हिन्दुस्तानी' भाषा का स्वरूप प्राप्त नहीं होता । अब उनकी भाषा के विकसित रूप को देखने के लिये गोदान का यह प्रसंग देखिए--

"होरी लाठी कन्धे पर रख कर घर से निकला तो धनिया द्वार पर खड़ी उसे देर तक देखती रही, उसके इन निराशा भरे शब्दों ने धनिया के चोट खाये हुए हृदय में आतंकमय कम्पन सा डाल दिया था, वह जैसे अपने नारीत्व के सम्पूर्ण तप और व्रत से अपने पति को अभयदान दे रही थी । उसके अन्तःकरण से जैसे आशीर्वादों का व्यूह सा निकल कर होरी को अपने अन्दर छिपाये लेता था । विपन्नता के इस अथाह सागर में सोहाग ही वह तृण था, जिसे पकड़े हुए वह सागर को पार कर रही थी, इन असंयत शब्दों ने यथार्थ के निकट होने पर भी मानो झटका देकर उसके हाथ से वह तिनके का सहारा छीन लेना चाहा । बल्कि यथार्थ के निकट होने के कारण ही उसमें इतनी वेदना शक्ति आ गई थी । काना कहने से काने को जो दुख होता है, वह क्या दो आंखों वाले आदमी को हो सकता है ? (–गोदान पृष्ठ ३)

प्रस्तुत अवतरण की शैली में हम उनके सबसे सुन्दर गद्यकाव्य का नमूना पाते हैं । परन्तु इतना कह देने से ही हम प्रेमचन्द की भाषा-विषयक विशेषताओं के प्रति न्याय नहीं कर सकते । प्रेमचन्द की भाषा और उनकी विभिन्न शैलियों के लिये हमें उनके साहित्य को कई भागों में बांटना पड़ेगा । शैलियों की दृष्टि से ये भाग इतने अलग अलग हैं कि इनका एक साथ अध्ययन उचित न होगा । यह विभाजन इस प्रकार किया जा सकता है--

१. वर्णनात्मक शैली ।
२. मनोविश्लेषणात्मक शैली ।
३. नाटकीय शैली ।
४. विचारात्मक शैली ।
५. उपदेशात्मक शैली ।

१. वर्णनात्मक शैली

प्रेमचन्द की भाषा में वर्णनों का आधिक्य है, यहां तक कहा जाता है कि यदि नमूने के लिये एक एक ढंग का वर्णन प्रस्तुत किया जाए तो एक छोटी पुस्तक ही बन जाये, सच तो यह है कि प्रेमचन्द की कथा कहने की कला में वर्णन को प्रमुख स्थान मिला है ।

इन वर्णनों में हमें भाषा का प्रवाह मिलता है, भाषा की चित्रांकन शक्ति मिलती है और अलंकार निर्वाह आदि का उचित उपयोग मिलता है, वर्णन करते समय प्रेमचन्द अपने संयम को भूल जाते हैं । 'वरदान' में उन्होंने अपनी नायिका को कविता करते दिखाया है । बस इतनी सी ही बात को प्रेमचन्द किस प्रकार व्यक्त करते हैं--देखिए--

"जब से वृजरानी का काव्य चंद उदय हुआ, तभी से उसके यहां सदैव

महिलाओं का जमघट लगा रहता था, नगर में स्त्रियों की कई सभाएं थीं । उन के सम्बन्ध का सारा भार उसी को उठाना पड़ता था । × × राजा धर्मसिंह ने उनकी कविताओं का सर्वाङ्ग सुन्दर संग्रह प्रकाशित किया था । इस संग्रह ने उसके काव्य चमत्कार का डंका बजा दिया था । भारतवर्ष को कौन कहे, यूरोप और अमेरिका के प्रतिष्ठित कवियों ने भी इसे उसकी काव्य-मनोहरता पर धन्यवाद दिया था । भारतवर्ष में एकाध ही कोई ऐसा रसिक मनुष्य रहा होगा, जिसका पुस्तकालय उसकी पुस्तक से सुशोभित न होगा ।"

ऐसे वर्णन सर्वथा निर्दोष नहीं कहे जा सकते, क्योंकि अभी हमारे यहां ऐसी कवयित्रियां नहीं हुई हैं, जो विदेशों में भी लोकप्रिय हो सकी हों । प्रस्तुत अवतरण में अत्युक्ति हुई है ।

'कर्मभूमि' का उदाहरण लीजिये । अमर महन्त आशाराम गिरी के मन्दिर में प्रवेश करता है—

"बरामदे के पीछे, कमरों में खाद्य सामग्री भरी पड़ी थी । ऐसा मालूम होता था, कि अनाज, शाक-भाजी, मेवे, फल मिठाई की मंडियां हैं । एक पूरा कमरा तो केवल परवलों से भरा हुआ था । इस मौसम में परवल कितने महंगे होते हैं, पर यहां वह भूसे की तरह भरा हुआ था ।"

इनके अतिरिक्त प्रेमचन्द ने चित्रात्मक वर्णन शैली को भी अपनाया है । रानी देव प्रिया के झूले घर का वर्णन कुछ इसी प्रकार का है —

"वह एक विशाल भवन था, बहुत ऊंचा और इतना लम्बा चौड़ा कि झूले पर बैठ कर खूब पेंग ली जा सकती थी । रेशम की डोरियों में पड़ा हुआ एक पटरा छत्त से लटक रहा था । ऊपर चित्रकारों ने ऐसी कारीगरी की थी, कि मालूम होता था किसी वृक्ष की डाल में पड़ा हुआ है । पौदों, झाड़ियों, और लताओं ने उसे यमुनातट का कुंज सा बना दिया था । कई हिरन व मोर इधर उधर विचरा करते थे ।

(—कायाकल्प)

प्रेमचन्द की भाषा गोदान में पूर्ण-रूपेण विकसित हुई है, गोदान के वर्णन सजीव हैं, और पूर्णतया विकसित दशा में है—

"होरी ने रुपये लिये और अंगोछे के कोर में बांधे प्रसन्न मुख आकर दारोगा की ओर चला ।

सहसा धनिया झपट कर आगे आई और अंगोछी एक झटके के साथ हाथ से छीन ली, गांठ पक्की न थी । झटका पाते ही खुल गई । सारे रुपये ज़मीन पर बिखर गये । नागिन की फुंकार कर बोली ।

होरी खून का घूंट पीकर रह गया । सारा समूह जैसे थर्रा उठा ।"

(गोदान पृ० १७३)

प्रस्तुत अवतरण में प्रेमचन्द थोड़े ही शब्दों से बहुत कुछ कह गये हैं। इसमें होरी के मनोभाव का चित्र है, होरी की चाल भी स्पष्ट कर दी गई है, धनिया, की तेजी 'सहसा' शब्द से व्यंजित है। रुपये बिखर जाने का सकारण दृश्य उपस्थित किया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेमचन्द की भाषा शैली तत्सम प्रधान शब्दावली की ओर अधिक ढलती है। इन सब वर्णनों में चाहे वे दो चार पंक्तियों के ही क्यों न हों, प्रेमचन्द चित्र की सभी रेखाएं स्पष्ट कर देते हैं।

२. मनोविश्लेषणात्मक शैली

प्रेमचन्द मनोविज्ञान के पंडित थे, पात्रों का स्वाभाविक मनोविश्लेषण उन्होंने अपने उपन्यासों में प्रस्तुत किया है। इससे उनके चरित्र यथार्थ के अधिक निकट हो गए हैं। उनका मनोविश्लेषण प्रौढ़ है, इसके लिये उन्होंने दोनों ही शैलियों—समासप्रधान तथा व्यासप्रधान को अपनाया है। उनकी प्रारंभिक कृतियों में हमें समासप्रधान शैली मिलती है और उत्तरकालीन कृतियों में व्यास प्रधान शैली को अपनाया गया है। उनकी समासप्रधान शैली का एक उदाहरण प्रस्तुत है—

> "माधवी उठी, परन्तु उसका मन बैठा जाता था। जैसे मेघों की काली-काली घटाएं उठती हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि सब जल-थल एक हो जायेगा परन्तु पछवा वायु चलने के कारण सारी घटा काई की भांति फट जाती है, उसी प्रकार इस समय माधवी की गति हो रही थी।" (वरदान पृ० २१४)

इस अवतरण में प्रेमचन्द ने माधवी के मन: संघर्ष को प्रस्तुत किया है, यदि वे समासप्रधान शैली न अपनाते, तो इसी सामग्री को लेकर उन्हें कितना अधिक लिखना पड़ता? इस प्रकार की प्रौढ़, मनोविश्लेषणात्मक शैली के पीछे उनका सारा उर्दू साहित्य छिपा है।

प्रेमचन्द्र उत्तरोत्तर व्यासप्रधान शैली के अधिक निकट आते गये हैं।

उनकी व्यासप्रधान शैली के कुछ अवतरण प्रस्तुत हैं। पात्रों के मनोभावों का सम्पूर्ण व स्पष्ट चित्र हमारे सामने वे लाकर खड़ा कर देते हैं।

'प्रेमाश्रम' के एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायेगी। ज्ञान शंकर आत्म हत्या करने के लिये सोचते हुए नदी पर पहुंचते हैं—

"ज्ञान शंकर ने नदी को कातर नेत्रों से देखा, उनका शरीर कांप उठा है, वह रोने लगे। उनका दु:ख नदी से कहीं अपार था। जीवन की घटनायें सिनेमा चित्रों के सदृश उनके सामने मूर्तिमान हो गईं। उनकी कुटिलताएं आकाश के तारागण से भी उज्ज्वल थीं। उनके मन ने प्रश्न

किया, क्या मरने के सिवा और कोई उपाय नहीं है ?

नैराश्य ने कहा—नहीं कोई नहीं । वह घाट के एक पील पाये पर जाकर खड़े हो गये । दोनों हाथ तौले, जैसे चिड़िया पर तौलती है, पर पैर न उठ सके ।

मन ने कहा, तुम भी प्रेमाश्रम में क्यों नहीं चले जाते ? ग्लानि ने जवाब दिया, कौन मुंह लेकर जाए, मरना तो नहीं चाहता, पर जीऊँ कैसे ? हाय मैं जबरन मरा जा रहा हूँ । यह सोच कर ज्ञान शंकर जोर से रो उठे । आंसू की झड़ी लग गई । शोक और भी अथाह हो गया ।

चित्त की समस्त वृत्तियां इस अथाह शोक में निमग्न हो गई, धरती और आकाश, जल और थल, सब इसी शोक सागर में समा गये । वह एक अचेत, शून्य दशा में उठे और गंगा में कूद पड़े । शीतल जल ने हृदय दाह को शान्त कर दिया ।"

(प्रेमाश्रम पृ. ६४०-४१)

३. नाटकीय शैली

उपन्यासों तथा नाटकों के लिये यह शैली विशेष तौर पर उपयुक्त है । इस बात को प्रेमचन्द ने स्वयं भी स्वीकार किया है । उपन्यासों में कथोपकथनों का महत्त्व बतलाते हुए उन्होंने अपनी पुस्तक 'कुछ विचार' में लिखा है—

"उपन्यास में वार्तालाप जितना अधिक हो और लेखक की कलम से जितना कम लिखा जाए, उतना ही उपन्यास सुन्दर होगा ।"

वास्तव में पात्रों की भाषा ही प्रत्येक उपन्यास की जान होती है । कथोपकथन ही वह शक्ति है, जिसमें पात्र अपने को प्रकाशित करते हैं । प्रेमचन्द के पात्र अपने ही वर्ग की भाषा का प्रयोग करते हैं । उनके मुसलमान पात्र अधिकतर उर्दू बोलते हैं । प्रेमाश्रम का एक उदाहरण प्रस्तुत है—

"जब से हज़ूर तशरीफ ले गये, मैंने भी नौकरी को सलाम किया । ज़िन्दगी शिकम-पर्वरी में गुज़री जाती थी, इरादा था कुछ दिन कौम की खिदमत करूँ । इस गरज से 'अंजुमन इत्तहाद' खोल रखी है । उसका मकसद हिन्दू-मुसलमानों में मेल जोल पैदा करना है । मैं इसे कौम का सबसे अहम मसला समझता हूँ, आप दोनों साहब अगर अंजुमन को अपने कदमों से मुमताज फरमायें तो मेरी खुशनसीबी है ।"

इसी प्रकार उनके हिन्दू पात्र संस्कृत गर्भित हिन्दी बोलते हैं । उनके ग्रामीण पात्र भाषा का ग्रामीणीकरण कर देते हैं । उदाहरण के लिये 'कर्म भूमि' का एक पात्र कहता है —

"फिर ऐसा कौन, जो हम गरीबों का दुखदरद समझेगा, जो कहो कि नौकरी चली जायेगी, तो नौकर तो हम सभी हैं, कोई सरकार का नौकर है, कोई रहीस का नौकर है ।"

प्रेमचन्द की भाषा की एक विशेषता यह भी है कि उसमें मुहावरों का बहुत प्रयोग हुआ है । प्रेमचन्द ने इनका चामत्कारिक प्रयोग किया है—

"जब वह बाहर निकल आये तो गुरुसेवक ने मनोरमा से पूछा—आज दोनों इन्हें क्या पट्टी पढ़ा रहे थे ?

मनोरमा—कोई खास बात तो न थी ।

गुरुसेवक—यह महाशय भी बने हुए मालूम होते हैं । सरल जीवन वालों से बहुत घबराता हूँ । जिसे यह राग अलापते देखो समझ लो, या तो उसके लिये अंगूर खट्टे हैं, या वह स्वांग रचा कर कोई बड़ा शिकार मारना चाहता है ।

मनोरमा—बाबू जी ऐसे आदमियों में नहीं हैं ।

गुरुसेवक—तुम क्या जानो, ऐसे गुरु घण्टालों को खूब पहचानता हूँ । (कायाकल्प पृ० १५७)

मुहावरों के प्रयोग के साथ साथ प्रेमचन्द लोकोक्तियों व सूक्तियों का प्रयोग भी निरन्तर करते चलते हैं । जैसे 'राधा राम से वैसे राम राधा से ' (कायाकल्प), 'आये थे हरिभजन को, ओरन लगे कपास' (कायाकल्प), 'मन की मिठाई घी-शक्कर की मिठाई से कम स्वादिष्ट नहीं होती ।'

४. विचारात्मक शैली

इसके अन्तर्गत लेखक विचारप्रधान होकर पात्रों के माध्यम से अपने विचार प्रस्तुत करता है, इसे Wishful thinking भी कहा जाता है, प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में निरन्तर इसका प्रयोग किया है । प्रेमचन्द के चिन्तनप्रधान पात्र जिस प्रकार अपने विचारों की धारा में बहने लगते हैं, उसी प्रकार प्रेमचन्द की भाषा भी उन्हें अभिव्यक्त करने के लिये धारा वाहिक रूप से बढ़ने लगती है । उनके लम्बे लम्बे स्वागत भाषण इसी का उदाहरण हैं, उनमें इसी शैली का प्रयोग किया गया है ।

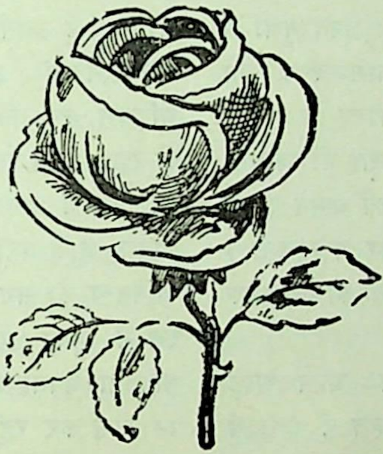
५. उपदेशात्मक शैली

प्रेमचन्द एक आदर्शवादी कथाकार थे । वह साहित्य के उद्देश्य में आदर्श का होना अनिवार्य मानते थे । अतः उनके उपन्यासों में हमें इसी आदर्श के प्रभावाधीन उपदेशात्मक शैली का परिचय लिखा मिलता है, उनके ये उपदेश कहीं कहीं तो इतने लम्बे हो गये हैं, कि पाठक का मन ऊब जाता है, प्रेमचन्द को स्वयं प्रसंग का भी ध्यान नहीं रहता । अतः कथानक शिथिल हो जाना स्वाभाविक है, 'गोदान' के प्रो० मेहता के भाषणों को हम इस कोटि में रख सकते हैं । प्रो० मेहता के भाषण इतने लम्बे हो जाते हैं कि पाठक का मन ऊबने लगता है और पाठक किसी नये

प्रसंग की आवश्यकता अनुभव करता है, ऐसे स्थलों पर प्रेमचन्द पूर्णतया उपदेशक बन जाते हैं।

प्रेमचन्द की भाषा-शैली का क्रम से अध्ययन करने पर पता चलता है कि वह धीरे धीरे विकसित होती गई है। समास-प्रधान शैली न रहकर गोदान में पूर्णतया व्यास प्रधान-शैली रह गई है। अशुद्ध प्रयोग कम होने लगते हैं, वह धीरे धीरे काव्यात्मकता से हट कर संयम और मितव्ययता की ओर जा रही है। भाषा तत्सम प्रधान है, शैली गीतिकाव्य की शैली की भांति संगठित संयोजित, और स्वस्थ है। वह कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक प्रभाव के साथ कह देते हैं।

डा० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' ने तो यहां तक कहा है कि—"आज के हिन्दी कथाकार का सब से बड़ा काम यह है कि वह प्रेमचन्द के पथ पर चल कर हमारे युग को वाणी दे और हमारा मार्गदर्शन करे।" ● ● ●



व्यक्तित्व-विश्लेषण

जगत् प्रिय

मनुष्य अनेकविध शक्तियों का पुंज है। उसमें कई सहज प्राकृतिक शक्तियां, भाव, उद्वेग, स्मृति, कल्पना, चेतना तथा बुद्धि आदि गुण विद्यमान रहते हैं। ये सभी यदि समुचित तालमेल में संगठित या समन्वित होकर उसमें रहते हैं तब व्यक्ति का व्यक्तित्व प्रशंसा योग्य बन जाता है। विपरीत इसके इनके अन्दर अव्यवस्था होने पर व्यक्तित्व त्रुटिपूर्ण कहा जाता है। उक्त गुणों में यथोचित् आनुपातिक सामञ्जस्य बने रहने से ही व्यक्तित्व में गौरव या महिमा का आधान होता है। किसी भी जीवन-व्यवहार का सम्पादन करते समय उसमें न कुछ अधिकता हो और न न्यूनता। बस यही व्यक्तित्व की पूर्णता की आवश्यक शर्त है।

दृष्टांत के लिये हम अपने राष्ट्र की सर्वांगीण उन्नति चाहते हैं। तदर्थ एक परिपूर्ण व समृद्ध राष्ट्र की कल्पना भी करते हैं। यहां तक तो सब ठीक है, किन्तु इस तरह शेख-चिल्ली के पुलाव पकाना, बैठे बैठे कल्पना के घोड़े दौड़ाते रहना और कांम कुछ न करना सदुष्ट या असंगठित व्यक्तित्व का परिचायक है। आपके घर में दो बालक हैं। दोनों की प्रकृति भिन्न है। एक है कि आपने जो कुछ कहा, उसने ध्यान से सुना और समझा। समझ कर वैसा ही करने लग पड़ा। उसमें विनम्रता है, शालीनता और आज्ञाकारिता है। इसके विपरीत दूसरा समझाने से भी नहीं समझता। जो कहते हैं उससे उल्टा करता है। एकदम अस्थिर-चित्त और चंचलमति है। अड़ियल टट्टू की तरह अड़ गया तो अड़ा ही रहा। इस प्रकार आपकी परेशानी का बड़ा कारण बना रहता है। इसका क्या कारण है? यही न कि पहिले बालक के व्यक्तित्व का संगठन या विकास समुचित रूप में हुआ है। उसमें सन्निहित सब शक्तियां अपना अपना कार्य अपने स्थान पर ठीक कर रही हैं। दूसरे बालक की शक्तियां समान रूप से विकसित नहीं। उनमें विषमता है। कोई आवश्यकता से अधिक बढ़ी हुई है और कोई बिल्कुल ही अपरिपक्व या घटी हुई है।

बच्चे के क्रमिक विकास के साथ उसकी सभी शक्तियां, शारीरिक व मानसिक रचना में अपने यथास्थान पर जड़ती चली जानी चाहिएं। शक्ति रूपी सभी मनके सामञ्जस्य रूपी सूत्र में पिरोये होने चाहिएं। तभी प्रशंसनीय व्यक्तित्व की संरचना होती है।

एक छोटा सा परिवार है। जिसमें माता-पिता, भाई-बहिन, पति-पत्नी नौकर चाकर सभी विद्यमान हैं। यदि वे सभी अपनी जगह अपने कर्त्तव्यों को भली प्रकार करते रहें, तो परिवार निरन्तर समृद्धिशील बना रहेगा। परन्तु यदि सब सदस्य अपनी मनमानी पर उतर आएं, अपना अपना राग अलापना शुरू कर दें, तो परिवार की विषमता स्पष्टतया दृष्टिगोचर होगी। यही कहा जायगा कि उस परिवार के संगठन में कोई बड़ी भारी त्रुटि है। समस्त परिवार एक इकाई के रूप में मिल कर काम नहीं कर रहा। दूसरे शब्दों में उस परिवार का व्यक्तित्व विश्रृंखलित है, असंगठित है। और संसार का यह अटल नियम है कि इसमें सफलता सदा संगठित व्यक्तित्व के ही चरण चूमती है, असंगठित, व्यक्तित्व के नहीं।

व्यक्तित्व के संघटक अंग

जिस व्यक्तित्व की ऊपर चर्चा की है उसका निर्माण करने वाले मुख्यतः निम्न चार अंग हैं:—

(क) मानसिक गुण
इसके अन्तर्गत तीन अवान्तर अवस्थाएं हैं –
ज्ञान—बुद्धि
इच्छा—स्वभाव
क्रिया—चरित्र

(ख) शारीरिक गुण

(ग) सामाजिक गुण

(घ) उक्त तीनों गुणों में घनत्व या दृढ़ता।

इनका क्रमशः संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है:—

मानसिक गुण

मनोवैज्ञानिकों ने मन का विश्लेषण करके उसके तीन क्रमिक स्तर माने हैं। जिन्हें ज्ञान, इच्छा और क्रिया के नाम से कहा जाता है। ज्ञान का रूपांतर ही एक प्रकार से बुद्धि है। इसी तरह इच्छा विकसित होकर उद्वेग बन जाती है और उद्वेग ही आगे चल कर व्यक्ति के स्वभाव का जनक है। क्रिया की परिणति ही चरित्र कहलाती है। इसलिये मनके इन तीनों स्तरों के सम्बन्ध में पूरी जानकारी का होना व्यक्ति के लिये विशेष महत्त्वपूर्ण और हितकर है।

बुद्धि—बुद्धि सभी मनुष्यों में एक ही मात्रा में नहीं होती। पढ़ा लिखा होना और बुद्धिमान् होना दोनों पृथक् बातें हैं। एक व्यक्ति अच्छा पढ़ लिख कर भी

निर्बुद्धि या कम बुद्धि वाला हो सकता है। इसके विपरीत बिल्कुल अनपढ़ व्यक्ति भी पर्याप्त बुद्धिमान् कहला सकता है। महात्मा कबीर और शिवाजी बहुत कम, न के बराबर ही पढ़े लिखे थे किन्तु अपने युग के बुद्धिमानों में अग्रणी थे। बुद्धि के द्वारा ही मनुष्य अपने आचार में ऐसा सामञ्जस्य स्थापित करता है जो समाज के लिये हितकर हो। इसी लिये शास्त्रकारों ने बुद्धि या ज्ञान की महिमा विशेष रूप से गाई है। वेद के मातृ-रूप गायत्री यन्त्र ने बुद्धि के लिये ही सत्प्रेरणा की प्रार्थना है। गीता ने संसार भर में ज्ञान के समान पवित्र अन्य किसी चीज़ को नहीं माना। इसलिए सुन्दर व्यक्तित्व के लिये ज्ञान या ज्ञान के विविध साधनों का समुचित समन्वय या तालमेल में रहना बड़ा ही ज़रूरी है।

स्वभाव——यह एक प्रकार से उद्वेगों का ही परिणाम होता है। इन्हीं के कारण मनुष्यों के आशावादी, निराशावादी, अस्थिर चित्त, क्रोधी व चिड़चिड़े आदि कई भेद हो जाते हैं। सभी की अपनी अपनी विशेषताएं रहती हैं। आशावादी किसी बात की गहराई तक नहीं पैठता। ऊपर ही ऊपर तैरता-उतराता है। विषय के उज्ज्वल पक्ष में वह आस्थावान् अधिक होता है। हानिकर पहलू को वह नहीं पकड़ पाता। इसलिये अन्त में असफल भी होता है। इसके विपरीत बहुत से लोग मैलेंकोलिया के शिकार होते हैं। निराशा का रोग उनके जीवन को आक्रान्त किये रहता है। इनमें जिनके अन्दर ज्ञान की न्यूनता होती है वे आत्म-घात की शरण तक ले लेते हैं। दूसरे ज्ञानाश्रयी बन कर तत्वज्ञानी बन जाते हैं। सुख की ओट में छिपा दुःख इन्हें हस्तामलकवत् दृष्टिगोचर होता है। बात की तह तक पहुंचे बिना इन्हें चैन नहीं आता। अस्थिर प्रकृति, क्रोधी और चिड़चिड़े स्वभाव के लोग आशा निराशा, प्रसन्नता अवसाद के झूलों में झूलते रहते हैं। इनमें बुद्धि की चंचलता विशेष पाई जाती है। सभी उद्वेग स्वस्थ व्यक्तित्व के निर्माण में एक प्रकार से बाधक ही होते हैं।

चरित्र——केवल मात्र बाह्य शारीरिक सौन्दर्य ही आकर्षण और पूजा का कारण नहीं होता। सत्यपरायणता, दया, सहानुभूति, न्याय प्रेम, आदि गुणों से ही चरित्र बनता है। महात्मा गान्धी में यही चरित्र प्रतिष्ठित था, जिसके कारण वे महान् बने और संसार भर में पूजित हुए। आदर्श चरित्र के गठन में उक्त गुणों के साथ 'आत्म-सम्मान के स्थायी भाव' का बनना अनिवार्य शर्त है। किन्हीं भी प्रलोभनों के सामने उपस्थित रहने पर भी उनमें न फंसना; उनसे निर्लिप्त रहना ही श्रेष्ठ चरित्र का लक्षण है।

सामाजिकता——दूसरों में रुचि और मेल-मिलाप का विकास ही सामाजिक

गुण कहाता है। बालक में यह धीरे धीरे और सतत अभ्यास से आता है। सामाजिक गुण रखने वाले व्यक्तियों के मोटे तौर पर दो भेद किये गये हैं। बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी। बहिर्मुखी व्यक्ति भी विचार प्रधान और भाव-प्रधान दो तरह के होते हैं। विचार-प्रधान होने पर व्यक्ति तर्क-वितर्क की कैंची से हर बात को परखता और तोलता है। भाव-प्रधान व्यक्ति तर्क के झमेले में नहीं पड़ता। वह सीधा ही परिणाम पर जा पहुंचता है। आन्तरिक बुद्धि या प्रेरणा से ही वह अपना मार्ग दर्शन प्राप्त करता है। विचार-प्रधान कोटि में वकील आदि और भाव-प्रधान कोटि में महात्मा गांधी सदृश व्यक्ति आते हैं। स्त्रियां भी प्रायः बहिर्मुखी वृत्ति वाली होती हैं किन्तु विचार की अपेक्षा उनमें भाव की प्रधानता रहती है। अपने प्रश्नों और समस्याओं का निर्णय वे भावों से अभिभूत होकर ही करती हैं। झूठे भावों की ठगाई में भी वे इसीलिये शीघ्र आ जाती हैं। राजनीति की गुप्त बातों में उनका भरोसा करना भी इसी लिये खतरे से खाली नहीं माना गया। भावावेश में लाकर मन की बात सुगमता के साथ उनसे उगलवा ली जाती है।

अन्तर्मुखी व्यक्ति दूसरों की बजाय स्वयं को ही अपने विचार का केन्द्र बनाता है। अन्य व्यक्तियों के साथ मिलने जुलने में उसकी रुचि और आस्था नहीं होती। वह अपनी धुन में मस्तव विरक्त सा होकर दुनियादारी या सभ्याचार से निर्लेप होकर रहता है। इसके भी विचार-प्रधान और आचार-प्रधान दो भेद हैं। विचार का आश्रय लेकर वह गौतम, कणाद और कपिल जैसा दार्शनिक व विचारक बन जाता है, तथा आन्तरिक प्रेरणा का प्रकाश पाकर तत्त्वदर्शी, महर्षि, द्रष्टा, देवदूत और पैगम्बर आदि बन जाता है। बुद्ध ईसा आदि महापुरुष इसी श्रेणी के थे।

जीवन में आत्यन्तिक असफलता से बचाव के लिये बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी व्यक्तियों को इन तीन बातों में बड़ा सजग रहना चाहिए।

१. संसार को केवल अपने ही दृष्टिकोण से न देख कर दूसरों के दृष्टिकोण से भी देखने का प्रयास करना।
२. समस्त सांसारिक कार्यों में अनासक्ति का अभ्यास और अपने अन्दर द्रष्टापन का विकास करना।
३. योग्यता बढ़ा कर व्यक्तित्व के सम-विकास को साधित करना।

उपर्युक्त तीन गुणों में दृढ़ता

दृढ़ व्यक्तित्व तभी बनता जब पहिले बताए तीनों गुण जीवन में अपना एक सुदृढ़ आधार बना लें। योगदर्शन की भाषा में इसी के लिये ऐसा कहा गया है "स तु दीर्घकाल नैरन्तर्य सत्कारा-

सेवितो दृढ़ भूमिः " किसी भी आदर्श का दीर्घकाल तक लगातार आदर सहित सेवन करते रहने से वह जीवन में बहु-मूल्य हो जाता है । उसमें दृढ़ भूमिता आजाती है, और सफलता आपके चरणों पर आ लोटती है । विपरीत इसके कहीं न कहीं किसी अंश में असफलता के दर्शन करने ही पड़ेंगे ।

इस तरह सन्तुलित व संगठित व्यक्तित्व के निर्माण में वर्णित सभी बातें अपना विशेष स्थान रखती हैं । इसी के द्वारा मनुष्य सच्चा सुख और शांति लाभ कर सकता है । व्यक्तित्व की विच्छिन्नता में समस्याएं बढ़ेंगी और समस्याओं के साथ दुःख अवश्य रहता है। यह आपकी अपनी इच्छा पर है कि आप व्यक्तित्व को संगठित बना लें या उसे विच्छिन्न कर लें ।



महान क्रान्तिकारी श्री बन्त सिंह

सत्यपाल गुप्त

भारत के स्वतंत्रता संग्राम में जहां राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के सत्य अहिंसा का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है वहां क्रान्तिकारी मार्ग अपना कर जिन वीरों ने स्वतन्त्रता के लिये अपने प्राणों की बलि चढ़ा दी उनका त्याग भी कोई कम महत्त्व का नहीं । असंख्य वीरों ने भारत माता को स्वतंत्र करवाने के लिये अपने सुखों को छोड़ तप और त्याग का मार्ग अपनाया तथा अपने बलिदानों से देश को स्वतंत्रता की ओर अग्रसर किया। यह क्रांतिकारी आंदोलन सारे देश में पूरे जोश और उत्साह से चलता रहा तथा आजादी की शमा के परवाने इसपर बलिदान होते रहे। आज जब हम इन वीरों के बलिदानों को पढ़ते हैं तो हमारा सिर गौरव से उन्नत हो जाता है।

इस आंदोलन में अन्य प्रान्तों की भांति पंजाब ने भी अपना पूरा पूरा योगदान दिया है । ऐसे वीरों में से ही एक श्री बन्त सिंह भी थे जिनका साहस और वीरता महान थी तथा अंग्रेज़ जिस का नाम सुन कर भय के मारे कांपने लग जाते थे । आपको पंजाब पुलिस का आतंक कहा जाता था। मैंने इस लेख में आपके महान् बलिदान का परिचय देने का प्रयास किया है ताकि हम इससे प्रेरणा प्राप्त कर सकें ।

आपका पवित्र जन्म जालन्धर ज़िला में सगवाल गांव में हुआ था । आपने अपनी शिक्षा डी. ए. वी. हाई स्कूल से प्राप्त की तथा १९०४–५ में जब कांगड़ा में भूकम्प से बहुत हानि हुई तो आप पीड़ितों की सहायता के लिये अपने साथियों के साथ वहां गये ।

जिस समय आप अपनी प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त कर विदेश गए उस समय आप को दासता का अनुभव हुआ तथा देश के लिये कुछ करने का दृढ़ संकल्प किया । आपने देश में लौट कर अपने इस निश्चय को कार्य रूप देना प्रारम्भ किया । आपने नवयुवकों में उत्साह भरने के लिये बहुत सी पुस्तिकाएं लिखीं तथा अपने निवासस्थान पर ही गुप्त बैठकें आदि आयोजित करने लगे । कुछ समय

तक तो पुलिस को आपकी इन कार्यवाहियों का पता न लगा किन्तु फिर इनके वारंट जारी हो गए। एक बार आप की एक पुलिस अधिकारी से मुठभेड़ हो गई जो आपकी तलाशी लेने के लिये आग्रह कर रहा था। आपने बड़ी वीरता से उस पर वार किया तथा उसे वहीं मृत्यु के घाट उतार दिया। एक अन्य अवसर पर जब कि पुलिस आपको पकड़ने के लिये आपका पीछा कर रही थी तो आप दौड़ कर गाड़ी में सवार हो गये किन्तु जब पुलिस वहां भी पहुंच गई तो आप चलती गाड़ी से कूद कर पुलिस के हाथ से निकल गए।

आप अनेक अवसरों पर वीरता पूर्वक पुलिस का सामना करते रहे किन्तु एक अवसर पर अपने ही सम्बन्धी देशद्रोही के पुलिस को सूचित कर देने पर पकड़े गए। इनका यह सम्बन्धी उनको किसी बहाने से अपने घर ले गया तथा वहीं आपको पुलिस के हवाले करवा दिया। जिस समय आपको गिरफ्तार करके होशियारपुर से लाहौर लाया गया तो जनता में बहुत जोश उत्पन्न हो गया। और हज़ारों की संख्या में लोग आपके दर्शनों को स्टेशन पर पहुंच गए। आपके मन पर कोई कष्ट या निराशा न थी बल्कि आप अपनी गिरफ्तारी पर असीम आनन्द का अनुभव कर रहे थे। आपने जनता को कहा कि देश की स्वतंत्रता के लिये बलिदान करना परम आवश्यक है और देश के नवयुवकों को अपने आपको पेश करना चाहिए। आप पर बगावत करने के जुर्म में मुकदमा चलाया गया। जैसा कि पहले से ही पता था आपको इस अपराध में फांसी की सज़ा का आदेश हुआ जिसे आपने पूरे हर्ष से स्वीकार किया तथा भारत माता की सेवा करने का अवसर समझ कर उसके लिए अपना बलिदान दे दिया।

जिस समय आपको फांसी के लिये ले जाया गया तथा आपसे अन्तिम इच्छा पूछी गई तो आपने कहा कि मैं तो अपने महान देश को स्वतन्त्र देखना चाहता हूँ यही मेरी अन्तिम इच्छा है और मैं इस के लिये ही जीवित रहना चाहता हूँ यदि यह मेरी मृत्यु से प्राप्त हो सकती है तो मैं इस के लिये बिल्कुल तैयार हूँ।

आपके इस महान उत्साह को देख कर वहां जमा हुए लोग बहुत प्रभावित हुए। आपने फांसी पर चढ़ने से पूर्व "भारत माता की जय" का जयघोष किया तथा उस रस्से को हंसते हंसते चूम लिया, जिसको चूम कर असंख्य वीरों ने वीरगति को प्राप्त किया था।

आज जब कि हम स्वतंत्र हैं हमारा यह कर्तव्य है कि हम इन के बलिदानों को याद रखें तथा उनके प्रति श्रद्धा से नतमस्तक हों। इन वीरों के बलिदानों से ही आज हम स्वतन्त्रता का आनन्द प्राप्त कर रहे हैं। हमारा यह कर्त्तव्य हो जाता है कि हम उनके परिवारों को प्रत्येक संभव सुविधा प्रदान करने के लिये प्रयत्न करें। ० ० ०

प्राचीन भारत वर्ष की स्थापत्य कला और यन्त्र कला

राम मोहन शर्मा

आज जब हम यूरोप आदि देशों के इञ्जिनीयरों (Engineers) अथवा स्थापत्य-कला-विशारदों के बनाये हुए, उनके अनेकों ही सौ सौ मञ्जिलों से भी अधिक ही मञ्जिलों तक के भी बने हुए, बड़े-बड़े भवनों को अमेरिका के वाशिंगटन और न्यूयार्क आदि नगरों में देखते और सुनते हैं, और साथ में उनके ही बनाये हुए, इन हवाई जहाज़ों आदि अनेकों ही यन्त्रों आदियों को भी जब हम देखते सुनते हैं तब तो प्रायः ही अपने प्राचीन भारत वर्ष के कला कौशल और यहां की स्थापत्य कला और यन्त्र विद्या या इञ्जिनीयरी से अनभिज्ञ हम आजके भारतवासियों के मनों में भी केवल ये ही विचार उत्पन्न होते हैं कि इन विदेशी आविष्कारकों की ही कृपा से आज हमारा यह मनुष्य संसार उन्नति के मार्ग पर आरूढ़ और अग्रसर हुआ है । और नहीं तो अब तक भी इस मनुष्य जगत् में सर्वत्र ही विज्ञान यानि Science की दृष्टि से केवल अन्धकार ही अन्धकार छाया हुआ था ही और आगे भी यह अन्धकार छाया हुआ ही रहता ।

इसका कारण प्रायः हम भारतवासियों का अपने ही वेदादि शास्त्रों और अपने प्राचीन इतिहास के ग्रन्थों का अर्थात् बाल्मीकि रामायण और पुराणों आदियों का न पढ़ना-पढ़ाना और हमारा अपना उन सब से अनभिज्ञ होना ही है और यदि कभी कहीं हम कुछ पढ़ते भी हैं तो तब भी हमारी दौड़ श्री तुलसी कृत रामायण और श्री सबल सिंह जी चौहान कृत महाभारत आदि तक ही रहती है । यानि हम केवल इस ही प्रकार के ग्रन्थों को ही पढ़ पढ़ कर, अपना सन्तोष कर लिया करते हैं और इसके साथ में ही हम यह विचार कर, अपने-अपने मनों में इस प्रकार से

बड़े ही भारी प्रसन्न भी हुआ करते हैं कि अब तो हमने अपने प्राचीन भारतवर्ष के विषय में बड़ा ही भारी ज्ञान प्राप्त कर लिया है।

परन्तु जब भी कभी हमें खोज करके इस विषय की ओर ज्ञान विज्ञान की प्राप्ति की दृष्टि से अपने भारत वर्ष के ऐसे ऐसे प्राचीन उपर्युक्त ग्रन्थों को ही पढ़ने पढ़ाने की अपने अपने मनों में प्रबल इच्छा उत्पन्न होगी बस तब ही हम यह देखेंगे कि जिस प्रकार इस जगत् में रात्रि के पश्चात् दिन और दिन के पश्चात् रात्रि भी आया और जाया ही करती है; और जब से ही हमारी यह सृष्टि बनी है। तब से ही यह दिन और रात्रि के एक दूसरे के पश्चात् आने और जाने का भी चक्र चलता ही चला आ रहा है और आगे को इस ही प्रकार से यह चक्र चलता ही रहेगा।

बस बिल्कुल ही इस ही प्रकार से ठीक-ठीक कभी वैज्ञानिक प्रकाश का युग और कभी अवैज्ञानिक अन्धकार का युग हमारे इस मनुष्य संसार में सदा से ही चलता चला आ ही रहा है, और आगे को भी सदा ही चलता चला जाता भी रहेगा ही।

क्योंकि यह संसार स्वयं भी तो सदा अपने प्रलय काल में प्रकृति में लीन और अपनी सृष्टि के अर्थात् अपनी रचना के काल में उससे प्रगट होता ही रहता है और इसी लिये तो संस्कृत में इसको संसार चक्र कहा जाता है और इस ही कारण से इसकी प्रत्येक ही वस्तु तथा इसके यहां के ज्ञान और विज्ञान आदि तक का भी सदा ही आविर्भाव और तिरोभाव भी होता ही रहता है।

अब हम विद्वान् पाठकों को वेदों के प्रसङ्ग में अधिक न ले जाएं, क्योंकि वेदों में तो सब ही प्रकार का ज्ञान और विज्ञान भरा ही हुआ है, जैसे कि वेद तो अपने आरम्भ काल से ही हम मनुष्यों को हवाई जहाज़ों और सामुद्रिक जहाजों आदि तक के बनाने के लिये अपना उपदेश देना यों आरम्भ कर ही दिया करते हैं।

जैसे कि ऋग्वेद के अष्टक १ अध्याय २ वर्ग १७वें के वरुण सूक्त के ७वें मन्त्र के द्वारा किस ढंग से हम मनुष्यों को आकाश में उड़ने के लिये हवाई जहाज़ों को बनाने के और समुद्रों में भी विचरने के लिये समुद्र में चल सकने वाले जहाज़ों को बनाने का भी वेद हमें अपना उपदेश यों देता है :–

वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम्
वेद नावः समुद्रियः।।७।।

अर्थ––हम उस सब से वरण करने के योग्य वरुण नाम से राजा का मान करते हैं कि जो आकाश में उड़ते हुए, पक्षियों के से उड़ने की उड्डयन कला को जानता है, यानि आकाश में कैसे उड़ा जा सकता है, इसको जानता है और छोटे मोटे जलाशयों की बात नहीं बल्कि समुद्रों

में चलने वाली नावों के समुद्र में चलने और चलाने की कलाओं को भी जानता है।

इसका भाव यह है--राजा को हवाई जहाज़ों से पक्षियों की भांति ही आकाश में उड़ने वाली विद्या को जानने वाला जहां होना चाहिए वहां उसको समुद्रों में चलने वाले जहाज़ों की भी विद्या का जानने वाला होना ही चाहिए।

और आगे भी ऋग्वेद के इस ही अष्टक और अध्याय परन्तु १८ वर्ग के वरुण सूक्त के १३वें मन्त्र के द्वारा वेद हम मनुष्यों को यों सुवर्ण जैसी सर्वोत्तम धातु का भी प्रयोग करना सिखाता हुआ, साथ ही उससे युद्ध में काम आने योग्य हमें अपने अंगरक्षक यानि कवच भी बनाने के लिये वेद हमें यों उपदेश देता है–

विभ्रद्द्रापिं हिरण्ययं वरुणो वस्त निर्णिजम्।
परिस्पशो नि षेदिरे ।।१३।।

अर्थ--सुवर्णमय कवच को धारण किये हुए, उससे वह अपने पुष्ट शरीर को आच्छादित करता है और उसके चमकते हुए सुवर्ण के कवच की सौ वर्णी किरणें उस राजा वरुण के सब ही ओर फैली हुई हैं इत्यादि। अब इन ऐसे ऐसे वेदों के मन्त्रों से आकाश में उड़ने के और समुद्र पर नावों अथवा जहाजों के द्वारा चलने के ज्ञान को देने के अतिरिक्त और भी आगे से आगे ऐसी ऐसी ही सुवर्ण जैसी ही अनेकों ही धातुओं के अनेकों ही प्रकारों के प्रयोगों को बताता हुआ, वेद तो हम मनुष्यों को सर्व प्रकारों के ही ज्ञान और विज्ञानों से भरपूर ही करता है।

इस प्रकार वेदों के प्रताप से हम भारतवासी तो सृष्टि के आदिकाल से ही लेकर, सदा ही सभ्य और ज्ञान विज्ञान तथा कला कौशल से युक्त ही रहे हैं। हां वे कोई और ही होंगे कि जो पहले बिल्कुल ही जंगली और असभ्य होने के साथ साथ ही वे ऐसे जड़बुद्धि भी थे कि जिनकी बुद्धि तो कुछ भी सोच समझ और विचार ही नहीं कर सकती थी और वे पशुओं की भान्ति ही रहते भी थे।

और फिर अनेकों ही वर्षों के पश्चात् उनकी वह जड़ बुद्धि कुछ-कुछ क्रिया में आने यानि सोचने, समझने और विचार करने लगी और अब इससे आगे वे प्रस्तर युग आदि में से गुज़रते हुए, आज के सभ्य मनुष्य बन बैठे या बन गये हैं।

हां यदि कोई इतिहास का माननीय विद्वान् वेदों के कभी किसी भी काल में बनाये जाने के समय की खोज लगा कर, निश्चित रूप से ही उनके कभी बनाये जाने का इस प्रकार से निर्णय कर देगा कि वेद अमुक समय में बनाये गये थे, तब हम भारतवासी भी उसकी बात को मान कर, यह समझ लेंगे कि आरम्भ में हम भी उन्हीं जैसे असभ्य ही थे। परन्तु पीछे से वेदों के बनने के उस ही समय से हम भी सभ्य हुए हैं कि वेदों

के बनाये जाने के जिस समय की उस माननीय इतिहासकार ने खोज लगाई होगी । नहीं तो दूसरी अवस्था में यानि वेदों के बनाये जाने के समय के पता न लगने की अवस्था में तो यह मेरा ही ऊपर लिखा हुआ दावा ही सर्वप्रकार से ही उचित और ठीक भी तथा अटल ही रहेगा कि हम भारतवासी तो सृष्टि के आदि काल से ही सभ्य हैं जब कि दूसरे पहले जंगली और असभ्य होने की अपनी-अपनी असभ्यता की अवस्था को त्याग कर, अब आज ही सभ्य होने लगे हैं ।

अब हम वेदों की बातों को यहां ही छोड़ते हुए, अपने माननीय पाठकों को आज से लगभग १३ या १४ लाख वर्षों के पुराने श्री बाल्मीकि रामायण के उस समय में ले चलते हैं जब कि वेदों के ही उपर्युक्त उपदेशों को मान कर, और उन पर आचरण भी करते हुए, और उनके ही आधारों पर उस प्राचीन भारतवर्ष के हमारे पूर्वज अनेकों ही प्रकारों की स्थापत्य कलाओं और विमानों तथा समुद्री जहाज़ों आदि अनेकों ही यंत्रों का भी आविष्कार और निर्माण कर के, और उनसे काम भी लिया ही करते थे ।

परन्तु आज केवल तुलसी रामायण आदि को ही पढ़ कर, अपना सन्तोष कर लेने वाले हम लोग भगवान् श्री रामचन्द्र जी द्वारा भारत और लंका के बीच बनाये हुए उस सौ योजन लम्बे समुद्र के पुल को बनाने की उस विधि को ही भूल भी चुके हैं कि जिस विधि को महर्षि श्री बाल्मीकि जी ने अपनी रामायण में वर्णन किया है और जिस विधि के द्वारा भगवान् श्री राम चन्द्र जी ने समुद्र पर इस पुल का निर्माण किया था ।

क्योंकि भगत शिरोमणि श्री तुलसीदास जी ने तो केवल अपने भक्तिभाव में ही भर कर, अपने भगवान् श्री रामचन्द्र जी की केवल अद्वितीय और अलौकिक दिव्य शक्ति को प्रदर्शित करने के लिये ही इस पर यों लिखा है कि वानर भालू आदि भगवान् श्री रामचन्द्र की आज्ञा पाकर, और उन के ही अलौकिक दिव्य प्रताप से केवल मात्र अपने ही शारीरिक बलों से पर्वतों और पर्वत-खण्डों को उखाड़ उखाड़ कर केवल अपने अपने हाथों आदियों पर ही उठा उठा कर लाते गये और नलनील नाम के उनकी ही सेना के दो वानर भाई जिनको किसी ऋषि का यह वर मिला हुआ था कि तुम दोनों ही जिस किसी भी पत्थर को अपने हाथ से जल पर छोड़ दिया करोगे, वही पत्थर जल के ऊपर स्वयमेव ही तैरने लग जाया करेगा ।

इस प्रकार नल और नील दोनों ही भाई उस ऋषि के वर के प्रताप से जिस जिस भी पत्थर पर अपने हाथ से भगवान् श्री राम का नाम लिख लिख कर,

समुद्र के जल में छोड़ते गये--बस वे ही पत्थर भगवान् श्री राम के नाम की अलौकिक दिव्य शक्ति की महिमा के द्वारा समुद्र के जल के ऊपर तैरते हुए समुद्र के उस पुल के रूप में स्वयमेव ही जुड़ते चले गये और इस प्रकार से थोड़े से ही समय में वह सेतुबन्ध नामका भगवान् श्री रामचन्द्र जी का बनाया हुआ, संसार भर में ही अद्वितीय बड़ा ही भारी और महाविशाल समुद्र का पुल मानों स्वयमेव ही बन कर तैयार हो गया था।

जैसे कि इसके बनाये जाने के विषय में भगत शिरोमणि श्री तुलसीदास जी अपनी रामायण में यों लिखते हैं--

नाथ नील नल कपि द्वौ भाई,
लरिकाईं रिषि आसिष पाई ।
तिन्ह के परस किएं गिरि भारे,
तरिहहिं जलधि प्रताप तुम्हारे ।।

अर्थ--तब समुद्र ने कहा, कि हे नाथ ! आपकी सेना में नील और नल नाम के दो वानर भाई हैं। उन्होंने लड़कपन में ऋषि से आशीर्वाद पाया था कि उनके स्पर्श मात्र के ही कर लेने से बड़े-बड़े ही भारी भारी भी पहाड़ आपके प्रताप से समुद्र के जल पर तैरने लग जायेंगे, इत्यादि।

अब इनके ऐसा लिखने से जहां हम भारतवासियों के मनों में भगवान् श्री रामचन्द्र जी के प्रति उनको सर्वव्यापक और परमात्मा ही मानने के रूप में उनके लिये श्रद्धा और भक्ति की एक बाढ़ तो भले ही उत्पन्न हुई है परन्तु वहां इनके ऐसा लिखने से अब हम श्री रामचन्द्र जी के समय के उस सर्वोच्च विज्ञान अर्थात् साइन्स (Science) से भी पूर्णतया ही आज वंचित भी हो ही गये हैं जिस सर्वोच्च विज्ञान के बल से ही तो उन्होंने उस समय की स्थापत्य कला का एक सर्व श्रेष्ठ आदर्श और अद्भुत ही नमूना वह समुद्र का पुल बनाया था।

और इसके साथ ही उन यन्त्रों को बनाने के उस समय की यन्त्रकला की इञ्जिनीयरी के ज्ञान से भी हम आज कोरे ही हो गए कि अपनी जिस यन्त्रों को बनाने की इञ्जिनीयरी द्वारा श्री राम ने उस समय उस समुद्र के पुल को बनाने के लिये और इस पुल को बनाने में काम आने वाले बड़े-बड़े ही पर्वत खण्डों और पर्वत शिखरों तथा पर्वतों तक को भी उठा उठा कर वहां लाने के लिये और चिनाई में रखने और ठीक ही करके बिठाने के लिये भी उन्होंने आज से भी कहीं बहुत ही बड़े-बड़े क्रेनों को आज की माल गाड़ियों के छकड़ों से भी कहीं बहुत ही बड़े-बड़े पर्वतों तक के भारों को भी उठा उठा कर ले जाने में समर्थ छकड़ों आदि अनेकों ही प्रकारों के यन्त्रों का आविष्कार भी किया, और उन्हें बनाया भी था। और इसके साथ ही हमें यह भी समझ लेना आवश्यक ही है कि पर्वतों के भारों को उठाने वाले वे बड़े-बड़े छकड़े

पर्वतों को उठाए हुए आज की रेलवे लाइनों से भी कहीं बहुत ही अधिक बड़ी-बड़ी और मजबूत लोहे की लाइनों (Rails) पर ही तो चलते होंगे ।

परन्तु आज तो हम, इस सब ही प्रकार के विज्ञान के प्रकाश से हट कर घोर अन्धकार के गढ़हे में ही तो गिर गये हैं । जिसका मूल कारण हमारा बाल्मीकि रामायण और वेदों जैसे ग्रन्थों का केवल न पढ़ना पढ़ाना और न सुनना सुनाना ही तो है। इस ही लिय तो श्री स्वामी दयानन्द जी सरस्वती ने यह लिखा है कि "ऋषिकृत ग्रन्थों को त्याग कर, हमें मनुष्यकृत ग्रन्थ पढ़ने नहीं चाहिएं ।"

आइये अब हम इस उपरिलिखित तुलसीकृत रामायण के समुद्र पर सेतुबन्ध पुल बनाने के प्रसङ्ग को त्याग कर, अब आगे श्री बाल्मीकि जी द्वारा लिखित बाल्मीकि रामायण के सेतुबन्ध प्रसङ्ग को लेते है ।

बाल्मीकि रामायण में तो समुद्र पर इस विचित्र पुल के बनाने में अकेले नल नाम के विश्वकर्मा नामक देवताओं के इञ्जीनियर के सुपुत्र का ही वर्णन है । नील नाम के किसी अन्य का नहीं है ।

एवमुक्त्वोदधिर्नष्टः समुत्थाय नलस्ततः ।
अब्रवीद्वानरश्रेष्ठो, वाक्यं रामं महाबलम् ।।
सर्ग २२। श्लोक ४७

अर्थ—इस प्रकार कह कर, समुद्र अन्तर्द्धान हो गया । और इसके पश्चात् वानरों में श्रेष्ठ नल ने खड़े होकर, महा बलवान् श्री राम को यह वाक्य कहा :-

अहं सेतुं करिष्यामि, विस्तीर्णे मकरालये ।
पितुः सामर्थ्यमासाद्य, तत्त्वमाह महोदधिः ।।४८।।

अर्थ—मैं इस विस्तृत समुद्र के ऊपर अपने पिता विश्वकर्मा के सामर्थ्य को प्राप्त होकर, इस पुल को बनाऊंगा । समुद्र ने यह ठीक ही कहा है :

आगे इसी २२वें सर्ग के ५३ वें श्लोक नें नल राम से यों कहते हैं :—

समर्थश्चाप्यहं सेतुं, कर्तुं वै वरुणालये ।
तस्मादद्यैव बध्नन्तु, सेतुं वानरपुंगव ।।५३

अर्थ—क्योंकि मैं इस समुद्र पर पुल बनाने के लिये समर्थ हूँ । इसलिये ये वानर श्रेष्ठ आज ही पुल को बनाना आरम्भ कर दें ।

अब इस प्रकार नल की प्रेरणा से भगवान् श्री रामचन्द्र जी ने वानरों को सागर पर पुल बनाने की और उसकी सब ही सामग्रियें इकट्ठी करने के लिये भी आज्ञा दे दी और वे पुल बनाने की सामग्रियों को एकत्रित करने के लिये चले गये । अब इस बात को इसी २२वें सर्ग के ५६वें श्लोक से श्री बाल्मीकि जी यों वर्णन करते हैं :—

ते सालैश्चाश्वकर्णैश्च, धवैर्वंशश्च वानराः।
कुटजैरर्जुनैस्तालैस्तिलकैस्तिनिशैरपि
॥५६॥

अर्थ––उन वानरों ने साल, अश्वकर्ण (एक प्रकार का साल वृक्ष का भेद), धन (धाय के वृक्ष), कुटज (कूड़ा), अर्जुन वृक्ष, ताड़, तिलक, तिनिश के भी ।

बिल्वकैः सप्तपर्णैश्च, कर्णिकारैश्च
पुष्पितैः ।
नूतैश्चाशोकवृक्षैश्च, सागरं समपूरयन्॥५७

अर्थ––बेल (बिल), सतौना, खिले हुए कर्णिकार, आम, और अशोक आदि के वृक्षों से उस समुद्र को भरने लगे ।

समूलांश्च विमूलांश्च, पादपान् हरिसत्तमाः ।
इन्द्रकेतूनिवोदम्य, प्रजह्रुर्वानरास्तरून्
॥५॥

अर्थ––वे वानर श्रेष्ठ––वृक्षों को जड़ों के सहित और जड़ों के ऊपर से ही काट काट व तोड़ तोड़ कर इन्द्र ध्वजों के यानि झण्डों के समान बड़े-बड़े ऊंचे वृक्षों को उठा कर, लाने लगे ।

तालान् दाड़िमगुल्मांश्च, नारिकेल-
विभीतकान् ।
करीरान् बकुलान् निम्बान् समाज –
ह्रुरितस्ततः॥५६॥

अर्थ––ताड़, अनार की झाड़ियें, नारियल और बहेड़े के वृक्ष, करीर, मौलश्री, तथा नीम के वृक्षों को भी इधर उधर से अर्थात् जहां जहां से भी ये वृक्ष मिले वहां वहां से ही इन सब को काट काट कर अथवा तोड़ तोड़ कर, उस समुद्र पर पुल बनाने के लिये और उस पुल की महरावों आदि को बांधने और उनके नीचे आश्रय देने के लिये भी तथा और भी अनेकों ही प्रकारों के कामों के लिये ले आए क्योंकि जल पर ही स्थित और खड़े होकर ही तो इस समुद्र के पुल को बनाया जा सकता था । इस कारण उसके लिये नौकायें और बेड़े अथवा खंभे आदि बनाने के लिये भी ये सर्व प्रकारों के ही वृक्ष उन्होंने ला ला कर वहां समुद्र के तट पर एकत्रित कर लिये ।

और अब इससे भी आगे श्री महर्षि बाल्मीकि जी यों लिखते हैं :––

हस्तिमात्रान् महाकायाः, पाषाणांश्च
महाबलाः ।

पर्वतांश्च समुत्पाद्य, यन्त्रैः परिवहन्ति
च ॥६०॥

अर्थ––वे बड़े-बड़े शरीरों वाले भीमकाय महाबलवान् वानर हाथियों के शरीरों के समान बड़ी-बड़ी शिलाओं को और पर्वतों को उखाड़ उखाड़ कर, यन्त्रों के अर्थात् मशीनों के द्वारा उठा उठा कर, उस समुद्र तट पर ले ले कर आते हैं ।

अब आप यहां इस प्रकार से विचार कर सकते हैं कि हाथियों के समान बड़ी-बड़ी शिलाओं को और

पर्वतों को इस श्लोक में लिखे अनुसार उखांड़ उखाड़ कर, वे वानर जिन यन्त्रों से उठा उठा कर, और जिन यन्त्रों पर लाद कर, वे वहां समुद्र तट पर ला रहे थे उनके वे यन्त्र आज कल के बोझ उठाने और बोझ ढोने वाले यन्त्रों यानि क्रेणों (cranes) से और उनको लाद लाद कर ढोने अथवा लाने वाले यन्त्र भी आज कल की की बोझ भार ढोने वाली माल गाड़ियों के डिब्बों अथवा छकड़ों से कितने बड़े-बड़े और विशाल भी तो होते ही होंगे; और तभी तो वे पर्वतों के और पर्वतों ही जैसी शिलाओं के भी भारों को उठा उठा कर और ढो ढो कर,ले भी तो जा सकते ही होंगे । आगे इसलिये वे सबके सब ही आजकल की रेलगाड़ियों की भांति ही लोहे की रेलों (Rails) की पटड़ियों पर भी अवश्य चलते भी होंगे ही । परन्तु उनकी ये रेलवे लाइनें भी हमारी आज की रेलवे लाइनों से कहीं बहुत ही अधिक बड़ी मोटी और किसी बहुत ही मजबूत लोहे की बनी हुई होती भी होंगी कि जिन पर से ये इतने इतने बड़े-बड़े क्रेन और पर्वतों के भारों को उठाए हुए लोहे के बने हुए बहुत ही बड़े-बड़े छकड़े भी चल सकें । और फिर भी वे दबें और टूटें ही न ॥

श्री महर्षि वाल्मीकि जी इससे भी और आगे यों लिखते हैं :—

प्रक्षिप्यमानैरचलैः, सहसा जलमुद्धृतम् ।
समुत्ससर्प चाकाशमवासर्पत् ततः पुनः ॥६१

अर्थ—समुद्र में एक दम फैंके जाते हुए, उन पर्वतों से सहसा आकाश में ऊपर को उछला हुआ, समुद्र का जल पहले तो आकाश की ओर उछलता था और फिर लौट लौट कर, नीचे समुद्र में ही गिर जाता था । यानि यह भी उस समय एक अभूतपूर्व ही दृश्य था ।

समुद्रं क्षोभयामासुर्निपतन्तः समन्ततः ।
सूत्राण्यन्ये प्रगृह्णन्ति ह्यायतं शतयोजनम्
॥६२॥

अर्थ—इस प्रकार सब ओर से ही समुद्र के जल में गिरते हुए, पर्वतों और भीमकाय प्रस्तरों से उन वानरों ने समुद्र में बड़ी भारी हल-चल मचा दी, और उसको प्रक्षुभित कर दिया । और फिर इन वृक्षों और पर्वतों को लाने वालों से अतिरिक्त जो दूसरे वानर वहां राजों आदि का कार्य करने वाले हैं वे उस पुल को सीध में रखने के लिये आज कल भी मकानों और दीवारों को बनाने वाले राजों की भान्ति ही सौ सौ योजन लम्बे सूत्रों को लेते हैं । और उन से नाप नाप कर, सीध में रखते हुए ही उस पुल की चिनाई को ठीक ठीक से क्रम में बिठाते और करते हैं ।

नलश्चक्र महासेतुं, मध्ये नदनदीपतेः ।
स तदा क्रियते सेतुवानरैर्घोरकर्मभिः॥६३॥

अर्थ—इस प्रकार दरियाओं और नदियों के स्वामी समुद्र के बीच में "नल" उस बड़े ही भारी सेतुबन्ध नाम के सागर के पुल को बना रहे थे और साथ में उनके सहायक घोर कर्म अर्थात् बड़े-बड़े भयंकर अथवा विशाल कार्यों को करने वाले उन वानरों से भी वह समुद्र का सेतु बनाया जा रहा था।

दण्डान्यन्ये प्रगृह्णन्ति, विचिन्वन्ति तथा परे।
वानराः शतशस्तत्र, रामस्याज्ञा पुरःसराः ॥६४॥

अर्थ—और कोई दूसरे वानर उस पुल को बनाते हुए, उसे नापने के लिये मानदण्डों को पकड़ते और नापते हैं। और दूसरे वानर उस पुल की चिनाई कर रहे हैं। अथवा सामग्री जुटा रहे हैं। इस प्रकार भगवान श्री रामचन्द्र जी की आज्ञा में चलने वाले वे सैंकड़ों ही वानर उस पुल को बनाने में जुटे हुए, अपने अपने कामों को कर रहे हैं।

मेघाभैः पर्वताभैश्च, तृणैः काष्ठैर्बबन्धिरे।
पुष्पिताग्रैश्च तरुभिः; सेतुं बध्नन्ति वानराः ॥६५॥

अर्थ—काले मेघों और पर्वतों के समान आकारों वाले बड़े-बड़े प्रस्तरों से और काष्ठों से तथा खिले हुए बड़े-बड़े वृक्षों से या उनके तनों से और इन सब को तृणों के बने हुए बड़े-बड़े रस्सों से बान्ध कर वे वानर लोग समुद्र के पुल को बनाते हैं।

पाषाणांश्च गिरिप्रख्यान् गिरीणां शिखराणि च।
दृश्यन्ते परिधावन्तो, गृह्य दानव सन्निभाः ॥६६॥

अर्थ—पर्वतों के सदृश बड़े-बड़े पत्थरों को और पर्वतों के शिखरों को ले ले कर दौड़े जाते हुए, वे वानर दानवों के समान दिखाई देते हैं।

शिलानां क्षिप्यमाणानां, शैलानां तत्र पात्यताम्।
बभूव तुमुलः शब्दस्तदा तस्मिन् महोदधौ ॥६७॥

अर्थ—उस समय फैंकी जाती हुई, बड़ी-बड़ी शिलाओं के और गिराये जाते हुए, पहाड़ों के समुद्र के जल में गिरने से उस महासमद्र में एक बड़ा ही भारी तुमुल अर्थात् महाघोर भयानक शब्द हो रहा था।

कृतानि प्रथमेनान्हा, योजनानि चतुर्दश।
प्रहृष्टैर्गजसंकाशैस्त्वरमानैः प्लवङ्गमैः ॥६८

अर्थ—उस सागर के सेतुबन्ध नामक पुल को बनाने में शीघ्रता करते हुए, उन वानरों ने पहले दिन चौदह योजन लम्बा उस पुल को बनाया ॥

द्वितीयेन तथैवान्हा, योजनानि तु विंशतिः।
कृतानि प्लवगैस्तूर्णं, भीमकायैर्महाबलैः ॥६९॥

अर्थ—दूसरे दिन उस पुल को और बीस योजन अधिक लम्बा बना लिया ।

अन्हा तृतीयेन तथा, योजनानि तु सागरे ।
त्वरमानैर्महाकायैरेकविंशतिरेव च ।।७०।।

अर्थ—तीसरे दिन और आगे इक्कीस योजन लम्बा बना दिया ।।

चतुर्थेन तथा चान्हा, द्वाविंशतिरथापि वा ।
योजनानि महावेगैः, कृतानित्वरितैस्तथा ।।७१।।

अर्थ—और वैसे ही शीघ्रता करते हुए, चौथे दिन उससे भी और आगे बड़े ही वेग वाले उन वानरों ने समुद्र के उस पुल को बाईस योजन और भी अधिक ही लम्बा बनाया ।

पञ्चमेन तथा चान्हा, प्लवगैः क्षिप्रकारिभिः
योजनानि त्रयोविंशत्, सुबेलमधिकृत्य वै ।। २।।

अर्थ—उन शीघ्रता करने वाले वानरों नें पांचवें दिन लंका के सुबेल नामक पर्वत तक अर्थात् लंका तक ही तेईस योजन लम्बा अर्थात् सौ योजन का लम्बा पूर्ण ही वह सागर का पुल बांध दिया ।

स वानरप्रवरः श्रीमान्, विश्वकर्मात्मजो बली
बबन्ध सागरे सेतुं, यथा चास्य पिता तथा ।।७३।।

अर्थ—इस प्रकार वह वानरों में श्रेष्ठ श्रीमान विश्वकर्मा के सुपुत्र बलवान स्थापत्यकला अथवा इञ्जिनीयरी की विद्या और गुणों में जैसा इसका पिता यानि देवताओं का इञ्जिनीयर विश्कर्मा नाम का था वैसे ही गुणों वाले श्री रामचन्द्र जी के भी इञ्जीनीयर उस "नल" ने समुद्र के ऊपर उस सेतुबन्ध नाम के सागर के पुल को बनाया था ।

स नलेन कृतः सेतुः, सागरे मकरालये ।
शुशुभे सुभगः श्रीमान्, स्वातीपथ इवाम्बरे ।।७४।।

अर्थ—मकर आदि भयानक ही जल-जन्तुओं के घर उस नीले जल वाले समुद्र पर नल ने वह सेतुबन्ध नाम का समुद्र का पुल बनाया था और वह सुन्दर शोभा वाला पुल नीले समुन्द्र में ऐसे शोभायमान लगता था कि जैसे नीले आकाश में आकाश गङ्गा का मार्ग अर्थात् मिल्की वे (milky-way) शोभायमान लगता है ।

ततो देवाः सगन्धर्वाः, सिद्धाश्च परमर्षयः ।
आगम्य गगने तस्थुर्द्रष्टुकामास्तदद्भुतम् ।।७५।।

अर्थ—उस समय पूर्ण बने हुए, संसार के अद्वितीय महाअद्भुत समुद्र के उस पुल को देखने की इच्छा से अपने अपने गन्धर्वों के सहित देवता तथा सिद्ध और महर्षिगण वहां आ आ कर आकाश में स्थित हो गये ।

पाठक महोदय ! आपने रावण के "पुष्पक विमान" के विषय में तो पढ़ और सुन भी रखा ही है । इसलिये इस पर तो हम यहां अधिक कुछ नहीं

लिखते। परन्तु अब हम अपने पाठकों का ध्यान उस बात की ओर तो अवश्य ही आकर्षित करेंगे कि जिस बात का वर्णन अभी अभी इस ऊपर लिखे श्री बाल्मीकि रामायण के ७५ वें श्लोक में कर चुके हैं।

वह यह कि नल के द्वारा समुद्र पर बनाये हुए, संसार भर के एक अद्वितीय उस अद्‌भुत पुल को देखने के लिये उस समय देवता, गन्धर्व, सिद्ध और महर्षि लोग आये और वे आकाश में ही खड़े हो हो कर सागर पर बने हुए, उस विचित्र ही पुल को देखने लगे।

अब यहां पर हमें अपनी बुद्धि से ही काम लेते हुए, "अर्थापत्ति" न्याय के द्वारा यह समझ लेना भी होगा कि सागर के उस विचित्र ही पुल को देखने के लिये आये हुए वे "देवता" गन्धर्व, सिद्ध और महर्षि जन जो उस समय आकाश में ही खड़े हुए, उस पुल को देख रहे थे।" क्या वे केवल अपने अपने शरीरों से ही वहां उस आकाश में खड़े हुए थे और या किसी अन्य ही आश्रय से ही वे वहां आकाश में उस समय खड़े हुए थे? इसलिये अपने इस प्रश्न से अब यहां हमारे हृदयों से यह एक दूसरा ही अर्थ भी निकलेगा कि जिसको हम "अर्थापत्ति" से प्राप्त अर्थ कहेंगे।

और वह केवल यह ही होगा—कि न हीं वे सब के सब देवता, गन्धर्व आदि अपने अपने विमानों में ही बैठे हुए थे। और उनके वे विमान आकाश में उड़ते हुए भी उस समय आकाश में अपने अपने ही स्थानों पर जहां के तहां ही खड़े ही हुए भी थे, और आकाश में चलते हुए विमान का चलाने वाले के चाहे हुए समय तक एक ही स्थान पर जहाँ के तहां ही खड़े भी रहना। बस यही तो उस समय के उन विमानों की हमारे आजकल के विमानों से अधिक और विचित्र विशेषता थी। जिसे मैं यहां प्रगट करना चाहता था।

क्योंकि हमारे आजकल के बने हुए ये विमान उड़ते हुए, आकाश में एक ही स्थान पर जहां के तहां एक क्षण भर भी स्थिर होकर, एक ही स्थान में ठहरे हुए, कभी भी रह ही नहीं सकते। तो अब इस पर यदि वे हमारे पूर्वज अपने विमानों को जहां भी चाहते थे, वहां ही आकाश में उनको अपनी इच्छानुसार एक ही स्थान में घण्टों तक ही उड़ते हुए और खड़े भी रख सकते थे। बस यह ही इन विमानों से उनके विमानों की प्रशंसनीय विशेषता भी थी।

हां, अब यह भी सम्भव है, कि अब कोई अधिक सशंक चित्त वाले पाठक कहीं यह भी शंका करेंगे कि उस समय तो इतने विमान ही कहां थे, कि जो उन सब के ही पास हो सकते। उन से निवेदन है

कि जब रावण के पास पुष्पक नाम का विमान था, तो उस समय दूसरों के पास भी विमानों का होना, असम्भव और अनुचित नहीं है।

अब हम श्री वाल्मीकि जी द्वारा वर्णन की हुई, उस पुल की लम्बाई चौड़ाई भी यहां लिखते हैं।—

दशयोजन विस्तीर्णं, शतयोजनमायतम्।
ददृशुर्देवगन्धर्वा, नलसेतुं सुदुष्करम्।।७६।।

अर्थ—उस नल के बनाये हुए, सौ योजन लम्बे और दश योजन चौड़े सागर के पुल को कि जो बनाने में बड़ा ही महा कठिन कार्य है, उसको देवताओं और गन्धर्वों ने देखा।

आदरणीय विद्वान् पाठक गण! अब तो आपने यह देख लिया कि प्राचीन भारतवर्ष के हमारे पूर्वज भगवान् श्री रामचन्द्र जी के द्वारा बनाया गया। हमारे भारत वर्ष के दक्षिणी समुद्र के तट से अर्थात् सेतुबन्ध रामेश्वर से लेकर, लंका तक सौ योजन का लम्बा समुद्र का बड़ा ही भारी और अद्भुत वह पुल पांच ही दिन में सौ योजन लम्बा और दश योजन चौड़ा वह समुद्र का पुल हमारे भारतवर्ष के प्राचीन शिल्पविद्या विशारद इञ्जिनीयरों ने बना कर रख दिया। जैसा कि इससे न पहले ही कभी हुआ था और न ही उस के पश्चात् आज तक भी कभी हुआ ही है और न ही कभी आगे को भी ऐसा होने की आशा ही हो सकती है।

इस ही समुद्र के पुल के विषय में हम अपनी चतुर्थ या पञ्चम श्रेणी की विद्यार्थी अवस्था में लगभग सन् १९०६ ईसवी के उस समय के भारतवर्ष के भूगोल में यह भी पढ़ा ही करते थे कि हमारे भारतवर्ष के दक्षिण में सेतुबन्ध रामेश्वर के मन्दिर से लेकर, पर्वताकार बड़े-बड़े प्रस्तरों से बना हुआ, और लंका की ओर जाता हुआ समुद्र के पुल का क्रम अपनी कहीं कहीं से टूटी हुई अवस्था में हमें आज भी समुद्र में देखने को मिलता है। जिसको हिन्दू तो भगवान् श्री रामचन्द्र जी का पुल कहते हैं और मुसलमान उसको बाबा आदम का पुल कहते हैं।

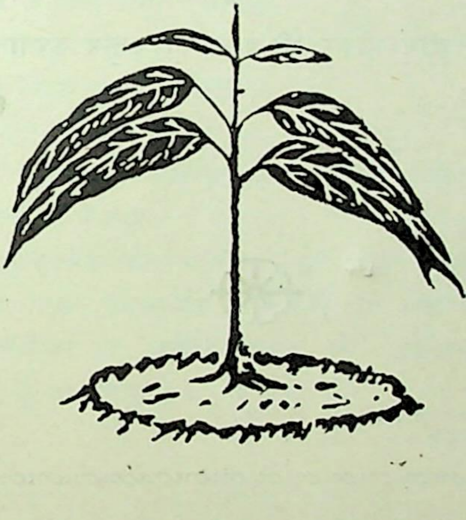
और आगे सेतुबन्ध रामेश्वरम के मन्दिर की यात्रा करने वाले यात्री भी अपनी यात्रा के प्रसंग में अपने इस पुल के दर्शन करने के विषय में हमें अब भी वे यही कुछ बताते भी हैं कि भगवान् श्री रामचन्द्र जी के द्वारा बनाया हुआ, यह समुद्र का पुल वहां अब भी सेतुबन्ध रामेश्वरम् के मन्दिर से कुछ दूर समुद्र में बना हुआ अपनी भग्न अवस्था में अब भी दिखाई देता है।

अपने आलस्य के कारण हम उन ग्रन्थों का पढ़ना पढ़ाना तो प्रायः छोड़ ही बैठे हैं। जिनमें प्राचीन स्थायत्य कला की

झांकी मिलती है। और अब तो सदा ही श्री तुलसी कृत रामायण आदि के आधार पर हम केवल यह ही कहते रहते हैं कि वे तो भगवान् ही थे और उनमें तो हम लौकिक मनुष्यों से बहुत ही अधिक बढ़ चढ़ कर अलौकिक और दिव्य ही शक्तियें थीं। इसी लिये उन्होंने तो अपनी उन अलौकिक दैवी शक्तियों के द्वारा ही विशाल समुद्र का पुल बना दिया था परन्तु हम तो मनुष्य हैं, इसलिये हमारी शक्ति इतनी नहीं है कि जिससे हम भी ऐसे ऐसे समुद्र का पुल बनाने जैसे अद्भुत कार्यों को कर सकें।

इसके स्थान में यदि हम बाल्मीकि रामायण जैसे ग्रन्थों को पढ़ते और उनमें अपने पूर्वजों की ऐसी ऐसी ही समुद्र का पुल बनाने जैसी इन बातों को यन्त्रों आदि के द्वारा बनाई जा सकने योग्य और सम्भव रूप में ही हम पढ़ते और उनको उनसे उत्साह को प्राप्त करते भी रहते। तो फिर आज हमें अमेरिका के वाशिंगटन और न्यूयार्क नगरों के सौ मञ्जिलों से भी अधिक मञ्जिलों तक के भी बने हुए, उनके उन बड़े-बड़े भवनों को देख देख कर, और पढ़ कर आज हमें कभी भी आश्चर्यचकित ही न होना पड़ता।

और इसके साथ ही आज यन्त्रों अर्थात् मशीनों और इञ्जिनों आदियों के बनाने में भी संसार के सब ही देशों से हम प्रशंसित और उन सब के ही अग्रणी अथवा नेता ही आज हम बने होते।



वेद-सुधा

उद्यानं ते पुरुष ! नावयानम्
जीवातुं ते दक्षतांति कृणोमि ।
आ हि रोहेममममृतं सुखं रथम्,
अथ जिविदथमावदासि ।

[अथर्व ८, १, ६]

"हे मनुष्य ! तेरा उत्थान ही हो, उन्नति ही हो; नीचे (पतन) कभी न हो । तेरे जीवन को शक्तिशाली बनाता हूं । इस अमृतमय सुखकारी रथ पर त चढ़ जा । बुढ़ापे में जीर्ण होकर भी ज्ञान का प्रचार करता जा ।"

नियम

१--जन-साहित्य तथा सप्तसिन्धु में छपने के लिये भेजी जाने वाली सामग्री यथासम्भव सरल, सुबोध तथा सारगर्भित होनी चाहिए ।

२--लेख, कहानी, निबन्ध आदि सामान्यतः सफेद कागज़ पर और उसके एक ओर टाइप किये होने चाहिए ।

३--सप्तसिन्धु में शोधपूर्ण लेख तथा जन-साहित्य में सृजनात्मक रचनाएँ प्रकाशित होती हैं ।

४--अनुवाद या लिप्यन्तर के साथ मूल लेखक की अनुमति भेजनी आवश्यक है ।

५--लेखकों को लेख प्राप्ति की सूचना प्रायः १५ दिन के अन्दर दे दी जाती है ।

६--अस्वीकृत रचनाओं के सम्बन्ध में सूचना देने का नियम नहीं है ।

७--अस्वीकृत सामग्री लौटाने का नियम नहीं है ।

८--सामग्री के संशोधन एवं प्रकाशन के विषय में सम्पादक का निर्णय अन्तिम माना जाएगा ।

९--लेखों में प्रतिपादित विचारों के लिए सम्पादक उत्तरदायी नहीं होगा ।

१०--समीक्षार्थ पुस्तक की दो प्रतियां भेजनी चाहिएं ।

११--रचना के आरम्भ या अन्त में लेखक का पूरा नाम (अपने हस्ताक्षरों सहित) व पता स्पष्ट लिखा होना चाहिए ।

१२--लेखों, आदि के साथ टिकट न भेजे जाएं ।

१३--रचना के साथ लेखक रचना की मौलिकता और उसके अप्रकाशित होने का एक प्रमाण-पत्र भी भेजेगा ।

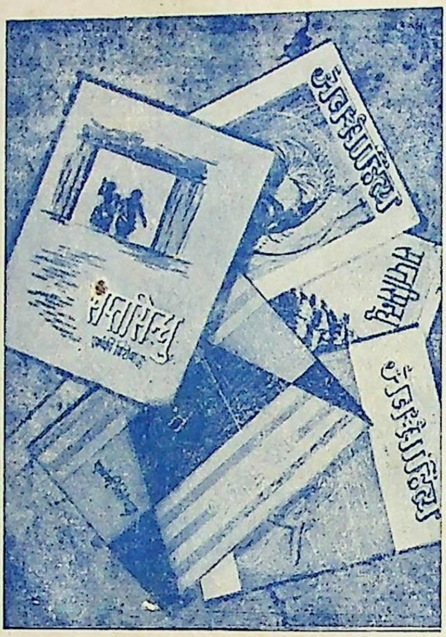
१४--लेख साम्प्रदायिक, राजनैतिक, और अश्लील नहीं होना चाहिए । इस तथ्य का प्रतिपादक एक प्रमाण-पत्र रचना के साथ भेजा जाए ।

१५--रचनाओं के गुण-दोष विवेचन पर किसी भी प्रकार का पत्र-व्यवहार या विचार-विमर्श नहीं किया जाएगा ।

--सम्पादक

हिन्दी विभाग, पंजाब के दो अनूठे मासिक प्रकाशन

स प्त सि न्धु



ज न सा हि त्य

शोधपूर्ण एवं आलोचनात्मक साहित्यिक प्रबंधों का एक बोधक संचयन।

व्यंग्य-विनोद एवं सृजनात्मक सरस साहित्य का एक रोचक संकलन।

दोनों पत्रिकाएं डी० पी० आई०, पंजाब, डायरेक्टर पंचायत, पंजाब, तथा संचालक, लोक शिक्षण, मध्यप्रदेश, द्वारा पंजाब के सभी स्कूलों, कालेजों, लायब्रेरियों एवं पंचायतों तथा मध्यप्रदेश के स्कूलों, कालेजों एवं लायब्रेरियों के लिए स्वीकृत हैं।

बढ़िया काग़ज़, सुन्दर छपाई, आकर्षक गेट-अप

प्रत्येक का :—

वार्षिक ६ रुपये एक प्रति ५० पैसे

आज ही निदेशक, हिन्दी विभाग, पंजाब, पटियाला को मनीआर्डर भेजकर ग्राहक बनिए।

श्री लाल सिंह, डायरैक्टर जनरल, भाषा विभाग, पंजाब, पटियाला द्वारा प्रिंटिंग एण्ड स्टेशनरी डिपार्टमैंट, पंजाब, पटियाला से छपवाकर प्रकाशित किया गया।

सम्पादक—डा० परमानन्द

सप्तसिन्धु

जुलाई, १९६५

1-7-65

हिन्दी विभाग, पंजाब, पटियाला

५०
पैसे

दो विचारधाराएँ

आज हमारे सामने सबसे महत्त्वपूर्ण समस्या यह है कि वह ऐतिहासिक नैतिक चेतना, जो हमारे जन-मानस के जीवन की प्रधान शक्ति रही है। आज के बदलते हुए जमाने में कहां तक हमारे लिये लाभप्रद हो सकती है? कोई भी इससे इनकार नहीं कर सकता कि इस विषय में आज हमारे देश में दो विचारधाराएँ हैं। कुछ लोग तो सोचते हैं कि आजके इस नये औद्योगिक युग में उस नैतिक चेतना से कोई लाभ नहीं जो हमें सत्य, अहिंसा और त्याग का पाठ पढ़ाती है। उन लोगों का विश्वास है कि आज की आर्थिक प्रतियोगितावादी व्यवस्था में बलपूर्वक अपनी शक्ति को बढ़ाना अत्यन्त आवश्यक है। अब हमें बड़ी सावधानी से औद्योगिक युग की इस उग्र अहंवादी भावना की तुलना नम्रता और विनय के अपने नैतिक सिद्धान्तों से करनी होगी और इनमें से एक को चुनकर देश के क्रान्तिकारी पुनर्निर्माण का मार्गदर्शक बनाना होगा।

डा० राजेन्द्र प्रसाद

--o--

लेख-सूची

(मासिक प्रकाशन—जुलाई, १९६५)

वर्ष १२ ⠀⠀⠀⠀⠀⠀ अंक ७

सम्पादक--डा० परमानन्द

परामर्श समिति

*श्री कृष्ण मधोक (सहायक निदेशक, अनुवाद)

*श्री त्रिलोकीनाथ रञ्जन (सहायक निदेशक, कोश)

*श्री ओम् प्रकाश भारद्वाज संयोजक (सहायक निदेशक, विकास)

*श्री गुरुदत्त शर्मा (सहायक निदेशक, अनुवाद)

*श्री हरिचन्द पाराशर (सहायक निदेशक, अनुवाद)

हिन्दी विभाग, पंजाब, पटियाला

सम्पादकीय

राजभाषा-विधेयक

राजभाषाओं के सम्बन्ध में (संशोधनात्मक) विधयक १९६५ का प्रारूप कांग्रेस कार्यकारिणी के प्रस्ताव के आधार पर ही बनाया गया है । अगस्त में होन वाले लोकसभा के आगामी अधिवेशन म प्रस्तुत करने के लिए उसे परिमार्जित रूप दिया जा रहा है ।

इस विधेयक के अनुसार हिन्दी राजभाषा ह.गी परन्तु अंग्रेज़ी अतिरिक्त सम्पर्क भाषा के रूप में प्रचलित रहेगी । भारत सरकार के सभी कार्यालयों में अंग्रेजी का प्रयोग नोटिंग, प्रस्ताव, आदश और प्रेस वक्तव्यों आदि के लिये किया जाता रहेगा । प्रशासकीय विवरण या अन्य सरकारी पत्रों में हिन्दी के साथ अंग्रेज़ी भी जारी रहेगी । लोकसभा में सभी लेख आदि हिन्दी और अंग्रेज़ी में प्रस्तुत किये जायेंगे । यह विधेयक स्पष्ट निर्धारित करता है कि सभी अवस्थाओं में प्रशासकीय भाषा अंग्रेज़ी भी बनी रहेगी ।

पूज्य स्वर्गीय प्रधानमन्त्री जी ने जो आश्वासन अहिन्दी भाषी प्रदेशों को दिये थे कि हिन्दी किसी प्रदेश पर बलात् थोपी नहीं जायेगी; उन्हीं को कानूनी रूप देन के लिय यह विधेयक बनाया गया है । इसके अनुसार अंग्रेज़ी को तभी प्रशासकीय व्यवहार में से निकाला जा सकेगा और अंग्रेज़ी तब तक प्रशासन में प्रचलित रहेगी जब तक सभी प्रदेशों की विधान सभाएं एवं विधान-परिषदें अंग्रेजी को हटाने के लिये प्रस्ताव पास न करें और उसके अनन्तर अंग्रेज़ी को अपदस्थ करन के लिये लोकसभा भी प्रस्ताव पास नहीं करती । अहिन्दी भाषी प्रान्तों की विधान सभाओं से स्वीकृति लेना इस विषय में अनिवार्य माना गया है । इस विधेयक ने यह भी अनिवार्य कर दिया गया है कि लोक-सभा के

अधिवेशन में उपस्थित सदस्यों में से दो तिहाई सदस्यों का मत इस पक्ष में होना आवश्यक है। यदि दो तिहाई उपस्थित सदस्य इसके पक्ष में मत न दें तो अंग्रेजी को बहुसम्मति होने पर भी चालू समझा जायगा।

कांग्रेस कार्यकारिणी के ऐसा प्रस्ताव स्वीकृत कर लेने पर भाषा समस्या हल हो गई है--ऐसा नहीं समझा जा सकता। यद्यपि इस प्रस्ताव में श्री नेहरू जी के उन सभी आश्वासनों को जो उन्होंने अहिन्दी भाषी जनता को दिए थे--कानूनी रूप देने का प्रयास किया गया है तथापि आगामी लोक सभा के अधिवेशन में इस विधायक को पास कर देना एक विकट समस्या है और इसको प्रशासन के ढांचे में ढालना कोई सुकर कार्य नहीं।

हिन्दी के समर्थकों ने अपनी भीति स्पष्ट अभिव्यक्त की है कि १४ राष्ट्रीय भाषाओं को संघीय लोकसेवा आयोग की परीक्षाओं का माध्यम बना देने से हिन्दी को राष्ट्र-भाषा के पद पर आसीन कर देने के सुखद स्वप्न में असाधारण विलम्ब हो जायेगा। देश की एकता में भी इससे बाधा होगी परन्तु उन्हें ज्ञात होना चाहिए कि यह विलम्ब अवश्यम्भावी होने से अनिवार्य हो गया है। नेहरू जी के आश्वासनों को झुठलाना उचित नहीं। नेहरू जी ने स्पष्ट कहा था कि अहिन्दी भाषी जनता की इच्छा के विरुद्ध हिन्दी उन पर लादी नहीं जायेगी। शास्त्री-मंत्री-मण्डल उन आश्वासनों को साकार रूप देने म वचनबद्ध है।

चौदह राष्ट्रीय भाषाओं को परीक्षाओं का माध्यम न बनाने में यदि कोई दूसरा विकल्प हो सकता है तो वह है "कोटा प्रणाली" अर्थात् भारतीय सेवाओं में भर्ती जन-संख्या के आधार पर हो। जिस प्रदेश की जितनी जन-संख्या है उसके अनुपात से केन्द्रीय सेवाओं में असामियां निर्माण की जाएं। परन्तु इस प्रकार यदि "कोटा" नियत कर दिया जाए तो योग्यता को स्थान मिलना कठिन हो जायगा। क्योंकि नियत कोटा के अधीन तुलना में अयोग्य व्यक्ति भी लिये जाते रहेंगे।

राष्ट्र की एकता की समस्या सर्वोपरि है। ऐसा होते हुए भी यह मानना ठीक नहीं कि कांग्रेस कार्यकारिणी के इस निर्णय से राष्ट्रीय एकता में कुछ बाधा होगी।

श्री राजगोपालाचार्य जी ने कार्यकारिणी के इस प्रस्ताव को देश की पार्थक्यता का प्रतीक घोषित किया है। इससे योग्यता नष्ट होगी और प्रशासन में भी अयोग्य व्यक्ति आ जायेंगे। राजा जी की यह धारणा भी भ्रान्त ही है। इस विषय में हमें उन परिस्थितिओं का अध्ययन करना चाहिए जिनमें कांग्रेस ने यह प्रस्ताव पास किया है। केवल हिन्दी को माध्यम बना देने से जब अहिन्दी भाषी असन्तुष्ट हो कर यह कह देते हैं कि इससे उन्हें हानि होगी तो अन्य कोई मार्ग नहीं रह जाता कि चौदह भाषाओं को ही केन्द्रीय परीक्षाओं का माध्यम बना दिया जाये। संविधान के अनुसार अंग्रेज़ी को सदा के लिये जारी रखना तो कभी मान्य हो नहीं सकता।

चौदह भाषाओं को यदि परीक्षाओं का माध्यम बना दिया जाए तो इससे कई अन्य व्यावहारिक उलझनें पैदा को जाती हैं। न तो इस प्रकार कोई योग्यता-स्तर ही निर्धारित हो सकता है और न ही परीक्षकों के लिये मूल्यांकन में समानरूपता आ सकती है। लोकसेवा आयोग ने इस सम्बन्ध में आपत्ति भी उठाई है कि विविध भाषा माध्यमों में समानरूपता स्थापित कर सकना नितान्त असम्भव है। किसी भाषा का परीक्षक उदार हो सकता है तो दूसरी का कठोर।

भाषा समस्या का जो हल कार्यकारिणी ने सुझाया है, हो सकता है दाक्षिणात्य उससे पूरी तरह प्रसन्न न हों। इस समय वे चुप भी रह सकते हैं क्योंकि इसमें हिन्दी को राजभाषा के रूप में समुन्नत करना और इसे अन्ततोगत्वा इस उच्चासन पर आसीन करना ही उद्देश्य है। दक्षिण भारत के लोग तो सदा के लिए अंग्रेज़ी को प्रचलित रखना चाहते हैं परन्तु यह धारणा बहुसंख्यक जनता की नहीं। वे तो हिन्दी को राजभाषा पद पर बिठाने के लिये शीघ्रातिशीघ्र समुत्सुक हैं।

हम चाहते हैं कि हिन्दी को उसका न्याय्य स्थान शीघ्र मिले। अंग्रेज़ी को सदा के लिये देश में संपर्क भाषा के रूप में जारी रखना सर्वथा देश की अन्तर्भावनाओं के विपरीत है। संसार के किसी अन्य देश ने आत्म-गौरव को त्याग कर पराई भाषा को राजभाषा का पद नहीं दिया। देशवासी विभिन्न मतमतान्तरों के होते हुए भी एक भारत मां के पुत्र हैं। भारत की

संस्कृति एक है । वह विविध भाषाओं में अभिव्यक्त हुई है अतः सभी भाषाएं हमारी राष्ट्र-भाषाएं हैं । उनसे विद्वेष करना राष्ट्र से विद्रोह है । हिन्दी उन सभी राष्ट्र-भाषाओं में प्रमुख स्थान रखती है। अतः यही सम्पर्क भाषा हो सकती है परन्तु यह महान् कार्य होगा––परस्पर सद्भावना से भारत माता को समान रूप से आराध्य समझ कर और सभी राष्ट्र-भाषाओं में एक ही महामहिमामयी भारत जननी का पुण्य स्तोत्र गाकर ।

भगवान हमारे देशवासियों के हृदयों को देश भक्ति की अमर मन्दाकिनी से चिर-सिञ्चित करे। । तब कोई समस्या हमारे लिये नहीं रह पायेगी ।

आधुनिक हिन्दी-काव्य में राष्ट्रीय भावना का विकास

डा० अम्बा प्रसाद 'सुमन'

गत, आगत और अनागत नाम की तीन कालावस्थाएँ मानी गयी हैं। ये तीनों परस्पर भिन्न होते हुए भी अप ने प्रेरणात्मक सूक्ष्म सूत्र से परस्पर आबद्ध हैं। काल-पटल पर से मिटता हुआ अतीत अपनी अंतिम चिनगारियों से वर्तमान को प्रज्वलित करता हुआ उसमें अभिनव चेतना तथा नूतन प्रेरणा भरता रहता है। फिर वही अतीत वर्तमान बनता हुआ भविष्य का निर्माण भी किया करता है। इसलिये वर्तमान का विश्लेषण और भविष्य की कल्पना करने से पहले यह आवश्यक हो जाता है कि भूत की ओर दृष्टि डाल कर उसकी निर्वाण-कालीन विकीर्ण ज्योति का भी अध्ययन किया जाय।

मानव की विचार-धारा में अनेक आवर्तन, प्रवर्तन, विवर्तन एवं परिवर्तन होते रहते हैं। कुछ प्रतिभावान् मानवों के मस्तिष्कों से निकली हुई विचार-रश्मियां समाज के जीवन को एक मुख्य दिशा की ओर उन्मुख करती हुई उसका मार्ग आलोकित करती रहती हैं। कालान्तर में वे ही विचार रश्मियां समाज की ज्योति से मिल कर ऐसा रूप धारण करती हैं कि सम्पूर्ण समाज और समाज का व्याख्याता साहित्य उसे अपना प्रकाश कहने लगता है। जब उस प्रकाश की समाप्ति होने लगती है तो उसे हम 'सन्ध्या' या 'दिनांत' नहीं कहते, प्रत्युत 'युगान्त' कहते हैं। इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि हिन्दी-साहित्य के आधुनिक काल में पांच युगों का समावेश है—(१) भारतेन्दु-युग। (२) द्विवेदी-युग (३) रवीन्द्र-युग या छायावादी युग। (४) गांधीयुग। (५) प्रगतिवादी युग।

भारतीय इतिहास में उन्नीसवीं शताब्दी का अन्त और बीसवीं का प्रारंभ बड़ा क्रान्तिकारी काल माना जाता है। हिन्दी-साहित्य में भी इस काल में अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। इन्हीं गत पचास वर्षों में हमारे साहित्य ने अपने

कलेवर को विस्तृत एवं विशाल बनाया है, परन्तु अभिनव चेतना और क्रान्ति को साथ लेकर। इसी काल में बहुमुखी प्रतिभा वाले साहित्यिक लेखनी लेकर उठे और साहित्य-सर्जना करने लगे।

भारतेन्दु-युग के कवियों और लेखकों ने भारत को समाज सुधार तथा देश-भक्ति पूर्ण राजनीतिक चेतना प्रदान की। उन्होंने रीतिकालीन शृंखलाओं को तोड़ कर साहित्य को प्रशस्त राजमार्ग पर स्वस्थ वायुमंडल में विचरण करने का सुअवसर प्रदान किया। द्विवेदी-युग में भाषा का परिष्कार हुआ। खड़ी बोली व्याकरण सम्मत भाषा बनी और उसमें उच्चकोटि का गद्य-पद्य लिखा जाने लगा। इसी युग में मैथिलीशरण गप्त और हरिऔध जी ने तुलसी के राम और सूर के कृष्ण को समाज-सेवी सिद्ध करते हुए मानवीय स्तर पर लाकर खड़ा कर दिया। कवीन्द्र रवीन्द्र के प्रभाव से और द्विवेदी-कालीन इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया के कारण छायावादी युग में हिन्दी-कविता ब्रह्म और प्रकृति के प्रणय निवेदन के साथ अपनी आत्माभिव्यंजना करने लगी। 'प्रसाद' ने रोमांस मिश्रित प्रकृति-सौन्दर्य दिखाया। 'पन्त' के हाथों बाह्य प्रकृति का अभिनव सुषमासंयक्त शृंगार हुआ और खड़ी बोली को संगीतात्मक सुकुमारता मिली। 'निराला' का निर्घोष हुआ; वाणी को ओज मिला। कवि के विशाल भुजदण्डों के ज़ोर से पिंगल की जंज़ीर झनझना कर एक साथ टूट पड़ी। जहाँ 'निराला' का गंभीर निर्घोष ओज लेकर व्यक्त हुआ, वहीं महादेवी वर्मा मृदुल एवं कोमल वाणी में 'माधुर्य' गुण के गीत गाने लगीं। वे प्रियतम की वीणा और रागिनी बनीं, वियोगिनी पर अखण्ड सुहागिनी बनीं और 'नीर भरी दुःख की बदली' एवं 'विस्मृत जग का कोई कोना' बन कर तथा करुणाभरी कसक लेकर आजीवन कराहती रहीं। इसके उपरान्त गांधी-युग में अछूतोद्धार, ग्राम-सेवा, सत्याग्रह और स्वतंत्रता की भावनाओं को लेकर सियारामशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, सोहन लाल द्विवेदी तथा बालकृष्ण शर्मा नवीन आदि कवि हिन्दी-कविता–क्षेत्र में अवतीर्ण हुए और एक साथ मिल कर सभी स्पष्ट रूप से राष्ट्रीय भावनाओं का शंख फूंकने लगे। सन् १९४५ में रूस ने जर्मनी पर विजय प्राप्त की। उसी के फलस्वरूप भारतीयों के हृदय पर रूस की साम्यवादी विचारधारा प्रभाव डालने लगी। तभी से हमारे साहित्य में प्रगतिवादी कविताओं का सर्जन प्रबल वेग के साथ आरम्भ हुआ और फिर पंत, अंचल, भगवती चरण वर्मा और दिनकर आदि सर्वहारा वर्ग का पक्ष लेकर पूंजीवाद की अन्याय एवं शोषण

पूर्ण नीति की कलई खोल कर समाज के समक्ष रखने लगे ।

भारतेन्दु-युग : : सन् १८७० ई० से १९०० ई० तक

भूत मिटते-मिटते भी वर्तमान के लिये कुछ चरण-चिन्ह छोड़ जाता है और उन चरण-चिह्नों को थोड़ा या बहुत पथप्रदर्शक मानते हुए वर्तमान अपनी गति-विधि नियोजित किया करता है । रीतिकाल में अपवाद रूप महाकवि भूषण भी तत्कालीन विचारधारा से नितान्त अछूते नहीं रहे । यद्यपि उन्होंने शृंगार के स्थान पर वीर रस को अपना कर ओज पूर्ण उच्चघोष किया परन्तु 'शिवराज भूषण' 'शिवाबावनी' की रचना प्रणाली में लक्षण ग्रन्थों की परिपाटी को वे न त्याग सके । हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में यद्यपि भारत की राजनीतिक एवं सामाजिक दशा पहले की अपेक्षा बदल चुकी थी; मुगलों की विलासिता समाप्त हो गई थी और देश का शासन सूत्र बृटिश पार्लियामेंट के हाथों में आ गया था परन्तु भारतेन्दु का भावुक हृदय प्रेम और भक्ति की ही धारा बहाता रहा । कविता के क्षेत्र में उन्होंने प्राचीन परिपाटी को ही ग्रहण किया । रीतिकालीन कवियों की भांति उन्होंने मुक्तककाव्य की ही सृष्टि की । छन्दों में पद, कवित्त, सवैया और दोहे आदि ही उन्हें विशेष प्रिय थे । इसका कारण कवि की अपनी व्यक्तिगत धार्मिक भावना ही कही जा सकती है । भारतेन्दु का जन्म वैष्णवों के वल्लभ कुलसंप्रदायानुयायियों में हुआ था । वे राधा-कृष्ण की युगल-छवि के उपासक थे । अपने जीवन में वे सदा प्यारे कृष्ण के सखा और राधारानी के गुलाम बने रहे ।

अन्तर्मुखी कवि जब बहिर्मुखी बन कर बाह्य जगत् को देखता है तब उसकी दृष्टि देश और जाति की सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों पर अवश्य पड़ती है। उत्पीड़ित समाज की करुणापूर्ण दयनीय दशा को देख कर कवि की आत्मा को एक धक्का लगता है उस धक्के से बलवती बन कर उठी हुई आत्मा कवि की वाणी द्वारा एक ऐसा मंत्र फूंकती है कि उससे व्यष्टि ही नहीं वरन् समष्टि को शान्ति, धैर्य, सन्तोष और बल प्राप्त होता है । कवि कोरे सत्य और धर्म को लेकर नहीं चलता; वह नीतिपूर्ण धर्म और धर्मपूर्ण नीति में विश्वास करता है । उसकी कार्यप्रणाली उस क्रान्तिकारी देश भक्त की भांति होती है जो अन्यायी सरकार को मिटाने के लिये काम भी करता है परन्तु गुप्तरूप से । क्रान्तिकारी की कार्य-प्रणाली चलती रहती है, परन्तु सरकार के गुप्तचरों (सी. आई. डी.) को पता भी नहीं चलता । भारतेन्दु-युग के कवियों की कार्य प्रणाली ठीक उसी प्रकार की थी । प्रतापनरायण मिश्र, प्रेमघन, अम्बिकादत्त व्यास, बालमुकुन्द

गुप्त और राधाकृष्णदास आदि कवियों ने अंग्रेज़ी राज्य में विद्रोहात्मक क्रान्ति तो की थी, परन्तु कारागार से बचते हुए। क्रान्तिकारी नेताओं का कारागार में चला जाना देश के लिये पराधीनता की अवधि का बढ़ जाना है। इसलिये भारतेन्दु युगीन कवियों ने जहां राजभक्ति विषयक कविताएं लिखी हैं, वहां उनका लक्ष्य प्रधानतः देश की दरिद्रता तथा दुर्दशा को भी दूर करने जा रहा। यही तो उनकी राष्ट्रीयता थी। उनके द्वारा छेड़े हुए स्वतंत्रता-संग्राम ने ही भारत को पंद्रह अगस्त सन् १९४७ का शुभ दिन दिखाया।

भारतेन्दु युग के कवियों की विचार-धारा में जो सुधार वादी परिवर्तन रीति-काल के सन्तुलन में दृष्टिगोचर होता है, वह राजनीतिक परिस्थितियों के कारण है। राजनीतिक चेतना का अंकुर हमें इस युग के कवियों की हृदय-भूमि में मिलता है। अब भारत के शासन की बागडोर ईस्ट इंडिया कम्पनी के हाथों से निकल कर पार्लियामेंट के हाथों में चली गयी थी। भारत की अधीश्वरी महारानी विक्टोरिया हुईं। उन के शासन से देश को बहुत सी राजनीतिक सुविधाएं प्राप्त हुईं। उनकी घोषणा से भारतवासियों को पूर्ण विश्वास हो गया था कि हमारे प्रति कहे हुए वचनों का पूर्णतया पालन किया जायेगा। इसी-लिये हमें इस युग के कवियों की कविताओं में अंग्रेज़ी शासन तथा उसके प्रतिनिधियों के प्रति कृतज्ञतापूर्ण राजभक्ति का प्रदर्शन मिलता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की 'भारत भिक्षा' और व्यास जी की 'देवपुरुष दृश्य' शीर्षक कविताएं ऐसी ही भावनाओं से ओत-प्रोत हैं। राज-भक्ति को ईश्वर-भक्ति के समान सिद्ध करते हुए बाबू हरिश्चन्द्र जी ने एक स्थान पर लिखा है—

"परम-मोक्ष-फल राज-पद परसन जीवन माँहि
बृटन देवता राजसुत-पद परसहु चित चाहि ॥"

महारानी विक्टोरिया के देहावसान पर अपनी राजभक्ति पूर्ण समवेदना कवि-वर राधाकृष्णदास जी ने इन शब्दों में प्रकट की थी—

"मातृहीन सब प्रजावृन्द करि जगत रुलाई।
मातु विजयती हाय हाय सुरलोक सिधाई ॥"

प्रेमघन जी ने अपनी कविताओं द्वारा अकर्मण्य भारतीयों को कर्मठ बनने के लिए उत्तेजित किया है; परन्तु उसमें बृटिश राज्य का अभिनन्दन भी है —

"उठो आर्य सन्तान ! सकल मिलि बस न बिलम्ब लगाओ।
बृटिश राज स्वातंत्र्ययुक्त अब समय न व्यर्थ बिताओ।"

इस प्रकार की कविताएं अधिकतर भारतेन्दुयुग के प्रथम प्रहर में लिखी गई थीं। ज्यों-ज्यों अंग्रेज़ी राज्य की कूटनीति-पूर्ण शासन-प्रणाली से भारतीय अवगत

होते गये और ज्यों-ज्यों उनकी लूट-नीति भारत को निर्धन बनाती गई, त्यों-त्यों ही तत्कालीन कवियों की राजनीतिक चेतना में कुछ उग्रता और स्पष्ट-वादिता भी आने लगी। जो भारतेन्दु राजपद स्पर्श को मोक्षदायक बतलाते थे, वे ही धन को विदेश जाता हुआ देख कर भारतवर्ष की ख्वारी समझने लगे और यह लिखने से न रुक सके कि--

"अँगरेज़ राज--सुख--साज सजे सब भारी।
पै धन विदेश चलि जाता इहै अति ख्वारी।।'

० ० ० ०

आवहु सब मिलिकें रोवहु भारत भाई।
हा! हा!! भारत-दुर्दशा न देखी जाई।।"

उक्त पंक्तियों के शब्द वास्तवमें कवि के अश्रु-बिन्दु हैं जो भारत की पराधीनता तथा दरिद्रावस्था को देख कर सहसा कवि की आंखों से टपक पड़े हैं।

बंगाल के प्रसिद्ध नेता दादा भाई नौरोजी को भारत का प्रतिनिधित्व करने के लिये पार्लियामेंट का सदस्य चुना गया। यह भारत के लिए गौरव की बात थी परन्तु अंग्रेज़ों के द्वारा नौरोजी को जब काला मनुष्य कहा गया था, तब कविवर प्रेमघन जी को परतंत्रता का बड़ा कटु अनुभव हुआ था। उन के हृदय को बड़ी भारी चोट पहुंची थी। अंग्रेज़ों के इस प्रकार के व्यवहार से कवि को अपार असन्तोष और महान् क्षोभ हुआ था। उन्होंने उस समय नौरोजी की गौरव-गरिमा व्यक्त करते हुए ये पंक्तियां लिखी थीं --

"कारो निपट नकारो नाम लगत भारतियन।
यदपि न कारे तऊ भागि कारो विचारि मन।
अचरज होत तुमहुँ सम गोरे बाजत कारे।
तासों कारे-कारे शब्दन पर हैं वारे।।"

इतना ही नहीं इस युग के कवियों ने भारत माता के प्रति देशवासियों की भक्ति-भावना को बढ़ाया। राजनीतिक चेतना में स्वातंत्र्य भावना दिनानुदिन जागरूक होती गई। 'प्रेमघन' जी ने 'जननी जन्म भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' की महत्ता को 'वन्दे मातरम् की मधुर ध्वनि' के साथ जनता के समक्ष प्रस्तुत किया--

"खग वन्देमातरम् मधुरध्वनि पड़ने लगी सुनाई।"

भारतेन्दु-युग के अन्तिम प्रहर के कवियों में अंग्रेज़ों की कूटनीति से पैदा हुआ असन्तोष उग्रतर रूप में मिलता है। वही उग्रतर असन्तोष द्विवेदी-काल में उग्रतम होकर राजनीतिक आन्दोलन का रूप पकड़ गया और फिर स्वतंत्रता-संग्राम करते-करते भारतवर्ष को स्वतंत्र बना गया। भारतवासियों के लिये अंग्रेज़ों ने जो 'प्रेस एक्ट और 'आर्म्स एक्ट' बनाये थे, उनसे भारतेन्दु जी को बड़ा असन्तोष हुआ था। इस शस्त्र और मुद्रण विषयक

रोक से उत्पन्न हुआ क्षोभ उनकी कविता द्वारा व्यक्त हुआ था ।

अंग्रेज़ी शासन के साथ-साथ अंग्रेज़ी माल और विदेशी वस्तुओं का प्रचार भारत में बढ़ने लगा था । इससे भारत में आर्थिक संकट उत्पन्न हो गया था । भारतवासियों को अपनी वेश-भूषा अब अच्छी नहीं लगती थी । मानचेस्टर और लिवरपूल के बढ़िया बारीक कपड़ों का उपयोग करना और पेंट कोट पहनना ही इन्हें अच्छा लगता था । इस तरह अंग्रेज़ी सभ्यता के प्रचार ने भारत का आर्थिक संकट और भी बढ़ा दिया था । इसको दूर करने के लिये भारतेन्दु युग के कवियों ने कविताओं द्वारा फैशन की गुलामी के प्रति जनता की घृणा उत्पन्न की और परतंत्रता की बेड़ियों को काटने के लिये भारतवासियों में स्वदेशी वस्तु के प्रति प्रेम तथा आर्थिक चेतना को जागृत किया । भारतेन्दु और अम्बिकादत्त व्यास निम्नांकित शब्दों के साथ अपनी विचारधारा प्रकट करने लगे——

"मारकीन मलमल बिना चलत कछु नहीं काम ।
परदेसी जुलहान के मानहुँ भये गुलाम ।।"
——(भारतेन्दु')

"पहिर कोट पतलून बूट अरु हैट धारि सिर ।
भालू चरबी चरचि लबैंडर को लगाई फिर ।।
निज भाइन के रचे बसन—भूजन नहिं भावत ।
मैं चेस्टर लिवरपूल से लादि मँगावत ।।"
——(अम्बिकादत्त व्यास)

अंग्रेज़ों की पूंजीवादी नीति ने भारत के किसान और मज़दूरों में पूर्ण पंगू और दरिद्रतम बना दिया था । नौकरशाही का इतना आतंक था कि कचहरी का मामूली सा चपरासी भी अच्छे से अच्छे किसान को गाली देते हुए डांट पिलाता था । इसका चित्रण प्रतापनारायण मिश्र जी की कविता में मिलता है । क़िसान की दयनीय अवस्था का यह चित्रण भावी राजनीतिक आन्दोलन की भूमिका बन कर उपस्थित हुआ था——

"भूखे मरत किसान तहू पर कर-हित डपट न थोरी हैं ।
गारी देत दुष्ट चपरासी तकति बिचारि छोरी है ।"

जिस प्रगतिवादी कविता ने दिनकर के जीवन-काल में उत्कर्ष प्राप्त किया, उसका जन्म आर्थिक चेतना के रूप में भारतेन्दु युग में ही हो गया था । 'किसानों' को अपनी कविता का विषय बना कर श्री बालमुकुन्द जी गुप्त ने ये पंक्तियां लिखी थीं ——

"जिनके कारण सब सुख पावें जिनका बोया सब जन खायं ।
हाय ! हाय ! उनके बालक नित भूखों के मारे चिल्लायें ।।
अहा बिचारे दुख के मारे निसदिन पचि-पचि मरें किसान ।
जब अनाज उत्पन्न होय तब सब उठवा ले जाय लगान ।।"

भारतवर्ष के अतीत-गौरव-वर्णन के के रूप में कवियों के द्वारा देश-भक्ति का परिचय भी पर्याप्त अंश में इस युग में प्राप्त होता है । भारतेन्दु युगीन कवियों ने भारतीय संस्कृति और सभ्यता के प्रति जनता की अभिरुचि बढ़ाई और अंग्रेज़ी सभ्यता के उपासक फैशनेबल बाबुओं की ख़िल्ली उड़ाई । हास्यरस की कविता के विषय उस काल में प्रायः पाखंडी पंडित और फैशनेबिल बाबू ही हुआ करते थे । स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज के आन्दोलन के कारण समाज में सुधारवादी चेतना जागी और बाल-विवाह, अछूतोद्धार तथा मूर्तिपूजा को विषय बना कर कवियों ने आन्दोलन किया।

मिश्र जी और गुप्त जी की ये पंक्तियां भारत के अतीत गौरव तथा अंग्रेज़ी फैशन पर लिखी गई थीं––

"निज हाथन सर्वसु खोय चुके,
कहँ लौं दुख पै दुख ही भरिये ।
हम आरत भारत वासिन पै,
अब दीन दयाल दया करिये ।।"

––(प्रतापनारायण मिश्र)

"सेल गई बरछी गई गये तीर तलवार ।
घड़ी छड़ी चश्मा भये छत्रिनके हथियार ।।"

––(बालमुकुन्द गुप्त)

सारांश यह है कि भारतेन्दु-युग के कवियों की कविताओं में हमें मुख्यतः तीन चेतनाएं मिलती हैं––(१) राज भक्ति एवं देश भक्ति सम्बन्धी राजनीतिक चेतना ।(२) स्वदेशी वस्तु -प्रेम सम्बन्धी आर्थिक चेतना । (३) प्राचीन रूढ़ि तथा ढोंग को मिटाने वाली सामाजिक चेतना ।

भाषा, छंद और भावाभिव्यंजन शैली में भी हमारे कवियों ने परिवर्तन किया । रीतिकाल की ब्रजभाषा ने कविता पर एकाधिकार कर लिया । परन्तु भारतेन्दु-युग में ब्रजभाषा के साथ खड़ी-बोली भी अपना शासन करने लगी थी। भारतेन्दु आदि कवियों को भाषा के क्षेत्र में गंगा-यमुना सम्मेलन ही प्रिय था । प्रायः भक्ति और शृंगार की कविताएं हरिश्चन्द्र जी ने ब्रजभाषा में ही लिखी थीं । हाँ 'दशरथ विलाप' अवश्य खड़ी बोली में लिखा था । इस युग के कवियों को सवैया, रोला और लावनी छन्द विशेष प्रिय थे । नूतन विचार धारा को उन्होंने नवीन छन्दों द्वारा व्यक्त किया । उपर्युक्त चेतनाओं की अभिव्यंजना हमें रोला और लावनी नाम के छन्दों में ही मिलती है । इस युग के सारे कवि भारतेन्दु जी की गोष्ठी के कवि थे । इसलिये उन सब की भाषा और भावों में साम्य मिलता है । वे अपने काव्य पथ पर चलते हुए आगे को बढ़ते तो थे; परन्तु मुड़-मुड़ अर पीछे की ओर भी देखते जाते थे । इस युग की विशेषता यह थी कि कविता जीवन को साथ लेकर चल रही थी । जनता में राजनीतिक एवं सामाजिक

चेतना जागृत करने के लिये ही कवियों ने कविताओं को प्रचार का साधन बनाया था। इसी कारण इस युग की कविताएं अधिकतर उपदेशात्मक पद्य कहलाने की ही अधिकारिणी हैं। वास्तव में इस युग ने तो देश को स्वाधीनतोन्मुखी नूतन विचार-धारा ही प्रदान की, परिष्कृत एवं साहित्यिक भाषा का दान तो हमें द्विवेदी-युग के कवियों से ही प्राप्त हुआ।

द्विवेदी–युगः सन् १९०० ई० से सन् १९२० तक

जिन राजनीतिक एवं सामाजिक चेतनाओं की ओर भारतेन्दु-युग के कवियों ने अंगुलि-निर्देश किया था, उन्हें द्विवेदी युगीन कवियों ने घनीभूत बनाते हुए तीव्र से तीव्रतर और फिर तीव्रतम किया। भारतीय सभ्यता और संस्कृति का चित्र-प्रबन्ध काव्यों के फ्रेम में फिट किया। देश की जनता अपने पूर्वजों के बल, विक्रम, ज्ञान, सदाचरण, न्याय तथा कर्त्तव्य-परायणता से अवगत होने लगी। पराधीनता तथा दरिद्रता के गर्त से उठाने के लिए ही गुप्त जी ने 'भारत भारती' में भारत-वासियों के लिये ये शब्द लिखे थे——

"हम कौन थे क्या हो गये हैं और क्या होंगे अभी ?
आओ, विचारें आज मिल कर ये समस्यायें सभी ॥"

भारतवर्ष की तत्कालीन जनता ने चाहे अपने गत, आगत और अनागत पर विचार न किया हो; परन्तु उस युग के कवियों ने तो देश की समस्याओं पर विचार करना आरम्भ कर दिया था। उनके प्रबन्ध तथा मुक्तक काव्यों की सर्जना स्वतंत्रता-संग्राम को बल देने के लिये और सामाजिक कुरीतियों का उन्मूलन करने के लिये ही हुई थी। श्रीधर पाठक ने जहां प्रकृति को आलम्बन मान कर उच्च काव्य की सृष्टि की वहां विधवा-समस्या को भी अपनी लेखनी द्वारा हल किया। मैथिलीशरण जी गुप्त ग्राम और और अछूतों की समस्या लेकर चले। मानवतावाद की भावनाओं को ठोस और प्रबल बनाने के लिये ही गुप्त जी ने 'अनघ' और 'किसान' की सृष्टि की। दोनों पुस्तकें ग्राम-सेवा और अछूतोद्धार की भावनाओं से कवि ने महात्मा गांधी के विचारों से प्रभावित होकर की हैं। उसमें एक स्थल पर महात्मा जी के एक सिद्धान्त "Hate the sin not the sinner" का अक्षरशः अनुवाद भी कवि ने लिख दिया है। उन्हीं के शब्दों में——

"पापी का उद्धार करो तुम पापों का प्रतिकार करो।"

ठाकुर गोपालशरणसिंह जी ने 'स्त्रीशिक्षा' और 'दहेज की कुप्रथा' की ओर जनता का ध्यान आकर्षित किया। अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' जी ने भी सामाजिक सुधार की ओर समाज

को प्रेरित करने के लिये कविताएं लिखीं। उनके 'प्रियप्रवास' के कृष्ण और राधा तो लोक-सेवी और समाज सेविका के रूप में ही चित्रित हुए हैं।

जननी जन्म-भूमि और स्वदेशी वस्तु के प्रति प्रगाढ़ प्रेम को बढ़ाते हुए द्विवेदी-युगीन कवियों ने जनता की स्वदेश-भक्ति भावना को दिनानुदिन पुष्ट एवं बलवती बनाया था। जिस भावना से भारतेन्दु जी ने "परदेसी जुलहान के मानहु भये गुलाम" लिखा था, उसी का पुष्ट रूप हमें इस युग के कवि 'पूर्ण' जी की कविता में दृष्टिगोचर होता है—

"गाढ़ा झीना जो मिलै उसकी ही पोशाक।
कीजै अङ्गीकार तो रहै देश की नाक॥
रहै देश की नाक स्वदेशी कपड़े पहने।
हैं ऐसे ही लोग देश के सच्चे गहने॥
जिन्हें नहीं दरकार चिकन यूरप का काढ़ा।
तन ढकने से काम गजी होवै या गाढ़ा॥"

—(राय देवीप्रसाद जी 'पूर्ण')

भगवानदीन जी 'दीन' का 'वीर पंचरत्न' भारत के अतीतकालीन वीरों की गौरव-गरिमा सुना कर देश वासियों के चरित्र में वीरता और कर्त्तव्यपरायणता की भावना भरना चाहता है। श्री 'सनेही' और श्री पाण्डे जी ने अपनी कविताओं द्वारा समाज से सताऐ हुए प्राणियों की ओर जनता की सहानुभूति बढ़ाई है। अछूतों के प्रति रूपनारायण जी पाण्डेय का यह पद्य पठनीय है—

"अपना ही अङ्ग हैं ये अन्त्यज असंख्य इन्हें—
गले न लगाया तो अवश्य पछताओगे।
ममता के मंत्र से विषमता का विष जो—
उतारा नहीं, जाति को तो जीवित न पाओगे॥
पक्षाघात—पीड़ित समाज जो रहेगा पंगु,
उन्नति की दौड़ में, कहाँ से जीत जाओगे।
साधना स्वराज्य की सफल कभी होगी नहीं,
अगर अछूतों को न आप अपनाओगे।"

पाण्डेय जी ने उक्त पंक्तियों में बता दिया है कि स्वराज्य-प्राप्ति के लिये अछूतों का अपनाना परमावश्यक है। इस युग में समाज सुधार को स्वाधीनता संग्राम में विजय पाने के लिये मुख्य साधन बतलाया गया है। श्री गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' ने किसानों की दीनहीन अवस्था को इन शब्दों में व्यक्त किया है—

"ज़मी जिसमें दिन—रात यों सिर खपायें।
उसे खाद दें हड्डियां तक घुलायें॥
मगर हाय कुछ लाभ लेने न पायें।
ज़मीदार बेदखल कर दें छड़ायें॥"

कृषकों की दयनीय दशा देख कर कवि के हृदय से करुणा की धारा बही है। वह समाज की सहानुभूति किसान के प्रति जाग्रत करना चाहता है और संसार को ज़मींदार का अन्यायपूर्ण कठोर व्यवहार भी दिखाना चाहता है। वर्तमान काल की प्रगति वादी कविता मानवता के विचारों को लेकर चल रही है। यही

मानवतावाद हमें द्विवेदीयुग में भी मिलता है। अन्तर केवल उसके शैशव और तारुण्य का है।

भारतेन्दु-युग में भारतीय जनता जीवन से निराश थी। परन्तु द्विवेदी-युग में हमें आशावादी चिह्न मिलते हैं। इस युग में भारतवासियों ने अपने को स्वाभिमानी तथा उत्कर्षाभिलाषी बना लिया था। उनकी दृष्टि अतीत की अपेक्षा अपने वर्तमान और भविष्य पर अधिक थी। श्री रूपनारायण पाण्डेय जी ने तत्कालीन विचारधारा को इन शब्दों में लिखा है —

"कहते हैं सब लोग हमें हम दीन–हीन हैं भिक्षुक हैं।
कुछ भी हो हम लोग अभी अच्छे बनने के इच्छुक हैं।।"

पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी एक प्रसिद्ध आलोचक थे। उनके संसर्ग एवं संपर्क में आने वाले कवि भी भावात्मक होने की अपेक्षा बुद्धयात्मक अधिक थे। मैथिलीशरण गुप्त आदि अपवाद कहे जा सकते हैं। द्विवेदी-युग के प्रत्येक कवि को भाषा की शुद्धि का ध्यान रखना पड़ता था। इसलिये भाषा व्याकरण-संमत तो बन जाती थी, परन्तु बहुत-कुछ नीरस ही रहती थी। भाव भी रूखे-से ही अभिव्यक्त होते थे। कविता की शैली इतिवृत्तात्मक ही थी। इस नीरस वर्णनात्मक ढंग में कविता ने कोरे पद्य का रूप ग्रहण कर लिया था। इसकी प्रतिक्रिया में ही सन् १९२० के लगभग छायावादी कविताओं का सर्जन आरम्भ हो गया था। बँगला की मधुर पदावली के ढंग पर मैथिलीशरण जी गुप्त ने कल्पना मयी सरस साहित्यिक काव्य कला को प्रस्तुत किया। द्विवेदी-युग के चतुर्थ प्रहर में सरस एवं कोमल कान्तपदावली से परिपूर्ण लाक्षणिक मुक्तक गीत रचे जाने लगे थे।

रवीन्द्र तथा गान्धी युग : सन १९२० से १९३५ तक

भारत की कर्म-भूमि में कवीन्द्र रवीन्द्र और महात्मा गान्धी दोनों एक ही समय में अपना कार्य करते रहे। कवीन्द्र रवीन्द्र ने साहित्य को अपना-अपना कार्य-क्षेत्र चुना और महात्मा जी ने राजनीति को। दोनों ही विभूतियों की भावनाओं तथा विचार धाराओं से भारतीय जनता प्रभावित हुई। इसलिए रवीन्द्र-युग और गांधी-युग के बीच में एक विभाजक रेखा खींचना असम्भव है। हां, इतना कहा जा सकता है कि गान्धी युग के प्रथम और द्वितीय प्रहरों में छायावादी कविताओं का अधिक बोलबाला था। इसलिये गांधीयुग का पूर्व मध्यान्ह-काल छायावादी-युग के नाम से पुकारा जा सकता है। हिन्दी में छायावाद का आगमन कवि सम्राट् रवीन्द्रनाथ टैगोर की कविताओं के ही कारण हुआ।

अतएव छायावादी युग को रवीन्द्र-युग कहना अनुचित नहीं ।

द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मकता से हिन्दी के कवि ऊब चुके थे । कवीन्द्र रवीन्द्र को 'गीतांजलि' पर 'नोबल पुरस्कार' मिल चुका था । बंगला की लाक्षणिकता से परिपूर्ण कोमल कान्त-पदावली हिन्दी के कवियों के हृदय अपनी ओर आकृष्ट कर रही थी । फिर क्या था; प्रसाद, पन्त, निराला और महादेवी आदि कवियों ने रहस्यात्मक गीतों की रचना आरम्भ कर दी । अंग्रेजी साहित्य का रोमांस भी हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव डालने लगा । प्रसाद, बच्चन, रामकुमार वर्मा, भगवती चरण वर्मा और नवीन आदि प्रेम सम्बन्धी मुक्तक गीत लिखने लगे । बच्चन ने अपने गीतों में पलायन-वादी प्रेम और रामकुमार वर्मा ने निराशा-वादी प्रेम की व्याख्या की । इनके गीतों में मानव-मानवी के प्रेम की ही व्याख्या है । उसे हम आध्यात्मिक अथवा ईश्वरीय नहीं कह सकते । प्रेमवादी कवियों ने अंग्रेज़ी भाषा से प्रभावित होकर हिन्दी कविता में भी नवीन अलंकारों और प्रतीकों का प्रयोग आरम्भ कर दिया था—

"निद्रा विहीन वे रातें नभ के तारे गिन काटीं ।।"

o o o o

"नये जीवन पहला पृष्ठ देवि ! तुमने उलटा है आज ।"

'निद्राविहीन रातें' 'Sleep less nights' का अनुवाद है और 'जीवन का पृष्ठ' अंग्रेजी के 'Page of life' के स्थान पर प्रयुक्त किया गया है ।

बच्चन की 'मधुकलश', 'मधुबाला' तथा 'निशा-निमंत्रण' पुस्तकें प्रेम का विषय लेकर ही लिखी गई हैं । भगवती चरण जी का 'प्रेम संगीत' भी इसी वीणा के तारों पर गाया गया है । इन कवियों ने प्रेम विषयक गीत लिख कर नारी-समाज का अधिकार, महत्व, आदर, प्रतिष्ठा और सम्मान पर्याप्त रूप में बढ़ाया, इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं । इन कवियों की कविताओं को पढ़ कर पति ने पत्नी को हृदय-सम्राज्ञी समझा । वह उसके त्याग एवं बलिदान के आगे नतमस्तक भी हुआ । श्री भगवतीचरण वर्मा ने प्रेयसी को सम्बोधन करते हुए एक स्थल पर ये पंक्तियां लिखी हैं —

"तुम मुझे भिखारी समझीं थीं,
मैंने समझा अधिकार मुझे ।
तुम आत्म-समर्पण से सिहरीं,
था बना वही तो प्यार मुझे ।
तुम लोक-लाज की चेरी थीं,
मैं अपना ही दीवाना था ।
ले चलीं पराजय तुम हंसकर,
दे चलीं विजय का भार मुझे ।
था प्रेम किया हमने तुमसे,
इतना कर लेना याद प्रिये !

फिर बस कर देना वहीं क्षमा,
यह पल भर का उन्माद प्रिये !
फिर मिलना होगा या कि नहीं,
हँस कर तो दे लो आज विदा।
तुम जहां रहो आबाद रहो,
यह मेरा आशीर्वाद प्रिये !"

प्रेमवादी कवि नारी को भोग-विलास की सामग्री नहीं वरन् स्वर्गलोक की दिव्य देवी मानता है। वह मानव की भांति ही मानवी को देखना चाहता है। वह इस मानवता के युग में नारी को मध्यकाल की दासता के बन्धन में देखना नहीं चाहता। वह चाहता है कि मानवी मानव की भांति ही स्वाधीन लरहकर समाज में अपने व्यक्तित्व का विकास करे। प्रेमवादी कवि दो प्रेमी हृदयों के संयोग और वियोग के समय सुख-दुख के गीत गाता है। संयोग के मधुभरे गीत उसके लिये वियोग के गीले गान बनते हैं। नारी को श्रद्धेय एवं आराध्य मानते हुए वह उसकी उपासना के गीत भी गाता है। उसकी पूजा में भावों के पुष्प और छन्दों के अर्घ्य भी चढ़ाता है। प्रेमवादी कवि सामाजिक रूढ़ियों का घोर विरोधी है। वह उनसे सीधा संघर्ष तो नहीं ले सकता परन्तु उनसे बच कर अपनी आशा एवं आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए एक नया संसार बसा लेता है। वहीं उसके जीवन की साधें पूरी होती हैं। प्रेमवादी कवियों की भांति छायावादी कवियों में भी प्रेम प्रधान है।

यदि हम छायावादी कवि और प्रेमवादी कवि में अन्तर बतायें तो एक वाक्य में यह कह सकते हैं कि प्रेम द्वारा प्रकृति-पूजा का नाम 'छायावाद' है और नारी-पूजा का नाम 'प्रेमवाद'। प्रेम के प्राधान्य के कारण ही हिन्दी के कुछ छायावादी कवि प्रेमीवादी भी कहलाते हैं। प्रसाद जग उनमें से एक हैं' जहां वे एक ओर छायावादी के रूप में प्रकृति-सौन्दर्य में मानव-सौन्दर्य देखते हैं। वहां दूसरी ओर प्रेमवादी बन कर यौवन का एक घूंट रस भी पीते हैं। कवि का भावोद्रेक कवि के ही शब्दों में--

"रजनी रानी की बिखरी है म्लान कुसुम की माला।
अरे भिखारी ! तू चल पड़ता लेकर टूटा प्याला ॥'

--('लहर' से)

० ० ० ०

"यौवन तेरी चंचल छाया।
इसमें बैठ घूंट भर पीलूँ जो रस तू है लाया॥"

कवि के लेखनी से अंकित यौवन का एक चित्र और देखिए --

'शशि-मुख पर घूंघट डाले, अंचल में दीप छिपाये।
जीवन की गोधूली में, कौतूहल से तुम आये॥"

--('आंसू' से)

'छायावाद' शब्द हिन्दी की कविता में अपना एक निश्चित अर्थ रखता है।

वह एक रूढ़ शब्द है। 'छाया' को लेकर 'छायावाद' की व्याख्या करना मानव-मस्तिष्क को व्यर्थ की खींचातानी ही समझिए। वास्तव में हिन्दी की जो कविताएं प्रतीकात्मक शैली में प्रकृति सौन्दर्य को मानव-सौन्दर्य के रूप में अभिव्यंजित करती हैं अथवा जो प्रकृति के प्रति प्रणय भावना व्यक्त करती हैं वे ही 'छायावाद' के नाम से पुकारी जा सकतीं हैं। प्रकृति में उस अनन्त शक्ति (ब्रह्म) का अस्तित्व अनुभव करना अथवा उससे मिलने का अभिलाषा से उसके प्रति आत्म-निवेदन करना 'रहस्यवाद' कहलायेगा।

प्रसाद जी की 'किरण' शीर्षक कविता छायावाद का उपयुक्त उदाहरण है--

"किरण ! तुम क्यों बिखरी हो आज,
रँगी हो तुम किसके अनुराग ?
स्वर्ण-सरसिज-किंजल्क समान,
उड़ाती हो परमाणु पराग ॥
धरा पर झुकीं प्रार्थना सदृश,
मधुर मुरली-सी फिर मौन।
किसी अज्ञात विश्व की विकल वेदना,
दूती-सी तुम कौन ?"

प्रसाद जी की लेखनी से अंकित रहस्यवाद का उदाहरण --

"सिर नीचा कर किसकी सत्ता सब करते स्वीकार यहाँ।
सदा मौन हो प्रवचन करते जिसका वह अस्तित्व कहां ?
हे विराट् ! हे विश्वदेव ! तुम कुछ हो ऐसा होता भान।
मंद गंभीर धीर स्वर संयुत यही कर रहा सागर गान ॥"

--('कामायनी' से)

हिन्दी के छायावादी कवियों में रहस्यवादी तथा प्रेमवादी भावनाएं भी मिलती हैं। प्रसाद जी हिन्दी के ऐसे कवि हैं जिन्हें हम छायावादी, रहस्यवादी और प्रेमवादी कह सकते हैं। इतना ही नहीं, कहीं-कहीं तो उनमें राष्ट्रीयता की भाव-धारा भी उमड़ पड़ी है। देखिए--"हिमाद्रितुंग श्रृंग से विशुद्ध शुद्ध भारती।" गीत।

इस युग में छायावादी तथा रहस्यवादी कविताओं की एक बाढ़ सी आ गई। अंग्रेजी पढ़े नौसिखिए कवि अपनी अतृप्त वासनाओं का उन्नयन श्रृंगारिक कविताओं द्वारा करने लगे और उसे नाम देने लगे 'छायावाद'। ऐसा देख कर हिन्दी के कुछ कवियों को यह शंका होने लगी कि वर्तमान कविता रीतिकालीन कविता की भांति जीवन से पृथक् होकर चलने लगेगी। इसलिये उसके विरोध में तुरन्त ही गांधीवादी विचार धाराओं को लेकर देश-भक्ति की भावना कवियों के मानस से उद्वेलित हो उठी। कांग्रेस के सन् १९२० के असहयोग आन्दोलन से सन्

१९३१ तक आते-आते देश में स्वातन्त्र्य भावना को पूर्ण पुष्ट एवं जागरूक बना दिया था। सन् १९३० की २६ जनवरी को हमने अपना 'स्वतंत्रता-दिवस' निश्चित किया और यह संकल्प किया कि —"यदि कोई सरकार प्रजा से उसके मौलिक अधिकार अपहरण कर लेती है और प्रजा को सताती है तो प्रजा को भी यह अधिकार है कि वह उस सरकार को बदल दे या मिटा दे।" इस आन्दोलन के प्रभाव से जनता में राष्ट्रीय जागरण उत्पन्न हो गया। इसी जागरण के प्रभात में नवीन, माखनलाल चतुर्वेदी या सुभद्रा कुमारी चौहान आदि कवि स्वतंत्रता के गीत गाते हुए उठे। नवीन जी 'पराजयगीत', चतुर्वेदी जी 'कैदी और कोकिला' और सुभद्रा कुमारी जी 'झांसी की रानी' को गाती हुई अपनी वाणी का मंजु घोष करने लगीं। भारतेन्दु युग हमारी राजनीतिक चेतना का आमंत्रण-युग था। द्विवेदी-युग में उस चेतना ने जनता को संगठित करके देश में प्रचार किया और गांधी युग में वही चेतना साकार बन कर रचनात्मक कार्य करने लगी। यह कांग्रेस की स्थापना का फल था। कांग्रेस की स्थापना भारतेन्दु युग में ही हो गई थी।

क्रान्तिवादी तथा प्रगतिवादी युग : सन् १९३५ से आज तक

वर्तमान युग में कविता की दो धाराएं प्रवाहित हुईं। एक प्रकार से गांधीवादी कविताओं की प्रतिक्रिया में ही क्रान्ति वादी कविताएं लिखी गईं और छायावाद की प्रतिक्रिया में प्रगतिवाद का जन्म हुआ।

महात्मा गांधी द्वारा प्रवर्तित गांधीवाद शान्ति, सत्य और अहिंसा की नींव पर स्थित था। सन् १९३१ के बाद नमक सत्याग्रह, बापू की दंडी-यात्रा, जंगल सत्याग्रह, व्यक्तिगत सत्याग्रह आदि आन्दोलन हुए। हम अहिंसात्मक रहे, फिर भी गोलियां बरसीं। सन् १९३६ में चुनाव के उपरान्त प्रत्येक प्रान्त में कांग्रेस का शासन हो गया। फिर सन् १९३९ में जर्मनी से युद्ध छिड़ जाने के कारण भारत को बलपूर्वक अंग्रेजों ने महायुद्ध में सम्मिलित कर लिया। इसके विरोध में कांग्रेसी मंत्रिमंडल ने त्याग पत्र दे दिया और सब प्रान्तों में कठोर गवर्नरी तानाशाही स्थापित हो गई। संयुक्त प्रान्त (अब उत्तर प्रदेश) में हैलेट गवर्नर ने दोनों हाथों में रक्त रंजित नंगी तलवारें लेकर शासन आरम्भ कर दिया और हमें आजीवन गुलाम बनाये रखने के लिये पूरी तरह कुचला। लात मारने से धूल भी ऊपर को आती है; दबाये हुए मानव का तो कहना ही क्या? फिर क्या था? भारतीय जन करने या मरने पर ही उतारू हो गये। कवियों ने भी क्रान्ति की। क्रान्तिकारी कवियों ने कविता द्वारा क्रान्ति का निर्घोष किया। मुक्त होने के लिये वे प्रचण्ड ज्वाला मुखी, शंकर का

ताण्डव, अग्निज्वालाओं को बवंडर उत्पन्न करके दासता और दरिद्रता का विनाश करने के लिये उतारू हो गये । इसमें नवीन दिनकर तथा नरेन्द्र शर्मा आदि उल्लेखनीय हैं । शर्मा जी 'रुद्ररूप भारत' शीर्षक कविता में 'भारत' को रुद्र रूप में प्रलय करते हुए देखना चाहते हैं । उनकी अभिलाषा यह है कि––

"भारत अधिनायक, गणनायक, जागें फिर
शंकर प्रलयंकर ।
जिनका तनिक पार्श्व परिवर्तन था विहार
भूकम्प भयंकर ।
जिनके रोओं के हिलने से नगर गिरे थर
थर भय कातर ।"

० ० ० ०

"मरघट-मलय-निवासी शंकर, वह्निनयन,
त्रिनयन श्रीशिव ।
फूट पड़े भूगर्भानल से तोड़ विश्व का
आडम्बर हर ।।"

काँग्रेस में दो दल थे ––एक नर्म और दूसरा गर्म । गर्म दल के नायक नेता जी माने जा सकते हैं । हिन्दी की क्रान्तिकारी कविताएं भगतसिंह, आज़ाद तथा सुभाष चन्द्र बोस की विचार धारा का समर्थन करती हैं । उनको देख कर हम कह सकते हैं कि क्रान्तिवादी कवि हिंसा में भी विश्वास करने लगे थे । नवीन जी ने भी इस अखिल विश्व में आग लगा कर धुआं-धाड़ मचा देने का शंख-नाद किया था ।

छायावादी कवियों के गीत अनन्त की ओर ले जा रहे थे । भूतल पर बसने वाले मानव को अपने घर का कुछ पता न था । वह कल्पना के पंख लगा कर उस पार ही बसने जा रहा था । वास्तव में कविता कोरी कल्पना और स्वप्न बनती जा रही थी । उसमें अनन्त का लक्ष्य तो था परन्तु मानव-जीवन से वह बिलकुल हट गई थी । छायावाद तथा प्रेमवाद की नारी का चित्र भी पूंजीवादी तूलिका से चित्रित किया गया था । इसीलिये उसकी प्रतिक्रिया में कविवर 'निराला' जी ने 'पत्थर तोड़ने वाली' का चित्रण किय और 'भिक्षुक' आदि दलितों पर कविताएं लिख कर काव्य की धारा को मानव-जीवन के समानान्तर प्रवाहित किया । 'जागो फिर एक बार' में श्री 'निराला' जी क्रान्तिवादी और 'भिक्षुक' में पूर्ण प्रगतिवादी प्रतिलक्षित होते हैं ।

"जागो फिर एक बार ।
सिंहनी की गोद से छीनता रे शिशु कौन ?
मौन भी क्या रहती लवह रहते प्राण ?
रे अजान ।"

० ० ० ०

"वह आता––
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर
आता ।"

सोहनलाल द्विवेदी की 'भैरवी' और 'दिनकर' की 'रेणुका' प्रगतिवाद

का पक्ष लेकर आई। समय की आवश्यकता के कारण बहुत से छायावादी कवि प्रगतिवादी बने। प्रगतिवाद को इस बात का गर्व है कि पन्त, भागवतीचरण वर्मा, नरेन्द्र और अंचल उसके अपने बने। 'दिनकर' में क्रान्ति और प्रगति का समन्वय है। वह एक परिवर्तन चाहता है जिसके द्वारा भूखे नंगे भारत के लिये एक बार फिर उसका अतीत उज्ज्वल भविष्य बन सके। वह कविता को सम्बोधन करके कहता है --

"क्रान्ति-धात्रि कविते ! अब जग कर
आडम्बर में आग लगादे।
पतन, पाप, पाखण्ड जले,
जग में ऐसी ज्वाला सुलगादे।"

देश के क्षुधा पीड़ित नग्न बच्चों को दूध खोजने के लिये स्वर्ग को ललकारने के लिये बाध्य हो जाते हैं। भारत के किसान अपना खून पसीना एक करके जो अन्न कमाते हैं उसका सारा उपयोग पुंजीपति ही करते हैं। बेचारे किसान तो नित्य भूखे-नंगे ही रहते हैं। इस भीषण अन्याय का घोर विरोध करते हुए कवि अपनी वाणी द्वारा कृषकों के प्रति समाज की सहानुभूति उत्पन्न करता है --

"देख कलेजा फाड़ कृषक दे रहे हृदय-.
शोणित की धारें।
और उठी जातीं उन पर ही वैभव की
ऊँची दीवारें।।"

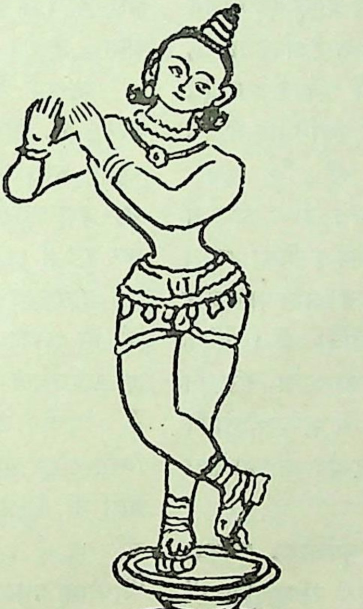
कुछ आलोचक प्रगतिवादी कवियों की कटु आलोचना करते हैं। उनका कथन है कि हिन्दी कविता का प्रगतिवाद भारतीय दर्शन का विरोधी है। यह कुछ अंशों में सत्य है, परन्तु प्रगतिवाद जीवन और काव्य को साथ लेकर चला है, और वह वर्तमान युग की पुकार है। भारतीय दर्शन आत्मा की उन्नति में जीवन का सौन्दर्य देखता है; परन्तु प्रगतिवाद जीवन की उन्नति में आत्मा की सुन्दरता। यह प्रगतिवाद की अपनी मौलिकता है अथवा यह कहिए कि वह मार्क्सवाद के मूल सिद्धान्तों का प्रारूप है। जब जीवन के प्रति-प्रति पल पर क्षुधा और क्षोभ क्षुब्ध करते रहेंगे तो आत्मा का विकास कैसे हो सकेगा ? विकृति और कालुष्य में आत्मा का सौन्दर्य व्यक्त नहीं हो सकता। निर्माण के इस मूल तत्त्व को लेकर ही प्रगतिवादी कवि आज के युग में मुखरित हो उठा है। वह वर्तमान युग के अन्धकार को नष्ट करने वाली ज्योति की नव रश्मियां बिखेर देना चाहता है --

"युगों का तामस हरण, करे यह स्वर्ण-किरण

हमारे प्रगतिवादी कवि 'दिनकर' आज अपनी कविता द्वारा मानव-जगत् में स्वर्ण किरण ही फैला रहे हैं। उनकी ओजस्वी वाणी में राष्ट्रीयता का निर्घोष मिलत है।

चाहे भारतेन्दु-काल की कविता हो, चाहे गान्धी-काल की; और चाहे प्रगतिवादी काल का काव्य हो; सबके मूल में राष्ट्रोत्कर्ष एवं राष्ट्र-सुख की चाह है। अतएव यह कहा जा सकता है कि भारतेन्दु से लेकर आज तक हिन्दी-कविता में राष्ट्रीय भावना निरन्तर प्रेरणा प्रदान करती रही है। इसे ही हम आधुनिक हिन्दी कविता में राष्ट्रीयता की स्वर-लहरी कह सकते हैं। इस राष्ट्रीयता का मंजुल घोष कभी उदात्त स्वर में कभी अनुदात्त स्वर में और कभी स्वरित स्वर में सुनाई पड़ता रहा है। भारत को जिस दिन स्वराज्य प्राप्त हो गया, उस दिन उस स्वर में विशेष प्रकार का परिवर्तन आ गया था।

● ● ●



ऋत, वरुण सभ्यता

अवनीन्द्र कुमार विद्यालंकार

'ऋग्वेद' निःसंशय ज्ञात विश्व-साहित्य की प्राचीनतम पुस्तक है। परन्तु क्या वैदिक संस्कृति भी आद्य संस्कृति है ? क्या इससे पहले भी कोई संस्कृति थी ? ऋग्वेद में प्राप्त एवं वर्णित संस्कृति से भी प्राचीन कोई संस्कृति थी, जिसके अन्त की सूचना ऋग्वेद देता है, और इसके साथ उसके स्थान पर वैदिक संस्कृति का उदय हुआ ?

जर्मन वैदिक पण्डित डा० कीथ ने सर्वप्रथम इस ओर संकेत किया था। श्री गाडगिल ने पुनः इस प्रश्न की ओर विद्वानों का ध्यान खींचा है। वैदिक संस्कृति मानव-समाज की आद्य संस्कृति नहीं है, और न ऋग्वेद के ऋषि ही आदि भारतीय हैं। क्योंकि ऋग्वेद में ही कहा गया है :

"इदं नमः ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः।"

यहां नमस्कार केवल ऋषियों को ही नहीं किया गया है, बल्कि उनके साथ पूर्वजों को, और उनके पूर्वजों को और वैदिक ग्रन्थ के प्रवर्तकों को भी नमस्कार किया गया है ।

प्रश्न यह है, ये पूर्वज और इनके पूर्वज और वैदिक पथ के प्रवर्त्तक कौन थे ? उनकी संस्कृति और सभ्यता क्या थी ? क्या उन के द्वारा प्रवर्तित वैदिक पन्थ, और आज के ज्ञात वैदिक पंथ में कोई अन्तर है ?

ऋग्वेद के ऋषियों को इस बात का ज्ञान था, और इसका सदा स्मरण भी रहता था कि उन के पूर्वज यहां रहे हैं, और वे उन के सेवित मार्ग का ही अनुसरण कर रहे हैं।

अथर्ववेद के ६–१०८ के रचयिताओं को भी इसका ज्ञान था कि वे ऋषियों द्वारा प्रशंसित वाणी का प्रचार कर रहे हैं। प्राचीन ज्ञानियों के ज्ञान का ही वे विस्तार कर रहे हैं। नीचे के तीनों अथर्व मंत्रों को देखिए । ये मेधा की प्रार्थना में कहे गये हैं। यथा :

"मेधामहं प्रथमां ब्रह्मण्वतिं ब्रह्मजूता ऋषि स्तुताम् ।
प्रपीतां ब्रह्मचारिभि र्देवानामवसे हुवे ।।"

इस मंत्र में 'ब्रह्मजूतां (ज्ञानियों द्वारा सेवित) और "ऋषिस्तुतां" शब्द ध्यान देने योग्य हैं। परन्तु, यहां तो कहा जा

सकता है कि ऋक् ऋचाओं के रचयिताओं को ध्यान में रख कर यह कहा गया है । क्योंकि

"यां मेधामृभवो विदुर्यां मेधामसुरा विदुः ।
ऋषयो भद्रां मेधां यां विधुरत्तां मय्या-
वेशयामसि ।

यहां उस बुद्धि की मांग की गई है जिसको "ऋभवः विदुः" ज्ञानी जानते हैं, जिसको "असुराः विदुः" असुर जानते हैं और जिस कल्याणकारी बुद्धि को 'यां भद्रां मेधा' ऋषि जानते हैं। और देखिए :

"याम्‌षयो भूतकृतो मेधा मेधाविनो विदु :।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कृणु ।।"

इस मंत्र में 'मेधाविनः भूत-कृतः" ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं। यहां उस बुद्धि को मांगा गया है जिसको ज्ञानी और पुरुषार्थी ऋषि अनुभव करते रहे हैं।

अथर्ववेद में जिन ऋषियों की चर्चा की गई है, उनके नाम द्रष्टव्य हैं, ये दोनों मंत्र १८–३–१५–१६ में देखे जा सकते हैं :

"कण्वः कक्षीवान् पुरुमीले अगस्त्यः,
श्यावाश्वः सोभरि अर्चनाना : ।
विश्वमित्रो अयं जमदग्नि अत्रिः ।
अवन्तु नः कश्यपो वामदेवः ।।"
"विश्वामित्र जमदग्ने, वसिष्ठ, भरद्वाज,
गौतम, वामदेव ।
शर्दि नो अत्रिः अग्र भीत् नमेमि-सुशंसासः
पितरो मृडता नः ।।"

इन दो अथर्व मंत्रों में उन ऋषियों के नाम गिनाये गए हैं, जिनके नामों पर कुल वंश और गोत्र चले हैं, और जो वस्तुतः आर्य जाति के "पितर" हैं। अथर्व के ऋषियों के भी ये पितर थे। यह इस बात का एक प्रमाण है कि ऋग्वेद और अथर्ववेद की रचना काल के मध्य कितना अन्तर है। अथर्ववेद का सूर्या सूक्त ऋग्वेद के सूर्या सूक्त से भिन्न है। हां, कुछ अधिक बढ़ा हुआ है।

परिवर्धित सस्करण है। यहां जिन ऋषियों के नाम दिये गए हैं वे सब ऋक् ऋचाओं के प्रसिद्ध रचयिता हैं। अतः ऋग्वेद में जिन पूर्वजों और उनके भी पूर्वजों और उन के भी पूर्वजों का जिक्र है, और जो "पथिकृद्भ्यः" है, इनसे सर्वथा भिन्न और सहस्रों वर्ष पहले के नहीं, तो सैंकड़ों वर्ष पहले के अवश्य होने चाहिएं। अथर्ववेद के ऋषियों को अपने पूर्वजों के नाम याद थे, पर ऋक् के रचयिता ऋषियों को अपने पूर्वजों के नाम विस्मृत हो गए थे। अतः प्रश्न यह है कि उन विस्मृत पूर्वजों की संस्कृति क्या थी ? डा० कीथ ने उस संस्कृति का नाम, 'ऋत-वरुण' दिया है।

यह ज्ञात वैदिक संस्कृत से न केवल पर्याप्त प्राचीन थी, बल्कि भिन्न भी थी। मोहन जोदड़ो की मुद्राओं पर डा० बरे ने 'ऋक्' साम, यजु, नाम पढ़े हैं।

इसका अर्थ है कि "ऋत-वरुण" संस्कृति आज से कम-से कम १०–१५ हज़ार साल पहले की थी ।

प्राचीन वैदिक संस्कृति के समाज का जीवन गणजीवी था। इस जीवन का अन्त होने पर ही वर्ग वर्ण-युक्त समाज-निर्माण की प्रक्रिया का प्रारम्भ हुआ । ब्राह्मण काल में जा कर यह प्रक्रिया पूर्ण हुई । ऋग्वेद में यत्र-तत्र प्राचीन संस्कृति का गौरव गान मिलता है । इसके साथ ही ऋषि ऋत के लोप और अनृत के उदय पर दुःख भी प्रकट करता है । विश्व का नियंत्रण करने वाले ऋत तत्व का नये युग में अन्त हो गया । इसके साथ ऋत संस्कृति के पालक वरुण का तेज भी हतप्रभ हो गया। नये युग का देवता इन्द्र का उदय हुआ, जो लूट-पाट और युद्धों का देवता था । यहां यह भी कहा जा सकता है कि जब आर्य प्रशान्त महासागर और हिन्द महासागर में फैले बीस-हज़ार द्वीपों में बसते थे, और वहां से बड़े-बड़े पोतों और जलयानों में बैठ कर भारत आते थे, तब की संस्कृति ऋत-वरुण थी । इस विचार का एक कारण यह है कि ऋग्वेद में जिस बड़ी मात्रा में समुद्र-यात्राओं और जहाज़ों के निर्माण की बात कही गई है, वह शेष तीन वेदों में नहीं पाई जाती।१ समुद्र के प्रति अनुराग का न रहने का कारण क्या है ? यही न कि आर्यों ने प्रशान्त और हिन्द महासागर के द्वीपों में जाना बन्द कर दिया था । वे स्थायी रूप से यहां ही बस गये थे । यहां आर्यों के बसने पर आर्यों का देवता वरुण नहीं रहा, इन्द्र हो गया । इस कल्पना की पुष्टि के लिये ठोस प्रमाण की आवश्यकता से इन्कार नहीं किया जा सकता । परन्तु यह एक सम्भावना है, और इससे लिए पर्याप्त अवकाश है, क्या इसे अस्वीकर किया जा सकता है ?

नये युग के नये देवता इन्द्र आदि का चरित्र नैतिक दृष्टि से अत्यधिक उन्नत नहीं था । इन्द्र-अहिल्या की कथा प्रमाण के रूप में पेश की जा सकती है । 'ऋत-वरुण' संस्कृति के लोप होने के साथ प्राचीन भारतीय समाज में नैतिक मूल्यों का भी लोप हुआ और वर्गीय एवं वर्णाधिष्ठित धर्म नीति की नूतन कल्पना का उदय हुआ । यज्ञादि क्रिया कलाप-ब्राह्मण क्षत्रियों के अधिकार में चले गये । अब सम्पूर्ण समाज के वास्ते अन्नप्राप्ति के लिये यज्ञ-कर्म नहीं रहे । ऋग्वेद में सम्पत्ति के समान विभाजन सामूहिक श्रम, और निर्भतसर जीवन की झलक दिखाई देती हैं । यथा : ऋग्वेद

१. यहां एक उदाहरण देना उचित होगा । कहा गया है जो आकाश भागों 'को जानता है समुद्र में रहते हुए समुद्री भागों को जानता है "वेदा यो वीनां पदम् अन्तरीक्षेण पतताम् । वेद नावः समुद्रय ।"

के १०-१९१ सूक्त को देखिए । यहां सामूहिक जीवन प्रणाली के दर्शन होते हैं। यह समाजवादी समाज है। अतः प्रार्थना की गई है :

"सं समिद्वयुवसे वृषन्नग्ने
विश्वान्यर्य आ ।
इठ्ठस्पदे समिध्यसो स नो वसून्या भर ।।"
"संगच्छध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे संजनाना उपासते ।।"
समानो मन्त्रः समितिः समानि समानं मनः
सह चित्तमेषाम् ।
समानं मंत्रभि मंत्र ये वः समानेन वो
हिविषा जुहोमि ।।"
समानि व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सु सहासति ।।"

यहां जो कुछ भी प्रार्थना है, सम्पूर्ण समाज के लिये है, एक व्यक्ति के लिये नहीं है। अन्य मंत्रों में "दिखाई देने वाले" मैं का यहां सर्वथा अभाव है । यह ही इस बात का एक प्रमाण है कि ऋत-वरुण संस्कृति समूह वाली थी । व्यक्ति की उसमें प्रधानता नहीं थी ।

प्राचीन आर्य प्रशान्त और हिन्द महासागर के दूरतम द्वीपों से आये थे, और इसको वे भूले नहीं थे, इसकी साक्षी ऋग्वेद का ९वां और दसवें मण्डल के ये मंत्र देते हैं :

"असश्चतः शत धारा अभिश्रियो हरिं
नवन्ते अव ता उदन्युवः ।
क्षियोमृजन्ति परि गोभिरावृतं
तृतीये पृष्ठे अधिरोचने दिवः ।।"
एकः समुद्रो वरुणो रयीणामस्मृहदो
भूरिजन्मा विचष्टे ।
सिवक्तय ध निषयोरुपस्थ उत्सस्य मध्ये
निहितं पदं वे : ।"

पहले में कहा गया है जहां निरन्तर अखण्ड रूप से सैंकड़ों धाराओं वाले फव्वारे चलते हैं और ईश्वर हम सबको उस आपत्ति से बचाता है । दूसरे में स्पष्ट रूप से कहा गया है, एक समुद्र है, रत्न धारक है, सबको जन्म देने वाला है, और हम सब के हृदयों को विशेष रूप से जानता है। उस स्रोतों के मध्य जो गुप्त स्थान है, वहां पहुंच जाओ ।

यहां परमात्मा की जहां बात कही है, वहां समुद्र स्थिति अज्ञात द्वीपों की भी बात कही गई है, जहां कभी ऋत-वरुण संस्कृति के उपासक रहते थे और जीवन व्यतीत करते थे । परन्तु उस काल को वे भूले नहीं थे । उसको वे परमात्मा के समान ही पूज्य और रक्षक मानते थे । अजय घाटी, चौबीस परगना में प्राप्त अवशेष इस सत्य की सम्भवत : पुष्टि करें ।

समस्त समाज का हित करने वाले मंत्री वर्गीय-वर्णीय हितों के पोषक हो गए, तब ऋत-वरुण संस्कृति का भी अन्त हो गया । नूतन सामाजिक क्रान्ति हुई । ऋत-वरुण संस्कृति आध्यात्मिक थी

ग्रौर सरल थी । यज्ञ -याग की उसमें प्रधानता नहीं थी । नवीन सामाजिक संस्कृति भोगवादी ग्रौर भौतिक थी। गीता का यह श्लोक इस बात की पुष्टि करता है :

"त्रैगुण्य विषयाः वेदाः निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्व नित्य सत्वस्थो निर्योग क्षेम ग्रात्मवान् ।।"

वैदिक कर्म काण्डों के विरोध में क्रान्ति हुई, ग्रौर 'ऋत-वरुण' संस्कृति के बाद उदित ग्रौर उत्पन्न संस्कृति भौतिक-वादी थी, यह इससे स्पष्ट है ।

'ऋत' शब्द का ग्रर्थ पश्चिमी विद्वानों ने भी विश्व में विद्यमान नैसर्गिक ग्रौर नैतिक व्यवस्था किया है । 'ऋत' शब्द की कल्पना से वैदिक ऋषि को यज्ञों की परम्परागत विधि, नियमों से लेकर विश्व की भौतिक -नैसर्गिक ग्रौर नैतिक व्यवस्था तक से ग्रभिप्रेत है । प्राकृतिक, भौतिक ग्रौर सामाजिक व नैतिक घटनाग्रों में ऋषि ग्रत का ग्रस्तित्व देखते थे । प्रातः काल उषा का उदय ऋत के ग्रनुसार होता है , चमकीला भासमान सूर्य 'ऋत' से ही भास्कर है । गौ का कच्चा दूध ऋत का फल है । तीलियों के संघर्ष से 'ऋत' के पथप्रदर्शन में मानवों के हित के लिये ग्रग्नि पैदा की जाती है । 'ऋत' की ग्राज्ञा से नदियां बहती हैं

ऋत-विषयक यह भव्य कल्पना निसर्ग तक सीमित नहीं हैं । महान् पूर्वज ग्रंगिरस की महिमा का वर्णन करते हुए ऋषि कहता है :

"त इदं देवानां सधमाद ग्रास भुतावानः कवयः पूर्व्यासः ।
गूढठह ज्योतिः पितरो ग्रन्वं विन्दन् तत्सत्यमन्त्रा ग्रजनयन्तुषासम् ।"
"समान ऊर्वे ग्रधिसंगतासः संजानते न यतन्ते मिथस्ते ।
ते देवानां न मिनन्ति व्रता न्यमर्धयन्तो वसुभिर्यादमाना : ।।"

ऋत की स्तुति करते हुए उल्लासपूर्ण ग्रानन्द में ईश्वर के साथ ग्रपने को ग्रनुभव करता है 'ऋत्' का पालन करने वाले पूर्वजों के समाज की विशिष्टता को बताया गया है । वे सामान्य पशुग्रों के साथ संयुक्त होकर वे एक मन हो गए । वे मिल कर प्रयत्न करते हैं , जिससे देवों को हानि नहीं पहुंचे । परस्पर एक-दूसरे को हानि न पहुंचाते हुए वे सम्पत्ति के साथ ग्रग्रसर होते हैं । ऋषि ने गणों ग्रौर व्रातों के जिन भयों का वर्णन किया है, वे वस्तुतः इस सामूहिक जीवन का वर्णन है । सायणाचार्य ने सामूहिक जीवन के वैभव की व्याख्या करते हुए लिखा है: "समान उर्वे सर्वेषां साधारणे गोसमूहे।' "सजानते एक बुद्धयः भवन्ति ।" इसी प्रकार **"ऋतस्य धना ग्रनयन्त सस्त्रुतः ।"**

'सस्तुत' का अर्थ "समानं गच्छंत्य:" समान रूप से साथ साथ जाते हुए सायण ने अर्थ किया है। इसी प्रकार –

"देवानां भागं यथापूर्वे संजानाना उपासते।"

अर्थात्––प्राचीन काल में जिस प्रकार देवगण सामूहिक रूप से अपना भाग लेते थे यह एक महत्त्वपूर्ण कथन है। ध्यान देने की वात यह है कि इस काल के ऋषि वैभव पूर्ण जीवन का सम्बन्ध "ऋत्" से जोड़ते हैं। अंगिरस की शक्ति भी ऋत् के कारण है।

ऋत् की कल्पना यदि केवल प्राकृतिक वैश्विक व्यवस्था सम्बन्धी होती, तो इसके विलुप्त हो जाने पर कलपने और रोने की आवश्यकता न होती। सामूहिक जीवन से एकता, समता और निर्मत्सरता का लोप हुआ, समाज में नये वर्ग उत्पन्न हुए, उस समय पुराने-समाज की याद उत्कटता के साथ आई। ऋत् संस्कृति में प्राकृतिक और सामाजिक-नैतिक का भेद नहीं किया जाता था। चांद-सूर्य, मेधा आदि में जैसे नियमबद्धता प्राकृतिक है, उसी प्रकार समाज सुव्यवस्था भी नैसर्गिक मानी जाती थी। गणजीवी समाज में समता, एकता और निर्मत्सरता गुण होने अपरिहार्य थे। अन्न प्राप्ति सुलभ न होने से यह मंत्र तंत्राधिष्ठित कार्य था। इसके साथ अन्न का समान वितरण भी अनिवार्य था। रिडले का मत है कि अनेक पीढ़ियों से चला आ रहा एक वेदान्त नियम ने उन पर विभाग लादा। इस परम्परा के चलते हुए नैतिक दंड को ऋषि ऋत भी कहते थे।

ऋत का शब्दार्थ किया गया है। पहले से चला आया, वीती, चाल, रीति और पद्धति। ऋत के साथ यज्ञ का सम्बन्ध भी जुड़ा। सायण ने इसलिये माना है–– ऋत-यज्ञं, ऋतस्य-गतस्य, पालयितस्य अन्ने यज्ञस्य अन्नस्य वा। "इसी प्रकार "ऋतज्ञा-अन्नस्य जनयित्री", "ऋतयव:-यज्ञकामा-ऋषय:" ऋतजात-यज्ञार्थ उत्पन्न:; "ऋतवान:-ऋतवन्तो यज्ञ वन्त: उदकवन्तोवा।" और "ऋतोवान:– पुरोयथा यत्कृतं तथागत जानन्त: यत् परम्परा प्राप्तं तं लोकरीति वा जानन्त:", "अनृता:-पुराणमार्ग त्यजन्त:" आदि वचनों और कथनों का प्राप्त होना वताता है कि ऋत परम्परा से चले आए यज्ञ कर्मों का और उस विषयक आचारविचारों व विधि-विधानों के साथ कितना घनिष्ठ सम्बध था। आर्यों के सामूहिक जीवन का केन्द्र यज्ञ-याग था। प्राचीन काल में अन्न-प्राप्त्यर्थ मंत्र-तंत्रात्मक विधि का आश्रय लिया जाता था। ऋत-यज्ञ इस कल्पना के अन्तर्गत समाज का भौतिक भरण-पोषण का अर्थ भी सन्निहित था। ऋत, यज्ञ, विद्या, व्रात, इन सवका एक साथ लोप हो गया। इस काल को ही आजकल ऐतिहासिक वरुण युग का अस्तकाल कहते

हैं। यह घटना एक महान् सामाजिक परिवर्तन की सूचक है। इससे यह स्पष्ट है कि 'ऋत-कल्पना में केवल वैश्विक व्यवस्था का ही समावेश नहीं है, इसमें नैतिक व्यवस्था का विचार भी सन्निहित है। अनेक ऐतिहासिकों और डा० राधाकृष्णन् सदृश विद्वानों के इस कथन का, इस कल्पना के भौतिक-ऐहिक विचारों के आध्यात्मिक विचारों का विकास हुआ है। कोई आधार नहीं मिलता। ऋत्-कल्पना का आगे विकास नहीं हुआ, उलट उसका उत्तरकाल में अन्त हो गया। संशोधकों का मत है कि उपनिषदों में ऋत् शब्द केवल सात बार आया है। उपनिषद् अध्यात्मवाद के उदय की सूचना देते हैं। परन्तु उस समय ऋत-कल्पना का अन्त हो चुका था, इससे यह अनुमान निकालना ग़लत न होगा।

इसी प्रकार यह विचार कि यह दृश्य विश्व ऋत् तत्त्व की केवल छाया है, वैदिक ऋषि को मान्य नहीं था। उत्तरकालीन अध्यात्मवाद से निकले इस विचार का वैदिक ऋषि को इहलोकवादी विचार-सरणी से कोई ताल-मेल नहीं है। विश्व की सुव्यवस्था ऋत प्रणीत है, यह कहना यह सिद्ध नहीं करता कि विश्व एक माया है। डा० राधाकृष्णन् ने यह माना है कि वैदिक आर्य इहलोकवादी थे। परन्तु उनका यह भी कहना है कि धीरे-धीरे आर्यों ने इस इहलोकवादी दृष्टिकोण का परित्याग कर दिया और अध्यात्मवाद को ग्रहण किया। यह ऋत् कल्पना का, मगर विकास नहीं था, जैसा कि राधाकृष्णन् प्रभृति मानते हैं। 'ऋत-कल्पना प्रारम्भ में नैसर्गिक भौतिक स्वरूप की थी। बाद में उसको परमेश्वर की इच्छा का नैतिक स्वरूप प्राप्त हुआ। किन्तु, इस मान्यता का कोई वैदिक आधार नहीं है। इसके विपरीत 'जिन्दावस्था' से यह बात पुष्ट होती है कि ऋत-कल्पना में नैसर्गिक-नैतिक दोनों स्वरूपों का समावेश था।'

ईरान से भारत में आने पर आर्य लोग ऋत कल्पना को भूल गये और इस कारण उत्तरकालीन वैदिक ऋषि इसके विलुप्त हो जाने पर दुःख प्रकट करते हैं। ऋत् की तुलना प्लेटो के 'यूनिवर्सल' से नहीं की जा सकती है। हां, चीन के 'टाओ' से की जा सकती है। डा० राधाकृष्णन् ने भी यह की है। टाओ का अर्थ भी विश्व-व्यवस्था है। चीनियों ने 'टाओ' में विश्व-व्यापक तत्त्वों का दर्शन किया था। परन्तु भारत में ऋत्-पंथ समाप्त हो गया, और चीन में 'टाओ' पंथ के अनुयायी निरन्तर संघर्ष करते रहे। इन्होंने नूतन वर्गीय समाज को स्वीकार नहीं किया और संघर्ष को जारी रखा। अतः इनका विचार-प्रवाह बराबर चलता रहा।

ऋत-कल्पना एकमात्र वैश्विक व्यवस्था की ही सूचक नहीं है, अपितु सामाजिक नैतिक व्यवस्था की भी सूचक है। इस विषय में ऋषि का यह रोचक कथन ध्यान देने योग्य है। ओ. अग्नि तुम्हारी-भास्वरता व चमक हम तक पहुंच रही है। इसके साथ ही तुम हमारे पास हमारे लिये ऋत की गाय भी लाये हो।

गाय पाने की ऋषि की इच्छा को तो देखिए :—

"वलित्था तद् वपुषे धायि दर्शतं
देवस्य भर्गः सहसो यतो जनि ।
यदीमुप व्हरति साधते मति—
ऋतस्य धेना अनयन्तसुसुतः ।।"

इन्द्र, तू पहले के समान अन्न का रक्षक है और तू 'ऋत' का भी रक्षक है, अतः तू हमारी गौओं की खोज में मदद कर और हमारे साथ रह। गौओं की खोज कर रहा ऋषि कहता है।

"तत् तु प्रयः प्रत्नथा ते शुशुक्वनं
यस्मिन् यज्ञे वारमकृण्वत क्षय–
मृतस्य वारसि क्षयम् ।
वि तद् वोचेरध द्वितान्तः पश्यन्ति रश्मिभि : ।
स धा विदे अन्विन्द्रो गवेषणो बन्धुक्षिभूदयों गवेषण :।।"

हे मित्र-वरुण, ओ असुर, ऋत–स्वामी, आप ऋत की घोषणा करने वाले हैं। हमारा सम्बन्ध गाय और जल के साथ जोड़िये।—ऋषि प्रार्थना कर रहा है:

"प्रसा क्षितिरसुर या महि प्रिय
ऋतावानावृतया घोषथो वृहत् ।
युवं दिवो वृहतो दयामायुवं
गो न धुर्युप युज्याये अपः ।।"

जो कोई ऋत के फूल देता है, जिनको आदित्य बढ़ाता है, वह सर्वागुणी है, वह धन सम्पन्न हो रथ में बैठ कर जाता है और सभाओं में धन का वितरण करता है। ऋत की कल्पना में सामाजिक व्यवस्था किस प्रकार सन्निहित है, यह यहां देखिए :

"यो राजस्य ऋतनिभ्यों ददाश
यं वर्धयन्ति पुष्टयश्च नित्या : ।
स रेवान् याति प्रथमो रथेन
वसुदावा विदथेषु प्रशस्तः ।।"

ओ दयावान् पृथिवी ! ऋत का राज्य स्थापित होने दो जिसके हम अन्न के साथ सम्पत्ति पावें। 'ऋत' सामाजिक और नैतिक व्यवस्था का निदर्शक है, यह ऋषि के इस वचन से प्रकट है :

"युवां ऋतं रोदसी सत्यमस्तु
महे षुणः सुविताय प्रभूतम् ।
इदं दिवे नमो अग्ने पृथिव्यै
सपर्यामि प्रयसा यामि रत्नम् ।।"

ऋषि ऋत से प्रार्थना करता है, कि वह उसको संरक्षण दे, अपनी छाया और निवास में आश्रय दे। यज्ञ कार्यों को पशु और अन्न दे। हे वरुण और अन्य देवगण ! आप ऋत के संरक्षक हैं। आपका

जन्म ऋत से हुआ है, ऋत के साथ आप वृद्धि को प्राप्त हुए हैं, अनृताः का विनाश कीजिये । हम और अन्य वीर आपके आश्रम में सुख से रहें और सम्पत्ति को प्राप्त करें :

"ऋतावान ऋतजाता ऋतावृधो
घोरासो अनृत द्विषः
तेषा वः सुम्नेसुच्छर्दिष्टये नरः
स्याम ये च सूरयः ।।"

एक बात और द्रष्टव्य है। ऋत का जहां वर्णन है उसके देवता प्रायः करके मित्रावरुण है। मित्रावरुण का एक अर्थ अहोदात्र है। इससे स्पष्ट है कि 'ऋत' कल्पना जहां वैश्विक व्यवस्था की द्योतक है, वहां यह एक सामाजिक एवं नैतिक व्यवस्था की भी द्योतक है । वरुण-युग की संस्कृति ऋत थी । यह गणजीवी समाज की संस्कृति थी, जिसकी विशेषता सामूहिक जीवन समान वितरण और पूर्ण समानता थी । इस युग का अन्त कब हुआ और कैसे हुआ, यह काल के अतिरिक्त और कौन बता सकता है ?



समकालीन हिन्दी कविता 'सौन्दर्य-रूप' के संदर्भ में

°

डॉ० गंगा प्रसाद विमल

उत्तरशती की नवीनतम काव्य-प्रवृत्तियों को समकालीन कविता के अन्तर्गत लिया जाता है । बदलते हुए जीवन, और बदलते हुए मूल्य-मानों के संदर्भ में इस काव्य-प्रवृत्ति का अध्ययन अधिक आवश्यक हो जाता है क्योंकि समकालीन जीवन स्वयं इतना जटिल तथा वैज्ञानिक बोध से संसिक्त है कि उसके प्रभाव की विभिन्न दिशाओं को जीवन के संदर्भ में ही देखा जा सकता है। कला मूल्यों में निरन्तर जीवनानुरूप परिवर्तन कलाओं की तमाम समानान्तर धाराओं में अभिव्यक्त होता है । जीवन की अमूर्त (दृश्येन्द्रिय से परे) घटनाएं अनुभूति के आधार पर सादृश्य प्रतिमाओं के रूप में आकार पाकर काव्य-कलाओं में मूर्तिकृत ही नहीं होती अपितु वे प्रति-मूर्तिकृत होकर सामान्य में असामान्य बिंवित करती है । हिन्दी कविता की समकालीन गतिविधियां इस संदर्भ में एक ताज़ा उदाहरण है कि अपने बौद्धिक परिवेश की जटिलता के बावजूद भी कविता की अनेक धाराएं जीवन के जटिलतम, अपठित, अमूर्त को साक्ष्यरूप में निरन्तर, ग्रहण किये जा रही हैं।और अभिव्यक्ति के सहज माध्यमों में व्यक्त भी कर रही हैं । नयी-कविता-इतिहास के इन उत्तर वर्षों में हम उन प्रश्नों से मुक्ति पा चुके हैं जिनके मुताबिक नयी कविता धारा के मूल अस्तित्व के प्रति शंका, नयी कविता शिल्प को अराजकता की देन मानने के प्रति शंकाएं थीं । यह सर्वविदित है कि तभी कविता धारा विश्व कविता धारा के समानान्तर चली आ रही एक काव्य धारा है जिसके वस्तुपक्ष का भौगोलिक परिवेश भारत है किन्तु जिसका बोधपक्ष आधुनिक भाव बोध के समकक्ष है । विश्वव्यापी प्रभावों को नकारना संभवतः जीवनविधि में आए विश्व-वैकट्य के उन तमाम प्रभावों को नकारना है जो वैज्ञानिक प्रगति की इस दिशा तक हमें स्वीकारात्मक ढंग से खींच लाये हैं ।

यान्त्रिकता की एकरसता को तोड़ने का जो सतत कलाओं की नवीनतम धारणाएँ प्रस्तुत कर रही हैं तथा परम्परा के तन्त्र से ग्रासित काव्य धाराओं में नवोन्मेष का संचार समकालीन कविता धाराएं कर रही हैं। विशेषरूप से अपनी इस प्रगति के कारण हिन्दी की समकालीन काव्यधाराएं परम्परा के पाठक तथा अन्य कई कारणों से पूर्वग्रह-ग्रसित पाठक के लिये बहुत हद तक ग्राह्य नहीं है, यही नहीं पूर्वाग्रहों के इन तर्कहीन आग्रहोंके कारण समकालीन काव्यधारा के नये आकलन के लिये भी एक वर्ग तय्यार नहीं है। परन्तु इसका कदापि यह अर्थ नहीं है कि इन आधारों पर हम कविता की नवीनतम गतिविधियों से अपरिचित रहें या उनकी उपेक्षा करें। आज जो व्यक्ति नये सृजनात्मक साहित्य के सम्बन्ध में ऐसे प्रश्न करता है वह निश्चय ही कला रूप (कविता, गद्य आदि) ही नहीं, जीवन के प्रगतिपक्ष से आंखें मूंदें बैठा है, ऐसे व्यक्ति से कविता के प्रति स्वीकारात्मक संवेदन (एप्रोच) का कोई भी अंश पाना संभव नहीं है। निश्चय ही ऐसा व्यक्ति या वर्ग कविता के माध्यम जीवन के विघटित मूल्यों और नये मूल्यों की किसी भी संभावना के प्रति चेतन नहीं है। यह अलग प्रश्न है कि कविता इन मूल्यों के प्रति चेतना देन या चेतना की पर्तें खोलने का सब से अधिक सक्षम कलात्मक आधार है। तभी कविता-धारा ने मूल्यों के प्रति चेतना के तत्व को नये मनुष्य के बिम्ब में संवाहित किया है। मूल्यों के संक्रमण की चेतना का नारा प्रयोगवादी काव्य-चेतना ने दिया था, यह संक्रमण, मुख्यतः वस्तुगत था, इसी कारण इसकी प्रभाव दिशाएं भिन्न कही जा सकती हैं। यदि गहराई से देखा जाय तो प्रतीत हो जायेगा कि वस्तुगत यथार्थ का संक्रमण जीवन की नितान्त भौतिक विधि से सम्बद्ध था, जिसके अनुसार एक वैयक्तिक इकाई का पीड़न (सफरिंग) सामाजिक समस्याओं और विश्व संघर्षों के परिवर्तनों के फल-स्वरूप उपजा। भौतिक विधि से सम्बद्ध मानवीय मूल्यों के संक्रमण का प्रभाव संक्रामक था और उसने प्रयोग कालीन सृजन को इस संक्रमण की तीव्र चेतना दी थी। प्रयोगोत्तर रचना में शिविरबन्दी प्रवृत्ति को मुक्ति मिली तथा प्रतिबद्ध (कमिटेड) रचनाकार भी एक मंच पर आकर काव्य सृजन में लग गये थे। इसी कारण नयी कविता में एक साथ व्यक्ति संदर्भों की नई चेतना मिलेगी तथा सामाजिक सम्बन्धों की चेतना भी। जहां एक ओर 'लघुमानववाद' के आधार को लेकर व्यक्ति इकाई की पीड़नपरक स्थिति के बिम्ब मिलते हैं वहां दूसरी ओर समानान्तर काव्य रचनाओं में सामाजिक न्याय की आधार भूमि पर रचनाशील प्रवृत्ति भी मिलेगी जो

वृहत्तर मानवीय संकल्पों की आशावादी भूमिका की स्थापना करती है ।

व्यक्ति और समाज की विविध स्थितियों की प्रतिक्रिया को वस्तुसंगठन से लेकर कला प्रयोगों तक नयी कविता ने स्वीकार और नकार के रूप में वहन किया है किन्तु वह स्वीकार और नकार जीवनानुरूप-स्थितियों के अनुकूल रहा है । नयी कविता की धारणागत उपलब्धि नये मनुष्य के बिम्ब से ही सम्बन्धित है किन्तु १९६० के पश्चात् और नयी कविता ५/६ के प्रकाशन के पश्चात् यह स्पष्ट लगा था कि अब नई कविता की निर्मित रूढ़ि को तोड़ने का कोई प्रयास स्वाभाविक रूप से रचनात्मक प्रवृत्ति के अन्दर ही अन्दर चल रहा है । डा० जगदीश गुप्त ने कहीं संकेत रूप में इसका उल्लेख भी किया है । इसे नयी कविता के उत्तर वर्षों का स्वाभाविक परिणाम भी माना जा सकता है किन्तु दूसरे रूप में यह परिणाम तभी कविता द्वारा स्वयं संकेतित भी माना जा सकता है । नयी कविता की काव्यगत स्थापनाओं ने सौन्दर्य मूल्यों और सैंन्दर्य संचेतनाओं को बिम्ब संरचना के रूप में एक नयी पारिभाषिक शब्दावली तथा प्रक्रियात्मक चेतना भी दी है । कदाचित् बोध और संचेतना के आधार पर कविता के सौन्दर्य मूल्यों को व्याख्या देने का काम नयी कविता की अन्य उत्तर प्रवृत्तियों द्वारा सम्पन्न होगा । युवापीढ़ी (जिसे रचना का एक स्पष्ट बोध नयी कविता के धरातल से मिला है) ने कविता में लय की अनिवार्यता, कविता पाठ की समस्या तथा भाषा संवेदना को समस्याओं को महसूस करना आरम्भ कर दिया था । उसे समकालीन आलोचना-धुरियों ने अपने विचार-केन्द्र में लिया तथा उस पर विचार भी किया है । कहने का तात्पर्य यह है कि युवापीढ़ी के पास और विशेष रूप से तीसवीं देहरी–(अन्डरथर्टी)-पीढ़ी के पास समस्याओं के नये चेहरे थे और पुरानी समस्याओं का अनुभव क्षेत्र भी था । ऐसी दशा में नये से नयेपन की एक और छटपटाहट अपरम्परावादी कवियों, सूर्योदयी (आत्मिक आधारवादी) कवियों, अभिनव काव्य सर्जकों तथा काव्याधार पर "लघु तथा भव्य" का ऐतिहासिक दृष्टिक्रम के अनुसार अस्वीकृति देने वाले मामूली में (मिडिया क्रेसी की आधारगत धारणा) की दुहरी पीड़नपरक स्थिति को भागने वाले कवियों की रचनाओं में अभिव्यक्त हुई है । अभिव्यक्ति का सहजतम माध्यम, बिंबीकरण द्वारा सहजतम रूप में रचित कवियों के प्रयोग की नयी परम्परा तथा ललितवृत्त (फैंटेसी) आदि से दूर नितान्त एक मनुष्य की अपनी पीड़नपरक अस्तित्ववादी समस्याएं 'वस्तुचेतना' के रूप में समकालीन कविताधाराओं में फूटी हैं । इस सत्य से इन्कार नहीं किया

जा सकता कि कविता की ये गतिविधियां केवल प्रभाव या कोई बाह्य अनुकरण नहीं है अपितु कविता ही नहीं, कलाओं के प्रति एक सामान्य विरक्ति की वैविध्य परक प्रतिक्रियाएं कला रचना को एक ओर आकर्षक ध्रुवान्त देने की निरन्तर गतिशील और क्रियाशील कोशिशें हैं तथा दूसरी ओर विविधतत्वों की नई भूमिकाओं से नवपरिचय की स्थितियां हैं। इन प्रयत्नों के बीच साफ नयी से नव्यतर काव्य चेतना की छटपटाहट झलकती है। युवा पीढ़ी अपने रचनात्मक संकल्पों से इस दायित्व का निर्वाह कर रही है, वह केवल अनुकरण के रूप में नहीं अपितु सतत जागरूक भाव से परम्परा और रूढ़िरेखाओं में कुरूप हो रही कविता को एक ओर सौन्दर्यपरक मोड़ दे रही है। कहा जा सकता है युवापीढ़ी नयी कविता में रूढ़ हो रही उन तमाम प्रवृत्तियों के विरुद्ध है जो काव्य रचना को जड़ता देती हैं। प्रयोगवादी कविता में बिम्ब सघनता की वजाय विस्तार कथनों की भरमार की वन रही रूढ़ि को नयी कविता ने तोड़ फेंका था, नयी कविता की पारिभाषिक शब्दों की नयी (निर्मित) रूढ़ि को युवापीढ़ी एक नयी वस्तु संचेतना के आधार पर तोड़ रही है। चाहे वह कविता के खिलाफ "कविता की मौत" की चेतना हो, कविताओं की वजाय प्रतिकविताएं हों या अपरम्परा-वादी कविताएँ या सिर्फ अकविताएँ या आक्रोशी पीढ़ी का काव्य हो —यह निश्चय ही कहा जा सकता है कि काव्य भोग को एक सच्चाई के स्तर पर लाने की यह क्रिया है चाहे लोग इन्कार करें या जन रुचि की उपेक्षा के प्रश्न खड़े करें किन्तु यह बात साफ है कि अपनी "बिम्बरचना" "स्थानीय रंग तत्व" तथा लोकतात्विक मोहक प्रभावों में वह जनरुचि या अभि-रुचि को एक नया मोड़ दे रही है। कविता क्योंकि मूलतः विषयिगत है—उसके क्षेत्र का विस्तार आज की समस्या नहीं रह गई है। कविता को प्रचार के अनुरूप रख देने वाले बोध का भी प्रभाव नहीं रहा। अब कविता केवल अपने आन्तरिक गठन के गुण के कारण या आंशिक प्रभावों को अवश्य संप्रेषित करती है।

समकालीन हिन्दी कविता आधुनिक कविता की रूमानी, स्वच्छन्दता, प्रभाव-वादी पूर्व प्रयोगवादी, प्रगतिवादी तथा उत्तर प्रयोगवादी काव्य प्रवृत्तियों की आधुनिकता की उस संज्ञा से आगे बढ़ आई है जहां पहले केवल एक शास्त्रीय धारा के विरोध के कारण कविता को महत्त्वपूर्ण माना जाता है। कविता धाराएं किसी विरोध की प्रतिक्रियाएं नहीं रह गई हैं। हिन्दी समीक्षा का यह दुर्भाग्य है कि हर नयी धारा को शंका की दृष्टि से देखने की प्रवृत्ति, उसको

'व्यर्थ' कह देने की प्रवृत्ति तथा प्रचलित हो जाने पर पूर्वधारा का विरोध कह देने की प्रवृत्ति बहुत अधिक चल रही है जो नितान्त अवैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक आधारों पर भ्रामक है। शायद गंभीरता से यह सोचने का समय इस वर्ग के पास नहीं है कि अपने को अभिव्यक्ति देने की पीड़ा, नये माध्यमों को खोजने का काम कितना कठिन है। कविता की अभिव्यक्ति सब से अधिक क्रूर है, वह नये माध्यम की तलाश में निश्चय ही पूर्व माध्यमों को कम स्वीकारती है।' हिन्दी की अभिनव कविताएं, अकविताएं नयी वस्तु चेतना तथा नये माध्यमों की सजीव उदाहरण है। युवापीढ़ी की कविताएं अनुभव वैविध्य की रचनाएं हैं। वे 'वस्तु' के नये क्षेत्र (नये क्षितिज) उद्घाटित करती हैं। उनमें अबोधता का नैसर्गिक (प्रिमिटिव) तत्त्व सौन्दर्य मानों के नये पक्षों का परिचायक है। समकालीन कविता में प्रतीक, बिम्ब और संवेदनात्मक पृष्ठभूमि व्यतीत के रचनात्मक धरातल से भिन्न है किन्तु भाषा का अर्थमय रूप जो 'समग्र' को अभिव्यक्ति देने का प्रयास करता है, विकास की निरन्तरता का परिणाम है। इसमें सन्देह नहीं कि समकालीन कविता परम्परा के किन्हीं सूत्रों से जुड़ी हुई है किन्तु वे सूत्र रचनात्मक जीवनी-तत्व से परिपूर्ण और नये ललित-भाव को युगसत्य का आधार देते हैं।



प्रथम भाषा वैज्ञानिक-यास्क

०

सूर्यकान्त बाली

महामति यास्काचार्य असंदिग्ध रूप से भारतवर्षके प्रथम भाषाविद् हैं जिन्होंने अपने निरुक्त-ग्रन्थ में भाषा के प्रति पूर्णतः वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। यद्यपि संस्कृत प्रातिशाख्य एवं स्वयं यास्क द्वारा वर्णित कतिपय निरुक्त-कार भारत में भाषा सम्बन्धी विचार-प्रणाली के प्राचीनतर अस्तित्व की सूचना देते हैं, परन्तु यास्क-रचित निरुक्त की गरिमा इसी से स्पष्ट है कि उसमें न केवल पूर्व-वर्ती निरुक्तकारों के तर्कों के बलाबल का सुष्ठु परीक्षण हुआ है, अपितु भाषा सम्बन्धी प्रमुख विषयों पर ठोस विचार प्रस्तुत करते हुए प्रतिशाख्यों की ध्वनि-विषयक एकांगी विचारधारा को अनेकांगी रूप दिया गया है। यही कारण है कि आज जहां अन्य सभी निरुक्तग्रन्थ लुप्त एवं विस्मृत-प्राय हो चुके हैं, वहां यास्ककृत निरुक्त अपने मूल स्वरूप में, अप्रक्षिप्त कलेवर में उपलब्ध है।[1]

शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से 'निरुक्त' शब्द मात्र निर्वचन पद्धति का बोध कराता है। यास्काचार्य के निरुक्त में भी इस पद्धति का सांगोपांग चित्रण हुआ है। परन्तु यास्क ने जहां अपने ग्रन्थ में निर्वाचन प्रणाली का प्रमुख रूप से विवेचन किया है, वहां उसने स्थान-स्थान पर भाषा सम्बन्धी सूक्ष्म विचार भी अभिव्यक्त किये हैं। अतः यास्करचित निरुक्त प्रमुख 'वेदांग होने के साथ-साथ भाषा विज्ञान का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ भी है। प्रस्तुत निबन्ध में हमें यास्क द्वारा यत्र–तत्र अभिव्यक्त भाषा सम्बन्धी विचारों की परीक्षा करेंगे।

भाषा की आवश्यकता

मानव -समाज में दैनिक व्यवहार के लिये एक भाषा का होना कितना अनिवार्य है, इसका वैज्ञानिक उत्तर सर्वप्रथम यास्क ने ही दिया है। यास्क का विचार है ऐसी भाषा प्रारम्भ से ही अस्तित्व में रही होगी। कतिपय वर्तमान भाषावैज्ञानिक

१. प्राचीन भारतीय साहित्य : अनु: लजपतराय : मूल ले: विष्टरनि त्न् : पृ. २२३

भाषा की उत्पत्ति संकेतों से मानते हैं। पोलिनेशिया के डॉ० रॉय इस मत के जनक हैं। इस मत को डार्विन, रिचार्ड, जानसन सदृश स्वनामधन्य विद्वानों का प्रबल समर्थन प्राप्त हुआ है। परन्तु आज से सैंकड़ों वर्ष पूर्व यास्क ने स्पष्ट कर दिया था कि सामान्य दैनिक व्यवहार में संकेत प्रणाली जैसी बोझिल प्रणाली पूर्णतः अव्यावहारिक है। यास्क के मतानुसार इसका कारण यह है कि चूंकि मनुष्य प्रारम्भ से ही लाघवता-प्रेमी रहा है, और चूंकि संकेत प्रणाली में लाघवता-तत्व का अत्यन्ताभाव है अतः यह प्रणाली मानव की मूल प्रवृत्ति के सर्वथा विपरीत है; 'भाषा' में लाघवता के सभी गुण विद्यमान हैं, अतः मानव-समाज में इसी का प्रयोग सम्भव है।[1] दूसरे शब्दों में, यास्क के मतानुसार मानव समाज अपनी प्राचीनतम अवस्था में भी शब्द जन्य किसी भाषाविशेष का प्रयोग करता रहा होगा।

भाषा की उत्पत्ति

यहां एक प्रश्न है कि इतिहास की प्राचीनतम अवस्था में प्रयुज्यमान, 'भाषाविशेष' का क्या स्वरूप रहा होगा। इस प्रश्न का भाषा की उत्पत्ति से सीधा सम्बन्ध है। यास्क ने भाषा की उत्पत्ति विविध क्रियाओं (Roots) से मानी है[2]। (यास्क पूर्ववर्ती वैयाकरण शाकटायन भी इसी मत के पोषक रहे थे) सम्भवतः इसी विचारधारा के समर्थन में महान् वैयाकरण पाणिनि ने भी आज से लगभग ढाई हज़ार वर्ष पूर्व[3] आठ सौ क्रियाओं का मौलिक अस्तित्व स्वीकार किया था। यास्क के इस सिद्धान्त की आधुनिक दृष्टि से परीक्षा आवश्यक है।

आधुनिक काल में तुलनात्मक विज्ञान के जन्मदाता बॉप एवं उनके अनुवर्ती ह्विट भाषा को धातुज स्वीकार करते हैं। परन्तु प्रसिद्ध भाषाविद् ओटो-जैस्पर्सन ने इस मत का प्रबल खण्डन किया है[4]। उनके शब्दों में, "विविध क्रियाओं को भाषा के क्रमिक विकास की धारा में एक अवस्था निर्भ्रांत शब्दों में माना जा सकता है, परन्तु उन्हें विश्व-भाषाओं का उत्पत्ति हेतु मानना अवैज्ञानिक है।

१, "अणीयस्त्वाच्च शब्देन संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके"।
—निरुक्तम् : यास्कः अध्याय—१, खण्ड—२।

२. "सर्वाणि नामानि आख्यातजानि।" वही : अध्याय—१, खण्ड—१२।

३, संस्कृत साहित्व का इतिहास : अनुवादक, डॉ० मंगलदेव : ए बी कीथ पृष्ठ ५०४—५०५।

४. लेंडवेज, इट्स् नेचर, डेवेलयमेण्ट एण्ड् ओरिजिन : ओ. जेस्पर्सन।

इसका कारण स्पष्ट है :--क्रियाओं को भाषा की उत्पत्ति का हेतु मान लेने पर भी यह समस्या तो पूर्ववत् बनी रहती है कि क्रियाओं की उतपत्ति कैसे हुई। इस प्रकार यास्क ने आज से २८०० वर्ष पूर्व[1] जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था उसका खण्डन तो अवश्य हो जाता है, पर इससे यास्क का भाषा सम्बन्धी वैज्ञानिक दृष्टिकोण ही परिपुष्ट होता है।

ध्वनि-परिवर्तन की दिशाएं

यास्क ने ध्वनि-परिवर्तन की जिन दिशाओं का वर्गीकरण किया है इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उसने मानव के लाघवता प्रेम का मनोवैज्ञानिक अध्ययन तो किया ही था, अपितु उसका शारीरिक अध्ययन भी किया था। मनुष्य के ध्वनि-अवयव उसे वहीं शब्द उच्चारण करने की प्रेरणा देते हैं जिससे उन पर कम से कम दबाव पड़े। ध्वनिपरिवर्तन का प्रमुख कारण यही है। परिणामस्वरूप कभी उच्चारण काल में शब्दों के स्वर विभक्त कर दिये जाते हैं; कभी कुछ अक्षर लुप्त कर दिये जाते हैं तो कभी नए अक्षर जोड़ दिये जाते हैं। यास्क ने अपने ग्रन्थ में ध्वनिपरिवर्तन की इन्हीं दिशाओं का सोदाहरण चित्रण किया है[2] :

(क) आदिलोप--उदाहरण: (अस्) स्तः, सन्ति, इत्यादि।

(ख) अन्तलोप-- (गम्) गतः, गतवान्।

(ग) उपधालोप-- (गम्) जग्मतुः जग्मुः।

(घ) उपधाविकार--(राजन्) राजा; दण्डिन् दण्डी।

(ङ) वर्ण लोप-- (तन्) तनित्वा तत्त्वा।

(च) आदिविपर्यय-- (हन्) घनः, (भिद्) बिन्दुः।

(छ) अन्तविपर्यय-- (कस्) सिकता; (कृत) तर्कुः।

इस चित्र से स्पष्ट है कि आधुनिक भाषाविज्ञान में परिगणित ध्वनि-परिवर्तन की दिशाएं मूलतः यास्क की नामावली से ग्रहण कर ली गई हैं।

अर्थ-परिवर्तन हेतु

यास्क ने निरुक्त के द्वितय अध्याय के प्रारम्भ में ही निर्वाचन-पद्धति का साङ्गापङ्ग विवेचन किया है। निर्वचन-प्रणाली में अर्थ की गरिमा[3] की विस्तृत

---

१. वैदिक-साहित्य और संस्कृति : बल्यदेव उपाध्याय : पृष्ठ—४२५—२६।

२. निरूत्तम् : यास्क, : अध्याय—२, खण्ड—१-२।

३. "अथानन्वितेऽर्थे प्रादेशिके विकारे अर्थनित्यः : परीक्षेत केनाचिद् वृतिसामान्येन"। वही : अध्याय—२, खण्ड—१।

व्याख्या करते हुए यास्क ने बड़े ही वैज्ञानिक ढंग से अर्थ-परिवर्तन क दो प्रमुख कारणों पर विचार किया है। यास्क के मतानुसार इसका एक कारण एक ही भाषा में अनेक विभाषाओं (बोलियों) की विद्यमानता है। 'भाषा' शब्द से यास्क का अभिप्राय बोलचाल की भाषा है क्योंकि यास्क ने स्वयं 'भाषिक' (बोलचाल की भाषा) एवं "नैगम" (वेदों की भाषा) में पारस्परिक पार्थक्य प्रकट किया है[1]। यास्क के मन में किसी भी बोलचाल में अर्थपरिवर्तन स्वाभाविक है और उसके दो कारण हैं: (क) जैसा कि ऊपर कहा गया है, बोलचाल की भाषा में विविध विभाषाओं के विकास के कारण एक ही शब्द दो विभिन्न प्रदेशों में दो विभिन्न अर्थों का द्योतक बन जाता है। उदाहरणतया—कम्बोजप्रदेश में 'शव्' धातु 'गति'-अर्थ में प्रसिद्ध है, जबकि आर्यावर्त क्षेत्र में यह धातु 'शव' रूप में 'मृत शरीर' का बोध कराती है[2]। (ख) अर्थपरिवर्तन का दूसरा कारण इतर भाषाओं से शब्दों का उधार लेना है। उदाहरणतया—'घृत' शब्द वैदिक संस्कृत में प्रवाह गुण वाले 'जल' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है जबकि लौकिक संस्कृत में इसका प्रयोग, जो स्पष्टतः उधार है, 'घी' अर्थ में होता है (और अद्यावधि हो रहा है)।[3] आधुनिक भाषाविज्ञान ने अर्थपरिवर्तन के इन दो कारणों को यथावत् ग्रहण कर लिया है।

संक्षेप में, यास्क ने भाषा के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण उस समय प्रस्तुत किया जब भाषा के सम्बन्ध में भारतीय जन धार्मिक विश्वास की परिधि से बाहर नहीं निकल पाये थे। प्रथम भाषावैज्ञानिक होने के नाते जहां यास्क भारतीय भाषा शास्त्रियों में मूर्धन्य स्थान ग्रहण करते हैं वहां आधुनिक भाषाविज्ञान को उनकी महती देन भी असंदिग्ध है।

---

१. निरुक्तम् : यास्क : अध्याय—२, खण्ड—३।
२. वही : अध्याय—२, खण्ड—४।
३. वही : अध्याय—२, खण्ड—३।



प्रेम और सौन्दर्य के कवि घनानन्द

०

गिरीश चन्द्र तिवारी

हिन्दी साहित्य का मध्यकाल मुख्य रूप से शृंगारिक रचनाओं का युग था। रीतिबद्ध काव्य-प्रणयन की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर विकसित होती जा रही थी। राधा कृष्ण सुमिरन के बहाने सामान्य जन भी कविताई को धोखे में डाल कर कवि बनने का दावा करने लगे थे। इनके अतिरिक्त किंचित् ऐसे भी कवि थे जो रीतिमुक्त काव्य प्रणयन की ओर उन्मुख थे। इन कवियों के लिये काव्य साध्य भी था और साधन भी। इनकी रचनाओ में लौकिक प्रबन्ध काव्य, भक्ति एवं ज्ञान पर आधारित उपदेशात्मक काव्य, रीतिमुक्त लौकिक शृंगार प्रधान रचनाएं तथा नीति एवं उपदेशात्मक कविताएँ सहज प्राप्त होने लगी थीं। शुक्ल जी प्रभृति विद्वानों ने रीति ग्रन्थों से अलग इन स्वच्छन्द रचनाओं के आधार पर इसे स्वच्छन्द धारा के नाम से अभिहित किया है। इसमें संत एवं भक्त कवियों की रचनाओं, लौकिक प्रेम-कथानकों तथा दूसरे प्रसंगों द्वारा साहित्य की अन्तरात्मा का ज्ञान प्राप्त होने लगता है।

स्वच्छन्द-प्रेम-रचनाओं में लौकिक प्रेम तो प्राप्त होता ही है। कालक्रम से लौकिक शृंगार आध्यात्मिक स्वरूप भी ग्रहण करने लगता है। शनैः शनैः उनकी लोक-शृंगारपरक भावनाएं भगवद्-भक्ति का उदात्त रूप धारण कर लेती हैं। इस धारा के रचनाकारों में घनानंद भी ऐसे ही कवि हैं जिनका लौकिक प्रेम यह कहते हुए पारलौकिक हो जाता है।

'पहिचाने हरि कौन मों सो अनपहिचान को।'

इनके प्रेम में वैयक्तिकता तथा एकान्तिकता के साथ ही भावों का सहज आवेग भी प्राप्त होता है। उनका परिचय फारसी साहित्य से होने के कारण इनकी रचनाओं में सहजता एवं एकान्तिकता का सुमधुर संवेग भी व्यंजित होता है। वास्तव में इनका लक्ष्य काव्य को साध्य और साधन मानने की ओर था। स्वच्छन्द धारा के प्रमुख रचनाकार, प्रेममार्ग के अथक पथिक घनानन्द कविता के विषय में स्पष्टतः यह घोषित करते है :—

"लोग हैं लागि कवित्त बनावत मोहे तो
मोरे कवित्त बनावत।"

रीतिमुक्त कवि ठाकुर उन रीतिकालीन कवियों की रचनाओं को कृत्रिम ही मानते थे, जो उपमा, और तुक की सहायता से छप्पय, सवैया और कवित्त लिख कर कवि बनने का दमभरते थे। ये कवि कृत्रिम साधनों की सहायता से कवि बन जाया करते थे। इनकी काव्य प्रतिभा प्रयास साध्य होती थी।

"डेल सो बनाय आप मेलत सभा के बीच,
लोगन कवित्त की बो खेल करि जानो है।"

रीतिकालीन कवियों के विपरीत स्वच्छन्दधारा के रचनाकारों ने प्रेम के जिस एकान्तिक स्वरूप का चित्र अपनी रचनाओं में व्यक्त किया है वह रीतिकालीन प्रेम के अस्वाभाविक एवं अतिशयोक्तिपूर्ण चित्रण से सर्वथा भिन्न है। प्रेम का ऐसा स्वाभाविक, सहज एवं एकांगी रूप अन्यत्र कठिनता से प्राप्त होता है--

वा निरमोहिनी रूप की रासि
जऊ उर हेत न ठानति ह्वै हैं।
बारहि बार बिलोकि धरी धरी
सूरति तो पहिचानति ह्वै हैं।
ठाकुर या मन की परतीति है
जो पै सनेह न मानति ह्वै हैं।
आवत हैं नित मेरे लिए
इतनो तो बिसेषिकैं जानति ह्वै हैं।।

उपर्युक्त रचना में ठाकुर के सहज एवं स्वच्छन्द प्रवाह के साथ प्रेम की एकांगिता तथा स्वाभविकता का ऐसा चित्रण रीतिकालीन कवियों में मिलना असम्भव है।

स्वच्छन्द धारा के इन्हीं कवियों में प्रेम मार्ग प्रवीण और धीर पथिक तथा जवाँदानी का दावा करने वाले कवि शिरोमणि घनानन्द का आविर्भाव हुआ। वास्तव में ये प्रेममार्ग के प्रवीण और धीर पथिक थे। इनकी कविता समझने के लिये हृदय की आँखों में प्रेम की पीड़ा होनी चाहिए। इनका प्रेम रीतियुगीन कवियों की तरह परकीया प्रेम नहीं था और न यह प्रेम सर्वसामान्य को ग्राह्य हो सकता था। उनकी कविता की प्रत्येक पंक्ति में 'सुजान' के प्रति निर्भय और स्वच्छन्द प्रेम की व्यंजना मिलती है। यह प्रेम समाज के कठोर एवं कृत्रिम उपचारों से भी प्रभावित नहीं है। इन्होंने अपने प्रिय के प्रति जिस प्रेम की अनूठी व्यंजना प्रस्तुत की है वह सहज प्राप्य नहीं है। उनका प्रिय रमणीय है। उसका रूप आंखों से उतर कर हृदय में आह्लाद भर देता है, उसके नेत्रों की बंकिम चितवन लज्जा से लिपटी है तथा कितने ही रहस्यों का उद्घाटन करती है। इससे सर्वथा प्रेमानुभूति व्यक्त होती रहती है। प्रतिक्षण उसके मुख से सौन्दर्य निःसृत होता रहता है। उसकी कोमल कमनीय मुस्कान से रस निचुरता है, मुसकान के साथ ही उसके ओष्ठ स्वाभाविक गति से स्वर संचार करते हैं तथा मुस्कान बिखेरते हुए

उसके दांतों की चमक वक्षस्थल पर मोतियों की माला सी आभा प्रसारित करती रहती है। कभी वह प्रियतम से ललक कर बातें छेड़ती रहती है। वह बाला प्रेम और सौन्दर्य की मूर्ति बनी जगमगा रही है। सौन्दर्य की इस जगमगाहट से अन्तर्हित कामजन्य छटा स्वयमेव छहरने लगती है--

लाजनि लपेटी चितवन भेद भाय भरी,
लसति ललित लोल चख तिरछानि मैं।
छविको सदन गोरो बदन रुचिर भाल,
रस निचुरति मृदु मीठी मुसक्यानि मैं।
दसन दमक फैली हीये मोतिमाल होति,
छवि सो लड़कि प्रेमपगी बतरानि मैं।
आनन्द की निधि जगमगति छबिली बाल,
अंगनि अनंग रंग ढुरि मुरि जानि मैं॥

घनानन्द प्रेम की जिस पीड़ा का अनुभव करते हैं उसका सर्वसाधारण द्वारा अनुभव नहीं हो सकता। उनके विचार में प्रेमहीन व्यक्ति जड़ और बुद्धिहीन तथा हृदयहीन और निर्जीव भी हैं। वे स्वच्छंद प्रेम में अनभिज्ञ, मिलन तथा वियोग का रहस्य नहीं समझते 'प्रेम पीर' के अमर गायक कवि घनानन्द प्रेम की व्याख्या करते हुए 'सूधेपन' पर विशेष बल देते हैं --

अति सूधो सनेह को मारग है, जहाँ नैकु
सयानप बाँक नहीं।
तहं सांचि चले तजि आपनपौ झिझकैं
कपटी जो निसाँक नहीं॥
घन आनन्द प्यारे सुजान सुनो इत एक तें
दूसरो आँक नहीं।
तुम कौन धौं पाटी पढ़ै हो लला मन लेहु पै
देहु छटांक नहीं॥

उनका यह प्रेम निःशंक के लिये है। उनके प्रेम का मार्ग अत्यन्त सीधा तथा सरल है। इस मार्ग पर चलने वाले को अपनत्व की तिलांजली देनी पड़ेगी। पर इतना होते हुए भी उनका प्रेम कैसा है ? जिसमें वियोग की आशंका सर्वदा ही बनी रहती है। यह तो स्वयं उन्हें ही एक आश्चर्य और रहस्य सा प्रतीत होता है --

"यह कैसो संयोग न बूझि पड़े
जो वियोग में क्यों हूँ बिछोहत है।"

इस प्रेम में संभोगजन्य सुख का सर्वथा अभाव है। इसमें विरह वर्णन की स्वाभाविकता तथा आत्मनिवेदन की मौलिकता प्राप्त होती है। उनके इस विषम प्रेम में निष्ठुरता एवं सहनशीलता भी दर्शनीय है--

"कान्ह परे बहुतायत में अकलन की बेदन
जानौ कहा तुम।
हौ मनमोहन मोहे कछू न बिथा बिमनैन
की मानौ कहा तुम॥
बौरे बियोगिन्ह आप सुजान ह्वै हाय कछू
उर आनौ कहा तुम।
आरतिवन्त पपीहन को घन आनन्द जू
पहिचानौ कहा तुम॥"

उनका यह प्रेम वैयक्तिक होने से बौद्धिक न होकर हृदय पक्ष पर आधारित

है। इसमें लौकिक प्रेम की यथार्थता अत्यधिक दर्शनीय है एवं लौकिक पक्ष प्रबल और सशक्त है। प्रेम के अभिव्यंजनार्थ उन्हें रीतिबद्ध रचनाकारों की तरह किसी विशेष माध्यम की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। इनके शृंगार के सम्भोग और विप्रयोग के वर्णनों में कृत्रिम व्यापार-चित्रण की आवश्यकता नहीं होती। इनकी प्रेम और सौन्दर्य की अनुभूतियां प्रयास साध्य न होकर, भाषा की स्वाभाविकता तथा अलंकार के कोमल कलेवर में अपने आप ही व्यक्त होती हैं।

वास्तव में घनानन्द प्रेम मार्ग के अथक और धीर पथिक थे। यद्यपि उनके प्रेम में एकान्तिकता तो मिलती है पर वह कहीं भी निराशा में परिणत होती दिखाई नहीं पड़ती। उनमें एक प्रेमी का आसक्तिभाव भी है तथा प्रिय की निर्ममता के प्रति कठोर एवं करुण उलाहना भी। इस उपालेभ में घोर दैन्य तो प्रदर्शित किया गया है पर कहीं भी प्रतिकार की भावना नाममात्र भी नहीं मिलती। वियोग की अधिकता होने पर भी वे कभी निराशा की सीमा का अतिक्रमण नहीं करते। अनवरत अश्रु-प्रवाह में प्रियतम का चित्र नयनों में ज्यों का त्यों बना हुआ है। वह वियोग के अश्रु-जल से घुल कर धुंधला भी नहीं पड़ता प्रत्युत अधिकाधिक स्पष्ट ही होता जा रहा है। प्रेमी की आँखों के प्रत्येक बूंद से प्रियतम का चित्र सहज और मनोहारी रूप लेता जा रहा है अतः वह घुलता तो जा रहा है पर मिटता नहीं।

"लिखि राख्यौ चित्र यों प्रवाहरूपी नैननि पै
लहनि परति गति उलटि अनेरे की
× × ×
अधिकौ विचित्रताइ भो चित्त चितेरे को।।"

उस रूप की कमनीयता में शतशः वृद्धि होती जा रही है। अतः उसकी विचित्रता रमणीय होती जा रही है—
"ज्यों ज्यों निहारिये नेरे ह्वै ननैनि।
त्यों त्यों खरी निकरे सो निकाई।।"

प्रिय की ऐसी ही 'निकाई' से प्रभावित हो तथा उसके कटाक्ष-बाणों की चोट सहकर प्रेमी जीवित रहते हैं। ये प्रेम के वियोग-बाण सहने वाले योद्धा हैं। वे प्रेम-बोझ सहते सहते कूबड़े भी हो गये हैं और कटाक्ष की असह्य चोटो से विद्ध हो रहे हैं। उन पर एकमात्र कटाक्ष के निर्मम असह्य आघात का ही असर नहीं है वे तो विषम वियोग के दारुण ज्वर से भी पीड़ित हो रहे हैं। उन्हें अन्तरंग और बहिरंग दोनों ही ओर से जलना पड़ रहा है विचारे प्रेमी विरहियों की दशा ऐसी खौफ़नाक होती है। वे प्रेम के बोझ से दबे तो होते हैं फिर भी उन के प्राण निकलते नहीं। इसी भार से वे बेहोश

होते रहते हैं और दुबले हुए जाते हैं।

"संकट समूह मैं बिचारे घिरैं घुटैं सदा
जानी न परत जान कैसे प्रान ऊबरैं।
नेही दुखियानि की यहै गति अनन्दघन
चिंता मुरझानि सहै न्याय रहे दूबरैं।।"

आखिर प्रेमी की ऐसी दशा होती ही क्यों है? उसके भी कारण हैं।

पहिले अपनाय सुजान सनेह सों, क्यों
फिरितेह को तोरियैजू।
निरधार अधार दै धार मझार दई
गहिबांह न बोरियैजू!
घन आनंद अपने चातिक कों जून बांधि लै
मोह न छोरियै जू।
रस प्याय कै ज्याय बढ़ाय के आस बिसास में
यों बिस घोरियेजू।।

पहले तो वे प्रिय द्वारा अपना लिये जाते हैं फिर प्रिय अकारण ही उनसे संबंध तोड़ने लगता है। वह यह नहीं सोचता कि निराधार को मझधार में डूबने से उबार लेना तथा प्राण दान देना वैसे ही है जैसे चातक रूपी प्रेम को दिल बहलाने के लिये फंदे में कस लिया गया हो और उसके मोह से मुक्त नहीं होना चाहता हो। यह तो मनुष्यता के विरुद्ध है कि पहले तो मरने से बचाने के लिए रसपान कराकर जीने की आशा बढ़ा दी जाय फिर विश्वास में विष घोलना क्या उचित है?

पर किया क्या जाय। प्रिय ने तो पहले चातुर्यपूर्वक रसमय बातें आरम्भ कीं और अब विरह की अग्नि लगा कर व्यथा को द्विगुणित कर विश्वास घात के कपट से दग्ध कर रहा है। इधर आंखें प्रिय को जब तक देख नहीं लेतीं इन्हें चैन नहीं पड़ता। पता नहीं कैसी शुभ घड़ी में प्रिय का इनसे साक्षात्कार हुआ था। बुद्धि तो विचार मार्ग पर दौड़ कर श्लथ हो गई है तथा विश्वासघाती एवं निर्मोही प्रिय के मोह-मिठास में ऐसी ठगी गई है कि उससे सोच विचार की वृत्ति समाप्त ही हो गई है —

"पहले घन आनन्द सींचि सुजान कही
बतियां अति प्रेम पगीं।
अब लय बियोग की लाय बलाय बढ़ाय
बिसास दगानि दगी।
अँखियां दुखियानि कुबानि परी, न कहू
लगैं कौन धरी सुलगी।
मति दौरि थकीं न लहैं ठिक ठौर, अमोही
के मोह मिठास ठगी।

रीतिकालीन कवियों ने भी प्रिय के फेर में पड़ कर अपना सब कुछ खो बैठने की आंखों की ऐसी दशा का वर्णन किया है। आचार्य कवि देव की नायिका की आंखें कहीं तो "संयोगिनी ह्वै बैठीं हैं वियोगिनी की अंखियों" का रूप ले चुकी हैं और कहीं वे 'लाल' के प्रेमरस के लालच में पड़ कर" मधु की मखियाँ" हो गई हैं —

× × ×

"देव कछ अपनो बस ना रस लालच, लाल
चितैं भइ चेरी।

बेगि ही बूड़ि गई पँखियां अंखियां मधु की मखियां भइ मेरी ।।"

आचार्य देव की विरहणियों की आंखों के चित्रण में स्वतंत्र व्यक्तित्व की चेतना आरोपित की गई है । देव में विवशता है तो घनानन्द में वियोग के स्थायी आवेग की तीव्रता । घनानन्द में आंखों का तीव्र आत्मसमर्पण नहीं उन्हें तो 'कुवानि' पड़ गई है । इधर देव की नायिका की आँखें 'लाल' के रूप सिंधु में गिर कर तिरछे अड़ गई हैं और सब कुछ गँवा बैठी हैं। वे अपनी इस प्रयोग भावना को मूर्त्त रूप देने में सफल हैं ।

घनानन्द की रचनाओं में इस प्रकार के विरह निवेदन तथा उपालंभों की कमी नहीं है; प्रिय की जिस निर्ममता का वर्णन इन रचनाओं में मिलता है उससे मन में ऊब पैदा नहीं होती । वरन् उससे किंचित् चमत्कार की मात्रा में वृद्धि ही होती है। उनके प्रेम की पीर में मार्मिकता है । उनका काव्य भारतीय भक्त कवियों की अनन्यता सूफी संतों के प्रेम की पीर तथा फारसी मसनवियों के प्रिय की निष्ठुरता एवं मर्मस्पर्शिता का संगम है । निस्सीम-वियोग-व्यथा तथा भावों की अभि-व्यक्ति की सूक्ष्मता से उनकी रचनाएं मर्मभेदिनी हो गई हैं । कहीं प्रिय को देख कर अगर मन अवश हो गया है तो उससे धैर्य का बांध भी टूट गया है । अगर प्रिय से आँखें मिल गई हैं तो उनसे लज्जा ही समाप्त हो गई है । देह- रूपी किले में प्रेम की दुहाई फिरने लगी है और साथ ही लोक मर्यादा भी बन्दिनी बना ली गई है । बुद्धि की तो कुछ न पूछिए वह बेचारी तो दासी बन कर ही रह गई है ।

इतना होते हुए भी प्रिय का निर्मोही होना 'अनीति का पाठ' ही पढ़ना तो हो सकता है । प्रेमी को प्रिय के विषय में यह आशंका हो आती है कि कहीं प्रिय अन्य किसी से प्रेम तो नहीं करने लगा है। उसकी आत्मग्लानि बढ़ती जा रही है। उसे पुरानी बातें स्मरण हो आती हैं फिर वह अपनी वर्तमान दशा की ओर संकेत करता है । प्रिय की निष्ठुरता चरम सीमा को पहुंच जाती है और प्रेमी की स्नेहाकुलता बढ़ जाती है । वह किसी प्रकार अपनी असह्य वेदना से प्राणों को सम्भाले बैठा है—

बहुत दिनानि की अवधि आसपास परे,
खरे अखरनि मरे हैं उठि जान कौ ।
कहि कहि आवत छबीले मनभावन कौं
गहि गहि राखति है दै दै सनमानि को ।
झूठी बतियानि की पत्यानि तें उदास ह्वै के,
अब न घिरत घन आनन्द निधान कौ ।
अधर लगे हैं आन करि कै पयान प्रान ,
चलन चहत ये संदेशो लै सुजान कौ ।।

घनानन्द का प्रेम वास्तव में सामान्य प्रेम से बहुत आगे हैं । यहां यह कहना अत्युक्ति पूर्ण न होगा कि उन के प्रेम की

पीर लौकिकता की सीमा पार कर गई है । उनके प्रेमी के समक्ष मीन और पतंग की उक्ति तुच्छ सी प्रतीत होती है । प्रेमी की आंखों को प्रिय-दर्शन की बुभुक्षा है जो कभी भी समाप्त नहीं होती ।

वह प्रिय-रूप की आभा जब तक प्राप्त नहीं कर लेता, उसे सदैव अमावस ही लगता है । उसके प्रिय रूप-दर्शन की भूख कभी भी शांत नहीं होती मीन तो निराशा में अपने प्रिय दर्शन की पिपासा लिये जीवन ही त्याग देता है और पतंग की भी कुछ ऐसी ही दशा है । पर घनानन्द इन्हें कायर समझते हैं । उनका प्रेमी प्रेम और विरह के समर में कटाक्ष-वाण की निर्मम चोट तथा वियोग-व्यथा की करुण ज्वाला सहन करता हुआ दुबला होकर भी निराश नहीं होता । और कहता है--

"पहिचानै हरि कौन मोंसो अनपहिचान कौं।
त्यों पुकार मधि मौन कृपा कान मधि
नैन ज्यों ।।"

घनानन्द का आरम्भिक प्रेम लौकिक होता हुआ भी पारलौकिकता की सीमा को पहुंच गया है क्योंकि उनकी वियोग की चरम साधना सामान्य प्रेमी की व्यथा से बहुत आगे है । उनका संयोग वियोग से आपूरित है । उनका प्रिय-प्रेम अक्षय है तथा उसका सौन्दर्य रमणीय और अनिर्वचनीय है ।

"घन आनन्द सुख ऐन, कहौ कृपानिधि
कौन हित ।
मरत पपीहा नैन दरसो पै बरसौ नहीं ।।"



आत्मा-सदृश व्यापक

अक्षर-ज्ञान

०

बलदेवराज गुप्ता

'सप्त-सिन्धु' के मार्च १९६५ के अंक में प्रकाशित अपने लेख 'अक्षरों का अध्यात्मिक अध्ययन' के उपसंहार में मैंने लिखा है कि आत्मा व परमात्मा की भांति अक्षर-ज्ञान भी अत्यन्त गूढ़ है। उपनिषदों ने तो आत्मा के सम्बन्ध में 'नेति' 'नेति' कह कर हिम्मत हार दी है। निस्संदेह अक्षर-ज्ञान भी अत्यन्त गूढ़ है। अत्यन्त व्यापक है। सर्वप्रथम तो 'अक्षर' शब्द का अर्थ ही समझना कठिन है। अक्षर-ज्ञान तो उसके आगे की सीढ़ी है। अक्षर की परिभाषा पर भी उपनिषदों का 'नेति' 'नेति' अर्थात् यह भी नहीं, यह भी नहीं) सिद्धान्त लागू होता है।

भाषा-शास्त्री अक्षर से तात्पर्य syllable समझते हैं। यह शब्द ग्रीक के शब्द syllabe (जो एक में बंधा हो) से सम्बन्धित है। इस प्रकार उनके अनुसार Syllabe (अक्षर) सदा स्वर में बंधा रहता है। बिना स्वर से व्यञ्जन अक्षर नहीं होगा। अतः भाषा शास्त्रियों की परिभाषा अनुसार अक्षर वह ध्वनि है जिसमें (कम से कम) एक स्वर हो (चाहे व्यञ्जन कितने भी हों) जैसे क = क्+अ इ, अच्, ये सभी अक्षर हैं। पाइक महोदय अक्षर की परिभाषा इस प्रकार देते हैं :— '

'A syllable is a single unit of movement of the lung intiator which includes one crest of speed' इन के अनुसार अक्षर फेफड़े के एक स्पंद से उच्चरित ध्वनि इकाई है। अन्यत्र एक स्थान पर वे अक्षर में Peak (शीर्ष) को भी सम्मिलित करते हैं। श्री भोलानाथ तिवारी के द्वारा दी गई अक्षर की परिभाषा (एक झटके से उच्चरित ध्वनि) भी इससे मिलती-जुलती है। स्टेट्सन अक्षर की तीन सीढ़ियां प्रारम्भ, ऊर्ध्वता और अन्त मानते हैं। जैसा कि पहले लिख चुका हूँ कि शब्द व भाषा शरीर है तो

अक्षर आत्मा है । आत्मा का गुण व्यापकता है । आत्मा अनादि अनन्त है। अक्षर भी व्यापक अनादि व अनन्त है । जैसे कि वाक्य-पदीय के ब्रह्मकाण्ड में श्री भर्तृहरि ने भी लिखा है 'अनादि-निधनं ब्रह्म शब्द-तत्त्वम् यदक्षरम्'

अक्षर को व्यापक सिद्ध करने के लिये उपर्युक्त परिभाषाओं का खण्डन करना उचित ही होगा । अक्षर का पर्यायवाची शब्द syllable (जो किसी में भी बन्धा हो) उचित नहीं । अक्षर शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के क्षर् (क्षय होना, चलना) से है । दूसरा अर्थ यहां संगत प्रतीत नहीं होता जो क्षय न हो वही अक्षर है । जिसको क्षय होने का भय ही नहीं वह किसी के साथ क्यों बन्धा रहे । यदि स्वरों से युक्त ही व्यञ्जन ध्वनि को अक्षर माना जाए तो अक्षर व शब्द भेद नहीं रहेगा । जैसे तमिल भाषा के अनेक धातु वे (व्+ऐ) ती (त्+इ) अथवा संस्कृत के दा, पा, पिब आदि सभी शब्द अक्षर कहलाएंगे जबकि ये अक्षर नहीं शब्द हैं । आत्मा में शरीर का प्रवेश नहीं होता अपितु शरीर में आत्मा का प्रवेश होता है तब आत्मा को शरीर से अलग करके दिखाया नहीं जा सकता यानि आत्मा के टुकड़े नहीं किये जा सकते । उपर्युक्त अक्षर की परिभाषा के अनुसार वै आदि अक्षर रूपी आत्मा के टुकड़े हो सकते हैं । यदि स्वरों से युक्त ध्वनि को अक्षर मानें तो बेचारे व्यञ्जन किसी भी कोटि में नहीं आयेंगे । संस्कृत की अक्षर शब्द की व्युत्पत्ति अनुसार क् च् आदि के टुकड़े नहीं हो सकते । (ये क्षय नहीं हो सकते) अतः ये अक्षर कहलाने चाहिएं जबकि उपर्युक्त परिभाषा इन्हें अक्षरों में स्थान देने से इंकार करती है । अफ्रीका की कई भाषाओं में ऐसे शब्द मिलते हैं जिनमें स्वरों का बिल्कुल अभाव है जैसे एक शब्द 'ङग्ङग्ङ' में एक स्वर भी नहीं यानि इस शब्द में एक भी अक्षर नहीं । अक्षर ही न हों तो इन शब्द का निर्माण कैसे ? अक्षर ही शब्द सृष्टि का निर्माण करते हैं । तामिल-साहित्य के प्रसिद्ध-ग्रंथ तिरुक्कुरल में सर्वप्रथम ही इस विषय को लिया गया है —

'अकर मुदल एलुत् तेंल्लकु
आदिबगवन मुदट्रेयुलकु'

अर्थात् जैसे आदि भगवान ने सर्वप्रथम सृष्टि का निर्माण किया, उसी प्रकार अक्षर 'अ' से सब शब्दों का जन्म हुआ' ।

यदि उपर्युक्त परिभाषाओं को उचित माना जाए तो सबसे बड़ी कठिनाई यह होगी कि एक शब्द में अक्षरों की संख्या का पहचानना कठिन होगा । कई बार एक स्वर दो या दो से अधिक व्यञ्जनों के बीच में आता है । तब उस स्वर को प्रथम अक्षर के साथ गिना जाए या दूसरे अक्षर के साथ । जैसे तमिल-भाषा का एक

शब्द पलम्–फल है । उपर्युक्त–परिभाषा को लागू करने के लिये इस शब्द के टुकड़े इस प्रकार होंगे प्+अ+ल्+अ+म् । भाषा-शास्त्रियों के अनुसार इसमें दो स्वर हैं अतः ये दो अक्षर होंगे । इस प्रकार एक अक्षर प दूसरा लम्, किन्तु पल् और अम् भी दो अक्षर हो सकते हैं । क्या पता कौन सा ठीक है । इसमें पाँच अक्षर मानने से सबसे बड़ा लाभ यह है कि व्यञ्जन भी अक्षरों में आ सकते हैं और अफ्रीका आदि सभी भाषाओं के स्वरों रहित शब्दों में आए व्यञ्जन अक्षर कहला सकते हैं । कबीर आदि का निम्नलिखित पाठ भेद से जो दोहा मिलता है उसमें अक्षर का अर्थ उपर्युक्त भाषा-शास्त्रियों द्वारा दी गई परिभाषा अनुसार दीखता है—

'पोथी पढ़२ जग मुआ, पंडित भया न कोय।
ढाई अक्षर 'प्रेम' के पढ़े सो पण्डित होय।।"

यहाँ 'प्रेम' शब्द में प् र् ए, म् अ टुकड़े करने पर कबीर जी के अनुसार दो व्यञ्जन दो स्वरों से युक्त दो अक्षर और शेष एक व्यञ्जन आधा अक्षर होगा । प्रथम तो अक्षर अक्षय न होने से अक्षर का आधा होना ही असम्भव है । भाषा-शास्त्री तो प् र् ए को एक अक्षर मानेंगे और म् अ को दूसरा अक्षर जोकि असम्भव है । क्योंकि संयुक्त ध्वनियां शब्द होंगी न कि अक्षर (जिसके आगे कोई भी टुकड़े नहीं किए जा सकते)

पाइक व श्री तिवारी जी की परिभाषाएं अस्पष्ट हैं । झटका या श्वास तो मनुष्य मनुष्य पर निर्भर है । कई मनुष्य फेफड़े के स्पन्द से ज्यादा ध्वनियां या एक ध्वनि की पुनरावृत्ति कर सकते हैं । जैसे अ अ अ अ....आदि । झटके से यह अवश्य ही नहीं कि केवल स्वर या स्वर-युक्त ध्वनि ही निकले । व्यञ्जन ध्वनि भी निकल सकती है । स्टेट्सन अक्षर की जो तीन सीढ़ियां मानते हैं उसमें गहरी विचार धारा का आभास शायद साधारण पाठकों को न हुआ हो । साधारण रूप से अक्षर का विभाजन न होने से उसका आदि अन्त नहीं बताया जा सकता । चूंकि अक्षर आत्मा की भांति व्यापक है। प्रथम आरम्भ होता है । फिर ऊर्ध्व गति से अन्त तक फैल जाता है और स्थायी रहता है । अक्षर की स्थिरता को ध्यान में रखते हुए शायद कई लोग इसीलिये 'वर्ण माला' अथवा लिपि के चिह्न को ही अक्षर कहते हैं । बहुत स्थान पर अक्षर का प्रयोग इसी अर्थ में मिलता है। जैसे समानाक्षर (मूल स्वर) सन्ध्यक्षर (संयुक्त स्वर) । किन्तु यदि वर्षजैला के लिखित चिन्ह को ही अक्षर मानें तो कई भाषाओं की वर्णमालाओं के लिखित चिह्नों में एक से अथवा दो से अधिक अक्षरों का भी उच्चारण होता है । बच्चों की सुविधा के लिये क् च् आदि अक्षरों को अ 'स्वर' से संयुक्त करके

प्राय: लिखा जाता है ताकि वे आसानी से उच्चारण कर सकें। [इसीलिये शायद तमिल वैयाकरण स्वरों को आत्मा (जीवन) और व्यञ्जनों को शरीर कहते हैं। आत्मा व शरीर एक साथ ही रहने से कार्य-सिद्ध होता है।] इसी प्रकार Cherokee भाषा में कई वर्णमाला के ऐसे शब्द (चिह्न) हैं जिनका उच्चारण दो से अधिक ध्वनियों में है जैसे गलीवन (H. A.) ने कुछ मूल लिखित चिह्न व उच्चारण अपनी पुस्तक "An Introduction to Descriptive Linguistics" में इस कार दिए हैं।

लिपि		उच्चारण
I	=	tla
G	=	nah
K	=	dzo
W	=	—n

इस प्रकार लिपि के चिह्नों को अक्षर मानें तो त्ल, न्ह, आदि अक्षर होंगे जिनके तीन टुकड़े हो सकते हैं। हां, लिपि के प्रत्येक स्वर को अक्षर माना जा सकता है और व्यञ्जन को भी यदि उसका उच्चारण स्वतंत्र रूप से हो। किन्तु अक्षर को लिपि के चिह्नों तक सीमित नहीं किया जा सकता। कई ऐसे भी अक्षर हैं जो वर्णमाला में नहीं आते। जैसे हिन्दी में केवल एक ल् है, संस्कृत में वैदिक ळ् (ऊँ अग्निमीळे पुरोहितम्......... ऋ १.१.१) भी है। तमिल में तीन ल् हैं और दो 'र्' हैं। इसी प्रकार हिन्दी व संस्कृत में एक 'ए' व एक 'ओ' स्वर हैं जबकि तमिल में इस प्रकार के दो 'ए' 'एँ' दो 'ओ' 'ओँ' उपलब्ध हैं। किन्तु हिन्दी-संस्कृत में ये अक्षर वर्ण-माला में नहीं आते। अक्षरों का क्षेत्र केवल 'वर्णों तक ही सीमित नहीं। यदि अक्षरों को वर्णमाला तक सीमित रक्खें, तो अक्षर व्यापक नहीं हो सकता। लिखित अक्षर तो केवल $\frac{१}{१०}$ इञ्च स्थान तक ही सीमित रहेगा। ज्यादा से ज्यादा आकार बना कर भी लिखें तो एक या दो फुट से अधिक स्थान तो नहीं घेरेगा। दूसरे अक्षर लिखित रूप में तो विज्ञान की प्रगति से ही आए। अक्षर अनादि काल से चले आ रहे हैं। और व्यापक हैं। अक्षरों की व्यापकता के कारण ही हम शीघ्र इनको ग्रहण कर सकते हैं। अतः अक्षर केवल लिखित ध्वनि ही नहीं अपितु छोटी से छोटी अनादि अनन्त अक्षय उच्चरित ध्वनि है जो व्याप्त हो जाती है और शब्द-सृष्टि का निर्माण करती जाती है। कई लोग प्रश्न कर सकते हैं कि छोटी सी ध्वनि कैसे व्याप्त हो सकती है? जैसे हमारे शरीर के किसी अंग पर $\frac{१}{१२}$ इंच से भी कम स्थान पर यदि विच्छु काटे तो वह वेदना उसी स्थान पर ही तक नहीं रहती, अपितु समस्त शरीर में फैल जाती है। इसी प्रकार 'क्' आदि उच्चरित

अक्षर भी ब्रह्माण्ड में अवश्य व्याप्त हो जाता है । हां दुर्बल व सीमित श्रवण शक्ति के कारण वह सुनाई न दे तो अलग बात है। फोन पर अक्षर-समूह कितनी ही दूर तक व्याप्त हो जाते हैं। अक्षर यदि व्याप्त न होते तो अक्षर-ज्ञान न होता । वे वक्ता तक ही सीमित रहते । श्रवण इन्द्रियों तक न पहुंच पाते । अक्षर व्यापक ही नहीं अपितु नित्य भी रहते हैं। यदि अक्षर नित्य न होते तो शब्द रचना असम्भव होती । जैसे 'अक्षर' शब्द का उच्चारण करते समय 'अ' बोलते ही नष्ट हो जाता, फिर क्ष् बोलते ही नष्ट हो जाता तो अक्षर-समूह रूपी शब्द स्थिर न रहने से शब्द कैसे सुन पाते । व्यापक शब्द का अर्थ केवल 'अत्यधिक विस्तार' ही नहीं अपितु 'सत्ता' भी है। जैसे 'ईश्वर सर्व-व्यापक है' का अर्थ 'ईश्वर की सत्ता सर्वत्र है । संस्कृत के वि + आप् (प्राप्त होना) से व्यापक का संबंध होने से भी यही अर्थ है कि जो विशेष रूप से (दूर दूर के) स्थान को प्राप्त करता (पहुँचता) हो । हां अक्षर सर्व व्यापक न हो, यह अलग बात है। अक्षर तो आत्मा के सदृश शरीरों में ही व्याप्त है । शरीरों में प्रवेश करने से पूर्व मृत-शरीर से निकला आत्मा प्रथम वायु मण्डल में ही घूमता रहता है और फिर शरीर में प्रवेश करके शरीर में ही व्याप्त अनश्वर रहता है । इसी प्रकार अक्षर भी प्रथम ब्रह्माण्ड वायु मण्डल में व्याप्त होता है। शब्द रूपी शरीर का निर्माण होने पर यह शब्द के बीच में ही समाया रहता है । शरीर की तरह शब्द चाहे कितना ही बढ़ता जाए, अक्षर स्थायी ही रहते हैं। भाषा रूपी संसार में शब्द रूपी नए नए शरीरों के निर्माण होने पर भी अक्षर वही अनादि काल से चले आए व्याप्त रहते हैं। शरीर के विभागों की तरह शब्द -विभाजन तो हो सकता है जैसे शब्द के आरम्भ में, शब्द के मध्य, में आदि किन्तु अक्षरों का विभाजन असम्भव है।

अन्त में इतना लिखना ही पर्याप्त है कि आत्म-ज्ञान सदृश अक्षर-ज्ञान का पारावार नहीं । अक्षरों के चमत्कार का समझना भी सरल कार्य नहीं। शरीर का कोई अंग पाप करता है तो आत्मा भीतर से बोलती है और चेतावनी देती है। शब्दों में भी अक्षर रूपी आत्मा अवश्य ही बोलती है । इसी लिये प्रत्येक शब्द में प्रयुक्त प्रत्येक अक्षर का अर्थ होता है जैसे अ=न के अर्थ में इ=जाना ई (तमिल) = देना उ = प्रजापति क=जल । अक्षरों का अर्थ न होता तो व्युत्पत्ति शास्त्र की भी आवश्यकता न होती । श्री रघुनन्दन शास्त्री जी ने तो चिह्नित=अक्षर के महत्त्व पर भी प्रकाश डाला है। ($\frac{3}{5}\overset{1}{\text{ई}}\frac{2}{4}$ / 6 7) इ अक्षर कैसे सात-आठ स्थानों का चक्र काट रहा है। अक्षर का गूढ़ व व्यापक =ज्ञान होने से

ही वेद—शास्त्रों ने परमात्मा को अक्षर कहा है । अक्षर उच्चारण की गति का भी कम महत्त्व नहीं । 'ओ३म्' शब्द में 'अ' ('उ' 'म्' तीन अक्षर हैं । 'अ' उच्चारण करते समय मुंह का खुले रहना का अर्थ है 'अभी जीव का झुकाव प्रकृति की ओर है ।' 'उ' के उच्चारण में होंठ थोड़े बन्द रहते हैं । और थोड़े खुले रहते हैं जिसका अर्थ 'अब जीव का झुकाव प्रकृति व परमात्मा' दोनों के प्रति है । 'म्' अक्षर के उच्चारण में दोनों होंठ बन्द रहते हैं जिसका अर्थ है कि 'जीव अब शान्त अवस्था में प्रकृति से विमुख हो कर परमात्मा के ध्यान में ही अन्तर्लीन है ।'

केवल **एक अक्षर** का ज्ञान भी विद्वत्ता की अन्तिम चरम सीमा तक पहुँचा सकता है कबीर का निम्नलिखित दोहा (कुछ पाठ-भेद एवं परिवर्तन के साथ) अक्षर की महिमा के लिये कितना उपयोगी है इससे बढ़ कर अक्षर के सम्बन्ध में कहने की आवश्यकता नहीं रहती ।

'पोथी पढ़ पढ़ जग मुआ,
पण्डित भया न कोय ।
एको अक्षर प्रेम से,
पढ़े सो पण्डित होय ।'



आज के युग में संस्कृत भाषा की उपयोगिता

○

भद्रसेन दर्शनाचार्य

यह सर्वसम्मत बात है कि संसार के पुस्तकालय की सर्व-प्राचीनतम पुस्तक ऋग्वेद है। जिसकी भाषा देववाणी अर्थात् संस्कृत है। वेद ही नहीं बल्कि प्राचीन आर्यों का जितना भी साहित्य है वह सब संस्कृत भाषा में है। इसी भाषा के द्वारा प्राचीन भारतीय अपना प्रतिदिन का सम्पूर्ण व्यवहार चलाते थे। वेद, उपवेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, वेदांग, दर्शन, पुराण इत्यादि शाखाओं और उपशाखाओं के हजारों ग्रन्थ एवं रामायण, महाभारत तथा भास, कालिदास आदि लौकिक कवियों के नाटक और महाकाव्य आदि आज भी संस्कृत भाषा की व्यापकता का परिचय दे रहे हैं। प्राचीन भारत और भारतीयों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने का एकमात्र साधन संस्कृत साहित्य ही है क्योंकि उनका सारा का सारा इतिहास, धर्म, संस्कृति, सभ्यता इत्यादि सर्वस्व इसी भाषा में ही ओतप्रोत हैं। वस्तुतः साहित्य ही समाज का दर्पण या पार-दर्शक यन्त्र होता है, जिसके द्वारा हम उसके तात्कालीन इतिहास, धार्मिक-क्रियाकलाप, रीति-रिवाज, रहन-सहन, सामाजिक-पारिवारिक और राजनैतिक व्यवस्था, एवं सांसारिक उन्नति के सम्बन्ध में सही दर्शन कर सकते हैं। विद्वानों का कथन है कि किसी की सभ्यता और संस्कृति का प्रधान वाहन उसका साहित्य ही होता है। समाज के सदस्य तो अपने जीवन का क्रिया-कलापपूर्ण करके अगले राह के राही बन जाते हैं तब केवल उनका साहित्य ही अवशिष्ट होता है, जो पीछे आने वाली पीढ़ियों को उनका परिचय या राम कहानी बताता है। अतः प्राचीन भारत और भारतीयों के सम्बन्ध में हर क्षेत्र की जानकारी प्राप्त करने के लिये संस्कृत भाषा की उपयोगिता को किसी भी दृष्टि से ओझल नहीं किया जा सकता।

वेदादि ग्रन्थों में मानव-जीवन के

प्रत्येक पहलू के विकास के लिये अपार ज्ञान का भण्डार भरा हुआ है । प्राचीन तपः पूत भारतीय ऋषियों ने जीवन के हर सुख और ऐश्वर्य को त्याग कर एक साधना का जीवन व्यतीत करते हुए जिन ब्राह्मण, उपनिषद् और दर्शन आदि साहित्य का निर्माण किया उन "गागर में सागर" भरे हुए जीवन के अनेकों वर्षों के अभूत पूर्व अनुभवों को ओझल करना जहाँ एक कृतघ्नता वाली बात है, वहां मानव समाज को जीवन के अनुभवों से भरी हुई ज्ञानराशि से केवल पुरातन कह कर वञ्चित करना कोई बुद्धिमत्ता की बात नहीं है । उस अपार ज्ञान राशि को प्राप्त करने का एक मात्र माध्यम संस्कृत भाषा ही है ।

जहाँ प्राचीन आर्यों का सारा जीवन संस्कृत भाषा से ओत प्रोत था, वह ! आज भी भारतीयों का सारा धार्मिक क्रिया कलाप, मुण्डन, यज्ञोपवीत और विवाह आदि संस्कार तथा तीर्थ, मन्दिर और दीपावली इत्यादि पर्वों का बहुत कुछ भाग संस्कृत भाषा के द्वारा ही सम्पन्न होता है । एक दो ही नहीं लाखों व्यक्ति प्रतिदिन पूजा और स्नान आदि के समय संस्कृत भाषाकी गीता एवं विभिन्न स्तोत्रों के श्लोकों का उच्चारण करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं । जिसको देख कर ऐसा अनुभव होता है कि संस्कृत भाषा प्राचीन काल में ही नहीं अपितु आज भी भारतीयों की रग रग में समाई हुई है ।

खगोल, तिथि, नक्षत्र तथा फलित विद्या सम्वन्धी ज्योतिष शास्त्र का प्राचीन साहित्य भण्डार, सब से अधिक संस्कृत भाषा में है । जो आज भी सहस्रों की जीविका और लाखों के लिये एकादशी, अमावस्या आदि तिथि और सूर्य चन्द्र ग्रहण आदि नक्षत्रों के ज्ञान के साथ विवाह आदि अवसरों पर व्यवहार का सहारा है । एक दो नहीं सैंकड़ों व्यक्ति फलितार्थ ज्ञान के लिये आज भी चक्कर काटते हुए मिल जायेंगे । ज्योतिष विद्या के अंग भूत खगोल, तिथि, नक्षत्र आदि के ज्ञान के लिये भी संस्कृत भाषा का कम महत्त्व नहीं है ।

मानव समाज को दुःख, कष्ट देने वाली चीज़ों में से बीमारियों का एक विशेष स्थान है । दुःख के कारणभूत रोगों के निवारणार्थ चिकित्सा की कई प्रक्रियायें हैं, उनमें आयुर्वेद की भी गणना होती है । आज के समाज के लिये अत्युपयोगी आयुर्वेद का सारा का सारा विज्ञान संस्कृत भाषा में ही है । चिकित्सा विद्याविशेषज्ञ धन्वन्तरी, चरक और सुश्रुत आदि ऋषियों की अपूर्व साधना के फलस्वरूप आयुर्वेद से आज भी लाखों व्यक्ति रोग निवारण के साथ स्वास्थ्य प्रदान करते हुए समाज की स्तुत्य सेवा कर रहे हैं । सारा जीवन साधना करके

अनुभवों और परीक्षणों से अनेकों व्यक्तियों ने जिस परमोपयोगी, परमोपकारक विषय का आविष्कार किया है, जो आज भी लाखों व्यक्तियों के लिये जीविका और जीवन प्राप्ति का साधन है, उस महत्त्व-पूर्ण विषय की एकमात्र बोधिका संस्कृत भाषा है, जिसके सम्बन्ध में कुछ कहना सूर्य को दीपक दिखाने के समान ही है।

अन्य भाषाओं की अपेक्षा संस्कृत भाषा की एक विशेष विशिष्टता यह है कि इसमें भू आदि सहस्रों धातुएं हैं जिनसे व्याकरण की प्रक्रिया के अनुसार प्रत्येक शब्द का निर्माण होता है, अतः व्यवहार की सुविधा के लिये आवश्यकता के अनुसार, नए नए शब्दों का निर्माण हो सकता है अर्थात् इसमें शब्द राशि के विकास की पूर्ण सुविधा है। प्रत्येक शब्द प्रायः किसी न किसी धातु से निष्पन्न होता है, अतः उसका अर्थ भी उस धातु के द्वारा सरलता से जाना जा सकता है तथा किसी वस्तु का यह नाम क्यों है इसका भी बोध हो जाता है, अन्य भाषाओं की तरह संस्कृत भाषा में किसी वस्तु को किसी नाम से ऐसे ही नहीं पुकारा जाता है बल्कि गुण या कर्म के अनुसार उसका वह नाम रखा जाता है। जैसे कि संस्कृत में Principal के लिये आचार्य शब्द आता है, जोकि आङः उपसर्ग पूरक चर् धातु से बनता है जिसका अभिप्राय है कि जो अपने विद्यार्थियों के ज्ञान, बुद्धि और सदाचार का विकास करे।

धातुओं से शब्द निर्माण की प्रक्रिया की विशिष्टता के कारण ही संस्कृत भाषा जहाँ भाषा शास्त्र का आधार है वहां अनेक भाषाओं की जननी होने का भी श्रेय रखती है। जैसे कि डा० वेले टाइन ने लिखा है "संस्कृत भाषा ही सब भाषाओं की जननी है।" मि० डब्ल्यू. सी. टेलर—"युरोप की समस्त भाषायें संस्कृत से निकली हैं" तथा स्केझल—"संस्कृत के समान पूर्ण भाषा संसार में और है ही नहीं" इस बात की जहां विविध भाषाओं के अध्ययन से पुष्टि होती है वहां इसकी साक्षी विविध देशों के विश्व-विद्यालयों में संस्कृत भाषा के बढ़ते हुए अध्ययन से भी यही सिद्ध होता है, अफगानिस्तान में तो संस्कृत के अध्ययन को विश्वविद्यालयीय स्तर पर अनिवार्य स्थान दिया गया है। विश्व भाषा जननी की सिद्धि के लिये इससे और प्रबल प्रमाण दूसरा क्या हो सकता है।

आज भारत में संस्कृत का और भी महत्त्व बढ़ गया है, क्योंकि संविधान की पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार, २६ जनवरी १९६५ से हिन्दी भाषा को राष्ट्रभाषा के रूप में व्यावहारिक स्थान दे दिया गया है। विविध विद्याओं और क्षेत्रों सम्बन्धी हिन्दी भाषा के गए शब्द भण्डार के विकास का एक मात्र सहारा संस्कृत भाषा

ही है। इसी के द्वारा ही हिन्दी भाषा के नए शब्दों की आवश्यकता को पूर्ण किया जा सकता है क्योंकि दोनों में माँ बेटी का सम्बन्ध है। कुछ व्यक्तियों को संस्कृत निष्ठ हिन्दी के शब्दों की कठिनता का सन्देह रहता है, परन्तु यह केवल भ्रम मात्र ही है। क्योंकि अधिकतर किसी शब्द की सरलता और कठिनता प्रचार पर ही निर्भर होती है, जो शब्द आरम्भ में कठिन दिखाई देते हैं वे ही अधिक प्रचलित होने पर स्वतः सरल दीखने लग जाते हैं। हिन्दी भाषा के लिये संस्कृत भाषा की महत्ता इससे भी सिद्ध होती है कि पंजाब के किसी भी कालिज में हिन्दी का प्रोफैसर होने के लिये हिन्दी **M. A.** के साथ **B. A.** स्तर की संस्कृत भाषा का ज्ञान होना अनिवार्य है।

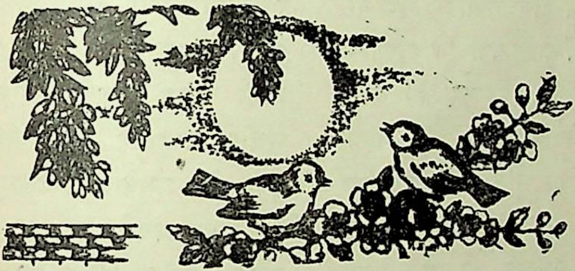
उपरोक्त विशिष्टताओं के साथ संस्कृत भाषा की कुछ और भी विशिष्टताएं हैं जिनके कारण आज के युग में संस्कृत भाषा की बहुत उपयोगिता है, यथा पुरातत्त्व अन्वेषण सम्बन्धी मुद्रा और शिलालेख आदि साधन संस्कृत में भी उपलब्ध होते हैं, जिनके अध्ययन के लिए इस भाषा का ज्ञान आवश्यक हो जाता है। प्राचीन न्याय आदि चौदह प्रसिद्ध विद्यायें इसी भाषा में ही निहित हैं तथा आज का हिन्दू कानून संस्कृत भाषा की मनु याज्ञ-वल्क्या आदि स्मृतियों पर ही आधारित है, उन कानूनों के अनेक पहलुओं को समझने के लिये स्मृतियों का अध्ययन अत्यावश्यक हो जाता है, जिसके लिये संस्कृत भाषा के माध्यम की अपेक्षा होती है।

आज के युग में राष्ट्रीय एकता का कितना महत्त्व है, यह किसी भी व्यक्ति से छिपा हुआ नहीं है। विविध प्रान्तों में निवास करने वाली भारतीय जनता को एक सूत्र में पिरोने वाली भाषाओं में से संस्कृत भाषा का विशेष स्थान है, क्यों कि भारतीय जनता में एक समान-प्रचलित धार्मिक क्रिया, कलाप संस्कार, व्रत, पर्व, मन्दिर और तीर्थ आदि संस्कृत भाषा के द्वारा ही अनुप्राणित होते हैं। जो विविध भेद की विद्यमानता में भी आज जनता को एकसूत्र में पिरो रहे हैं।

इसके साथ ही साथ व्यक्ति-समाज और राष्ट्र के जीवन के विकास के लिए नैतिकता की बहुत अधिक आवश्यकता है, इसी से ही व्यष्टि और समष्टि का जीवन व्यवस्थित और नियन्त्रित रहता है। बिना व्यवस्थित स्थिति के कोई भी विकसित और सुखी नहीं हो सकता। विधि व्यवस्थाओं की मूलभूत नीति और सदाचार की शिक्षा के प्रचार में संस्कृत भाषा का बहुत अधिक योगदान है। इसका सबसे प्रबल प्रमाण यह है कि जहां आज स्वराज्य प्राप्ति के पश्चात् भारत सरकार आदि के सत्यमेव जयते, योग-क्षेमं वहा-म्यहम्, तमसो मा ज्योतिर्गमय आदि

आदर्श वाक्य हैं, वहां ब्रिटिश राज्य में भी विश्वविद्यालयों के आदर्श वाक्य संस्कृत भाषा के सूक्ति रत्नों से ही शोभायमान् थे। इन आदर्श वाक्यों से सदाचार के मूल्य की दृष्टि से संस्कृत भाषा का महत्त्व स्वतः स्पष्ट हो जाता है। इन्हीं उपयोगिताओं को देखते हुए राष्ट्र के कर्णधार अनेकवार संस्कृत भाषा को श्रद्धामय शब्दों में श्रद्धांजलियां प्रस्तुत करते रहते हैं, इसी लिये ही भारत सरकार आदि की ओर से संस्कृत भाषा के विकास के लिये बहुत कुछ प्रयास हो रहा है। हां इसके साथ ही साथ संस्कृत के अध्यापकों को भी अन्य भाषाओं के वेत्ताओ के समान ही स्थान मिलना चाहिए।

○ ○ ○



हिमाचल प्रदेश का महाभारत कालीन इतिहास तथा भूगोल

○

विद्यासागर शर्मा

लेख प्रारंभ करने से पूर्व पाठकों तथा लेखकों से एक निवेदन किया जाना ज़रूरी है। हम भारतीयों ने अभी स्वतंत्रता पूर्वक सोचना नहीं सीखा। आज भी हमारे लेखों तथा हमारी खोज़ों पर पश्चिम के विचारों की एक बलवती छाप रहती है जिसके नीचे भारतीय स्वतंत्र विचारधारा दब सी जाती है। इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय इतिहास सम्बन्धी खोज का श्रेय अभी तक पश्चिम के विद्वानों को ही अधिक है। परन्तु हमें इस बात को नहीं भूलना चाहिए कि पश्चिमी जन-साधारण पर धर्म की इस मान्यता का प्रभाव रहता ही है कि सृष्टि का प्रारंभ ५००० वर्ष ईसा पूर्व हुआ। विज्ञान ने इन मान्यताओं को निस्संदेह अब झकझोर दिया है परन्तु फिर भी पुराना प्रभाव रहता ही है और उसके विपरीत जाने के लिये उन्हें विशेष प्रयास करना पड़ता है। परन्तु जहां तक भारत का सम्बन्ध है यहां का तो हर धार्मिक कृत्य में जो संकल्प पढ़ा जाता है उसमें अपनी देश, काल तथा वंश की स्थिति का प्रतिदिन जो वर्णन करता है वह इस प्रकार है :—

ओं तत्सत् अद्य ब्रह्मणोऽन्हि द्वितीय परार्धे श्री श्वेत बाराह कल्पे वैवस्वत नाम मन्वन्तरे अष्ट विंशति तमे कलि युगे कलि प्रथमे चरणे अमुक सम्वत्सरे अमुक अयने, अमुक मासे अमुक पक्षे अमुक-तिथौ अमुक वासरे, अस्मिन् ब्रह्मण्डे, भूलोके, जम्बूद्वीपे भरत खण्डे, आर्यावर्तें पुण्य क्षेत्रे अमुक मण्डलान्तर्गते अमुक स्थाने अमुक प्रवरे तथा अमुक गोत्रोत्पन्नो अमुक नामोऽहं अमुक कर्म करिष्ये।

अर्थात्

ओंकार, जो कि सत्य है, को स्मरण करके आज ब्रह्मा के दिन के दूसरे प्रहर के श्री श्वेत बाराह कल्पान्तर्गत वैवस्वत नाम मन्वन्तर की अठाईसवी चतुर्युगी के कलियुग के प्रथम चरण के अमुक संवत्सर अमुक अयन, अमुक मास, अमुक पक्ष,

अमुक तिथि, अमुक बार को इस ब्रह्माण्ड के भूलोक के जम्बूद्वीप में भरत खण्ड के आर्यावर्त में पुण्य के क्षेत्र अमुक मण्डल में अमुक स्थान पर अमुक प्रवर तथा अमुक गोत्र में उत्पन्न मैं अमुक नाम वाला अमुक काम करता हूँ।

इस संकल्प को हर भारतीय हर रोज़ पढ़ कर अपनी ऐतिहासिक तथा भौगोलिक स्थिति को स्मरण करता है। इसके अनुसार कलियुग के प्रारंभ तक १ अरब ९२ करोड़ वर्ष पूरे हो चुके हैं और कलि सँवत् के भी आज ५००० से अधिक वर्ष समाप्त हो चुके हैं। भूगोल में ब्रह्माण्ड के १४ लोकों में एक भूलोक है जिसमें सात द्वीप हैं जिनमें से जम्बूद्वीप अर्थात् हमारी दुनियां में एक और इस जम्बूद्वीप के ९ खण्ड हैं इनमें से एक भारत है। ऐसी महान् तथा विस्तृत कल्पना इतिहास तथा भूगोल की हमारी है। इस कल्पना से सामने आता है १४ लोकों वाला भुवन कोष जिसमें सौर मण्डल एक छोटा सा भाग है। सामने आती है इतिहास की वह लम्बी शृंखला जिसके अनुसार सृष्टि को प्रारंभ हुए आज दो अरब वर्ष गुज़र चुके हैं। संकल्प कर्ता के मन पर पटल प्रस्तुत होते हैं वह ऋषि जिन्होंने वेदों की ऋचाओं को सुना था। इस कल्पना को आज विज्ञान की खोजें पुष्ट कर रही हैं। ऐसी प्राचीन परम्परा सम्पन्न देश का इतिहास लिखते समय हमें पश्चिम की मानसिक गुलामी से ऊपर उठना पड़ेगा और खोज करनी पड़ेगी उस काल की जिसके सम्बन्ध में अभी प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध नहीं है। इसी विचारधारा से अभिप्रेरित होकर मैंने यह प्रयास हिमाचल के इतिहास के सम्बन्ध में शुरू किया है। और मुख्य उद्देश्य यह है कि इतिहास लेखकों को इस काल की खोज के लिये प्रेरित किया जाए। इतिहास लेखन बड़ा नाजुक कार्य है। शीघ्रता से निकाले गये निष्कर्ष अनर्थ का कारण हो कर देश के स्वाभिमान को बड़ा धक्का पहुंचा सकते है। अतः आवश्यकता है कि इस दिशा में कार्य करने वाले सज्जन आपस में मिल जुलकर इतिहास में मौलिकता लाएं।

हिमाचल प्रदेश के महाभारत कालीन इतिहास की चर्चा के लिये यह जानना आवश्यक होगा कि हिमाचल प्रदेश किन किन भूतपूर्व रियासतों से बना और उनका क्षेत्रफल तथा जनसंख्या क्या थी, क्योंकि इतिहास के साथ इनका घनिष्ट् सम्बन्ध है और जब तक हम इतिहास के उस स्तर पर पहुंच जायेंगे जिसको ज्ञात इतिहास कहते हैं तो इन भिन्न रियासतों के इतिहास की टूटी हुई कड़ी को जोड़ कर ही इस प्रदेश के इतिहास को समझना पड़ेगा हिमाचल प्रदेश का निर्माण १५ अप्रैल, १९४८ को ३० पहाड़ी रियासतों का विलीनीकरण करके हुआ।

इन रियासतों का परिचयात्मक विवरण इस प्रकार है :—

क्र. सं.	नाम रियासत	क्षेत्रफल वर्गमील	जनसंख्या	वर्तमान ज़िला
१.	चम्बा	३,१२७	१,६८,९०८	चम्बा
२.	मण्डी	१,१३९	२,३२,५९३	मण्डी
३.	सुकेत	३९२	७१,०९२	
४.	सिरमौर	१,०९१	१,५६,०२६	सिरमौर
५.	रामपुर बुशहर	३,६५१	१,११,४५९	किन्नौर तथा महासू ज़िला की रोहड़ू व रामपुर तहसीलें
६.	देलठ	८	१,६७३	
७.	ढाडी	७	२८२	
८.	कुम्हारसैन	८४	१३,९८३	महासू ज़िला (रामपुर और रोहड़ू को छोड़ कर)
९.	सांगरी	२१	३,८०१	
१०.	खनेटी	२१	३,१७१	
११.	दरकोटी	५	६३२	
१२.	जुब्बल	२१४	२८,५३८	
१३.	रावीगढ़	१६	९८२	
१४.	थरोच	७०	५,३६२	
१५.	बलसन	५७	६,६३९	
१६.	घूण्ड	९	१,९५९	
१७.	रतेश	२	५४२	
१८.	ठयोग	३१	७,३०७	
१९.	मधान	२३	४,४०३	
२०.	कोटी	४४	९,७२१	
२१.	क्योंठल	१८६	२७,७१३	
२२.	भज्जी	९४	१६,४७४	
२३.	धामी	२८	५,११४	
२४.	कुनिहार	७	२,३९९	
२५.	अर्की बाघल	१२०	२७,५३९	
२६.	सोलन (बघाट)	३३	११,०२२	
२७.	महलोग	४९	८,६३१	
२८.	मांगल	१४	१,३२५	
२९.	कुठार	२१	४,६७०	
३०.	बेजा	५	१,०५८	

इसके बाद १९४८ में बिलासपुर राज्य हिमाचल प्रदेश में विलीन हुआ जिसका क्षेत्रफल इस प्रकार है :—

३१.	बिलासपुर	४५३	१,११,४५९	

भौगोलिक दृष्टि से हिमाचल प्रदेश अभी भी एक सुसंगठित अथवा मिला जुला भू-भाग नहीं है। इसका चम्बा ज़िला शेष प्रदेश से पंजाब प्रान्त के कांगड़ा ज़िला से कटा हुआ है। इस भौगोलिक विच्छिन्नता के कारण यह संभव नहीं हो सकेगा कि प्राचीन काल के इतिहास को लिखते समय हम केवल हिमाचल प्रदेश का ही ज़िकर करें क्योंकि भौगोलिक एकता इतिहास के लिये एक बड़ा आवश्यक अंग हुआ करती है। शासनिक अथवा प्रशासनिक इकाइयों का क्षेत्रफल इतिहास के भिन्न दौरों में घटता बढ़ता रहता है। इस कारण प्राचीन इतिहास, खासकर प्रागैतिहासिक समय के इतिहास की खोज़ों में मिले जुले भू-भाग के इतिहास, गवेषणा करनी पड़ जाती है। एक और कठिनाई आती है इस दिशा में, वह है प्राचीन काल के नामों को वर्तमान काल के नामों से सम्बद्ध करने की। ऐसी दशा में तो आसानी रहती है जबकि प्राचीन काल का नाम अब तक बिना किसी परिवर्तन से चला आता हो। जहां तक इस प्रदेश तथा इसके पड़ोसियों का सम्बन्ध है, ऐसे नाम हैं, कश्मीर, कुल्लू, (उलूत) और किन्नर प्रदेश (किम्पुरुष देश)। जहां तक त्रिगत का सम्बन्ध है, गो उसका नाम उसी स्वरूप में अब तक नहीं चल रहा है परन्तु यह एक निश्चित बात है कि त्रिगत कांगड़ा और जालंधर के प्रदेश को कहा जाता था क्योंकि शब्द त्रिगत तीन दूनों (घाटियों) से बने हुए क्षेत्र की ओर संकेत करता है। श्री वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार यह तीन दूनें हैं, सतलुज, व्यास और रावी की घाटियां। एक और बड़ा जनपद जो इस क्षेत्र में पड़ता है वह है कुलिन्द, जिसका ज़िक्र महाभारत से लेकर पाणिनि और ह्यनसांग के यात्रा वर्णन तक में आता है, परन्तु इसका विस्तार कहां तक था यह अभी तक पूर्णतया निश्चित नहीं। महाभारत कालीन भूगोल की भी अभी तक कोई पूर्ण शोध नहीं हुई। महाभारत के भीष्म पर्व अध्याय ६ में धृतराष्ट्र के प्रश्न पर संजय ने भारत के जनपदों का जो विवरण दिया है उसमें उत्तर दिशा के जनपदों का नाम लेते हुए उन्होंने निम्न जनपद बताए।

(देखिए श्लोक ३ से ५७ तक) वारवास्य, अयवाह, चक्र चक्राति, शक, विदेह, मगध, स्वज्ञ, मलज, विजय, यक्तत्तोमा, मल्ल, सुदेष्ण, प्रशलाद, माहिक, शशिक, बाल्हीक, वारधान, अभीर कालतोयक, अपरान्त, परान्त, पंचाल, चर्म मण्डल, अटवी शिखर, मेरु भूत, उपावृत्त, अनपावृत्त, स्वराष्ट्र, कैकय, कुन्दापरान्त, माहेय कक्ष, सामुद्र, निष्कुट, बहुसंख्यक अन्तर्गिरि, बहिर्गिरि, अंगलमज, मगध, मानवर्जक, समन्तर, प्रावृषेय, भार्गव पुण्ड्र, भर्ग, किरात, सुदृष्ट, यामुन,

शक, निषाद, नियाद , आनंत, नेत्रदृत, दुर्गाल, प्रतिमत्स्य, कुन्तल, कोसल, तीर–गृह शूरसेन, इजिक, कन्यका गुण, तिलभार, मसीर, मधुमान, सुकन्दक काश्मीर, सिघुसोपीर, गांधार, दंशक, अभिसार, उलूत, शैवाल, बलीक दार्वी, वानव, दर्व, वानज आम्रंत, उरग, वहुबाध्य, सुदाम, सुमल्लिक बनघू, करीषक, कुलिन्द, उपत्यक, वनायु, दश, पार्श्वरोम, कुशबिन्द कच्छ, गोपाल, कक्ष, जांगल, कुरुवर्षक, किरात, ववर्र, सिद्ध, वैदेश, ताप्तलिपक, आण्ड्र, मलेच्छ, सैसिरिध्र पार्वतीय ।

यह नहीं कहा जा सकता कि संजय ने दिशा के क्रम से एक दूसरे से सटे हुए जनपदों के नाम लिये या नहीं । फिर सभा पर्व अध्याय ५१ में इन जनपदों के नरेशों ने जो उपहार दिये उन से भी इनकी दिशा आदि की ओर संकेत मिलता है, नरेशों द्वारा युधिष्ठिर को दिये गए उपहारों का दुर्योधन ने जो वर्णन किया है वह इस प्रकार है :—

काम्बोज नरेश ने भेड़ की ऊन, विल में रहने वाले चूहों के रोएं, मृग चर्म, घोड़े (चितकबरे), ऊंटनियां व खच्चरें दीं ।

द्विजों में प्रधान राजा कुणिन्द ने शंख भेंट किया (दक्षिणात्य पाठ) ।

काश्मीर नरेश ने मीठे तथा रसीले अंगूरों के गुच्छे दिये ।

प्राग्ज्योतिषपुर के अधिपति म्लेच्छों के स्वामी भगदत्त ने घोड़े तथा हीरे व पदम पराग दिये ।

मेरु और मन्दराचल में प्रवाहित होने वाली शैलोदा नदी के तटों पर रहने वाले खस, पुलिन्द , तंगण , परतंतगण नरेशों ने चींटियों द्वारा निकाले पिपीलक सोने के ढेर दिए (अ० ५२ श्लोक २–४)

फिर किरात, दर्द, दर्व, शूर, थमक, औदम्वर, दुर्विभाग, पारद वाल्हीक , योधेय, भद्र , काश्मीर, कुमार, घोरक , दृंशकायन, शिवि, त्रिगत, कैकय, अम्बष्ट, कौकर, तार्क्ष्य, वस्त्रप, पल्हव, वशातल, नौलय, भालव, शौण्डिक, कुवकर, शक द्वारा भी भेंट दिये जाने का ज़िक्र है ।

उपरोक्त अम्बष्ट जनपद पण्डित भगवत् दत्त जी ने हुशियारपुर के नज़दीक अम्वोटा नामक स्थान का ही पूर्व रूप वतलाया है ।

आदि पर्व अध्याय १५५ में बनवास के दिनों पाण्डवों का उत्तर दिशा के निम्न जनपदों में जाने का ज़िक्र है ।

हिडिम्बा द्वारा घटोत्कच की उत्पत्ति के बाद आगे चलने का वर्णन करते हुए लिखा है —

मत्स्य, त्रिगंत, पंचाल तथा कीचक इन जनपदों के भीतर होकर रमणीय वन स्थलियों और सरोवरों को देखते हुए यात्रा करने लगे ।

कीचक जनपद महाभारत में शैलोदा नदी के किनारे बतलाया गया है । यह शैलोदा नदी कौन सी है, निश्चय से नहीं कहा जा सकता परन्तु हाटकोटी में अभी तक यह परम्परा है कि विराट नगर तथा कीचक की राजधानी वहां थी और पव्वर अथवा टौंस दोनों ही नदियों को शैलोदा कहा जा सकता है क्योंकि ये एकही शैलगिरि से निकलती है। चौपाल में चट्टान से निकलने वाली एक नदी शाल्वी है जो टौंस से मिलती है।

कीचक और शैलोदा के तट पर जाने से पहले ऐसे स्थानों का वर्णन भी महा-भारत में आता है जहां पर बांस बहुत होते थे और बांस के बर्तन बनाकर लोग निर्वाह करते थे तथा उनकी झोपड़ियों में रहते थे । टकसाल ग्राम (कालका के निकट) को किसी समय विराट की राज-धानी समझा जाता था और लोक परम्परा यह है कि उस काल में यह राज्य पिन्जौर से लेकर हाटकोटी तक फैला हुआ था। टकसाल के इर्द गिर्द बांस तो हैं ही परन्तु कुछ भग्नावशेष भी हैं, जिन पर अभी कोई शोध कार्य नहीं हुआ । इसी के निकट घरसी गांव महलोग में घोटका (घटोत्कच) का मन्दिर तथा हिडिम्बा नाम के गांव का होना भी इसी निष्कर्ष की ओर संकेत करता है ।

इनसे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कालका से रोहड़ तक मत्स्य जनपद था और महलोग से रामपुर तक सतलुज के किनारे किनारे कीचक जनपद था । इसी लिये आज तक भी किन्नौर के निवासी रामपुर वालों को कोचा कहते हैं ।

जहां तक किसी क्रम के अनुसार वर्णन का सम्बन्ध है। महाभारत में एक ही स्थल ऐसा है जिसमें यात्रा के क्रम से इस क्षेत्र का वर्णन किया गया है वह है सभा पर्व अध्याय २६ व २७ में जहां अर्जुन द्वारा उत्तर की विजय का जिक्र है :—

पूर्वे कुलिन्दा विषये वंशे चक्रे महीपतीन् ।
धनंजयो महाबाहु नीति तीव्रेन कर्मणा ।

महाबाहु धनंजस्य ने अत्यन्त दुःसह पराक्रम किए बिना ही पहले कुलिन्द देश के भूपालों को अपने वश में किया ।

अनर्तान काल कूटांश्च, कुलिन्दाश्च विजित्यस
सुमण्डलं च विजितं कृतवान् सह सैनिकम् ।

कुलिन्दों के साथ काल कूट और अर्नात देश के राजाओं को जीत कर सेना सहित सुमण्डल को भी जीत लिया ।

स वने सहितो राजन् सव्यसाची परंतपः
विजिग्ये शाकलं द्वीपं प्रति विन्ध्य च पार्थिवम् ।

तदन्तर सव्यसाची अर्जुन ने सुमण्डल को साथी बना कर शाकल द्वीप और प्रतिविन्ध्य को जीता ।

स किरातैश्च चीनैश्च वृत्त प्राग्ज्योतिषोद्-भवत्
अन्यैश्च बहुमिर्या सागरानूप वासिभिः॥१०॥

प्राग्ज्योतिषपुर के नरेश किरात, चीन तथा समुद्र के द्वीप में रहने वाले अन्य बहुतेरे योद्धाओं से घिरे हुए थे।

आठ दिन में इनके जीतने के बाद अध्याय २७ में ऐसा वर्णन है :—

अन्तर्गिरि च कौन्तेय स्तथैव च बर्हिगिरिम्,
तथैवोवार्णिरिं चैव विजिग्ये पुरषार्षम्।।३।।

अन्तर्गिरि, बर्हिगिरि तथा उपगिरि पर विजय प्राप्त की।

तैरेव सहितः सर्वेरनुर्रज्य चेतान नृपान,
उलूकवासिन राजवृहन्त नृमजग्मिवान।।५।

तत्पश्चात् उन नरेशों को प्रसन्न करके उन सब के साथ उलूकवासी राजा वृहन्त पर हमला किया।

उसके बाद यथा क्रम सेना बिन्दू, मोदापुर वामदेव, सुदामा, सुनकुल तथा उलूत कूलूत देशों के अधीन करने का वर्णन है।

उसके आगे पंचगण देश में विजय पाने का वर्णन है।

उसके आगे पौरव और विश्वगण के विजय करने का ज़िक्र है।

पौरव से यह ज्ञात होता है कि यह जनपद नागरिक जनपद था और पंचगण से तो ऐसा प्रतीत होता है कि यह पंच छोटे गण राज्य थे।

इसके बाद लुटेरों के सात दलों (उत्सव संकेतों) को जीतने के बाद काश्मीर और लोहित के जीते जाने का ज़िक्र है।

उसके बाद त्रिगर्त, दार्व और कोकनद को विजय किया।

उसके बाद अभिसारी, उरग, तुषिक, हिमवान और सिंहपुर, सुहय, चोल, बाल्हीक, काम्बोज व दर्दी को जीता।

फिर लोह, परम काम्बोज, तुषिक, हिमवान और निष्कुट को जीतकर धवल पर्वत पर आए।

फिर धवल गिरि को लांघकर किम्पुरुष देश को जीत कर हाटक देश, जिसमें मानसरोवर के होने का वर्णन है, को जीतना बताया गया है।

ऐसा मालूम होता है कि अर्जुन ने विशेष स्थानों को स्वयं जाकर जीता और बाकी छोटे छोटे स्थानों पर उसने अपने संदेश वाहक (एलची) भेज कर उनसे खिराज प्राप्त किये। अन्य पुराणों में भी इस क्षेत्र का जिक्र आता है, यथा मार्कण्डेय पुराण में इस क्षेत्र के जनपदों का वर्णन इस प्रकार है :—

अतोदेशान् प्रवक्ष्यामि पर्वतामयिणश्चये,
नीहाराः हंस मार्गश्च कुर्वा गुर्गणः खशः
कुन्त प्रावरगश्चैव उर्णा दावां सकद्गृहाः
त्रिगताः गालवश्चैव किरातास्तामसोःसह।

सिरमौर के रेणुका क्षेत्र का वर्णन स्कन्द पुराण के खण्ड केदार अध्याय ५३१ में यूं लिखा है :—

कैलाश पर्वत के ऊपर केदार जी से पश्चिम की ओर और यमुना जी के दक्षिण भाग में रेणुका नामक पर्वत है।

यहां जमदग्नि की पत्नि तथा जमदग्नि ने तप किया था।

काश्मीर से हरिद्वार तक तथा तिब्बत की सीमा से शिवालिक तक की पहाड़ियों के नीचे तक पड़ने वाले जनपदों का अनुमान लगाने में अर्जुन की दिग्विजय यात्रा का क्रम ही अधिक लाभप्रद होगा जो ऊपर दिया जा चुका है। इस विषय में यह तो निश्चय ही है कि अर्जुन की ज़िम्मेदारी उत्तर दिशा जीतने की थी। इन सब बातों का विचार करते हुए उपरोक्त क्षेत्र के जनपदों का अनुमान निम्न रूप में लगाया जा सकता है—

> मत्स्य, कीचक, त्रिर्गत, पन्चाल (कुछ भाग), कुलिन्द, अन्तर्गिरि, बहिर्गिरि, उपगिरि, उलूत, सेना बिन्दू मोदापुर, बामदेव, सुदामा, उत्तर उलूक, दर्व, कोकनद, औदम्बर तथा किन्नर देश।

किन्नर देश को लोहित अर्थात् लद्दाख अथवा लाहोल से होकर आने का वर्णन मालूम देता है। धवलगिरि संभवतः स्पिति वाले पहाड़ों को कहा गया है। और तिब्बत को किन्नर देश से होकर जाने के नामों का क्रम यदि इस प्रकार रखें तो ज्ञात होगा कि अन्तर्गिरि, बहिर्गिरि तथा उपिगरि नामों के आजके पर्यायवाची शिवालिक, हाथीधार और धौलाधार हो सकते हैं क्योंकि इनको लांघ कर ही कुल्लू पहुंचना ठीक है। परन्तु प्राग्ज्योतिषपुर आसाम को समझा जाता है। वहां से अन्तर्गिरि, बहिर्गिरि तथा उपगिरि लांघ कर उलूत पहुंचना संभव नहीं लगता। जैमिनीय पाठ के अश्वमेध पर्व में भद्रावती नगरी को आकाश मार्ग द्वारा जाने का जिक्र यदि ठीक समझा जाए तो इसमें सन्देह की निवृत्ति संभव है। हो सकता है कि उस समय काश्मीर कुछ विस्तृत हो। परन्तु उलूत (कुल्लू), त्रिगत (कांगड़ा), कुलिन्द (सिरमौर) मत्स्य तथा कीचक (महासु) तथा किम्पुरुष देश (किन्नर) की भौगोलिक स्थिति तो निश्चित ही मालूम देती है।

महाभारत काल का लोहित, वर्तमान लद्दाख या लाहौल ही होगा शैलोदा नदी कौन सी है निश्चय से नहीं कह जा सकता। अतः प्रकट है कि प्रत्येक जनपद को वर्तमान क्षेत्र के साथ जोड़ने के लिये अभी बहुत शोध कार्य की आवश्यकता है।

शेष पुराणों की सामग्री का आधार इस लेख में नहीं लिया गया। केवल वही स्थल अन्य पुराणों से उद्धृत किए गए हैं जो महाभारत से टक्कर खाते हैं। अन्यथा मत्स्यपुराण में रावी नदी के तट पर अत्रि ऋषि के आश्रम का जिक्र है। स्कंद पुराण में सिरमौर के इलाके का और भी वर्णन मिलता है। तंत्र शास्त्रों में भी इस क्षेत्र के भूगोल का उल्लेख है। इसी तरह अन्य पुराणों में भी वर्णन मिलते हैं। उन के सम्बन्ध में कभी फिर विचार करके सामग्री पाठकों तथा शोधकों के समक्ष प्रस्तुत की जाएगी।

○ ○ ○

नानक सिंह के उपन्यासों में सामयिक समस्याएँ

अमर नाथ शर्मा

नानक सिंह की लोकप्रियता केवल इस बात में नहीं है कि उसने पंजाबी उपन्यास को सही अर्थों में उपन्यास की परिभाषा के अन्तर्गत रखा, और न ही उनकी प्रतिभा इस बात में है कि उन्होंने पंजाबी पाठकों को सर्वाधिक उपन्यास प्रस्तुत किये बल्कि उनकी लोकप्रियता एवं प्रतिभा का कारण है उनका सामयिक समस्याओं का अध्ययन । नानक सिंह समय समय पर बदलते रहे हैं और उनके उपन्यासों के विषय भी इस परिवर्तन के सूचक हैं । प्रत्येक साहित्यकार पूर्वकालीन साहित्यकारों से प्रभावित होता है और उनके साहित्य का अध्ययन करके अपनी प्रतिभा के अनुरूप नवीन सृष्टि करता है, परन्तु नानक सिंह के विषय में यह कहा जा सकता है कि उन्हें परम्परा से कुछ नहीं मिला । पंजाबी उपन्यास को नई दिशा देने में उनका बहुत बड़ा हाथ है । कुछ आलोचक नानक सिंह के उपन्यासों के विषयों से ऊब जाते हैं परन्तु उनकी विफलताएं इसलिये भी हैं कि उस समय पंजाबी उपन्यास के क्षेत्र में कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं हुआ था परन्तु उनकी सफलताएं अथवा देन व्यक्तिगत है जिसे कोई व्यक्ति भी अस्वीकार नहीं कर सकता ।

नानकसिंह से पहले भाई वीरसिंह जी ने चार उपन्यास लिखे थे परन्तु इन उपन्यासों के विषय ऐतिहासिक एवं धार्मिक थे और धार्मिक विषयों में भी प्रधानता सिक्ख धर्म के प्रचार को दी गई थी । इसलिये उनके उपन्यास केवल सिक्ख पाठकों के लिये ही सीमित हो गए थे अन्य पाठकों के लिये इन उपन्यासों में कोई विशेष आकर्षण नहीं था । परन्तु पंजाबी उपन्यास के जन्मदाता के रूप उनकी देन को घटाया नहीं जा सकता ।

भाई वीरसिंह के बाद उनके कुछेक सहयोगियों ने भी साहित्य की इस विधा पर अपनी कलम चलाई परन्तु उनके विषय भी धार्मिक, ऐतिहासिक या प्रचार-वादी ही रहे। भाई मोहन सिंह, चनण सिंह शहीद इसी काल के उपन्यासकार हैं। संक्षेप में इस काल के उपन्यासों के बारे में यह कहा जा सकता है कि ये उपन्यास सिक्ख फिलास्फी का प्रचार तथा सदा-चार सम्बन्धी शिक्षा देने के उद्देश्य से लिखे गए थे, जिनका महत्त्व एक नीति ग्रन्थ के तौर पर अधिक है परन्तु एक उपन्यास की दृष्टि से कम। इन सभी उपन्यासों में न तो कला है न ही भाषा का प्रांजल रूप है, न तो चरित्र चित्रण को प्रधाना दी गई है और न ही सुगठित प्लाट की सुव्यवस्था है।

इन सभी न्यूनताओं को पूरा करने के उद्देश्य को लेकर नानकसिंह ने पंजाबी उपन्यास के क्षेत्र में पदार्पण किया। उसने उर्दू, हिन्दी, बंगाली साहित्य का गहरा अध्ययन किया। जैसा कि उन्होंने स्वयं भी लिखा है कि प्रेमचन्द का उनके जीवन पर बहुत प्रभाव है और यह प्रभाव उन के उपन्यासों में परिलक्षित होता है। कुछ आलोचक तो नानकसिंह को प्रेमचन्द का उत्तराधिकारी कह देते हैं, परन्तु हमारे विचार में नानकसिंह की उड़ान अभी अधूरी है। नानक सिंह ने प्रेमचन्द की भान्ति अपने विषय समाज से लिए और उनके लगभग सभी उपन्यासों में सामाजिक समस्याएं देखी जा सकती हैं परन्तु इन समस्याओं के समाधान में इन दोनों उपन्यासकारों में अन्तर है। प्रेमचन्द जहां यथार्थवादी अधिक है वहां पर नानक सिंह के हाथ से आदर्शवाद का पलड़ा नहीं छूटता और उनका यह आदर्शवादी दृष्टिकोण कुछ हद तक विद्वानों में आलोच्य विषय बना हुआ है। परन्तु यह कहना भूल होगी कि आदर्शवाद के मोह में नानक सिंह यथार्थ को भूल जाते हैं। वास्तव में उनके उपन्यास रूपी भवन की आधारशिला यथार्थ पर टिकी होती है परन्तु ज्यों ज्यों भवन पूर्ण होता जाता है त्यों त्यों उसमें आदर्श भी प्रवेश करता जाता है।

नानकसिंह ने जब लिखना प्रारम्भ किया था उस समय समाज की हालत बहुत खसता थी। विभिन्न सामाजिक कुरीतियों व अन्धविश्वासों को देख कर वह मूक न बैठ सके और समाज के ठेकेदारों के घृणित कार्यों को पाठकों के सम्मुख पेश करके उनके प्रति घृणा उत्पन्न की और शोषितों के प्रति सहानुभूति। कुछ आलोचक तो उन पर यह आक्षेप भी करते हैं कि उनके विषय ही समाज से नहीं अपितु कल्पना के आधार पर निर्मित होते हैं। परन्तु ऐसे आलोचक कम ही हैं और ऐसे आलोचकों के बारे में केवल

इतना ही कहा जा सकता है कि उन की दृष्टि में आलोचना का मानदण्ड केवल दोष निकालने में ही है। इस बारे में नानक सिंह के अपने विचार प्रस्तुत हैं। साहित्यिक गोष्ठी में "मैं किस प्रकार लिखता हूँ" नामक विषय पर भाषण देते हुए उन्होंने कहा था कि मुझे लोग प्रायः यह पूछते हैं कि मैं क्या लिखता हूँ और कैसे लिखता हूँ, इसका उत्तर देते हुए उन्होंने कहा था कि, "मैं लिखता हूँ अपने मज़हब के लिये, अपने महबूब के लिये और अपने इष्टदेव के लिये। मेरा मज़हब है मानवता, मेरा महबूब है वतन और मेरा इष्टदेव है समाज और लिखना मेरा इश्क है।" इस बात से स्पष्ट है कि जिस व्यक्ति का इष्टदेव ही समाज हो और लिखना जिसका इश्क हो उस पर यह आक्षेप करना कि वह समाज से पलायन करता है या समाज को ठीक तरह से नहीं देख पाता निराधार है। उन्होंने यह भी कहा था कि "लिखते समय मेरी आंखों के सामने समाज के किसी एक अंग का चित्र सा उपस्थित हो जाता है और उसे मैं बारीक नज़र से देखा करता हूँ। उस अंग में दुर्गन्ध भरी होती है। जब मुझे ऐसे अंग का चित्र दिखाई देता है। तो मेरे मन के अन्दर एक कसक उठती है और मेरा मन पीड़ा से घबरा उठता है। उस घबराहट को दूर करने के लिये मैं उपन्यास लिखता हूँ।"

नानक सिंह के उपन्यासों का जीवन काल सन् १९२७ से आरम्भ होता है और आजतक निरन्तर साधना में तल्लीन है। दर्जनों ही उपन्यास वह पंजाबी पाठकों को भेंट कर चुके हैं। नए वर्ष के कैलेंडर की तरह हर वर्ष वह एक नवीन उपन्यास लिख देता है। नानक सिंह के उपन्यासों का क्रमागत अध्ययन करने के लिए उसके साहित्यिक काल को चार भागों में बांटा जा सकता है। पहला काल १९२७ से लेकर १९३८ तक, दूसरे काल को प्रीत नगर दौर कहा जा सकता है जबकि गुरबख्श सिंह प्रीत लड़ी से प्रभावित होकर उसने उपन्यासों का सृजन किया। यह काल १९३९ से १९४७ तक का है। तीसरा काल १९४७ से १९५२ तक का है और चौथा काल १९५३ से लेकर आज तक।

इन चारों कालों में नानक सिंह की कला एवं विषयों में परिवर्तन देखा जा सकता है। सामयिक समस्याओं से प्रभावित होकर उन्होंने अपने उपन्यासों के विषय भी उनके अनुरूप ही रखे हैं। पहले काल की रचनाओं में "मत्रेई मां", "काल चक्कर" "प्रेम संगीत" "चिट्टा लहू", "फौलादी फुल्ल" आदि उपन्यास प्रसिद्ध हैं। इस काल की रचनाओं में "चिट्टा लहू" उस का प्रतिनिधि उपन्यास है और नानक सिंह का प्रतिबिम्ब इस उपन्यास में भली प्रकार देखा जा सकता है। उसका यह उपन्यास

तो आज तक भी पंजाबी पाठकों का लोकप्रिय उपन्यास है और नानक सिंह की लोकप्रियता का श्रेय भी बहुत हद तक इस उपन्यास को जाता है । ऐसा प्रतीत होता है कि सामाजिक कुरीतियों को देख कर नानक सिंह का मन भरा हुआ था जो एक बार ही उछल कर बाहर आ गया। परन्तु इस काल के उपन्यासों पर विचार करते समय हमें यह बात ध्यान में रखनी होगी कि इस काल के नानक सिंह पर सिघ सभा लहर का बहुत प्रभाव था और वह सिंघ सभा लहर का श्रद्धालु था। इसलिये इस काल की रचनाओं में सिंघ सभा लहर तथा सुधारवाद प्रत्यक्ष तौर पर देखा जा सकता है । इस काल की प्रतिनिधि रचना 'चिट्टा लहू' में भी विधवा विवाह, अनमेल विवाह, धार्मिक स्थानों की दुर्गति, समाज के ठेकेदारों की करतूतों, छूतछात के विषय, ग्रामीण समस्याओं का प्रकटीकरण बड़े सुन्दर ढंग से हुआ है । प्रिंसिपल तेजा सिंह जी ने भी इस उपन्यास की भूरि भूरि प्रशंसा की है ।

परन्तु इस उपन्यास को सर्वांगीण पूर्ण नहीं कहा जा सकता । इसमें कुछ न्यूनताएं भी हैं । इसकी समस्या महान है परन्तु समस्या का समाधान यथार्थ नहीं है । उपन्यास में कई स्थानों पर विरोधी अवस्थाएं हैं । नायक बचनसिंह और नायिका सुन्दरी के विचार विरोधी हैं । ये दोनों पात्र नए समाज की कल्पना करते हैं । तत्कालीन समाज से असंतुष्ट हैं । परन्तु कैसा समाज वे चाहते हैं, इस बारे में स्पष्ट नहीं है । वास्तव में नवीन समाज की कल्पना के बारे में नानकसिंह स्वयं ही स्पष्ट नहीं हैं । नानक सिंह समाज को बदलना तो चाहते ह परन्तु बदलने के लिये जो साधन अपेक्षित हैं, उनका उन्हें ज्ञान नहीं है । "चिट्टा लहू" के बचनसिंह और सुन्दरी की प्रकृतियां भिन्न हैं—एक गान्धीवादी है और दूसरा विद्रोहवादी । उनका सामंजस्य ही नहीं हो पाता । यह द्वन्द्व नानकसिंह के मन में सदा बना रहता है और प्रत्येक उपन्यास में उसका द्वन्द्व देखा जा सकता है। परन्तु और कई पक्षों से यह उपन्यास महान है और अवश्य ही प्रशंसा का अधिकारी है ।

दूसरे काल में लिखी गई रचनाओं में "प्यार दी दुनियां", "गरीब दी दुनियां "अद्धखिड़िया फुल्ल", "ठंडीयां छांवां" "पवित्र पापी", "धुंधले परछावें", "लव मैरिज" आदि रचनाएं उल्लेखनीय हैं । इस काल की रचनाओं में नानकसिंह में एक और परिवर्तन आता है । यहां आकर वह सरदार गुरबख्श सिंह "प्रीत लड़ी" से प्रभावित हुए प्रतीत होते हैं । उनका प्रभाव नानकसिंह पर इतना पड़ा कि वह प्रीत नगर रहने लग पड़े और यहां बैठ कर उपन्यास लिखे । गुरबख्शसिंह के प्रीत सिद्धान्त ने जहां अन्य साहित्यकारों

को भी प्रभावित किया वहां पर नानकसिंह भी इस सिद्धान्त के प्रभाव से बच न सके। "प्रेम कब्जा नहीं पहचान है" गुरबख्श सिंह के इस विचार से प्रेरणा लेकर उन्होंने लगभग आधी दर्जन उपन्यास लिखे और इस सिद्धान्त का खुले मुंह से प्रचार भी किया। यह सिद्धान्त सामाजिक या यथार्थ दृष्टि से कितना माननीय है, यह एक विवाद का विषय है। गुरबख्श सिंह तो अमरीकन प्रीत से प्रभावित होकर आए थे और यहां इस देश में भी वैसा ही उन्मुक्त वातावरण देखना चाहते थे। उनके विचार से एक स्त्री का पति और हो सकता है और प्रेमी और। स्त्री यदि पति से प्रेम नहीं करना चाहती तो वह किसी अन्य व्यक्ति से प्यार कर सकती है। यही बात वह अमरीका में रह कर देख आए थे। परन्तु वह इस बात को भूल जाते हैं कि भारत तथा पश्चिमी देशों की सभ्यता, संस्कृति रहन सहन में भारी अन्तर है और जो बात वह अमरीका में देख आए हैं वह शायद भारत में सम्भव न हो सके।

नानकसिंह भी इस सिद्धान्त को व्यवहार्य समझ कर इस सिद्धान्त को अपने उपन्यासों में स्थान देने लगे। "अद्ध खिड़िया फुल्ल" इस विचार का प्रतिनिधि उपन्यास कहा जा सकता है। इस उपन्यास की नायिका इसके नायक कुलदीप को एक पत्र लिखती है जिसमें वह अपने प्रेमी को उसकी पत्नी से जुदा करने या उस पर अधिकार जमाने की मांग नहीं करती, केवल उससे प्रेम की भीख मांगती है, उसे नहीं मांगती। उसके निम्नलिखित शब्द नानकसिंह के प्रीत सम्बन्धी इस विचार के साक्षी हैं। नायिका का कहना है कि 'कुलदीप मेरा प्यारा नहीं, मेरा प्यार है।' प्यारा कहने के लिए अवश्य ही किसी ठोस वस्तु का सहारा ढूंढना पड़ता है परन्तु प्यार को किसी सहारे की आवश्यकता नहीं।' आगे चल कर वह फिर कहती है कि यदि 'मैं आपको प्यारा कहूँ तो अधिकार की इच्छा जागृत होती है, इसलिये तुम मेरे "प्यारे" नहीं "प्यार" हो।' "प्यार दी दुनियां" तथा 'लव मैरिज' भी इस प्रकार की समस्याओं से सम्बद्ध हैं।

परन्तु हिन्दु-मुस्लिम एकता, आर्थिक गुलामी के प्रति विद्रोह आदि विषय भी इस काल की रचनाओं में परिलक्षित हैं। वास्तव में नानक सिंह के प्रत्येक उपन्यास में एक प्रीत कहानी आधिकारिक या प्रासंगिक रूप में अवश्य मिलती है। उपन्यास की समस्या चाहे जो भी हो, परन्तु एक प्रीत कथा प्रत्यक्ष अथवा मोक्ष रूप में अवश्य ढूंढी जा सकती है। इस काल की रचनाओं में नानक सिंह ने मनोविश्लेषण को भी महत्त्व देना सीख लिया है। अन्य भाषाओं में मनोविश्लेषण सम्बन्धी अनेक उपन्यास लिखे गये हैं

वहां पर पंजाबी में ऐसे गिने चुने उपन्यास ही देखने में आए हैं। जिनमें मनोविश्लेषण ठीक ढंग से हुआ हो। नानक सिंह का "पवित्र पापी" इस दिशा में एक सफल प्रयत्न है। चाहे मनोविश्लेषण के आधार पर लिखा गया उनका यह प्रथम उपन्यास है परन्तु केवल इस एक उपन्यास के आधार पर यह कहा जा सकता है कि नानकसिंह में मनोवैज्ञानिक सूझ पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। पवित्र पापी का नायक किदार आरम्भ से अन्त तक अपनी कुण्ठित वासनाओं का शिकार बना रहता है। इस उपन्यास की नायिका वीणा के प्रति उसके मन में आकर्षण है परन्तु उसमें इतनी हिम्मत नहीं कि वह इस बात को वीणा की मां के सामने प्रकट कर सके। यह द्वन्द्व चलता रहता है। वीणा का विवाह भी नियत हो जाता है परन्तु वह कोई प्रयत्न नहीं करता। वीणा के विवाह के उपरान्त उसके मन में दबा प्रेम और उग्र रूप धारण कर लेता है। मानसिक ग्रन्थियां और उभर आती हैं परन्तु वह अपने आपसे अन्याय करता हुआ यह सब कुछ झेल रहा है। वह वीणा के शहर को छोड़ कर अमृतसर आ जाता है। घड़ी साज़ी की दुकान करता है परन्तु दिन प्रतिदिन शारीरिक तौर पर क्षीण होता जाता है। मानसिक द्वन्द्व चलता रहता है परन्तु किसी को उसके मन की व्यथा को पता नहीं और न ही वह प्रकट करता है। किदार के मानसिक द्वन्द्व का चित्र बहुत ही सुन्दर ढंग से पेश किया गया है। चाहे नानकसिंह इस उपन्यास में भी आदर्शवादी ही प्रतीत होते हैं क्योंकि किदार का पात्र इस रूप में पेश किया गया है कि वह पापी होते हुए भी पवित्र है परन्तु क्या किदार जैसी प्रकृति वाले मनुष्य इस धरती पर मिल भी सकते हैं या नानक सिंह की काल्पनिक सृष्टि है। कुछ भी हो नानकसिंह का यह नया प्रयोग अवश्य ही सराहनीय है।

नानकसिंह के साहित्यिक जीवन का तीसरा काल उस भयंकर घटना से प्रभावित होकर आरम्भ होता है, जिससे प्रभावित हुए बिना भारत का कोई भी व्यक्ति नहीं रह सका। साहित्यकार का हृदय तो वैसे ही कोमल होता है और छोटी छोटी घटना भी उसके मन पर एक अमिट छाप छोड़ जाती है। जहां पंजाबी की सर्वश्रेष्ठ कवयित्री अमृता प्रीतम ने इस घटना से प्रभावित होकर हीर के किस्साकारों में अग्रगण्य किस्साकार वारिशशाह को पुकारा वहां पर नानकसिंह पर इस घटना का प्रभाव कोई कम नहीं। इस काल में लिखे गए उपन्यासों में "खून दे सोहले", "अग्ग दी खेड", "मंझधार" तथा "चित्रकार" वर्णन योग्य हैं। इन सभी उपन्यासों में रक्तपात सम्बन्धी घटना को भिन्न भिन्न रूप में

प्रस्तुत किया गया । किस प्रकार इकट्ठे रहने वाले हिन्दु और मुस्लिम एक दूसरे के शत्रु बन गए और किस प्रकार खून की होलियां खेली गई, इन सब बातों का विस्तृत अध्ययन नानकसिंह के इन उपन्यासों में किया जा सकता है –– "खून दे सोहले" और "अग्ग दी खेड" तो इस घटना का यथार्थ चित्र पेश करते हैं । इन उपन्यासों की भाषा में भी पहले वाली भाषा की अपेक्षा अन्तर है और दुखान्त घटना को प्रभावशाली ढंग से पेश किया गया है । मंझदार उपन्यास स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् उत्पन्न हुई परिस्थितियों से सम्बन्धित है । यहां आकर नानक सिंह स्वतन्त्रता के पश्चात् जो आशाएं लगाए बैठा था, वे पूरी होती नज़र नहीं आतीं । अतः कुछ उदासीन दिखाई देता है । "चित्रकार" उपन्यास की कहानी एक ऐसे कलाकार की कहानी है जिसकी कला का मूल्य पूंजीवादी या जागीरदारी में कोई नहीं है और न ही जिसके निजी व्यक्तित्व का कोई महत्त्व है।

साहित्यिक जीवन के चौथे काल में नानक सिंह उन समस्याओं से प्रभावित हुआ प्रतीत होता है जो १९४७ की भयंकर घटना के उपरान्त भारत में उपस्थित हुईं । इस काल में नानक सिंह की विचार धारा में एक विशेष परिवर्तन आने लगा है । यहां आकर वह पहले वाला आदर्शवादी एवं सुधारवादी नहीं रहा अपितु सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध आवाज़ ऊंची करता है और उन के यथार्थ चित्रण द्वारा पाठकों के मन में सामाजिक ढांचे के विरुद्ध घृणा उत्पन्न करता है । अब नानकसिंह समाजवादी विचारधारा का पोषक बन जाता है और समाजवादी विचार उसके "आदम खोर" में स्पष्ट रूप से ढूंढे जा सकते हैं । इस काल की रचनाओं में "आदम खोर", "बंजर", "छलावा", "अणसीते ज़ख्म", "पुजारी", "कट्टी होई पतंग", "नासूर", "संगम", आदि उल्लेखनीय हैं ।

वास्तव में स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त भारत में अनेक समस्याओं ने जन्म लिया । यहां पर मिल-मालिकों और मजदूरों, भूस्वामियों तथा मुज़ारों, शोषितों और शोषकों को दो वर्ग खड़े हो गए । पूंजीपति अपने अधिकारों की सुरक्षा करते थे और निर्धन मज़दूरों को पीसना चाहते थे । उनका खून पीकर वे अपनी तिजोरियों को और भरना चाहते थे परन्तु इधर मज़दूरों में भी जागृति आ चुकी थी, वे भी पूंजी पतियों से लड़ना सीख गए थे । इन दो श्रेणियों के आपसी संघर्ष और उनकी निजी समस्याओं को खुले ढंग से नानक सिंह ने चित्रित किया है । आदम खोर में ऐसे चित्र ढूंढे जा सकते हैं ।

पंजाब में भाषाओं के आधार पर

महापंजाब और पंजाबी सूबे के आन्दोलन चले। उन से प्रभावित होकर नानक सिंह ने "पुजारी" और "छलावा" नामक उपन्यास लिखे। आदम खोर में भारत में की जा रही समगलिंग के चित्र भी देखे जा सकते हैं।

"कट्टी होई पतंग" ही उसका ठीक अर्थों में समाजवादी उपन्यास कहला सकता है। यहां आकर उसके विचार बहुत स्पष्ट हैं। जहां पहले नानक सिंह समाज के विरुद्ध घृणा उत्पन्न कराने में भी संकोच करता था। वहां पर अब उस पर सामाजिक ढांचे के विरुद्ध इतना रोष है कि उसे बदलने तक की सोचता है। इस उपन्यास में उल्लिखित उसके विचार द्रष्टव्य हैं। उनके कथनानुसार "सच्चाई यह है कि जब तक हमारे देश के ८० प्रतिशत लोगों के भूखे पेट नहीं भरते और नंगे शरीर ढके नहीं जाते, तब तक ये हमारे फैशन, ऐश्वर्य और यह ठाठबाठ और यह कला सभ्यता का प्रदर्शन केवल व्यर्थ ही नहीं बल्कि मानवीय अधिकारों पर डाका डालना है।" आगे जाकर उन्होंने यह भी लिखा है कि "हमें यह शासन बदलना है जिसकी प्रेरणा से अमीर और अमीर हो रहे हैं और गरीब दब कर और गरीब हो रहे हैं।" एक स्थान पर उन्होंने लिखा है कि जब तक यह अन्धा समाज बदल नहीं जाता तब तक निर्धन व्यक्ति सुख चैन की सांस नहीं ले सकता।

उपरोक्त विचारों के संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि नानकसिंह के मनमें समाज के विरुद्ध कितना रोष है और वह अब सुधार में विश्वास नहीं रखता वह तो अब समाज बदलने की सोच रहा है और एक आदर्श संसार की कलपना करता है जहां पर मानव मानव का सम्बन्ध समान हो। जहां पर धनपति और धनहीन दो वर्ग न हों, सभी समान हों। परन्तु नानकसिंह कैसा समाझ चाहता है और यह परिवर्तन किस प्रकार लाया जा सकता है, इस बारे में वह स्पष्ट नहीं। कौन से साधन अपनाए जाएं क्या बलपूर्वक पूंजीपतियों से अधिकार लिये जाएं या गांधीवादी तरीके से इस बात का उत्तर उसके उपन्यासों में नहीं है। "कट्टी होई पतंग" में उसने मज़दूरों की हड़तालों की ओर संकेत किया है, पर मिल मालिकों से शीघ्र ही उनकी मांगे स्वीकार करा दी हैं। चाहे नानक सिंह समाजवाद की ओर अग्रसर हो रहा है परन्तु ठीक तरह से इसे अपनाने में अभी उसमें संकोच है और वह अभी अपनी विचारधारा में स्पष्ट नहीं है। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि उसका समाजवादी साहित्य का अध्ययन कम हो और पूंजीपतियों से मज़दूरों की मांगे बिना किसी रक्तपात या नियमित आन्दोलन के पूरी करवा देना अभी भी उसके आदर्शवाद का संकेत है। उसे अभी समाजवाद और

साम्यवाद के अन्तर का ज्ञान नहीं। वह तो केवल इतना जानता है कि जो कोई भी मनुष्य के अधिकार को छीनना चाहता है वह उसका सबसे बड़ा शत्रु है।

शोषित वर्ग के साथ उसे सहानुभूति है परन्तु संघर्ष के सम्बन्ध में उसके विचार विवेक सम्मत और स्पष्ट नहीं हैं। उसके मन में यह विचार घर कर गया है कि थोड़ी बहुत हड़ताल के साथ ही पूंजीपति मज़दूरों के सामने झुक जायेंगे। यह बात कितनी विवेकयुक्त है, इसे हम सोच ही सकते हैं।

प्यार भी नानक सिंह के उपन्यासों का एक स्थाई विषय है। परन्तु हर एक उपन्यास में इस प्यार के दर्शन सनातन रूप में ही होते हैं। उनका प्यार सम्बन्धी दृष्टिकोण कोई अग्रगामी नहीं है और न ही वह पश्चिम की नवीन विचारधारा से प्रभावित हुए प्रतीत होते हैं। समाज के सामने प्रेमी-प्रेमिका मनमर्जी करें यह नानक सिंह को स्वीकार्य नहीं। इसलिये प्यार में दुखांत घटना है। परन्तु उन्हें इस दुखांत की कोई परवाह नहीं। वह तो समाज के सच्चे श्रद्धालु हैं और समाज के विरुद्ध चलना उसकी प्रकृति के विरुद्ध है।

नानक सिंह के उपन्यासों में आदर्शवाद भी प्रायः हर उपन्यास में थोड़े बहुत रूप में विद्यमान है। उसका विचार है कि एक व्यक्ति भी समाज की काया पलट सकता है। इसलिये उन्होंने हर एक उपन्यास में एक ऐसे व्यक्ति को आदर्श पात्र चुना है जिसे अपने आपकी कोई सुधबुध नहीं। ऐसा लगता है मानो वह केवल अकेला ही युग युग से चले आ रहे सामाजिक भ्रष्टाचारों को समाप्त कर देगा। "पुजारी" उपन्यास का पात्र पुजारी इसका उदाहरण है। पवित्र पापी का किदार त्याग की मूर्ति है परन्तु प्रश्न यह उठता है कि क्या समाज में ऐसे व्यक्ति हैं भी या यह केवल नानक सिंह के मन की ही उपज है। उत्तर में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि यदि कोई एकाध ऐसा पात्र मिल भी जाता है तो भी उस अकेले व्यक्ति द्वारा समाज की काया पलटन की कल्पना कोई बहुत यथार्थ नहीं। और इस एक व्यक्ति के चरित्र को इतना उच्च दिखाया गया होता है कि वह मानव न होकर देवता हो जाता है, जिससे हमारा साधारणीकरण ही नहीं होता।

हो सकता है कि गांधी जी के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर नानक सिंह का यह विचार बना हो परन्तु यह अवश्य नहीं भूलना चाहिए कि गांधी जी के अतिरिक्त समस्त देश में भी एक आन्दोलन सा चला हुआ था। हर प्रान्त में एक ज्वाला सी भड़क रही थी।

नानक सिंह के उपन्यासों के विषय वस्तु पर विचार करने के पश्चात् अब हमें कला की दृष्टि से भी उसके उपन्यासों

पर विचार कर लेना चाहिए। नानकसिंह के उपन्यास के बारे में इस बात से सब सहमत हैं कि इनमें बेहद कहानी रस है। उनमें और सौ दोष हैं परन्तु कहानी की रोचकता से कोई भी व्यक्ति इन्कार नहीं कर सकता। नानक सिंह की कहानी की रोचना के प्रमाण में यह कहा जा सकता है कि उन्होंने बहुत से लोगों का पंजाबी पढ़नी सिखाई परन्तु उसके उपन्यास बहुत ज्यादा पढ़े लिखों के लिये कोई बहुत रोचक नहीं हैं। उनमें बौद्धिक अंश कम हैं। गिनी गिनाई बातों को थोड़ा बहुत परिवर्तन करके और पात्रों का नाम बदल करके पेश किया जाता है। बहुत से उपन्यासों की घटनाएं एक जैसी होती हैं। इसका कारण यह भी हो सकता है कि उनकी उपन्यास रचना की रफ्तार बहुत तेज है। वह नए वर्ष के कलैंडर की भान्ति एक नया उपन्यास लिख देते हैं। ज्यादा से ज्यादा उपन्यास लिखने की धुन में बैठे हुए कई बार उनके उपन्यासों का पूरा विकास नहीं हो पाता। कई दृष्टियों से उनके उपन्यास कच्चे रह जाते हैं परन्तु कहानी लिखने का ढंग उन्हें आता है।

नानकसिंह के उपन्यासों में चरित्र–चित्रण का बहुत विकास नहीं है। पाश्चात्य साहित्य में जहां पात्रों के Psychological analysis पर कोर दिया जाता है वहां पर नानक सिंह जो इसका बहुत ज्ञान नहीं। पवित्र पापी में इसका प्रारम्भिक रूप देखा जा सकता है। परन्तु इसका आगे के उपन्यासों में विकास न हो सका। चरित्र चित्रण में भी उनका आदर्शवाद काम करता है। उन के पात्रों का स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं है। नानकसिंह के पात्र उसके हाथ में कठपुतलियां हैं और यदि कुछ पात्रों का स्वतन्त्र व्यक्तित्व पेश किया भी गया है तो वहां पर अस्वाभाविकता आ गई है। प्लाट, भाषा, शैली, वातावरण की दृष्टि से उनके उपन्यास सफल हैं।

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि नानकसिंह पंजाबी का एक महान उपन्यास-कार है जिसने पंजाबी उपन्यास को नई दिशा देकर पंजाबी उपन्यासकारों का नेतृत्व किया और आज लिखते हुए जब कि उसे चालीस वर्षों से अधिक अवधि बीत चुकी है तो भी उनकी लेखनी गतिशील है। उन्होंने इतनी अधिक संख्या में उपन्यास लिख कर पंजाबी उपन्यास-कोश में वृद्धि की। उस समय जब समाज की दशा हीन थी तो उन्होंने सुधारवादी दृष्टिकोण अपनाया और अनेक उपन्यास लिखे। आज भी वह पंजाबी पाठकों के मन में एक विशेष स्थान बनाए हुए हैं। पंजाबी उपन्यास की यात्रा चाहे कितनी ही लम्बी हो जाए परन्तु नानकसिंह की महान देन को कम नहीं किया जा सकता। वह अपने प्रकाश से युग युग तक पंजाबी लेखकों एवं पाठकों का पथ आलोकित करते रहेंगे। ○ ○ ○

महादेवी का दुःखवाद

मदन लाल वर्मा

जीवन क्षणभंगुर है। परिवर्तनशीलता एक शाश्वत सत्य है। कभी सुख की मधुर मादक संगीत लहरी रोमांचित करती है और कभी दुःख की। एक प्रकार की सन्तुष्टि दोनों में है; परन्तु अनुभूति का क्षेत्र पृथक् है। व्यक्तिगत भावना भी एक कारण है। एक व्यक्ति दुःख के क्षणों में जितना अधिक सन्तोष प्राप्त करता है उतना शायद सुख के क्षणों में नहीं करता। इसके विपरीत दूसरा व्यक्ति 'सुखकाल में सन्तुष्टि अधिक मानता है।

प्रारम्भिक जीवन का वातावरण दोनों प्रकार के व्यक्तियों के लिये एक विशेष कारण है। हो सकता है, पहला व्यक्ति जिस वातावरण में पला है, वहां चारों ओर तड़पन, घुटन, व्यथा और बेबसी हो और दूसरे व्यक्ति का जिस वातावरण में पालन-पोषण हुआ हो; वहाँ शान्ति, स्वच्छन्दता, आनन्द और दुलार हो। इसके प्रतिकूल भी हो सकता है। क्योंकि जिस भावभूमि में कोई व्यक्ति न रहा हो, उसकी आकांक्षा स्वाभाविक ही है।

एक सदा सुखी रहने वाला व्यक्ति दुःख की अभिलाषा करना चाहेगा। केवल 'सुख' 'सुख' में ऊब भी है। यही कारण है, कि महादेवी वर्मा ने दुःखवाद को अपनाया है। उन्होंने लिखा है :—

"अपने दुःखवाद के विषय में भी दो शब्द कह देना आवश्यक जान पड़ता है। सुख और दुख के धूप—छाँहीं डोरों से बुने हुए जीवन में मुझे केवल दुःख ही गिनते रहना क्यों इतना प्रिय है यह बहुत लोगों के आश्चर्य का कारण है। इस क्यों का उत्तर दे सकना मेरे लिये भी किसी समस्या के सुलझा डालने से कम नहीं है। संसार जिसे दुःख और अभाव के नाम से जानता है वह मेरे पास नहीं है। जीवन में मुझे बहुत दुलार, बहुत आदर और बहुत मात्रा में सब कुछ मिला है, परन्तु उस पर पार्थिव दुःख की छाया नहीं पड़ सकी। कदाचित् यह उसी की

प्रतिक्रिया है कि वेदना मुझे इतनी मधुर लगने लगी है।"१

यहाँ कवयित्री ने 'पार्थिव' शब्द का प्रयोग किया है और यह उपयुक्त भी है; क्योंकि सांसारिक प्राणी 'पंचभूतों' से बने 'शरीर' में ही दुःख-सुख आ अनुभव करता है और आत्मा की उच्चता तक पहुंचने वाला योगी दोनों अवस्थाओं में समदृष्टिकोण वाला होता है। वह पार्थिव रूप से परे पहुंचा हुआ होता है, उसे ज्ञान होता है कि यह शरीर मिट्टी का है। सामान्य व्यक्ति को तो सुख-दुःखानुभूति होती ही है।

आगे चल कर महादेवी वर्मा ने फिर लिखा है :-

"इससे मेरा यह अभिप्राय कदापि नहीं है, कि मैं जीवन भर 'आंसू की माला' ही गूंथा करूँगी और सुख का वैभव जीवन के एक कोने में बन्द पड़ा रहेगा।"२

इन पंक्तियों से स्पष्ट हो जाता है, कि महादेवी वर्मा ने जिस दुःखवाद को अपनाया है, वह सांसारिकता से बहुत परे है, परन्तु हमारे कुछ पाठक उनकी कविता में सांसारिक दुःखवाद को ढूंढने का विफल प्रयास करते हैं। यह ठीक नहीं।

स्वयं महादेवी ने भी एक स्थान पर लिखा है :—

"जीवन के प्रति मेरे दृष्टिकोण में निराशा का कुहरा है या व्यथा की आर्द्रता यह दूसरे ही बता सकेंगे, परन्तु हृदय में तो मैं आज निराशा का कोई स्पर्श नहीं पाती, केवल एक गम्भीर करुणा की छाया ही देखती हूं।"३

इस कथन द्वारा महादेवी हृदय में निराशा का कोई स्पर्श नहीं पाती। आशा-निराशा लौकिक भाव हैं। और अप्रत्यक्ष रूप से वे यह मान भी रही हैं। 'गम्भीर करुणा की छाया' को देखना एक दिव्य भाव है। इस लौकिक दुःखवाद को अजान रूप से लगभग सभी प्रतिष्ठित आलोचकों ने अस्वीकृत किया है। कुछेक आलोचकों के उद्धरण देखिए :—

शचीरानी गुर्टू :—"पीड़ा कवयित्री के मन की वह मधुर स्निग्धता है जो गीतों में उभर कर किन्हीं अस्पष्ट उमंगों और धुंधले आवेगों की धूमिलता में फैल जाती है, जिसे ठीक ठीक पकड़ा नहीं जा सकता, आंका नहीं जा सकता। शब्दों के माध्यम से इतनी सूक्ष्म मनःस्थिति को व्यक्त कर पाना सम्भव ही कैसे है, अतएव उनकी अभिव्यक्ति में वह दंशन और दाह नहीं है जो अपने अस्तित्व से घबरा कर

---

१. रश्मि : 'अपनी बात' (१९५७ संस्करण) पृष्ठ : ५।

२. वही पृष्ठ ६।

३. आधुनिक कवि १, 'अपने दृष्टिकोण से' (शक १८८० संस्करण) पृष्ठ ३७।

मध्याह्न की प्रखरता को ज्योत्स्ना की शीतलता और भीतर के कोलाहल को शान्ति में परिणत कर देने की ख्वाहिश करे। वे तो अपनी पीड़ा, छटपटाहट और बेचैनी को ज्यों का त्यों अक्षुण्ण बनाये रखना चाहती हैं।।"१

जैनेन्द्र :—"महादेवी जी की पीड़ा चाह कर अपनाई हुई है.....महादेवी प्यास को ही चाहती मालूम होती हैं, इससे अनुमान होता है कि प्यास को उन्होंने जाना नहीं है। **घायल घाव नहीं चाहता।** जो अभी घाव ही चाहता है, मालूम होता है उसकी गति घायल की है नहीं। महादेवी जी विरह और संयोग में रस अधिक ढूंढती है। इसका अर्थ है, विकलता उतनी अनुभव नहीं करतीं।"२

देवेन्द्र सत्यार्थी :—"**टिमटिमाते तारों** में वह अपना इतिहास खोजती है, मधु बयार नवजीवन का सन्देश लाती है। कभी वेदना उसके मन पर छा जाती है और यह 'नीर भरी दुःख की बदली' से अपनी तुलना करने लगती है। आँसू ही उसके प्रिय सखा हैं।"३

शिवचन्द्र नागर:—"उनकी पलकों की ओट में करुणा के अनन्त आँसू हैं और उनके अधरों की ओट में संसार को देने के लिये हंसी का अक्षय भण्डार। इन आंसुओं को उनके काव्य में अभिव्यक्ति मिली है........."४

प्रभाकर माचवे :—"उनमें आत्मार्पण तथा आत्मपीड़न अत्यधिक है। यानी कहीं भी उन्होंने अपने आपको उभार नहीं रखा है। और वैसे उन्होंने **अपने सिवा और किसी के भावों की बात** भी कहां की है?"५

नन्द दुलारे वाजपेयी :—"महादेवी के काव्य में वैराग्य भावना का प्राधान्य है। महात्मा बुद्ध की भांति नहीं (बुद्ध की मूर्तियों में भी दुःख की मुद्रा नहीं मिलती) किन्तु बौद्ध संन्यासियों और और संन्यासिनियों–सरीखी एक चिन्ता-मुद्रा, एक विरक्ति, एक तड़प, **शान्ति के प्रति एक अशान्ति** महादेवी जी की कविता में सब जगह देखी जा सकती है।"६

---

१. महादेवी वर्मा (काव्यकला और जीवन दर्शन) 'अपने दृष्टिकोण से' (१९५७ संस्करण) पृष्ठ ८।
२. सुश्री महादेवी वर्मा : प्रश्नोत्तर।
३. महाश्वेता महादेवी।
४. श्रीमती महादेवी वर्मा : एक रेखा चित्र।
५. महादेवी वर्मा की कविता तथा चित्रकला।
६. 'यामा' का दार्शनिक आधार।

उपर्युक्त विभिन्न कथनों में रेखांकित शब्दों के द्वारा इसी बात की पुष्टि होती है, कि महादेवी वर्मा का दुःखवाद अपना एक अलग स्थान रखता है। इसे साहित्यिक वाद में घसीटना भी उचित नहीं। यह निराशाजनित दुःखवाद नहीं।

लोगों ने 'तारा पाण्डे' की भांति महादेवी वर्मा में भी निराशा और दुःख की घनघोर घटाओं के दर्शन करने का प्रयत्न किया है। परन्तु यहां वह बात है नहीं। तारापाण्डे की कविता में शारीरिक अस्वस्थता से उत्पन्न दुःख और निराशा की स्पष्ट झलक मिलती है, जिसका महादेवी में पूर्णतया अभाव है।

अब ज़रा महादेवी के दुःखवाद की विशेषता का भावपक्ष की दृष्टि से विवेचन कर लें।

दुःख का जन्म अपने प्रियतम के दर्शन न होने के कारण होता है। अतः प्रेम भरा जीवन ही वस्तुतः व्यथा का जीवन है :—

"इन ललचाई पलकों पर पहरा था जब व्रीड़ा का,
साम्राज्य मझे दे डाला, उस चितवन ने पीड़ा का।
उस सोने के सपने को देखे कितने युग बीते,
आंखों के कोष हुए हैं, मोती बरसा कर रीते॥"

प्रिय-मिलन की प्रबल आकांक्षा में प्रेयसी का मनोवेग दर्शनीय है :—

"पर शेष नहीं होगी यह मेरे प्राणों की क्रीड़ा।
तुमको पीड़ा में ढूंढा, तुम में ढूंढूंगी पीड़ा॥"

दुःख का उमड़ता हुआ पूर्ण रूप तो विरह में ही प्रकट होता है, अतः कवयित्री वियोग के आरम्भ और समाप्ति से अनजानी है :—

"अलि ! विरह के पन्थ में मैं तो इति अथ मानती री !"

"वेदना की महत्ता तीन कारणों से है। वेदना अन्तःकरण को शुद्ध करती है, वह हमें प्रिय के अधिक निकट खींचती है और स्वयं उस प्रियतम की शोभा इसी में है कि उसके लिये कोई वेदना का अनुभव करने वाला हो। सोना तप कर ही उज्ज्वल होता है। हृदय भी प्रेम में जितना तपता है उतना निखरता है। जल जैसे सुमन की रज को धो देता है, उसी प्रकार आंसू भी मन-सुमन के वासनात्मक मैल को धो डालते हैं, यह कौन नहीं जानता ? दुख की जड़ सांसारिक ममता का विनाश होकर अलौकिक प्रेम की आभा अन्तर में फूटती है।"[१]

तभी तो कवयित्री ने लिखा है:—

"विरह का युग मिलन का पल, मधुर जैसे दो पलक चल।
एकता इनकी तिमिर, दूरी खिलाती रूप शतदल॥"

---

१. विश्वम्भर मानव : महादेवी की रहस्य साधना (१९६२ संस्करण) पृष्ठ १४३।

"तुम मानस में बस जाओ छिप दुःख की
अवगुण्ठन से।
मैं तुम्हें ढूंढनें के मिस परिचित हो लूं
कण-कण से।।"

जिस प्रकार एक व्यक्ति पीड़ा को सहने में असमर्थ होने के कारण रो देता है और उसकी आंखों से बरबस आँसू निकल आते हैं। और यदि कोई सहानुभूति जता कर उसे सान्त्वना न दे, तो वह लम्बी लम्बी और ठण्डी साँसें लेने लग जाता है। इतने पर भी कोई आश्वासन न दे तो वह अपने आप शान्त हो जाता है। परन्तु यह क्रम तब तक चलता रहता है, जब तक उसकी पीड़ा की इतिश्री नहीं हो जाती; उसी प्रकार हम महादेवी की पीड़ा में भी ऐसी ही शृंखला की कड़ियां देखते हैं।

महादेवी ने दुःखवाद को उल्लास प्राप्ति के लिये अपनाया है। विरह वेदना को काव्य का विषय मिलन-कार्य के लिये बनाया है।

"कवयित्री ने दुःखवाद को अपना काव्यविषय बना कर सुखवाद से वैर नहीं ठाना, प्रत्युत सुखवाद का उल्लास प्राप्त करने के लिये ही उन्होंने वेदना से मैत्री स्थापित की है।"१

"दुःख को उन्होंने 'मधुरभाव' के रूप में स्वीकार किया है।"२

"चिर-विरह और निराशा ही उन के काव्य के प्राण और आधार हैं, किन्तु चिर-मिलन का भाव भी अनायास ही गीतों में पुलक उठता है।"३

"महादेवी में एक उत्फुल्ल विषाद है।"४

स्वयं कवयित्री ने भी लिखा है :—

"मैं कण-कण में ढाल रही अलि!
आँसू के मिस प्यार किसी का।
मैं पलकों में पाल रही हूँ,
यह सपना सुकुमार किसी का।।"

"तुम मुझ में प्रिय फिर परिचय क्या?
चित्रित तू मैं हूँ रेखा क्रम,
मधुर राग तू मैं स्वर संगम।
तू असीम मैं सीमा का भ्रम।
छाया-काया में रहस्यमय प्रेयसि-प्रियतम का
अभिनय क्या।।"

और अब दुःख की समाप्ति के पल भी धीरे-धीरे समीप आ रहे हैं :—

'दीप सी मैं!
आ रही अविराम मिट मिट,
स्वजन और समीप-सी मैं।"

कवयित्री को प्रिय-प्राप्ति पर व्यथा को तिलाञ्जलि देनी ही पड़ेगी। यद्यपि

---

१. लक्ष्मी नारायण 'सुधांशु' : श्रीमती महादेवी वर्मा : एक मूल्याङ्कन।
२. विनय मोहन शर्मा : महादेवी की कविता।
३. प्रकाश चन्द्र गुप्त : महादेवी की काव्य-साधना।
४. शान्तिप्रिय द्विवेदी : पन्त और महादेवी।

ग्रीष्म ऋतु की अन्तिम प्रहर की रात्रि के समान उसे शीतल मन्द समीर की तरह व्यथा भाती रहेगी और सुकोमल शय्या को न छोड़ने की तरह वह उसे भी न छोड़ना चाहेगी परन्तु फिर भी उषः काल होने के बाद ज्यों ज्यों सूर्य की किरणों में प्रचण्डता आती जायेगी, ठण्डी हवा की मस्ती अपने आप उतरती जायेगी और इसी प्रकार 'व्यथा की विलक्षण मादकता' भी उतर जायेगी :—

"राख से अंगार तारे झर चले हैं।
धूम बन्दी रंग के निर्झर खुले हैं।।"

यह तो हुई भावात्मकता की दृष्टि से महादेवी के दुःखवाद की विवेचना परन्तु प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या किसी उत्कृष्ट कलाकर्त्री की कला में किसी वाद को देखना न्यायसंगत है ? मेरे विचार में महादेवी की कविता को किसी 'वाद' के घेरे में बांध कर रखना ठीक जँचता नहीं। उनकी कविता 'वादों' से परे है। उसमें एक दिव्यता है, जो शायद कवीन्द्र रवीन्द्र के बाद प्रथमवार उनमें देखी गई है, उनकी समता में प्रसाद, निराला और पन्त का नाम अवश्य लिया जा सकता है, परन्तु क्रमरूप में पहला नाम महादेवी वर्मा का ही है।

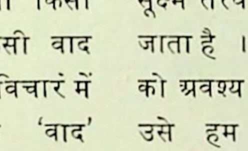
उन्होंने एक स्थान पर लिखा है :—

"आज के दुःख का सम्बन्ध जीवन के स्थूल धरातल की विषमता से रहता है; अतः समष्टि को आर्थिक आधार पर बाह्य-सामञ्जस्य देने का आग्रह इसकी विशेषता है ।"१

इस कथन के आधार पर उनका दुःखवाद आर्थिक आधार पर बाह्य-सामञ्जस्य देने का आग्रह लिये हुए है, आन्तरिक सामञ्जस्य का नाम नहीं आया । स्थूलता की महत्ता होने पर सूक्ष्म तत्त्व का वैशिष्ट्य बहुत दूर चला जाता है । अतः यदि महादेवी की कविता को अवश्य 'वाद' में बांधना ही हो तो उसे हम '**करुणावाद**' का नाम अवश्य दे सकते हैं । दुःखवाद नहीं । इसकी यथार्थता उनकी कविताओं के गम्भीर चिन्तन द्वारा प्रगट हो सकती है ।

○ ○ ○

१. दीपशिखा : 'चिन्तन के कुछ क्षण' (२०१६ संस्करण) पृष्ठ ४६।



निजी साहित्यिक संस्थाओं, सभाओं, व्यक्तियों को आर्थिक सहायता

डायरैक्टर, पंजाबी विभाग, पंजाब पटियाला द्वारा पंजाबी में साहित्यिक तथा अनुसन्धान सम्बन्धी पुस्तकों के लेखन एवं प्रकाशन के लिये आर्थिक सहायता प्रदान करने के हेतु पंजाबी भाषा की उन्नति और समृद्धि के लिए कार्यशील साहित्यिक संस्थाओं, सभाओं, व्यक्तियों से निर्धारित प्रपत्रों पर प्रार्थना-पत्र आमन्त्रित किये जाते हैं। ये प्रपत्र डायरैक्टर, पंजाबी विभाग, पंजाब पटियाला के कार्यालय से निःशुल्क प्राप्य हैं। इस सम्बन्ध में रजिस्टर्ड साहित्यिक संगठनों को प्राथमिकता दी जाएगी। सहायता विशेष साहित्यिक या वैज्ञानिक रचनाओं को पंजाबी में प्रकाशन के लिये दी जायगी। मौलिक कहानियों, कविताओं, उपन्यास, नाटक आदि के लेखन-प्रकाशन पर कोई माली सहायता नहीं दी जाएगी। प्रार्थना-पत्रों के साथ पुस्तक का विषय और छपाई आदि का खर्च का पूरा ब्यौरा अवश्य देना होगा।

प्रार्थना-पत्रों के लेने की अन्तिम तिथि ३० सितम्बर, १९६५ है, सहायता केवल उन्हीं पुस्तकों की छपाई के लिये दी जाएगी जिनके मसौदे हर पक्ष से पूर्ण भेजे जायेंगे।

हस्ताक्षर
डायरैक्टर,
पंजाबी विभाग, पंजाब, पटियाला।

शोक समाचार

भाषा विभाग, पंजाब की साहित्य सभा की यह विशिष्ट बैठक पंजाबी के सुप्रसिद्ध साहित्यकार, पत्रकार, त्यागमूर्ति और देशभक्त ज्ञानी हीरासिंह जी 'दर्द' के देहावसान पर हार्दिक शोक प्रकट करती है तथा दिवंगत आत्मा की शान्ति के लिये ईश्वर से प्रार्थना करती है ।

पारित किया गया कि इस शोक प्रस्ताव की एक प्रति ज्ञानी हीरासिंह जी के परिवार को और एक एक प्रति विभाग की मासिक पत्रिकाओं में प्रकाशनार्थ भेजी जाए ।

श्री लाल सिंह, डायरैक्टर जनरल, भाषा विभाग, पंजाब, पटियाला द्वारा प्रिंटिंग एण्ड स्टेशनरी डिपार्टमेंट, पंजाब, पटियाला से छपवाकर प्रकाशित किया गया ।

सम्पादक—डा० परमानन्द

सप्तसिन्धु

अगस्त, १९६५

हिन्दी विभाग, पंजाब, पटियाला

५० पैसे

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।

नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ।।२२।।

इसलिये हे अर्जुन ! यद्यपि मुझे तीनों लोकों में कुछ भी कर्तव्य नहीं है तथा किन्चित् भी प्राप्त होने योग्य वस्त अप्राप्त नहीं है, तो भी मैं कर्म में ही बर्तता हूं ।

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ।२३।

क्योंकि यदि मैं सावधान हुआ कदाचित् कर्ममें न वर्तू तो हे अर्जुन ! सब प्रकार से मनुष्य मेरे बर्ताव के अनुसार बर्तते हैं अर्थात् बर्तने लग जायं ।

लेख सूची

(मासिक प्रकाशन——अगस्त, १९६५)

वर्ष १२ अंक ८

सम्पादक—डा० परमानन्द

परामर्श समिति

हिन्दी विभाग, पंजाब, पटियाला

सम्पादकीय

"तिथि–मिति–दिनाङ्क"

भारत में स्वातन्त्र्य-प्राप्ति के अनन्तर यह आवश्यकता देश के नेताओं को अनुभव हुई कि विदेशी भाषा का व्यवहार जो राज-काज में या जन-व्यवहार में हो रहा है वह हटना चाहिए । विदेशी भाषा कितनी भी सम्पन्न या सुसमृद्ध हो कभी जन-भाषा नहीं बन सकती और न ही विदेशी भाषा में जन-मानस के अन्तस्तल की झलक आ सकती है। इसलिए हिन्दी, जो शताब्दिओं से समूचे भारत की साहित्यिक भाषा रही है उसे ही राष्ट्र-भाषा, राज-भाषा या सम्पर्क-भाषा बनने का श्रेय दिया गया । एतदर्थ हिन्दी को सर्वाङ्ग पूर्ण बनाने के लिये पारिभाषिक या प्रशासनिक शब्दों का निर्माण करना अनिवार्य था ।

पारिभाषिक पदावली के प्रचालन के लिये यह आवश्यक है कि वह जनता के निकट हो और उसमें प्रधानता उन शब्दों की दी जाये जो पहले से ही उसी अर्थ में प्रचलित रहे हों।

अंग्रेज़ी के डेट (Date) शब्द के लिये कौन सा शब्द अपनाया जाय ? हिन्दी के कर्णधारों ने इसके लिए "दिनांक" शब्द प्रचलित किया है । Date के लिये दिनांक शब्द चल तो पड़ा है, सरल भी है परन्तु कृत्रिम सा झलकता है । या यों कहिये कि साहित्यकारों की दृष्टि में यह शब्द एक प्रकार से "हतार्थ" है। इसका शब्दार्थ है दिनका अंक अर्थात् Figure of

the day। अर्थ कुछ भी बन जाय परन्तु शब्द स्वाभाविक या प्रचलित नहीं। मुझे समझ नहीं पड़ता कि हिन्दी के कर्णधारों ने इस अर्थ में चिरकाल से प्रयुक्त होने वाले "मिति" शब्द का बहिष्कार क्यों किया ?

मुख्यतया काल-गणना "सौर" या चान्द्र वर्षों में ज्योतिष के अनुसार की जाती है। इसके अतिरिक्त "नाक्षत्रादि" वर्ष भी होते हैं परन्तु वे प्रचलित नहीं रहे। जब हम "चान्द्र" वर्ष की कल्पना करते हैं तो चान्द्र मास शुक्ल या कृष्ण पक्षों में विभक्त होता है। शुक्ल में चन्द्रमा प्रतिदिन एक एक कला बढ़ता है और अन्त में पूरा हो जाता है। प्रतिदिन इस प्रकार चन्द्रमा के बढ़ने से शुक्ल पक्ष को १५ भागों में बांटा जाता है और जब चन्द्रमा प्रतिदिन एक एक कला क्षीण होता है तो उसे कृष्ण पक्ष कहा जाता है स प्रकार कृष्ण पक्ष के भी १५ भाग होते हैं। शुक्ल के १५ और कृष्ण के भी १५। इस प्रकार एक चान्द्र मास बनता है। शुक्ल या कृष्ण के एक एक भाग को तिथि कहा जाता है। अर्थात् जिस दिन चान्द की एक कला आकाश में निकलती है वह प्रथमा तिथि कहलाती है। द्विकला वाल दिन को द्वितीया तिथि इस प्रकार शुक्ल पक्ष में जिस दिन चन्द्रमा पूर्ण होता हैं वह पूर्णिमा तिथि कहलाती है। और कृष्ण पक्ष की अन्तिम तिथि को अमावस्या कहा जाता है। चूंकि सरकारी कार्यालयों में चान्द्र वर्ष के अनुसार दिन गणना नहीं की जाती, अतः Date के लिये तिथि शब्द नहीं अपनाया जा सकता है। तिथि शब्द की व्याख्या सर मोनियर विलियम ने इस प्रकार की है :--

> A lunar day (30th part of a whole lunation of rather more than 27 solar days.)

श्री वामन शिवराम आप्टे ने भी लिखा है :--

"तिथि m. a. f; A lunar day, the numbers of fifteen."

ख

उदाहरणार्थ मुद्राराक्षस नाटक में देखिए :--

"तिथिरेव तावन्न शुद्धयति" (मु० ५) इसी तिथि शब्द से "तिथिक्षम" आदि शब्द बनते हैं । अतः यह तिथि शब्द सौर दिन के लिये प्राचीन साहित्य में प्रयुक्त नहीं हुआ ।

सौर दिन-बोधक शब्द जो प्राचीन काल से प्रयुक्त होता आ रहा है --वह है "मिति"। "मिति" शब्द स्त्रीलिंग में प्रयुक्त होता है । मा धातु से भाव अर्थ में क्तिन् प्रत्यय (मा + क्तिन्) लगने से बनता है। मीयते इति मितिः। शब्द कल्पद्रुम में इस के अर्थ ये लिखे हैं :--

'मानम्। विज्ञानम् । अवच्छेदः", यही अर्थ रत्नावली में भी दिये हैं। न्यायकुसुमाञ्जलि में "मितिः सम्यक् परिच्छित्ति :" (४६।४) लिखा है । भावार्थ यह है कि अन्य उल्लिखित अर्थों में एक अर्थ "मिति" शब्द का "समय की बांट या माप" भी है । सौर वर्ष के अनुसार मासान्तर्गत दिनों की गणना "मिति" शब्द से प्राचीन काल से प्रतिपादित होती रही । उसके लिए 'प्रविष्टे' शब्द का प्रयोग भी है । परन्तु "दिनांक" का प्रयोग अभी प्रचलित किया गया है। मेरा विचार है "मिति" शब्द (Date) के अर्थ में चलते रहना चाहिए। प्राचीन बही खातों में यह पाया जाता है और आज कल भी प्रचलित है । परन्तु हिन्दी वालों ने इस प्रचलित सरल और सुविदित शब्द को न अपना कर दिनांक शब्द को क्यों अपनाया है । पंजाबी या कुछ अन्य क्षेत्रीय भाषाओं में तो यह शब्द सर्वथा अब भी प्रचलित है। सरकारी पत्रों पर भी "मिति" शब्द ही वे लिखते हैं --

दिनांक शब्द जहां तक मैं समझ सका हूँ कृत्रिम सा है । शब्द चला देना और बात है और उसमें व्यापकता लाना और परम्परा को भी अक्षुण्ण रखना दूसरी बात है ।

मैंने ये शब्द हिन्दी-कोविदों के विचारार्थ लिखे हैं। सैद्धान्तिक रूप से नहीं । यदि विद्वान् इस विषय में अपने विचार दें तो उन्हें भी जनता के सामने लाया जायगा ।

'भक्तमाल' की प्राचीनतम प्रति और उससे प्राप्त नये तथ्य

अगरचन्द नाहटा

हिन्दी साहित्य में भक्त एवं संत-जनों के सम्बन्ध में अनेकों ग्रंथ रचे गए हैं——उनमें सबसे अधिक प्रसिद्धि नाभादास की भक्तमाल को प्राप्त है। इस भक्तमाल के अनुकरण में आज तक पचासों ग्रंथ (भक्तों की नामावली और चरित सम्बन्धी) रचे जा चुके हैं अर्थात् भक्तमाल व उसके जैसी अनेक रचनाएं अब तक प्रत्येक सम्प्रदाय में बनती रही हैं और नाभादास की भक्तमाल वास्तव में ही उन सब का प्रेरणा स्रोत रहा है। नाभा जी की इस कृति का थोड़े ही समय में भारत व्यापी प्रचार हो गया। गुजराती, बंगाली, मराठी, उर्दू, फारसी आदि भाषाओं में भी इसके अनुवाद हुए और इसके आधार से तो अनेकों ग्रन्थ लिखे गये। भक्तमाल पर जितनी टीकाएं लिखी गई——शायद बिहारी सत्तसई को छोड़ कर और किसी हिन्दी काव्य पर नहीं लिखी गई। भक्त एवं संत जनों के लिये ही यह ग्रंथ सब से अधिक भक्ति की प्रेरणा देने वाला सिद्ध हुआ। पंजाब, बंगाल, गुजरात, महाराष्ट्र, राजस्थान आदि सभी प्रदेशों में 'भक्तमाल' और उसकी टीकाएं की प्रतियां प्राप्त हैं। भक्तों के चरित इस ग्रंथ में संक्षिप्त होते हुए भी बहुत ही सार गर्भित लिखे गये हैं। भक्तमाल सम्बन्धी परवर्ती साहित्य बहुत विशाल है। इतने प्रसिद्ध ग्रंथ के सम्बन्ध में भी अभी तक कई प्रकार के मतभेद विविध ग्रंथों में देखन को मिलते हैं। पद्यों की संख्या, रचनाकाल यहां तक कि ग्रंथ के कृतित्व के संबंध में भी मतभेद पाया जाता है। कई विद्वानों ने इसकी पद्य संख्या १०८* बतलाई है, तो कुछ लोगों ने ३१६ भी, पर प्रियादास की टीका जो इस ग्रन्थ की सर्वप्रथम टीका है, में १७ दोहे और १९७ छप्पय कुल २१४

* इस मत का प्रारम्भ शिवसिंह सरोज से हुआ अन्यों ने अनुकरण किया।

पद्य ही प्राप्त हैं। ग्रंथ का रचनाकाल सं० १६४० से १७१५ तक अलग-अलग विद्वानों ने अपने मतानुसार बतलाया है। नागरी प्रचारिणी पत्रिका वर्ष ६३ अंक ३–४ में किशोरी लाल गुप्त ने भक्तमाल को ३ व्यक्तियों की रचना सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। उनके मतानुसार १०८ छप्पय तो नारायणदास ने बनाये और ६२ छप्पय नाभादास के हैं, कुछ अग्रदास के हैं इस प्रकार उन के मतानुसार भक्तमाल में तीन व्यक्तियों का संयुक्त कृतित्व है। वे लिखते है :—

"सामान्यतया स्वीकार किया जाता है कि भक्तमाल नाभा दास जी की रचना है और नाभादास तथा नारायणदास एक ही व्यक्ति के दो नाम हैं। पर भक्तमाल के अनुशीलन से स्पष्ट होता है कि यह ग्रंथ किसी एक व्यक्ति की रचना न होकर कम से कम तीन व्यक्तियों की संयुक्त कृति है ये तीन व्यक्ति हैं—अग्रदास और उनके शिष्य नारायणदास तथा नाभादास ।

"शिवसिंह सरोज के अनुसार भक्तमाल मे कुल १०८ छप्पय हैं। ग्रियर्सन ने भी (सम्भवतः सरोज के ही आधार पर) इस ग्रंथ में कुल १०८ छप्पयों के होने की बात लिखी है। आचार्य शुक्ल ने इसमें ३१६ छप्पयों में लगभग २०० भक्तों के चरित्त वर्णित होने का उल्लेख किया है। पर इस भक्तमाल के जो भी मुद्रित या हस्त-लिखित संस्करण सुलभ हैं, उनमें कुछ छंद २१४ हैं, जिनमें १७ दोहे (छंद संख्या १, २, ३, ४, २६, २०३–१४) और १६७ छप्पय हैं। 'भक्तमाल' नाम से इसमें १०८ छप्पय होने वाली बात समीचीन प्रतीत होती है, शुक्ल जी ने न जाने किस आधार पर छंद संख्या ३१६ दी है। स्पष्ट है कि भक्तमाल में परिवर्द्धन हुआ है (और यदि शुक्ल जी को प्रमाण माना जाय तो इसमें संकोचन हुआ है) और इसमें १६७–१०८–८६ छप्पय बाद में जोड़े गए हैं।"

भक्तमाल साहित्य पर श्री लालता प्रसाद दुबे ने १९६२ में प्रयाग विश्व-विद्यालय द्वारा डाक्टरेट प्राप्त किया है, उनसे आशा की गई थी कि वे अब तक जो विभिन्न मत प्रचलित हैं उन पर गम्भीरता से विचार करके कुछ ठोस बातें प्रकाश में लायेंगे। यद्यपि उनका शोध प्रबन्ध अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है, पर उनका लेख 'हिन्दी भक्त वार्ता साहित्य' नामक 'हिन्दुस्तानी' के अप्रेल-जून १९६३ के अंक में प्रकाशित हो चुका है। उसे देखने से लगता है कि वे भी किसी अन्तिम निर्णय पर नहीं पहुंच पाये हैं—बल्कि उन्होंने भक्तमाल का रचनाकाल जो अब तक १६६० से १७०० तक का माना जाता था उसे और भी आगे बढ़ा दिया है।

उन के मतानुसार भक्तमाल की रचना सं० १७१५ के लगभग समाप्त हुई है । वे लिखते हैं —

"सम्पूर्ण भक्तमाल में रचनाकार के रूप में नारायणदास का ही नाम मिलता है । इसी भ्रम के कारण पाश्चात्य विद्वानों ने भक्तमाल को नाभादास तथा नारायणदास, इन दो व्यक्तियों की रचना माना है । डा० किशोरीलाल गुप्त न इसमें अग्रदास का नाम और जोड़ कर भक्तमाल को कम से कम तीन व्यक्तियों की रचना माना है। डा० ग्रियर्सन, नाभादास और नारायणदास को गुरु-शिष्य मानते हैं । और डा० किशोरीलाल गुप्त इन्हें गुरु भाई मानते हैं, किन्तु भक्तमाल को नाभादास की कृति मानने की प्रसिद्धि प्राचीनकाल से ही इतनी दृढ़ है कि सहसा उसके विरोधी तथ्यों को स्वीकार करना कठिन लगता है । हमने विभिन्न साक्ष्यों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि नाभादास के भक्तमाल की रचना सं० १७१५ के लगभग समाप्त हुई ।"

"हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने भक्तमाल की रचना भिन्न भिन्न तिथियां दी हैं । और अधिकांश ने अपने मत के समर्थन में कोई प्रमाण नहीं उपस्थित किया है । इधर कुछ समय से अन्त: साक्ष्य के आधार पर उसके रचनाकाल का पता लगाने के अनेक प्रयास हुए हैं, किन्तु निश्चयात्मक रूप से अभी कुछ भी नहीं कहा जा सकता । श्री वासुदेव गोस्वामी ने वल्लभ (वास्तव में राधा वल्लभ) सम्प्रदाय के चतुर्भुजदास का वर्णन भक्तभाल में मिलने के कारण उसे सं० १६८६ की बतलाई है । इसी प्रकार पुरोहित हरिनारायण शर्मा ने अन्त: साक्ष्यों के ही आधार पर उसके रचनाकाल की सीमा १६४०–६० तक निर्धारित की है । इसके पूर्व के विद्वानों ने भक्तभाल में तुलसीदास का उल्लेख मिलने के कारण उसकी रचना सं० १६८० के पूर्व मान कर इस समस्या को यों ही छोड़ दिया था । भक्त माल जिस रूप में आज उपलब्ध है उसमें सब से बाद के भक्त महाराजा जसवन्त सिंह सिद्ध होते हैं । उक्त महराजा का स्वर्गवास सं० १७३५ में हुआ था और उनका वर्णन भक्तभाल में वर्तमान रूप में मिलने के कारण (जैसा कि 'भ्राजमान' शब्द से स्पष्ट है) उसकी रचना सं० १७३५ के पूर्व हुई होगी । इसके बाद की किसी घटना का उल्लेख भक्तमाल में नहीं मिलता । शाहजहां के राज्यकाल में जसवन्त सिंह को अत्यधिक सम्मान मिला था और सं० १७१४ में इनका मनसब सात हजारी कर दिया गया था और इस बात के अनेक प्रमाण मिलते हैं कि सं० १७१५ तक वे हिन्दू धर्म रक्षक के रूप में विख्यात हो चुके थे क्योंकि औरंगज़ेब ने सं० १७१६ में अपने एक पत्र में लिखा था कि

"जसवन्त सिंह काफिर है जो मस्जिदों को तोड़ कर उन के स्थान पर मंदिर बनवा लेता है।" श्री महावीर सिंह गहलोत ने इन्हीं जसवन्त सिंह के साक्ष्य के आधार पर भक्तमाल का रचनाकाल सं० १७१५ के लगभग माना है और उसके वर्तमान रूपान्तर के रचनाकाल के लिये यही तिथि सब से अधिक उपयुक्त लगती है। इसकी पुष्टि दो अन्य बातों से भी हो जाती है—एक तो यह कि गार्सादतासी और ग्रियर्सन ने यह माना है कि भक्तमाल का संशोधन तथा परिवर्धन शाहजहां के शासन काल में समाप्त हो चुका था और यह सर्वमान्य है कि उसका शासन काल सं० १७१५ में समाप्त हुआ था। दूसरा उससे भी पुष्ट प्रमाण यह है कि राधो दास के भक्तमाल में जिसकी रचना सं० १७१७ में हुई, नाभाद स कृत भक्तमाल का उल्लेख ही नहीं है बल्कि उसके कुछ शब्दशः अनुकरण भी हैं।"

श्री दुबे ने भक्तमाल के जिस जसवन्त को जोधपुर का महाराजा मान कर भक्तमाल का रचनाकाल सं० १७१५ के लगभग माना है—वास्तव में वे जोधपुर के महाराजा न हैं। नाम साम्य के कारण ही उन्हें यह भ्रान्ति हुई है। भक्तमाल में जसवन्त को राठौर ज़रूर बतलाया है, पर महाराजा नहीं लिखा। वास्तव में भक्तमाल में जसवन्त के सम्बन्ध में जो बातें लिखी हैं वे जोधपुर के महाराजा जसवन्त सिंह के जीवन में नहीं पाई जातीं। मूल पद्य और उसका अर्थ नीचे उद्धृत किया जा रहा है—

"भक्तनि सों अति भाव निरंतर अंतर नाहीं।
कर जोरे इक पाय मुदित मन आज्ञा माहीं॥
श्री बृन्दाबन बास कुंज-क्रीड़ा रुचि भावै।
राधा बल्लभलाल नित प्रति ताहि लड़ावै॥
परम धरम नवधा प्रधान सदन सांच निधि प्रेम-जड़।
जसवंत भक्ति जयमाल की, रूड़ा राखी राठवड़॥१५५

अर्थ—

श्री जसवन्त जी भगवान् के भक्तों से निष्कपट प्रेम करते और आनन्द-पूर्वक हाथ जोड़ एक पैर से उनकी आज्ञा में खड़े रहते थे।

श्री वृन्दावन-वास तथा युगल स्वरूप की नित्य निकुंज-लीला में आपकी बड़ी प्रीति थी। ठाकुर श्री राधा वल्लभ लाल जी को आप नित्य लाड़ लड़ाया करते और सब धर्मों के सार भूत नवधा-भक्ति एवं प्रधान प्रेमा-भक्ति-रूपी निधि को अपने हृदय-देश में संचित कर रखते। प्रेम की अवस्था में कभी-कभी आप देहानुसन्धान भूल कर जड़ पदार्थ की भांति निश्चल हो जाते। इस प्रकार राठौर वंश में उत्पन्न जसवन्त सिंह ने अपने बड़े भाई श्री जयमाल सिंह जी की

भक्ति पद्धति को उनके बाद भी सुरक्षित (सुप्रतिष्ठित) रक्खा ।"

उपरोक्त अर्थ वृन्दावन से प्रकाशित 'भक्ति-रसायिनी' व्याख्या वाले 'भक्तमाल' के नये व वृहद संस्करण से उद्धत किया गया है, इसमें जसवन्त सिंह का बड़ा भाई जयमाल सिंह बतलाया है वह विचारणीय है । जोधपुर के महाराजा जसवन्त सिंह के बड़े भाई का नाम तो अमरसिंह था । जोधपुर के महराजा ने न तो वृन्दावन में वास किया था, न वे राधा बल्लभ जी के ही भक्त थे । उनकी रचनाएं वेदान्त सम्बन्धी ही अधिक मिलती हैं अतः यह तो निश्चित है कि भक्तमाल में वर्णित 'जसवन्त' जोधपुर के महाराजा जसवन्त सिंह नहीं थे ।

(अर्थ लिखने वाले ने विशेष में 'रूड़ा' शब्द को रूढ़ का अपभ्रंश मान कर अर्थ बद्ध मूल किया है पर वह ठीक प्रतीत होता राजस्थान में रूढ़ा का अर्थ होता है अच्छा ।

भक्तमाल के रचनाकाल के सम्बन्ध में कई लोगों ने उसमें आये हुए 'भगवन्त मुदित' वाले पद्य के आधार से उसे सं० १७०७ के आसपास की रचना अनुमानित किया है, पर वास्तव में 'भगवन्त मुदित' वाला पद्य प्रक्षिप्त ही है । भगवत मुदित रचित "रसिक अनन्यमाल" के सम्पादक ललिता प्रसाद पुरोहित ने भी भक्तमाल के 'भगवत मुदित' वाले छप्पय को संदिग्ध ही माना है । वे लिखते हैं :-

"भक्तमाल में भगवत मुदित जी से सम्बन्धित छप्पय को संदिग्ध बनाने वाली एक बात यह भी है कि उसमें भगवत मुदित जी के पिता माधौ मुदित जी का परिचय नहीं दिया हुआ है । माधौ मुदित जी उच्चकोटि के सन्त थे और उनका नामोल्लेख ध्रुवदास जी की भक्त-नामावली में मिलता है । भक्त-नामावली की रचना भक्तमाल के बाद हुई है । उसमें नारायण दास जी (नाभा जी) के नाम का उल्लेख मिलता है।

यह कैसे सम्भव है कि प्रथम रचे जाने वाले ग्रन्थ में पुत्र का परिचय हो और बाद में रचे जाने वाले ग्रन्थ में पिता का ! भक्तनामावली की रचना के पूर्व यदि भगवत मुदित जी प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके होते तो ध्रुव दास जी उनका परिचय अवश्य देते ।"

अब तो मुझे जो भक्तमाल की प्राचीनतम प्रति मिली है--उससे सर्वथा निश्चित हो गया है कि भगवत् मुदित वाला पद्य मूल भक्तमाल में नहीं था --पीछे से किसीने जोड़ा है ।

श्री किशोरी लाल गुप्त ने जो नाभा-दास और नारायण दास को अलग-अलग व्यक्ति माना है--वह भी सही नहीं है। यह ठीक है कि मूल भक्तमाल में नाभादास का कहीं नाम नहीं है और अन्त

के पद्य में कर्ता के रूप में नारायण दास का ही नाम है। भक्त-नामावली में भी नारायणदास नाम मिलता है, पर भक्त माल के टीकाकार प्रियादास ने नाभा का नाम लिया ही है और परम्परा[1] भी यही बतलाती है कि दोनों नाम एक ही व्यक्ति के हैं। अभी मैंने दादू पंथी राघवदास की भक्तमाल का सम्पादन किया है, जिसकी रचना सं० १७१७ में हुई है उसमें नारायण दास का उल्लेख नहीं करके 'नाभा' को ही भक्तमाल का रचयिता माना है। नाभा जी सम्बन्धी राघवदास का वह पद्य इस प्रकार है ––

"नाभा जी को मूल"

नाभै नभ सेती कीन्हौं खीर-नीर भिन-भिन,
ग्रंथन कौ सार सरबंगी हरि गायौ है।
भक्ति भगत भगवंत गुर धारि उर,
बिचर बखाणि सर्वही कौं सिर नायौ है।
सत-जुग त्रता अर द्वापर कलू के भक्त,
नांव भ्कितमाला कीनी नीकौ भेद पायौ है।'
राघो गुर अगर कूं अर्पि गिरा गंगजल
पुरे पतिब्रत बलरांम यौ रिझायौ है ।। १६०

सं० १७१७ के उपरोक्त पद्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय भक्तमाल के रचयिता के रूप में 'नाभा' की ही प्रसिद्धि थी। अतः परम्परा के अनुसार जो नारायण दास का नाम ही 'नाभा' जी था प्रसिद्ध है यह मानना सर्वथा उचित ही लगता है।

प्रक्षिप्त पद्यों का विवरण ––

भक्तमाल की रचना काल के सम्बन्ध में जो भी मतभेद चल रहा है उसका मुख्य आधार ग्रंथ में उल्लिखित उन भक्तों सम्बन्धी पद्य है जो १७वीं शताब्दी के अन्त में हुए ध्रुवदास ने अपनी भक्त नामावली में भक्तमाल सम्बन्धी जो उल्लेख किया है और अपनी रचना में उसका आधार लिया है, इससे यह तो स्पष्ट ही है कि ध्रुवदास के समय भक्त माल की अच्छी प्रसिद्धि हो चुकी थी। ध्रुवदास का रचनाकाल सं० १६५० से ९८ का किशोरीलाल गुप्त आदि ने बताया है, अतः नाभा की भक्तमाल सं० १६०० से १६९० के पहले की ही है। श्री वासुदेव गोस्वामी ने सं० १६८६ के आस पास भक्तमाल रची गई, माना है।

वास्तव में भक्तमाल सम्बन्धी विवादों का अन्त तभी हो सकता है कि जब इस ग्रंथ का प्राचीन प्रतियों के आधार से सुसम्पादित संस्करण प्रकाशित हो पर खेद है अभी तक इस महत्त्वपूर्ण कार्य पर किसी ने ध्यान नहीं किया। ना० प्र० सभा की सन् १९०९ से ११ की खोज रिपोर्ट में 'भक्तमाल की जिस

१ जन लाल दास ने भी १ छप्य और १ दोहा नाभा जी की स्तुति में बनाया है उसमें भक्तमाल का रचयिता नाभा जी को ही बतलाया है इससे नारायण दास ही नाभा के नाम से प्रसिद्ध हुए सिद्ध होता है।

सब से प्राचीन प्रति का विवरण छपा था, वह प्रति सं० १७७० की है, और उसमें १६४ पद्य हैं, । यह प्रति नीमराना के राजा की लायब्रेरी में बतलाई गई है, पर अभी तक इस प्रति को भी देखने का किसी ने कष्ट नहीं उठाया है।

उदयपुर की राजकीय लायब्रेरी की सूची में भक्तमाल की २ महत्त्वपूर्ण प्रतियों का उल्लेख मैंने कई वर्ष पहले देखा था, इनमें से एक प्रति सं० १७२४ की लिखी हुई है -- अभी तक भक्तमाल की इतनी प्राचीन प्रति अन्यत्र कहीं नहीं ज्ञात हुई, इसलिये इसे देखने की इच्छा बनी रही । दूसरी प्रति सचित्र होने के कारण विशेष महत्त्व की है क्योंकि अभी तक भक्तमाल की अन्य कोई सचित्र प्रति भी जानने में नहीं आई । गतवर्ष उदयपुर जाने पर सं० १७२४ वाली प्रति को देखने का सुयोग मिला, उसमें अब तक की प्राप्त समस्त प्रतियों से पद्यों की संख्या कम है, इसलिय यह तो निश्चित हो गया कि प्रियादास ने सं० १७६६ में भक्तमाल की सर्वप्रथम टीका बनाई और उसमें २१४ पद्य हैं पर वास्तव में वे सभी मूल नाभादास के नहीं हैं। टीकाकार से पहले ही किसी ने कुछ पद्य मूल में जोड़ दिये, और प्रियादास को वह प्रक्षिप्त पद्यों वाली प्रति ही प्राप्त हुई : सं० १७७० वाली प्रति में १६४ पद्य हैं तो २० पद्य तो प्रियादास की टीका में उसस भी अधिक है, इसलिये वे प्रक्षिप्त होंगे ही, पर उदयपुरवाली प्राचीनतम (सं० १७२४ वाली) प्रति में १७ दोहे और १६४ छप्पय कुल १८१ पद्य ही लिखे हुए हैं । अर्थात् प्रियादास की टीका में मूल के २१४ पद्य प्रयुक्त हुए हैं, उससे उदयपुर वाली प्रति में ३३ पद्य कम है। जिस समय मैंने उदयपुर में यह प्रति देखी उस समय मेरे पास भक्तमाल की मुद्रित प्रति न थी और न इतना समय ही था कि कौन कौन से पद्य प्रक्षिप्त हैं, या प्रियादास की टीका में उद्धृत मूल पद्यों से मिलान कर निर्णय किया जा सके, इसलिये मैंने उदयपुर संस्कृति भंडार के व्यवस्थापक श्री ब्रजमोहन जावलिया को सं० १७२४ वाली प्रति के पद्यों की एक अनुक्रमणिका तैयार कर भेजने को लिखा । और वह अनुक्रमणिका मुझे अभी अभी प्राप्त हुई है, इसलिये मिलान करने पर जो पद्य प्रकाशित प्रति में जहां जहां अधिक मिले, उनका विवरण नीचे दिया जा रहा है :--

प्रियादास की टीका में पद्यांक २३ में १६ सखाओं के नामवाला जो पद्य मिलता है, पर उदयपुर वाली प्रति में नहीं है-- उक्त पद्य की प्रारंभिक पंक्ति इस प्रकार है --

(२३) रक्तक पत्रक और पत्रि सबही मन भावै ।'

पद्यांक ६८ के बाद के ६९, ७०,७१ वाले तीन पद्य इस प्रति में पद्यांक ७२, ७३, ७४ के बाद में हैं, अर्थात् आगे पीछे लिखे हुए हैं।* उसके बाद पद्यांक ७५, ७६ वाले केशव भट्ट और श्री भट्ट सम्बन्धी पद्य इस प्रति में प्राप्त नहीं होते । इन दोनों पद्यों की प्रथम पंक्ति इस प्रकार है--

७५--काश्मीर की छाप पाप तापनि जगमंडन ।

७६--मधुर भाव संमिलित ललित लीला सुवलित छवि ।

तदनन्तर श्री बिट्ठले सुत सम्बन्धी पद्यांक ८० भी इस प्रति में नहीं है जिसकी आदि पंक्ति इस प्रकार है--

(८०) "श्री गिरधर जू सरससील, गोविंद जु साथहि ।"

इसके वाद वृजवल्लभ सम्बन्धी पद्यांक ८८वां भी इस प्रति में नहीं है, आदि पंक्ति इस प्रकार है –

(८७) "नृत्य गान गुन निपुन रास में रस बरसावत ।"

फिर श्री रसिक में मुरारी सम्बन्धी ९५वां पद्य इस प्रति में कम है । आदि पंक्ति ---

(९४) "तन मन धन परिवार सहित सेवत संतन कहं ।"

इसी तरह पद्यांक १०३ से ९ वाले ४ पद्य भी और पद्यांक ११० तथा १४८वां पद्य भी इस प्रति में नहीं है। इन ६ पद्यों की आदि पंक्तियां इस प्रकार हैं:--

१०३–रघुनाथ , गोपीनाथ रामभद्र दासूस्वामी ।

१०४–सीता, झाली , सुमती शोभा, प्रभुता, उमा, मटियानी,

१०५–नरवाहन, वाहन बरीस, जापू, जेमल बीदावत ।

१०९–यहै बचन 'परमान' दास' गांवरी जटियानै भाऊ ।।

११०–लीला पद रस रीति ग्रंथ रचना में नागर ।

१४८–सदा जुक्त अनुरक्त भक्त, मंडल को पोषत ।

तदनन्तर पद्यांक १७९ से लेकर १९९ तक के २१ पद्य उदयपुरवाली प्रति में नहीं हैं । ये सब पद्य तो अवश्य ही पीछे से किसी ने मूल भक्तमाल में जोड़ दिये हैं इन २१ पद्यों की आदि पंक्तियां इस प्रकार हैं --

१७९–(श्री हरीदास जी)

सरनागत कों सिवर दान दधीच टेक बलि ।

१८०–तान मान सुरताल सुलय सुंदरि सुठि सो है ।

---

* इसी प्रकार आगे पद्यांक ११४ वाला पद्य इस प्रति में पद्यांक ८६ के बाद अर्थात् पहले दिया हुआ है ।

१८१–चितसुख-टीकाकार भक्ति सर्वोपरि राखी ।
१८२–सरिता 'कूकस' गांव–सलिल में ध्यान धरयो मन ।
१८३–उदै ग्रस्त परबत गहर मधि सरिता भारी ।
१८४–सदाचार मुनि-वृत्ति भजन भागौत उजागर ।
१८५–गलतें गलित ग्रमित गुण, सदाचार सुठि नीति ।
१८६ लाल बिहारी जपत रहत निसि-बासर फूल्यौ ।
१८७–भक्ति-जोग-जुत सुदृढ़ देह निज बल करि राखि ।
१८८–भजन भाव ग्रारूढ़ गुन बलित ललित जस ।
१८९–जगन्नाथ कौ दास निपुन ग्रति प्रभु मन भायौ ।
१९०–संतराम सद्वृत्ति जगत छाई करि डारयो ।
१९१–कृष्ण भक्ति को थंभ ब्रह्मकुल परम उजागर ।
१९२–रुचिर -सील घन-नील लील रुचि सुमति सरित पति ।
१९३–श्रीयुत नृपमनि 'जगतसिंह' दृढ़ भक्ति-परायन ।
१९४–प्रेमी भक्त प्रसिद्ध गान ग्रति गद्गद बानी
१९५–प्रगट ग्रंग में प्रेम नेम सों मोहन-सेवा ।
१९६–सीतल परम सुसील बचन कोमल मुख निकसैं
१९७–भक्ति ज्ञान बैराग जोग ग्रंतर-गति पाग्यौ ।
१९८–कुंजबिहारी केलिसदा ग्रभ्यन्तर भासै ।
१९९–गौर स्याम सों प्रीति प्रीति जमुना कुंजनि सों ।

इस प्रकार प्रियादास की टीका में मूल के जो पद्य नं० २४, ७५, ७६, ८०, ८८, ९५, १०३ से ६, ११० १४८ ग्रौर १७९ से १९९ इस तरह कुल ३३ पद्य प्रक्षिप्त मालूम देते हैं । पद्यांक ११४ इस प्रति में पद्यांक ८६ के बाद लिखा हुग्रा है ।

उदयपुर से जो पद्य सूची प्राप्त हुई है, उससे प्रकाशित पाठ मिला के देखा तो कुछ महत्त्वपूर्ण पाठ भेद भी दिखाई दिये । ग्रतः भक्तमाल मूल के सुसम्पादन की ग्रावश्यकता है ही । प्रियादास की टीका रचे जाने के पहले की लिखी हुई यह एक प्रति ही मिली है । टीका-सहित भक्तमाल की प्रतियां तो ग्रनेक मिलती हैं पर मूल मात्र की प्रतियां बहुत ही कम मिलती हैं । 'नीमरान' वाली प्रति यद्यपि टीका के १ वर्ष के बाद की ही लिखी हुई है, पर वह मूलमात्र की होने के कारण विशेष महत्त्व की है । उस प्रति से एक विशेष बात यह ज्ञात हो सकेगी कि सं० १७२४ की प्रति से उसमें

जो १३ पद्य अधिक हैं वे कौन कौन से हैं ? अर्थात् सं० १७२४ और ७० के बीच में कौन से १३ पद्य और बढ़ाये गय यह इसमें निश्चित हो सकगा ।

वृन्दावन से प्रकाशित भक्तमाल के पृष्ठ ८९९ में सं० १७१३ की एक प्रति का उल्लेख किया गया है, यदि इस संवत् के छपन में भूल न हो तो यह और भी महत्त्व की है, उसमें पद्य संख्या कितनी है ? यह जानना बहुत जरूरी है, इससे प्राचीन मूल प.ठ के निर्णय में और भी सुगमता होगी । उपरोक्त वृन्दावन वाले भक्तमाल के पृ० ८९८ एक अन्य महत्त्वपूर्ण प्रति का विवरण देते हुए लिखा गया है--(यह प्रति सं० १७८६ सावन कृष्ण १३ शनिवार को रामचन्द्र दुबे ने लिखी है । इसमें २६ ग्रंथ ३६२ पत्रों में हैं जिनमें से भक्तमाल पत्रांक ४१ से ९३ में लिखा गया है)

एक २६ पुस्तकों का संग्रह जिसके अंतिम पृष्ठों में लिपिकाल वि० सं० १७६९ लिखा हुआ है, अभी मिली है । इसके आरम्भिक भाग में छठा ग्रन्थ मूल-भक्तमाल भी है । यह प्रति वि० सं० १७६९ से पूर्व की लिखी प्रतीत होती है, जब कि श्री प्रियादास जी ने भक्तमाल टीका नहीं की थी । इसमें "व्रजराज सुवन संग " (छंद २३), केशौ भटमरे मुकुट मणि (छंद ७५) रसिक मुरारी उदार अति (छंद ९५) आमेर अछत कूरमको० (६-११६) कील्ह क्लपा कीरति विशद (६.१५८), ये पांच छप्पय यहां तक के पाठ में नहीं मिलते । अवशिष्ट छप्पय और दोहे आदि प्रचलित पुस्तकों के समान ही हैं ।

यहां से आगे कई छप्पयों का व्यतिक्रम है और निम्नांकित छप्पयों का ही अभाव है--

१. गदाधरदास जी (६०१८६) २. नारायण द.स जी (६०१८७) ३. भगवानदास जी (६०१८८) कल्याण जी (६०१८९) ५. सोदर सौभूराम के (६०१९०) ६. बूडिये विदित (६०१९१ १८-१) ७. गोविन्ददास जी (६०१९२) ८. नृप जगत सिंह जी (६०१९३) ९. रामदास जी (६०१९६) १०. रामराय जी (६०१९७) ११. भगवत मुदित जी (६०१९८) १२. लालमती (६०१९९)

इस प्रति में यहां से आगे दो साखियां और २३ छप्पय प्रचलित प्रतियों से अधिक भी मिलते हैं -- साखियां इस प्रकार है --

सदाचार सन्तनि की निसि दिन आई चाली ।
हरिगुण सिंधु भक्ति को आकार गखो
भक्त गुलाली ।१७२
गोविंददास गंभीर मति, प्रगट छाप
गुनरासि ।
हरि लीला वृद मुख बसै, जाकै भक्ति
उपासि ।।१७३

इन साखियों के पश्चात्—अष्टांग जोगतन त्यागियौ० द्वारकादास जी, १७४ गलिता गलित अमित गुण० पयोहारी कृष्णदास जी १७६, परमधर्म प्रतिपोषकों०, सन्यासी —भक्त १७६ पूरन प्रताप महिमा अनंत ०, पूर्ण जी १७७, इस क्रम से कुण्डलियां सहित ये छप्पय हैं, प्रचलित पुस्तकों में इनके पाठ क्रमों की संख्या व्यति क्रम है जो क्रम से इस प्रकार है —१८२, १८५, १८१, और १८३।

उपर्युक्त चारों छन्दों के पश्चात् प्रचलित पुस्तकों में न मिलने वाले निम्नांकित दो छप्पय और मिलते ह जो इस प्रकार हैं :—

(श्री) वल्लभ वंश विष्यात जगत जशु धर्म धुरंधर ।
तिनके वीठल नाथ विश्व संगल करुना भर ।।
श्री गिरधर गुननि अगाध नाथ पद प्रीति निरंतर ।
नंद धाम दीक्षत सदन नहि उपमा कछ अंतर ।।
सुत सपूत गिरधरन के सदाचार रत मन मुदित ।
संत कमल सुष दैन को दामोदर दनियर उदित ।।१७८।।
गायौ नित्य बिहार रीति सब जगतै न्यारी ।
स्यामं स्याम उपासि महा बांकों ब्रत-धारी ।।
श्री जुत बीठल विपुल सु गुरुवर शिष्य उजागर ।
रचि पद साषी छंद उड़ावैं नागरि मागर।
एक टक नित निरबही राउ रंक तजि आस ।
श्री हरिदास प्रसाद गुन भयौ बिहारी दास ।।१७९।।

इन छप्पयों में वर्णित महानुभावों का वर्णन छप्पय ४८, ७९, ८०, १४६ में पहले भी हो चुका है । सम्भवत: इसी कारण से श्री प्रियादास जी ने टीका करते समय इन छप्पयों को छोड़ दिया हो और आगे की प्रतियों में इन्हें स्थान न मिला हो । इससे यह भी अनुमान होता है कि टीका करते समय ही कुछ छप्पय बढ़ाये भी गये होंगे । इस विषय का स्पष्टीकरण सं० १७२४ और सं० १७१३ वाली प्रतियों से हो सकता था, किन्तु दुर्भाग्यवश वे अभी देखने को नहीं मिल सकी हैं, अत: उनका विवरण पृथक् दिया जाएगा ।"

उपरोक्त प्रति के विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि सं० १७२४ वाली प्रति में जो ३३ पद्य कम हैं, उनमें से नं० २३, ७५, ९५, १८६ से ९३ और १९६ से ९९, अर्थात् १५ पद्य तो इस प्रति में भी नहीं है और कुछ पद्य इस प्रति में अधिक हैं ।

वृन्दावन में गोस्वामी पुरुषोत्तम लाल जी के संग्रह में एक २२ पत्रों की प्रति थी, जिसका विवरण सन् १९१२ से १४ की खोज रिपोर्ट में प्रकाशित हुआ है, वह प्रति ४० पत्रों की थी, उसका श्लोक परिमाण ४२९ श्लोकों का बतलाया गया है, इससे मालूम होता है कि यह प्रति भी मूल के बहुत निकट की होनी चाहिए यद्यपि विवरण में प्रति कब की है––यह नहीं बतलाया गया, पर प्राचीन ही प्रतीत होती है। पद्यों का क्रमांक सं० १७२६ की प्रति की तरह दोहों का अलग व छप्पयों का अलग-अलग दिया मालूम देता है — इसलिये प्रारम्भ और अंत के जो दोहे विवरण में दिये गये हैं, उनसे यह पता नहीं चलता कि कुल पद्यों की संख्या इस प्रति में कितनी थी। विवरण के लिये ५० वर्ष हो गये हैं अतः अब प्रति किसके पास है ––ठीक से नहीं कहा जा सकता, पर इस महत्त्व पूर्ण प्रति की खोज अवश्य की जानी चाहिए। खोज विवरण में इस प्रति का विवरण देते हुए रचयिता का नाम चरणदास दे दिया है ––उद्धृत पद्यों से यह स्पष्ट ही है कि यह रचना नारायण दास या नाभादास की है ––केवल अंत में इति श्री भक्तमाला चरणदास कृत पूर्ण या तो प्रति लेखक की गलती है या पाठ पढ़ने वाले की––वास्तव में चरणदास की जगह नारायण दास होना चाहिए था।

वृन्दावन से प्रकाशित भक्तमाल के नये और वृहद् संस्करण के अंत में, भक्तमाल साहित्य का अच्छा विवरण दिया गया है। भक्तमाल की अनेक प्रतियों का भी विवरण दे दिया गया है। ना० प्र० सभा से प्रकाशित सन् १९२८ तक की खोज विवरणों का ही इसमें उल्लेख है, उसके बाद भी अवश्य ही भक्तमाल की कई प्रतियों का विवरण पिछली खोज रिपोर्टों में आया होगा। अतः मूल मात्र की जितनी भी प्रतियां प्राप्त हों वे कब की लिखी व कितने पद्य हैं इसकी जानकारी प्रयत्न पूर्वक संग्रहीत की जानी चाहिए। तभी मूलग्रंथ का सम्पादन ठीक से हो सकेगा। प्रियादास की टीका रची जाने के बाद तो मूलमात्र की प्रतियां बहुत ही कम लिखी गई हैं। अधिकांश प्रतियां टीका सहित ही मिलती है। मूल पद्यों के निर्णय करने में राघौदास की भक्तमाल से भी कुछ सहायता मिल सकती है, क्योंकि वह सं० १७१७ की रचना है और नाभा की भक्तमाल के अनुकरण में रची गई है। ध्रुवदास की भक्त नामावली इससे भी पहले की है, और नाभा की भक्तमाल का उसने उल्लेख किया है। इसलिये मूल में किन-किन भक्तों के चरित्र भक्तमाल में रहे होंगे, उसके निर्णय में भक्त नामावली भी सहायक हो सकती है। निम्बार्क सम्प्रदाय के वैष्णवदास की टिप्पणी से उदय शंकर

श.स्त्री के मतानुसार सं० १७८२ की रचना है और वह भक्तमाल का प्राण ही समझी जाती है इसलिये वह टिप्पणी किन-किन पद्यों पर लिखी गई है, इसकी जांच करने से मूल पद्यों के निर्णय में सुगमता होगी ।

संक्षेप में अब तक जो बहुत ही महत्त्वपूर्ण अ.र आवश्यक कार्य हिन्दी के विद्वानों को करना चाहिए था उसकी ओर ध्यान दिलाने के लिये मैंने यह श्रम उठाया है । सं० १७२६ वाली अब तक भक्तमाल की अब तक की प्राचीनतम प्रति के आधार से यह महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रकाश में आया है कि मूल भक्तमाल में १६४ छप्पय और १७ दोहे कुल १८१ पद्य होने चाहिएं, और उन्हीं को ध्यान में रख कर भक्तमाल की रचनाकाल का निर्णय किया जाना चाहिए । अब तक जो प्रक्षिप्त पद्यों के आधार से रचनाकाल बतलाया जाता रहा है उन सब मतभेदों का अन्त हो ही जाना चाहिए ।



लोक कथाएँ और मानव-जीवन

डॉ० शशिभूषन सिंहल

मैं हर्ष का अनुभव कर रहा हूँ कि आज काफी दिनों के बाद विश्वविद्यालय के चिर-परिचित वातावरण से बाहर निकल कर आप सब के बीच में आया हूँ। जिस योजना के अन्तर्गत मुझे बोलने की प्रेरणा दी गई है उसका उद्देश्य केवल यही है कि अध्यापक लोग सहज साधारण जीवन व्यतीत करने वाले जन-समुदाय के बीच पहुँच कर उन्हीं की भाषा में और उन्हीं के मानसिक-स्तर पर जीवन -सम्बन्धी विषयों पर व्यावहारिक रीति से प्रकाश डालें। जैसा कि आप जानते हैं लीक छोड़ कर चलना हर पुराने यात्री के लिये कठिन होता है, ठीक उसी प्रकार जब मैंने यहां बोलने के लिये "लोककथाएं और मानव- जीवन" नामक विषय चुना तो मेरे सामने भी एक समस्या उठ खड़ी हुई। सोचने लगा कि इस गूढ़ विषय को समझाने के लिये गहरे विश्लेषण की आवश्यकता है। उसी के अनुसार व्याख्यान की भाषा जटिल हो जाना स्वाभाविक है। किस प्रकार अपनी बात सहज साधारण रीति से श्रोताओं के सामने रख सकूंगा, मैं इसी पैशोपेश में पड़ गया। सारा दिन उलझन में बीत गया किन्तु समस्या न सुलझी। कभी मेरा ध्यान भारतीय लोककथा-परंपरा के प्राचीन ग्रंथों की ओर जाता था, जैसे, पुराण, महाभारत, कथा सरित्सागर, पंचतन्त्र और हितोपदेश। और कभी मेरा मन शख-चिल्ली के किस्सों में भटकता था। कभी-कभी बचपन में पढ़ी "अलाद्दीन के चिराग" की कहानी चित्त में उभर उठती थीं। अंग्रेज़ी में, सुप्रसिद्ध लोक-कथाकार ईसप की कहानियां पढ़ी थीं जिसमें पशु-पक्षियों के जीवन व मानवमनोभावों को लेकर सकड़ों हृदय-स्पर्शी कहानियों को जन्म दिया गया था। इतना सब कुछ ध्यान में आने पर भी यह समझ नहीं पड़ता था कि व्याख्यान को किस बात से आरंभ करूँ उसमें विवेचन का क्रम क्या हो, और किन लोक कथाओं के उदाहरण से व्याख्यान की समाप्ति हो।

इस विषय पर सोचते-सोचते थक

गया पर लेटने पर भी उधेड़-बुन जारी रही और मुझे नहीं मालूम कि आंखें कब झप गईं। कुछ देर तक अंधकार में खोया रहा; फिर क्या देखता हूँ, धीरे-धीरे हलका प्रकाश फैलता जा रहा है और जिस बड़े कमरे में बैठा हूँ उसके किनारे पर एक दस-बारह वर्ष का लड़का टोपी लगाये, कुर्ता-पाजामा पहने खड़ा है। शक्ल उसकी मुझे याद नहीं है। मुझे परेशानी में डूबा हुआ देख वह तनिक मुसकराया और उसने कुर्ते की जेब में से कोई गोल चीज़ निकाली। उसे लेकर ज़मीन पर झुक गया। मैंने देखा यह एक मटमैला चिराग था। जब तक मैं स्थिति को समझूं-समझूं, उसने तेज़ी से चिराग को दो तीन बार फर्श पर रगड़ा और एकाएक रगड़ने की जगह पर चिनगारियां निकल पड़ीं। चिनगारियों ने धीरे धीरे लपटों का रूप धारण कर लिया और लपटें ऊंची से ऊंची होती चली गईं। ऐसा जान पड़ा मानो कमरे की छत गायब हो गई और लपटों का प्रकाश-पुंज आकाश को छूने लगा। मैंने चकरा कर हाथों से आँखें मलीं और पुनः उधर देखा। अब लपटें आतिशबाजी की फुल-झड़ी की भांति गिर कर ज़मीन पर आ गईं और उन के बीच से एक बहुत बड़ा, अत्यन्त विशालकाय पुरुष, बड़े पहलवान जैसा उभरता हुआ दिखाई पड़ा। रंग उसका काला था, कमर पर एक वस्त्र था, शेष शरीर नंगा था और उसके चेहरे पर बड़ी सरल स्नेहमयी मुसकान थी। वह हाथ जोड़ कर उस लड़के के सामने झुक गया और आज्ञा की प्रतीक्षा करने लगा। लड़के ने मेरी ओर इशारा किया। सम्भवत: मेरी समस्याओं का उत्तर देने का संकेत उस जिन्न को दिया गया। तब मैं समझा यह लड़का अलाद्दीन है और उसके चिराग़ रगड़ने से उत्पन्न मनचाही इच्छा पूरी करने वाला जिन्न मेरे सामने प्रस्तुत है। मेरी सकपकाहट धीरे-धीरे कुतूहल और एक प्रकार के विचित्र आत्म-विश्वास में परिवर्तित हो गई। मैं संभल कर मसनद के सहारे बैठ गया और जिन्न की ओर उत्सुकता से देखने लगा। जिन्न ने मेरी ओर देख कर अपनी दाढ़ी पर हाथ फेरा और मुस्करा कर बोला—"क्या मेरे जीवन का रहस्य जानना चाहते हो?" मने ऐसा स्वर्ण अवसर हाथ आया देख कर तपाक से उत्तर दिया—"हां" तुम्हारे करतबों से तो मैं बचपन से परिचित हूँ। तुम क्षण भर में आदमी को हज़ारों मील दूर पहुँचा सकते हो। एक फूंक में सुनसान में महल खड़ा कर सकते हो और अपनी एक पग-ध्वनि से महल को हवा में ग़ायब कर सकते हो। अलाद्दीन के तुम प्रिय अनुचर हो। तुम असाधारण होकर भी मानव की बड़ी से बड़ी महत्वाकांक्षा की पूर्ति में सहायक हो। इसलिये, तुमसे मैं

खौफ नहीं खाता । यही नहीं, मैं और मेरे अतिरिक्त न जाने कितने बच्चे, बूढ़े, जवान तुम्हें प्यार की दृष्टि से देखते हैं। इस समय तो केवल इतना जानना चाहता हूँ कि जिन लोक-कथाओं में तुम्हारा जन्म हुआ है वे क्या हैं और क्या इन लोक कथाओं का हमारे मानवों के जीवन से कोई पक्का सम्बन्ध भी है या ये लोक कथाएं केवल समय काटने या मन बहलाने की साधन-मात्र हैं।"

मेरा यह प्रश्न सुन कर चिरागी जिन्न खिल उठा । पेट भर पर हाथ फेरता हुआ बोल पड़ा --"दोस्त ! बात तो तुमने बड़े पते की पूछी है । इस समस्या पर प्रकाश डालने का मुझे यह पहला अवसर मिला है। लोग अक्सर यही समझते आये हैं कि मेरी और मेरी जैसी अगणित कहानियां बेसिर-पैर की बातों से भरी पड़ी हैं और हमारा सबका काम लोगों को बेवकूफ बनाना, उन्हें डराना, हँसाना या उनका मन-बहलाव भर करना है । बात ऐसी नहीं है । ये लोक-कथाएं वास्तविक जीवन से आती हैं। इन के पीछे मानव-जीवन का परिश्रम उसका सतत अभ्यास और जन्म -जन्म का रोचक व्यावहारिक ज्ञान रहता है ।" उसके अंतिम वाक्य में सूत्र रूप में जो कथन था वह पूरी तरह मेरी समझ में नहीं आया । मैंने कहा --"भाई, तुम तो व्याख्यान देने लगे, बात को समझा कर कहो । कथा का परिश्रम से क्या सम्बन्ध है ?" मेरी बात सुन कर वह ठठा कर हंस पड़ा । उस विशालकाय पुरुष के ठहाके से घर की दीवारें हिल गईं । वह तुरन्त बोला --"तो लो ! सुनो एक कहानी । एक दार्शनिक थे । सारा जीवन किताबों में आंखें गड़ा गड़ा कर उन्होंने बिता डाला था । अध्ययन कक्ष, उनकी आराम कुर्सी और वे भले । दीन-दुनिया से उन्हें सरोकार न था। पढ़ते-सोचते जब वे थक गये तो एक बार हाथ में छड़ी लेकर दुनियां देखने निकले। एक गांव में जा पहुंचे । चारों ओर हरे-भरे खेत थे और कच्चे मकान थे । घरों की दीवारों पर गोबर के उपले पाथे गये थे । इस दृश्य को देख कर वे चकित रह गये । सोच-विचार में पड़ गए और आखिरकार उन्होंने एक राह चलते से पूछ ही तो डाला कि भाई गांव में ऐसा कौन सा जानवर है जो दीवार पर इतना ऊंचा चढ़ कर गोबर करता है ?" जिन्न की यह कहानी सुन कर मुझे हंसी आये बिना न रही । सम्भवत : दार्शनिक महोदय को ग्रामीण जीवन से बिल्कुल परिचय न था। वे दीवार पर पाथे जाने वाले उपलों की विधि के बारे में ऐसी बेतुकी कल्पना कर बैठे । अब बात समझ में आई । यह छोटी सी लोक-कथा बताती है, केवल किताबी ज्ञान पर भरोसा करने वाले लोग ज्ञानी की अपेक्षा मूर्ख

बन जाते हैं। यदि ज्ञान-प्राप्त करना है तो खुली दुनिया में आओ, लहलहाते पेड़ पौधों को देखो, पशु-पक्षियों की भाग-दौड़ पर ध्यान दो, उनकी वाणी को सुनो और खत-खलिहानों में मेहनत करने वाले लोगों के जीवन में रस लो।

इस परिश्रम से, इस व्य.वह रिफ ज्ञान से जीवन की अनेक गुत्थियां सुलझ जायेंगी। हम स्वावलम्बी बनेंगे और पग-पग पर आने वाली अड़चनों से टक्कर लेने की सामर्थ्य प्राप्त करेंगे। लोक-कथ.एँ साधारण जीवन की घटनाओं से जन्म लेती हैं। और इसी जीवन को प्रेरणा देती हैं।

यदि हम मानव जीवन के प्रारंभिक इतिहास पर दृष्टि डालें तो मनुष्य को असहाय अवस्था में बड़ी बड़ी बाधाओं से जूझते हुए पाते हैं। हम पढ़ते हैं, हमारे पूर्वज जानवरों का शिकार करके पेट भरते थे। उनकी खाल से शरीर ढकते थे वे रात में पेड़ों पर सोते थे, लकड़ी पत्थर आदि के हथियार काम में लाते थे। उन के चारों ओर प्रकृति फैली हुई थी। प्रकृति या प्राकृतिक का अर्थ है जगत् के वे सब पदार्थ जो अपने स्वाभाविक रूप में हैं। संक्षेप में, स्वाभाविक वह है जिसके बनाने में मनुष्य का हाथ नहीं लगा है। जिसका निर्माण मनुष्य के अतिरिक्त किसी अन्य शक्ति ने किया है। भले ही उस शक्ति का नाम हम प्रकृति या ईश्वर रख लें। इस प्रकृति में सूर्य, चन्द्रमा, तारे, पृथ्वी, पहाड़, नदी, झरने, पशु-पक्षी, ये सभी आते हैं। इनके अतिरिक्त ऋतुएं, सर्दी-गर्मी, वर्षा, धूप, हवा ये सब प्रकृति के रूप हैं। यह प्रकृति मनुष्य की जीवन दायिनी है। हम जमीन पर रहते हैं, व हवा में सांस लेते हैं, पानी पीते हैं, धूप से गर्मी, हवा से ठण्डक और पेड़-पौधों से खाद्य पदार्थ ग्रहण करते हैं। इन सब तत्त्वों से मनुष्य प्राण ग्रहण करता है। इनका नियंत्रण भी आवश्यक है। अधिक वर्षा, अधिक धूप, अधिक गर्मी-सर्दी और पशु-पक्षियों का स्वच्छन्द संपर्क मनुष्य को किसी भी समय नष्ट कर सकते हैं। अपनी आत्म-रक्षा की दृष्टि से मानव को पग-पग पर प्रकृति से निरंतर संघर्ष करना पड़ा। इस अनवरत संघर्ष से हमारे इतिहास के पन्ने रंगे पड़े हैं। वास्तव में, लोक-कथाओं का प्रारंभ और विकास मानव और प्रकृति के पारस्परिक संघर्ष को लेकर हुआ है। किस तरह मनुष्य ने हिंसक-जंतुओं से प्राण बचाये और उन्हें वश में लाकर उनका उपयोग किया, किस तरह उसने अतिवृष्टि, बाढ़, सूखा घोर गर्मी-सर्दी का मुकाबला कर अपने जीवन की रक्षा करते हुए दिन-प्रतिदिन जीने और अच्छी तरह जीने की सुख-सुविधाएँ जुटाईं। इन सब महत्वपूर्ण

ऐतिहासिक घटनाओं से हमारी लोक-कथाएं स्रोत प्राप्त हैं।

संघर्ष से लोक-कथाओं को प्रेरणा मिलती है। मनुष्य का पहला संघर्ष प्रकृति से हुआ। आगे चल कर जब वह सभ्य कहलाने लगा, उसके जीवन में विज्ञान सहायक हुआ तथा समाज की प्रतिष्ठा हुई तब अन्य अनेक समस्यायें उसके सामने आ खड़ी हुईं। अनेक बार सामाजिक मर्यादाओं व रूढ़ियों ने मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन में हस्ताक्षेप किया और उसकी प्रगति में बाधा पहुंचायी। जो मर्यादायें निर्जीव हो चुकी थीं और जिनका यंत्रवत् पालन करने में मनुष्य लकीर-का-फकीर बना जा रहा था, ऐसी सब रूढ़ियों के विरुद्ध मनुष्य ने विद्रोह किया। जिन लोगों का आदर्श ऊंचा था और उत्साह अथक था वे अंत में विजयी हुए। ऐसे लोगों के दृष्टांत से हमारी लोक कथाएं उत्पन्न हुई हैं।

एकाएक मेरी विचार शृंखला टूटी। मैंने देखा चिरागी जिन्न सीने पर मुट्ठियां कसे उस बड़े कमरे में एक सिरे से दूसरे सिरे तक इतमिनान से चक्कर लगा रहा है। उसने मेरी ओर प्रश्न-सूचक दृष्टि से देखा। मैंने कहा—"भाई तुमने बात बहुत पते की बताई कि परिश्रम और संघर्ष के जीवन से ही लोक-कथाओं का विकास होता है। किन्तु मैंने जो कहानियां पढ़ी हैं उनमें प्रायः ऐसी कल्पनाएं पायी हैं, जिनकी उड़ान बहुत ऊंची होती है। लोक कथाओं में, प्रायः नायक बड़े महत्वाकांक्षी और कभी-कभी मूर्ख भी होते हैं। यही नहीं, लोक कथाओं का तो एक कथा पुरुष बन गया है जिसे हम 'शेखचिल्ली' के नाम से जानते हैं। इस शेखचिल्ली जैसे लोगों की कहानियों पर कौन विश्वास करेगा। और इनका जीवन संघर्ष कहां तक व्यावहारिक जीवन के निकट है।" मेरा प्रश्न सुन कर जिन्न कमरे के बीच में रुक गया और स्थिर दृष्टि से मुझे देखने लगा, बोला—"जिन्हें तुम मूर्ख कहते हो वे ही लोक कथा के प्राण हैं। वे लोग दुनियां की दृष्टि में नासमझ हैं, सिर फिरे हैं किन्तु इन के हृदय की गहराई में कहीं कहीं मानवता का अमर तत्त्व रहता है। वे बाधाओं और रुकावटों—भले ही वे प्रकृति, समाज या व्यक्ति-विशेष द्वारा उत्पन्न की गई हों—से लड़ने के लिये तत्पर रहते हैं। उनके मनसूबे ऊंचे होते हैं और उनमें अदम्य साहस होता है। वे प्राणों की बाज़ी लगा कर भी अपनी महत्वकांक्षा की पूर्ति के लिये अधिक प्रयास करते हैं। उनका हृदय स्वच्छ होता है, स्वभाव से वे स्वच्छन्द एवं कल्पनाशील होते हैं। उनके मार्ग में जब बड़ी-बड़ी बाधाएं आती हैं और उन से मुसीबतों की चट्टानें हिलाये नहीं हिलतीं तो उनकी सहायता के लिये

मुझ जैसे लोग पहुंच जाते हैं। चिराग़ रगड़ा नहीं कि मैं हाज़िर हूँ। उनके अच्छे मनसूबों को पूरा करता हूँ और विरोधी दुष्टों के हौंसले स्वयं पस्त हो जाते हैं।"

बात मेरी समझ में आ गई। ठीक है, वर्तमान की विषम परिस्थतियों से टक्कर लेने के लिये हम सभी मनसूबे बांधते हैं और उन्हें पूरा करना चाहते हैं। आवश्यकता केवल लगन और धैर्य की है। ऐसे लोगों की सहायता परमात्मा स्वयं करता है। ये देव, जिन्न आदि उसी के भेजने पर लोक-कथाओं में आते हैं। इसीलिये हम लोक-कथाओं के मूर्ख कहे जाने वाले नायकों से प्रेम करते हैं, घृणा नहीं। वे वास्तव में हमारी इच्छाशक्ति या हमारे मनसूबों को कार्य-रूप में परिणत करते हैं। इनके अतिरिक्त लोक-कथाओं में हमें कुछ ऐसे पात्र भी दिखाई पड़ते हैं जो निराधार योजनाएं बनाते हैं। कल्पनाओं के हवाई किले गढ़ते हैं और अपने कार्य में असफल मूर्ख सिद्ध होते हैं। इनसे हम खूब परिचित हैं। ये और कोई नहीं अपने चिर परिचित कथा–पात्र हज़रत शेख चिल्ली हैं। शेख चिल्लियों पर हम जी-भर हंसते हैं। उन पर व्यंग्य करते हैं और उनका उपहास उड़ाते हैं। एक बात मज़ेदार है कि हम इन पर जी भर कर हंसते हैं किन्तु उनसे ऊबते नहीं। इनका रोचक-मधुर व्यक्तित्व हमारे हृदय के बहुत निकट रहता है। कारण इसका यह है कि हर मनुष्य कल्पनाशील है और वह अपनी उन्नति और विकास के लिये सदा तीव्र कामना करता रहता है। जब उसकी परिस्थिति उसकी उन्नति के मार्ग में बाधा डालती है तो वह काल्पनिक उड़ानें भरता है। उसकी काल्पनिक उड़ानों का सजीव प्रतीक है लोक-कथाओं का जाना-पहचाना शेखचिल्ली स्पष्ट शब्दों में यों कह लें, हम सब पढ़े-लिखे, समझदार, सुसभ्य लोगों के अंतर में कहीं-न-कहीं एक शेखचिल्ली अवश्य निवास करता है। इसी प्रसंग में मुझे स्पेनिश भाषा में रचित एक प्राचीन उपन्यास "डोन क्विक़जोट" का स्मरण हो आया। सर्वान्ते द्वारा रचित इस उपन्यास में एक अधेड़ सामन्त का चित्रण किया गया है जो अपना नामकरण 'डोन क्विकजोट" करता है। क्विकजोट ने शौर्य सम्बन्धी अनेक उपन्यास पढ़े थे। वह स्वयं एक परम शूरवीर 'नाइट' बनने की कल्पना करता है। इस दिशा में सफल होने के लिये अपने एक सहायक सहित निकल पड़ता है। अपनी शौर्य-साधना के प्रसंग में अनेकानेक मूर्खता-पूर्ण कार्य करता है और उन मूर्खताओं को लेकर ही इतने विशद एवं संसार प्रसिद्ध उपन्यास की रचना की गई। यह उपन्यास और कुछ नहीं महामति शेखचिल्ली का जीवन-चरित् है।

मैंने सामने दृष्टि डाली तो देखा कि जिन्न पुनः कमरे के चक्कर काटते हुए दीख पड़ा । मेरी दृष्टि की जिज्ञासा भांप कर वह खड़ा हो गया । मैंने पूछा—"भाई, यह तो बताओ कि कथाओं और लोक-कथाओं में अंतर क्या है ?" जिन्न गंभीर हो गया और फिर चक्कर काटने लगा, बोला —"लोक-कथाओं और कथाओं में भारी अंतर है । जिन्हें तुम कथा या साहित्यिक कथा कहते हो उसका लेखक कोई विशिष्ट व्यक्ति होता है जो अपने व्यक्तित्व के प्रकाश में जीवन और जगत् को देखता है और अपनी कल्पना एवं अनुभव के आधार पर कथा का निर्माण करता है । किन्तु लोक-कथा का जन्म परंपरा से होता है और इसका विकास लोक-जीवन की गोद में होता है ।" यह कथन-सूत्र मेरी समझ में आने लगा ।

लोक-जीवन के अन्तर्गत वे लोग आते हैं जो नागरिक, सभ्य, शिष्ट समाज से भिन्न हैं । वे गांवों या शहरों की मज़दूर-बस्तियों में बसते हैं, जिनकी शिक्षा-दीक्षा प्रायः नहीं होती । ये लोग साधारण श्रमिक जीवन में स्वतः अपने अनुभव प्राप्त करते हैं । इनकी चिर-संगिनी प्रकृति होती है । ये परिश्रम करते समय अथवा विश्राम के क्षणों में सुख-दुःख, कुतूहल या मौज का अनुभव करते हैं । उस समय परस्पर अनगढ़ रूप में कुछ घटनाओं को कथारूप में सुनते-सुनाते हैं । ये कथाएं आस-पास के वातावरण, लोगों के विश्वासों-अन्धविश्वासों, उनकी कल्पनाओं, महत्वाकांक्षाओं तथा जीवन के निरीक्षण से प्रस्फुटित होती हैं । लोक कथाएं खेतों में, खलिहानों में, चौपालों में, जाड़े की रातों में, अलाव के इर्द-गिर्द बैठे हुए लोगों में जन्म लेतीं और विकसित होती हैं । कभी कोई कथक्कड़ कहीं से कुछ पढ़ी और कुछ सुनी कहानी में नमक मिर्च लगा कर कथा सुनाता है और उस कहानी को श्रोतागण अपनी सूझ-बूझ व अनुभव के आधार पर घटा-बढ़ा कर दूसरों को सुनाते ह । दूसरा तीसरे को, और तीसरा चौथे को वही कथा कुछ परिवर्तित रूप में सुनाता है । कथा अनेक जिह्वाओं पर होती हुई कहीं-की-कहीं, कुछ-से- कुछ बन कर पहुँच जाती है । यही लोक-कथाओं का पारंपरिक विकास है । इधर हमारे शिक्षित समाज ने लोक कथाओं में निहित मानव-जीवन के मूल्यों के महत्त्व को पहचाना है और उन्हें संग्रहीत कर प्रकाशित किया है । यदि हम देश-भर के विभिन्न प्रदेशों की लोक कथाओं का तुलनात्मक अध्ययन करें तो देखेंगे कि उनमें से बहुत सी कहानियां मूल-रूप में एक सी हैं और उन कहानियों की मूल वृत्तियां भी परस्पर मिलती हैं । साथ ही, अन्य देशों की कहानियों से तुलना करने पर यही तथ्य स्पष्ट होंगे । वास्तव में, सर्वत्र मानव-स्वभाव एक-सा

है । और लोक-जीवन भी लगभग एक-सी परिस्थितियों में व्यतीत होता है । लोक-कथाओं में सर्वत्र मूलरूप से साम्य होना स्वाभाविक है। स्वाभाविक मानव-जीवन के अध्ययन के लिये लोक-कथाओं का अध्ययन रुचिकर ही नहीं आवश्यक भी है ।

जब मेरी विचार-तन्द्रा टूटी तो सामने देखता हूँ कि कमरे में न जिन्न है न अलादीन है और न उसका चिराग़ । मैं आंखें मलता हुआ उठ बठा तो देखता हूँ प्रातः बेला का प्रकाश कमरे की खिड़कियों में से झांक रहा है और बाहर से चिड़ियों की चहचहाहट स्पष्ट सुनाई पड़ रही है । मैं गत घटनाओं पर विचार करता रहा । मुझे रोमांच हो आया, मैंने एक महान लोक कथा-पुरुष से साक्षात्कार किया था । मुझे संतोष था कि इस बहाने अपने व्याख्यान की सार-सामग्री मुझे प्राप्त हो चुकी थी ।

लोक-कथाओं के कुछ अन्य पक्षों पर बाद में विचार करता रहा । लोक-कथाकार तत्कालीन जीवन की वस्तु-स्थिति का दर्शन करता है और उस स्थिति के पीछे युगों से कार्य करने वाली शक्तियों का ऐतिहासिक विश्लेषण करता है । वह जीवन के यथार्थ की गति की दशा पर, उसके आधार पर आने वाले सुन्दर भविष्य की कल्पना के बीज बोता है । लोक-कथाओं में उत्साह निवास करता है, अत्याचारों के प्रति विद्रोह रहता है और प्रतिकूल परिस्थितियों से जूझने का आत्म-विश्वास और अंत में सफलता प्राप्त करने का आश्वासन रहता है । लोक-कथाएं ऊपर से, मनमानी उड़ान भरती दीख पड़ने पर भी प्रतीक रूप में जीवन-सत्य की सूक्ष्म व्याख्या करती हैं ।

उदाहरण के तौर पर पंजाब की ही एक लोक कथा लेता हूँ । उसका शीर्षक है 'पठान और उसका गधा' । कथा का सार इस प्रकार है । पहले ज़माने में आजकल की भांति स्कूल नहीं होते थे । मौलवी साहब लड़कों को पढ़ाया करते थे, गांव की मसजिद मदरस का काम देती थी । एक बार एक पठान किसी मदरसे के करीब से गुरज़ रहा था। उसी समय मौलवी एक शिष्य को पीटते हुए कह रहा था --"मैंने तुम्हें गधे से आदमी बनाया है और तुम इतनी बात भी नहीं समझते ।" पठान चक्कर में पड़ गया । उसने भी अपने गधे को आदमी बनवा लेने का निश्चय किया । उसने बढ़ कर मौलवी को पचास रुपये भेंट किये और अपने गधे को आदमी बना देने की प्रार्थना की। मौलवी पठान के चित्त के रहस्य को समझ गया । गधा और रुपये उसने ले लिये और पठान को छः महीने बाद आने का आदेश दिया । छः महीने बाद पठान आया । मौलवी ने उसे बताया कि वह देर से आया है, उसके गधे को

आदमी बने बहुत दिन हो गए और इस वक्त वह बनारस की अदालत का काज़ी है। पठान काज़ी के पास पहुंचा । उसकी बात सुन कर काज़ी आग बबूला हो उठा और उसे अदालत से मार-भगाया । मौलवी ने पुनः पठान को बताया कि अब उसका गधा फकीर बन गया है वह नदी पार रहता है । कई घटनाओं के बाद पठान की समझ में बात कुछ-कुछ आने लगी । फकीर ने आखिर में उसे समझाया--"तुम वाक़यी पठान हो । इसलिये अकल से कोरे हो । क्या तुम इतनी सी बात नहीं समझते कि अगर दुनिया में कोई गधे को आदमी बना सकता है तो वह एक फकीर है । मेरे बेटे ; मौलवी जब यह कहता है कि मैंने तुम्हें गधे से आदमी बनाया तो उसका मतलब यह है कि वह बेवकूफ़ को पढ़ा-लिखा कर अक्लमंद बना देता है ।"

बात पठान की समझ में आ गई । वह लौट कर मसजिद में आया । मौलवी के सामने घुटने टेक कर उसके पांव छूकर बोला,--मैं वाकयी गधा हूँ । मेहरबानी करके मुझे आदमी बनाइये । "यह शब्द सुन कर" मौलवी बहुत खुश हुआ । उसने पठान का गधा और रुपये लौटा दिये और उसे अपने मदरसे में दाखिल कर दिया ।

यहां लोक-कथाकार आदमी और गधा इन दो प्राणियों को प्रतीक मान कर इन के द्वारा मूर्ख व्यक्ति को बुद्धिमान् बनाने की प्रक्रिया पर विचार करता है । सारी घटनाएं इस प्रतीक को बड़े सुन्दर ढंग से स्पष्ट कर श्रोता या पाठक के हृदय में बुद्धिमत्ता के प्रति एक लालसा जागृत करती है । इसी प्रकार पंजाब की एक अन्य अत्यन्त हृदयग्राही लोक कथा उल्लखनीय है --

"बरगद के एक बूढ़े" घने पेड़ में पक्षियों ने अपने घौंसले बना रखे थे । एक कबूतरी अपनी चोंच में दो बालें दबाए हुए घौंसले की ओर लौट रही थी । अपने प्रिय अण्डों को शीघ्र देखने के विचार से उसका मन खुशी से भर गया । उसने अपने पंख फैला दिए और वह अधिक तेज़ी से उड़ने लगी । उसने समीप आकर देखा कि टहनी के कुछ पत्ते टूटे हुए थे और उनमें से दूध बह रहा था । उसका मन भय से भर उठा कि कहीं पहले की तरह दुष्ट कौवे ने उसके अण्ड न खा लिये हों । जब वह चोगा लेने जाती है तो अण्डों की रखवाली करने वाला कोई नहीं होता । आलसी कबूतर तो नीचे खोड़ में अराम से पड़ा रहता है ।

कबूतरी एक मज़बूत टहनी पर उतरी, थोड़ा सुस्ताकर उसने कूं-कूं की । तभी उसने नीचे से अपने दुश्मन कौवे की कांव-कांव सुनी । कबूतरी ने घौंसले में झांक कर देखा । उसका मन खुशी से

भर गया । उसके दोनों भूरे-सफेद ग्रण्डे ग्रपनी जगह सुरक्षित थे ।

मां-कबूतरी ने फिर कूं-कूं की । वह दुष्ट कौवे का भाव समझ गई । उसने ग्रपने पति को सहायता के लिये बुलाया लेकिन ग्रालसी कबूतर इस संकट के समय भी बरगद के तने के खोखले में मज़े से सो रहा था । कोई जवाब नहीं ग्राया । कौवा मौके को हाथ से जाने न देना चाहता था । वह कांव-कांव करता फुदक कर कबूतरी के पास ग्रा गया । भूरे रंग की कबूतरी पंख फैलाए सन्तरी की भांति ग्रपने ग्रण्डों की रक्षा कर रही थी । कबूतरी की कूं-कू ग्रौर कौवे की कांव-कांव की रट सुन कर नीचे के घौसले में नन्हीं गोरैयों ने संकट को समझ कर तीखी ग्रावाज़ में चहचहाना शुरू कर दिया ।

कौवा क्रोध से पागल हो गया, उसने मां-कबूतरी पर हमला कर दिया ग्रौर ग्रपनी तेज़ चोंच उसके परों में मारने लग गया । कबूतरी कूं-कूं करके उसका मुकाबला करने लगी ग्रौर उसके सफेद पंख उखड़-उखड़ कर हवा में उड़ने लग गए ।

कबूतर उड़ कर नीचे से ग्राया ग्रौर उसके पीछे-पीछे गोरैयां ग्राईं ।

कौवे ने कांव-कांव की ग्रौर भाग कर दूर जा बैठा ।

मां कबूतरी ने कूं-कूं करके नर-कबूतर से शिकायत की कि मुसीबत के समय भी तुम्हारी नींद नहीं टूटती ।

गौरैयां चहचहाती रहीं ग्रौर कौए की खिल्ली उड़ाती रहीं ।

इस सीधी-सादी, सरल कहानी में पक्षियों के माध्यम से जीवन के महान् सत्य की बड़े सुन्दर ढंग से व्यंजना हुई है । यह लोक-कथा स्पष्ट बताती है कि दुष्ट शक्तिशाली जन चोरी से, सीना ज़ोरी से निरीह जनों का स्वत्व हड़पने का निरंतर प्रयत्न करते हैं । यदि परिश्रमी जन ग्रपनी दुर्बलता के कारण डर कर निरीह बन हाथ पर हाथ धरे बैठे रह जायं तो वे क्षण भर में मिट्टी में मिल सकते हैं । सच्चाई, लगन, ग्रौर साहस चाहिए फिर ग्रनेक साहयक ग्रा जुटते हैं । निट्ठले परजीवी दुष्टजन भाग खड़े होते हैं । साथ ही मां की ममता का चित्र ग्रविस्मरणीय है ।

इस प्रकार, लोक-कथाएं हमारे जीवन के बहुत समीप हैं ग्रौर हमारे जीवन को शक्ति प्रदान करती हैं । लोक-कथाग्रों को समझने के लिये उन्हें ध्यान से पढ़ने ग्रौर उन पर मनन करने की ग्रावश्यकता है । जैसे-जैसे जनता का युग निकट ग्रायेगा इनका महत्व ग्रौर भी पहचाना जायेगा । रूस के सुप्रसिद्ध कथाकार मैक्सिम गोर्की जनता के लेखक

(शेष पृष्ठ ३२ पर)

'प्राचीन हिन्दी पत्र संग्रह' के पत्र-साहित्य में प्राप्त ऐतिहासिक सामग्री—एक अध्ययन

का.शं. केलकर

'प्राचीन हिन्दी पत्र संग्रह' १ में राजनैतिक और सामाजिक जीवन तथा इतिहास की कतिपय घटनाओं से संबंधित पत्र संग्रहीत हैं। इन पत्रों में साहित्य है और इतिहास भी, अतः इनके अध्ययन के प्रारंभ में साहित्य और इतिहास का पारस्परिक संबंध देखना ज़रूरी है।

साहित्य और इतिहास का संबंध दृढ़ है, अक्षुण्ण है। "साहित्य के अवगुंठन में अवगुंठित होने पर भी इतिहास-सुन्दरी के तीखे नक़्श परिलक्षित होते हैं, और दूसरी ओर इतिहास के पन्नों में साहित्य-मुग्धा का मौन-सौंदर्य मुखरित रहता है।" संक्षेप में हम कह सकते हैं कि साहित्य के स्रोत में इतिहास की गति है और इतिहास के पन्नों में साहित्य का स्वरूप निहित है; उदाहरणार्थ——स्व० प्रसाद जी की सर्वश्रेष्ठ रचना 'कामायनी' में साहित्यिक-सौंदर्य और समृद्धि के अतिरिक्त इतिहास का परिचय भी मिलता है। मानव-विकास के इतिहास की कथा उसमें है उसमें स्थित यज्ञ-यागों का वर्णन आर्यों के धार्मिक इतिहास का एक अंग है।

स्व० प्रसाद जी की एक अन्य रचना—'भारतवर्ष' नामकी कविता में दो पंक्तियां हैं——

सुना है दधीचि का वह त्याग, हमारी जातीयता विकास।
पुरंदर ने है पवि से लिखा, अस्थियुग का मेरे इतिहास ।।

दधीचि के आत्मत्याग की कथा अपना साहित्यिक तथा सांस्कृतिक महत्त्व रखती है किन्तु उससे भी अधिक महत्त्वपुर्ण उसमें इतिहास की गवेषणा

---

२. प्राचीन हिन्दी-पत्र संग्रहः—संपादक धीरेन्द्र वर्मा : लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय।

है। प्राणी-जाति के विकास में भिन्न भिन्न युग लक्षित हैं। हिम तथा पाषाण युग से विकास और उन्नति करके मानव-जाति आज अणु-युग की सीढ़ी लाँघना चाहती है। यह अचानक घटना या आकस्मिक परिवर्तन नहीं है तो उसमें एक शृंखलाबद्ध विकास का इतिहास है। अश्म-युग के अंतिम हिस्से में (मनुष्य) मानव ने पाषाण के साथ हड्डियों से भी शस्त्रास्त्र बनाये। प्राणियों की हड्डियों के साथ साथ वह मानव की हड्डियों का भी उपयोग करता रहा। दधीचि की कथा इस युग की कथा है। यह मानव-विकास का इतिहास है।

साहित्य और इतिहास का संबंध स्पष्ट करने वाला दूसरा उदाहरण देखें। मुहम्मदखाँ बंगश की भयंकर सेना के द्वारा महाराजा छत्रसाल बुंदेला घेर लिया गया था। बंगश के द्वारा हराया जाना महाराजा के जीवन तथा सार-सर्वस्व की हार थी अतः महाराजा छत्रसाल ने पेशवा बाजीराव प्रथम के पास मदद की याचना की —"बाजी जात बुंदेल की राखो बाजी लाज।" इन शब्दों में साहित्य है या इतिहास? साहित्य और इतिहास में ग्रथित इन शब्दों में महाराजा छत्रसाल तथा पेशवा बाजीराव के व्यक्तित्व, पौरुष, पराक्रम इतना ही नहीं तो आशा, आकांक्षाएँ तथा मैत्रीभाव का पूरा इतिहास छिपा है। ऐसे कतिपय उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि साहित्य और इतिहास का संबध अटूट है वे दोनों अविभक्त हैं।

साहित्य और इतिहास का संबंध देखने के अनन्तर यह भी देखना आवश्यक सा है कि वास्तव में इतिहास क्या है? और साहित्य क्या है? "काल और स्थान से मर्यादित मनुष्य के व्यक्तिगत तथा सामुहिक कार्यों की खोज करके उन्हें स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करने वाला शास्त्र इतिहास है।"१ और "मानवी भावनाओं का मूल उत्स ढूंढ निकालना साहित्य का कार्य है।"२

हडसन की विवेचना में साहित्य और इतिहास का भेद इस प्रकार स्पष्ट होता है। "इतिहास का संबंध देश के लोगों की सभ्यता एवम् आशा-आकांक्षाओं से मुक्त उन के जीवन के बाह्य स्वरूप और कार्य से है। तथा उनकी मानसिक और नैतिक धारणाओं से युक्त अंतरीय शक्ति से पुष्ट जीवन का मार्मिक स्वरूप साहित्य में निहित रहता है।"३

साहित्य और इतिहास के पारस्परिक संबंध तथा परिभाषा देखने पर 'प्राचीन

---

१. एनसायक्लोपिडिआ आव सोशल साइन्सेस्; जिल्द ७-८ पृ० ३५७
२. एनसायक्लोपिडिया आव सोशल साइन्सेस्, जिल्द ७-८पृ० ५२५
३. इन्ट्राडक्शन टू दि स्टडी ऑव लिटरेचर; पृ० ४२

हिन्दी-पत्र संग्रह' के पत्रसाहित्य में होने वाले ऐतिहासिक तथ्यों के अध्ययन की ओर हम चलें ।

प्राचीन हिन्दी-पत्र संग्रह में संगृहीत पत्र १८वीं तथा १९वीं शताब्दी के हैं और उनकी संख्या १४९ है ।

ये पत्र देशी रियासतों तथा छोटे छोटे राज्यों के राजनैतिक परिवर्त्तन; मध्य-प्रदेश, बुंदेल खंड और उसके आसपास अंग्रेजी सत्ता की स्थापना; नेपाल अंग्रेज संबंध और संघर्ष; तथा अंग्रेजी सत्ता के आगमन के कारण जागीरदार, जमींदार और जनता की बनी हुई स्थिति का इतिवृत्त प्रस्तुत करते हैं। इन पत्रों में प्राप्त सामग्री से भिन्न वंश, भिन्न व्यक्ति, उन के नाम, उनका काल और उनके कार्य आदि बातें छोड़ कर हम राजनैतिक इतिहास के तत्व—जो समान रूप से उपस्थित हैं—देखेंगे। उसके लिये हम तत्कालीन ऐतिहासिक स्थिति का अवलोकन करें ।

औरंगज़ब की मृत्यु के पश्चात् मुग़लसाम्राज्य का अध.पतन शीघ्रता से होने लगा । केंद्री मुगलसत्ता दुर्बल हुई और आधार के लिये वह किसी न किसी शक्ति से मदद की याचना करती रही । इसी काल में उत्तर-भारत में चार शक्ति-केन्द्र स्थापित हुए । ये जाट, सिक्ख राजपूत तथा मराठा सत्ता के वे केन्द्र थे । इनमें से जाट, सिक्ख तथा राजपूतों की शक्ति गिरने वाले मुग़ल-साम्राज्य को अधिक समय तक सहारा दे न सकी । मराठों ने धीरे धीरे अपना अधिकार और स्वामित्व उत्तरी भारत में स्थापित किया। इसी मराठों की ताक़त ने ही मुग़ल साम्राज्य को सहारा दिया ।

पुर्तगाली, डच, फ्रेंच आदि को परास्त करके अंग्रेज़ी सत्ता १९वीं शताब्दी में भारत में सर्वश्रेष्ठ रही । मुग़ल साम्राज्य के अध:पतन के काल में सत्ता-स्पर्धा के क्षेत्र में देशी शक्तियों के साथ साथ अंग्रेज़ भी उतरे । इस सत्ता संघर्ष में अंग्रेज़ अधिकारी अपनी अक्ल-मंदी का उपयोग करते हुए, कूटनीति की चाल चलते हुए, भेदनीति का अवलंब करते हुए जनता के लिये न्याय, शांति, सुव्यवस्था की योजना करते हुए, जय पराजय के ज्वार-भाटे में से रास्ता काटते हुए भारत के सर्वे सर्वा बने । अपने स्वामित्व को क़ायम बना रखने के लिये उन्होंने एक अनोखी राजनीति अपनाये । इस राजनीति के विभन्नि आधारभूत तत्वों के दर्शन हमें इन पत्रों में होते हैं। इनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण तत्त्वों को हम निम्नलिखित आधारों पर स्पष्ट कर सकते हैं ।

(१) Devide and Rule फोड़ो और राज्य करो :—

इस देश के राजाओं, सामन्तों, जागीरदारों, जमीदारों के शासकीय

अधिकार ज़मीन के अधिकारों से संबद्ध थे, जैसे कि यूरोप में Fudalism में थ । शक्तिशाली पुरुष की मृत्यु के अनन्तर भारत में उसकी ज़मीन का बँटवारा उसके पुत्रों में होता था । "जहां संघटन है वहां शक्ति होती है, जहां विघटन वहां नाश ।" इस तत्त्व के तथ्य को जानकर सत्ता प्राप्त होते ही अंग्रेज़ों ने देशी राज्य, जागीर या ज़मीन के विभाजन की योजना बनाई । घराने के मुखिया या एक ही व्यक्ति के साथ संधि न करके उस खानदान के हर एक प्रमुख व्यक्ति के साथ अलग अलग संधिपत्र कर दिया और इस प्रकार फूट का बीज बोया ताकि उनका शासन क़ायम रहे । इसका उत्कृष्ट उदाहरण कलिंजर के चौबे घराने के व्यक्तियों के साथ की गई संधि-पत्रों का है ।

कालिंजर का क़िला और आसपास के गांव चौबे घराने के पुरुषों के अधिकार में थे । उनके प्रसिद्ध पुरुष "दरियाव" सिंघ पर बेहुकमी का इल्ज़ाम लगा कर उससे कलिंजर का प्रसिद्ध किला छीन लिया और दरियाव सिंघ के भाइयों के साथ अलग अलग रीति से संधि की । उदाहरण

"पत्र क्र० ११७....करारनामा लिखदयौ चौबे सालिगराम —"१

"पत्र क्र० ११९ – करारनामा लिखदियो चौबे पुहकर परसाद —"२

तथा पत्र क्र० १२०, १२१, १२२, १२३ ई०

इन इकरारनामों से चौबे दरियाव सिंघ के घराने की शक्ति और सत्ता दुर्बल एवम् विभाजित हुई और अन्त में इन छोटे टुकड़ों के स्वामी जागीरदारों ने कंपनी सरकार की दासता को स्वीकार किया ।

यह भेदनीति एक राज्य था जागीर के टुकड़े बनाने तक ही सीमित न थी । एक राजा को दूसरे राजा से, एक जागीरदार को अन्य जागीरदारों से अलग करने की नीति अंग्रेज़ों ने अपनायी इस नीति को कार्यान्वित करन के लिये अंग्रेज़ों ने अपने अधीनस्थ सरदार, जागीरदार, ज़मीन-दार आदि पर ऐसा बंधन लगाया कि ये लोग अंग्रेज़ों के ताबेदार न होने वाले अन्य लोगों से न मिलें न उन्हें पत्र लिखें या उन्हें अपनी जगह में न रहने दें । इसके कुछ उदाहरण इस प्रकार के हैं ।

(१) "बुंदेलखंड के महाराजा विक्रमाजित और कंपनी सरकार का इकरारनामा 'बुंदेलखंड के आसपास के सिरदार जे है, अंग्रेज़ बहादुर की ताबेदारी न करै.....तौ ऊनसौ भट न

१. प्रा. हिं. प. सं. पृ० २१५ ।
२. प्रा. हि. प. सं. पृ० २१७ ।

कर न पाती लिखें । उनके साथी होई ते अपनी जागा म न राखै ।"१

(२) जैतपुर के राजा 'केसरी सिंघ' तथा अंग्रेज़ों के बीच का करारनामा "जो कोई आसपास बुंदेलखंड के सरदारन से अगरेज़ बहादुर की ताबेदारी न करै हरचंद हमारे न तैतउ होइ उनसे मुलाकाद वा लिषापढ़ी न करै अउ कोई उनको अंगी अपन पास न रंषै ।"२

चार बैलों को एक दूसरे से अलग करके रखाने वाले इसपनीति के सिंह की नीति अंग्रेज़ों ने अपनाई और इसमें वे क़ामयाब भी हुए ।

(२) दुसरा तत्व 'Subsidiary Alliances' 'तैनाती फ़ौज" या "सहायकप्रथा" का है ।

भारत में स्थापित अंग्रेजी सत्ता को एक श्रष्ठ साम्राज्य सत्ता बनाने का उद्देश्य सामने रख कर 'लार्ड वेलस्ल' भारत में आया । अपनी आक्रामक नीति सफल बनाने के लिये उसने सुप्रसिद्ध "तैनाती फ़ौज या सहायक प्रथा' की पद्धतिका अवलंब किया । इस प्रथा का अनुसार संधिकर्ता के लिये कुछ शर्तों का पालन करना ज़रूरी था । सहायक प्रथा की प्रमुख शर्तें निम्न लिखित थीं :-

(१) किसी अन्य युरोपीय सत्ता को अपनी रियासत में आश्रय न दे ।

(२) बिना अंग्रेजों की इजाज़त किसी अन्य राजा आदि से युद्ध या संधि न करे ।

(३) अपनी रियासत की रक्षा के लिए अंग्रज़ों की सेना रखे (अपनी-निजी नहीं) और उसके ख़र्च के लिये अपने रियासत का एक हिस्सा अंग्रेज़ों के बख्शीश दे ।

(४) अंग्रज़ों का कोई रेजिडेन्ट उनके पास रहे और उनका आदमी अंग्रेज़ों के पास रहें ।"३

इसी सहायक-प्रथा के आधार पर अंग्रेज़ों ने भारत की बड़ी बड़ी सत्ताएँ खोखली बनाकर अंत में धूल में मिलायीं । इस नीति का प्रथम प्रयोग सितंबर १७९७ ई० में हैदरवाद के निज़ाम के साथ किया और धीरे धीरे पेशवा, सिंधिया, होलकर, इ० के साथ किया गया ।

इन शर्तों का उपयोग छोटे रियासतों के राजाओं को इतबल बनाने के लिये किया गया । ज़रूरत से ज्यादा असवार अपने पास न रखने की तथा अपना कोई आदमी अंग्रेज़ों के पास रखने की बातों का स्पष्ट उल्लेखन कुछ पत्रों में मिलता है । उदाहरण --

"फौज सवार प्यादे की जो तासील

---

१ प्रा० हि० प० सं० पत्र ४६ पृ० ८० ।

२ प्रा० हि० प० सं० पत्र ५७ पृ० ८४ ।

३ हिस्टरी आव ब्रिटिश इंडिया अंडर दि कंपनी अँड दि क्राऊन पृ० २४५

गाव सरकार क दये भये के औ जलुस सवारी के लिए जरूर होइ उन से ज्यादा सरकार के सरदारन की परवानग। विगर नोकर न राषै ।"१

"फौज असवार प्यादे की जलुस सवारी के माफिक वा मुलक के बंदौबस्त माफिक राषै ।"२

"एक आदमी मातबर अपना मुकरर करै हमे सै बतौर उलाकत के वास्ते वजा ल्यावने हूकम वा खिजमत सिरदारन सरकार दौलत मदार के हजिर रहै ।"३

"एक आदमी अपना मुकरर करै...... हाजिर रहै।"४

"सहायक-प्रथा" की संधि से ग्रसित राजाओं और जागीरदारों का स्वातंत्र्य नक़ली बना। उन्होंने अपनी-निजी सेना को विदा किया और अंग्रेजी सेना तथा अधिकारियों के हाथ के वे ऐसे खिलौने बने जो आगे सुखोपभोगों के खेलों में ही मशग़ूल हुए।

(३) तीसरा तत्त्व है, "Peace and Tranquility" शांति और सुव्यवस्था"।

किसी भी राज्य के उदय और अस्त में प्रजा की स्थिति और धारणा महत्त्वपूर्ण रहती है। प्रजा को शांति, स्थैर्य और सुरक्षा प्रदान करने वाले राजा का राज्य वृद्धिगत होता है और इन बातों के अभाव में उसका राज्य अस्त की ओर अग्रसर होता है।

अंग्रेज़ों ने देखा कि इस देश की प्रजा के नसीब में बरसों शांति एवम् अमन-चैन बदा नहीं है। प्रजा त्रस्त संकटग्रस्त है। लुटेरे, चोर डाकू इ० के कारण जिन्दगी तथा जायदाद की रक्षा कठिनतर है। उस समय भारत की प्रजा तत्कालीन शासकों के अन्याय और अत्याचारों के नीचे दब कर दम तोड़ रही थी और गरीब काश्तकार तो अथाह सागर में पड़े थे।

इंगलैंड के मुख्य-प्रधान पिट को भारत में लार्ड क्लाईव द्वारा लिखे गये पत्रों में ऐसे ही विचार प्रकट हुए हैं। लार्ड क्लाईव ने साफ लिख कर प्रजा के मनोभावों को स्पष्ट किया है।"भारत की प्रजा के मन में समवर्त्ती किसी भी शासक के प्रति प्रेम या आत्मभाव नहीं है। जीवन और सुरक्षा की चिंता उनके मनमें सदैव रहती है। अतः इन देशी

---

१ प्रा० हि० प० सं० पत्र ५७।

२ प्रा० हि० प० सं० पत्र ४९।

३ प्रा० हि० प० पत्र सं० पव ८७।

४ प्रा० हि० प० सं० पत्र ९५।

राजाओं के बदले में अंग्रेजों का राज्य होगा तो व खुश होंगे ।" १

अतः चोर, डाकू लुटेर आदि से प्रजा की रक्षा का बंदोबस्त करने की शर्तों का ज़िक्र अंग्रेज़ों ने इकरारनामों में किया है।

"चोरौं वा ठगौं के ताई बीच देहात जागीर अपने के रहने न देई ।"२

"चोर वा ठग बीच देहात इलाके अपने के रहने ना देई । अगर माल कोई सौदागर का......चोरी जाई या लुट जाई... गांव गांव के जिमीदारों पर तागीद करकै माल उसे दिलावै....चोरै वा लुटेरे को पकरकर सरकार दौलत मदार मै पहुंचावै ।"३

"और ठाकुर कौ चाहिए कै गांवौ कौ तरंज्जुत सै आबाद करै, और रैयत को राजी खुशी राखै ।"४ इसी प्रकार की शर्तें अनेक पत्रों में मिलती हैं ।५

अशांति की स्थिति में शांति और सुव्यवस्था की हामी भर कर अंग्रेज़ों ने इस ज़मीं पर नहीं तो जनता के दिल पर अपना राज्य कायम किया ।

(४) चौथी बात है पिंडारियों का प्रतिबंध

देश में फैली हुई तत्कालीन आशन्ति की बाढ़ को फैलाने में इन पिंडारियों का खूब हाथ रहा । इन पिंडारियों में मराठा, मुसलमान, पठान लोग थे और सहायक प्रथा के कारण बेकार बने हुए सेना के सिपाही, सवार और अधिकारी भी थे। पिंडारी लोग तथा उन के कार्य को स्पष्ट करत हुए इतिहासकार ने लिखा है —"पिंडारी लोग अत्यंत क्रूर थे । इनमें सभी जाति, वंश एवम् धर्म के लोग होते थे । इन के पास प्यादे, सवार और तोपें भी होती थीं । तत्कालीन भारत में उनकी एक स्वतंत्र शक्ति सी निर्माण हो गयी थी । ये लोग हज़ारों की संख्या में आते थे और लोगों पर भयंकर अत्याचार करके चले जाते। ६

इन पिंडारियों के आगमन के साथ लूट-मार तथा खून खच्चर का बवंडर आता था और मुल्क की शांति और सुव्यवस्था नष्ट हो जाती थी । अतः अंग्रेज़ों ने जनता की शांति और सुरक्षा के लिये पिंडारियों पर प्रतिबंध लगाने की शर्त अपने संधिपत्रों में रखी थी ।

"येक भीर पिडारौ की चंदनपुर के घाट ईलाके.......उतर कै

---

१ स्पिचेस् अँण्ड डाक्यूमेंटस ऑन इंडियन पालिसी ।

२ प्रा० हि० प० सं पत्र क्र. १२२

३ प्रा० हि० प० सं पत्र क्र. १३७

४ प्रा० हि० प० सं पत्र क्र १०२

५ प्रा० हि० प० सं० क्र १२६, १२७, १०३, ०३।

६ कैंब्रिज हिस्टरी आव इंडिया जि. ५. पृ० ३७७।

सरकार के मुलक में जाई कै लूट किया है सौबंद करना ।"१

"हमारि फौज तुम्हारे मुलक होइ.... पिड।रन केतहलीक ग्रावती है ।"२

अंग्रेज़ों नें बड़ी बड़ी योजनाएँ बनाकर पिंडारियों पर प्रतिबंध लगाया और इस देश की जनता को अत्याचार और अराजकता की बाढ़ से बचाया ।

(५) दास-प्रथा का विनाश

प्राचीन काल से ही सारे संसार में दास-प्रथा प्रचलित थी । यह प्रथा मानवता पर काला धब्बा है । मानवता पर होने वाले इस काले कलंक को मिटान के लिये अनेकानेक प्रयत्न किये गये अनेक जानें कुर्बान हुई । अंग्रेज़ों ने अपने साम्राज्य से स० १८३३ ई० में दास-प्रथा बंद कर दी और मानव मात्र को व्यक्ति स्वातंत्य का वरदान दिया । इस वरदान का उल्लेखन पत्र-संग्रह में मिलता है । उदाहरण–

"ढढोरा दिया जाता है कि कोई बीच मुलक सरकार दौलत मदार अंगरेजी ल.ंडी और गुलाम खरीदारी न करे और इस काम बुरे से परहेज करे। कोई.....गुलाम और लौंडी ल्याय कै बेचेगा और जो खरीदेगा.....दोनों लायक सजा के होगा.....उउसे उसकू (लौंडी या गुलाम को) अजात कि‍या जायगा । बोह मालिदु है । इसमै ताकीद जानौ ।"३

इस प्रकार कानून सत्ता और शक्ति के सहारे अंग्रेज़ों ने भारत के माथे पर होने वाला दास-प्रथा का गहरा काला कलंक मिटाया ।

(६) न्याय और न्यायालय

जब अंग्रज़ों के हाथों में इस देश की हुकूमत आ गयी तब देश में न्यायदान की की कोई ठीक ठाक व्यवस्था न थी । "देश के लोग न तो किसी न्यायालय की न न्याय व्यवस्था के किसी अधिकारी की शरण ले सकते थे ।४ जब देश में अंग्रेज़ों की सत्ता स्थापन हुई तब उन्होंने न्यायालय और न्यायदान की व्यवस्था की । दीवानी, फौजदारी तथा उच्च न्यायालय की सुचारु ढंग से स्थापना करके समाज के प्रत्येक व्यक्ति को न्याय प्राप्त कर लेने की व्यवस्था की । इस दिशा में और आगे बढ़ कर उन्होंने जनता को अपनी फ़रियाद, गवाही और अपना मंतव्य अपन. बोली-भाषा में प्रस्तुत करने की इजाजत दी । "हमारा इजहार हीदुभो इग्रा बंगला भो लीखा जाए ।'५ हमरा

---

१ प्रा. हि० प० सं० पत्र क्र. १३७ ।
२ प्रा. हि. प. सं. पत्र क्र. ११७ ।
३ प्रा. हि. प. सं. पत्र क्र. १२६ ।
४ ह्यूजभरे हिस्टरी आव ब्रिटिश इंडिया पृ० २४३ ।
५ प्रा. हि. प. सं. पृ० ६२ ।

ईजहार हीदुई भो लीखा जाए।" १ आदि उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है । इतना ही नहीं इस न्यायदान की योजना के आधार पर सामान्य मनुष्य भी अधिकारी व्यक्ति के विरुद्ध नालीश कर न्याय प्राप्त कर सकता था । इसका उदाहरण राधा नामकी पालीत युवती का दरोगा के खिलाफ नालीश करने के द्वारा स्पष्ट है ।२

इन महत्वपूर्ण तत्वों और तथ्यों के अलावा इन पत्रों में इतिहास की कतिपय बातें मिलेंगी । इनमें बुंदेलखंड तथा आसपास के जागीरदारों की–अंग्रेज़ी सत्ता-सागर में विलीन होने की कथाएं हैं, इनमें कतिपय खानदानों के पारिवारिक झगड़े और उसमें अंग्रेजों के हस्तक्षेप की कहानी है । इनमें देशी जागीरदार, ज़मींदार और राजाओं के स्वाभिमान की एक चमक है जो तनिक चमक कर फिर अंग्रेजों की दासता रूपी अंधकार में गुम हुई ।

इन पत्रों के आधार पर अंग्रेज़ों की राजनीति या राजनैतिक इतिहास का चित्र स्पष्ट रूप से चित्रित है ।

○ ○

---

१ प्रा. हि. प. सं. पृ० १३ ।

२ प्रा. हि. प. सं. पत्र क्र. ५ ।

(पृष्ठ २३ का शेष)

थे। उन्होंने लोक-कथाओं के महत्व को भली प्रकार समझा था । उसके इस उल्लेखनीय उद्धरण के साथ मैं आजकी बात समाप्त करता हूँ ––गोर्की ने लिखा है––"इसमें संदेह नहीं कि आप बहुत सी प्राचीन कथाएं जानते हैं, लेकिन मैं चाहता हूँ कि उनके सार-तत्व को और गहराई से समझ लिया जायेइनमें । आदि मनुष्य के अपने श्रम को हलका करने की कामना उत्पादन बढ़ाने की लालसा अपने चार और दो पांव वाले शत्रुओं को हराने की इच्छा और शब्द शक्ति से भूत-प्रेत का अपसरण करने, जादू-टोने और मंत्रों द्वारा प्रकृति के अंध-प्रकोपों पर प्रभाव डालने की चेष्टा मैं हमें मिलती है। यही उनका सारतत्त्व है ।"

● ● ●

रसानुभूति और सौन्दर्यानुभूति का अद्वैत

(क) रसानुभूति

हरिचन्द पाराशर

रसानुभूति और सौन्दर्यानुभूति का मानसी स्तर एक जैसा ही है। वैयक्तिक भावों का निर्वैयक्तिक और साधारणीकृत रूप ही रस की संज्ञा है। रसास्वादकर्ता के लिये रसिक, सहृदय, सामाजिक, सुमनम् आदि अभिधान प्रचलित हैं। भरत ने नाट्य शास्त्र में "आस्वादयन्ति सुमनसः प्रिक्षकाः" लिखा है और सुमनस् के लिय दो बातें बताई हैं, वासना सिद्धान्त और अभ्यास जनित बोध। इन दो में से वासना सिद्धान्त का प्रमख और पहला स्थान है। इसमें स्पष्ट है कि भरत न रस निष्पत्ति में सुमनस् के "अन्तर व्यापार" को प्रधान माना है। राजा भोज ने भी सात्विक अहंकार जनित भावों का पराकोटि तक उद्‌बुद्ध हो जाना रस कहा है और "सचतसां रस्यमनः" कह कर सचत्स को भरत के सुमनस् की भान्ति ही माना है। इसी तरह भवभूति ने "उत्पत्स्यते ममसपदि कोऽपि समानधर्मा" कहा है। "समान-धर्मा" की कल्पना सुमनस् और सचेतस् की कल्पना के समान है। प्रसिद्ध उक्ति "कविः करोति काव्यानि रसं जानन्ति पंडिताः" में भी इस बात पर बल दिया गया है कि रस का आधार सुमनस् का आन्तर व्यापार है। भारतीय विचार-धारा में भावक (पाठक और आलोचक) को भी कवि के समान ही महत्वपूर्ण माना गया है। कवि के अन्तःकरण की बात समझने के लिये भावक को भी कवि हृदय होना पड़ता है। हिन्दी कवि घनानन्द न इस सारी बात को इस तरह कहा है :—

नैंही महा ब्रजभाषा प्रवीन औ,
सुन्दरतानि के भेद को जानै।
जोग वियोग की रीति में कोविद,
भावना भद स्वरूप को ठानै।
चाह के रंग में भीज्यो हियो,
बिछुरे मिले प्रीतम सान्ति न मानै।
भाषा प्रवीन सुछन्द सदा रहै,
सो घन जी के कवित बखानै।

भावक के हृदय का माधुर्य ग्रौर ग्रार्द्रता ही रस का ग्राधार है । ध्यान योग के कारण भावक का स्व-भाव ग्रौर पर-भाव शान्त हो जाता है तब उसके हृदय में रस निष्पत्ति की प्रक्रिया ग्रारंभ होती है ।

रसास्वाद को ब्रह्मानन्द सहोदर कहा गया है । इस संकलपना का स्रोत तैत्तिरीय उपनिषद् है । इस उपनिषद् में ग्रानन्द को ही ब्रह्म माना है ग्रौर उसे "रसो वै स:" कहकर रस की संज्ञा दी है । ग्रानन्दमय ब्रह्म को समस्त भूतमात्र का जनक कहा गया है । इस उपनिषद् के ऐसे सिद्धान्त के ग्राधार पर काव्य रस के ग्रानन्द को ब्रह्मानन्द का सहोदर माना गया है । नैयायिकों ने ब्रह्म को ग्रानन्द से परे माना है ग्रौर सतव की प्रकृति का गुण माना है, प्रकृति पुरुष के समान नग्न नृत्य करती है, फिर लज्जाभूत हो जाती है ग्रौर स्वयं को लुप्त कर लेती है । प्रकृति से मुक्त पुरुष का ग्रानन्द से कोई सम्बन्ध नहीं । पातंजलयोगसूत्र में योगियों की चार कोटियां बताई गई हैं, प्रथम कल्पिक, मधुभूमिक , प्रज्ञाज्योति ग्रतिकक्रान्त भावनीय । दूसरे प्रकार के योगी के साथ ही ग्रानन्द का सम्बन्ध है । जब योगी मधमति भूमिका में पहुंचता है तो समस्त वस्तुजात उसे दिव्य प्रतीत होने लगत हैं । यहां ग्राकर वितर्क समाप्त हो जाते हैं । ग्रद्वैतवेदांत में साध्य, साधन ग्रौर साधक तीनों ही ब्रह्मानुभूति के समय एक हो जाते हैं । दार्शनिक भाषा में उस ग्रवस्था को भी ब्रह्मानुभूति नहीं कहा जा सकता क्योंकि ग्रनुभूति में द्वैतभाव की ग्रपेक्षा रहती है जबकि वहां ग्रद्वैतभाव होता है । ग्रभिप्राय यह कि ग्रद्वैत वेदान्त के ग्रनुसार भी ग्रानन्दानुभूति को ब्रह्म के साथ ही जोड़ा जा सकता है । शव सिद्धान्त में भी ब्रह्म को सीमातीत माना गय है । लौकिक शब्दावली में उसका ग्रंकन ग्रसम्भव है । परन्तु रस की सिद्धि कारक ग्रौर ज्ञापक के बिना होती है । इसलिये रस को ग्रलौकिक माना जाता है । रसास्वाद को ब्रह्मानंद का सहोदर कहने का ग्रभिप्राय केवल इतना है कि जिस प्रकार ब्रह्मानन्द में ग्रद्वैत है, उसी प्रकार रसास्वाद में भी ग्रद्वैत है ।

रस मूल में एक है । भरत मनि न रस का प्रयोग एकवचन में किया है, "नहि रसादृते कश्चिदर्थ: प्रवर्तते" इसका ग्रभिप्राय यही है कि पारमार्थिक रूप से रस एक ही है । रसास्वाद एक ग्रखण्ड ग्रनुभूति है । रसों की भिन्नता ग्रौपाधिक ग्रौर ग्रौपचारिक है । तात्विक ग्रौर यौक्तिक दृष्टि से रसानुभूति ब्रह्मानुभूति की भाति ही ग्रप्रापंचिक है । रसानुभूति के क्षणों में चित् रजस् ग्रौर तमस् से रहित होकर सत्वमय हो उठता है । तभी तन्मयी भवन के क्षण

आते हैं, ये क्षण अद्वैत के क्षण होते हैं। चित एक है, जब वह क्रियाशील होता है तो उसकी चार अवस्थाएं होती हैं, विकास, विस्तार, विक्षोभ और विक्षप। विकास और विस्तार सुखात्मक हैं, तथा विक्षोभ और विक्षेप दुखात्मक। सुखात्मक और दुखात्मक वृतियों का उत्स एक ही चित है भरतमुनि ने चार रस प्रमुख माने थे, और शेष चार गौण। श्रृंगार, वीर, रौद्र, और वीभत्स प्रमुख, तथा क्रमशः हास्य, अद्भुत, करुण और भयानक इन्ही प्रमुखों का एक एक गौण। प्रमुखों में से श्रृंगार और वीर का सम्बन्ध सुखात्मक वृत्ति से है, तथा रौद्र और वीभत्स का दुखात्मक वृत्ति से। चूंकि सुख—दुख के मूल में अद्वैत है, इसलिये चारों प्रमुख रसों का उत्स भी अद्वैत मानना पड़ेगा। रसास्वाद के क्षण अद्वैत के क्षण होते हैं। इसलिये आस्वाद्यता ही रस है।

रसानुभूति के अद्वैत के विरुद्ध रस से सम्बन्धित दो प्रश्न उठाए जात हैं, एक भक्ति रस के द्वैत का, और दूसरा रसाभास के सामाजिक आधार का। इन दोनों की विवेचना यहां अनिवार्य है। भक्तिरस के द्वैतभाव में दोनों पक्ष समकोटिक नहीं होते। जब तक रसाश्रय अपने व्यक्तित्व का निषध न करे, तब तक वह रस इस दशा में नहीं आ सकता। आत्मनिषेध का भाव दास्य भाव की भक्ति में प्रत्यक्ष और स्पष्ट होता है, उदाहरणार्थ —

तोसों बड़ो है कौन, मो सो कौन छोटो।
तोसों खरो है कौन, मो सो कौन खोटो।
--(तुलसी

परन्तु माधुर्यभाव की भक्ति में रसाश्रय आत्मोपलब्धि के प्रयत्न में सचेष्ट होता है। आत्मोपलब्धि के लक्ष्य में उसकी हृदय दशा समकोटिक नहीं रहती। इसके अतिरिक्त भक्तिरस को सभी आचार्यों ने रस निष्पत्ति के अन्तर्गत नहीं माना है। उन्होंने श्रृंगार अथवा शान्त के अन्तर्गत उसका अवसान माना है। फिर भी हम भक्ति रस का संक्षिप्त विवेचन यहां प्रस्तुत करते हैं।

दण्डी ने 'प्रयोलंकार' के विवेचन में 'भक्तिरस' की ओर संकेत किया है। इस अलंकार के उदाहरण स्वरूप कृष्ण के प्रति विदुर के प्रीति प्रकाशक शब्द दिए गए हैं। इसके पश्चात् रुद्रट ने 'प्रेयान्' नाम से एक अलग रस स्वीकार किया है और उसका स्थायीभाव स्नेह बताया है। 'भगवद्भक्ति चन्द्रिका' के रसोल्लास में भक्तिरस की स्थापना की गई है। श्री मधुसूदन सरस्वती का मत है कि भक्तिरस ही नितांत सुखमय है। यह एक नवरस मिश्रित योग है। आचार्य अभिनवगुप्त ने भक्ति को रस नहीं माना, बल्कि भाव ही माना है। भोज ने रसों की संख्या में वृद्धि की,

परन्तु भक्ति को रस उन्होंने भी नहीं माना। पंडितराज ने भक्तिरस का समर्थन करते हुए भी इसका विशिष्ट विरोध किया। परम्परानुमोदन करते हुए उन्होंने यही कहा कि शृंगारेतर रति को भाव ही मानना चाहिए ।

आधुनिक काल में कई मराठी विद्वानों ने भक्तिरस का समर्थन किया है, उदाहरणार्थ प्रो० द० के० केलकर, प्रो० रं० रा० देशपाण्डे, डा० मा०गो० देशमुख इत्यादि । डा० वाटवे ने 'रस विमर्श' में इसका विशद विवेचन किया है । विराट शक्ति के साम्मुख्य में मानवीय मन में आत्महीनता का भाव उदित होता है, यह भाव साधित नहीं है, बल्कि नैसर्गिक है । इसी नैसर्गिक भाव के साथ भक्ति रस का सम्बन्ध है । डा० वाटवे का विचार है कि भक्तिरस को शान्त रस के अन्तर्गत अन्तर्भुक्त नहीं किया जा सकता क्योंकि शान्त रस का सम्बन्ध वैराग्य से है और यह ज्ञानमार्गियों के उपयुक्त है । शान्तरस में अद्वैत भाव होता है, परन्तु भक्तिरस का मूल द्वैतभाव है ।

जहां तक रसाभास का प्रश्न है, कहना होगा कि उसका आधार सामाजिक है । रसभंग का मूल कारण अनौचित्य है । इस बात पर सभी आचार्य सहमत हैं । उनका मतभेद अनौचित्य के क्षेत्र-विस्तार के सम्बन्ध में है । आचार्य विश्वनाथ ने रसाभास के प्रश्न को सामाजिक एवं नैतिक आचार-तुला पर तोला है । उनका विचार है कि विभाव के औचित्य से ही रसाभास की उत्पत्ति होती है, उदाहरणतया नायक के अतिरिक्त किसी अन्य पुरुष के प्रति नायिका के रति भाव से रसाभास की उत्पत्ति होगी । शील की दो अपेक्षाएं होती हैं, सदाचार विषयक और लोकानुमोदित व्यवहार विषयक, सदाचार विषयक अपेक्षाएं लगभग निश्चित और स्थिर है, परन्तु लोकाचार की अपेक्षाएं परिवर्तनशील । लेखक को सामाजिक की इन दोनों अपेक्षाओं का ध्यान रखना होता है, अन्यथा रसाभास हो जाएगा ।

पंडितराज ने अनौचित्य के आधार को अधिक स्पष्ट करते हुए कुछ मतभेद प्रकट किया है कि अनौचित्य का आधार आलम्बन विभाव नहीं, बल्कि स्थायी भाव है। उचित और अनुचित आलम्बनों में विभाजक रेखा खींच सकना असम्भव है। कहना यह चाहिए कि जब रति आदि स्थायी भाव अनुचित रूप से प्रवृत्त होते हैं, तब रसाभास होता है ।

अलंकारवादी आचार्य उद्भट ने रस अथवा भाव की सीमातीत स्थिति को अनुचित माना है और इस तरह "आभास' अथवा 'भंग' एक मनोवैज्ञानिक आधार दिया है ।

वास्तव में काव्य का शिखर रस है और मूल औचित्य। काव्य शास्त्र के आद्याचार्य भरतमुनि ने औचित्य का निर्धारण लोकधर्मी और नाट्यधर्मी दोनों प्रकार के तत्वों का विश्लेषण करके किया था। इन दो प्रकार के तत्वों में कोई मतभेद आदि आने की स्थिति में लोकधर्मी तत्वों को प्रमाण मानने का विधान है क्योंकि शील और मर्यादा के वाहक लोकधर्मी तत्त्व ही होते ह।

औचित्य शब्द की व्यापकता काव्य के अंग प्रत्यंग तक मानी जा सकती है। आनन्दवर्धन ने काव्य से सम्बन्ध रखने वाले प्रत्येक अंग का औचित्य निर्धारित किया है। इसी परम्परा में रस-दोषों और अनौचित्य को निर्धारित किया गया है। औचित्य और अनौचित्य के प्रसंग का विवेचन भाषा के प्रसंग में भी किया गया है। ओजप्रधान शब्दावली श्रृंगार रस के लिए अनुचित है और वीर रस के लिए उचित। नितांत प्रांजल भाषा के मध्य ग्रामीण शब्द का प्रयोग अनुचित समझा गया है। आचार्य हेमचन्द्र ने रसाभास के प्रसंग में एक नवीन बात प्रस्तुत की है कि समासोक्ति, अर्थान्तरन्यास, उत्प्रेक्षा, रूपक तथा उपमा अलंकारों से भी रसाभास होता है। विशेषतया समासोक्ति में प्रस्तुत पर अप्रस्तुत का आरोप किया जाता है, उदाहरणतया--

नहिं पराग नहिं मधुर मधु,
नहिं विकास इहिं काल।
अली कली ही सों बन्धयों,
आगे कौन हवाल।

इसमें निरिन्द्रिय में रति का प्रदर्शन होने से रसाभास है। हरिऔध ने भी एक नया विचार प्रस्तुत किया है कि सब जगह अनौचित्य रसाभास ही उत्पन्न नहीं करता, कहीं कहीं वह रस निष्पत्ति में भी सहायक होता है। जब अनौचित्य का लक्ष्य व्यंजना आदि से चरित्र सुधार हो तो वहां अनौचित्य रस निष्पत्ति में सहायक होता है। कृष्ण-गोपिका प्रेम को श्रृंगार रसाभास के दोष से पवित्र रखने के लिय यह युक्ति दी जाती है कि जिस नायक के लिये अनेक नायिकाएं व्यवस्थित हों वहां रसाभास नहीं होता क्योंकि ऐसी व्यवस्था लोकाचार द्वारा अनुमोदित होती है।

कुल मिलाकर यह बात बनती है कि रस औचित्यपूर्ण और निर्मल है तथा औचित्य लोकाचार पर आधारित। लोकाचार पर आधारित औचित्य काव्य रस के मूलभूत अद्वैत को विचलित नहीं कर सकता।

मानवीय मानस की सिसृक्षा (सर्जनेच्छा) अपने आदिम रूप में प्रवृत्ति स्वरूप है। उसमें विभिन्न भावनाओं

का सम्पुट बाद में बनता है । सिसृक्षा और सौन्दर्यबोध परस्पर अभिन्न हैं ।

(ख) सौन्दर्यानुभूति

सौन्दर्य बोध के सम्बन्ध में भी अनेक मत प्रचलित हैं। आकार के अन्वेषकों ने इन गुणोंको प्रमुख माना है--सम्मात्रा (सिमेट्री), सुव्यवस्था (आर्डर), विविधता (वैराइटी), एकरूपता (यूनीफार्मिटी) औचित्य (प्रोप्राइटी) जटिलता (इंट्रीकेसी), संगति (हारमनी), आनुगुण्य (प्रोपोरशन), संयम (माडरेशन), व्यंजना (सजैशन), स्पष्टता (सि.प्लीसिटी), मसृणता (स्मूथनैस); कोमलता (टैण्डरनस), वर्णप्रदीप्ति (कलरिंग) । रूपाकार में सौन्दर्य ढूंढने की प्रवृत्ति से इन गुणों का परिगणन किया गया है । सौन्दर्य का अनुभव करने वाले की आन्तरिक स्थिति का विवेचन इन गुणों में नहीं है। मनोविज्ञान के साहचर्यवाद का संदर्भ लगाकर जैफ्रे ने बताया कि सौन्दर्य अनुभूति का प्रमुख आधार व्यक्ति के पूर्वकालीन अनुभूत भावों की अनुकूलता या अननुकूलता है । जब हम किसी नई वस्तु को देखते हैं तो पूर्वानुभूत भावों का पुन: स्मरण होता है । कुछ विचारकों ने सौन्दर्य की मानसिक व्याख्या की है, उनका विचार है कि सौन्दर्य मानस है, और मन ही सौन्दर्यानुभूति का अधिष्ठान है । ऐसे विद्वानों में क्रोचे प्रमुख हैं। क्रोचे के अनुसार ज्ञान दो प्रकार का है अन्वीक्षाप्रसूत और कल्पनाप्रसूत (इंट्यूशन) । कल्पना का परिणाम है प्रकाश । प्रकाश अभिव्यक्ति को पूर्णता प्रदान करता है जोकि सौन्दर्य का आधार है, अर्थात् सौन्दर्य कल्पनामूलक अन्तर्व्यापार मात्र है । कला की सार्थकता भावों के प्रकाशन में है, भावों की प्रच्छन्नता में नहीं ।

विद्वानों का एक एसा वर्ग भी है जो सौन्दर्य को ईश्वरीय शक्ति से सम्बन्धित मानता है । प्लेटो ने सृष्टि के दो भद बताएं हैं । चेतन और प्रतीयमान (आइडियल एण्ड फिनोमिनल) । चेतन ही प्रतीयमान में भासित होता है और उसे सौन्दर्य प्रदान करता है । इस दृष्टिकोण के विद्वान् सौन्दर्य को चित्त-शुद्धि में सहायक मानते हैं। इस परम्परा में रस्किन का विचार है कि सुन्दर वह है जिससे व्यक्ति चित्त में इष्ट सिद्धिजनित आनन्द की प्राप्ति हो । ईश्वर स्वत: प्रकाशमान भी है और प्रकाशक भी । इसलिये उसमें समग्रता है । यही समग्रता सृष्टि के प्रत्येक तत्व की जननी है और इस तरह सौन्दर्य की भी जननी है । किसी वस्तु के समग्र अवयवों के मध्य से एक आनन्दस्फूर्ति का पूणविकास होता है, इसी पूर्णविकास का नाम सौन्दर्य है। समग्र अवयवों में सामंजस्य

बोध एक अनिवार्य पूर्वाप्रेक्षा है । सामंजस्य बोध से सौन्दर्यबोध उत्पन्न होता है सामंजस्य ज्ञानात्मक है परन्तु सौन्दर्यबोध भावसंवेगात्मक । दर्शक और दृश्य में अज्ञात सामंजस्य ही सौन्दर्यबोध को जन्म देता है । इसलिये सौन्दर्य में अतीन्द्रिय और इन्द्रिय का मिलन होता है । बाह्यजगत और अन्तर्जगत के ऐक्य को जान लेने के लिये पहले यह मानना पड़ता है कि बाह्यजगत् अन्तर्जगत का साधन है और अन्तर्जगत उसका साध्य है । प्राकृतिक रूप से फैली हुई जितनी शोभा है वह सारी अन्तर्जगत की शोभा का प्रकाश है । दोनों में एकता है । यही ऐक्य भावना सौन्दर्य-भावना है । सौन्दर्यानुभूति के क्षणों में धर्म-धर्मी (सौन्दर्य सुन्दर) के सम्बन्ध का ज्ञान नहीं रहता है । इसलिये यह अनुभूति अन्वीक्षाप्रसूत नहीं, और वस्तुसापेक्ष भी नहीं । जिस तरह आनन्द का पूर्व वर्ती सौन्दर्य है, उसी तरह सौन्दर्य का पूर्ववर्ती आभ्यन्तरणीय व्यापार है । सौन्दर्यबोध वेदना का जन्म आन्तरिक कारणों से होता है । इसलिये सौन्दर्य-बोध वेदना व्यक्ति निरपेक्ष होकर सर्व-निष्ठ हो जाती है । **हम अपने अन्तर्लोक में "सुन्दर" की अनजाने भाव से खोज करते रहते हैं, और अनायास बहिर्लोक में किसी वस्तु को देखकर एकदम कह उठते हैं कि जिसकी हम अन्तर्लोक में खोज कर रहे थे वह वस्तु बहिर्लोक में यही है ।** अन्तरंग स्वरूप के साथ बहिरंग का मिलन होने पर तत्परिणामी व्यापार होता है । वही सौन्दर्यबोध वेदना का आन्तरिक कारण है । सुन्दर एक अयुतसिद्ध समवाय है जिसमें कल्पना और वस्तु अरूप और रूप, अतीन्द्रिय और इन्द्रिय, आइडिया और फार्म का सामंजस्य होता है ।

हम कला में केवल उन्हीं वस्तुओं को ग्रहण करते हैं जिनसे हमारा आन्तरिक स्वरूप व्यक्त होता हो , इसलिये कला सौन्दर्यानुभूति की अभि-व्यक्ति का साधन मात्र है । " **सौन्दर्य बहिरन्तर का सामंजस्य और कला उसकी अभिव्यक्तिमात्र** " वाला सिद्धान्त मध्यमार्गी विद्वानों का है । बहिरन्तर के इस सामंजस्य में "अन्तर" की प्रधानता है "बहिर" की स्थिति केवल उपादान कारण की है। "अन्तर" बहिर में आत्म-प्रक्षेपण करता है । किसी वस्तु में हमारा "अन्तर" जितनी अधिक क्रियाशीलता के साथ रमता है , उतना ही अधिक उसका आस्वादन करता है । रमने वाला और आस्वादन करने वाला "अन्तर" है । बहिर उसकी सामग्री मात्र है । वास्तव में सौन्दर्य और सौन्दर्यानुभूति दो अलग स्थितियां हैं । विद्वानों ने सौन्दर्यानुभूति का अधिक विवेचन किया है, सौन्दर्य की

परिभाषा कम दी है । मूल रूप में मानवीय चेतना परिस्थितियों की दासी नहीं है, इसलिये अन्तर को भी बहिर का दास नहीं कहा जा सकता ।

संस्कृत साहित्य में सौन्दर्य के अनूठे चित्र हैं । वाल्मीकि ने राम को द्युतिमान और सुलक्षण कहा है । कालिदास ने सौन्दर्य की नितनूतना, पराश्रय-निरपेक्षता और आनन्दात्मिकता का वर्णन किया है । माघ ने भी रमणीयता को क्षण क्षण परिवर्तमान माना है । वाण ने रमणीयता के रंगयोजना वाले पक्ष का सविस्तर वर्णन किया है । मधुसूदन सरस्वती ने परमात्मा को "सौन्दर्यसार-सर्वस्व" कहकर सौन्दर्य का आध्यात्मिक स्वरूप अंकित किया है ।

साहित्य आचार्यों ने भी सौन्दर्य का निरूपण किया है । रसवादी आचार्यों ने भाव के साथ विभाव का भी महत्व माना है । इस तरह उन्होंने अन्तर के साथ बहिर के महत्व को स्वीकार किया है । आलंकारिकों ने चमत्कार, अलंकार चारूत्व आदि की व्याख्या में सौन्दर्य का निरूपण किया है । आचार्य कुन्तक ने वाक्य और अर्थ की समग्रता को काव्य कहकर भाषा सौष्ठव की प्रतिष्ठा करके "सौन्दर्य" का निरूपण किया है । पंडितराज ने 'रमणीयता' वाले सिद्धान्त को अग्रसर करके "सौन्दर्यबोध" के सम्बन्ध में विशद विवेचन किया है ।

दार्शनिक दृष्टि से सौन्दर्यबोध ध्यान योग है । ध्यान तभी होता है । जब व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का लोप करके भावलीन हो जाए । अपनी समस्त वृत्तियों को समाहित कर लेने से "अन्तर" का स्वयं प्रकाश "बाहिर" में आकर प्रसारित होता है । यही ध्यान योग कला सृष्टि में अपेक्षित है और यही परमात्मा प्राप्ति में । कला सृष्टि के समय कलाकार समाधिदशा में होता है । तभी वस्तु-जगत में चित्त आत्म-साक्षात्कार कर सकता है । **बहिर में अन्तर का आत्म-साक्षात्कार ही सौन्दर्यबोध है और यही है कला सृष्टि** । इसलिये सौन्दर्यबोध और कलासृष्टि समानार्थक है । ध्यान योग के बिना "अन्तर" की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती । ध्यान योग में ज्ञान, आह्लाद और क्रियात्मक वृत्तियों का संयोग होता है । वैक्षिक दृष्टि में सम्पन्न होने के लिये भी इसी प्रकार के संयोग की आवश्यकता है । यह संयोग एक प्रकार के आकांक्षावेग को जन्म देता है । यह आकांक्षावग समग्र अन्तर्यामी इच्छा में व्याप्त हो जाता है । ऐसे प्रवर्तन को "अनुसन्धान" शब्द से पंडितराज ने कथित किया था । अनुसन्धान के प्रवर्तन के पश्चात् एक निर्विकल्प अखण्ड उद्भास का प्रादुर्भाव होता है जिसका लौकिक अन्वीक्षा के साथ

कोई सम्बन्ध नहीं । लौकिक वस्तु के साथ इसका सम्बन्ध अदृश्य रहता है परन्तु लौकिक शब्दावली में यह अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता, यही इसकी अलौकिकता है । जो वस्तु हमारे मन के प्राचीन प्रभावों के साथ भावात्मक संयोग घटित करा देती है, उसे ही हम सुन्दर कहते हैं। उस भावात्मक संयोग के क्षणों में एक भावना विशेष उत्पन्न होती है जिसका स्वभाव पुनः पुनरनुसन्धानात्मा होता है ।

सौन्दर्य के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि सौन्दर्य का स्थान कहां माना जाए ? दृश्य जगत में अथवा आन्तर जगत में । जो विचारक बाह्य जगत को भगवान् के प्रकाश का प्रस्फुटन मानत हैं, "यः औषधिषु यो वनस्पतिषु" के सिद्धान्त के अनुभाषी हैं, वे दृश्य जगत को ही सौन्दर्य का स्थान कहते हैं, और जो विचारक अपने अन्तर्लोक को ब्रह्म का अंश मानते हैं वे सौन्दर्य का स्थान अपने अन्तर्लोक को समझते हैं, यह जगत हमारा आत्मा का प्रसार मात्र है, अथवा हमारी आत्मा इस बाह्य जगत का सार मात्र है । यह एक दार्शनिक द्वन्द्व है। दार्शनिक सिद्धान्त दोनों ही पक्षों में उपलब्ध हो जाते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से अन्तःकरण बुद्धिवृत्ति और विकल्प वृत्ति का समन्वय है । इसी समन्वय का फलभूत व्यापार सौन्दर्य है। बुद्धिवृत्ति और विकल्पवृत्ति का स्थान भले ही अन्तर्लोक है, परन्तु उनका कारण सामग्री बाह्यजगत से ही प्राप्त होती है । बाह्य वस्तु की सुन्दरता प्रकट तब होती है जब आभ्यान्तरीण विशिष्ट व्यापार सम्पन्न हो जाए । अन्तर्लोक जिस समय बहिर्लोक की किसी वस्तु में अपने नियमों का साम्य देखने लगता है तो उस वस्तु के साथ उसका विशिष्ट प्रकार का परिचय होने लगता है । यह विशेष प्रकार अन्तर्लोक में एक आनन्द की सृष्टि करता है । यह आनन्द ही सौन्दर्य अनुभूति का आनन्द होता है । हमारा चित् उपभोग्य वस्तु के प्रभाव के नीचे आकर कुछ इस प्रकार चंचल हो उठता है कि उसके अनुसार सोचने लगता है । इस तरह से जगत में अपनी आत्मा का परिचय पाने का नाम ही सौन्दर्य है। इस बात को कुछ विचारकों ने दूसरे ढंग से कहा है कि जगत में परमात्मा का परिचय पाने का नाम सौन्दर्य है । उनका यह विचार है कि जब संसार के नाना रूपों और नाना रेखाओं में एक समन्वय घटित होता है और वह समन्वय हमारी आत्मा के सामने उद्घाटित हो जाता है, उस समय बाह्यजगत में मानों परमात्मा प्रकाशित हो जाता है । यह प्रकाश ही सौन्दर्य है। इस लिये भले ही सौन्दर्य का स्थान आन्तरव्यापार में हो परन्तु उसकी सम्भावना बाह्य संसार में है । ध्यान योग से ही

अन्तर अपना साक्षात्कार बाह्य में कर सकता है ।

वास्तविक कलाकार वह है जो हमें प्रकृति का मनोरमता देखने के लिय शिक्षित करता है । कलाकार प्रकृति से उपादान लेता है और रचना की सृष्टि करता है, उस रचना में अपने अन्तर्लोक से सौन्दर्य भरता है । काव्यकला को दृष्टि में रखते हुए कहा जा सकता है कि शब्द छवि का नाम ही काव्य है। इस सम्बन्ध में आचार्य कुन्तक का निम्नलिखित मत महत्त्वपूर्ण है :—

काव्य कला में भास्कर्य तभी आएगा जब कलाकार के अन्तर्लोक में सौन्दर्य सृष्टि सम्पन्न होगी और वह शब्दों में अभिव्यक्त की हुई होगी । सौन्दर्यानुभूति के समय अथवा साहित्यिक अनुभूति के समय हमारी जैवशक्ति में एक विशेष प्रकार की सिहरन आती है, जैव शक्ति का अति-स्फुरण सा होता है । वह अति-स्फुरण ही आनन्द है। जव-शक्ति का उद्रेक ही आनन्द है । सौन्दर्यानुभूति का व्यापार तो मानसिक है, परन्तु आनन्दानुभूति शारीरिक । बाह्य जगत की प्रत्येक वस्तु हमारे "अन्तर" को उद्वेलित नहीं करती, जो वस्तु हमारी मानसी कल्पनाओं में उपस्थित होती है वही सौन्दर्य सामग्री बनती है । कौन सी वस्तु हमारी मानसी कल्पना में उपस्थित होने के योग्य होती है, इसका चयन हमारी आभ्यन्तरीण वृत्ति ही करती है । इसलिये सौन्दर्यसृष्टि में आन्तर व्यापार प्रधान है । यही कारण है कि सौन्दर्य को 'आन्तर धर्म' कहा गया है । सौन्दर्य में अधिकांश मानसी सम्पदाएं ही प्रकाशित होती हैं ।

सौन्दर्य की भान्ति कला में भी चिद्विलास की अभिव्यक्ति होती है । प्राचीन युग की काव्यकला अथवा कथाकला में चिद्विलास की अभिव्यक्ति की अधिक सम्भावनाएं थीं परन्तु आधुनिक युग साहित्यिक चरित्र नियम कानून और रीति रिवाज की अपेक्षाओं द्वारा पाबंद होते हैं । उनके माध्यम से कथाकार मनचाहे चिद्विलास को पूर्ण रूपेण अभिव्यक्त नहीं कर सकता । काव्यकला के गीति मुक्तकों में अपेक्षाकृत चिद्विलास की उन्मुक्त अभिव्यक्ति का अधिक स्थान होता है । सौन्दर्य और कला दोंनों का प्रधान लक्षण चित्प्राण ही है ।

● ● ●

हिन्दी के व्यक्तिपरक उपन्यास–
उपलब्धियां और अभाव

रवीन्द्र कुमार जैन

मानव-चरित्र की अन्तः बाह्य वास्तविकता का सर्वाधिक स्वस्थ, शुभ एवं वरेण्य प्रतिनिधित्व किसी साहित्यिक विद्या ने किया है तो वह आधुनिक औपन्यासिक धारा है। सामाजिक अथ च वैयक्तिक जीवन की अभद्य अतलता, विस्तार एवं ऊर्ध्व-गामिता हमारे सम्मुख आज इसी विधा के कारण हस्तामलकवत एवं जीवन्त-स्फूर्तिमय चलचित्र सदृश आ सकी है। इस विद्या का सहज आकर्षण अनुपम है। गत दो युगों के उपन्यास अपने युग-सापेक्ष महत्त्व एवं उपयोगिता के साथ बंध गये हैं। उनसे अद्यतनीन जीवन को अन्त-तमस-भेदक प्रकाश नहीं मिल सकता।

हिन्दी के उदयकालीन उपन्यास प्रमुख रूप से सामयिक मनोरंजन प्रस्तुत करते हैं। लेखकों के छिछले मन की उड़ानें अपनी पराकाष्ठा पर इनमें परिलक्षित होती हैं। गम्भीर समस्या और व्यापक जीवन दृष्टि इनमें नाम-मात्र की भी नहीं है। कुतुहल वृत्ति, चौरकर्म चातुर्य, तिलस्म, यद्वातद्वा स्थूल सुधार-वाद एवं पौराणिक उपदेश ही इन उपन्यासों का सर्वस्व है। निर्जीव घट-नाओं में पात्र अपने आपको पूर्णतया अर्पित कर देता है। घटनाएं उसे सदा यन्त्रवत् परिचालित करती रहती हैं। सर्वत्र घटना-सापेक्ष-घटना घोंघा (Mouth Piece) पात्रों के ही दर्शन होते हैं। निष्कर्ष यह है कि इस युग में घटनाएं भी स्वस्थ, सम्भाव्य एवं तथ्य-परक जीवन को लेकर नहीं चलीं। साथ ही उनकी गहरी एवं दूर-गामिनी छाया में पात्रों का व्यक्तित्त्व भी मुक्त विचरण न कर सका। फिर भी इन उपन्यासों का अपना महत्त्व है और रहेगा क्योंकि ये हमारी भय, करुणा और प्रेम वृत्तियों का किसी स्तर पर पोषण करते हैं। यह दूसरी बात है कि

आज के युग की मांग का इनसे समर्थन न होता हो ।

दूसरी धारा (प्रेमचन्द युगीन) के उपन्यासों में व्यापक जीवन दृष्टि, विशाल समस्याएं जोकि आद्यन्त धरातलिक थीं, पहली बार सामने आईं। देश, समाज एवं परिवार की गतिरोधक गुत्थियों को पूर्ण योजना एवं व्यवस्था के साथ प्रस्तुत किया तथा उचित समाधान भी यथासंभव प्रस्तुत किया गया । समन्वय दृष्टि, आदर्श जीवन एवं उदात्त लक्ष्य इस धारा के उपन्यासों में परिव्याप्त हैं । भाषा और शैली भी अधिकाधिक स्वाभाविक ललित एवं प्रभावपूर्ण है। परन्तु इस धारा में भी घटना प्राधान्य का ही साम्राज्य रहा । यह अवश्य हुआ कि अब समस्याएं यथार्थ जीवन की, समाज की और देश की आने लगीं जिनका जन-मानस ने पूर्णतया स्वागत किया । पात्रों का व्यक्तित्त्व यहां भी समस्या-सापेक्ष रहा है। वे व्यक्तिकम और वर्गगत (Type) अधिक रहे हैं। एक एक पात्र एक एक वर्ग एवं उसकी समस्या का प्रतिनिधित्व कर रहा है । जो उसकी अपनी समस्या है, पीड़ा है वह वस्तुतः सम्पूर्ण गांव की एवं कृषक समाज की है । परिणामतः ये सभी उपन्यास एक विचार धारा के पोषक बन गये हैं और इनमें सोद्दश्यता पूर्वनिश्चित है अतः घटनाओं की परिणति स्वाभाविक नहीं हो सकी है और पात्र का अन्तर्मन भी प्रायः कुण्ठाओं में घुटता रहा है । घटनाओं और समस्याओं का विकास अत्यन्त प्रभावकारी रहा है, परन्तु समाधान आदर्शात्मक होने से कृतियां बुरी तरह विकलाङ्ग हो गई हैं । प्रायः इस धारा के सभी उपन्यासों में सामुदायिक जीवन की समस्याओं के बाह्य पर ही ध्यान केन्द्रित किया गया है । व्यक्ति के अन्तस् की गहनताओं को स्पर्श करने का यत्न नहीं किया गया । मानव का यह अन्तर्जगत उसके बाह्य जगत की अपेक्षा अधिक व्यापक, गरिमामय, रहस्यपूर्ण एवं गहन अध्ययन सापेक्ष है । वस्तुतः हमारी समस्त जागतिक समस्याओं का मूल यही अन्तर्मन है—व्यक्तिमन है। इस दिशा में प्रेमचन्द के परवर्ती उपन्यास-कारों ने लेखनी उठाई और व्यक्ति मानस की अतल गहराइयों से जगत को परिचित कराया । यहां यह जान लेना अत्यावश्यक है कि व्यक्तिपरक उपन्यासों से हमारा क्या आशय है ? एक व्यापक दृष्टिकोण को सामने रखकर हम कह सकते हैं कि विभन्न सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक समस्याओं-संघर्षों के प्रति व्यक्ति की निजी प्रतिक्रिया जिन कृतियों में व्यक्त हो वे व्यक्ति परक ह—अर्थात् बाह्य समस्याओं के प्रति व्यक्ति की निजी प्रतिक्रिया । दूसरी ओर प्रम, ऐन्द्रिकता

ग्राचार, नीति, सभ्यता ग्रादि की पुरातन एवं जड़ प्रतीत होने वाली मान्यताओं के प्रति व्यक्तिमन का विद्रोही हो उठना और पूरे वेग के साथ उक्त समस्याओं और मान्यताओं को चूर्णित कर देना जिनमें लक्षित हो वे व्यक्तिपरक उपन्यास है। निष्कर्ष यह है कि जिन कृतियों में वैयक्तिकता को सर्वोपरि महत्त्व प्रदान किया गया हो वे व्यक्तिपरक कही जाएंगी। स्पष्ट है ऐसे उपन्यासों में सामाजिक मान्यताओं और मूल्यों की तुलना में वैयक्तिक मूल्यों को अधिक महत्त्व मिलता है। मनोविश्लेषणात्मक एवं व्यक्ति-परक उपन्यास सामान्यतया एक ही समझे जाते हैं परन्तु उनमें मौलिक अन्तर यह है कि मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास में व्यक्ति की सम्पूर्ण चेतना अन्तर्मुखी एवं आत्मकेन्द्रित हो जाती है। बाह्य जगत के नियम, विधान क्या हैं, पात्र इसकी चिन्ता कभी नहीं करता; वह इतना मनोलीन हो जाता है कि उसका ध्यान ही उस दिशा में नहीं जाता। सम्पूर्ण बाह्य उसके मन की छाया में रंग सा जाता है। यहां पात्र के मन में उठने वाली हूक और चहक, जगत की व्यवस्था, बुद्धि और नैतिकता सब को अनायास परमार्दित करती हुई आगे बढ़ती है। मनः प्रवाह ही इन उपन्यासों का सर्वस्व है। दूसरी ओर व्यक्तिपरक उपन्यास अदम्य व्यक्तित्वमय पात्रों को लेकर चलते हैं। ऐसे पात्र निजी विचार-धारा को जीवन पद्धति को अत्यंत दृढ़ता एवं बौद्धिकता से प्रस्तुत करते हैं। ये पात्र समस्याओं से, व्यवस्था से पलायन कर मनमानी के अभ्यासी नहीं होते, अपितु अपनी गरिमा मयी, वेगभरी एवं तर्कपूर्ण मान्यताओं के सम्मुख अन्य समाजगत एवं दलगत मान्यताओं को खोखला एवं हीन सिद्ध करते हैं। इन पात्रों में कर्मठता एवं क्रांतिमूलक चेतना सदैव उद्दीप्त रहती है। परन्तु व्यक्तिपरक एवं मनो-वैज्ञानिक उपन्यास दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। हां, प्रथम में वैचारिक एवं कर्ममय व्यक्तित्त्व प्रधान है जबकि दूसरे में उमंग प्रधान, स्वाभाविक मानस-व्यक्तित्व प्रधान हैं। मनोवैज्ञानिक कृतियां अन्तर्मुखी अधिक होती हैं। अतः उनमें गहनता की मात्रा अधिक होती है जबकि व्यक्तिपरक उपन्यासों में मानसी गहनता की अपेक्षा बुद्धिवेग एवं निजी स्थापनाओं का आग्रह अधिक होता है। इस क्षेत्र के उत्कृष्ट एवं कलाप्रधान उपन्यास वे हैं जिनमें बौद्धिक एवं मानस प्रत्यक्ष का सुन्दर संघर्ष प्रस्तुत कर सहज गम्य मानस प्रत्यक्ष को विजयी सिद्ध किया गया हो --ऐसा स्वतः हो गया हो। अतः व्यक्तिपरक उपन्यासों के अन्तर्गत मनोविश्लेषणपरक उपन्यास भी आ जाते हैं। वस्तुतः उत्कृष्ट उपन्यास

वह ही है जिसमें व्यक्तिमन में घुमड़ती हुई अनेक कुण्ठाएं और उत्कण्ठाएं भव्यता, शालीनता के परिवेश में इस क्षमता के साथ प्रकट की जाएं कि उन पर अनायास ही विश्वास हो जाये और पाठक ऐसा अनुभव करे कि उसके सम्मुख उसकी ही मूल्यातीत निधि (अन्तर्निधि)प्रस्तुत की गई है जिसे वह अबतक नहीं जानता था। मानव बाह्य जगत की जानकारी से उतना तृप्त एवं प्रभावित नहीं होता जितना कि अन्त: रहस्यों के--गूढ़ मनों ग्रन्थियों के उद्घाटन से होता है ।

प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों के मूल प्रेरणास्रोत मार्क्स और फ्रायड की अर्थ एवं मनोविज्ञान सम्बन्धी स्थापनाएं रही हैं। मार्क्स ने अर्थ को सम्पूर्ण सुखों का मूल बताया और अर्थाभाव से पीड़ित मानव जाति की दमित चेतना को व्यापक स्तर पर--क्रान्ति के धरातल पर उद्बुद्ध किया । इस क्रान्त द्रष्टा ने युग युग से पादाक्रान्त सामाजिक व्यक्तित्त्व को संगठित होकर अपराजेय होने का नारा दिया । इस जन-मानस के अग्रदूत ने अत्यन्त दृढ़ता से घोषित किया और सिद्ध किया कि हमारी समस्त कुण्ठाओं और वदनाओं का प्रमुख कारण आर्थिक शोषण है । अशिक्षा, हीनचिन्तन, रुग्णता, दारिद्रय एवं दासत्वमूलक चिन्तन केवल आर्थिक शोषण के कारण है। दूसरी ओर महामना फ्रायड ने व्यक्ति के अन्तर्मन में प्रवश किया और उसकी समस्त वेदनाओं और विकृतियों का रहस्य उद्घाटित किया । इस तलस्पर्शी विद्वान् विचारक ने घोषित किया कि मानवमन में अनेक ऐसी अनुद्घाटित ग्रन्थियां हैं जिन्हें हम जानने का यत्न ही नहीं करते । मनुष्य पौष्टिक भोजन करता है, स्वच्छ वस्त्र पहनता है, ऊपर से सुखी प्रतीत होता है पर धीरे-धीर अन्दर ही अन्दर क्षीण होता जाता है और एक दिन चुपचाप समाप्त भी हो जाता है । अत: आज के युग को अर्थ व्यवस्था से भी अधिक मानसिक उपचार की आवश्यकता है । हमारे चौतरफा वातावरण में एक गहरी बौद्धिक एवं मानसिक संकीर्णता परि-व्याप्त हो गई है । नैतिक एवं आचारपरक स्तर पर स्थापित की गई मान्यताएं और जीवन पद्धति आज सर्वथा खोखली और निष्प्राण सिद्ध हो चुकी हैं। अत: आज व्यापक रूप से यह अनुभव किया जा रहा है कि सभी अस्वस्थ, थोपे हुए कृत्रिम बन्धनों को जब तक मानव मन से पृथक न किया जाएगा तब तक स्वस्थ, उदात्त एवं मौलिक व्यक्तित्त्व आ ही नहीं सकता । घटाटोप आचार व्यवस्था, नैतिकता एवं सामाजिक नियम बद्धता के आतंक मूलक वातावरण के कारण व्यक्तिमन की अनेक इच्छाएं

आशाएं बाह्य अभिव्यक्ति न पाकर अन्तर्मुखी हो जाती हैं और अवचेतन की गहराइयों में पैठ कर अनेक कुण्ठाओं, विकृतताओं और अमूर्त चित्रों को जन्म देती हैं। फलतः अनेक विद्रूप व्यक्तित्त्व हमारे सामने आते हैं। ध्यान देने की बात यह है कि जो जितना विद्रूप और कुत्सित सिद्ध हो चुका है वह उतना ही सुरूप, ख्यातनामा एवं उदात्त सिद्ध हो सकता था यदि उसे उचित एवं स्वाभाविक वातावरण में पल्लवित होने का अवसर मिलता। सामान्य व्यक्तित्त्व में प्रायः गम्भीर विकृतियां उत्पन्न नहीं होतीं क्योंकि वह विरोध और दमन को सह लेता है, स्वयं को तदनुकूल भी कर लेता है और इस प्रकार उसकी निजी चेतना प्रायः लुप्त हो जाती है। यही मानव का गूढ़ रहस्य है। अतः स्पष्ट है कि मनोविज्ञान ने हमें मानव के एक ऐसे जगत से परिचित कराया जिससे कि हम उसकी व्यक्तित्त्व प्रतिष्ठा, जीवन पद्धति, विकृतता, स्वप्न, सम्भाषण एवं विभिन्न कार्यव्यापारों के प्रति स्नेह एवं सहानुभूति रख सकें और यथावसर उसके व्यक्तित्त्व निर्माण में बाधक तत्त्वों को समझकर उनके निराकरण का यत्न कर सकें।

उक्त दोनों पद्धतियों के अभिनव प्रकाश में उपन्यासकार ने बिल्कुल नवीन ढंग से हमारी समस्त सामाजिक गुत्थियों, नैतिक मूल्यों, स्त्री-पुरुषों के यौन-सम्बन्धों एवं व्यक्तिरूपों की विविध विकृतियों का तलस्पर्शी पर्यवेक्षण एवं गवेषण किया। फलतः पाप, अपराध, विद्रोह, दुष्टता एवं अराजकता आदि का मौलिक एवं युक्तिसंगत विवेचन प्राप्त कर युग की दृष्टि में पापी, अपराधी, विद्रोही आदि घृणास्पदों के प्रति गहरी सहानुभूति एवं करुणा उत्पन्न हुई।

मार्क्स और फ्रायड के अतिरिक्त अनेक पाश्चात्य उपन्यासकारों की रचनाओं ने भी हिन्दी में इस व्यक्तिपरक धारा का सूत्रपात कराया। रूसो, विक्टर-ह्यूगो, डास्टायवस्की एवं गोर्की आदि उपन्यासकारों के नाम उल्लेख्य हैं। बंगला की उपन्यासकारत्रयी—बंकिम, रवीन्द्र और शरत की कृतियों से भी हमारे लेखकों ने इस दिशा में पर्याप्त प्रेरणा ली। दलितमानव के अधिकारों की घोषणा सबसे पहले रूसो ने की। उसकी विश्व-विख्यात पुस्तक 'सामाजिक समझौता' का प्रारम्भ ही वैयक्तिक स्वातन्त्र्य के उद्घोषक इस वाक्य से होता है—'मनुष्य स्वतन्त्र होकर उत्पन्न हुआ है पर संसार में वह सर्वत्र बन्धनबद्ध दृष्टि-गोचर होता है।' इस वाक्य ने पश्चिम की जीवन-धारा और चिन्तन प्रणाली में व्यापक परिवर्तन प्रस्तुत किया। फिर भारतवर्ष में भी विविधदिशाओं से व्यवित स्वातन्त्र्य की परिस्थितियां उठ

ही रही थीं । इस प्रकार व्यक्तिपरक उपन्यासों की महत्ता और प्रेरणास्रोतों की जानकारी के अनन्तर हिन्दी के इस दिशा में लब्धप्रतिष्ठ उपन्यासकारों की कृतियों पर विचार करना न्यायसंगत होगा । सर्वश्री जयशंकर प्रसाद, भगवती चरण वर्मा, भगवती प्रसाद वाजपेयी एवं उपेन्द्रनाथ 'अश्क' इस धारा के प्रतिनिधि स्रष्टा हैं । प्रगतिशील लेखकों और मनोवैज्ञानिक लेखकों को भी इस धारा के अन्तर्गत स्वीकृत किया जा सकता है; पर वैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से यही उचित है कि इन सब का अध्ययन-क्षेत्र पृथक्-पृथक् हो । श्री जयशंकर प्रसाद मूलतः कवि हैं—कवि भी प्रेम के, सौन्दर्य के और वैयक्तिक उदात्त सर्जना के । परन्तु उनकी प्रतिभा कहानी, नाटक और उपन्यासों में भी अपने पूर्ण वैभव के साथ निखर, संवर कर प्रकट हुई है । उनकी वैयक्तिक जीवन दृष्टि एवं व्यापक सांस्कृतिक चेतना उन के सुप्रसिद्ध दोनों उपन्यासों में अभिव्यक्त हुई है । 'कंकाल' यथार्थ की कठोर धारा पर स्थित है जिसमें समाज और व्यक्ति की दमित चेतना को अधिकाधिक उभारने का यत्न किया गया है । 'कंकाल' का मूल आधार युवक-युवती का यौन सम्बन्ध है । प्रेमी-प्रेमिका इक दूसरे को अपना जीवन साथी नहीं बना सकते । समाज, जाति एवं रूढ़ियां दैत्यकाय पर्वतों की भांति उनके मार्ग में खड़ी हैं । नायक नायिका के व्यक्ति-मन में क्रान्ति की तीव्र चिन्गारियां उठती हैं । वे उक्त घृणास्पद, जड़ एवं मरणोन्मुखी व्यवस्था को नष्ट कर अपने ढंग से जीना चाहते हैं । विजय और घण्टी के उद्गार आद्यन्त वैयक्तिकता से परिव्याप्त हैं। अतः उक्त उपन्यास सामाजिक होते हुए भी गहरी वैयक्तिक चेतना लिये हुए हैं। प्रसाद जी का दूसरा उपन्यास 'तितली' भी एक श्रेष्ठ व्यक्तिपरक कृति है। इस कृति में देहाती जीवन की करुण-कथा, सामन्ती व्यवस्था का पतन, सम्मिलित परिवार व्यवस्था की विच्छिन्नता तथा व्यक्तिमूलक स्वतन्त्र जीवन के गंभीर एवं हृदय द्रावक चित्र प्रस्तुत किये गए हैं। उपन्यास के अधिकांश पात्र स्वतन्त्र जीवन पद्धति के लिये छटपटा रहे हैं। सामाजिक एवं पारिवारिक संस्थाओं के बीच मानों वे समाप्त प्राय: हो चुके हैं । भारतीय सम्मिलित कुटुम्ब योजना की कड़ियां चूर चूर हो रही हैं। वह आर्थिक संगठन अब नहीं रहा जिसमें कुल का एक प्रमुख सबके मस्तिष्क का संचालन करता हुआ रुचि की समता का भार ठीक रखता था ।१ तितली-मधुवन, इन्द्रदेव-शैला, अनवरी नर्स—श्याम लाल इन तीन युग्मों में व्यापक रूप

१. 'तितली' पृष्ठ १०८, ले० जयशंकर प्रसाद ।

से निजत्त्व की एवं बन्धनों और बाधाओं के प्रति विद्रोह की भावना आद्यन्त ध्वनित है । सम्पूर्ण उपन्यास कमजोर एवं हीन समाज व्यवस्था के विरुद्ध प्रेम के क्षेत्र में वैयक्तिक चेतना जागृत करता है । उक्त कृति सामन्ती एवं पूंज़ीवादी संस्कृति और मान्यताओं की गलनशीलता, विद्रूपता और अगति के विरुद्ध वैयक्तिक स्तर पर एक समृद्ध यौन चेतना-समन्वित जीवन का उद्घोष करती है । नवचेतना-के ये नवांकुर वरेण्य हैं ।

भगवती चरण वर्मा

व्यक्तिपरक उपन्यासों के सुविख्यात रचयिता श्री भगवती चरण वर्मा की 'चित्र लेखा' से वस्तुतः हिन्दी के उपन्यास जगत में एक सर्वथा नवीन एवं स्फूर्तिमय युग का शुभारम्भ हुआ । उक्त उपन्यास में जिस निर्भीक, वैज्ञानिक एवं मनः सम्मत युगान्तर, कारिणी वैयक्तिक चेतना और नये नैतिक, सामाजिक मूल्यों का संस्थापन किया गया है उसने हिन्दी जगत में एक व्यक्तिवादी युग की सृष्टि ही कर दी । 'चित्रलेखा' की मूलभूत समस्या है नये व्यक्ति सापेक्ष नैतिक मूल्यों का मनोवैज्ञानिक अन्वेषण एवं संस्थापन । इस कृति में पुरातन दलगत एवं पारस्परिक–आस्थामूलक संस्कृति के विरुद्ध बौद्धिक, नागरिक व्यक्तिपरक उन्मुक्त सांस्कृतिक चेतना व्यक्त की गई है । भगवती चरण वर्मा की 'चित्रलेखा' ने समाज को मानव की मात्र पृष्ठभूमि का रूप प्रदान किया और प्रेम की, रोमांस की भूमि पर एक साधु और एक सामन्त को कसौटी बनाकर पाप और पुण्य की व्यक्तिवादी सत्ता का उद्घाटन किया । व्यक्ति उभरा और अब उसके आचरणों की बुराई भलाई का आदर्श उसकी अपनी मानसिक स्वीकार्यता ही बनी ।१ भगवती चरण वर्मा के सभी उपन्यासों में मध्यवर्गीय सामाजिक नैतिक मान्यताओं को नूतन वैयक्तिक रूप प्रदान किया गया है । लेखक के अन्य उपन्यास तीन वर्ष (१९४६) 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' (१९४६), 'आखिरी दाव' (१९५०), 'अपने खिलौने' (१९५७), 'भूले बिसरे चित्र' (१९५९) क्रमशः पारिवारिक , राज-नैतिक, आर्थिक, भावात्मक एवं संस्मरणात्मक स्तरपर व्यक्तिपरक मूल्यों और मान्यताओं की स्थापना करते हैं । इस प्रकार हम देखते हैं कि उक्त लेखक नें विभिन्न सामुदायिक जड़ीभूत मूल्यों के नीचे छटपटाते मानवमूल्यों – व्यक्तिमूल्यों की स्थापना का स्वर उठाया और हिन्दी जगत को नूतन दिशा-दृष्टि दी ।

भगवती प्रसाद वाजपेयी

श्री भगवती प्रसाद वाजपेयी का क्षेत्र

---

१. 'आलोचना' अंक का पृ० ३८, ले० डा० सत्येन्द्र ।

प्राय: मध्यवर्गीय परिवार ही रहा है। उनकी अपनी मान्यता रही है कि परिवार और उसमें भी व्यक्ति की सुख-समृद्धि शेष सुख का आधार है।। वे प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्र जीवन पद्धति के साथ जीते, हंसते देखना चाहते हैं। भावुकता, कामुकता तथा कष्ट सहन की प्रवृत्ति वाजपेयी जी के प्राय: सभी पात्रों में परिलक्षित होती है। इनके पात्र एक पराजित एवं निराशा मूलक व्यक्तित्व लिये रहते हैं। व्यक्ति-मन के प्रति समाज की उपेक्षा और असहिष्णुता के हृदय-द्रावक चित्र आपकी रचनाओं में सर्वत्र उपलब्ध होते हैं। वाजपेयी जी पर प्रारम्भ में प्रेमचन्द का प्रभाव रहा, पर आगे चल कर वे अन्तर्द्वन्द्व और मनोविज्ञान को भी साथ लेने लगे। फल यह हुआ कि इस दुहरी दृष्टि और योजना के कारण पुष्ट रूप एक का भी न आ सका। 'जब कभी ये उपन्यास सामाजिक प्रगति की भूमि को छोड़ कर ऐकान्तिक, मनोवैज्ञानिक ऊहापोह में लग जाते हैं तब न तो सच्चे अर्थों में नया चरित्र चित्रण ही हो पाता है और न उपन्यासों की सामाजिकता ही रह पाती है। जो पात्र और परिस्थितियां उपन्यासों में चित्रित होती हैं, वे कभी-कभी दर्शन और मनोविज्ञान के नाम पर निरुद्देश्य भावुकता या चारित्रिक दुर्बलता को ही अंकित करती हैं।"[1]

वाजपेयी जी की औपन्यासिक कृतियां 'पतिता की साधना', 'दो बहनें', 'निमन्त्रण', 'चलते चलते', 'मीठी चुटकी' और 'अनाथ पत्नी' पारिवारिक जीवन के विविध रूपों, समस्याओं को लिये हुए हैं। प्रेम की पीड़ा सर्वत्र व्याप्त है। 'पतिता की साधना' के नन्दा-हरी', 'दो बहिनों' के ज्ञान प्रकाश, लता, आशा, 'चलते-चलते' का राजेन्द्र और 'निमन्त्रण' की मालती ये सभी पात्र प्रेम की पीड़ा और कष्ट साधना में रत हैं, खिन्न हैं, अपनी व्यक्तिगत मान्यताओं के साथ किसी न किसी प्रकार जी रहे हैं। इन सभी पात्रों में यह क्रान्ति ऊर्ध्वगामिनी न होकर अधोगामिनी होकर ही रह गयी है। सभी पात्र हिंसामूलक प्रगतिशीलता या क्रान्ति का आश्रय नहीं लेते अपितु गांधीवादी हृदय परिवर्तन की नीति के अधिक निकट प्रतीत होते हैं। इनके पात्र सहते अधिक हैं, कहते और करते कम हैं। स्पष्ट है लेखक पात्रों के मौलिक एवं आन्तरिक व्यक्तित्व को, उसकी अपनी समस्याओं को अधिकाधिक मानस वेग के साथ प्रस्तुत करने का संकल्प करके चला है। पात्रों की प्रेम-पीड़ा सहन की आत्यन्तिक प्रवृत्ति पाठकों को मानों उनके सच्चे हृदय का एक्सरे ही दे देती है।"वाजपेयी हा। सोन्मुख मध्यवर्गीय समाज में दुर्बल पात्रों पर संघर्ष

१. 'नया साहित्य नये प्रश्न' पृष्ठ १७७, ले० नन्द दुलारे वाजपेयी

का आदर्श आरोपित करने के प्रयास में व्यस्त दीख पड़ते हैं। व्यक्ति के महत्त्व को पुनः स्थापित करने की चिन्ता में निरत हैं। इस तरह उनकी उपन्यास-कला का उद्देश्य व्यक्ति की उलझनों तथा समस्याओं को निरूपित करना है।"१ इतना फिर भी अविस्मरणीय है कि वाजपेयी जी के पात्र अभी पूरी तरह से सामाजिक और पारम्परिक आवरणों से पृथक नहीं हो सके हैं। पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत मध्यवर्गीय व्यक्ति की टीस और कसक सर्वत्र है ही। इस विवशता को चीरता हुआ व्यक्तित्त्व नहीं मिलता।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

श्री 'अश्क' एक प्रगतिशील एवं प्रकृतवादी लेखक के रूप में स्वीकार किये गये हैं, परन्तु यह भी सत्य है कि इनके प्रमुख पात्र एक नितान्त आत्मजीवी, स्वच्छन्द एवं रोमानी वैयक्तिक जीवन-धारा को लेकर अग्रसर होते हैं। अश्क जी के सभी उपन्यासों का मूलस्वर सामाजिक क्रान्ति और वैयक्तिक स्वातन्त्र्य है। वे नितान्त बन्धन हीन जीवन के आदी स्वयं हैं और इसी जीवन दृष्टि की छाया में उन के सभी पात्र एवं कथानक अंकुरित एवं विकसित हुए हैं। संगठन, संयम और एकरूपता के स्थान पर विघटन, अमर्यादा एवं विद्रूपता भी आपकी कृतियों में कम नहीं मिलती। इनके उपन्यासों में एक स्वस्थ व्यक्ति-दर्शन का—ऐसे दर्शन का, जिसका कि व्यापक स्तर पर समर्थन किया जा सके, अभाव ही मिलता है। यथार्थ उत्कृष्ट वही है जो वैयक्तिक स्तर के साथ सामाजिक स्तर पर भी खरा उतरे और मान्य हो। प्रायः कुण्ठा, निराशा एवं अतृप्त वासना की उद्दाम हिलोरें अश्क जी की कृतियों में मिलती हैं। "अश्क जी के उपन्यासों में यथार्थ की प्रवृत्ति वैज्ञानिक सीमा पर नहीं पहुंची है, परन्तु उनके उपन्यास भी मध्यवर्गीय समाज की गतिविधि को एक विशेष दृष्टि से ही चित्रित करते हैं। उनके उपन्यासों में उक्त समाज के ऐसे ही पहलू आये हैं जिनमें निष्क्रियता, उद्देश्य हीनता और हल्के विषाद की छाया पड़ी हुई है। इन रचनाओं को पढ़ने पर हमें समाज के ऐसे चित्र मिलते हैं जिनमें यथार्थता हो सकती है, परन्तु इनके पढ़ने पर हमारे मन में ऐसी स्वस्थ, उल्लासपूर्ण और विकासोन्मुख भावनाएं उत्पन्न नहीं होतीं जैसी प्रेमचन्द के उपन्यासों को पढ़ कर होती हैं।"२ यद्यपि जिसे हम अपसामान्य (Abnormal) व्यक्तित्त्व कहते हैं उसके अनुभव भी साहित्य में वांछनीय हैं, परन्तु क्या उनका व्यापक स्तर पर भी स्वीकरण

---

१. 'हिन्दी उपन्यास' ले० डा० सुषमा धवन, पृ० ११६

२. 'आलोचना' विशेषाङ्क, पृ० ६०

संभव है, यह भी विचारना होगा। सर्वोत्तम सत्य एवं यथार्थ वह है जो सामान्य स्तर पर भी अनुकूल एवं सत्य सिद्ध हो और यह तभी संभव हो सकता है जबकि अनुभव कर्ता अत्यन्त निश्छल-मना हो और उसकी वृत्तियों का उदनत्ती करण संभव हो सका हो। फिर भी 'अश्क' जी की औपन्यासिक देन कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। जीवन में हम बहुत सी बातें जानना ज़रूर चाहते हैं, भले ही उन्हें न मानें और उन पर न चलें। 'अश्क' जी ने कई आतमकामी व्यक्ति चरित्रों की सुन्दर एवं कला पूर्ण सृष्टि की है। उन के प्रसिद्ध उपन्यास हैं 'सितारों के खेल' (१९३८), 'गिरती दीवारें' (१९४७), 'गर्मराख' (१९५२) 'बड़ी बड़ी आंखें' (१९५५) सन् १९५७, में प्रकाशित 'पत्थर अलपत्थर' भी एक कलापूर्ण एवं क्रान्तिमूलक कृति है।

'सितारों के खेल' में लेखक ने पौराणिक पति भक्ति की अंधी मान्यता को व्यर्थ सिद्ध किया है। बंसीलाल, लता तथा अमृतराय का प्रेम अन्त में असफल हो जाता है। लता का चरित्र एक लम्बी सीमातक व्यक्तित्त्व प्रधान है। पौराणिक युग की दमित नारी को स्वतन्त्र्य व्यक्तित्त्व देने का सफल प्रयत्न यह उपन्यास कहा जा सकता है। 'गिरती दीवारें' अश्क का दूसरा उपन्यास है। इसमें आर्थिक वैषम्य एवं प्रेम दमन का सामाजिक एवं वैयक्तिक स्तर पर चित्रण किय गया है। चेतन का व्यक्तित्त्व बुरी तरह विद्रूपित है -- वह हर सुन्दर स्त्री की ओर आकृष्ट होता है, उल्टे सीधे अभद्रतापूर्ण आयास भी करता है, नारी समाज के लिये एक चलता फिरता रोग बन जाता है। बहुत संभव है चेतन के व्यक्तित्त्व में यह विकार उसके अरुचिपूर्ण विवाह ने उत्पन्न कर दिया हो। पर वह तो विवाह के बन्धन को प्रारम्भ से ही अस्वीकार करता है क्योंकि फिर स्वच्छन्द विहार का अवसर कहां रहेगा ? इस कृति में व्यक्ति का सेक्समूलक यथार्थ जो सामाजिक स्तर पर घृणित एवं अशिष्ट समझा जाता है, चित्रित किया गया है। 'गर्म राख' लेखक का तीसरा उपन्यास है। इसमें जगमोहन और सत्या के द्वारा आर्थिक तथा नैतिक स्तर पर मध्यवर्गीय समाज की विघटन एवं उखड़न का चित्रण हुआ है। इस कृति में भी सेक्स की उष्णता के कारण घाट घाट को चाटने का असफल प्रयास करता हुआ व्यक्तिमन, विसूरता हुआ मिलता है। सम्पूर्ण कृति में पराजिता, निराशा, कुण्ठा, अभाव एवं अतृप्ति की भयावनी परछाईयां छाई हुई हैं। प्रगतिशील शक्तियों को उभारने की अपेक्षा --इस कृति में व्यक्तिगत इन्द्रिय तोषण अर्थात् स्वच्छन्द यौनसम्बन्धों के लिये समाज को कभी गाली देकर, तो

कभी अपनी लाचारी बता कर स्वीकृति (Allowance) चाही है। साथ ही यह भी स्वीकार करना ही पड़ेगा कि लेखक ने बड़ी क्षमता से अद्यतनीन बौद्धिक एवं वैयक्तिक वेगवती चेतना में दीप्त नवयुवकों द्वारा पुरातन, अर्थहीन, युक्तिहीन रूढ़ियों, रीतियों और सामाजिक विविध विकृतियों का व्यंग्यात्मक एवं वेगमयी शैली में मार्मिक चित्रण कर वस्तुतः एक चिरदीप्त चिनगारी का प्रभावक परिचय दिया है। इस कृति को आलोचकों में विभिन्न दृष्टियों से मान्यता प्रदान की है। श्री शिवदान सिंह चौहान इसे प्रकृतवादी प्रकाश चन्द्र गुप्त इसे यथार्थवादी और अमृतलाल नागर इसे प्रगतिशील कृति की संज्ञा देते हैं। अश्क जी इसे समस्या प्रधान कृति मानते हैं। उक्त सभी विचारकों के पीछे उनकी अपनी राजनैतिक मान्यताएं काम करती हैं अतः उनका निर्णय निर्भ्रान्त कैसे हो सकता है। यह उपन्यास यथार्थ और प्रकृतवाद के आधार पर वैयक्तिक पूर्णताओं और तृप्तियों के लिए एक आन्दोलन है। इसमें समाज का कम और व्यक्ति का स्वर अधिक है। इसमें सैद्धान्तिक दृढ़ता नहीं मनोवेगों के उफानों का ही बोलबाला है। "अश्क की कला मूलतः व्यक्ति चिन्तन अथवा व्यक्ति यथार्थ की जीवन दृष्टि से प्रभावित एवं रूपायित है। इसलिये उनके उपन्यास-साहित्य को व्यक्तिवादी प्रवृत्ति की संज्ञा देना अधिक संगत जान पड़ता है।"१ "बड़ी बड़ी आंखें" अश्क का चौथा उपन्यास है। इसमें आदर्श और यथार्थ में विरोध प्रस्तुत कर समझौते की सम्भावना को अस्वीकार किया गया है, यही इसकी व्यक्तिवादिता का मूलाधार है। "समझौता जीवन की शर्त सही, पर जीवन में कुछ तो ऐसा हो जहां आदमी किसी से समझौता न करे।"२ वाणी तथा संगीत नामक प्रमुख पात्रों द्वारा लेखक ने मध्य वर्गीय समाज पर—उसके घिसे पिटे आदर्शों पर तीखे व्यंग्य किये हैं और साथ व्यक्तिगत उद्दाम एवं उन्मुक्त चेतना का भी अपराजेय उद्घोष किया है। इस कृति में एक सुधारवादी संस्था के अन्तस्तल में पनपते भ्रष्टाचार का अत्यन्त मर्मस्पर्शी शैली द्वारा भण्डाफोड़ किया गया है और ऐसी संस्थाओं की छाया में घुटते हुए व्यक्ति रूपों की रोमांचकारी पीड़ा का हृदयद्रावक चित्रण किया है। भव्य आदर्शों की आड़ में हमारे तथाकथित श्रेष्ठ समाज में और सुधारक संस्थाओं में कितने दानवी एवं अधमतम कोटि के पापाचरण होते हैं, किस प्रकार किसी की

१. "सप्तसिन्धु" अश्क विशेषाङ्क, पृ० १११, लेख डा० इन्द्रनाथ मदान।
२. "बड़ी बड़ी आंखें", पृष्ठ २०।

असहायावस्था का अधिकतम शोषण किया जाता है और उसे घुट घुट कर मरने को विवश किया जाता है आदि बातें उ त कृति में अत्यन्त कलापूर्ण पद्धति से प्रस्तुत की गई हैं। 'पत्थर अलपत्थर' काश्मीर पर लिखा गया अश्क जी का नया उपन्यास है। इसमें लेखक ने निम्न मध्यवर्ग को छोड़ कर एक निम्नवर्ग के व्यवित हसनदीन घोड़ेवाले की पीड़ा मय गाथा को लिया है। मध्यवर्ग के व्यक्ति भी उपन्यास में हैं। परन्तु हमारा ध्यान सदा हसनदीन पर ही केन्द्रित रहता है। इस कृति में काश्मीरी जनता के जीवन के अनेक हास्य रुदनमय चित्र हैं। प्रस्तुत कृति संस्मरण के वातावरण में वैयक्तिक वेगमय धारा सी लगती है। एक अत्यन्त उपेक्षित व्यक्ति की उसकी मर्मान्तिक पीड़ा की इतनी तीखी व्यञ्जना वस्तुतः हिन्दी उपन्यास जगत के लिये अपने ढंग की अकेली देन है। अश्क जी की उक्त कृतियों के आधार पर हम कह सकते हैं कि इस कलाकार में समाज और व्यक्ति के ऐक्य और पार्थक्य-स्वातन्त्र्य को समझने और चित्रित करने की अद्भुत क्षमता है। फिर भी व्यक्तिमन की पीड़ा को लेखक की गहरी सहानुभूति मिली है।

इस धारा के अन्तर्गत तीन व्यक्ति और आते हैं जिनकी कृतियों का हिन्दी जगत ने पर्याप्त सम्मान किया है। ये हैं सर्वश्री लक्ष्मीनारायण लाल, उदयशंकर भट्ट और रामे.वर शुक्ल अंचल। श्री लक्ष्मीनारयण लाल के चार उपन्यास 'धरती की आंखें' (१९५१), 'बया का घोंसला और सांप' (१९५३), 'काले फूल का पौधा' (१९५५) और 'रूपजीवा' (१९५९) एक ओर गहरी सामाजिकता को लिये हुए हैं—प्रगतिशीलता से अभिमंडित हैं तो दूसरी ओर व्यक्तिवादी दृष्टिकोण भी आद्यन्त लहरें मार रहा है। प्रथम दो उपन्यास देहाती जीवन पर व्यक्तिपरक व्यापक दृष्टि प्रस्तुत करते हैं। सामाजिक कृतियों में घटना और समस्या ही प्रमुख होती है और पात्र इनकी छाया में ही कहीं-कहीं अपना व्यक्तित्व प्रकट कर पाते हैं; परन्तु व्यक्ति प्रधान रचना में घटना को पात्र अपने ढंग से समझता, मोड़ता, और सुलझाता है। गोविन्द और जैनव का प्रेम सम्वन्ध हिन्दू मुस्लिम ऐक्य के साथ उनकी वैयक्तिक अनुराग भावना का भी सबल प्रमाण है। वे दोनों गांव के लोगों की चिन्ता न कर अपने जीवन का निर्णय स्वयं ही करते हैं। 'बया का घौंसला और सांप' में भी सामन्ती सभ्यता के नीचे कराहते ग्रामीण हृदय का चित्र है। लेखक ने इन दोनों ही कृतियों में वैयक्तिक आकांक्षाओं और मनोभावों के उद्दाम चित्र सामाजिक सन्दर्भ में पिरो कर प्रस्तुत किये हैं। यहां ध्यान इतना ही

देना है कि व्यक्ति सामाजिक होते हुए निजत्व भी बड़ी दृढ़ता से साथ लिये हुए है। लेखक की ग्रन्य कृतियां 'काले फूल' ग्रौर 'रूप जीवा' भी मरणोन्मुखी, ढहती हुई रूढ़ियों, रीतियों का पर्दाफाश करती हैं ग्रौर साथ ही व्यक्ति चेतना की प्रखरता को उद्घोषित करती हैं।

श्री उदयशंङ्कर भट्ट के भी ग्रनेक उपन्यास 'नये मोड़', 'सागर, लहरें ग्रौर मनुष्य', 'एक नीड़ दो पंछी', 'लोक परलोक' (ग्रादि) ग्रा चुके हैं। भट्ट जी के ये उपन्यास प्रेम सम्बन्धों की ग्रपूर्णता मछुग्रा जीवन की मस्ती तथा मानसिक ग्रन्तर्द्वन्द्व ग्रौर नैतिक पक्षों की सुन्दर व्याख्या करते हैं। ग्रापकी शैली ग्रौर चरित्र चित्रण की कला, वस्तुतः वरेण्य है। व्यक्ति की वैचारिक क्रान्ति को ग्रत्यन्त तार्किक एवं मार्मिक ढंग से लेखक ने ग्रपनी कृतियों मे प्रस्तुत किया है। विभिन्न समाजिक, पारम्परिक एवं धार्मिक नैतिक परिस्थितियों में वद्ध मानव का ग्रन्तः वाह्य ग्रपनी वैयक्तिकता के लिये, ग्रपने स्वतन्त्र जीवन के लिये किस तीव्रता से यत्नशील रहता है ग्रौर खट्टे-मीठे घूंट पीता है; ग्राने वाला कल मेरा होगा इस ग्राशा पर मर मर कर जीता है, ग्रादि भाव धाराग्रों के मनोरम चित्र भट्ट जी ने बड़ी भव्यता एवं कलात्मकता से संजोए हैं।

श्री रामेश्वर शुक्ल ग्रंचल के भी कई उपन्यास ग्रपनी नवीनताग्रों के साथ ग्रा चुके हैं। ये मूलतः स्वच्छन्द रोमानी धारा के कवि हैं। ग्रतः इन के उपन्यासों में भी वह धारा पूरे वेग से प्रवाहित हुई है। प्रगतिशीलता भी ग्रापकी रचनाग्रों में खूब उभर कर ग्रायी है परन्तु उसकी परिणति भी रोमानी धारा में ही हुई है। लेखक की प्रत्येक विचार-धारा पर धीरे धीरे तरुण विलास ग्रौर प्रेम की मादक ग्रनुभूतियां छा जाती हैं। ग्रनेक स्थलों पर ये उपन्यास गद्यकाव्य से प्रतीत होते हैं। 'चढ़ती धूप', 'उल्का', 'नई इमारत' ग्रादि ग्रापके सामाजिक क्रान्ति की चेतना के द्योतक उपन्यास हैं। इन सभी में विद्यार्थी जीवन, निम्नमध्यवर्गीय चेतना, गलनशील रूढ़ियां—रीतियां यथार्थवादी दृष्टि के परिवेश में चित्रित हैं। ग्रंचल जी को हम सामाजिक-प्रगतिशील एवं व्यक्तिपरक उपन्यास-कार के रूप में स्वीकार कर सकते हैं। उनके प्रमुख पात्र प्रगतिशील होते हुए निजी वैयक्तिक जगत की सृष्टि के प्रति भी ग्रत्यन्त सचेष्ट रहते हैं।

इन उपन्यासकारों के ग्रतिरिक्त श्री धर्मवीर भारती, राजेन्द्र यादव ग्रौर ग्रनन्त गोपाल शेवड़े के उपन्यास भी एक लम्बी सीमा तक इस धारा के ग्रन्तर्गत ग्राते हैं। इन के उपन्यासों में सामाजिक नव चेतना के साथ वैयक्तिक

प्रेम चेतना और जीवन पद्धति के लिये अदम्य उद्गार हैं। इन लेखकों की कृतियों में मनोविज्ञान का पुट भी पर्याप्त मात्रा में है । वस्तुतः मनोविश्लेषणात्मक और व्यक्तिपरक उपन्यासों में कोई लक्ष्मण रेखा खींचना कठिन ही है । फिर भी अनुपात का ध्यान रख कर कुछ ऐसा करना ठीक लगता है । वैयक्तिकता और मनोविज्ञान कैसे अलग अलग किये जा सकते हैं ; वे अन्योन्याश्रयी हैं। फिर भी जैसा कि प्रारम्भ में ही स्पष्ट किया जा चुका है कि केवल एक-मुखी एवं आत्मलीन होकर मानसिक गहनतओं में ही लेखक के पात्र उतरते चले जावें, उनकी सम्पूर्ण क्रियाएं और वृत्तियां आत्म केन्द्रित हों; उनका समस्त चिन्तन फैला हुआ न होकर गहरा हो; संघर्ष बाहर का नहीं भीतर का हो। कार्य व्यापार भी भौतिक न होकर प्रायः आन्तरिक एवं मानसिक हो तो हम ऐसी कृति को मनोविश्लेषणात्मक कहेंगे । इस दिशा में सर्वश्री जैनेन्द्र, अज्ञेय एवं इलाचन्द्र जोशी अपने अपने ढंग के दिग्पाल हैं ।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि आज के युग को श्रेष्ठ एवं ऐसे कलापूर्ण उपन्यास पर्याप्त मात्रा में चाहिए हैं जो सामाजिक और प्रगतिशील होते हुए पात्रों के आन्तरिक व्यक्तित्व को भी सजीवता प्रदान कर सकें । रुग्ण व्यक्तित्व का सच्चा चित्रण भी रुग्णता का गहरा उपचार है --इससे शेष सृष्टि लाभान्वित होती है । "आधुनिकतम कलाकार यदि अपनी कथाओं में चरित्रहीन और रोमांसवादी पात्रों की अवतारणा करता है तो केवल इसलिये कि वह अपने मनोवैज्ञानिक अस्त्र से उनकी आत्मा का स्तर प्रतिस्तर खोल कर उनके घोर अहंभावपूर्ण 'कवित्वमय' प्रेम का प्रकाश करना चाहता है । उनके रोमांस की इन्द्र-जाली रंगीनी से पाठकों की आंखों में चकाचौंध पैदा करना वह किसी प्रकार भी उचित नहीं समझता । औपन्यासिक आदर्श का यह दृष्टिकोण एकदम नया, सच्चे अर्थों में यथार्थवादी और समाज की सामूहिक आत्मा के परिकरण के लिये परम मांगलिक है ।"[१] वास्तविकता से आंखें फेरने और उसे झुठलाने से अब तक समस्याएं उलझती ही आई हैं। अतः हमें सत्य को--वह किसी भी धरातल का हो समझना चाहिए और तदनुकूल उपचार भी जुटाना चाहिए ।

उक्त विवेचन के आधार पर व्यक्तिपरक उपन्यासों की उपलब्धियों और स्थापनाओं को अधस्तन शीर्षकों द्वारा समझा जा सकता है :--

१--उपन्यास में व्यक्ति चरित्र की

१. 'विवेचना' पृष्ठ ८९, ले० इलाचन्द्र जोशी ।

सर्वथा स्वतन्त्र सत्ता का उद्-घोष --खुली पुस्तक की भांति व्यक्तिचरित्र सामने आये ।

२--बौद्धिक एवं मनः पक्ष का प्राबल्य ।

३--सामाजिक यथार्थ से भी बढ़ कर वैयक्तिक स्तर पर अनुभूत यथार्थ की महत्त्व स्थापना ।

४--सामान्य से विशेष की ओर ।

५--आदर्श से यथार्थ की ओर

६--धर्म, व्यवस्था और नैतिकता पर अर्थ और काम (स्वच्छन्द-निर्बन्ध) की प्रतिष्ठा ।

७--सभी रचनाओं में मानव के विविधपक्षीय पतन के प्रति विशेषतः यौन स्खलनाओं के प्रति गहरी सहानुभूति ।

८--अनेकरूपता (कथाशिल्प, वर्ण्यविषय चरित्रांकन, जीवनानुभूति एवं भाषा शैली गत नूतन प्रयोगों में)

९--टेकनीक मे उन्नति ।

इस धारा के अभावों और स्खलनाओं को भी निम्नलिखित शीर्षकों द्वारा समझा जा सकता है --

१--प्रेमचन्द जैसी विराट प्रतिभा और युग चेतना का अभाव ।

२--प्रायः उपन्यासों में एक निष्क्रियता एवं उद्देश्य हीनता परिलक्षित होती है ।

३--स्वस्थ, आशामय एवं विकास-परक चेतना का अभाव ।

४--रचनाएं अतितथ्यात्मक होकर मानव भावना के सार्वजनीन रूप को खो बैठी हैं और इसी कारण उनमें से उदात्त तत्त्व प्रायः समाप्त हो चुका है ।

५--लेखकों ने उपन्यासों द्वारा अपनी अधोमुखी, वैयक्तिक यौन कुण्ठाओं को ही प्रकट किया है ।

६--आस्था से अनास्था की ओर वेगमय प्रस्थान ।

७--प्रयोगातिरेक के कारण कृतियों में पर्याप्त बिखराहट आ गई है ।

८--पूर्वाग्रह के साथ प्रत्येक स्तर पर वैयक्तिक मूल्यों और मान्यताओं को सामाजिक मूल्यों पर थोपा गया है ।

अन्त में इतना ही कहा जा सकता है कि कुल मिलाकर इस धारा ने साहित्य को शिल्प और विषय वैविध्य की दिशा में आगे ही बढ़ाया है । व्यक्ति-चरित्रों की स्वतन्त्र प्रतिष्ठा भी पहली बार की है । यों न्यूनताएँ किसी न किसी स्तर पर किसी भी धारा में खोजी जा सकती हैं । व्यक्ति जब समाज का मूलाधार है तो उसके अन्तः बाह्य के अनुभूत सत्य को भी साहित्य में आना ही चाहिए, अन्यथा विकृतियों, विद्रूप व्यक्तित्त्वों एवं व्यापक विडम्बनाओं की सृष्टि होगी--

वृद्धि होगी और कोई भी उच्चस्तरीय प्रगति संभव न हो सकेगी, क्योंकि अन्दर से घुना हुआ एवं मरणासन्न व्यक्ति किसी भी कार्य में यन्त्रवत् ही योग दे सकता है; अतः उसके द्वारा उक्त कार्य किसी मौलिक चेतना या उद्भावना की सृष्टि संभव नहीं हो सकती। यह धारा एक ओर सामाजिक धरातल को साथ लिये हुए है तो दूसरी ओर मनोविज्ञान की गंध भी इसमें विद्यमान है। अतः सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की मध्यस्थ धारा के रूप में इसे ग्रहण किया जा सकता है। इन उपन्यासों में मूलतः अर्थ और कामपरक सामाजिक मान्यताओं को अमान्य घोषित करता हुआ बुद्धिपरक एवं वेगमूलक व्यक्ति-स्वर है।

○ ○ ○



श्रद्धाराम फिल्लौरी–
व्यक्तित्व तथा कृतित्व

प्रो० मोहन मैत्रेय

श्री श्रद्धाराम 'फिल्लौरी' उन्नीसवीं शती के क्रान्तिकारी सुधारक, प्रखर उपदेशक तथा वक्ता और मूर्धन्य साहित्यकार थे। "जय जगदीश हरे" प्रार्थना के कर्ता होने के नाते हिन्दू धार्मिक जगत का फिल्लौरी जी को विस्मृत करना सम्भव नहीं, तो कठिन अवश्य है ! पंजाब का साहियत्क तथा हिन्दी प्रेमी जगत भी पण्डित जी की सेवाओं के उपकार से उऋण नहीं हो सकता ! अपने देहावसान के कुछ समय पूर्व सहसा ही उन के मुख से निकला—'भारत में भाषा के लेखक दो हैं—एक काशी में, दूसरा पंजाब में। परन्तु आज एक ही रह जायगा।' काशी के लेखक से उनका अभिप्राय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से था। उस समय पण्डित जी के इस कथन को चाहे अतिश्योक्ति का नाम दिया गया हो परन्तु अब यह सिद्ध हो गया है कि वह एक ठोस सत्य था। आप सत्य ही पंजाब के भारतेन्दु थे आप के देहावसान पर बम्बई के पत्र 'थियोसोफिस्ट' ने अपने अगस्त मास के अंक में अपने तथा लोगों के उद्‌गार जिन शब्दों में प्रकट किये वे इस प्रकार हैं–

We regret to announce the death of Pt. Shradha Ram of Phillaur on Friday, the 24th June, 1881. This great Pandit was the founder of Hari Gian Mandir at Lahore and Phillaur. A great champion and Leader of Hindu religion, he disseminated his opinions so boldly and eloquently that neither Brahmo nor Arya Smajists ever ventured to cross him. His death is an irrecoverable loss to the Hindu community." पंजाब के अंग्रेज गवर्नर ने अपना शोक इन शब्दों में व्यक्त किया। गवर्नर के व्यक्तिगत सचिव ने लिखा–

"I am desired to acknowledge the receipt of your letter dated 9th and in reply to express the deep and sincere regret which his honour the Lieutenant Governor feels at the death of Pt. Shradha Ram, whom he had

known for some years and whom he esteemed for his good sense, learning and enlightenment" ये शब्द उन व्यक्तियों के प्रतिनिधि के थे जिनसे मुक्ति पाने के लिये फिल्लौरी जी ने प्रान्त के लोगों को भड़काया था। उन के इस अपराध पर ही अंग्रेज़ सरकार ने उनका फिल्लौर में प्रवेश रोक दिया था।

हिन्दी के मूर्धन्य विद्वान् आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपनी पुस्तक हिन्दी साहित्य के इतिहास में पण्डित जी का परिचय इस प्रकार दिया है —"संवत् १९१० के लगभग ही विलक्षण प्रतिभा-शाली विद्वान् पण्डित श्रद्धाराम फिल्लौरी के व्याख्यानों और कथाओं की धूम पंजाब में आरम्भ हुई। —पंजाब के सब छोटे बड़े स्थानों में घूम कर पण्डित जी उपदेश और भाषण देते तथा रामायण महाभारत आदि की कथाएं सुनाते। उनकी वाणी में अद्भुत आकर्षण था और उनकी भाषा बहुत ज़ोरदार होती थी— अपने समय के वे एक सच्चे हिन्दी हितैषी और सिद्धहस्त लेखक थे।"

पंजाब की इस विभूति का जन्म संवत् १८९४ अश्विन शुक्ला प्रतिपदा को जालन्धर ज़िला के फिल्लौर नामक नगर में हुआ, वही फिल्लौर जहां के दुर्ग से महाराजा रणजीत सिंह ने अंग्रेज़ों की सेना को रोकने का कठिन प्रयास किया। पण्डित जी के पिता का नाम श्री जय दयालु तथा माता का नाम विष्णुदेवी था। पण्डित जयदयालु अपने समय के अनुसार अच्छे पढ़े-लिखे, गायन विद्या के आचार्य तथा महान् धार्मिक थे। श्रद्धाराम के जन्म से पूर्व पण्डित जयदयालु के छः पुत्र काल का ग्रास हो चुके थे। सातवां पुत्र अर्थात् श्रद्धाराम का बड़ा भाई छोटी अवस्था में ही कानों में मुद्रा पहन कर योगी के रूप में घर से चल दिया था। श्रद्धाराम के जन्म से पण्डित जयदायालु का प्रफुल्लित होना स्वाभाविक ही था। पुत्र-जन्म के समय पण्डित जी हवन करा रहे थे! नक्षत्रों पर विचार करने के अनन्तर पण्डित जयदयालु ने कहा कि मेरा यह पुत्र हस्ति आरूढ़, राजमान्य तथा महान पण्डित होगा। पण्डित जी का यह कथन अक्षरशः सत्य सिद्ध हुआ परन्तु श्रद्धाराम जी की कीर्ति के दिग्दिगन्त प्रसार को देखने से पूर्व ही उनका देहावसान हो गया! श्रीमती विष्णुदेवी को यह सब देखने सुनने का सुअवसर अवश्य प्राप्त हुआ।

पण्डित श्रद्धाराम बाल्यकाल से ही बहुत होनहार थे। एक बार किसी वस्तु को देख या पढ़ लेते तो वह हृदयगत हो जाती। पण्डित जयदयालु जी ने १९०७ में क्रीड़ा से हटा कर श्रद्धाराम जी का उपनयन संस्कार किया तथा उन्हें विद्याभ्यास की ओर लगा दिया। इस

प्रकार का कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता कि पण्डित जी ने नियमित रूप से किसी स्कूल या विद्यालय में शिक्षा प्राप्त की हो। निश्चित रूप से यह कहना भी कठिन है कि पण्डित जी का गुरू कौन था? सत्य तो यह है कि इन्हें जहां से किसी भी कोई चीज़ प्राप्त हो जाती वे धन्यवाद पूर्वक अपना लेते! कहीं तो आप गुरू भावना से पढ़े, कहीं मित्र-भाव से और कहीं अपने पास से द्रव्य दे कर भी किसी विद्या के गूढ़तम रहस्य को जानने का प्रयत्न किया !

पण्डित जी के उपनयन गुरू अपने समय के लोकमान्य व्यक्ति थे। नाम तो इनका मईया राम था परन्तु इनकी ख्याति 'राहों वाले बाबा' के नाम से थी। आप अमृतसर ज़िला के पट्टी उपनगर के निवासी थे। गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए भी आपका जीवन एक विरक्त व्यक्ति का सा था। घर में पत्नी तथा पुत्र वधु के लगातार महाभारत से आप काफी संतप्त रहते थे। इसी कारण, जब आप अपने कर्त्तव्यों का पालन कर चुके थे, आपने घर का त्याग कर दिया। काशी में जाकर पण्डित रामकृष्ण जी से वेदान्त शास्त्र आदि का अध्ययन किया। गृहस्थ त्यागाने पर भी आपने धार्मिक आडम्बरों को अपने पर न लादा। विरक्त भाव से देश में पर्यटन तथा उपदेश करते रहे। संवत् १९०६ में आप राहों पधारे और वहीं के हो गए। यद्यपि गुरूडम से आपको काफी चिढ़ थी तो भी श्रद्धाराम जी से प्रभावित होकर आपने इन्हें अपनी शरण में ले लिया! पण्डित श्रद्धाराम इनका बहुत ही सम्मान करते थे।

कुछ लोगों का विचार है कि श्रद्धाराम जी ने फिल्लौर के पं० बन्नाराम से विद्याध्ययन किया था। यह बात ठीक प्रतीत नहीं होती कि श्रद्धाराम के भाषणों तथा लेखों से श्री बन्नाराम के प्रति वह सम्मान नहीं दीखता जो उन्होंने गुरु के प्रति प्रदर्शित किया। एक स्थान पर श्रद्धाराम जी का एक वाक्य मिला है— सं० १९१८ भाद्रपद शुक्ले द्वितियान्वित गुरु दिने श्रीमत् स्वामी स्वात्मानन्द शिष्य श्रद्धारामेण लिखितोयं ग्रन्थः।" इस वाक्य से ऐसा अनुमान लगाना कि १९१८ में श्रद्धाराम जी ने स्वामी स्वात्मानन्द का शिष्यत्व ग्रहण किया—उचित नहीं। सं० १९१३-१९१४ में तो आपने फिल्लौर में महाभारत की कथा करनी प्रारम्भ कर दी थी और संवत् १९१५–१६ में आप ऋषिकेश में उपनिषद् अध्ययन करते रहे। १९१४ के अनन्तर तथा १९१८ से पूर्व श्रद्धाराम जी ने ऋषिकेश आश्रम में निवास किया था। अधिक सम्भव है कि इन दिनों में आपने किसी स्वामी स्वात्मानन्द से उपनिषदों का अध्ययन किया हो।

दत्तात्रेय की भान्ति पण्डित जी ने भी जहां से भी ज्ञान मिला, अर्जित किया। पण्डित जी के मन में फारसी पढ़ने की इच्छा थी। इन्हीं दिनों फिल्लौर में एक विद्वान् मौलवी साहिब का आगमन हुआ। पण्डित जी का कायदा, खालकवारी आदिक वारीयां, करीमां, महमूदनामा पुस्तकों को पढ़ने के अनन्तर मौलवी साहिब की शरण में पहुंचे और प्रार्थना की—मैं आपकी स्तुति सुन कर आया हूँ। फारसी अध्ययन की इच्छा है परन्तु अन्य लड़कों की भांति नहीं। संशय निवृत्ति सहित शिक्षा लेना चाहता हूँ। यदि आपकी परीक्षा पर ठीक न उतरूं तो आप उसी दिन से चाहे पढ़ाना छोड़ दें।" मौलवी साहब इस प्रकार के शिष्य को प्राप्त कर अत्यन्त प्रसन्न हुए। श्रद्धाराम भी परीक्षा की प्रत्येक कसौटी पर पूरे उतरे। अल्पकाल में ही पण्डित जी को फारसी कवित्व तथा अनुवाद में निपुणता प्राप्त हो गई। यह पण्डित जी का ही सामर्थ्य था कि इन्होंने फारसी के कठिन ग्रन्थ 'दबिस्तान मज़ाहब' का अनुवाद उर्दू में किया। कुछ ही समय अनन्तर पण्डित जी ने फारसी का इतना ज्ञान प्राप्त कर लिया था कि आशुकवि की भांति आप अपनी बात फारसी कविता में कह दिया करते थे। एक दिन आप सोड्डे शाह के तकिये (फिल्लौर) के पास से जा रहे थे के पास से एक अंग्रेज़ एक अंग्रेज़ लड़की के साथ गुजरा। लड़की पीछे रह गई थी और साहिब कह रहे थे—मिस जल्दी चलो!' पण्डित जी ने विनोद में अपने साथी से कहा—"रिवाजे कज फिरंगस्तां को देखो, बुते सीमीं को कहते हैं मेरी मिस!" अर्थात् इनकी विपरीत पद्धति तो देखो कि चांदी को तांबा कहते हैं! फारसी में 'मिस' शब्द का अर्थ है तांबा! गौर वर्ण युवती को तो 'बुत्तसेमीं' (चांदी का शरीर) कहना चाहिए था।'

संस्कृत, फारसी, पंजाबी में निपुणता प्राप्त करने के अतिरिक्त पण्डित जी ने ज्योतिष, संगीत का भी प्रचुर ज्ञान प्राप्त किया था। संगीत तथा ज्योतिष की प्रेरणा तो इन्हें अपने पिता से ही प्राप्त हुई होगी। पण्डित जी ने तार, स्वर, ग्राम मूर्च्छना, रागों के भिन्न भिन्न रूप, आलाप, काल ज्ञान, सामवेद का गान तथा सरगम, ध्रुपद, ख्याल, टप्पा, तराना, रेखता, ठुमरी आदि का स्वरूप लक्षण सहित कुछ ही दिनों में हृदयंगत कर लिया। साधु-सन्तों का सत्संग भी आपने अल्प आयु से ही किया था। रसायनी साधुओं से इन्होंने रसायन विद्या का ज्ञान प्राप्त कर लिया। साधुओं से जो भी नया दृष्टांत आप सुनते उसे नोट कर लेते। 'दृष्टांतावली' नामक पुस्तक में आपने सहस्रों दृष्टांत प्रस्तुत किए हैं। तैरना, बाज़ीगरी, भानमती का

तमाशा, ठीकरी का रुपया बनाना, जलते तवे पर चलना, आदि इन्द्रजाल लीलाओं से भी पण्डित जी भली भांति परिचित थे। उन दिनों पंजाब में 'बैंत' कहने की प्रथा थी। पण्डित जी ने इस क्षेत्र में भी काफी ख्याति अर्जित की। लोग इन के मुख से "बैंत" सुन कर मन्त्रमुग्ध से हो जाते थे।

श्री श्रद्धाराम ने छोटी आयु में ही ओजस्वी तथा प्रभावपूर्ण ढंग से कथा करनी भी प्रारम्भ कर दी थी। इसी के कारण पण्डित जी को कठिनाई का सामना भी करना पड़ा। १६ वर्ष की आयु में सर्वप्रथम फिल्लौर में पण्डित जी ने महाभारत की कथा की। इनका लक्ष्य लोगों को प्राचीन गौरव से परिचित करवा कर अंग्रेजों की दासता से मुक्त करने का था। इस कथा में सैंकड़ों की भीड़ उपस्थित रहती थी। पुलिस ट्रेनिंग केन्द्र के पूर्विया सिपाही भी अपने कार्य से फारिग होकर कथा सुनने के लिये नित्य प्रति आया करते थें। किसी ने केन्द्र के प्रिंसिपल को इस बात की सूचना दे दी। १८५७ के स्वतन्त्रता संग्राम को हुए अभी अधिक समय नहीं हुआ था, इसलिये शासक वर्ग का सावधान हो जाना स्वाभाविक ही था। एक शाम पण्डित जी महाभारत की कथा कर रहे थे, प्रसंग था शल्य पर्व का। पुलिस ट्रेनिंग स्कूल के प्रिंसिपल कुछ पुलिस अधिकारियों सहित वहां आ पहुंचे। उन्हें विश्वास हो गया कि पण्डित श्रद्धाराम विद्रोह का वातावरण बना रहा है। परिणाम यह हुआ कि पण्डित जी को पकड़ कर किले में ले जाया गया। अंग्रेज़ों की दमन-नीति चरम सीमा पर पहुंची हुई थी, परन्तु जनमत के भय से अधिकारियों को पण्डित जी को फिल्लौर से निर्वासन का दण्ड देकर ही सन्तुष्ट होना पड़ा। पादरी न्यूटन पण्डित जी की विद्वत्ता से विशेष प्रभावित थे। इन के प्रयत्न से ही सरकार को अपना आदेश बदलना पड़ा।

पादरी न्यूटन की भांति पादरी गोकुल नाथ भी पण्डित जी से विशेष प्रभावित थे। इस प्रभाव के पीछे भी एक घटना है। सम्वत् १९२० के लगभग कपूरथला के महाराजा रणधीर सिंह का विश्वास हिन्दु धर्म से हट कर ईसाई धर्म की ओर हो रहा था। महाराजा के विश्वस्त साथियों ने यह बात श्री श्रद्धाराम से कही और पण्डित जी ने इस विषय में महाराजा को एक पत्र लिखा। महाराजा रणधीरसिंह को पण्डित जी की निर्भीकता बहुत पसन्द आई। इन्हें ससम्मान कपूरथला लाया गया। १८ दिन तक पण्डित जी ने महाराजा का शंका-समाधान किया और महाराजा हिन्दु धर्म के प्रति आस्थावान् बने रहे। पण्डित श्रद्धाराम के विभिन्न

शास्त्रार्थों का ब्योरा उपलब्ध है। कई लोग स्वामी दयानन्द सरस्वती से भी इनके शास्त्रार्थ की बात कहते हैं, परन्तु इस सम्बन्ध में कोई निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं।

समाज-सुधार, प्रवचन, सत्संग में जुटे रहने पर भी पण्डित जी साहित्य साधना के लिये समय निकाल लेते थे। अपने अत्यल्प जीवन में पण्डित जी ने जितने साहित्य का सृजन किया, उसे देख कर आश्चर्य होता है। आपने संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, फारसी, गुरुमुखी—गद्य पद्य दोनों में साहित्य रचना की।

दुर्जन मुख चपेटिका, धर्म कसौटी, धर्म रक्षा, धर्मसम्वाद, उपदेश संग्रह, असूले मज़ाहब—ये पुस्तकें पण्डित जी ने उर्दू में लिखीं। इनमें से अधिकांश पण्डित जी के उपदेशों तथा व्याख्यानों का संग्रह मात्र है, जिनका साहित्यिक दृष्टि से इतना महत्त्व नहीं जितना कि धार्मिक दृष्टि से। असूले मज़ाहब' फारसी पुस्तक 'दबिस्तान मज़ाहब' का अनुवाद है। यह अनुवाद पंजाब के गवर्नर श्री एजर्टन के अनुरोध पर किया गया। श्री एजर्टन की इच्छा थी कि यह उपहार पण्डित जी स्वयं उन्हें शिमला में दें, परन्तु अनुवाद कार्य की पूर्ति के साथ ही पण्डित जी का परलोक गमन हो गया।

'पंजाबी बातचीत', 'सिखां दे राज दी विथिया' पण्डित जी द्वारा रचित पंजाबी ग्रन्थ हैं। दूसरी पुस्तक की रचना पंजाब के गवर्नर श्री मैक्लोड की प्रार्थना पर हुई। इसकी रचना का लक्ष्य अंग्रेज़ों को पंजाबी की शिक्षा देना था। उच्च शिक्षा के लिये भी यह पुस्तक प्रचुर समय तक नियत रही। पुस्तक के तीन भाग हैं। प्रथम भाग में श्री गुरु नानकदेव से लेकर गुरु गोविन्दसिंह तक दस गुरुओं का जीवन परिचय है। द्वितीय भाग में महाराजा रणजीत सिंह से लेकर अंग्रेजों के पंजाब-आगमन तक का वर्णन है। तृतीय भाग में इस प्रांत के रीति रिवाजों, कहावतों तथा गीतों का उल्लेख है।

'पंजाबी बातचीत' पुस्तक भी अंग्रेज़ों के लाभार्थ लिखी गई है। इसके तीन भाग हैं। प्रथम भाग में माझे के नागरिकों तथा ग्रामीणों, पुरुषों तथा स्त्रियों के लोक-व्यवहारों, रीति नीति, गीतों को स्थान दिया गया है। द्वितीय भाग का सम्बन्ध दुआबे से है। तृतीय भाग में दुआबे के मुसलमानों, कांगड़ा के पर्वतीय जन-समुदाय तथा मालवे के जाटों की प्रथाओं, गीतों, लोक-व्यवहारों का रोचक वर्णन है। कहते हैं कि अंग्रेज़ सरकार ने यह घोषणा कर रखी थी कि इन दो पुस्तकों के ज्ञान के बिना कोई भी अंग्रेज़ सेना में उच्च

पदवी पर नियुक्त नहीं किया जा सकता। इन दोनों पुस्तकों का साहित्यिक दृष्टि से विशेष स्थान है।

'नित्य प्रार्थना' तथा 'आत्मचिकित्सा' संस्कृत में रचित ग्रन्थ हैं। 'नित्यप्रार्थना में शिखरणी छन्द में लिखे गए बाईस श्लोक हैं। ये महिमन् पाठ के भाव पर पढ़े जाते हैं। दूसरी पुस्तक पहले संस्कृत में रची गई और फिर इसका प्रकाशन हिन्दी में भी हुआ। हिन्दी में 'भाग्यवती' तथा 'सत्यामृत प्रवाह' जैसे उच्चकोटि के ग्रन्थों के अतिरिक्त 'तत्त्व दीपक', 'सत्य धर्म मुक्तावली', 'पाकसाधनो' 'कौतुक संग्रह', 'रमलकाम धेनु', 'शतोपदेश' बीजमन्त्र ग्रन्थों की रचना भी पण्डित जी ने की।

साहित्यिक क्षेत्र में श्री श्रद्धाराम गद्यकार के रूप में तो प्रख्यात हैं ही। आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि पण्डित जी ने अपना सिद्धान्त ग्रन्थ प्रौढ़ गद्य में लिखा। पण्डित जी गद्यकार के साथ साथ कवि भी उच्च कोटि के थे। इनकी कवित्व शक्ति का अनुमान 'शतोपदेश' तथा 'सत्यधर्म मुक्तावली' से होता है। यह चाहे अधिकतर धार्मिक साहित्य है तथापि इसके साहित्यक मूल्य को दृष्टि से ओझल नहीं किया जा सकता। गोस्वामी तुलसी दास का साहित्य भी भक्तिभाव से ओतप्रोत है तथापि उच्चकोटि की साहित्यिकता के इसमें दर्शन होते हैं।

'शतोपदेश' पण्डित जी के १०० दोहों का संग्रह है। 'भाव अधिक अरु आखर थोरे' दोहा का विशेष गुण है ही, पैनी दृष्टि, व्यापक अनुभव, विशाल ज्ञान के कारण पण्डित जी के दोहे बहुत ही प्रभाव पूर्ण बन पाये हैं। अनेक शास्त्रों में लिखा गया है, सन्तों से सुना गया है कि वैराग्य से मोक्ष मिलता है, परन्तु इसके लिये घर छोड़ना तो जरूरी नहीं। यही भाव इस दोहे में है :—

मान धाम धन नारी सुत, इनमें जो न अशक्त
परम हंस जो शांत मन, घर ही मांहि विरक्त

कल्याण-मार्ग का पथिक हर कोई बनना चाहता है! इस मार्ग का परिचय पण्डित जी ने कितने सुन्दर ढंग से करवाया है :—

तन पवित्र सेवा किये,
धन पवित्र कर दान।
मन पवित्र अध्ययन कर,
होत त्रिविध कल्यान॥

स्वर्ग की खोज बहुत की जाती है, परन्तु ढूंढने वाले जान नहीं पाते कि स्वर्ग तो यही है :—

मात पिता बनिता तनुज, जाक सब अनुकूल।
देह आरोग विचार धन, यही स्वर्ग मत भूल॥

मित्र वही है जो विपत्ति में काम आए। इसी बात को पण्डित जी ने कुछ

अन्य तथ्यों के साथ जोड़ कर कितने सुन्दर ढंग से कहा है :—

धीर परखिए विपत में, मीत परखिए भीर।
ज्ञान परखिए हानि में, यति योषित के तीर।

अच्छों के साथ अच्छाई मिलती है, काजल की कोठरी में कितना ही सयाना क्यों न जाए काजल की लीक लग ही जाती है। इसी भाव का एक दोहा दर्शनीय है :—

लघुन संग लघुता मिले, गुरुता गुरुजन संग।
वाल संग मति नाश हो, नारि संग यति भंग ॥

संसार स्वार्थ का पुतला है। इसी भाव को लेकर दोहा कहा गया है :—

अपने अपने अर्थ के, सब जन सब के दास।
बिना अर्थ अपनो कवन, कोउ न बैठे पास॥

निम्नलिखित दोहे से पण्डित जी के व्यावहारिक ज्ञान का परिचय मिलता है :—

अति नीचो नींह हूजिए, अति ऊंचो मति होइ !
मध्य भाव में बरतिये, शोक न व्यापे कोइ !!

सद्ज्ञान के अभाव में मानव पशु के समान ही तो है। इसी तथ्य का कथन यहां हुआ है :—

खान पान सुख भोग में, पशु भी परम सुजान।
कहा अधिकता मनुज की, जोनलहे सद्ज्ञान !!

पण्डित जी के काव्य-वैभकी परिचायक दूसरी पुस्तक है 'सत्यधर्म मुक्तावली'। इसी में प्रसिद्ध प्रार्थना 'ओं जय जगदीश हरे' है जिसे विश्व भर के हिन्दू अपनी पूजा के समय गाते हैं। इस पुस्तक के तीन भाग हैं। पुस्तक के भजनों के अध्ययन से पण्डित जी का गायन विद्या तथा छन्द शास्त्र का आचार्य होना ज्ञात होता है।

'सत्य धर्म मुक्तावली' में ही 'भावी की प्रवलता' की चर्चा आप इस प्रकार करते हैं —

भावी टरत नैक नहिं टारी
गुणी गंभीर धीर मुनि पंडित,
सृष्टि सबर पचहारी।
डोलत कहा वृथा धनके हित,
इत उत सुधि बुध हारी॥
तो सों न्यून अधिक नहिं होहै,
जो रच दीन मुरारी।
अनहोनी जो होत कदाचित्,
रायन बिपत निवारी॥
अर्जुन भीम नकुल के बैठ,
नगन होत क्यों नारी।
निर्बल मूढ़ बिलावत गावत,
बैठत शुभग अटारी :।
श्रद्धा बहु उधम गुण माते,
पण्डित फिरै भिखारी !!

परमात्मा नभ, जंगल या पर्वत में नहीं, उसका निवास तो श्रद्धा में है,

इस भाव को निम्न पद में सुन्दर रूप से प्रस्तुत किया है :—

कोऊ कहे हरि है नभ में,
अरुकउक हरि भूमि पताले।
कोउ बतावत पूरब पश्चम,
जंगल में वन में कोऊ भाले ।।
सागर में सर में कोऊ ढूंढत,
काठ पषानन में कोऊ टाले।
जो श्रद्धा करके लखिए तब है,
सब में सब को प्रतिपाले ।।

(दूतीपद)

धर्म में आज वाह्याचारों की प्रधानता हो चली है, धर्म का वास्तविक रूप लुप्त हो गया है। तीर्थ, दान की सही मर्यादा क्या है, इसी की चर्चा इस पद में है :—

तीरथ है तो यही मन है,
पर जो मन के सब पाप निकारो।
दान यही उपकार करो,
पुनः यज्ञ यही कोऊ जीव न मारो।
योग यही हरि में जुरिये,
और होम यही है कुवासना जारो!
संयम शील यही जप है,
रट राम सदा श्रद्धा तप भारो ।।

(दूतीपद)

लोग विभिन्न देवी-देवताओं की पूजा करते हैं, परन्तु परमात्मा तो सर्वत्र ही है :—

कोऊ कहे शारदा, सुरेश कोऊ सूर शशि,
कोऊ कहे अंबिका महेश परधान है ।
कोऊ कहे भैरव, भजत कोऊ भूतप्रेत,
काहू के सहायक गणेश हनुमान है ।
कोऊ पूजे देहरा मसीत कोऊ मढ़ी मठ,
देवल दिवाल, कोऊ पूजत मसान है ।
मेरो प्रभु पूरन प्रतापवा न कहां नहीं,
श्रधा विचार सब में विराजमान है ।।

पहाड़ी बोली में भी पण्डित जी ने पद-रचना की। इसी का नमूना यहां प्रस्तुत है :—

ऊवौ छैल म्हान्हुआं विचारी के निहाल्ह
मुआ कुत्थू गये बब्ब दादा धनमाल छड्डीके।
तुझो नहीं मत्त रत्ता जगदे सवादांवाल
मौत जो बिसारी बैठां मत्ती बाड़ गड्डी के।
ईश्वरे दा नाम अज्ज धारिआं मनादे विच्च
करिगा पवित्र तुझो नरकां ते कड्ढी के।
संता अते साधुआं दी संगती गलावे वेद
श्रद्धा बहीन जम मारू गला बड्ढी के।

पण्डित जी ने धार्मिक बारहमासा वर्णन भी किया है। उसी का कुछ अंश यहां प्रस्तुत है :—

चत चपल सब भोग रोग उपजावत हैं भारी !
उनसे दृष्ट उठाय प्रीति परमेश्वर पर-धारी !
चित्त सत संगत को धाया !
श्रद्धा सहित विचार रामजी घर ही में पाया ।।

० ० ० ०

मास आषाढ़ अनंत चले लो यीषम की ताती !

तज के गृहबन बस भष हम धार बहु भांती ।

जगत को लूट लूट खाया ।

श्रद्धा सहित विचार रामजी घर ही में पाया ॥

हिन्दी गद्य के क्षेत्र में 'भाग्यवती' तथा 'सत्यामृत प्रवाह' पण्डित जी की अमर कृतियां हैं। 'भाग्यवती' एक सामाजिक उपन्यास है जिसे कुछ आलोचकों ने हिन्दी का प्रथम उपन्यास स्वीकार किया है। श्री प्रेमचन्द के उपन्यासों का महत्त्व इस कारण है कि उनमें सामाजिक जीवन का चित्रण तथा यथासम्भव समाधान है। पण्डित श्रद्धाराम ने अपनी इस कृति में आगे आने वाले उपन्यासकारों का मार्ग प्रशस्त किया। इस दृष्टि से इसे हिन्दी का प्रथम आधुनिक उपन्यास कहना उचित ही है! उपन्यास की भूमिका में उपन्यास के उद्देश्य के विषय में पण्डित जी ने लिखा —'बहुत दिनों से इच्छा थी कि कोई ऐसी पोथी हिन्दी भाषा में लिखूं कि जिसके पढ़ने से भारतखंड की स्त्रियों को गृहस्थ धर्म की शिक्षा प्राप्त हो, क्योंकि यद्यपि कई स्त्रियां कुछ पढ़ी लिखी तो होती हैं, परन्तु सदा अपने ही घर में बैठे रहने के कारण उनको देश विदेश की बोल-चाल और अन्य लोगों से वरत व्यवहार की पूरी बुद्धि नहीं होती ।—''

इस उपन्यास में दिखाया गया है कि किस प्रकार उपन्यास की नायिका भाग्यवती अपनी शिक्षा, कर्मठता, व्यवहार कुशलता तथा नव-दृष्टि के बल पर दो परिवारों को सुखी बनाती है। उपन्यास की कथा पुरानी पद्धति की है परन्तु इसमें क्रम कहीं भी खण्डित नहीं होता। लेखक के अनुसार सरसता अन्त तक बनी रहती है। उपन्यास में दो प्रकार के पात्र हैं —परम्परा भक्त तथा नवयुग के आलोक से आलोकित सुशिक्षित सुधार के इच्छुक। पं० वासुदेव, पं० उमादत्त प्रथम वर्ग के पात्र हैं। उपन्यास की नायिका का सम्बन्ध समाज के दूसरे वर्ग से है। भाग्यवती को परलोक की चिन्ता नहीं, वह इस लोक को सुधारने के लिये ही संघर्ष रत है। वह सामाजिक रूढ़ियों तथा अन्धविश्वासों का शिकार नहीं होती। उल्टे उनका शिकार करती है, वह सामन्तवादी रूढ़ियों से संघर्ष शील नारी है। उसे खेती तथा व्यापार से संकोच नहीं, सामंती पद्धति से घृणा है। उपन्यास में काशी के ठगों के कारनामों और पुलिस की धांधली का भी विस्तृत चित्रण है। उपन्यास की भाषा के सम्बन्ध में लेखक ने स्वयं लिखा है —''चाहे प्रसंग तो इसमें काशी-वासी लोगों का है, परन्तु वहां की बोली, पूरबी और कुछ रुखी सी होने के कारण इस ग्रन्थ में वह हिन्दी भाषा लिखी है

जोकि दिल्ली, आगरा, अम्बाला के आसपास के हिन्दू लोगों में बोली जाती है और पंजाब के स्त्री-पुरुषों को भी समझनी कठिन नहीं है !" आज हिन्दी उपन्यास का प्रचुर विकास हो चुका है, तथापि 'भाग्ययवती' के ऐतिहासिक महत्त्व से इन्कार नहीं किया जा सकता ! पुस्तक की उपयोगिता को दृष्टि में रखते हुए सरकार की ओर से इसे लड़कियों की शिक्षा में स्वीकृत भी किया गया था ।

'सत्यामृत प्रवाह' पण्डित श्रद्धाराम की अन्तिम कृति है। यह उनका सिद्धान्त ग्रन्थ है, समग्र जीवन के अनुभव का निचोड़ । इस ग्रंथ की भूमिका में लिखा है -- अब मेरी मृत्यु का समय निकट है इसी लिये उस सत्य को प्रकट करता हूँ कि जो चिर काल से मेरे मन में भरा हुआ है । यदि सत्य विद्या को साथ ले मरा तो बड़े अनर्थ की बात होगी ।" यह ग्रन्थ दो भागों में विभक्त है जिनमें ११ तरंग हैं । प्रथम भाग में ५ तरंग हैं, जिनमें आत्मचिकित्सा अर्थात् सत्व, रज, तम तीन गुणों की उत्पत्ति, स्थिति, स्वरूप और इन के अलग अलग शुद्ध समभाव से मन में उपजे २८ धर्मों का क्रम से नाम, लक्षण के जिनसे मनुष्य मानव-देह में देवता बनता है, तथा उक्त तीनों गुणों के न्यूनाधिक होने से अन्तःकरण में उत्पन्न हुए ४८ रोगों का वर्णन तथा निदान है । द्वितीय भाग में ६ तरंग हैं । जिनमें वेद का उपदेश, उपवेद, पुराण, गुरु का लक्षण, कर्म उपासना, ज्ञान तथा परा विद्या (विज्ञान) पर प्रकाश डाला गया है

पण्डित श्रद्धाराम कट्टर सनातन-धर्मी थे, परन्तु कुछ लोग यह कह देते हैं कि अपने अन्तिम समय में वे नास्तिक हो गए थे । उन के कथन का आधार सत्वामृत प्रवाह' में आये कतिपय उल्लेख हैं। "युक्तियुक्त वाक्य बालक के कहे हुए भी ग्रहण करने योग्य हैं, किंतु युक्तिहीन वाक्य चाहे वेद के हों या स्मृति के, सर्वथा त्याज्य हैं।"--सच्चा वेद और धर्म शास्त्र समस्त जनों के हृदय में लिखा हुआ है जिसको शुभाशुभ का तथा सत्यासत्य का विवेक कहते हैं।" इन या ऐसे ही वाक्यों से नास्तिकता वाला निष्कर्ष निकालना उचित नहीं, वे तो धर्म के सच्चे रूप पर प्रकाश डाल रहे हैं।

निस्संदेह पण्डित श्रद्धाराम ने अपनी इन कृतियों से हिन्दी के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया" ।

हिन्दी में वीर रस

देवदत्त शर्मा

हिन्दी कवियों का वीररस अनेक बार हार को जीत में बदलने में सफल रहा है । कौन नहीं जानता कि छत्रपति शिवा जी की सफलता का रहस्य भूषण की ओजपूर्ण कविताएं थीं । और कौन नहीं जानता कि जब मेवाड़ केसरी हिन्दुपत प्रताप के कदम लड़खड़ा गये थे, तो संधिप्रस्ताव वापिस कराने में, बीकानेर नरेश के भाई, राव पृथ्वी सिंह द्वारा प्रेषित तथा लिखित ८ दोहे रहस्य थे ! और यह भी कौन नहीं जानता कि मेवाड़ नरेश फतह सिंह को १९११ वाले दिल्ली दरबार में शामिल होने के लिये, आते हुए, मार्ग में राव केसरी सिंह ने रोकककर वंश मर्यादा की दुहाई दी थी। राव केसरी सिंह की वह कृति भी आज हिन्दी साहित्य की गौरव पूर्णता थाती है ।

ऐसी एक और घटना सुनिये :—

घटना विक्रमाब्द १७७७ के आस-पास की है । मुगल साम्राज्य का बड़ी तेजी से पतन हो रहा था । विंध्य मेखला में बुंधेले पांव पसार रहे थे । उन्होंने आगे बढ़ कर सारे खान देश पर अधिकार कर लिया । मालवा के हाकिम अतके खां को दिल्ली से आदेश मिला कि बुंधेलों से खान देश वापस ले। अतके खां ने बुंधेलों पर आक्रमण कर दिया । बुंधेलों की तलवार खूब चमकी । होते होते ५ वर्ष बीत गये । मुगल साम्राज्य की पतनोन्मुखी शक्ति के आगे बुंधेले विवश हो गए । उनका बल टूट गया ।

अब सवाल यह उठा कि लड़ाई कैसे जारी रखी जाये । स्वतन्त्रता, हिन्दु-संस्कृति, और राजपूती आन की रक्षा कैसे हो ? बहुत सोच विचार के बाद निर्णय हुआ कि राजपुरोहित को पेशवा बाला जी वाजीराव के पास सहायता की याचना के लिये भेजा जाए । उन दिनों मराठों की लूट मार से सारा देश आतंकित था । शंका यह उठी कि कहीं मराठे सहायता देने का मूल्य मांग बैठे तो? उन्होंने बुधेला राज्य को लूटा तो? चौथया सरदेश मुखी मांगी तो ? दिल्ली की दासता के पाश में न बंध कर कहीं पूना की दासता गले न पड़ जाये ?

अब पेशवा के सिवा कोई त्राता भी नज़र न आया--और जैसी स्थिति हो उसे सुलझाने का भार राजपुरोहित पर डाल दिया गया और उन्हें पूना भेज दिया गया। राजपूतों के इतिहास में राजपुरोहित का स्थान बहुत ऊंचा रहा है। वे सुख-दुख, हार-जीत, शांति, युद्ध क्षेत्र, जीवन-मरण, इहलोक और परलोक तक के साथी थे। उन्हें कुटुम्बियों और सरदारों से बढ़ कर विश्वास पात्र माना जाता था। राज-पुरोहित ओरछा से चल कर पूना पहुंचा और पेशवा के दरबार में हाजिर हुआ। प्रहरी ने परिचय दिया --'ओरछा नरेश के कुलगुरु।' पुरोहित ने वेदमन्त्रों का उच्चारण करते हुए आशीर्वाद दिया। हिन्दु प्रथा के अनुसार यज्ञोपवीत और गंगाजल भेंट किया। पेशवा ने शिष्टाचार पूरा करते हुए बुंधेला नरेश का कुशल क्षेम पूछा। पुरोहित ने अवसर देख कर निम्न दोहा पढ़ा --

जूं बाजी मच्छ गजेन्द्र की, मुगल बुंधेला आज,
बाजी बाजी राख लें, जात हमारी लाज।

पेशवा यह सुनते ही उछल पड़ा। सिंहासन छोड़ दिया। तलवार खींच ली और 'जयभवानी' कह कर रणनाद किया। दरबारियों ने भी अपनी अपनी तलवारें खींच लीं और 'जयभवानी' के तुमुल घोष से आकाश गुंजा दिया। पेशवा ने पुरोहित को सम्बोधित करते हुए कहा-- 'बुंधेले की लाज हमारी लाज है। जब तक भवानी दाहने है--हम उस लाज की रक्षा करेंगे। हमें विश्वास है कि बाजी हमारे हाथ रहेगी, जाइये! बुंधेला नरेश को आश्वासन दीजिये कि बाजी आ रहा है।"

इसके बाद पेशवा ने तत्काल कूच करने की आज्ञा दी ओरछा का राजपुरोहित बाजीराव की वक्तृता सुनकर स्तब्ध रह गया। पेशवा इतनी जल्दी सहायता के लिये तैयार हो जायेगा--यह उसे आशा ही नहीं थी। मराठा परम्पराओं के अनुसार पेशवा सहायता के बदले सौदा करेगा। यह होते न देख कर उसे आश्चर्य हुआ और वह इसी आश्चर्य सागर में डूबता-उतरता ओरछा की ओर भाग चला।

पेशवा की छावनी में रण के बाजे बजने लगे। नक्कारे पर चोट पड़ी। नरसिंहों में फूंक पड़ी। शंख-घड़ियाल बजने लगे। मस्त हाथी चिंघाड़ने लगे, घोड़े हिनहिनाने लगे। न जाने फिर कितने दिनों बाद रणचण्डी हुंकार उठी! देखते देखते कूच का डंका बज उठा। सब से आगे हाथी पर भगवां झण्डा चला। पीछे जंगी हाथी, अश्वारोही और फिर पैदल। पूना के घर-घर चर्चा थी किस अभागे की शामत आई है? पेशवा का कोपभाजन कौन है?

उधर राजपुरोहित ने ओरछा पहुंच कर पेशवा का सन्देश महाराज को सुनाया सुनते ही चारों ओर आनन्द और उल्लास की लहर दौड़ गई। बुझे दिल खिल गए। निराशा तिरोहित हो गई। विपद के बादल छंट और फट गए। रणबांकुरों की भुजाएं फड़कने लगीं। लुहारों की भट्टियां फिर गर्म होने लगीं। राजधानी में पुराने साके गाए जाने लगे। मन्दिरों में प्रार्थना और उपासना होने लगी। कुमकुम और नारियल की खरीद बढ़ गई।

मराठों और बुंधेलों ने मिल कर मुगलों पर आक्रमण कर दिया। सैन्य संचालन बुंधेलों के हाथ रहा। ओरछा से मालवा तक और पूर्व में इलाहबाद तक सारा देश रणांगन बन गया। मुगल सेना हार गई। बुंधेला राजा की स्वयं सत्ता मुगलों ने स्वीकार कर ली।

यह सब एक दोहे का चमत्कार था। मानव जीवन में साहित्य विशेषतः काव्य का कितना ऊंचा स्थान है—यह इसका ज्वलन्त उदाहरण है!



आधुनिक पंजाबी कविता और उसका भविष्य

त्रिलोक दीप

संसार के प्रत्येक साहित्य में पहले कविता की उत्पत्ति होती है और फिर गद्य की । पंजाबी साहित्य भी भारत की अन्य भाषाओं से अलग नहीं रहा और इसका प्रारंभ भी बाबा फरीद और बाकी सिख गुरुओं की कविताओं से ही माना जाता है । शुरु शुरु की कविता भक्ति-भाव वाली, भगवान् से मेल और मानव समानता वाली कविता थी। इसके पश्चात् किस्से और जंगनामे लिखे जाते रहे । यह गति धीरे धीरे बढ़ती हुई भाई वीर सिंह के आगमन से आधुनिक युग में कदम रखती है । पंजाबी कविता को हम सहज ही दो भागों में बांट सकते हैं । १९४७ से पहले और १९४७ के बाद की कविता । यह अलग बात है कि जो कवि १९४७ से पहले लिखा करते थे उनमें से बहुतों ने १९४७ के बाद भी लिखना जारी रखा परन्तु देश-विभाजन के पश्चात् उनकी कविता ने एक नवीन मोड़ ग्रहण किया। कवियों ने मनुष्य की हो रही दुर्गति को रो रो कर गाया और आहें भरी कि क्या इसी को ही सभ्यता कहते हैं। बहुत से कवि तो निराश हो गए और कहने लगे कि दुनिया से धर्म, कर्म और शर्म उड़ गई है तथा मानवता ऐसे पतन के गढ़े में जा गिरी है जहां से इसका उठ सकना कठिन ही नहीं अपितु असंभव हो गया है । परन्तु कुछ कवि ऐसे थे जिन्होंने आशा का दीप जलाए रखा जिसका परिणाम यह हुआ कि पंजाबी कविता निराशा के गहन अंधकार से निकल कर उस दिशा में मुड़ गई जहां समाज में अन्याय और दुर्गति न हो, जहां अधिकारियों को अधिकार प्राप्त हों तथा सम्पूर्ण संसार युद्ध का तिरस्कार कर एक बिरादरी होकर बहन-भाइयों और मित्रों की भांति कुटुम्ब बन कर रहें ।

आधुनिक पंजाबी के प्रमुख और प्रारंभिक कवि भाई वीर सिंह थे । इन्होंने पंजाबी भाषा और पंजाबी साहित्य को नया रूप दिया और एक नवीन दिशा

दिखाई तथा अपनी "लहरां दे हार, बिजलियां दे हार, मटक हुलारे, कम्दी कलाई, कन्त सहेली और मेरे साइयां जियो" आदि काव्य संग्रहों से भरपूर कर दिया । निस्संदेह इनकी कविता के विषय परम्परागत तथा मध्यकालीन थे परन्तु रूपक पक्ष से आपने नवीनता का प्रादुर्भाव किया । आपसे पूर्व पंजाबी कविता, दवैया, बैंत, चौपाई आदि की सीमा में ही सीमित थी परन्तु भाई वीर सिंह ने इस परम्परा को तोड़ा तथा छोटी छोटी कविताएं लिखने का रिवाज़ डाला । आपने कुदरत के विषय में भी कविताएं लिखीं और कादर के बारे में भी । मानव पीड़ा को भी अनुभव किया और कइयों को अंगुली पकड़ कर चलने का ढंग सिखाया । आपने केवल आकाश में ही उड़ान नहीं भरी अपितु यह कह कर अपने आसपास के वातावरण के साथ एकात्म -बोध भी किया :—

"दुनियां दा दुख देख देख
दिल दबदा दबदा जांदा "

इनसे प्रभावित होने वाले कवियों में से पूरन सिंह, धनीराम चात्रिक और कृपा वसागर के नाम लिये जा सकते हैं । पूरन सिंह के अतिरिक्त अन्य कवि भाई वीर सिंह की छत्रछाया से बाहर नहीं जा सके । धनीराम की कविता से कुछ नवीनता की आशा थी परन्तु उसका व्यक्तित्व वीर सिंह से इतना प्रभावित हुआ कि वह अपना आप निखार कर पेश न कर सका । हां इतना अवश्य हुआ कि उन्होंने पंजाब के जीवन को इच्छानुसार चित्रित किया–खेतों और किसानों के हमराही हुए तथा परतंत्रता के भार तले दबे भारतीयों को पुकार पुकार कर कहा––

"विच गुलामी होये खुनामी
सुक्कन लहू शरीरां दे ।"

पूरनसिंह भी कुछ इसी मर्ज़ का शिकार बना परन्तु उसके सैलानी छन्द ने पंजाबी कविता में एक नवीन प्रतिभा की सूचना दी तथा आधुनिक पंजाबी कविता का घेरा विशाल करके इसकी सुप्त प्रवृत्तियों को जगाया । इन्होंने पंजाबी कविता को दो संग्रह दिये "खुल्ले मैदान और खुल्ले घुण्ड" । अधिकतर वे निजी बहाव और व्यक्तिवाद में ही उलझा रहा परन्तु कई स्थानों पर वह बुर्जुआ पैसे और कीमतों की बढ़ रही रुचियों की निन्दा करता है और पुराने पंजाब तथा पुरानी कीमतों की सराहना करता है–

"ओ पुराना अदब त हिरस न
ओ प्रीत दिया पीडयां पीडयां • गंढां
ओ कुड़ियां दे चा
ओ शरीकां दी आब वाली सारी गई आई
ओ डूंगियां डूंगियां शरमां शराफतां
ओ कित्थे।"

समय बदल रहा था, यह पूरन सिंह ने भी अनुभव किया परन्तु अमृता प्रीतम

ग्रौर मोहन सिंह की कविता ने तो यह स्पष्ट ही कर दिया कि ग्रब वह ज़माना नहीं है जबकि देश की स्त्री चहार दीवारी में बन्द होकर रहेगी, देश के श्रमिक जागीरदारों के भारों तले दबे रहेंगे ग्रादि ।

प्रो० मोहन सिंह के " सावे पत्तर" के साथ पंजाबी की रवायती कविता शिखर पर पहुंच गई । शनैः शनैः पंजाबी कविता के विषय-वस्तु ग्रौर रूप रेखा में ग़ज़ब का परिवर्तन ग्राने लगा तथा इसमें नवीन विषय, नवीन ग्राशय ग्रौर नवीन बनावटें शामिल होने लगीं । यथार्थवादी रुचियां, मनो-वैज्ञानिक ग्रंश, हुस्न का बेझिझक वर्णन ग्रार्थिक ढांचे के लिए घृणा, सामाजिक प्रबंध पर व्यंग, नवनिर्माण की घोषणा सुन्दर भविष्य के इकरार, स्थायी कीमतों से नाता, राष्ट्रीय एवं ग्रन्तर्राष्ट्रीय सूझ तथा व्यापक चेतना पंजाबी कविता में शामिल होने लगी । प्रीतम सिंह सफीर, बावा बलवंत ग्रवतार सिंह ग्राज़ाद, ज्ञानी हरिन्द्र सिंह रूप, डा० हरदयाल सिंह सीकरी, देवेन्द्र सत्यार्थी, कर्तार सिंह दुग्गल तथा चन्दन सिंह जेठुवालिया ग्रादि ने इस नये रंग की कविता को हाथों से पाला पोसा ग्रौर जवान किया ।

ग्राज़ादी के लिये प्रयास करता तथा ग्राबादी के स्वप्न देखता पंजाब बरबादी का शिकार हो गया । जैसे प्रभजोत ने लिखा है —

"ग्रंधकार,
घोर ग्रंधकार,
छा गया जहान ते
छप गया संसार
ग्रंधकार ।"

१९४७ की तबाही को ग्रमृता ने रो रो कर गाया ग्रौर वारिश शाह से ग्रारज़ू कर कर के कहा —

"ग्रज ग्राखां वारिश शाह नूं
किते कबरा विचों बोल
ते ग्रज किताबे इश्क दा
कोई ग्रगला वरका फोल
वे दरद मन्दां देया दर्दिया
उठ तक ग्रपना पंजाब
ग्रज बेले लाशां बिछियां
ते लहू दी भरी चनाब ।"

इन पीड़ा युक्त ग्रौर वेदनाग्रों ने ही इसको पंजाब की ग्रावाज़ बना दिया । ग्रमृता ने पंजाबी साहित्य को कई संग्रह दिये जिनमें से "पत्थर गीटे, मैं तवारीख हां हिन्द दी, ग्रशोका चेती, कस्तूरी ग्रौर नागमणी " ग्रादि हैं । ग्रमृता प्रीतम जीवन के कई उतार चढ़ाव देखती ग्राज उस जीवन तक पहुंच गई है कि कहती है—

"ग्राग्रो सयो रल कण्डे चुनिये
सब दा पंथ सुकाला होवे ।"

देश के विभाजन को गाने वाले कुछ और कवि भी थे जिन्होंने पंजाब के दुख को महसूस तो किया ही अपितु संसार के अन्य भागों में होने वाले जुल्म या अत्याचार को देख कर भी उनकी आत्मा चीत्कार कर उठती है। प्रीतम सिंह सफीर ने एक स्थान पर लिखा है —

"हीरोशीमा नागा साकी
ढाह ढाह अपने मंदर माढ़ी
पांवदे हाल पुकार ।।"

परन्तु साथ ही कवि को विश्वास है कि अन्त में ज़ालिमों के दिल भी बदलेंगे और मानवता को चैन की सांस नसीब होगी । यही विश्वास आ रहे नये कवियों का भी है जोकि लोगों में रहते उनके दुख सुख को महसूस करते और उनको ही हर नई लहर का जन्मदाता मानते हैं। सहराई, गुरुचरन रामपुरी, अजायब चित्रकार और तख्तसिंह ऐसी चेतनता से अप्रभावित नहीं बल्कि तख्त सिंह तो यहां तक भी कहता है—

"रहिंदा हां जद लोकां दे विच
लोकां नालों वख नहीं मैं
ऐना दे ही गीत बनावा
ऐना बाजो कख नहीं मैं।"

उपरोक्त समाजावादी विचार-शीलता वाले कवियों के अतिरिक्त जिन पर आधुनिक पंजाबी कविता का भविष्य निर्भर है उनमें सहज में ही हम सुखपाल वीर सिंह हसरत, नरेन्द्रपाल सिंह, जसवंत सिंह नेकी, सुखबीर, प्रभजोत कौर, तारा सिंह, हरिभजन सिंह और शिवकुमार का नाम ले सकते हैं। दो वर्ष पूर्व चीन जैसे मित्र ने हमारी पीठ में छुरा जब आ मारा तो हमारे कवि देशी अन्य समस्याओं तथा वैर विरोधों को ताक पर रख देशवासियों को चौकन्ना करने में लग गए जिसके परिणाम स्वरूप भारतीय नौजवान आज़ादी के नारे लगाते अपनी जानों की परवाह न कर हिमालय की बर्फों में देश रक्षा के लिये मोर्चे लगा कर बैठ गए । इस संबंध में इन्द्रजीत सिंह तुलसी ने लिखा है —

"तेरी हिफाजत वास्ते
ऐ मादरे हिन्दोस्तां
कफन सिरां ते बन्ध कर
निकले हजारां नौजवां ।"

और यह ही किसी आगे बढ़ने वाले साहित्य की सूझ होती है कि वह अपने आसपास के पनपने वाले वातावरण को किस तरह प्रेरित करेगा । पुरानी कीमतों की जंजीरों को काट कर समाज को कुरूपता एवं परतंत्रता के प्रभाव से मुक्त करें ।

नये कवियों में से हरिभजन सिंह ने सुन्दर ग़ज़लें और गीत लिखे हैं तथा पंजाबी कविता में एक नवीन परिपाटी चलाई है। उसकी कविता में सितार

जैसी लहर और लहर जैसी ताज़गी है जैसे–

"सिजया नी सिजया
साडी धरती नूं सिजया
सरगी दी निहमी निहमी लौ
सिम्मी नो सिम्मी
साडे गाहवां दे पोटयां चो
भिनी भिनी नी खुशबो ।"

एक और गीत लिखने वाला कवि शिवकुमार है । यद्यपि वह अभी अपनी निजी एवं व्यक्तिगत पीड़ा से ऊपर नहीं उठ सका है तथापि पंजाबी कविता को उससे बहुत आशा है । अभी अभी पंजाबी कविता में कुछ नवीन अनुभव हुए हैं जिन में सहज ही डाक्टर गोपाल सिंह की "अनहद नाद" और प्रभजोत की कुछ अप्रकाशित कविताओं के उद्धरण दिये जा सकते हैं। ये अनूभव विषय, वस्तु और विचारों से संबंधित है। जैसे डा० ज़ाकिर हुसैन से अनहद नाद के बारे में लिखा है, यह स्पष्ट है कि उन्होंने अनुभव का जीवन जिया है और और अपनी कवि की दृष्टि को धरती और आकाश पर भरपूर घुमाया है । उसके कानों ने आनन्द तथा पीड़ा दोनों की स्रोद की सातों सुरे सुनी हैं। डा० गोपाल सिंह ने अपनी एक कविता "रब्बी लीला" में लिखा है —

"जदों रात दी रानी जवान हुंदी है
ते कोई असमानी फरिश्ता
नशे चूर होया
उसदा सत भंग आन करदा है
ते जदों शुभ ते अशुभ ग्रहां दा मेल
हुंदा है
डुबदे अनंत सूरजां दे घुसमुसे अन्हेरे विच
उदों मेरा जनम होया ।"

समय के साथ ही साथ चलने वाली और देश की समान पीड़ा में भाग लेने वाली कवयित्री प्रभजोत कौर है। अब वह अन्य कवियों जैसी पीड़ाओं की घाटियां लांघ कर क्षितिज को ओर उत्तरोत्तर अग्रसर हो रही है । उसकी बहुमुखी प्रतिभा ने उसको न केवल भारत में ही अपितु संसार के प्रत्येक कोने में आदरणीय बना दिया है । विदेशों में इनकी कविताएं लोक गीतों की भांति गाई जाती हैं। वह भी भाई वीर सिंह, मोहन सिंह और अमृता प्रीतम जैसी कवियों की पंक्ति में खड़ी की जा सकती हैं जिनकी रचनाओं का संसार की लगभग सभी प्रमुख भाषाओं में अनुवाद हो चुका है । जीवन प्रभजोत के लिये सदैव सकारात्मक रहा है जैसे कि वे "पब्बी" में लिखती हैं —

"हुण एह जीवन
सुलझियां तारां दी एक अट्टी
चिट्टी चिट्टी"

"पंखेरू, बनकपासी, पब्बी तथा दो रंगों" की प्रभजोत अब यहां तक पहुंच चुकी है कि वह अपनी छिन चुकी एक अमूल्य वस्तु पण्डित नेहरू की याद दिला सकी तथा उसके अंतिम शब्दों को

अपनी जादूमयी कलम द्वारा अनुवाद करके पंजाबी साहित्य की भेंट कर सकी । कितने दर्द और पीड़ायुक्त शब्दों में उसने पण्डित नेहरू की आखिरी वसीयत को पंजावी रूप दिया है । वे लिखती हैं—

"मर जावां तां इस काया नूं
अग्नि दी भेंटा कर देना ।
इक मिट्टी दी मुट्ठी लै के
गंगा दी झोली भर देना --
और फिर—
गंगा जमुना बारे भी नहीं भुलेखा
चेतनता मेरी विच
कोई न धुंधली रेखा"

इस तरह स्पष्ट है कि पंजाबी कविता का भविष्य बड़ा ही उज्ज्वल और आशाप्रद है । इसने कभी भी समाज में आए परिवर्तनों, कठिनाइयों और विषमताओं से मुंह नहीं मोड़ा वरन् हर समय लोगों की अगुवाई करके उनको आगे और आगे चलने के लिये ही प्रेरित किया है । इन कवियों के अतिक्ति और भी अनेक कवि हैं जो मद्धिम तारों की भांति प्रकाश में वृद्धि तो कर रहे हैं पर अभी कुछ समय और चाहिए जब वे आधुनिक कविता के आकाश पर चमकते सितारे बन कर चमक सकेंगी ।

रवि बाबू—एक बहुमुखी प्रतिभा

पी० के० हरिवंश

६ मई, १८६१ का दिन, कलकत्ता का एक अत्यन्त लब्ध-प्रतिष्ठ परिवार, मनु महाराज की भविष्यवाणी साकार हो उठी ।

एतद्देश प्रसूतस्य साकाशअग्र जन्मनः
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यामा सर्वमा नवाः ।

शताब्दियों बाद इस देश के ब्राह्मण ने एक बार पुनः संसार का मार्गदर्शन किया । विश्व कवि बन कर, नाटककार बन कर चित्रकार बन कर, आलोचक और दार्शनिक बन कर इस महापुरुष ने संसार को विश्व शांति का उपदेश दिया । मानव को मानव से प्रेम करना सिखाया । अपनी कला से संसार को कदम मिला कर चलने की सीख दी । वह सन्तप्त संसार के लिये एक अमर सन्देश बन गये ।

आज कलकत्ता में ही नहीं , बंगाल में ही नहीं, केवल भारत में ही नहीं समस्त संसार में कवि गुरु रवीन्द्रनाथ की पुण्य जन्म शताब्दी मनायी जा रही है । विश्व कवि की स्मृति को ताजा कर उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित की जा रही है । उनका साहित्य संसार की सभी भाषाओं में प्रकाशित हो रहा है । सभी इसमें एकमत हैं कि शैशव में शिशु कवि रवीन्द्रनाथ ने दूरान्तर की जिस मानसी प्रिया के नील अंचल की झलक देखी थी उसी की खोज में अस्तगामी रवि चिर रात्रि के तोरण द्वार से दूसरे ओर जाते समय नव जीवन की वाणी कह गये थे । उन्होंने स्वयं भी तो कहा "नव जीवन की इस यात्रा में मेरे ललाट पर अरुणालोक ने जय टीका लगा दिया । अस्त महासागर के तट पर से उदय गिरि के शिखर की ओर मैंने प्रणाम भेज दिया । मेरे सामने है निस्तब्ध, निर्वाक, ज्योतिर्मय भविष्य, अशोक और अभय।" यह गीत गाते हुए वह अनन्त में लीन हो गये, "हे विश्व ! मेरी मृत्यु के बाद अपनी शून्यता मेरे लिये केवल एक वाक्य को स्थान दे, और वह वाक्य हो—मैंने जीवन भर प्यार किया है।"

स्वयं अपने ही बारे में कवि क्या कहते हैं देखिए :—

"मेरा जन्म जिस परिवार में हुआ, उसका धर्म साधन एक विशेष प्रकार

का है । उपनिषद् एवं पितृदेव की अभिज्ञता राम मोहन एवं अन्य साधकों की साधना ही हमारी पारिवारिक साधना है । मैं अपने पिता का कनिष्ठ पुत्र हूँ। जात कर्म से आरम्भ कर मेरे सब संस्कार वैदिक मंत्रों द्वारा अनुष्ठित हुए, वाह्यामत से मिला कर । मैं स्कूल से भाग आने वाला लड़का हूँ।

"बाल्यकाल में वराबर आवृत्ति द्वारा उपनिषद् के अनेक अंश मुझे कंठस्थ थे । सारा मन देकर भी मैं सब कुछ ग्रहण नहीं कर सका । श्रद्धा थी, पर शायद शक्ति न थी । ऐसे ही समय में उपनयन हुआ । उस समय गायत्री मंत्र दिया गया, केवल मात्र मुखस्थ भाव से नहीं । बारम्बार सुस्पष्ट उच्चारण कर आवृत्ति की एवं पिता की समीप गायत्री मंत्री के ध्यान का अर्थ पाया । उस समय मेरी अवस्था बारह साल की थी । इस मंत्रो का चिंतन करते-करते भान होता था कि विश्व भुवन का अस्तित्व और मेरा अस्तित्व एकात्मक है। "भूर्भवा स्वा:" वह भूलोक, अन्तरिक्ष में उसी के साथ अखण्ड हैं। इस विश्व ब्रह्माण्ड के आदि-अन्त में जो है वह मेरे मन में चैतन्य की प्रेरणा करता है । चैतन्य और विश्व, यह बाहर और अन्तर की दो धाराएं एक धारा में मिल गयी हैं। इस प्रकार ध्यान द्वारा जिसकी उपलब्धि करता हूँ, वह विश्वात्मा और मेरी आत्मा चैतन्य के योग से मुक्त है। इस प्रकार के चिंतन के आनन्द ने मन के भीतर एक ज्योति जला दी। इतना मुझे स्पष्ट याद है ।

"जिस समय अट्ठारह-उन्नीस साल की उम्र थी उस समय में भाई के साथ चौरंगी में रहता था। वे एक ही साथ भाई, मित्र और सहयोगी सब कुछ थे । उस समय ब्राह्ममुहूर्त में उठने की प्रथा थी । पिता जी भी खूब तड़के उठते थे । याद है, एक बार डलहौजी पहाड़ पर उन के साथ था । वहां पर प्रचंड शीत पड़ती थी । उसी शीत में घोर बेला में वे रोशनी हाथ में लिये हुए आकर मुझे शय्या से उठा देते थे । उसी घोर बेल में एक दिन चौरंगी वाले मकान के बरामदे में खड़ा था । रास्ता पार करके स्कूल का अहाता दिखाई देता था । उस ओर दृष्टि पड़ी तो देखा, पेड़ के अन्तराल आड़ में सूरज निकल रहा था । जैसे ही पेड़ के अन्तराल में सूरज का आविर्भाव हुआ वैसे ही मन का परदा खुल गया ।

"भान हुआ कि मनुष्य आजन्म एक आवरण से ढंका रहता है उसी में उसका स्वातन्त्र्य है । स्वातंत्र्य का बाड़ा लुप्त होने पर सांसारिक प्रयोजन में अनेक असुविधाएं हैं । परन्तु उस दिन सूर्योदय के साथ-साथ मेरा आवरण हट गया । अनुभव हुआ कि सत्य को मुक्त

दृष्टि से देखा जा सकता है। उसी समय मनुष्य की अन्तरात्मा को देखा। दो मज़दूर एक दूसरे के कंधे पर हाथ रखे हंसत-हंसते चले जा रहे थे। उनको देख कर लगा कि वे कितने अनिर्वचनीय सुन्दर हैं। यह ध्यान नहीं रहा कि वे मज़दूर हैं। उस दिन उनकी अन्तरात्मा को देखा, जिसमें चिरकार का मनुष्य वास करता है।"

लकीर के कारागार में शिशु कवि का बन्दी जीवन आरम्भ हुआ था। चाक से लकीर खींच कर नौकर शिशु कवि को बन्दी बना देता था। परन्तु बालक का मन और उसकी कल्पना की उड़ान पूर्णत: स्वच्छन्द थी, बन्धनहीन। उसका सुकुमार मन कल्पना के फलों की माला गूंथता था। उसकी हृदय वीण के तार विभन्न रूपों में बज उठते थे। स्वयं ही कवि कहते हैं, "समय किसी का लिहाज नहीं करता, उसे मानव हृदय पर कभी रहम नहीं आता। वह चलता और मानव की असमर्थताओं पर असफलताओं पर मुह चढ़ाता जाता है।" समय पाकर तरुण यौवन की बांसुरी भी उन के हृदय में ध्वनित होने लगी : उनके स्वप्नों से भरे तरुण जीवन में था प्राण का नि:श्वास। अपने जीवन में उन्होंने कभी किसी के प्रेम का निरादर नहीं किया। नारीमात्र के प्रति रोमांचित-पूर्ण आकर्षक भाव रखा और उस पर गर्व किया। उन के जीवन में नारी आयी उसके बारे में उन्होंने स्वयं ही एक दिन दिलीप कुमार राय से कहा था—

"उस लड़की को मैं जीवन भर कभी भुल नही पाया और न कभी उसके आकर्षण को उपेक्षा की दृष्टि से ही देख सका। इसके बाद मेरे जीवन में कई धारणाएं धूप छांह का खेल खेल चुकी हैं और विविध प्रकार के अनुभव भी मुझे हो चुके हैं, परन्तु मैं एक बात गर्व के साथ कह सकता हूँ कि किसी भी लड़की के प्रेम को मैं भूल से भी कभी अवज्ञा की दृष्टि से न देख सका, फिर चाहे उस प्रेम का रूप कैसा ही क्यों न रहा हो।"

कवि अपनी प्रेमिका को नलिनी नाम से पुकारते थे। यह नाम सभी को प्रिय था। उन्होंने यह नाम अपनी कई रचनाओं में दुहराया, इसे लक्ष्य करके कई गीत रचे। एक कविता की पंक्तियां देखिए :—

"ओ मेरी नलिनी, लाजभीनी नलिनी। बहुतों की आंखों में सौन्दर्य विराजता है, परन्तु तुम्हारी आंखें प्रेम के रंग में रंगी हैं। ओ सुकोमल नलिनी जहां मधुर रूप भासमान रहता है, वहीं प्रकृति घुल-मिल जाती है। तुम्हारा शरीर प्रकृति के उसी सुवास से महक रहा है।"

फिर वह प्रेम शनैः शनैः विश्व प्रेम का रूप धारण कर गया। एक नवीन

सुर, एक नवीन वाणी ध्वनित हो उठी, कवि कह रहा था :—

सब के साथ जागो,
विश्व के हृदय में अपना स्थान कर लो,
अपने जीवन में अखिल विश्व को देखो
मैं पृथ्वी का कवि हूँ
इसके प्रत्येक कोने में जो-जो ध्वनियां हैं
वह मेरी बांसुरी में सभी प्रतिध्वनित होंगी

साधारण मनुष्य के साथ एकात्म होकर कवि उन के दुःख सुख, आशा-आनन्द के प्रति सजग हो उठे। वह स्वयं को ही आह्वान करने लगे :—

कवि आओ उठो।
यदि सचमुच तुममें प्राण है,
तो उसे संभार लो
और उसका दान कर दो।

फिर कवि का जीवन प्रवाह लोक कल्याण के मार्ग पर बहने लगा—पवित्र, शोक और उच्च जीवन की शिक्षा देना। दीन-हीन की सेवा करना कवि ने अपना कार्य बनाया :—

अब मुझे सर्वसाधारण में जाने दो,
मेरी वाणी को यदि दुःख की
भाषा मिल जाय
अन्तर की गहरी प्यास
यदि जाग जाये,
अमर होने को यदि प्राण व्याकुल हो जाय,
तो मेरी वाणी, मेरे गीत, सार्थक हो जायं,

सर्वसधारण के स्तर पर आकर कवि बोले :—

मैं उन्हीं का साथी हूं
जो है मूक साधन हीन
मन्दिर के पुजारी ने पूछा :—
कौन जात।
कोई जात नहीं।
मैं जातिहीन व्यक्ति हूँ।

विश्व प्रसिद्ध गीतांजलि के प्रथम गीत में कवि कहते हैं:—

'हे नाथ, तुमने मुझे असीम बनाया, यह तुम्हारी लीला है तुम इस नाशवान पात्र को बार-बार खाली कर उसे नये नये रूपों में पुनः जीवित करते हो।

इस लघु वीणा को तुम नदी-पर्वतों पर लिये घुमते हो तथा अपने स्वर से नित्य नवीन तान और राग बजाते रहते हो।

तुम्हारे इस अमर स्पर्श से मेरा हृदय परम उल्लास को पहुँच कर असीम बन उठता है। कण्ठ की अभिव्यक्ति अकथनीय हो उठती है। निशिदिन तुम्हारे अनन्त उपहार तो मुझे केवल मुट्ठी भर ही मिल पाते हैं। युगों से यही चल रहा है। तुम उड़लते जा रहे हो परन्तु न जाने क्यों फिर भी स्थान शेष, है।"

फिर कहते हैं :—

"सुन्दर किसको कहूँ'? बाहर से जो कुछ है, जिस समय उसके आन्तरिक

अर्थ को देखता हूँ, उस समय देखता हु सुन्दर को । एक गुलाब का फूल पशु के निकट सुन्दर नहीं है । मनुष्य के निकट वह सुन्दर है। जिस मनुष्य के निकट केवल उसकी पंखुड़ी ने नहीं, डण्डी ने नहीं वरन् उसके समग्र ने एक सार्थकता पायी है । गुलाब का आन्तरिक अर्थ जिस समय देख पाता हूँ, उसी समय वह सुन्दर है । उस दिन इसीलिये आश्चर्यचकित रह गया । देख सका समस्त सृष्टि अपरूप है।"

कवि ने फिर कहा :—

"मेरे स्वामी, तुम किस प्रकार गाते हो इसका तो मुझे ज्ञान ही नहीं । मैं तो अवाक रहकर तुम्हारे संगीत को सुनता हूँ और सुनता ही रह जाता हूँ। तुम्हारे संगीत स्वर के प्रकाश में ही सम्पूर्ण विश्व में ज्योति का प्रसार हो रहा है । तुम्हारी संगीत पवन से सम्पूर्ण आकाश ओत-प्रोत हो रहा है। तुम्हारी स्वर-सरिता पत्थरों को तोड़ कर व्याकुल वेग से आगे की ओर बह जाती है ।"

मन में आता है कि मैं इस स्वर में गाऊं परन्तु भगीरथ प्रयत्न करने पर भी कंठ से यह बोल नहीं फूटत ।

"मैं कहना चाहता हूँ, परन्तु वाणी से गीत नहीं निकलते, तब मैं हार मान कर रोने लगता हूँ । "

समय ने अंगड़ाई ली :—

"लगभग ६७ वर्ष की अवस्था में कवि की लेखिनी यकायक कलाकार की तूलिका बन कर रह गयी और सारा विश्व जादुई तूलिका के चमत्कारों को देख कर फिर विस्मित हो गया ।"

कवि की अन्तर्वाणी अब रेखाओं, रूपों और रंगों से बोलने लगी । हृदय की कसक और छटपटाहट मूर्तरूप हो गयी । क्यों ? इस रहस्य की दृष्टि भूमि को गुरुदेव न पहले ही कितनी बार प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्त कर दिया था —मैं जो कुछ लिखना चाहता हूँ लिख न सका, जो कुछ कहना चाहता था, वह कह न सका, मेरे हृदय की बात हृदय में ही रह गयी, गुरुदेव के इन शब्दों ने उन के कलाकार हृदय का सारा रहस्य खोल दिया था। उन के मन का अव्यक्त मौन रेखाओं में मुखर हो गया ।

"मेरे जीवन का प्रभात मधुर गीतों से हुआ और अब जीवन की संध्या रंगों के इन्द्र धनुषी डोरों में होने दो । मेरी विदेशी यात्राओं ने मुझे एक नई प्रेरणा दी, एक नयी दिशा बतायी । गीतों की भाषा शब्दों और अक्षरों में बन्दी रहती है इसलिये विश्व के जन-जन तक उसकी पहुंच नहीं । मुझे उनसे एक नये माध्यम के द्वारा मिलना है, एक नये माध्यम से अपने हृदय की भावनाओं और कल्पनाओं को उनके सामने रखना है—ऐसा माध्यम, जिसे वे सरलता से समझ सकें ।"

सर्वप्रथम सन् १६३० में पैरिस में जब गुरुदेव के चित्रों की प्रदर्शन हुई तो सारे विश्व में फिर एक बार तहलका मच गया। विश्वकवि महान चित्रकार बन गया और संसार के मूर्धन्य चित्रकारों में उनकी गणना होने लगी। उसी वर्ष फिर र्बलिन, न्यूयार्क और लन्दन में आपके चित्रों की प्रदर्शनियां हुईं। उनकी चित्रकला को देखकर सभी ने मुक्त कण्ठ से उनकी अद्भूत तूलिका के चमत्कार की सराहना की।

गुरुदेव ने बारह वर्ष में लगभग दो हजार चित्र बनाये, जिसमें भाव और रूप दोनों का समन्वय कर एक नया दृष्टिकोण कला के क्षेत्र में प्रस्तुत किया।

भारत में प्रथम बार १६३२ में कलकत्ते में गुरूदेव के चित्रों की प्रदर्शनी हुई और दूसरी बार यह प्रदर्शनी १६३३ में बम्बई में हुई, तीसरी बार यह प्रदर्शनी दून स्कूल में हुई। हजारों लोगों ने प्रदर्शनी देखी, अधिकतर व्यक्ति यह नहीं जानते थे कि रवीन्द्र नाथ टैगोर महाकवि के साथ-साथ महान चित्रकार भी थे। यद्यपि गुरूदेव की प्रतिभा बहुमुखी थी, वे कवि, गायक, अभिनता, निर्देशक, दार्शनिक, कथा, नाटक, उपन्यासकार चित्रकार, आलोचक सब कुछ एक साथ थे किन्तु विश्व के अधिकतर लोग उन्हें महाकवि और महान चित्रकार के रूप में ही जानते हैं। कवि ने अपने लिखे अनेक नाटकों को खेला भी है।

लगभग ८० वर्ष की आयु में ७ अगस्त १६४१ को कलकत्ता में आपका देहान्त हो गया। देश के बौद्धिक, नैतिक और शिक्षा सम्बन्धी स्तर को ऊंचा करने के लिये कविवर ने तीन संस्थाएं कायम कीं। वह थीं शांति निकतेन, श्री निकतेन और विश्वभारती।

विश्वभारती में एशिया और योरोप की सभ्यताओं की समन्वयात्मक शिक्षा दी जाती है। भारत के प्रमुख बौद्धिक नेता डा० ब्रजेन्द्र नाथ साल ने इस विश्वविद्यालय का उद्घाटन करते हुए कहा था—"विभन्न दिशाओं में मानव मन का जो विकास हुआ है उसका अध्ययन करना और उसके द्वारा एक सार्वजनिक संस्कृति का विकास करना इस संस्था का मुख्य उद्देश्य रहा है।" विश्व भारत के तीन मुख्य स्वरूप हैं, कला भवन (स्कूल आफ आर्ट) (२) तिब्बती और चीनी साहित्य की सहायता से बौद्ध मत का अध्ययन और हिन्दू, जैन इस्लामादि संस्कृतियों के बारे में गवेषणा, (३) प्रमुख विदेशी विद्वानों को निमन्त्रण देकर उन के व्याख्यान कराना।

३ मई, १६५१ को लोकसभा में भारत सरकार ने एक विधेयक द्वारा विश्वभारती के विश्वविद्यालय को

मान्यता देकर उसे सहायता देना स्वीकार किया ।

इस शताब्दी की भारतीय विचारधारा पर गांधी और टैगोर का गहरा प्रभाव है। विदेशों में भारत को टैगोर, गांधी और नेहरू का देश कहते हैं । आज बहुमखी प्रतिभा के स्वामी गुरूदेव टैगोर की जन्म शताब्दी मनायी जा रही है आओ उनके चरणों में श्रद्धांजली अर्पण करते हुए उनके स्वर में स्वर मिलायें और उनके दर्शाये हुए पथ पर चलें, इसी में हमारा, हमारे देश का तथा विश्व का कल्याण है–

"जीवन का एक दीप जला कर,
विश्व भुवन में एक उन्हीं को
जी भर कर देखेंगे ।"



भारत और हिमालय—
एक सांस्कृतिक विवेचन

शान्ता कुमार

जब से मानव ने इस धरती पर जन्म लिया तभी से हिमालय भारत के उत्तर में खड़ा है। ऐसा लगता है—प्रलय के पश्चात सृष्टि के आरंभ में ही प्रकृति ने भारत माता के भाल पर यह हिमकिरीट सजा दिया होगा। हिमालय की प्राचीनता को इतिहासकार भी स्वीकार करने लगे हैं। श्री बैरल ने सब से पहिले यह मत प्रकट किया था कि मध्याउषाकालीन युग के लगभग अन्त में आज से दस लाख वर्ष पूर्व मानव और हिमालय एक साथ उत्पन्न हुए। श्री राधाकुमुद मुकर्जी ने भी कहा था—'आदि मानव पंजाब व शिवालिक की ऊंची भूमि पर विकसित हुआ होगा।'

हिमालय भारतीय धर्म, साहित्य व जन–जीवन में इतना व्याप्त हो चुका है कि हम हिमालय विहीन भारत की कल्पना ही नहीं कर सकते। वास्तव में हिमालय और भारत एक हैं। हिमालय पेड़ पत्थर व पर्वतमालाओं का नाम ही नहीं है अपितु युगों से सञ्चित पावन संस्कृति का स्रोत है। १९६२ में चीन ने हिमालय पर अपने दावे प्रकट कर के मानों शताब्दियों से चले आ रहे भारत व हिमालय के अस्तित्व को ही चुनौती दी है।

विश्व की सब से प्राचीन पुस्तक 'ऋग्वेद' में एक स्थान पर कहा है:—

यस्मे हिमवन्तो महित्वा
यस्य समुद्रं रसया सहाहु
यस्य येमाः प्रदिशो यस्य बाहु।

अर्थात् हिमालय से जो नदियां निकलती हैं वे रस्सी के समान लम्बे छोटे जल के स्रोत हैं जो समुद्र में मिल जाते हैं। ऐसा लगता है कि हिमालय की नदियों का यह अति प्राचीन आरंभिक वर्णन है। लम्बे छोटे जल स्रोत इसी लिये कहा है क्योंकि उन दिनों हिमालय की नदियों की घाटियां छोटी थीं। ऋग्वेद में हिमालय सम्बन्धी अन्य कई प्रसंग हैं। राजा खेल व उस की पत्नी की कथा भी आती है। उन्हीं के नाम पर हिमालय

के कुछ क्षेत्रों के नाम कर्णका खेल, जंगल खेल व ईशा खेल आदि पड़ गये।

भारत का सारा शिव साहित्य हिमालय से ओत-प्रोत है क्योंकि हिमालय–दुहिता पावर्ती सदा शिव के साथ रहती है। केण–उपनिषद् में पार्वती को "उमा हेमवतीम्" कहा गया है। वहीं एक कथा दी है कि पावर्ती हिमालय से उतर कर देवताओं को उपनिषद्–ज्ञान का वरदान देने आई थी जिस से उपनिषदों का जन्म हुआ। पावर्ती पर्वतों के देवता शिव की जीवन संगिनी और पावन गंगा की छोटी बहिन थी। कथा की ऐतिहासिक व्याख्या यह है कि उपनिषदों का जन्म हिमालय की कन्दराओं के निवासी तपस्वी, ऋषि मुनियों द्वारा हुआ था। आदि कवि बाल्मीकि भी हिमालय को न भुला सके। राम की उपमा देते हुए 'रामायण' में उन्हों ने लिखा 'स्थैर्येर्ण हिमवानिव :" अर्थात् राम दृढ़ता में हिमालय के समान हैं। राम व बाल्मीकि के समय भी हिमालय भारतीय श्रद्धा का इतना बड़ा केन्द्र था कि प्रभु राम की तुलना उस से की गई।

महाभारत के "अर्जनदिग्विजय पर्व में हिमालय के सब क्षेत्रों का वर्णन मिलता है। श्री कृष्ण व रुक्मणी ने भी हिमालय की परम पावन तपो भूमि में साधना द्वारा पुत्र प्रधुम्न प्राप्त किया था। पांडुओं के पिता महाराज पांडु का अधिक जीवन हिमालय के आंचल में बीता। महाभारत के युद्ध के बाद जो कुछ लोग बचे वे सभी हिमालय की मिट्टी में ही लीन हो गये। गिरिराज हिमालय की पुण्य पवित्र मनोहारी भूमि ही, 'महाभारत' में वर्णित 'स्वर्गद्वार' थी।

भारत के तीन प्रमुख देवता––शिव, विष्णु व ब्रह्मा हिमालय में ही निवास करते हैं। शिव शंकर कैलाश पर, विष्णु गण्डकी नदी के उद्गम पर और ब्रह्मा ब्रह्माप्रुत्र नदी पर विराजमान हैं। शिव पार्वती के पुत्र गणेश ही भारतीय पूजाविधि में सब से पहिले पूजे जाते हैं। हिमालय न होता तो इन देवताओं के आधार पर रचा गया हिन्दुओं का पूजा–विधान भी कैसे अस्तित्व में आता। इसी लिये हिन्दी के विख्यात कवि माखन लाल चतुर्वेदी ने कहा है, ' हिमालय ऊंची चोटियों का ही नाम नहीं अपितु हिमालय मानो हमारी संस्कृति का ही दूसरा नाम है।"

महाकवि काली दास "कुमार संभव" के आरंभ में ही हिमालय को देवता कह कर बन्दना कर उठे :—

अस्तयुत्तर स्याम दिशि देवात्मा
हिमालयो नाम नगाधिराजः।

अर्थात् उत्तर दिशा में देवताओं के समान पवित्र आत्मा वाला हिमालय नाम का पर्वतों का राजा खड़ा है। और उसी "कुमार संभव" में कितनी सुन्दर व प्यारी कल्पना की कालीदास ने–– 'ब्रह्मा जी ने स्वयं हिमालय को 'गिरि राज'

कह कर भारत के उत्तर में पहरा देने भेज दिया था। आज तक वह पिता की आज्ञा का पालन कर रहा है।" कालीदास के "मेघदूत" में अलकापुरी का यक्ष बादल को कहता है— "ओ बादल ! तुम उधर उड़ जाना जिधर पवित्र कैलाश के उच्च शिखर हैं। स्वेच्छा से उन बर्फ से ढकी चोटियों पर विचरण करना और अपने विशाल पंखों को उन महान् हिम-शृंगों पर फैला कर उड़ना।" कालीदास के "रघुवंश" में राजा रघु के प्रसंग में हिमालय का सजीव व विस्तृत वर्णन आता है। उस से अगली पीढ़ी के प्रसिद्ध नाटक 'मुद्रा राक्षस' में चन्द्रगुप्त के राज्य का विस्तार हिमालय तक बताया गया है। चाणक्य ने अपने 'अर्थशास्त्र' में हिमालय को "दैवी पर्वत" के नाम से सुशोभित किया। यही हिमालय बुद्ध व महावीर की जन्म–भूमि है।

हिमालय, उस के पवित्र, मनोरम व शांत हिमशृंग तथा अलकापुरी न होते, तो कुमार संभव, मेघदूत रघु, वंश व कामायनी जैसी महान् रचनाओं की कल्पना कहां से आती ? हिमालय की समाधिस्थ गहन कन्दरायें न होतीं, तो वेद उपनिषद् का अमर ज्ञान ऋषि मुनी कहां से प्राप्त करते ? इसी लिये डा० राजेन्द्र प्रसाद ने कहा था "भारत में सभी ने सांसारिक मायाजाल से ऊपर उठने के लिये वाल्मीकि व व्यास के युग से लेकर हिमालय की प्राकृतिक शोभा का रसास्वादन किया है।"

प्रवासी भारतीयों के साथ हिमालय विदेशों में भी पहुंचा। आज भी थाईलैंड (स्याम) में जिस सिंहासन पर राज्या–भिषेक किया जाता है उसका नाम कैलाश पर्वत है। दक्षिण भारत का निवासी, "किरातार्जुनीय" का कवि भारवि हिमालय को स्वर्ग से भी श्रेष्ठ मानता था। कैलाश मानसरोवर की अद्वितीय शोभा का वर्णन करते हुए विदेशी लेखक स्वेन हेडन लिखता है– "किसी गिरजाघर की पूजा, किसी विवाह की बरात, कोई विजय गान तथा किसी मृत्यु का प्रसंग भी मेरे मन पर इतनी अमिट छाप न डाल सका, जितनी कैलाश मानसरोवर से अंकित हुई।"

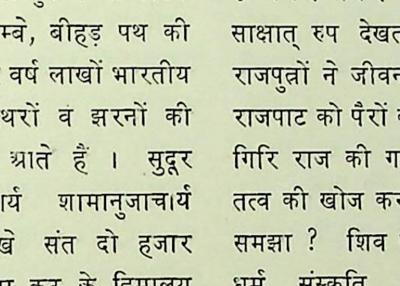
आधुनिक हिन्दी काव्य भी हिमालय पर मुग्ध हुए बिना न रह सका। विश्व कवि रवीन्द्र ठाकुर ने भारत माता को– "अम्बर चुम्बित भाल हिमालय, शुभ्र तुषार किरीटिनी" कह कर पुकारा। सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला ने "मुकुट शुभ्र हिम तुषार" व जय शंकर प्रसाद ने "हिमाद्रि तुगं शृगं से प्रबुद्ध शुद्ध भारती" तथा दिनकर ने "मेरे नगपति मेरे विशाल" गा कर हिमालय वन्दन किया। तरुण

कवि 'नेपाली' ने हिमालय को प्रेरणा स्रोत कहते हुए कहा–

गिरि राज हिमालय से भारत का
कुछ ऐसा ही नाता है ।
चालीस करोड़ों का जत्था गिरगिर
कर भी उठ जाता है ।

आधुनिक विद्वान श्री सम्पूर्णानन्द ने कितना ठीक कहा है –– "हिमालय उस शक्ति का प्रतीक है जो इस देश की संस्कृति और सभ्यता, स्वाभिमान और स्वतन्त्रता की रक्षा करती आई है ।" वास्तव में हिमालय भारत और भारत हिमालय है । यही कारण है कि बीसवीं शताब्दी के भौतिकवादी युग में भी कठिन भयंकर शीत और लम्बे, बीहड़ पथ की परवाह किये बिना हर वर्ष लाखों भारतीय हिमालय के पेड़, पत्थरों व झरनों की वन्दना करने उमड़ आते हैं । सुदूर दक्षिण के शंकराचार्य शामानुजाचार्य व माधवाचार्य सरीखे संत दो हजार मील की कठिन यात्रा कर के हिमालय दर्शन कर धन्य हुए । इसी हिमालय में लीन हो स्वामी दयानन्द, विवेकानन्द व राम तीर्थ ने आज के विश्व को अमर सन्देश दिये ।

उसी हिमालय पर आज कोई अधिकार जताये, इसे पांवों तले रौंदने के लिये आगे बढ़े, तो क्या भारतीय आत्मा हुंकार न कर उठेगी ? विश्व भर में कौन ऐसा समाज व देश है जिस के धर्म, संस्कृति व साहित्य में हिमालय व्याप्त है ? ऐसा कौन देश है जिस के लोक गीतों का स्वर हिमालय और जिस के लोक नृत्य की ठुमक हिमालय है ? किस देश के करोड़ों हृदयों की धड़कन हिमालय है ? किस देश का हर व्यक्ति हिमालय के कंकर कंकर में भगवान शंकर का साक्षात् रुप देखता है ? किस देश के राजपुत्रों ने जीवन, जवानी और राजसी राजपाट को पैरों की ठोकर मार कर इसी गिरि राज की गहन कन्द्राओं में अमर तत्व की खोज करते रहना अधिक श्रेष्ठ समझा ? शिव का शिवालय, भारत के धर्म संस्कृति का पूजालय..........यह हिमालय भारत का है और भारत का रहेगा ।



संस्कृत के चम्पूकाव्य

○

मदन लाल वर्मा

संस्कृत साहित्य का आरम्भ गद्य और पद्य दोनों क्षेत्रों में हिन्दी गद्य साहित्य की भान्ति अर्वाचीन नहीं, अपितु इस की परम्परा आज से कई सहस्र वर्ष पूर्व वैदिक युग से चली आ रही है। परिनिष्ठित लौकिक संस्कृत साहित्य का स्वरूप हमें रामायण महाभारत काल से ही मिलना आरम्भ हो जाता है। भास, कालिदास और अश्वघोष तक पहुंचते विकास की पूर्ण प्रौढ़ता परिलक्षित होने लग जाती है। जहां उस समय संस्कृत साहित्य में महाकाव्यों और नाटकों के विशेष रूप से दर्शन होते हैं, वहां चम्पूकाव्य का भी रूप मिल जाता है।

"गद्यपद्यमयं मिश्रं चम्पूरित्यभिधीयते" महापात्र विश्वनाथ ने अपने लक्षण ग्रन्थ "साहित्यदर्पण" में चम्पू का उपरिलिखित लक्षण प्रस्तुत किया है। उन्होंने कहा है, कि जिस काव्य में गद्य और पद्य का सुन्दर मिश्रण हो, उस "चम्पू" के नाम से पुकारा जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं, कि चम्पू में द्राक्षा और मधु का सम्मिश्रण है,[1] वाद्य और संगीत का समन्वय है[2]। जिस प्रकार केवल गीत ध्वनि उतनी मादकता, मधुरता और तन्मयता उत्पन्न नहीं कर सकती, जितनी कि वाद्यध्वनि सहित कर सकती है, उसी प्रकार केवल गद्य अथवा केवल पद्य में अकेले उतना चमत्कार नहीं, जितना दोनों के सम्मिश्रण से है। यह ठीक है कि गद्य का अपना अलग महत्त्व है और पद्य का अपना पृथक् स्थान है, परन्तु जब ये दोनो सम्मिलित रूप से आ जाएं, तब साहित्य की चरम आनन्दोपलब्धि का कोई ठिकाना नहीं। यही कारण है कि चम्पूकाव्य का साहित्य में एक विशेष स्थान है।

इस काव्य की निर्माण परम्परा का अनुवर्तन प्रथम शताब्दी ईस्वी के पहले ही हो चुका था। जितने भी प्राचीनतम ग्रन्थ हमें इस समय संस्कृत साहित्य में मिलते हैं, उन सब में प्राय: गद्य–पद्यमयी

१. विश्वगुणादर्श, ४
२. चम्पूरामायण, बालकाण्ड, ३

भाषा के उदाहरण हमें मिल जाते हैं। यही नहीं, अपितु बौद्ध, जातक–ग्रन्थों में भी इस प्रकार की भाषा का पर्याप्त रूप से प्रयोग किया गया है। "जातकमाला" और हरिषेण की प्रशस्ति में गद्य–पद्य सम्मिश्रण का स्वरूप दृष्टिगोचर होता है।

भारतवर्ष के इतिहास में गुप्त युग को स्वर्णयुग के नाम से पुकारा जाता है। उस काल में सभी कलाओं में विशेष उन्नति हुई। उत्कृष्ट संस्कृत साहित्य का भी उस समय निर्माण हुआ। उस समय के शिलालेखों में चम्पूकाव्यों की रचना का उल्लेख लग–भग चतुर्दश शताब्दी से होना पाया जाता है। किन्तु काव्य–शास्त्रों में वर्णित चम्पूकाव्य के सम्पूर्ण लक्षणों से युक्त ग्रथों का निर्माण इस से चार सौ वर्ष पूर्व लगभग दसवीं शताब्दी से होना मिलता है। और यही अधिक उपयुक्त जान पड़ता है।

सब से पहला चम्पू त्रिविक्रम भट्ट का 'नलचम्पू' है, जिसे 'दमयन्तीकथा' भी कहा जाता है। इस काव्य में वर्णित गाथा प्रसिद्धतम राजा नल और दमयन्ती की है। इस का कथानक प्राय: सभी पढ़े लिखे व्यक्तियों को ज्ञात है। इस चम्पू के लेखक वही त्रिविक्रम भट्ट हैं, जिन्होंने राष्ट्रकूट वंशीय राजा इन्द्र तृतीय के ९१५ ईस्वी के नौसारी वाले दान पत्र को लिखा था। यह बात अब प्रमाणित हो चुकी है। इन्होंने एक और चम्पूकाव्य भी लिखा था, जिसका नाम है "मदालसाचम्पू"। मदालसा के विषय में निम्न–लिखित पंक्तियां संस्कृत साहित्य के रसिकों में बहुत प्रचलित हैं :–

शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरंजनोऽसि,
संसारमाया परिवर्जितोऽसि ।

० ० ०

संसारस्वप्नस्त्यज्य मोह निद्राम्,
मदालसा वाक्यमुवाच पुत्रम् ।।

इसका समय दसवीं शताब्दी का प्रारम्भ है। इसी शताब्दी के लग–भग दो जैनमुनियों का भी पता चलता है, जिन्होंने चम्पूकाव्य लिखे। उन के नाम ये हैं : (१) हरिश्चन्द्र और (२) सोमदेव। हरिश्चन्द्र ने "जीवनधरचम्पू" लिखा और सोमदेव ने "यशस्तिलक चम्पू" लिखा। हरिश्चन्द्र का चम्पूकाव्य नवम शताब्दी में लिखे गए गुणभद्र के "उत्तरपुराण" का आधार लेकर लिखा गया है। इस के अतिरिक्त उस पर "धर्मशर्माम्युदय" नामक महाकाव्य का भी प्रभाव पड़ा है। श्री नाथूराम जैनी ने अपनी पुस्तक "जैनसाहित्य और इतिहास" के द्वितीय संस्करण में पृष्ठ ३०३ पर यह बात लिखी है कि यह ग्रन्थ किसी दूसरे हरिश्चन्द्र का है, जो महाकाव्यकार हरिचन्द्र से भिन्न था।

सोमदेव राष्ट्रकूट के राजा कृष्ण तृतीय का आश्रित कवि था, ऐसा संस्कृत

साहित्य के इतिहास ग्रन्थों को पढ़ने से पता चलता है।

इन चम्पूकाव्यों के अतिरिक्त भोजराज (१००५।१०५४ ईस्वी) ने "रामायण चम्पू" लिखा। इस में प्रसिद्ध राम कथा है। अभिनव कालिदास (११वीं शताब्दी) ने "भागवतचम्पू" लिखा। इसका आधार श्री मद्भागवत् महापुराण है। सोड्ढल नामक कवि (११वीं शताब्दी) ने "उदयसुन्दरी कथा" की रचना की। यह चम्पू काव्यों में बहुत प्रसिद्ध ग्रन्थ है। सोमेश्वरदेव ने "कीर्तिकौमुदी" नामक चम्पू ग्रन्थ का निर्माण किया। वासुदेव (१५वीं शताब्दी) ने 'गंगावंसनुरथ चरित' चम्पूकाव्य रचा। अनन्तभट्ट (१५वीं शताब्दी) ने "भारतचम्पू" लिखा।

विजय नगर के राजा अच्युत राय (१६वीं शताब्दी) ने "गोपालचम्पू" का निर्माण किया। मित्रमिश्र (१७वीं शताब्दी) ने "आनन्दचम्पू" तथा चिदम्बर (१६वीं शताब्दी) ने भागवत कथा का आधार ले कर "भागवत चम्पू" लिखा। एक और कवि शेषकृष्ण (१६वीं शताब्दी) ने "पारिजातहरण चम्पू" का निर्माण किया। १७वीं शताब्दी में नीलकण्ठ दीक्षित नामक एक उत्कृष्ट कवि ने एक बहुत सुन्दर भावपूर्ण चम्पूकाव्य लिखा, जिस का नाम है: "नीलकण्ठ विजय"। इस में भावमयता कूट कूट कर भरी पड़ी है। इसी प्रकार चक्र कवि (१७वीं शताब्दी) ने द्रौपदी परिणय चम्पू" लिखा और वेंकटाकुवरी (१७वीं शताब्दी) ने चार चम्पू काव्यों की रचना की: (१) विश्व गुणादर्श चम्पू: '(२) वरदाम्युदय चम्पू, इसे "हस्तिगिरि चम्पू" भी कहा जाता है: (३) उत्तर चम्पू; और (४) श्री निवासचम्पू।

वाणेश्वर कवि (१८वीं शताब्दी) ने एक अर्धऐतिहासिक चम्पू ग्रन्थ का निर्माण किया। जिसका नाम है: 'चित्रचम्पू'। एक अज्ञातकालीन कवि कृष्ण ने "मन्दारमरन्द चम्पू" काव्य की रचना की और अनन्त नामक कवि ने "चम्पू–भारत" ग्रन्थ लिखा।

इस प्रकार हम देखते हैं, कि संस्कृत साहित्य में चम्पूकाव्य ग्रन्थों की रचना भी कम नहीं हुई। यह अलग बात है कि इनका प्रसार और प्रचार उतना न हो पाया, जितना नाटकों और महाकाव्यों का हुआ। परन्तु फिर भी उक्त विवरण से यह तो स्पष्ट हो ही गया है कि संस्कृत कवियों ने इस क्षेत्र में भी अपना नाम अमर किया।

*

ग्रीक आचार्यों की साहित्यिक संस्थापनाएँ

हरीश करुण

ग्रीक संस्कृति और चिंतन पाश्चात्य संस्कृति और चिंतन का मूल स्रोत है। पाश्चात्य जगत ने उस के इस ऋण को मुक्तकंठ से स्वीकार किया है। यूनान योरुपीय संस्कृति के प्रत्येक अंग—राज-विधान, दर्शन-शास्त्र, दंडनीति, साहित्य के इतिहास का प्रथम सर्ग ठहरता है। यूनानी विचार-धारा में से भी साहित्य ने ही योरुप की भावी संततियों को सर्वाधिक प्रभावित किया है। यूनान ने ऐसे ऐसे तात्त्विक, महाकवि, त्रासदीकार कामदी-लेखक, प्रगति-रचयिता, वाग्मी वक्ता तथा इतिहासज्ञ उत्पन्न किए कि जिन की इतिहास में कोई तुलना नहीं। प्लेटो और अरस्तू ग्रीक संस्कृति के दो महान् स्तंभ एवं आचार्य माने गए हैं, जिनका प्रभाव कलान्तरों पश्चात् भी विश्व की चिंतन-परंपरा में पूर्ववत और अक्षुण्ण बना हुआ है। देमेत्रियस और लोंजाइनस उनकी परम्परा को आगे बढ़ाने वाली दो कड़ियाँ हैं। यहाँ इन चारों प्रमुख ग्रीक आचार्यों की महत्त्वपूर्ण साहित्यिक संस्थापनाओं को संक्षेप में प्रस्तुत किया जाता है।

प्लेटो (४२६–३४७ ई० पू०) सुकरात का प्रधान शिष्य था। प्लेटो को पाश्चात्य दर्शन का आदि आचार्य कहा जा सकता है। उस ने होमर, त्रासदीकारों, इतिहासज्ञों सुकरात के समकालीनों और सब से बढ़कर स्वयं सुकरात के प्रभावों को ग्रहण किया है। परन्तु उस की कृतियों में केवल बाह्य प्रभाव ही तदाकार नहीं हुए हैं, प्रसुत प्लेटो की अपनी विशिष्ट प्रतिभा की छाप भी उन पर स्पष्टतया परिलक्षित होती है।

प्लेटो के दर्शन का प्रमुख अवयव प्रत्यय-सिद्धांत (Theory of Idea) है। यह एक ऐसा द्वैध विचार है जो एक अन्य सार-रूप, इन्द्रियातीत अथवा सूक्ष्म जगत की स्थिति को मान्यता देता है जो इस ऐहिक, अल्पकालिक, मर्त्य, स्थूल, क्षणिक और छायामय संसार से

अधिक सत्य है । प्लेटो की शिक्षा का दूसरा महत्त्वपूर्ण तत्व आत्मा की अमरता है, जो (Phaedo) में अत्यन्त सुन्दर रीति से व्याख्यात हुआ है । उस के 'गणतंत्र' में आदर्श राज का सम्यक् निरुपण हुआ है परन्तु इस के साथ-साथ आचारशास्त्र, राजनीति, प्रशिक्षा, मनोविज्ञान, सौन्दर्य- शास्त्र, अर्थ शास्त्र, अध्यात्म-विद्या इत्यादि पर भी उसकी अंतर्भेदिनी दृष्टि का प्रकाश पड़ा है । अन्य कृतियों में शैशव-ज्ञान, शब्द-व्युत्पत्ति, निरुक्त, भाषण-शास्त्र, प्रकृति-विज्ञान और संविधान (विधान-संहिता में) इत्यादि पर वह पुनर्विचार करता है ।

प्लेटो की शैली अत्यन्त मनोरम और आकर्षक है । उस में करुण के उद्रेक और धार्मिक विश्वासों की ओर प्रवृत्त करने का महान् सामर्थ्य है । उस की पद रचना सर्वत्र काव्यात्मक और लाक्षणिक है । ग्रीक की गद्य-विद्या का वह अप्रतिम उद्गाता है और दार्शनिक और चिंतक के रुप में उस की बराबरी कोई नहीं कर सकता । गुण और परिमाण के संमजन ने साहित्य और चिंतन के इतिहास में प्लेटो को सर्वोच्च स्थान का अधिकारी बना दिया है । एक प्रमुख वैचारिक व्हाइटहेड के शब्दों में परवर्ती दर्शन प्लेटो की व्याख्या मात्र ही है ।

प्लेटो के चिंतन की तीन विशेषताएं हैं —(१) विशुद्ध ज्ञान के प्रति आकर्षण, (२) वैयक्तिव और सामाजिक नैतिकता पर आग्रह' (३) द्वन्द्वात्मक तर्क-पद्धति । प्लेटो के लेखों को समझने के लिये इन तीन तथ्यों को निरंतर ध्यान में रखना अनिवार्य है । प्लेटो को उच्च कोटि की काव्यात्मक प्रतिभा मिली थी, किन्तु इन्हीं नैतिक और दार्शनिक उद्देश्यों से प्रेरित होकर उस ने कवि की भर्त्सना की और आदर्श प्रजातंत्र से उसको निष्कासित करने का विचार किया । वस्तुतः प्लेटो लोक जीवन का परिष्कारकर्त्ता था । प्लेटो ने साहित्य के विषय में कोई अवस्थित निबन्ध नहीं लिखा है और न वह साहित्यिक चिंतन को कहीं प्रमुखता देता है, किन्तु उस के बिखरे हुए साहित्यिक विचारों से भावी युगों को प्रेरणा मिली ।

प्लेटो के सम्बन्ध में एक और बात विशेष रूप से ध्यातव्य है कि उस ने स्वभावतः दार्शनिक होते हुए भी अपनी प्रखर समीक्षात्मक प्रतिभा का परिचय दिया । यह सही है कि उसमें कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ और दुराग्रह भी मौजूद थे जिन्हों ने उस की समीक्षा को खण्डित और कुरूप बनाया है । कविता पर प्रहार करते समय कहीं कहीं तो वह अपने प्रतिद्वन्द्वी हेत्वाभासवादियों को भी चित कर देता है । विशुद्ध और सहज विचार के प्रति प्लेटो की हठवादिता इतनी अनिवार है कि उस की समीक्षा दोषपूर्ण हो गई है । जहां उसे कविता का स्वागत इसलिए करना चाहिए था कि वह व्यक्ति

को असंभाव्य और अनुपलब्ध के निकटतर ले जाती है, वहां उसने यह कह कर उसकी भर्त्सना की कि वह ह्रासात्मक है। किन्तु इन दुर्बलताओं के बावजूद वह काव्य-विधा के शीर्षतम समीक्षक के रूप में हमारे सामने आता है। उसकी कृतियों में काव्य, काव्य-प्रतिभा और काव्याकर्षण का निरूपण उपयुक्त रीति से न होने पर भी इतना यथार्थ हुआ है कि उस से पहले और बाद में नहीं हो पाया। इसी तरह उसने अनुकरण सिद्धांत की अत्यन्त यथार्थ, मौलिक और सम्यक् व्याख्या प्रस्तुत की। साहित्य के अवयवों और उन में से भी कविता-सम्बन्धी टिप्पणियां उसे एक महान्तम आलोचक के रूप में प्रतिष्ठित करती हैं। प्लेटो के समान कोई भी परवर्ती समीक्षक अपने अंतरतम से यह स्वीकार नहीं करता कि कवि न केवल नीतिवादी, अनुकर्ता और मात्र विषय का प्रस्तोता ही है, प्रसुत इस से भी बढ़कर कुछ है।

वस्तुतः अरस्तू (३८४-३२२ ई० पू०) से ही साहित्य समीक्षा और शैली-विवेचन प्रारंभ होता है। योरुपीय विचारणा के इतिहास में पुनरुत्थान तक अरस्तू की तूती बोलती थी। 'पुरातन विचारणा' से सम्बन्धित प्रायः प्रत्येक विषय का उसने सम्यक् विवेचन किया है। सर्वप्रथम उसने ही साहित्य और कला की सुनिश्चित और क्रमबद्ध व्याख्या योरुपीय जगत् को भेंट की। सम्यक् पूर्वापरता की प्रवृति, वर्गीकरण की क्षमता, मन का संतुलित आचरण और महान् व्यावहारिक ज्ञान अरस्तु की प्रमुख विशेषताएं हैं जिन के आधार पर अपने विषय को वैज्ञानिक स्तर देने में उसे अभूतपूर्व सफलता मिली। उस में सभी प्रकार के ज्ञान-ग्रहण की अद्भुत क्षमता थी। उस ने न केवल तात्कालिक ज्ञान को आकलित एवं वर्गीकृत किया प्रत्युत कई महत्वपूर्ण तथ्य अपनी ओर से भी जोड़े। उस में दुराग्रह का सर्वथा अभाव था और विषयों को वह वैज्ञानिकता के आधार पर परखता था। उस ने संचयन, पर्यवेक्षण और वर्गीकरण करते समय इस बात का विशेष ध्यान रखा है कि विषय जीव-शास्त्र, राजनीति अथवा साहित्य सम्बन्धी है। वह विषय को विशुद्ध उसी रूप में देखने का आदी था। उसकी तर्क-शास्त्र और दर्शन-शास्त्र की शब्दावली का अपना एक विशिष्ट प्रकार है। अरस्तू अपने गुरू प्लेटो से यद्यपि पर्याप्त प्रभावित था, परन्तु उस के दर्शन की प्रमुख मान्यताओं का उस ने सबल खण्डन किया। उसका दृष्टिकोण अपने गुरू के दृष्टिकोण से भिन्न था। प्लेटो के विचारों में अध्यात्म, तर्क और नैतिक अभिप्राय घुलमिल गये हैं। इस के विपरीत अरस्तू ने वैज्ञानिक अनुसंधान की परिपाटी अपनाई और प्लेटो के विशुद्ध नीतिपरक दृष्टिकोण को छोड़कर अपने लिए एक नवीन

मार्ग निर्धारित किया । वह मानवतावादी था । अतएव उस ने समग्र मानव जीवन को कला का विषय माना ।

अरस्तू की बहुमुखी प्रतिभा का पता इस बात से चलता है कि ज्ञान–विज्ञान का कोई भी क्षेत्र उस से अछूता नहीं रहा । उस के विवेच्य विषय तर्क–शास्त्र, आधि–भौतिक–शास्त्र, मनोविज्ञान, भौतिक–विज्ञान, ज्योतिर्विज्ञान, राज नीति शास्त्र, आचार और साहित्य–शास्त्र आदि हैं । साहित्य–शास्त्र से सम्बद्ध उस के दो ग्रन्थ हैं––भाषग–शास्त्र और काव्य–शास्त्र । भाषण–शास्त्र में भाषण–कला के निमित्त से अन्य विषयों के अतिरिक्त भाषा और भाव का विवेचन किया गया है और काव्य–शास्त्र में काव्य के मौलिक सिद्धांतों का । अरस्तू ने ही सर्वप्रथम यह अनुभव किया कि भाषण–शास्त्र साहित्यिक शैली का एक विशिष्ट प्ररूप है । इस के अंतर्गत भावना–प्रसूत आवेग को उस ने हीनतर माना । उस ने उन तमाम सूत्रों को पकड़ा जिन पर वक्ता को विशेष ध्यान देना चाहिए और उस ज्ञान की ओर भी संकेत किया जो कि वक्तृत्व–कला में निष्णात् बनने के लिए अपेक्षित है । उस ने भाषण –शास्त्र के क्षेत्र में एसे ऐसे सारभूत तथ्य प्रस्तुत किए कि बाद के लोगों के कहने के लिये बहुत कम छोड़ा अरस्तू यहां अपने विषय की एक भाषण–शास्त्रज्ञ की तरह व्याख्या नहीं करता वरन् एक सच्चे साहित्य लोचक और भाषा और शैली के अप्रतिम मर्मज्ञ के रूप में हमारे सामने आता है ।

काव्य–शास्त्र अरस्तू का सामान्यत: काव्य पर और विशेषतया नाटक पर एक निबंध है । प्लेटो ने अपने आदर्श प्रजातंत्र से नाटक का निष्कासन यह कहकर कर दिया कि अनुकरण निरापद नहीं है और आवेग का सर्व सामान्य मनुष्यों के लिये कोई स्थान नहीं है । अरस्तू ने अधिक समझदारी से काम लिया । वह इस तथ्य से भली–भांति अवगत था कि इन सहज प्रवृत्तियों का शमन नितांत असम्भव है । उस ने विभिन्न तथ्यों को सम्मुख रख कर आवेग का उपयोग आत्मा की शुद्धि के लिए किया और कवि को आत्मा के संस्कारकर्ता के रूप में प्रतिष्ठित किया । अरस्तु का दृष्टिकोण काव्य के प्रति उदार है । वह स्पष्ट तया घोषित करता है कि कला का मूल प्रयोजन प्रसन्नता प्रदान करना है और काव्य के समान कोई भी वस्तु इस की पूर्ति नहीं कर सकती । इस प्रसन्नता का कारण पाठक का कवि की भावाभिव्यक्ति में तदाकार हो जाना है । रचयिता का कौशल कला–वैशिष्टय में नहीं, प्रसुत एक व्यक्ति के दूसरे में समीकरण हो जाने में है ।

साहित्य–शैलीकार के रूप में अरस्तू के समकक्ष कोई नहीं ठहर सकता ।

परवर्ती युगों में कई लेखकों ने उस के अनुकरण का प्रयास किया है, किन्तु न तो पुरातन काल में और न अधुना युग में कोई महत्त्वपूर्ण रचना प्रस्तुत कर सका है। संक्षेप में अरस्तू का काव्य–शास्त्र ग्रन्थ योरुपीय आलोचना–शास्त्र का सर्वाधिक मान्य तथा महत्तम ग्रन्थ है।

देमेत्रियस का निबंध 'शैली तत्व' (आन स्टाइल) एक ऐसे परवर्ती लेखक का उदाहरण प्रस्तुत करता है जिस ने अरस्तू की परंपरा को आगे बढ़ाया और कुछ लक्षण अपनी ओर से भी जोड़े। देमेत्रियस यद्यपि अरस्तू के पद–चिन्हों पर चला है किन्तु उस के विषय–निबंधन की शैली पर्याप्त भिन्न है। सिद्धांत और प्रणाली की अपेक्षा शैली की समस्याओं पर ही उस का ध्यान अत्याधिक केन्द्रित रहता है। देमेत्रियस की एक प्रमुख विशेषता उस के द्वारा किए गए क्रमशः 'प्रसन्न', उदात्त', मसृण और 'अर्जस्वी' शैली के ये चार प्रभेद हैं। इन में से प्रत्येक का सम्यक् विवेचन उस ने आगे चलकर किया है। उस के साथ ही प्रत्येक शैली से सम्बद्ध दोष की ओर भी संकेत किया है, जो संभवतः विषय–वस्तु को ठीक प्रकार से न सम्भाल सकने के कारण प्रादर्भूत होता है। उक्त दोष से शैली में विपरीत लक्षण का आरोप हो जाता है और वह क्रमशः 'नीरस', 'कृत्रिम', 'अहातमक' तथा 'अरोचक शैली कहलाती है।

देमेत्रियस के निबंध का महत्व सिद्धांतों पर नहीं प्रत्युत सुरुचि सिद्धांत की क्रियात्मक जांच–पड़ताल पर आधृत है। उस के निबंध की एक बहुत बड़ी विशेषता सम्मोहन क्षमता और महान् यूनानी लेखकों के उद्धरण हैं। उस ने अपने कथनों में सर्वत्र प्लेटो, थुक्युदिदेस, देमोस्थेनेस, अरिश्फनेस तथा अन्य लेखकों की कुछ सुंदरतम पंक्तियों का दृष्टांत के रूप में प्रयोग कर अपने समूचे निबंध को इतना सुरुचिपूर्ण और सरस बना दिया है कि उस का नीरस और जी उचाट करने वाला सैद्धांतिक आकार ओझल हो गया है। पाश्चात्य समीक्षा में शैली तत्त्व' का वस्तुतः अत्यन्त ऊंचा स्थान है और अपने ढंग की यह अकेली कृति है।

ग्रीक साहित्य–शास्त्र में अरस्तू के प्रसिद्ध निबंध 'काव्य–शास्त्र' के पश्चात् दूसरा स्थान लोंजाइनस के 'उदात्त तत्त्व' का है। इस का अंग्रेजी रूपांतर 'आन दि सब्लाइम' पाश्चात्य साहित्य में अत्यन्त प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका है। उसका यह निबंध अपने ढंग का अद्वितीय लेख है, जिस में रचनाकार ने परम्परागत परिपाटी को छोड़कर नवीन सिद्धांतों की स्थापना और व्याख्या उपस्थित की है। लोंजाइनस भाषण–शास्त्र का प्राध्यापक था और एक अन्य लेखक के भाषण–शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ की असंगतियों को सुधारने के लिए ही उस ने अपना प्रसिद्ध

निबंध लिखा था । विषय यद्यपि पुराना और घिसापिटा है किन्तु लोंजाइनस ने इसे बिल्कुल नये ढंग से सूत्रबद्ध किया जिस से अपने ढंग का यह एक अन्यतम ग्रन्थ बन गया । उस के विचारों में क्लासिकीय और रूमानी विचारों का सम्मिश्रण है तथा प्लेटो, अरस्तु, तोरेस और अनेक अन्य चिंतक–मनिषियों और विचारकों के प्रभाव की गंध मिलती है । वह शक्ति, लैटिन और हिब्रू का उद्भट विद्वान था । उस ने इन सभी भाषाओं से उद्धरण और उदाहरण दिए हैं जिन से उक्त निबंध अत्यन्त गंभीर और चमत्कारपूर्ण हो गया है ।

लोंजाइनस मनोविज्ञान और विचारों से सम्बन्धित तथ्यों का विश्लेषण इतनी सूक्ष्मता से करता है कि आश्चर्य–चकित रह जाना पड़ता है । कैकिलिउस के औदात्य–विषयक दोषों का प्रदर्शन करता हुआ वह हमारे सामने प्रचुर सामग्री प्रस्तुत करता है, जिस ने इस बात का विवेचन कि हम अपनी स्वाभाविक क्षमता को औदात्य के किसी निश्चित स्तर तक उन्नमित कर सकते हैं, अनावश्यक समझ कर छोड़ दिया है । साथ ही वह आडम्बरपूर्ण, सुरुचि–विपन्न तथा झूठी उदात्तता के लिए लेखकों की तीव्र भर्त्सना करता है । शब्द की बाह्य चकचौंध से, जो उदात्तता के निमित होती है, वह पराभूत नहीं होता । इस अवसर पर महान् से महान् लेखकों को भी वह क्षमा नहीं करता ।

अस्तु, लोंजाइनस की सब से बड़ी महत्ता इस बात में है कि उस ने कला के एक नवीन प्रयोजन की ओर संकेत किया । उस का मत है कि कला न तो केवल शिक्षा और न केवल मनोरंजन प्रदान करती है वरन् वह श्रोता अथवा द्रष्टा के मन में अभिनव आह्लाद और आनन्द की सृष्टि करती है । उदात्त की कल्पना लोंजाइनस ने उस वैशिष्ट्य के रूप में की जिस से उस आनन्द की सृष्टि और उस आनन्द की प्राप्ति होती है । उदात्त की सर्जना पांच उपकरणों से होती है । ये पांच उपकरण क्रमशः (१) विचारों की महानता, (२) भावों का उद्दाम तथा शक्तिशाली प्रतिपादन, (३) अलंकारों की समुचित योजना, (४) उत्कृष्ट अभिव्यक्ति, और, (५) गरिमामय रचना–विधान हैं । इन में से प्रथम दो का सम्बन्ध कलावस्तु से और शेष तीन का रूप से है । लोंजाइनस ने इन पांच तत्त्वों की विशद व्याख्या प्रस्तुत की है और उदात्त की अन्य विशेषताओं पर प्रकाश डाला है । उस के इस ग्रन्थ की गणना योरुपीय समीक्षा के शीर्षस्थ ग्रन्थों में होती है । वस्तुतः साहित्यिक समीक्षा की सर्वोच्च तथा भव्यतम उपलब्धियों में से यह एक है ।

●

हिन्दी प्रेमियों के लिए

अपूर्व अवसर

जनसाहित्य एवं सप्तसिन्धु के

आगामी विशेषांक

अक्तूबर-नवम्बर मास में

स्व० पं० जवाहरलाल नेहरू जी की पुण्य-स्मृति में प्रकाशित किये जा रहे हैं।

जन-साहित्य	सप्तसिन्धु
हरियाणवी लोक मानस की एक झलक	उपभाषा विशेषांक (हरियाणवी एवं पर्वतीय लोक भाषाओं का वैज्ञानिक अध्ययन)

इन विशेषांकों में देश के सुप्रसिद्ध भाषाविज्ञों एवं लोक-साहित्य के विशेषज्ञों के लेख होंगे।

विशष नोट :--पाठकों से विशेष अनुरोध है कि वे अपनी प्रति अभी से सुरक्षित करवा लें। प्रत्येक प्रति का मूल्य एक रुपया। स्थायी ग्राहकों से अतिरिक्त मूल्य नहीं लिया जायेगा।

निदेशक,
हिन्दी विभाग, पंजाब, पटियाला

श्री लाल सिंह, डायरैक्टर जनरल, भाषा विभाग, पंजाब, पटियाला द्वारा प्रिंटिंग एण्ड स्टेशनरी डिपार्टमैंट, पंजाब, पटियाला से छपवाकर प्रकाशित किया गया।

सम्पादक—डा० परमानन्द

सप्तसिन्धु

सितम्बर, १९६५

हिन्दी विभाग, पंजाब, पटियाला

५० पैसे

एक साथ चलो—

मिलजुल कर काम करो !

"देश के अलग अलग भागों में रहने वाले लोगों की धारणाएँ कुछ खास मामलों में चाहे जितनी भी दृढ़ हों, उन्हें यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि वे पहले भारतीय हैं, और यह कि उन्हें अपने सभी विवादों का हल एक राष्ट्र और एक देश के अपरिवर्तनीय ढांचे में रहकर ही करना है। आइए, हम इस एकता की भावना को दिलों में जगह देने की पूरी कोशिश करें और राष्ट्रीय एकता को मज़बूत बनाएं।"

—लाल बहादुर शास्त्री
प्रधान मंत्री



(मासिक प्रकाशन---सितम्बर, १९६५)

वर्ष १२ ग्रंक ९

सम्पादक—डा० परमानन्द

परामर्श समिति

श्री कृष्ण मधोक
(सहायक निदेशक, अनुवाद)

श्री त्रिलोकीनाथ रञ्जन
(सहायक निदेशक, कोश)

श्री ओम् प्रकाश भारद्वाज
संयोजक
(सहायक निदेशक, विकास)

श्री गुरुदत्त शर्मा
(सहायक निदेशक, अनुवाद)

श्री हरिचन्द पाराशर
(सहायक निदेशक, अनुवाद)

हिन्दी विभाग, पंजाब, पटियाला ।

पंजाब का प्रथम जैन हिन्दी कवि--मालदेव

अगर चन्द नाहटा

पंजाब और सिंध में जैन धर्म का प्रसार करीब २५०० वर्षों से निरन्तर चला आ रहा है। वैसे भगवान ऋषभ देव के पुत्र बाहुबलि का तक्षशिला पर शासन था। जैन आगमों के इस कथन से तो पंजाब से जैन-धर्म का संबंध बहुत प्राचीन काल से सिद्ध होता है। पर भ० महावीर तो स्वयं सिंध प्रदेश में पधारे थे और वहां के वीतभय-पत्तन का राजा उदायन उनका परम भक्त बन गया था। भ० महावीर के कुछ शताब्दियों बाद का पंजाब का जैन इतिहास अभी अज्ञात है। ८वीं शताब्दी से फिर इसका सिल-सिला चालू होता है। उपकेश गच्छ, खरतर गच्छ आदि जैन धर्म की कई शाखाओं के आचार्यों और मुनियों ने इसे धर्म प्रचार का केन्द्र सा बना रखा था। इस प्रदेश में हज़ारों जैनों के घर थे और मुनि गण बराबर इधर आकर धर्म प्रचार किया करते थे, बहुत से स्थानों में जैन मंदिर व उपाश्रय थे। सिंध का इलाका तो अब बहुत कुछ पाकिस्तान में चला गया है और वहां के जैनी राजस्थान आदि अन्य प्रान्तों में आकर जम गये हैं और कई व्यक्तियों ने तो इधर आकर काफी अच्छी आर्थिक उन्नति भी की है। पंजाब में आज भी जगह जगह जैन रहते हैं और आचार्यों व मुनियों का चतुर्मास और विहार बराबर होता रहता है। इसीका परिणाम है कि मांसाहार प्रधान इस प्रदेश में वे पूर्णत: शाकाहारी बने हुए हैं। व्यापार के क्षेत्र में उनका काफी बड़ा स्थान है।

पंजाब और राजस्थान का तो बहुत घनिष्ट और निकट का संबंध है। जैन मुनि धर्म-प्रचार के लिये निरन्तर भ्रमण करते रहते हैं और अधिकांश सिंध और पंजाब में धर्म प्रचार करने वाले जैन मुनि व यति राजस्थान से ही जाते रहे हैं तथा उस प्रदेश के निवासी जैनियों का भी व्यापारिक, धार्मिक और सामाजिक संबंध राजस्थान से रहा है।

इसलिये राजस्थानी भाषा की बहुत सी रचनाएं सिंध-पंजाब में भी रची गई हैं। वैसे जिस तरह राजस्थान की जैन रचनाओं में गुजराती का प्रभाव रहता है वैसे पंजाब में रची गई राजस्थानी कवियों की रचनाओं में हिन्दी का प्रभाव रहता है। यहां ऐसे ही एक जैन कवि का परिचय दिया जा रहा है जिनकी राजस्थानी और हिन्दी इन दोनों भाषाओं की मिली जुली रचनायें काफी संख्या में प्राप्त हैं। अपने समय में ही वे कवि के रूप में काफी प्रसिद्धि पा चुके थे और पंजाब के तो वे सब से पहले और विशिष्ट हिन्दी जैन कवि माने जा सकते हैं।

श्वेताम्बर जैन-समाज में बहुत से गच्छ यानि समुदाय हैं। इनमें से 'वृहद् गच्छ-बड़-गच्छ' संवत् ६६४ में प्रसिद्ध हुआ और उसकी कई शाखायें–प्रशाखायें हो गई। इनमें से एक 'भटनेरी शाखा' भी है जो कि बीकानेर राज्य के भटनेर दुर्ग से संबंधित है। भटनेर पूर्वकाल में भाटियों की राजधानी रही है और इसी से संस्कृत में ' 'भट्टिनगर' प्रसिद्ध हुआ। आजकल इसे 'हनुमानगढ़' कहते हैं। भटनेर दुर्ग में आज भी बड़गच्छ के आचार्यों की प्रतिष्ठित जैन मूर्तियां वहां के जैन मंदिर में हैं। इस गच्छ के आचार्यों के गद्दी या उपाश्रय भी भटनेर दुर्ग में था जो अब टूटी-फूटी अवस्था में है क्योंकि बहुत वर्षों से कोई यति वहां नहीं रहता। इस गच्छ का हस्तलिखित ज्ञान भण्डार भी बहुत बड़ा था पर अब वह भी इधर-उधर और अस्त-व्यस्त हो गया है। फिर भी कुछ प्रतियां वहां के एक श्रावक के यहां पड़ी हैं और कुछ देवी मंदिर में है। और बहुत सी तो अन्य स्थानों में चली गई हैं।

बड़-गच्छ की इस भटनेरी-शाखा में 'भावदेव' नामक एक चमत्कारी यति १६वीं शताब्दी के अन्त और १७वीं शताब्दी के प्रारम्भ में हो गए हैं, जिनको यहां के तत्कालीन शासक ने जब सताया तो उन्होंने हुमायू के भाई कामरां को भटनेर और बीकानेर पर आक्रमण करने के लिये तैयार कर लिया। फलतः कामरां का बीकानेर के राजा जैतसी से संवत् १५६१ में एक ऐतिहासिक युद्ध हुआ जिसका वर्णन तत्कालीन "राव जैतसी रो छन्द" नामक दो रचनाओं और "जैतसी रास" में पाया जाता है। "राव जैतसी रो छन्द" का सम्पादन इटली के विद्वान् डा० एल० पी० टेसीटोरी ने किया और एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल से इसे प्रकाशित करवाया। "जैतसी रासो" की जैन विद्वानों की लिखी हुई दो प्रतियां हमारे संग्रह में हैं और उसे "राजस्थानी" पत्रिका में प्रकाशित किया जा चुका है।

उपरोक्त "भावदेव" को संवत् १६०४ में गच्छ–नायक आचार्य का पद मिला और उन्हीं के शिष्य सुकवि मालदेव हुए, जिनकी रचनाओं का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत लेख में दिया जा रहा है। वैसे मालदेव जैन यति होने के कारण अनेक स्थानों में घूमते रहे होंगे पर प्रधानतया वे सरस्वती पत्तन ––सिरसा में रहा करते थे। प्राकृत, संस्कृत, राजस्थानी और हिन्दी चारों भाषाओं की उनकी रचनाएं प्राप्त हैं। उनके हाथ की लिखी हुई एक संग्रह प्रति भी 'विनयचन्द जैन ज्ञान भण्डार,' जयपुर के संग्रह में सुरक्षित है। उनकी रचनाओं का अच्छा प्रचार रहा है। इसलिये कई रचनाओं की तो बहुत-सी हस्तलिखित प्रतियां अनेक हस्तलिखित संग्रहालयों में प्राप्त होती हैं। प्राप्त रचनाओं में से केवल दो में ही उन्होंने रचनाकाल दिया है। इससे उनका साहित्य निर्माण का समय संवत् १६१२ के आस-पास का निश्चित होता है। संस्कृत में उनके रचित 'कल्पान्तर वाच्य' की एकमात्र हस्तलिखित प्रति बीकानेर की अनूप संस्कृत लायब्रेरी में है जो सरसा में रचित, है और जिसका परिमाण ७६५० श्लोकों का है। इस ग्रन्थ के अन्त में बड़गच्छ की ऐतिहासिक पट्टावली भी दी हुई है जिससे मालदेव की गुरु-परम्परा का भलीभांति परिचय मिल जाता है। संवत् १६१२ में इस ग्रन्थ की रचना हुई और प्रशस्ति में मालदेव का विशेषण "वाचक" लिखा हुआ है, इससे उस समय वे प्रौढ़ हो चुके होंगे। और विद्वान् के रूप में भी प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके होंगे, निश्चित होता है। इनके रचित प्राकृत पद्य बद्ध कथाओं में १ 'दीपमालिका कथा'; २'मौन एकादशी कथा' और ३ होली पर्व कथा की एक प्रति संवत् १६२९ में सरसे में ही लिखी मिली है। इन तीनों रचनाओं का श्लोक परिमाण १२५० श्लोकों का है।

कवि मालदेव का संक्षिप्त नाम "माल कवि" ही प्रसिद्ध रहा है। कवि ने अपनी रचनाओं में भी अधिकतर "माल" शब्द का ही प्रयोग किया है। १७वीं उत्तरार्द्ध में हुए गुजरात के प्रसिद्ध श्रावक जैन कवि ऋषभदास ने इनका उल्लेख अन्य प्रसिद्ध कवियों के साथ किया है। इनकी कई रचनायें तो इतनी अधिक प्रसिद्ध हुईं कि उनकी रचनाओं की "देशी तर्ज या चाल" में अन्य कई कवियों ने अपनी रचनाएं बनाई। आपकी "पुरन्दर चौपाई" की तो पचासों प्रतियां यत्र-तत्र प्राप्त हैं। इसे हमने पाठ-भेद सहित 'मरुभारती' में प्रकाशित भी कर दिया है। इस रचना का तथा आपकी एक अन्य रचना का कथासार हम 'मरुभारती' और 'वरदा' में प्रकाशित कर चुके हैं। आपकी कई रचनायें तो

इण्डिया ग्राफिस लायब्रेरी, लन्दन के संग्रहालय में भी जा चुकी हैं उनमें कुछ ऐसे ग्रन्थ भी हैं जिनकी भारत में अन्य कोई प्रति प्राप्त नहीं होती।

ग्रापकी अधिकांश रचनायें प्रसिद्ध लोकाख्यानों और जैन कथानकों के संबंध में हैं। जिनमें से महाराज विक्रम और भोज के रास तो काफी बड़े हैं। कुछ रचनायें शिक्षाप्रद हैं और कुछ फुटकर गीतों के रूप में प्राप्त हैं। अभी छोटी-छोटी रचनाओं की यद्यपि पूरी खोज नहीं हुई है फिर भी जिन रचनाओं की जानकारी प्राप्त हो सकी है उनका संक्षिप्त परिचय व कुछ उदाहरण यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

मालकवि की रचनाओं की एक सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने अपनी रचनाओं में स्थान-स्थान पर अनेक सुभाषित देकर रचनाओं की रोचकता में वृद्धि की है। इनमें से कुछ सुभाषित तो पुराने हैं जो उस समय काफी प्रसिद्ध रहे होंगे पर बहुत-से उन्होंने स्वयं बनाये हैं। उन सुभाषितों को भी परवर्ती कवियों ने अपनी रचनाओं में स्थान दिया है।

अब हम आपकी राजस्थानी व हिन्दी की रचनाओं का परिचय देते हैं।

(१) **पुरन्दर चौपाई**--शील धर्म के महात्म्य पर यह कथा पद्य रूप में लिखी गई है। पद्यों की संख्या ३७२ है।

(२) **सुर सुन्दर चौपाई**--यह भावना के महात्म्य पर ६६६ पद्यों में रची गई है। प्रारम्भ में भावों की विशेषता पर उदाहरण के साथ बड़ा सुन्दर प्रकाश डाला गया है--

"भावन भावउ भवियणउँ,
दानशील तप माहिं प्रधानकि।
लवण सम जाणि भावना,
धरससहु ग्राहार समानकि ।।भा०
मूल रहित जिम वृक्ष नइ।
फल नवि लागई किणई उपावकि
धर्म क्रिया करणि करउ,
भाव बिनाते निष्फल थाइकि ।।भा०
जिमसुर मन्दिर ग्रति भलउ,
प्रतिमा बिनु शोमइ तै केमकि।
दान धरम संजन करो,
भाव बिना थायइ सहुतेमकि ।।भा०
नयन विवर्जित मुख जिसो,
नयन तारिका बिणजिम होयकि।
कुसुम सुगंध रहित जसो,
देह जीव विणु सोहई कोइकि ।भा०

संवत् १६३१ में सरसा में मालदेव की गुरुमाता भीमदेव लिखित गुटके में प्रस्तुत रास हमारे संग्रह में है। इसी गुटके में मालदेव की कई अन्य रचनायें भी उसी समय और उसी व्यक्ति की लिखी हुई है।

(३) **वीरांगद चौपाई**--यह पुण्य के माहात्म्य पर वीरांगद की कथा

७५८ पद्यों में संवत् १६१२ के ज्येष्ठ सुदि ६ को रची गई है। इसके प्रारम्भ में दिये कुछ सुन्दर सुभाषित इस प्रकार हैं --

मालन पहिलइ पुण्य किय,
पिछइ आवइगालि ।
पाणि जइ किरिवहि गयउ,
तउ क्या बांधइ पालि ॥
अवसरि जिणि बूझिउ नहीं,
'माल' विचारहि एह ॥
पाहलइ पाणि पीइ करि,
पाछइ पूछइ गेह ॥
करि उद्यम चेत्यौ न जो,
खाइ तासु फल काल ।
सुतह की पाज जणइ,
जिउं जगि कहियइ माल ॥
कर चलुय एणिवि,
अवसर दिन्नेण पूछिऊँ जियइ।
पछा मयणि . सुंदरि,
घड़ेसय दिन्नेण कित्तेण ॥

(४) **स्थूलिभद्र धमाल चौपाई**— प्राचीन संग्रह में जो स्थूलिभद्र फ़ाग के नाम से प्रकाशित हुई है, वही यह रचना है। इसी गुटके में मालदेव की छोटी रचनाओं में-- १ धर्म झूंबका० पद्य २१, २ मनरंग-भमरागीत पद्य १६,३ धर्म खटोला - पद्य १३ हैं।

(५) **भोज प्रबन्ध** --प्राप्त रचनाओं में यह लेखक का सम्भवतः सब से बड़ा ग्रन्थ है। पंचपुरी में इसकी रचना हुई इसका परिमाण करीब २००० श्लोकों का है।

(६) **विक्रम चरित्र पंचदंड चौपई**--भोज चरित्र के बाद बड़ी रचनाओं में इसका स्थान है। एक प्रति में इसका ग्रन्थ परिमाण १७३७ पद्यों का दिया है। इसकी एक प्रति भीखमचंदजी भंसाली के गोविन्द पुस्तकालय में है। अन्य भी कई प्रतियां मिलती हैं। प्रति में गाथा १७२५ और ग्रन्थाग्रन्थ २४८५ भी लिखा हुआ है।

(७) **देवदत्त चौपई**--परिग्रह. परिमाण के महात्म्य पर ५३० पद्यों में यह कथा बनाई गई है। ग्रन्थाग्रन्थ ८४० है।

(८) **धनदेव पद्मराथ चौपई**-शील के महात्म्य पर यह कथा १८४ पद्यों मे बनाई गई है। इसकी प्रति हमारे संग्रह में है।

(९) **सत्य की चौपई**--काम भोगों के दुष्परिणाम पर सत्य की विद्याधर का वृतान्त ४४६ पद्यों में लिखा गया है। इसके १५ पत्रों की एकमात्र प्रति हमारे संग्रह में है।

(१०) **अंजना सुन्दरी चौपई**-- प्रसिद्ध शीलवती सती अंजना सुंदरी की कथा १५६ पद्यों में लिखी गई है। इसकी ८ पत्रों की प्रति हमारे संग्रह में है। जैन गुर्जर कवियों भाग १ और ३ में इसक रचयिता मालकवि को मालदेव से भिन्न समझा गया है। जो वास्तव में

ठीक नहीं है । माल और मालदेव दोनों नाम कवि के ग्रन्थों मे मिलते हैं।

(११) **अमरसेन वैरसेन चौपाई--** इसकी एक प्रति विश्वेश्वरानंद वैदिक शोध-संस्थान में मिली है । पद्य संख्या ४०८ है ।

(१२) **मृगांक पद्मावती रास--**दान धर्म के महात्म्य पर इस कथा की रचना की गई है । जिसमें ४८७ पद्य हैं । बीकानेर के दान-सागर भण्डार में इसकी एक प्रति है ।

(१३) **पद्मावती पद्मश्री रास--** इसकी दो प्रतियां विश्वेश्वरानंद शोध संस्थान, दो प्रतियां झंडियाला गुरु के जैन-ज्ञान भण्डार में और एक प्रति राजस्थान पुरातत्व मंदिर, जयपुर के संग्रहालय में मिली है । उनमें से एक प्रति में पद्य संख्या ८०३ तथा दूसरी में ८१५ है ।

(१४) **कीर्तिधर सुकोशल संबंध--** इसकी १५ पत्रों की एक प्रति इंडिया आफिस लायब्रेरी में मिली है, जिसकी पद्य संख्या ४३१ है ।

(१५) **नेमिनाथ नव भव रास भास--** इसकी भी १५ पत्रों की एक प्रति उपर्युक्त लायब्रेरी में मिली है। पद्य संख्या २३० है । इसमें सुप्रसिद्ध तीर्थंकर नेमिनाथ और राजुल के नव भवों की प्रीति का वर्णन है ।

इसके अतिरिक्त इण्डिया ऑफिस लायब्रेरी में माल कवि की पूर्व ज्ञात रचनाओं में से पुरन्दर चौपई, वीरांगद चौपई और 'सत्य की संबंध' की प्रतियां हैं ।

(१६) **माल शिक्षा चौपई--**यह ६७ पद्यों की शिक्षाप्रद रचना है । इसमें कवि ने २१८ शिक्षाएं संकलित की हैं जिससे व्यावहारिक धार्मिक जीवन की बहुत ही सुन्दर शिक्षा मिलती है ।

(१७) **शील बावनी--**यह वर्णनानुक्रम के रचित आठ पत्रों वाली (५९ पद्यों की) रचना है इसमें शील की महिमा का वर्णन है । दोहे बड़े सुन्दर हैं ।

(१८) **राजुल नेमि धमाल--**इसमें २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ और उनकी पत्नी राजुल के विवाहादि का प्रसंग ६५ पद्यों में गुंफित किया है । जैन गुर्जर कवियों भाग ३ पृष्ट ४१६ में संवत् १६५९ में लिखित प्रति का विवरण दिया है।

(१९) **वृहदगच्छीय गुर्वावली--** जैसा कि प्रारम्भ में उल्लेख किया गया है, ३७ पद्यों की लोक भाषा में रचित इस गुर्वावली को जैन सत्यप्रकाश १७ अंक में मैंने प्रकाशित कर दी है ।

(२०) अनूप संस्कृत लायब्रेरी के जिस गुटके में (नं० ९) गुर्वावली प्राप्त हुई है, उसमें मालदेव रचित महावीर

पंच कल्याण कस्तवन (२८गाथाओं का) भी है ।

(२१) महावीर पारणा--यह तो बहुत प्रसिद्ध है और कई ग्रन्थों में छप चुका है । भगवान महावीर ने छद्मस्थ अवस्था में चौमासी तपस्या का पारणा प्रतिदिन भावना आने वाले जीर्ण सेठ के यहां न कर, पूर्ण सेठ के यहां किया, उस प्रसंग का इसमें वर्णन करते हुए भावना की प्रधानता दिखलाई गई है ।

(२२) महावीर लोरी --झंडियाला गुरु के जैन भंडार में भगवान महावीर के बाल्यावस्था की लोरी की प्रति प्राप्त हुई है जिसे मैंने 'शाश्वत धर्म' के महावीर जयन्ती अंक में प्रकाशित कर दिया है ।

(२३) करणी प्रकरण --७६ पदों की यह रचना भी झंडियाला गुरु के भंडार में मिली है ।

(२४) मन भमरा गीत--पद्य १९ यह गीत बहुत प्रसिद्ध रहा है । इसकी चाल में समय सुन्दर, ज्ञान सागर, पद्म विजय, कीर्ति विजय आदि ने अपनी ढाल बनाई है जैन गुर्जर कवियों भाग । ३ पृ० २१०६ में छप चुका है । प्रथम पद्य इस प्रकार है

बाड़ी फूली अति भली मन भमरा रे,
देखिन कीजे सोस । रंग रस भमरा रे।
अणसरज्यों लहिय नहींमन भमरा रे,
कर्महिं 'दीजे दोष । रंग रस भमरा रे ।।६।।

(२५) इनके अतिरिक्त भरत बाहुबलि गीत, खंदक समझाय, नेमि राजुल री अखड़ी, और कई पद हमारे संग्रह के गुटकों आदि में प्राप्त हैं। इनमें से ३ पदों को उदाहरण के लिये नीचे दिया जा रहा है ।

(१) नेमि राजुल गीत--(राग मालवी गौड़ी)

कहति राजु लपिय दर्शन, मोही देखन देहुरी।
नैन आंसु बरसति जल,
जनुकी सावन मेहुरी ।।क०
काहे न सभारइ नम्मन महि,
अष्ट भव कउ नेहरी ।
अपराध बिनु सुदयाल जादउ,
क्यूं दिखावइ छेहुरी ।।क०
श्याम सुन्दर नेमि बिछरइ,
वन सुहाइ न गेहुरी ।
माल प्रभु कहि चरन परि तुम,
क्यूं मनाइ न लेहुरी ।।क०

(२) राग आशा

उठु पिय जाइ माइ री
तुम्ह किउं मनाहि न लेहु ।
सुणु सखिरी अष्ट भवलगु,
मेरइ प्रीतम एहु । उठु०
हउ होउंगी वैरागिनी,
अरु तजउ गियहु गेहु ।
नेमि ज्यादउं श्याम, सुंदरि,
जइ विसारयउ नेहु, । उठु०
अब प्रीति लागि मुकति स्यउं,
हम स्यउं दिखायउ छेह ।
कहति राजुल माल प्रभुजी,
दरश देखन देहु ।उठु०

(३) राग टोडी--

दुनिया जात इह गइ बानी ।
खिनु-खिनु घटत-घटत ही दीसइ,
ज्योंकर अंजलि पानी । दु०
चसक पाक दिल पाक होइ रहु,
जइ तइ खलक पिछानी ।
जोवन गरब देखि ठकुराइ,
फिरत कहा अभिमानी । दु०
साहिब स्यउं चितु लाउ मूढ़मति,
इहु मुकाम हफानी ।
कहत माल पाय पोषि प्रभु की,
करुदा इमरे प्राणी । दु०

मालदेव की रचनायें अब किसी एक जगह सुरक्षित न रह कर अनेक स्थानों में बिखर चुकी हैं। 'सरसा' जहां उनका अधिक रहना हुआ, वहां का भण्डार भी अस्त-व्यस्त हो चुका है जिन लोगों के हाथ में जो रचना पड़ी वे उसे उठा ले गये । फिर भी सम्भव है सरसा के ज्ञान-भण्डार में कुछ बच पाई हों । हमारे संग्रह में और बीकानेर के बड़े ज्ञान भण्डार राजस्थान प्राच्य विश्व प्रतिशत अनूप स्ते स्वा. आदि मे उनकी बहुत सी रचनाएं हैं । कुछ पंजाब के जैन ज्ञान भण्डारों में भी प्राप्त हैं । ऐसे कई भण्डार अभी दिल्ली के रूपनगर के श्वेताम्बर जैन मन्दिर में एकत्र कर लिये गए हैं । और उन भण्डारों की सूचियां भी बन गई हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है --भटनेर, जयपुर, लन्दन आदि अनेक स्थानों के हस्तलिखित संग्रहालयों मे उनकी रचनायें प्राप्त हैं । उन सब रचनाओं का एक संग्रह हिन्दी विभाग, पटियाला या पंजाब व कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय आदि संस्थाओं द्वारा प्रकाशित किये जा सकें --तो कवि की रचनाओं का मूल्यांकन करने में बड़ी सुविधा होगी । कम से कम इनकी रचनाओं में जितने भी पुराने और इनके रचे हुए सुभाषित पद्य हैं उनका तो अलग संग्रह प्रकाशित होना चाहिए । वास्तव में कवि मालदेव का साहित्य, एक शोध प्रबन्ध का विषय है, इसके सम्पादन एवं आलोचना द्वारा सहज ही कोई व्यक्ति डाक्टरेट प्राप्त कर सकता है आशा है शोध छात्र उनके निदेशक और विश्वविद्यालय इस ओर ध्यान देंगे । उसके बाद भी पंजाब में कई हिन्दी जैन कवि हो गये हैं उनका भी अध्ययन किया जाना अपेक्षित है ।

श्री मैथिलीशरणजी गुप्त के काव्य की अन्तश्चेतना का विश्लेषण

०

भगवान दास तिवारी

काव्य कवि की अन्तश्चेतना का मूर्त शब्द-विधान है, अतः हम किसी भी कवि के काव्य की पंक्तियों में गुम्फित शब्दों से उनके अर्थ तक, अर्थ से भाव तक, भाव से अनुभूति तक और अनुभूति से कवि की स्वसंवेद्य रसदशा तक पहुंच कर उसके अन्तर्जगत का दर्शन कर सकते हैं और यह जान सकते हैं कि जीवन और जगत के सम्बन्ध में कवि विशेष का दृष्टिकोण क्या है? व्यष्टि और समष्टि के पारस्परिक सम्बन्धों के सम्बन्ध में उसकी धारणा क्या है? उसकी संवेदना और चिन्ता किस सनातन सौन्दर्यबोध के लिये लालायित हैं? उसकी भावनायें और कल्पनायें किस सत्यानुसंधान के लिये व्यग्र हैं? क्या वह अपने काव्य द्वारा अपनी व्यक्तिनिष्ठ अतृप्त आकांक्षाओं, मानसिक विकृतियों या कुण्ठाओं को वाणी दे रहा है अथवा समाज, राष्ट्र और मानवता के अतीत, वर्तमान और भविष्य को एक दूसरे से संयोजित कर मानव संस्कृति की अविच्छिन्न परम्परा को प्रेरणा और स्फूर्ति देना उसका काव्य-प्रयोजन है? संक्षेप में, उसकी प्रवृत्ति अन्तर्मुखी है अथवा बहिर्मुखी? क्या वह शब्द, अर्थ और भाव को संतुलित रख कर रसानुभूति की संप्रेषणीयता से प्रेरित हो काव्य सर्जन करता है अथवा बौद्धिक प्राणायाम साधना द्वारा शब्दों की जटिलता, दुरूहता और विचित्रता के बल पर अपनी विद्वत्ता की छाप पाठकों के मन पर छोड़ना चाहता है? वह कविता लिखता है, या कविता उससे लिखी जाती है? दूसरे शब्दों में वह छाती पीट पीट कर दिल में दर्द पैदा करता है या दिल में दर्द होने पर छाती पीटता है? हमारे विनम्र मत से ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं, जो किसी कवि के काव्य के अध्ययन और उसकी उपादेयता के सम्बन्ध में सनातन मूल्य रखते हैं।

उपरोक्त प्रश्नों को ध्यान में रखते हुए यदि हम श्री मैथिलीशरण जी गुप्त के काव्य का अंतर्मंथन और विश्लेषण करें तो हमें यह स्पष्टत: परिलक्षित होता है कि गुप्त जी की अन्तश्चेतना का प्रवाह जितना बहिर्मुखी और समाजपरक था, उतना अन्तर्मुखी और व्यक्तिपरक नहीं । हिन्दू की भूमिका में उन्होंने लिखा था --हाय, लेखक कहीं जन-साधारण का ही कवि हो सकता । परन्तु प्रतिभा देवी का वह प्रसाद भी प्राप्त न हो सका ।

आज जब गुप्त जी हमारे बीच में नहीं हैं, केवल उनकी सुदीर्घ साधना के प्रतीक जयद्रथ वध, रंग में भंग, पद्य-प्रबन्ध, भारत भारती, तिलोत्तमा, चन्द्रहास, किसान, वैतालिक, शकुंतला, पत्रावली, पंचवटी, अनघ, स्वदेश-संगीत, हिन्दू, त्रिपथगा (जिसमें बकसंहार, वन वैभव और सैरन्ध्री संकलित हैं) शक्ति, गुरुकुल, विकट भट, झंकार, साकेत, यशोधरा, मंगलघट, द्वापर, सिद्धराज, नहुष, कुणालगीत, अर्जन और विसर्जन, विश्ववेदना, काबा और कर्बला, अजित, पददक्षिणा, पृथ्वीपुत्र, जय भारत, हिडिम्बा, विष्णुप्रिया, अंजलि और अर्घ्य, राजा-प्रजा, भूमि-भाग, और युद्ध आदि काव्य ही हमारे सामने हैं, तब हम पूर्ण आत्म-विश्वास के साथ यह कह सकते हैं कि रहन-सहन की सादगी, हृदय की सरलता, साधना की एक निष्ठता, आत्मा की दीप्ति, संस्कारों की प्रबलता और भारत की सांस्कृतिक चेतना के प्रवाह, प्रसार और संरक्षण की कामना से ओतप्रोत गुप्तजी का काव्य उन्हें पुराण पुरुष भारत के "जन साधारण का कवि" सिद्ध करने के लिये स्वयं प्रमाण है, जिसे और किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है । परम्परित भारतीय संस्कृति और समसामयिक युग-चेतना के बीच उन्होंने मानवीय संस्कृति के संरक्षण का जो प्रयास किया है, वह निस्संदेह प्रतिभा देवी का प्रसाद माना जाना चाहिए । विशेष कर हिन्दी साहित्य के इतिहास में, खड़ी बोली के विकास में गुप्तजी का योगदान अपूर्व है । उन्होंने अपने काव्य के माध्यम से खड़ी बोली को जो लालित्य, सौन्दर्य और कान्ति प्रदान की है, उसके लिये समस्त हिन्दी जगत उनका चिरऋणी रहेगा । यों भी, गुप्तजी का 'राष्ट्रकवि' घोषित होना उनके जन-साधारण के कवि होने का अन्यतम प्रमाण है ।

गुप्त जी आद्यन्त पोषक भावों के प्रचारक, उच्च भावुकता के प्रशंसक, साधक वृत्ति के कृती कवि थे । उनकी प्रतिभा गगनविहारिणी कल्पना, प्रलाप-कारिणी भावुकता या निरी बौद्धिकता से अनुस्यूत नहीं थी, अपितु उसमें जन-

मानस की चेतना, युग जीवन की प्रतिच्छवि तथा मानवीय आस्था-निष्ठा के स्वर प्रबल रूप में विद्यमान थे। उनकी दृष्टि से केवल मनोरंजन ही काव्य का प्रयोजन नहीं था, यथा——

केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए।
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए।

यह धारणा ही गुप्त जी के काव्य का मूल उत्स और उसकी चरम उपलब्धि है। केवल मनोरंजन की अपेक्षा कुछ उपदेशात्मक वृत्ति से युक्त होने के कारण गुप्त जी का सम्पूर्ण काव्य समाजपरक बन गया है। काव्य सृष्टि और मानव समाज के सम्बन्ध सूत्रों को ध्यान में रख कर यदि मनोरंजक काव्य पर विचार किया जाय तो यह कहा जा सकता है कि मनोरंजनार्थ लिखा हुआ काव्य परिस्थिति की रोचकता, शब्दों का चमत्कार या कवि की प्रत्युत्पन्न मति से निष्पन्न होने के कारण विश्वसंघर्ष की विशद पीठिका पर युग की पारिपार्श्विक परिस्थितियों में जीवन के ज्वलन्त प्रश्नों का उत्तर नहीं दे पाता और न वह मानव जीवन की सनातन समस्याओं का निदान हीं प्रस्तुत करता है, इसीलिये विश्व के हाहाकार और करुणाक्रंदन में मनोरंजक काव्य से उद्भूत हंसी तूफान में गरजे हुए सागर की उत्ताल तरंगों पर उत्पन्न क्षण–भंगुर बुद्बुद् से अधिक दीर्घजीवी नहीं होती और इसीलिये विश्व को कोई सा भी मनोरंजनार्थ लिखा हुआ काव्य चिरन्तन साहित्य की धरोहर नहीं बन सका। प्रेरक साहित्य की स्थिति में इससे भिन्न होती है वह जीवन-संघर्ष की चिंगारी से आलोक लेकर प्रकाश का आह्वान करता है, जीवन के ठोस धरातल से पोषक तत्त्व लेकर पनपता, बढ़ता, फूलता, और फलता है, उसमें युग-युग की सांसें अपने प्राणों का स्पन्दन पाती हैं, इसलिये वह मनोरंजक काव्य से अधिक सशक्त, प्रभविष्णु और दीर्घजीवी होता है। प्रेरक साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि वह व्यक्ति और समाज की अतीत की भूलों, वर्तमान की उलझनों और भविष्य के उज्ज्वल स्वरूप की संभावनाओं को एक साथ लेकर चलता है, इसीलिये प्रेरक साहित्य का पाठक उससे अपनी धुंधली आंखों की रोशनी, लड़खड़ाते कदमों को बल और संभाव्य भवि॰य की अनिश्चित धारणा के लिये विश्वास पाने की कामना करता है। गुप्त जी ऐसे ही प्राणमय प्रेरक साहित्य के सर्जक बनना चाहते थे। उनकी धारणा थी कि ——

धर्मच्युतों को धैर्य से कवि ही मिलाना जानते।
वे ही नितान्त पराजितों को जय दिलाना जानते।।
संसार में कविता अनेकों क्रांतियां है कर चुकी।

सुरङ्ग मनो में वेग की विद्युत्प्रभाएं भर चुकी ।।
है अन्ध सा अन्तर्जगत कवि रूप सविता के बिना ।
सद्भाव जीवित रह नहीं सकते सुकविता के बिना ।।——भारतभारती

गुप्त जी अपने काव्य द्वारा जनमानस का अंधकार मिटा कर उसमें सद्भाव और सत्कर्म की प्रेरणा जगाना चाहते थे । वे मानव——मन की निराशा को आशा में, अनास्था को आस्था में और उदासीनता को उत्साह में बदलने के लिये काव्य-साधना-रत थे । हमारा विनम्र मत है कि गुप्त जी का सुधारक कवीर की अपेक्षा तुलसी के संस्कारों से अधिक प्रभावित था । इसे हम गुप्तजी पर बचपन से पड़े हुए वैष्णव संस्कारों का प्रतिफल भी कह सकते हैं । उनकी प्रत्येक रचना इस तथ्य की पुष्टि करती है कि वे कवीर की तरह धक्कामार भाषा में डांट-फटकार कर, खरी खोटी सुना कर, दो टूक बात कह लोकचेतना को जगाने के हिमायती नहीं थे, वरन वे तुलसी की तरह जन-मन पर आदर्श पात्र और सत्संस्कारों की छाप डाल कर उसे मानवता की उच्चतर भावभूमि पर अधिष्ठित करना चाहते थे इसलिये उनका समस्त काव्य एक विनम्र कवि की सृष्टि है । जिस प्रकार तुलसीदास जी ने 'कवि न होउँ नहि चतुर प्रवीन् । सकल कला सब विद्याहीनू ।।' लिख कर अपनी विनीत प्रकृति का परिचय दिया है, उसी तरह गुप्त जी ने अपनी काव्य-सर्जना को 'कवि-कर्म' कहने की धृष्टता नहीं की । उनके ही शब्दों में——

कवि के कठिनतर कर्म की करते नहीं हम धृष्टता ।
पर क्या न विषयोत्कृष्टता लाती विचारोत्कृष्टता ।।——भारतभारती

अतः विषय और विचारों की उत्कृष्टता द्वारा गुप्त जी ने उत्कृष्ट काव्य लिखा किन्तु कभी भी अपने आपको 'कवि' कहने का दुस्साहस नहीं किया । इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि गुप्त जी का व्यक्तित्व अहवादी नहीं था ।

वे अपने युग के दीन-हीन भारत के विनीत राष्ट्रकवि थे । अपने देश की प्राचीन गौरव गरिमा के प्रति, सभ्यता और संस्कृति के प्रति उन के मन में बड़ी श्रद्धा थी । वे भारत वर्ष को संसार का सिरमौर मानते थे । उनकी स्वीकृति थी कि ——

हाँ, वृद्ध भारतवर्ष ही संसार का सिरमौर है ।
ऐसा पुरातन देश कोई विश्व में क्या और है ?——भारत भारती

संसार के सिरमौर की उन्होंने वंदना की ——

नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुन्दर है ।
सूर चन्द्रयुत मुकुट मेखला रत्नाकर है ।।

नदियां प्रेम प्रवाह, फूल तारे मण्डन हैं।
बंदीजन खगवृन्द शेषफन सिंहासन है।
करते अभिषेक पयोद हैं, बलिहारी इस वेष की।
हे मातृभूमि तू सत्य ही, सगुण मूर्ति सर्वेश की।।——भारत भारती

उक्त पंक्तियों में भारत के दिव्य, भव्य विराट रूप की वन्दना करने वाले गुप्त जी केवल अपने देश के अन्ध श्रद्धालु भक्त या वायवी स्वप्नों के चितेरे ही नहीं थे बल्कि अपने समय के देश की दुर्दशा, पतितावस्था और दीनता उनकी अन्तर्दृष्टि से छिपी हुई नहीं थी। वे युग-द्रष्टा थे। उन्होंने दीन, हीन, दलित, पतित भारत को देखा और स्वीकार किया कि ——

अब कमल क्या जल तक नहीं,
सर मध्य केवल पंक है।
वह राज राज कुबेर अब हा,
रंक का भी रंक है।।—भारत भारती

कीड़े-मकोड़ों से भी गये-गुज़रे भिखारियों की बुभुक्षा उनके दृष्टिपथ से गुजरी थी और उनका करुणार्द्र हृदय मानवीय दुर्दशा देख द्रवित हो उठा था। उन्होंने कहा ——

कृमि कीट खग मृग आदि भी भूखे नहीं सोते कभी।
पर वे भिखारी स्वप्न में भी भूख से रोते सभी।।——भारत भारती

पराधीन भारत की अर्थ व्यवस्था ने ही नहीं बल्कि वर्ण व्यवस्था ने भी गुप्त जी के मन को बुरी तरह झकझोर दिया था। ब्राह्मणों का अज्ञान और ढोंग, क्षत्रियों का आलस्य और कुयश, वैश्यों की व्यापार विषयक ढिलाई और दुर्दशा ने गुप्त जी की अन्तश्चेतना को मथ डाला था राष्ट्रीय चेतना की टूटती हुई सांसें और समय की चुनौती को स्वीकार कर उन्होंने भारत के ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों को चेतावनी दी कि——

हे ब्राह्मणो, फिर पूर्वजों के तुल्य तुम ज्ञानी बनो।
भूलो न अनुपम आत्म-गौरव, धर्म के ध्यानी बनो।।
कर दो चकित फिर विश्व को अपने पवित्र प्रकाश से।
मिट जाय फिर सब तम तुम्हारे देश के आकाश से।।
क्षत्रियो, सुनो, अब तो कुयश की कालिमा को मेट दो।
निज देश को जीवन सहित, तन मन तथा धन भेंट दो।।
वैश्यो सुनो, व्यापार सारा मिट चुका है देश का।
सब धन विदेशी हर रहे हैं, पार है क्या क्लेश का।।——भारत भारती

राष्ट्र के बुद्धिबल, जनबल और धनबल को नाश से सर्वनाश की ओर

अग्रसर होते देख गुप्त जी ने अपने राष्ट्र-वासियों को आह्वान किया--

हम कौन थे, क्या हो गये हैं, और क्या होंगे अभी।
आओ, विचारें, आज मिल कर ये समस्याएँ सभी।।--भारत भारती

ऐसा लगता है कि भारतभारती का कवि अतीत से सम्बद्ध, वर्तमान में जीवित और भविष्य के लिये चिन्तातुर था। सारे राष्ट्र की चिन्ता से जितना वह स्वयं विचार-विकल था, उतना ही वह सामाजिक मस्तिष्क को अपने पतन के प्रति सचेत करने के लिये दृढ़ संकल्प था। वह चाहता था कि लोग पारस्परिक भेदभाव भूल कर यह सोचें कि वे क्या से क्या हो गये हैं और उनका क्या होगा? किसी भी संकटापन्न राष्ट्र के लिये यह चिन्ता भावी उद्धार का कारण हो सकती है। गुप्त जी जानते थे और अच्छी तरह से मानते थे कि वर्तमान भारत में सर्वत्र अज्ञान, आलस्य, उदासी, वैमनस्य, गरीबी, बेकारी, लाचारी का साम्राज्य फैला है, सर्वत्र, लूट खसोट, बेईमानी, शोषण, स्वार्थ-साधन और अत्याचार का बोलवाला है, फिर भी वर्तमान को हीन समझ कर उसकी उपेक्षा करना अकर्मण्यता का पोषण है, मूर्खता का लक्षण है। दीन-हीन वर्तमान मे येन केन प्रकारेण जीवित रहने से शोषित समाज अधिक दिनों तक नहीं चल सकता। विगत अतीत पर गर्व और जर्जर वर्तमान की उपेक्षा कर या उससे तटस्थ रह कर कोई भी राष्ट्र जीवित नहीं रह सकता। लड़खड़ाता हुआ वर्तमान वह भूकम्प है जो देश की जीर्ण-शीर्ण परम्पराओं को छिन्न-भिन्न कर हमेशा के लिये दफना देता है। बिना आस्था, विश्वास और कर्म के पतन का प्रवाह नहीं रोका जाता, इसीलिये गुप्तजी वर्तमान में जीवित रह कर, वर्तमान का परिष्कार कर उज्ज्वल भविष्य का निर्माण करना चाहते थे। उनका कहना था कि--

अपने युग को हीन समझना आत्महीनता होगी।

० ० ० ०

वह अतीत पुरुषों का युग था, उसका क्या कहना है?
सुनो, किन्तु अपने ही युग में हम सबको रहना है।।
विगत हुआ तो विगतों का युग, अपना तो प्रस्तुत है।
कितना नव्य भव्य तुम देखो, वह अपूर्व अद्‌भुत है।।--भारत भारती

वर्तमान के विद्रूप को नव रूप देने के लिये गुप्त जी ने मानवता की सामान्य भावभूमि पर सुशिक्षित पाठक और अशिक्षित श्रमजीवी किसानों में अपनत्व

की भावना पर बल दिया । अपने पाठकों से उन्होंने अनुरोध किया--

वाचक वृन्द तनिक सहृदय हो जाओ ।
अपने दुर्विध बन्धुजनों को यों न भुलाओ ।।
यही समय है कि जो कर सको कर दिखलाओ
बन्धु नहीं तो मनुज जानकर ही अपनाओ ।।

--किसान

भारत वर्ष के सम्बन्ध में गुप्तजी की यह धारणा समय सापेक्ष होकर भी चिरन्तन सत्य का प्रमाण है कि जब तक इस देश में बुद्धिजीवी और श्रमिक वर्ग में आत्मीयता नहीं होगी तब तक यह देश कभी भी प्रगति नहीं कर सकता जब तक कि राष्ट्र की उन्नति के लिये एकता और पारस्परिक सद्भाव निर्माण नहीं होते तब तक वर्तमान का परिष्कार और भविष्य का निर्माण नहीं हो सकता। गुप्त जी ने नवयुग के निर्माण के लिये युग-पुरुष गांधी की विचारसरणि और कार्य-प्रणाली का समर्थन करते हुए कहा कि --

पापी का उपकार करो हाँ,
पापों का प्रतिकार करो ।।---अनघ

गुप्तजी का यह विचार, 'हेट द सिन एण्ड नाट द सिनर' से मिलता जुलता है । ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्त जी पापों का प्रतिकार कर पापी के उद्धार का मार्ग खोजना चाहते थे । उनकी ऐसी धारणा थी कि जो बिल्कुल अच्छा होता है, वह देवता है, जो बिल्कुल बुरा है, वह शैतान है और जो अच्छाई और बुराई दोनों से युक्त है वह मनुष्य है । अतः मनुष्य में बुराई हो सकती है, बुराई से उसका पतन भी हो सकता है किन्तु पतित को मानवता के दायरे से एक दम बाहर समझ 'पशु' कहना गुप्त जी पसन्द नहीं करते थे--

मैं मनुष्यता को सुरत्व की जननी भी कह
सकता हूँ ।
किन्तु पतित को पशु कहना भी कभी नहीं
सह सकता हूँ ।।--पंचवटी

पतित भी अन्ततः मनुष्य है । यदि मानवीय कमज़ोरियों से उसका पतन हुआ है तो निश्चय ही मानवीय आत्मबल, मनोबल और कर्मबल द्वारा उसका उत्थान भी हो सकता है । मनुष्य में विचारशक्ति है, संकल्प की दृढ़ता है, कर्म की शक्ति है और पुनरुत्थान की अदम्य आकांक्षा है । वह अनघ की भांति चलते-चलते गिर सकता है, चढ़ते-चढ़ते फिसल सकता है, उन्नति के शिखर पर चढ़ते-चढ़ते पतन के गर्त में पड़ सकता है, किन्तु जो चल ही नहीं सकता, वह गिर नहीं सकता, जो गिर नहीं सकता, वह उठ नहीं सकता, जो उठ नहीं सकता वह खड़ा नहीं हो सकता, जो खड़ा नहीं हो सकता वह चल नहीं सकता और जो चल नहीं सकता, वह मनुष्य नहीं, मुर्दा है । उसमें जीवन के लक्षण हो ही नहीं सकते ।

मनुष्य वह है जो एक लक्ष्य को लेकर चले, गिरे, संभले, उठे और आगे बढ़े। अनघ द्वारा गुप्त जी ने इसी आस्था का संकेत दिया है। अनघ कहता है--

गिरना क्या उसका उठा ही नहीं जो कभी,
मैं ही तो उठा था आप, गिरता हूँ जो अभी।
फिर भी उठूंगा और बढ़के रहूँगा मैं,
नर हूँ, पुरुष हूँ मैं चढ़के रहूँगा मैं।।

--अनघ

गुप्तजी का यह आस्थावादी सन्देश, व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और मानवता सबके लिये समान रूप से लागू हो सकता है। उनके आस्थावादी जीवन दर्शनके सम्बन्ध में हमें यह निवेदन करना है कि गुप्त जी आदर्शवादिता के क्षेत्र में अतीत के संस्कारों से अत्यधिक प्रभावित थे इसीलिये आधुनिक समाज के भविष्य को आदर्श से अनुप्राणित करने के लिये वे अतीत की शरण चले गये। इसका परिणाम यह हुआ कि गुप्त जी के अधिकांश काव्यों का उपजीव्य पुराण और इतिहास पर आधृत है। उनके काव्य में राम लक्ष्मण, कृष्ण, नहुष, अनघ, सीता, उर्मिला, राधा, आदि पौराणिक तथा बुद्ध, यशोधरा, विष्णुप्रिया आदि ऐतिहासिक पात्रों की गाथाएं इसका प्रमाण है। यों भावना के क्षेत्र में सम-सामयिक साहित्यिक प्रवृत्तियों से सम्पर्क बनाए रखने के लिये उन्होंने गांधीवादी दर्शन, छायावाद और विश्व मानव का समर्थन किया है, पर प्रमुख रूप से वे अतीत और भविष्य का सेतु बाँधने में ही इतने व्यस्त रहे कि उन्हें वर्तमान के प्रवाह को स्पर्श कर उसे वाणी देने का पूरा-पूरा अवसर नहीं मिला। इसलिये हमें ऐसा लगता है कि गुप्त जी के बाद भी हिन्दी साहित्य एक ऐसे महाकाव्य की प्रतीक्षा में है, जिसमें बीसवीं शताब्दी का युग अपना अन्तर्दर्शन कर सके।

बीसवीं शताब्दी की भौतिक प्रगति से गुप्त जी पूर्णतः परिचित थे और वे इस भौतिक विकास को इस युग की अपूर्व सिद्धि मानते थे। यथा --

वाष्प और विद्युत हैं, किंकर से उसके,
उसके समक्ष खड़ी अचला सी चंचला।
हाथ में रसायन है और सिद्धि साथ है,
भौतिक विभव देखा ऐसा कब किसने?

--पृथ्वीपुत्र

किन्तु भौतिक विभव ही वास्तविक सुखी जीवन का एकमात्र मानदंड नहीं है। मनुष्य के सांस्कृतिक संस्कार और आध्यात्मिक मूल्य भौतिकता से बड़ी चीज़ें हैं। भले ही पाश्चात्य जगत को ये बातें इतनी प्रिय न हों किन्तु भारत तो आध्यात्मिकता और पारलौकिक जीवन का सदा समर्थक रहा है। यहां मनुष्य के आध्यात्मिक विकास की चरम सीमा ईश्वरत्व की प्राप्ति रही है। साकेत

में गुप्त जी के राम इसी सन्देश को लेकर अवतीर्ण हुए । वे कहते हैं कि --

भव में नव वैभव व्याप्त कराने आया ।
नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया ।।
संदेश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया ।
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया ।

--साकेत

राम की उक्त घोषणा मे जहाँ मानवता के उन्नयन और भूतल को स्वर्ग बनाने का आश्वासन है, वहीं गुप्त जी की वैष्णव धारणा भी प्रत्यक्ष हो जाती है। राम का यह कथन कि --

मैं आया उनके हेतु कि जो तापित हैं ।
जो विवश, विकल, बलहीन, दीन शापित हैं ।।--साकेत

हमें गीता में भगवान् कृष्ण के उस आश्वासन का स्मरण दिलाती है, जहां कृष्ण कहते हैं --

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानम् धर्मस्य तदात्मनम् सृजा यहम्
परित्राणाय साधूनाम्, विनाशाय चदुष्कृताम् ।
धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ।।

--गीता

गुप्त जी राम को मानव मान कर भी उन्हें ईश्वर के रूप में स्मरण करते हैं--

राम तुम मानव हो, ईश्वर नहीं हो क्या ?
विश्व में रमे हुए नहीं सभी कहीं हो क्या ?
तब मैं निरीश्वर हूँ, ईश्वर क्षमा करे,
तुम ना रमो तो मन तुममें रमा करे ।।

--साकेत

प्रायः सभी सामान्य राम-भक्तों की तरह गुप्त जी राम के नाम को भव सागर से पार होने का साधन मानते थे । उनका विश्वास था कि राम-नाम जपने की अपेक्षा राम के गुण और स्वभाव का अनुकरण वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के लिये अधिक लाभप्रद है इसलिये वे राम को ईश्वर का अवतार, महामानव और लोक जीवन में जनसाधारण के लिये अनुकरण का आदर्श मानते थे । साकेत में राम के निम्नलिखित मन्तव्य से हमारे उक्त विचार का समर्थन हो जाता है --

जो नाम मात्र ही स्मरण मदीय करेंगे,
वे भी भवसागर बिना प्रयास तरेंगे ।
पर जो मेरा गुण और स्वभाव धरेंगे,
वे औरों को भी तार पार उतरेंगे ।।

--साकेत

इस तरह से गुप्त जी जहां पुरुषों में शील, शक्ति, सौन्दर्य और सांस्कृतिक चेतना का विकास देखने के अभिलाषी थे, वहाँ वे नारी को त्याग और करुणा की प्रतिमूर्ति मानते थे । उनकी बहुचर्चित पंक्तियां--

अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी ।
आँचल में है दूध और आंखों में पानी ।।

--यशोधरा

हमारे समक्ष ममतामयी नारी के पोषक, संरक्षण युक्त त्यागमय व्यक्तित्व

को साकार कर- देती हैं । इसी तरह--

नारी लेने नहीं लोक में देने ही आती है ।
अश्रु शेष रख कर वह उससे प्रभुपद धो
पाती है ।।

करुणामुखश्री सम्पन्न नारी के उत्सर्ग पूर्ण जीवन की झांकी प्रस्तुत करने वाली पंक्तियां हैं। गुप्त जी के मत से नारी स्वयं दुख सहकर दूसरों को सुखी बनाने के लिये ही पैदा हुई है। वह साधना में बाधक नहीं है । चुपचाप छोड़कर चले जाने वाले पति के बारे में अपनी सखी से चर्चा करती हुई यशोधरा कहती है--

सखि वे मुझ से कह कर जाते,
कह तो क्या मुझ से वे अपनी पथ-बाधा
ही पाते ?
मुझको बहुत उन्होंने माना,
फिर भी क्या पूरा पहचाना ?
मैंने मुख्य उसी को जाना,
जो वे मन में लाते ।--यशोधरा

नारी का यह स्वरूप, जिसमें एक पत्नी अपने पति के हित-चिन्तन में अपने आपको मिटा देती है, खपा देती है, गुप्त जी की नारी भावना का विशुद्ध भारतीय दृष्टिकोण है । नारी के प्रति पूज्य बुद्धि गुप्त जी के काव्यों में सर्वत्र पाई जाती है । उर्मिला का तप, विष्णु-प्रिया का त्याग , कौशल्या की ममता, यशोदा का कृष्ण प्रेम सब गुप्त जी की नारी भावना के प्रमाण हैं। नारी की महानता की स्वीकृति बुद्ध के शब्दों में देखिए --

दीन न हो गोपे, सुनो, हीन नहीं नारी
कभी,
भूत दया मूर्ति वह मन से शरीर से ।
क्षीण हुआ बन में क्षुधा से विशेष जब,
मुझ को बचाया मातृजाति ने ही खीर से।।
--यशोधरा

संक्षेप में नारियों के प्रति गुप्त जी का दृष्टिकोण बहुत सहानुभूतिपूर्ण रहा है इसीलिये उनके काव्य की नायिकाएं संयमित, स्वाभिमानिनी, त्यागमयी और परोपकारिणी रही हैं । गुप्त जी ने उनके चित्रण में बड़ी सतर्कता बरती है । इस दृष्टि से साकेत में उर्मिला और कैकेयी के चरित्र द्रष्टव्य हैं। स्त्री और पुरुष के प्रेम के सम्बन्ध में भी गुप्त जी मर्यादावादी ही रहे हैं । वे नई फैशन के अनुरूप स्त्री पुरुष के मुक्त प्रणय-व्यापार या तरुण तरुणियों की उद्दाम काम वासना के गायक नहीं थे, बल्कि वे स्त्री-पुरुष के विशुद्ध , संयमित मर्यादाशील पारिवारिक प्रेम के कवि थे। इसे हम गुप्त जी पर भारतीय सभ्यता और संस्कृति का प्रभाव कह सकते हैं ।

विचार और विषय की उत्कृष्टता के प्रतिपादन के लिय गुप्त जी ने सामान्यतः आदर्श पात्रों की जीवन गाथाएं अपने काव्यों में प्रस्तुत की हैं । इस दृष्टि से हम गुप्त जी को हिंदी का श्रेष्ठ कथाकार

कवि कह सकते हैं। अपनी कथाओं के माध्यम से वे आदर्श के प्रति, मानव जीवन के विकास की पूर्णता के प्रति सदैव पाठकों को प्रेरित करते रहे। वे कला को अभिव्यक्ति की कुशलता और अपूर्णता की पूर्णता का आधार मानते थे। उनके ही शब्दों में––

जो अपूर्ण, कला उसी की पूर्ति है।

अथवा

अभिव्यक्ति की कुशलता ही कला

कला और जीवन के सम्बन्ध में गुप्त जी का दृष्टिकोण समन्वयवादी था। वे कला को कला के लिये या जीवन को जीवन के लिये न मान कर कला को जीवन के लिये और जीवन को कला के लिये मानते थे। उनके मत से जीवन और कला दोनों का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। इसकी स्वीकृति उन्होंने इस प्रकार दी है ––

मानते हैं जो कला के अर्थ ही,
स्वार्थिनी करते कला को व्यर्थ ही।
वह तुम्हारे और तुम उसके लिए,
चाहिए पारस्परिकता ही प्रिये॥

––साकेत

गुप्त जी की कला सरलता से ओतप्रोत है। पंचवटी में इसका एक सूत्र इस प्रकार है ––

किन्तु मुझे तो सीधे सच्चे पूर्व भाव ही भाते हैं –– पंचवटी।

पूर्व भावों के माध्यम से पाठकों को प्रेरणा मिले, उपदेश मिले, और वे आदर्शवाद की ओर झुकें, इस दृष्टि से गुप्त जी के भारतभारती, हिन्दू, गुरुकुल, विशेष रूप से पठनीय हैं। इन रचनाओं में गुप्त जी की उपदेशात्मक वृत्ति अधिक जागरूक है। जयद्रथ वध, त्रिपथगा, और पंचवटी आदर्श चरित्रों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। इतना सब कुछ होने पर भी गुप्त जी को केवल परम्परावादी कवि या प्राचीन युग का अनुगायक माना उनकी प्रतिभा के प्रति अन्याय होगा। तटस्थता से यदि विचार किया जाय तो उनके काव्य में समय की आवाज़ भी सुनी जा सकती है। अनघ में गांधीवादी दर्शन का प्रभाव, झंकार में रहस्यवादी अनुभूति, अजंलि और अर्घ्य में राष्ट्र-पिता के निधन का शोक हमें स्पष्टतः दिखाई देता है। रहस्यवाद, छायावाद, यथार्थवाद, गांधीवाद, प्रगतिवाद, हालावाद, और रूढ़िवाद सबके सब उनके काव्य में खोजे जा सकते हैं। काव्य-गत चरित्रों की अन्तर्वृत्ति का निरूपण, स्वच्छन्दतानुराग, भक्ति भावना और औपनिषदिक दार्शनिकता उनमें पर्याप्त मात्रा में विद्यमान थी। साथ ही वे अपने युग के विश्वमानव और जनतंत्र के कवि थे।

प्रकृति के सम्बन्ध में गुप्त जी की धारणा बहुत व्यापक थी। वे प्रकृति

को मनुष्य के सुख-दुख से अभिभूत भी मानते थे और उसका स्वतन्त्र चित्रण भी करते थे । आलम्बन और उद्दीपन दोनों रूपों में उन्होंने प्रकृति को देखा था । जैसे --

लिख कर लोहित लेख डूब गया है दिन अहा ।
व्योम सिन्धु सखि देख, तारक बुदबुद दे रहा ।।--साकेत

कहीं-कहीं पात्र और प्रकृति का तादात्म्य सूचक बिंबप्रतिबिम्बवाद दृष्टि गोचर होता है--

मेरा ताप और तप उनका, जलती है हा जठर मही ।
मैंने ही क्या सहा सभीने मेरी बाधा व्यथा सही।।--साकेत

गुप्तजी प्रधानतः शान्त, करुण, वीर और शृंगार रस के कवि थे । उनकी भाषा सरल, संस्कृत निष्ठ और कहीं-कहीं उर्दू के शब्दों को लिये हुए हैं। तुकबन्दी उनका अद्वितीय गुण है । 'अहा' के साथ 'कहा' और मक्खी' के साथ 'लक्खी' या 'चक्खी' लिखने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं हुई। यों उन्होंने समय के साथ., अतुकान्त कविताएँ भी पर्याप्त मात्रा में लिखी हैं । कुल मिला कर काव्यसृष्टि के बारे में गुप्त जी को 'सावधान' कवि या 'सतर्क कवि' कहना अधिक उचित होगा क्योंकि वे --'मूड' के साथ-साथ अपने उत्तरदायित्व के प्रति सजग रहकर कविता लिखते थे, इसलिये उनके काव्य में अनेक गुण पाये जाते हैं। जिनका यहां संकेत मात्र पर्याप्त होगा---

१. गुप्तजी ने अपनी काव्यकृतियों में सदैव भाव, भाषा, चरित्र और सन्दर्भ के औचित्य का निर्वाह किया है ।
२. उनके काव्य में शब्दशक्ति का चमत्कार, अप्रस्तुत विधान, मानवीयकरण, और नाटकीय मूर्तिमत्ता पर्याप्त मात्रा में पाई जाती है ।
३. प्रसाद गुण के साथ-साथ उनकी रचनाओं में संगीतात्मक नाद सौन्दर्य, भावमयी कल्पना और हृदयस्पर्शी सजीव दृश्य विधान पाया जाता है ।
४. उन्होंने यथार्थ का आदर्श से, अतीत का भविष्य से, वाणी का अर्थ से और भाव का कला से सुन्दर गठ-बन्धन कराया है ।
५. उन्होंने लगभग सभी काव्य रूपों में रचना की है । साकेत, जयभारत, महाकाव्य, जयद्रथवध, किसान, पंचवटी, वकसंहार आदि खण्ड काव्य, और यशोधरा चम्पू-काव्य है । साकेत में कथा-सापेक्ष गीत हैं। यशोधरा और द्वापर को कथागीतों का समुच्चय कहा जा सकता है । इन काव्य-रूपों के आधार पर गुप्त जी को

प्रबन्धकार कवि कहना उचित होगा । उनकी कल्पना रवीन्द्रनाथ टैगोर की तरह अनंत आकाश में विचरण नहीं करती थी बल्कि वह वस्तुनिष्ठ थी । विषय की प्रधानता के कारण गुप्त जी अन्त-र्वृत्ति निरूपक कविता कम और बहि: वृत्ति निरूपक कविता अधिक लिखने के लिये बाध्य थे । फिर भी एक रससिद्ध कवि के नाते उन्होंने अपने पात्रों की चित्तवृत्तियों का बड़ा सजीव, प्रामाणिक और प्रभावशाली वर्णन किया है ।

६. गीतिकाव्य लिखने में भी गुप्तजी की साधना सिद्धि तक पहुंची है । उनकी उद्बोधन, राष्ट्रीय और मानवतावादी गीति रचनाएँ पर्याप्त सरस हैं। विशेषकर झंकार में रहस्यगीति, कुणालगीत में दार्शनिक गीति, पत्रावली में पत्र-गीति, और मंगलघट की प्रतीकात्मक प्रगीतियां बहुत सुन्दर हैं। क्षारपारावार, नक्षत्र निपात, पुष्पांजलि, झंकार, कीर, चयन आदि गीतों में गुप्त जी की विषण्ण मन:स्थिति का आकलन किया जा सकता है । आध्यात्मिकता और रहस्यानुभूति की दृष्टि से झंकार में कवि की सफलता स्तुत्य है । यथा --

वह बाल बोध था मेरा ।
निराकार निर्लेप भाव में भान हुआ जब तेरा ।--झंकार

या

निर्गुण तू तो निखिल गुणों का निकला बास बसेरा ।--झंकार

७. साकेत के नवम सर्ग का काव्य वैभव गुप्तजी की काव्य साधना का चरम-उत्कर्ष कहा जा सकता है ।

८. द्वापर में रार्बट ब्राउनिंग की तरह उन्होंने आत्मसंलापात्मक नाटकीय प्रगीत या ड्रामेटिक मोनोंलाग लिख कर अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है ।

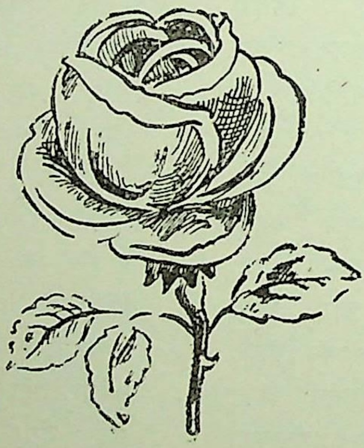
९. गुप्तजी नाटककार नहीं थे, पर अनघ, तिलोत्तमा और चन्द्रहास की नाट-कीयता उनकी नाटक कलाप्रियता का प्रमाण है ।

१०. छंदों की दृष्टि से गुप्तजी ने संस्कृत के द्रुतविलम्बित, वंशस्थ, शिखरिणी आदि तथा हिन्दी में परम्परा से प्रचलित घनाक्षरी सवैया, दोहा तथा कुछ कम प्रचलित छंद जैसे गीतिका, हरिगीतिका रूपमाला आदि का अधिक प्रयोग किया है । जयद्रथवध, भारत-

भारती, पंचवटी, साकेत और द्वापर में तुकान्तवृत्त अधिक हैं, जबकि सिद्धराज आदि में मुक्त छंद अधिक मिलते हैं ।

यदि गुप्तजी की सुदीर्घ काव्य-साधना पर बिना किसी पूर्वाग्रह के विचार किया जाय तो यह कहा जा सकता है कि गुप्तजी के काव्य की अन्तश्चेतना पर भारतीय नैतिकता, आध्यात्मवाद, और आदर्शवादी संस्कारों का बड़ा व्यापक प्रभाव था इसीलिये वे भौतिकता से आक्रान्त बीसवीं शताब्दी के मानव को राम और राम-राज्य का आदर्श दिखाते रहे और अपने आस्थावादी जीवन-दर्शन के कारण वर्तमान पतितावस्था में भी मानव के पुनरुत्थान का स्वप्न देखते रहे । उनके इन प्रयत्नों को केवल परम्परा का पिष्टपेषण ही नहीं समझना चाहिए, बल्कि युग की आवश्यकता के अनुरूप हमें उनके भाव, विचार, मन्तव्य और जीवन-दर्शन का मूल्यांकन करना चाहिए आज जब सारी मानवता भौतिकता, यान्त्रिकता और अति बौद्धिकता से बुरी तरह जकड़ गई है तब हमें उदात्त भावुकता, स्वसंस्कारिणी आध्यात्मिकता और मानवीय मूल्यों की महत्ता पहचाननी होगी । हमें जीवन को यंत्रवत् नहीं, जीवनवत् जीना सीखना होगा । गुप्तजी का काव्य इस क्षेत्र में हमें बहुत कुछ दे सकता है । इसमें सन्देह नहीं है ।

○ ○ ○



समस्या एकांकी का प्रारम्भ

डा० रामचरण महेन्द्र

अंग्रेजी नाट्यशिल्प से प्रभावित हिन्दी एकांकी

आधुनिक हिन्दी नाटक-साहित्य के अन्तर्गत समस्या-एकांकी नवीनतम प्रयोग है। आजका युग बौद्धिक और वैज्ञानिक है। उसका मूल स्वर यथार्थवाद है। वह साहित्य का प्रयोग व्यर्थ समय नष्ट करने या हलके क्षणिक मनोरंजन मात्र के लिये नहीं करना चाहता। गगनविहारी कोरे कल्पना-प्रसूत रोमांटिक साहित्य के स्थान पर वह आधुनिक साहित्य में अपने चतुर्दिक जीवन की यथार्थ गुत्थियों का प्रतिबिम्ब तथा दैनिक जीवन की गुत्थियों का हल देखना चाहता है। प्रत्यक्ष क्रियाशील जीवन और दैनिक संघर्ष में आने वाले विविध वर्गों के पात्रों के माध्यम से समस्या-एकांकी हमारी वैयक्तिक, पारिवारिक सामाजिक तथा राजनैतिक समस्याओं का विश्लेषण और हल प्रस्तुत करता है। यह जीते जागते यथार्थ जीवन का एक टुकड़ा है। इसमें सामाजिक जीवन के अनेक स्पन्दनयुक्त चीखते चिल्लाते चित्र हैं। यह जीवन की सन्निकटता ही समस्या-एकांकी की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई लोकप्रियता का रहस्य है।

समस्या-एकांकी पाश्चात्य साहित्य की देन है। हिन्दी में समस्या-एकांकी का जन्म, प्रचलन और अनुकरण अंग्रेज़ी के प्रचलन से हुआ है।[१] हिन्दी के कई एकांकीकारों ने स्वयं यह स्वीकार किया है कि उन्होंने इस दिशा में अंग्रेज़ी से बहुत कुछ लिया है। हिन्दी समस्या-एकांकी की विचारधारा और शिल्प पर पाश्चात्य नाट्यकारों जैसे इब्सन और जार्ज बर्नाड शा आदि आधुनिक नाट्यकारों की कला का स्पष्ट प्रभाव है। कुछ आलोचकों ने तो यहां तक स्वीकार किया है कि समस्या एकांकी की दिशा में हिन्दी-एकांकी पाश्चात्य एकांकी नाटकों के साथ चला है।[२]

१. देखिए प्रो० अमर नाथ गुप्त कृत 'हिन्दी एकांकी' पृष्ठ १ तथा डा० एस० पी० खत्री कृत 'नाटक की परख' पृ० १७१।

२. देखिए प्रो० दत्तात्रेय बोर गांवकर कृत 'पन्द्रह अगस्त' संग्रह की भूमिका

आलोचक डा० सत्येन्द्र के अनुसार हिन्दी एकांकी के विकास की द्वितीय अवस्था सन् १९२९ से सन् १९३८ तक मानी जा सकती है । इस काल में अंग्रेज़ी का प्रभाव हिन्दी-एकांकियों पर 'बहुत अधिक उभर और उतर रहा था । वह हिन्दी के एकांकीकार की प्रवृत्ति के अनुकूल होकर उनकी रचना में घुलमिल कर एक रस हो गया और एकांकियों का स्वाभाविक अंग बन गया ।'१ हम इस मत से सहमत हैं, क्योंकि आधुनिक समस्या-एकांकी लिखने वाले हिन्दी एकांकीकारों ने अंग्रेज़ी समस्या-नाटकों की विचारधारा और शिल्प का अध्ययन किया था और उसी के अनुकरण पर अनेक एकांकी लिखने प्रारंभ किये थे । हिन्दी के प्रयोगवादी एकांकीकार सर्वश्री भुवनेश्वर प्रसाद, उपेन्द्रनाथ अश्क, डा० रामकुमार वर्मा, उदयशंकर भट्ट और विष्णु प्रभाकर आदि के अधिकांश एकांकी समस्या-नाटक ही हैं । इसकी पुष्टि में हम डा० रामकुमार वर्मा के शब्द उद्धृत करते हैं, जिन्होंने स्वीकार किया है कि 'हिन्दी साहित्य में जो नाटक लिखे गये, वे संस्कृत नाट्यशास्त्र' से अवश्य प्रभावित हैं, परन्तु बीसवीं शताब्दी के नाटकों में पश्चिम के यथार्थ जीवन (समस्याचित्रण) और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण ने नए परिवर्तन उपस्थित किये हैं । हिन्दी में ऐसे अनेक नाटक लिखे गये हैं, जिन्होंने पश्चिम से नाट्यशैली ग्रहण की है ।'२

इस मत में पूर्ण सत्यता है क्योंकि हिन्दी एकांकी पर पश्चिम के समस्या-एकांकियों का प्रभाव उत्तरोत्तर अभिवृद्धि पर था । अंग्रेज़ी से अनेक अनुवाद हो रहे थे । जैसे ए० ए० मिलने कृत 'दि मैन इन दी बाउलर हैट', का अनुवाद प्रो० अमरनाथ गुप्त ने 'एक अतिशः अद्भुत घटना' नाम से प्रस्तुत किया था।३ यह अक्षरशः (लिटरल) अनुवाद का उदाहरण है । अनुवादक ने मौलिक वातावरण उत्पन्न करने का भरसक प्रयत्न किया है। जान ड्रिंकवाटर कृत 'कलिंगयुद्ध की एक रात' का स्वच्छन्द अनुवाद श्री दुर्गादास भास्कर ने प्रस्तुत किया था । ४ इस एकांकी में कथानक के साथ-साथ नामकरण आदि सभी कुछ भारतीय हैं। अतुकान्त के स्थान पर गद्य का प्रयोग है । इसके पात्र बलवान और आदर्शवादी हैं । पर्दा गिरने से पूर्व युद्ध की आवश्यकता सभी स्वीकार कर लेते हैं । एकांकी का चतुर्थ दृश्य नाट्य तत्त्वों से सन्निहित है ।

---

१. देखिए डा० सत्येन्द्र कृत 'हिन्दी एकांकी' पृष्ठ ३५ ।
२. देखिए डा० रामकुमार वर्मा कृत 'दीपदान' भूमिका पृष्ठ ११-१२
३-४ देखिए प्रो० अमरनाथ गुप्त द्वारा सम्पादित 'एकांकी नाटक' पृ० २६१ तथा पृ० २८५ ।

लेखक ने ब्योरेवार विस्तृत वर्णन न कर केवल संक्षेप में ही सूचना दी है। अनुवाद सफल और मनोरंजक बन पड़ा है।

इसी प्रकार अन्य अनेक आलोचकों ने भी हिन्दी एकांकी पर पाश्चात्य प्रभाव का अनुभव किया था। डा० सोमनाथ गुप्त ने अपने निष्कर्षों को स्पष्ट करते हुए अपने शोधग्रन्थ 'हिन्दी नाटक का इतिहास' में लिखा था :—

'पश्चिमी विचारधारा के प्रभावाधिक्य के साथ साथ हिन्दी एकांकी के रूपरंग और विचारधारा में भी परिवर्तन हुआ। पाश्चात्य समस्या-नाटकों की तरह बुद्धिवाद ने हिन्दी एकांकी को अछूता नहीं छोड़ा। भुवनेश्वर प्रसाद के एकांकियों में तो स्पष्ट यह प्रभाव दिखाई दिया।'१

उपर्युक्त मत की पुष्टि के लिये हम भुवनेश्वर प्रसाद कृत 'शैतान' नामक एकांकी को ले सकते हैं। इसमें स्त्री-पुरुष के कृत्रिम वैवाहिक सम्बन्ध की पोल खोली गई है। इस नाटक में स्त्री के द्वारा राजेन का चुम्बन पाश्चात्य विचारधारा और सामाजिक शिष्टाचार का प्रत्यक्ष प्रभाव चित्रित करता है। जार्ज बर्नाडशा के अंग्रेजी समस्या-नाटक 'डेविल्स डिसाइपिल्स' का प्रभाव भुवनेश्वर प्रसाद के शैतान पर मुखरित हो गया है। इस प्रकार कहीं प्रत्यक्ष तो कहीं अप्रत्यक्ष रूपों में हिन्दी एकांकीकारों ने पश्चिम का अनुकरण किया। कहीं यह पचा, तो कहीं अपने स्थूल रूप में ही दृष्टिगोचर हुआ। इसी प्रयोग को देखकर डा०सोमनाथ गुप्त ने उचित ही लिखा है :—

"हमारे लेखकों ने इसी समय में विदेशी विचारधारा और विदेशी प्रणाली को लेकर हिन्दी साहित्य में अच्छी उछल कूद की है।"२

निष्कर्ष यह है कि हिन्दी एकांकियों में पाश्चात्य समस्या-नाटकों का प्रभाव उत्तरोत्तर चलता और बढ़ता रहा। प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों रूपों में हिन्दी एकांकीकार प्रभावित हुए और उनके अनुकरण पर नये प्रकार के समस्या एकांकियों का निर्माण प्रारंभ हुआ। हिन्दी के विद्वान् कुछ अंग्रेजी प्राध्यापकों ने, जो सम-सामयिक यथार्थवादिता की परम्परा से प्रभावित पाश्चात्य नाटककारों जैसे इब्सन, जोन्स, पिनरो, वाइल्ड, गाल्सवर्दी, लेडी ग्रेगरी, सिंज, ओकेसी, बर्नाडशा आदि के नाटकों को विश्वविद्यालयों की उच्च कक्षाओं को पढ़ाते रहे हैं, ने भी यह स्वीकार किया है कि अंग्रेज़ी के समस्या-नाट्यकारों का प्रत्यक्ष

---

१. देखिए डा० सोमनाथ गुप्त कृत 'हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास' पृ० ३३५।
२. वही।

या अप्रत्यक्ष अनुकरण हिन्दी एकांकीकारों ने किया था । प्रयाग विश्वविद्यालय के अंग्रेज़ी प्राध्यापक और हिन्दी के गणमान्य आलोचक प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त ने अनुभव किया कि 'अंग्रेज़ी के प्रभाव से हिन्दी साहित्य में एकांकी नाटक की एक नई धारा फूट रही है । हिन्दी के भावी रंगमंच पर इसका भारी प्रभाव हो सकता है । भुवनेश्वर के 'कारवां' नामक एकांकी संग्रह के नाटकों पर पाश्चात्य टेकनीक और विचारधारा की गहरी छाप है । पृथ्वीनाथ शर्मा के एकांकी नाटक पाश्चात्य टेकनीक के अनुगत हैं ।' १

उपर्युक्त मत में पर्याप्त सत्यता है । नई पीढ़ी के हिन्दी नाट्यकार नवीन अंग्रेज़ी साहित्य तथा उनकी नई विचार-धारा शैली आदि से प्रभावित हुए थे । शिल्प की नवीनता विविध समस्यायें और पाश्चात्य विचारधारा के अनुकरण पर हिन्दी में समस्या एकांकियों के अनुवाद, अनुकरण, और नए प्रयोग प्रारंभ हुए थे । भारत में अंग्रेज़ी भाषा तथा साहित्य की विधाओं का यह अनु-करण और प्रचार अधिकाधिक चलता रहा है । यथार्थवाद का विशेष प्रचार इसी सम्पर्क का परिणाम है । बौद्धिक क्रान्ति के फलस्वरूप हिन्दी नाट्य साहित्य में भी यथार्थवाद का आन्दोलन जन्मा तथा स्वच्छन्दतावाद के विरोध में इसने तीव्रता ग्रहण की । राजनैतिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में उपयोगितावाद, मानवतावाद, और समाजवाद विकसित होते गये । फलतः साहित्य में भावना और कल्पना के स्थान पर तर्क और बुद्धि का प्राधान्य दिखाई देने लगा ।

ऐतिहासिक दृष्टि से पाश्चात्य प्रभाव का आगमन :

हिन्दी नाटक साहित्य पर पाश्चात्य विशेषतः अंग्रेज़ी नाटकों का कुछ प्रभाव भारतेन्दु-युग से ही प्रकट होने लगा था । स्वयं भारतेन्दु जी भी पाश्चात्य नाट्य-साहित्य में प्रभावित थे और उन्होंने शैक्सपीयर कृत 'मर्चेंट आफ वेनिस' नामक नाटक का प्रथम हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया था । अंग्रेज़ व्यापार के कारण सर्वप्रथम बंगाल में आये थे । फलतः सर्वप्रथम वहीं पर अंग्रेज़ी भाषा और साहित्य का सर्वाधिक प्रचार हुआ था । १९वीं शताब्दी तक बंगला साहित्य ने अंग्रेज़ी से विचार और साहित्य को नई शैलियों के रूप में बहुत कुछ ग्रहण किया था । बंगला के माध्यम से भारतेन्दु जी को अंग्रेज़ी से प्रेरणा मिली थी ।

---

१. देखिए प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त कृत 'छै एकांकी' संग्रह की भूमिका पृ० ७ प्रकाशक सरस्वती प्रेस, बनारस ।

इसी प्रकार यह प्रभाव अधिकाधिक वृद्धि पर रहा । श्री जयशंकर प्रसाद को भी बंगला के माध्यम से अंग्रेज़ी से स्फूर्ति मिली थी। प्रसाद-युग तक अंग्रेज़ी भाषा और साहित्य का प्रभाव सीधा न पड़ कर बंगला भाषा और साहित्य के माध्यम से पड़ा था । संस्कृत का कुछ क्षीण प्रभाव पहले से ही आ रहा था । इसलिये प्रसाद-युग के एकांकियों में संस्कृत, बंगला और अंग्रेज़ी तीनों के नाट्य-शिल्पों और विचारधाराओं का सम्मिलित प्रभाव मिलता है । बीसवीं शताब्दी के आरंभ से ही अंग्रेज़ी के शासकीय दबाव, अंग्रेज़ी भाषा के शिक्षा का माध्यम होने तथा पाश्चात्य शैलियों के प्रति शिक्षित समुदाय में विशेष आकर्षण होने के कारण सीधे ही पाश्चात्य नाट्य शैलियों का अनुकरण होने लगा ।

आधुनिक नाटकों में समस्या-एकांकी नवीनतम देन है । हिन्दी समस्या नाटकों की विचारधारा और शैली पर हेनरिक, इब्सन और जार्ज बर्नाडशा आदि पाश्चात्य नाट्यकारों की कला का प्रभाव है। डा० राम कुमार वर्मा, गोविन्ददास, लक्ष्मीनारायण मिश्र, उपेन्द्रनाथ अश्क, उदयशंकर भट्ट, भुवनेश्वर और पृथ्वीनाथ शर्मा आदि प्रमुख हिन्दी नाट्यकारों के एकांकियों में पश्चिमी नाट्यकला का सीधा प्रभाव मिलता है । गत २०–२५ वर्षों में अनेक एकांकी अंग्रेज़ी से अनुवाद होकर आये हैं। और अधिकांश एकांकी पाश्चात्य विचारधाराओं तथा शैलियों पर लिखे गए हैं । १

पाश्चात्य बौद्धिक जागृति और समस्या एकांकी

बौद्धिक जागृति का संक्षिप्त इतिहास :—

१९वीं शताब्दी से ही पुरानी परम्परागत रूढ़ियां और जीर्ण विचार-धाराएं ढहने लगीं । समाज, राजनीति, धर्म तथा दर्शन के अन्तर्गत बौद्धिक चेतना और प्रजातन्त्र की भावनाओं का प्रारंभ हुआ । साहित्य पर उपयोगिता की दृष्टि से विचार होना प्रारंभ हुआ। जेरमी बेन्थम ने मनुष्यों के सम्पूर्ण कर्तव्यों की कसौटी उनकी उपयोगिता को माना । २ तदन्तर जेम्स मिल ने

---

१. श्री जगदीशचन्द्र माथुर के ये विचार उपर्युक्त मत की पुष्टि करते हैं-वे लिखते हैं .— "विदेशी नाटकों में मनुष्य की अनुभूतियां हमारे अधिक निकट हैं और संस्कृत नाटकों की अनुभूतियां उतनी निकट नहीं हैं, क्योंकि विदेशी नाटकों में आधुनिक युग-जीवन की अनुभूतियां हैं और संस्कृत नाटकों में बीते जीवन की अनुभूतियां हैं ।"
—'नया जीवन' फरवरी १९५४ पृष्ठ २५

२. Nature has placed mankind under the Governance of two sovereign masters-pain and pleasure. It is for them alone to point out what we ought to do.
—Bentham "Principles of Moral Legislation page 1".

धार्मिक रूढ़िवादिता का विरोध करते हुए लौकिक और अन्तर्राष्ट्रीय विधियों की शिक्षा द्वारा मानवतावाद को और विकसित किया था । आगे चल कर जान आस्टिन ने न्यायशास्त्र के आधार पर उपयोगितावाद का अध्ययन प्रारंभ किया, किन्तु इस दिशा में सबसे अधिक कार्य जान स्टुअर्ट मिल के द्वारा हुआ । वे विचार स्वातन्त्र्य तथा उपयोगितावाद के सबसे बड़े प्रवर्त्तक थे । उनके जीवन-दर्शन के अन्तर्गत भूमि सम्बन्धी सुधार, स्त्रियों के विचार स्वातन्त्र्य, राजनैतिक मताधिकार और श्रमिक वर्गों की आर्थिक अवस्था में नाना सुधारों के प्रयत्न किये गये ।

संक्षेप में मिल का विचार था कि राज्य सरकार का मुख्य लक्ष्य व्यक्ति का सर्वांगीण विकास होना चाहिए । उसके लिये प्रत्येक नागरिक को विचार, क्रिया और भाषण देने की पूर्ण स्वतंत्रता मिलनी चाहिए । मिल ने इस स्वतन्त्रता को मनुष्य के लौकिक ही नहीं, प्रत्युत आध्यात्मिक विकास के लिये भी आवश्यक माना है । जहां व्यक्ति को स्वतन्त्रता का पूरा अवसर मिलता है, वहीं समाज विकसित संतुलित और पूर्ण बनता है ।१ उपयोगितावाद ने साहित्य और दर्शन पर प्रभाव डाला है । विज्ञान के क्षेत्र में हर्बर्ट स्पेन्सर, डारविन तथा हक्सले के सिद्धान्तों ने विकासवाद को आगे बढ़ाया । कार्ल मार्क्स ने अपने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद द्वारा समाज को विकास की नई दिशाएं दीं । उन्होंने बताया कि समाज में पूंजीवाद का विनाश होकर श्रमजीवी वर्ग की व्यवस्था स्थापित होगी । सारे विश्व में समाजवादी अर्थ व्यवस्था का प्रसार होगा । मार्क्स ने पूंजीवाद को समाज के समस्त कष्टों का दोषी ठहराया और समाजवादी व्यवस्था की स्थापना ही शोषण को अन्त करने का साधन माना है । साम्यवाद के प्रसिद्ध घोषणा-पत्र में कम्यूनिस्ट क्रान्ति का आता हुआ स्वर इन शब्दों में मुखरित हुआ है :–

"साम्यवादी क्रान्ति के कारण शासक वर्गों को कांपने दो । उनका कुछ भी नष्ट नहीं होगा । केवल उनके बन्धन करेंगे । समग्र विश्व का

rom conception of liberty as external freedom of action necessary for the discovery and pursuit of his material interest, Mill rose to the conception of liberty as free play for that spiritual originality with all its result in individual vigour and manifold diversity which alone can constitute a rich, balanced and developed society."

—E. Barker "Political Thought", Page 10.

वैभव उनका है, इसके लिये उनको संघबद्ध होना चाहिए ।" १

बौद्धिक जागृति से उत्पन्न यथार्थवाद का आन्दोलन :--

पश्चिम में समाज संगठन का मुख्य आधार अर्थनीति रहा है, किन्तु भारत में सामाजिक संगठन, वर्णाश्रम व्यवस्था के आधार पर रहा है । अतः यहां सामाजिक कुरीतियों या पुरानी जीर्ण परम्पराओं के सुधार सम्बन्धी अनेक आन्दोलन हुए हैं जैसे विधवा-विवाह, सती प्रथा का निवारण, कन्यावध निषेध, बेमेल विवाह, कन्या विक्रय, वर विक्रय अन्तर्जातीय, अन्तर्प्रान्तीय तथा साम्प्रदायिक मतभेद, पर्दा प्रथा, जाति पांति के भेद, दलित जातियों का उद्धार, हरिजन आन्दोलन, आदिवासी समस्या, सामाजिक व्यवहार में फज़ूल खर्ची, संयुक्त परिवार प्रणाली, सन्तान-निग्रह, आधुनिक सभ्यता की विलासिता शौकीनी, दिखावा, आराम तलबी, नशेखोरी, स्वच्छन्दता, वेश्याओं की स्थिति में सुधार इत्यादि इन सामाजिक त्रुटियों को दूर करने के लिये समाज सुधारकों तथा सरकारी क्षेत्रों से प्रयत्न किये गए । स्वस्थ दिशा में विकास के लिये जनमत तैयार किया गया । भारत सेवक समिति, पूना, सोशल सर्विस लीग, बम्बई, जीवदया संघ, बम्बई, डेकन एज्यूकेशन सोसायटी, पूना, सर्वेन्टस आफ दी पीपल्स सोसाइटी लाहौर, अखिलभारतीय ग्रामोद्योग संघ, वर्धा तथा बालचर दलों ने सेवा भाव से जागृति में बड़ी सहायता की । मार्च, १९४८ में सर्वोदय समाज वर्धा की स्थापना हुई, जिसका उद्देश्य सत्य और अहिंसा पर एक ऐसा समाज बनाने की कोशिश करना था जिसमें जात पांत न हो, शोषण करने का अवसर न मिले और समूह और व्यक्ति दोनों को पूरा पूरा विकास करने का अवसर मिले । योरुप के समाजवाद और साम्यवाद का प्रभाव भी भारतीय समाज पर दृष्टिगोचर हुआ सामन्तवादी विचारधारा ढीली पड़ती गई तथा एकांकियों में गरीबों, मजदूरों तथा शोषितों की कारुणिक परिस्थितियों का चित्रण होने लगा । इस बौद्धिक क्रान्ति के फलस्वरूप नाटक साहित्य में यथार्थवाद का आन्दोलन चला । जोला नामक यथार्थवादी नाटककार ने घोषित किया था, "या तो नाटक यथार्थवादी बनेगा, अथवा उसका सदा के लिये अन्त हो जायेगा ।" २ उन्होंने स्वच्छन्दतावाद

---

१. कम्यूनिस्ट मेनीफेस्टो ।

२. देखिए निकिल कृत अंग्रेजी पुस्तक 'वर्ल्ड ड्रामा' पृष्ठ ४८० ।

का विरोध किया और उसे अस्वाभाविक ठहराया । नार्वे के प्रसिद्ध नाटककार हेनरिक इब्सन ने यथार्थवादी सामाजिक नाटकों को अपनी कला की पूर्णता पर पहुंचाया ।

अंग्रेजी में समस्या नाटक :—

अंग्रेज़ी साहित्य में समस्या नाटक एक नूतन प्रयोग था । इसने प्राचीन शास्त्रीय परम्पराओं और प्रचलित नाट्य-सिद्धान्तों के विरुद्ध विद्रोह किया । बौद्धिक और उपयोगितावादी आन्दोलनों के फलस्वरूप समस्या नाटकों का जन्म हुआ । समस्या नाटक सम्बन्धी यथार्थ-वादी आन्दोलन के आलोचकों, रंगमंच निर्देशकों और दर्शकों को विस्मित कर दिया । पुराने अद्भुत कल्पनायुक्त स्वच्छन्दतावादी नाट्यकारों ने इस आन्दोलन का विरोध किया ।

महासमर के कुछ वर्ष पूर्व जब अंग्रेज़ी रंगमंच लगभग एक शताब्दी की गहरी निद्रा से आंखें मल कर उठ रहा था, तो एक नए ढंग के (समस्या प्रधान यथार्थवादी) छोटे नाटकों का जन्म हुआ और शीघ्र ही वे लोकप्रिय हो गये । अमेरिका में विशेषतः ऐसे नाटकों का स्वागत हुआ क्योंकि स्वभाव से ही अमेरिका निवासी षटरस व्यंजन पसन्द करते हैं ।[1]

यथार्थवाद के इस आन्दोलन का नेतृत्व करने वालों में इब्सन, जार्ज बर्नार्डशा, जान गाल्सवर्दी, आर्थर विंग पिनरो, हेनरी आर्थर जोन्स, हारले ग्रेनविल बारकर, स्टैनले हाटन आदि नाट्यकार थे। इन्होंने लम्बे स्वच्छन्दतावादी कल्पना-युत नाटकों को अस्वाभाविक और कृत्रिम बतलाते हुए समस्या नाटकों को जन्म दिया । शा ने तो यहां तक कहा कि केवल समस्या नाटकों को ही सच्चे और वास्त-विक अर्थों में नाटक कहा जा सकता है। अतिभावुकता, कल्पना तथा रोमान्स की भावनाओं से नाटक नहीं बनता, यथार्थ चित्रण मात्र ही नाटक नहीं है । सच्चा नाटक वह समस्या नाटक ही है, जो मनुष्यों की इच्छा तथा उसकी सामाजिक परिस्थिति के संघर्ष (अर्थात् समस्या) को प्रतीक रूप में प्रस्तुत करता है ।[2] ए० निकिल का यह विचार सत्य है कि यथार्थवाद के उस आन्दोलन की परिस्थिति में यह स्वाभाविक था कि नाटक या तो मृत्यु शय्या पर पहुंच जायगा अथवा उसे आधुनिक और यथार्थवादी होना होगा ।[3]

---

१. प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त 'छै एकांकी' भूमिका पृ० १।

२. देखिए बर्नार्डशा लिखित नाटक 'मिसेज़ वारेन्स प्रेफ़िशन' की भूमिका ।

३. "The drama will either die or become modern or realistic. A Nicoll 'World Drama' page 480.

ये विचार सर्वथा नए और क्रान्तिकारी थे। नाटक साहित्य में आने वाले नए परिवर्तन के सूचक थे। इनसे नाटक यथार्थ जीवन का एक टुकड़ा बन गया। दैनिक जीवन की शतशत समस्याएं उसमें प्रतिबिम्बित हो उठीं। रंगमंच अथवा रेडियो पर दर्शक और श्रोता अपने जीवन की गुत्थियों का हल पाने लगे।

यथार्थवादी आन्दोलन के परिणाम-स्वरूप नाटकों में छन्द और अलंकृत कृत्रिम भाषा की स्वच्छन्दतावादी रूढ़ियां टूटने लगीं, पद्य के स्थान पर पात्रों के सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक और राष्ट्रीय जीवन के अनुभवों के स्पष्टीकरण का माध्यम गद्य बनाया गया, घटना-विस्तार की जटिलता के स्थान पर एक अंक का सरल दृश्य विधान अपनाया गया। विषयों के चुनाव में बुद्धिवाद और तर्क का प्रयोग विशेष रूप से किया गया। प्रारंभ में तो समस्या नाटक विचार बोझिल, अरुचिकर, शुष्क तथा ऊबा देने वाले प्रतीत हुए, क्योंकि उनमें मनोविनोद का अंश कम और समाज की कठोरताओं से पलायन की संभावना न थी। पुराने रोमांटिक नाटकों के प्रेमी यथार्थवादी समस्या नाटकों के प्रति वीतराग रहे।

विरोधियों की आलोचनाएं भिन्न-भिन्न प्रकार की थीं। एक आलोचक ने समस्या नाटकों की शुष्कता और गंभीरता पर व्यंग्य करते हुए लिखा था 'हम थियेटर में शिक्षण तथा अपने त्रुटियों के सुधार के लिये नहीं जाते हैं, वरन् मनोरंजन तथा आमोद-प्रमोद के लिये जाते हैं।"१

अभी तक थियेटर मालिक सस्ते प्रकार के उत्तेजक हास्य व्यंग्यपूर्ण, भावुकता और कल्पनारंजित सुखान्त नाटक, प्रहसन और गीति नाट्य रंगमंच पर प्रदर्शित किया करते थे। समस्या नाटकों के एक नेता हेनरी आर्थर जोन्स ने बड़े सशक्त शब्दों में अंग्रेज़ जनता द्वारा इन कृत्रिम, अत्युक्तिपूर्ण और अस्वाभाविक नाटकों के हार्दिक स्वागत पर आश्चर्य प्रकट किया था। २ विक्टोरियन रंगमंच पर गंभीर नाटकों की सफलता की आशा व्यर्थ थी।

---

1. "You go to the theatre not for instruction or correction but for relaxation and amusement."

—Scribe stated in his address to the French Academy.

2. "The most amazing master pieces of artificiality, extravagance and theatricality were rapturously received by the great British multitude.

—H. A. Jones: "Preface to 'Saints & Sinners' Page 9.

आमोदप्रमोद के इच्छुक दर्शक समाज की कटु समस्याओं, घरेलू या व्यावसायिक विषमताओं से बचकर मधुर कल्पनाजगत् में विहार करने का आनन्द उठाने के इच्छुक रहा करते थे। वे रंगमंच को प्रकाश और ध्वनि, रहस्य और रोमान्स का ऐसा स्थान समझते थे, जो उनके नीरस और थके हुए जीवन में आनन्द और उत्तेजना दे सके तथा शिथिल जीवन में ताज़गी उत्पन्न करे।१ इन सस्ते मनोरंजन के इच्छुकों के लिये यथार्थवादी गंभीर समस्या नाटक शुष्क, बेसुरे और अनाकर्षक लगे, क्योंकि वे अपने सामाजिक जीवन की कठोर विषमताओं को विस्मृत करना चाहते थे।

पाश्चात्य समस्या नाटक के जन्मदाता नार्वे के प्रसिद्ध नाट्यकार हेनरिक इब्सन हैं। इन्होंने समाज या मनुष्य जीवन के किसी महत्वपूर्ण दुखद पहलू को आधार बना कर अपने नाटकों की रचना की थी। सन् १८६१ में जब उनका 'घोस्टस' नामक समस्या नाटक रायल्टी थियेटर में खेला गया था, तो उसकी विचार धारा और नये सिद्धान्तों के कारण नाट्य जगत में एक विवाद उत्पन्न हो गया था। प्राचीन अतिरंजित कल्पनामूलक स्वच्छन्दतावादी नाटक सम्बन्धी मान्यताओं के विरोध के कारण इब्सन के समस्या नाटकों पर गंवारपन, अहंवाद, भद्दापन और बेहूदगी के आरोप लागाये गए थे। कुछ आलोचकों ने तो उन्हें अहंवाद और गन्दगी से परिपूर्ण, अशिष्ट और बेहूदे नाटक तक कहा था। उन्हें ऐसा माना था जैसे किसी गन्दगी की नाली को खोल दिया गया हो, या सड़ते हुए घाव की पट्टी खोल दी गई हो या सार्वजनिक रूप से एक अनैतिक कार्य कर डाला गया हो।२

प्रो० ली डैयूम (Le Daum) समस्या नाटक को योरोपीय सभ्यता और यथार्थ जीवन के चित्रण का स्वाभाविक परिणाम मानते हैं।३ इब्सन को दर्शकों की दृष्टि में बासी, फीका और अनाकर्षक कहा गया। उनके सामाजिक समस्या नाटकों को नार्वे के जीवन और समाज तक ही सीमित माना गया। उनके "डौल्स हाउज़" और "घोस्टस" नामक समस्या नाटकों में सामाजिक

1. See 'The Victorian Stage' Quarterly Review, Vol. 193 page 98.
2. The play was described in 'Daily Telegraph' (March 14, 1891) as a mass of vulgarity and egotism, coarseness and absurdity and an open drain a loathsome sore unbandaged, a dirty act publicly done.
3. The European Problem Play in 'The University of North Dakota' Quarterly 11, 1911, page 44.

विशेषतः वैवाहिक रूढ़ियों पर निर्मम व्यंग्य मिलता है । इब्सन सच्चा वातावरण और यथार्थवादी सामाजिक जीवन प्रस्तुत करना चाहते थे और यथार्थ की आधारशिला और स्वातन्त्र्य भावना को समाज के दो स्तम्भ कहते थे । इब्सन ने अपने नाटकों के विषय, समस्याएं और स्थितियां तो तत्कालीन जीवन और समाज से प्रस्तुत की हैं, पर सबसे बड़ी विशेषता यह है कि रंगमंच को समाज और युग का सच्चा प्रतिबिम्ब बनाया है । प्रारंभ में जोली और इब्सन दोनों को ही अश्लील और स्तर च्युत माना गया किन्तु विरोध और कटुता के बावजूद इब्सन के समस्या नाटकों का प्रचार हुआ । जब 'घोस्टस' समस्या नाटक का पहला अभिनय हुआ था तो उसे अनाटकीय कहा गया था। क्लीमेन्ट स्काट ने कहा कि यह नाटक ही नहीं है, वंशानुक्रम छूत से फैलने वाले रोग जैसा भ्रष्ट अवांछित चित्र है ।१ इब्सन यथार्थता और जीवन की अतिनिकटता प्रस्तुत कर नाटक से कृत्रिमता दूर करना चाहते थे । उन्होंने स्वयं लिखा है कि 'घोस्टस' नामक समस्या-नाटक में मेरा उद्देश्य यह भावना उपस्थित करना है कि पाठक कुछ वास्तविक जीवन देख रहा है । जो घटनाएं या जीवन के पहलू वह रंग-मंच पर देख रहा है, वे वास्तव में घटे हैं। फोटोग्राफ की भांति स्वाभाविक और सूक्ष्म हैं । "२

इब्सन ने पुनः पुनः व्यक्ति को सामाजिक वातावरण से संघर्ष करते हुए चित्रित किया है । स्त्री पुरुषों को एक जीर्ण समाज की दूषित परम्पराओ से, जो उसके विकास के मार्ग में बाधक हैं, विरोध करते हुए दिखाया है । "डौल्स हाउस" नामक नाटक की नायिका नोरा हिम्मत कर वैवाहिक गुलामी की शृंखलाएं तोड़ती है और परिवार रूपी गुड़िया के घर से स्वतंत्र होती है । 'घोस्टस' में अस्वस्थ नैतिक मापदंडों को आत्म-समर्पण के भयंकर दुष्परिणाम चित्रित किये गये हैं । समाज की जीर्ण मान्यताओं से संघर्ष करने वाले व्यक्ति के प्रति इब्सन की सच्ची सहानुभूति थी । वह सच्चे उत्साही अहंवाद

---

1. 'The Daily Telegraph' 14th March, 1891. "The Ghosts" is an essay on heredity and contagious disease and prohibly incest." clement Scott.

2. In a letter to Sohus Schandorph in 1881 Ibsen wrote; "My intention was to produce the impression in the mind of the reader that he was witnessing something real."

की पूर्ति को आनन्द की एक आवश्यक स्थिति मानते थे ।१ वे जन्म और पूंजीवाद की अपेक्षा मनुष्य के संकल्प और चरित्र की महानता को महत्त्व प्रदान करते थे इब्सन कृत "डोल्ज़ हाउज़ ।" और 'घोस्टस' नामक समस्या-नाटकों की उत्पत्ति समाज में नारी की विषम स्थिति तथा अन्याय, उनके विरोध में पुरुष द्वारा बनाये हुए सामाजिक रूढ़ियों और नियमों के पक्षपात को समक्ष रख कर हुई थी ।.

इब्सन फ्रांसीसी नाट्यकला के अनुसार शास्त्रीय नाटकों को पसन्द नहीं करते थे । उन्हें वे सामाजिक अवस्थाओं पर नाटकीय शैली में लिखे हुए संवादमात्र कहते थे । वे अपने आपको प्रचारक या सामाजिक विचारक नहीं समझते थे । उनका मुख्य कार्य मनुष्यों को उनके वास्तविक यथार्थ रूप में प्रस्तुत करना, मनुष्य को यथार्थ अनुभूतियों को चित्रित करना और मानव-जीवन पर युग तथा समाज की प्रतिक्रियाओं को प्रतिबिम्बित करना था । वे मानसिक रूप में प्रत्येक नाटकीय स्थल को मानसिक जगत् में स्वयं जीकर देखते और तब अपने समस्या नाटकों में उतारते थे ।२

बहुत दिनों तक रूढ़िग्रस्त समाज तथा व्यापारिक रंगमंच द्वारा अंग्रेज़ी समस्या नाटकों की उपेक्षा रही थी । जार्ज बर्नाडशा, गाल्सवर्दी, पिनरो, तथा जोन्स के गंभीर समस्या नाटकों का अभिनेताओं, निर्देशकों तथा थियेटर के रसिकों द्वारा विशेष स्वागत न हुआ, न पर्याप्त आय ही हुई ।

यह अनुभव किया गया कि नए समस्या नाटक व्यापारिक दृष्टि से सफल न रहेगा । जोन हैरे ने पिनरो कृत 'दी सैकिन्ड मिसेज टैन्कवरी' नामक समस्या नाटक का अभिनय करना अस्वीकृत कर दिया । रंगमंच के मालिकों को अनुमान न था कि जनता इन गंभीर समस्या-नाटकों का अभिनय पसन्द करेगी । इसलिये जब सेन्ट जेम्स थियेटर, लंदन में इस समस्या नाटक का प्रथम अभिनय किया गया तो नाटक जगत् में इसे बड़े साहस का कार्य समझा गया ।

इसी प्रकार चार्ल्स वेन्ढम का विचार था कि जोन्स कृत 'दी केसआफरिबेलियस सूसन' नामक समस्या नाटक अंग्रेज़ जनता न पूरी तरह समझेगी, न पसन्द करेगी । व्यापारिक असफलता के भय

1. He regarded "a genuine full-blooded egoism or self realisation as the necessary condition for happiness and called for a new nobility, not of birth or wealth, but of will and character". "The Problem Play", page 93—By Dr. R. C. Gupta.

2. Ibsen : "All that I have written, I have mentally lived through."

से उन्होंने शा कृत 'दी फिलेंडरर' को अस्वीकृत कर दिया तथा 'कैन्डिडी' नामक समस्या-नाटक को युग से पच्चीस वर्ष आगे की चीज़ माना। विल्सन बैरेट विलियम टेरिस ने सस्ते हास्य-व्यंग्य प्रधान रंगमंचीय नाटकों के अभिनय करना पसन्द किया और गंभीर बौद्धिक विश्लेषण से बोझिल होने के भय से शा कृत 'डेविल्स डिसाइपिल्स' नामक समस्या-नाटक को ऐडेल्फी थियेटर में अभिनय करना अस्वीकृत कर दिया।

रिचर्ड मैन्सफील्ड ने 'केन्डिडा' को रंगमंच के अनुपयुक्त माना और 'दी फिलेन्डरर' तथा 'ए मैन आफ डेस्टनी' समस्या-नाटकों को नाटकीय दृष्टि से बेकार बतलाया। सीज़र और क्लीओपेट्रा नामक नाटक को पिछड़ा हुआ शुष्क समस्या-नाटक कहा। इरविंग ने गंभीर समस्या-नाटकों को व्यर्थ और प्रभावहीन बतलाते हुए बर्नाड शा को प्रचलित अर्थों में नाट्यकार होना ही अस्वीकृत कर दिया।

बर्नाड शा ने अनेक अभिनेताओं और अभिनेत्रियों को अपने समस्या नाटकों में अभिनय के हेतु पार्ट देने चाहे किन्तु उन्होंने शा के समस्या नाटकों को बेहूदा और अनाटकीय कह कर उनमें अभिनय करने से इन्कार कर दिया।[1]

जेराल्ड ड्यू मेथुरर ने गाल्सवर्दी कृत 'दी फ्यूजिटिव, नामक समस्या नाटक को नापसन्द किया और स्पष्ट लिख दिया था, "मैं अनुभव करता हूँ इस शुष्क नाटक को सफलतापूर्वक रंगमंच पर प्रस्तुत नहीं कर सकूंगा और इसकी मूल समस्या के प्रति न्याय न हो सकेगा।"[२]

निष्कर्ष यह है कि इंग्लैंड में समस्या नाटकों की पेशेवाले थियेटर मालिकों द्वारा उपेक्षावृत्ति ही रही। केवल हल्के मनोरंजन की दृष्टि से आने वाले दर्शकों को वे अपील नहीं कर सकते थे। वे नाटक से कुछ सीखने के इच्छुक न थे। रंगमंच के स्वामी को उनसे किसी बड़े आर्थिक लाभ की आशा नहीं थी। साधारण बुद्धि की जनता को हलके मनोरंजन से प्रसन्न रहकर वह केवल अपना लाभ देखते थे, नई विचारधारा के गंभीर समस्या-नाटकों की परख उनके पास नहीं थी। अतः समस्या नाटकों को उनसे कोई प्रोत्साहन न मिला। शौकिया अभिनय करने वाले अमेचर नाटक क्लबों

---

1. Shaw ; "It is hard to believe that so many actors and actresses to whom I offered parts that were first rate chances for them, refused them as absurd and un-dramatic."

2. Gerald du Maurier ; "I feel, I cannot produce it and do it justice."

तथा स्वतन्त्र नाटक मंडलियों ने ही समस्या नाटकों के प्रचार और प्रोत्साहन में विशेष रुचि प्रदर्शित की थी ।

सन् १८९४ के वसन्त में 'दी टाइम्स' नामक पत्र में कुछ पत्र प्रकाशित हुए थे, जिसमें समस्या नाटक की अनैतिकता तथा स्वच्छन्दता की शिकायत थी । पिनरो कृत "दी सेकिन्ड मिसेज़ टेनक्वरे" को बिल्कुल गंवार और डरावना नाटक कहा गया। एक पतिता का एक सज्जन पति के साथ विवाह होना जनता में घृणा और भय उत्पन्न करने वाली बात थी । उसमें समाज के लिये कोई स्वस्थ संदेश न था हेनरी आर्थर जोन्स ने प्रचलित रुचि और पक्षपात पर घृणा प्रदर्शित की जिसके कारण उन्हें पुराने परम्परागत विषयों को रूढ़ि से हट नए रूप में चित्रित करना पड़ा था और इसलिये उन्हें भय था कि इससे उनके देशवासियों की आत्म-प्रतिष्ठा को ठेस पहुंचेगी ।१

जोन्स कृत 'वेल्थ' नामक समस्या नाटक और भी शरारत और त्रुटिपूर्ण समझा गया था, क्योंकि इस नाटक में स्टेज पर गंभीर राजनैतिक और समाजवादी विचार-धारा प्रस्तुत की गई थी। इस नाटक का प्रमुख पात्र समाजवादी विचारधारा को प्रतिपादित करता है। मज़दूर अपने अधिकारों के लिये सतत प्रयत्नशील दीखते हैं और नाटक मज़दूरों में लाभ वितरण का पक्ष लेता है । जोन्स कृत 'दी केस आफ रिबेलियस सूसन' के आरंभ में वैवाहिक दुराचार और अनैतिकता के विषय को दिखाने लिये क्षमा प्रार्थना की गई थी। जोन्स से अंग्रेज़ नारी की दुश्चरित्रता, प्रस्तुत न करने और नाटक के विषय वस्तु में परिवर्तन करने की प्रार्थना की गई थी । यह भय था कि इस विषय का चित्रण देख कर शायद प्रचलित जनमत को मानसिक आघात पहुंचेगा ।२

'सेन्टस और सिनर्स' तथा 'माइकल एण्ड हिज़ लास्ट उंजिल' नामक समस्या नाटकों में अनैतिक प्रेम का विषय था और प्रचलित चर्च और धर्म पर गंभीर आरोप लगाये गये थे । ये धर्म के प्रति अविश्वास और सम्मान को हानि पहुंचाने वाले थे । ३ 'दी ट्रायम्पफ आफ फिलिसटीन्स' नामक नाटक ने अंग्रेज़ों की प्राचीन श्रद्धा और पिछड़ेपन

1. See the preface to 'Saints and Sinners.'

2. Charles Wyndham's letter to Jones (Life and Letters of H.A. zones, pp. 163-7).

3. *See* Joseph Kinight's preface to 'Michael and His Lost Angel, "

पर आघात किया था । इस नाटक में जोन्स ने व्यक्ति और समाज के पारस्परिक सम्बन्धों का विवेचन निर्भयता और न्याय से किया था । इस स्पष्टवादिता को जार्ज बर्नाड शा ने पसन्द किया था।

निष्कर्ष यह कि नई बौद्धिक सामाजिक चेतना को मुखरित करते हुए बहुत सी नई समस्याओं पर शा, गाल्सवर्दी, ग्रेन्विल बारकर और हेनकिन आदि पाश्चात्य नाट्यकारों द्वारा समस्या-नाटक लिखे गये थे । इन समस्या नाटककारों ने नये युग के स्त्री-पुरुषों को जीर्ण-शीर्ण सामाजिक मान्यताओं या नैतिक रूढ़ियों से संघर्ष करते और पगपग पर उन्हें तोड़ते हुए चित्रित किया था। यह नवीन विप्लवकारी विचार पुराने समाज के लिये निश्चय ही अटपटे और असह्य थे ।

उदाहरण के लिये स्टेनले हाटन कृत 'हिन्डल वेक्स' नामक समस्या नाटक में एक ऐसी युवती का चरित्र चित्रित किया गया है, जो अनैतिक यौन-सम्बन्ध स्थापित करने की दोषी है, किन्तु विवाह करने के पक्ष में नहीं है । इस स्वच्छन्दता को देख कर समाज में बड़ी हलचल रही । धर्मोपदेशकों ने धर्म के मंचों से इसका तिरस्कार किया, लेखक तथा प्रकाशक के पास सैकड़ों ही क्रुद्ध और असंतुष्ट पाठकों और दर्शकों के पत्र आये ।

जार्ज बर्नाड शा इब्सन के सबसे प्रबल समर्थक और उनके सिद्धान्तों का पालन करने वाले थे । उन्होंने इब्सन के यथार्थवादी आन्दोलन का विशेष उत्साह से प्रचार और प्रयोग किया । जीवन तथा समाज के नग्न यथार्थ को अपने १--विडोअर्स हउसेज २--अर्म्स एण्ड दी मैन ३--मिसज वारेन्स प्रोफ़ेशन ४--मैन एण्ड सुपरमैन ५--गेटिंग मैरिड ६--फैनीज़ फर्स्ट प्ले इत्यादि विचार-प्रधान समस्या नाटकों में स्पष्ट किया । उनका मुख्य सिद्धान्त सृजनात्मक विकासवाद है, जिसके अनुसार मनुष्य जाति के विकास में जीवन शक्ति निरन्तर सचेष्ट रहती है । नारी-पुरुष की अपेक्षा अधिक सशक्त है । शा ने सामाजिक यथार्थ की पृष्ठभूमि पर लिखे गये समस्या-नाटक को ही सच्चे अर्थों में नाटक माना है । शा को अनैतिक और विप्लवकारी नाटककार तक कहा गया था । १ उन्होंने जानबूझ कर अप्रिय (अनप्लेजेन्ट) और घिनौने विषयों पर लेखनी चलाई थी । इससे उनके तत्कालीन नाट्यकार विरोधी बन गये थे । उन्हें

---

1. Shaw appeared on the scene 'a specialist in immoral and heretical plays he deliberately chose unpleasant themes.'

—The problem play, page 6.

शैतान का अवतार तक कहा गया था। उन्हें गालियां दी गईं, दवाने के प्रबल प्रयत्न हुए, कटु आलोचनाएं हुईं और चुप कराने की कोशिशें की गईं पर वे नाटक-जगत् में नई क्रांति के दूत थे। शा ने झूठे आदर्शवाद और परम्परागत नैतिकता पर व्यंग्य कसा और समाज के पर्दे में होने वाले अन्याय और कुरीतियों का पर्दाफाश किया था। उन्हें सनकी समझा जाकर तिरस्कृत किया गया। यह कहा गया कि वे समाज के घिनौने पहलुओं पर ही प्रकाश डाल रहे हैं तथा शेष की उपेक्षा कर रहे हैं।

बर्नार्ड शा कृत 'विडोअर्स हाउसेज' नामक समस्या नाटक में मध्यम वर्ग के अमीर लोगों को गन्दी बस्तियों में रहने वाले गरीबों का शोषण करते हुए चित्रित किया गया है। इससे बड़ा कोलाहल मचा। इस नाटक को अति घिनौना समझा गया था और इसके पात्र बिल्कुल अप्रिय और घृणास्पद कहे गये थे।१ जब शा कृत 'मिसेज वारेन्स प्रोफेशन' नामक समस्या-नाटक प्रकाशित हुआ तो एक नैतिक आतंक फैल गया। इस नाटक में वेश्यावृत्ति के आर्थिक कारणों को जनता के समक्ष प्रस्तुत करना था, किन्तु इसे एक अनैतिक और घृणित नाटक समझा गया२ और इस पर अश्लीलता के कारण पाबन्दी लगादी गई। दर्शकों को ऐसा प्रतीत हुआ जैसे शा एक गरीब स्त्री को अनैतिक जीवन के लिये प्रोत्साहित कर रहे हों। इसी प्रकार उनके अन्य नाटकों का अप्रिय स्वागत हुआ। जब उनके 'आर्म्स एण्ड दी मैन' नामक नाटक का अभिनय हो रहा था तो प्रिंस आफ वेल्स को शा की युद्ध और शौर्य-विरोधी भावनाएं देख कर क्षोभ हुआ था और उन्होंने घोषित किया था कि उस नाटक का लेखक चाहे कोई भी हो, 'पागल' प्रतीत होता है।'३ शा कृत 'दी डेविल्स डिसाइपिल्स' तथा 'एन्ड्रोक्लीज एण्ड दी लायन' नाटकों में धर्म की पोलें खोली गई थीं। धार्मिक विचारों के दर्शकों ने इन्हें देख कर बड़ी ठेस पहुंची और उन पर प्रचलित धर्म का विरोधी कह कर

---

1. *See* Appendix I to the 1893 editor of "Widowers Houses".

2. St. James' Gazette declared; "The tendency of the play is wholly evil. It contains one of the boldest and most opecious defences of an immoral life for a poor woman that has ever been penned." The play was banned by the Censor.

3. He declared that whoever the author "he is of course mad."
—Dr. R.C. Gupta.

लांछित किया गया। सन् १९१५ में जब उनका 'फैनीज़ फर्स्ट प्ले' अभिनय किया गया तो 'दी टाइम्स' नामक पत्र ने दुःख के साथ लिखा था कि यह चित्रित करना सर्वथा अनुचित और असत्य है कि बुजुर्ग लोग मूर्खों की भांति व्यवहार करते हैं और नई उम्र के लड़के और लड़कियां पुलिस पर आक्रमण कर और जेलखाने की कोठरी में बन्द होकर आध्यात्मिक सुधार ढूंढ रहे हैं।

निष्कर्ष यह है कि शा ने अपने नाटकों में सामाजिक जीवन की कटुताओं, विद्रूपताओं अत्याचार और बनावटीपन को स्पष्ट कर दिया। उन्हें देख कर समस्या नाटक अनैतिक, समाज के लिये अहितकर और हानिकारक समझे गये। सार्वजनिक रंगमंचों पर उनका अभिनय निसिद्ध कर दिया गया। शा ने सैंसर तक पर कटु प्रहार किया क्योंकि उन्हें ऐसा लगा जैसे वह सामयिक विचारधारा और संस्थाओं को चुनौती देने और सामाजिक कमजोरियां स्पष्ट करने में बाधा स्वरूप हो। १ सैंसर को उन्होंने पुरानी रूढ़ियों की प्रतिक्रिया का एक रूप माना, जो समाज की यथार्थ स्थिति और कुरीतियों को सामने लाने से रोकती थी। सैंसर बोर्ड नए गंभीर समस्या नाटकों का विरोधी रहा। शा ने अनुभव किया कि सेंसर की पद्धति द्वारा नाटकों को फिर पीछे ढकेला जा रहा था। उनकी प्रगति और विकास अवरुद्ध किया जा रहा था। उनके 'मिसेज वारेन्स प्रोफेशन' नामक नाटक पर नियंत्रण लगाया गया यद्यपि उसमें एक प्रचलित सामाजिक कमज़ोरी को जनता के सामने चित्रित किया गया था और जिसमें किसी प्रकार के समझौते की गुंजाइश न थी। ऐसे नाटक भी चलते रहे जिनमें अश्लीलता और भद्दापन मौजूद था। समस्या नाटकों की गंभीरता अक्षम्य समझी गई परन्तु कुरुचि पूर्ण अश्लील नाटक चलते रहे। निश्चय ही इन परिस्थितियों में सैंसर की नुक्ताचीनी समस्या-नाटक के विकास में बाधक थी। २ ग्रेन्विल बरकर इसे शरारत पूर्ण अड़चन, बेनेट ने 'शैतानी रुकावट' तथा कोनरेड ने 'लज्जाजनक बाधा' तक कहा था। हेनरी जेम्स का विचार था कि सैंसर इस प्रकार के नवीन प्रयोगों के मार्ग में बाधक बन कर रंगमंच की उन्नति रोक

---

1. "All Censorship", according to Shaw's "Exist to prevent any one from challenging current conceptions and existing institutions".

—Preface to 'Mrs. Warreus' profession.'

2. "The Authors' Apology, preface to Shaw's 'Plays Unpleasant".

रहा था। और नाटक को एक संकुचित दायरे में बन्द कर रहा था। निष्कर्ष यह कि समस्या-नाटकों को उच्च-अधिकारियों द्वारा रोकने के अनेक प्रयत्न चले पर बौद्धिक युग की मांग के कारण अंततः वे चल निकले और नाटक जगत में एक नये युग की सूत्रपात हुआ।

बर्नार्ड शा ने भावुकता के स्थान पर किसी विशेष समस्या या विचार को नाटकों का विषय बनाया। उन्होंने यह भी अनुभव किया कि समस्या नाटकों में सर्वत्र स्पष्टवादिता तर्क और विवेक पूर्ण यथार्थ को ही प्रश्रय मिल रहा था। गंभीर विचारों को समझने वाले जनता में कम ही होते हैं, समस्या-नाटकों द्वारा कटु यथार्थ और बुद्धिवाद को ही प्रश्रय मिला। शा की गंभीर बौद्धिकता और विचारशीलता को देख कर यह दोष लगाया गया कि वे नाटककार की अपेक्षा एक सुधारक, नैतिक उपदेशक अथवा प्रचारक कहीं अधिक थे। उनके नाटक उन्हीं सिद्धान्तों का उदाहरण देने के लिये लिखे गये थे, जिनका प्रतिपादन उन्होंने अपनी विस्तृत भूमिकाओं में किया था।[1]

गाल्सवर्दी के दी सिलवर बोक्स (१९०६) स्ट्राइफ (१९०६) जस्टिस (१९१०) दी एलडेस्ट सन (१९१२) दी पिजन १९१२) दी फ्यूजिटिव (१९१३) दी मौब (१९१४) तथा ए फैमिली मैन (१९२१) आदि समस्या नाटकों में गाल्सवर्दी पात्रों की अपेक्षा विचारों और सामाजिक समस्याओं में अधिक रुचि लेते हुए प्रतीत होते हैं। उनके नाटकों को सामाजिक इतिहास का नाटकीयकरण कहा गया। कुछ आलोचकों ने तो उन्हें प्रचारात्मक सामयिक ट्रैक्ट तक कह डाला। उसमें उन्हें केवल युग के यथार्थ चित्र तो दिखाई दिये किन्तु वे महत्त्वपूर्ण प्रतीत न हुए 'स्ट्राइफ' तथा 'जस्टिस' नाटकों को तो कानूनी मुकदमे या समाज के ऐसे चित्र बताया गया जो रंगमंचीय दृष्टि से प्रभावशाली बना दिये गये थे। 'स्ट्राइफ' नामक नाटक का उद्योग धन्धों सम्बन्धी झगड़ों का नैतिक विवेचन कहा गया जिसमें मनोरंजन के तत्त्व की अपेक्षा तर्क और वाद-विवाद का प्राधान्य था।[2]

1. C.E.M. Zoad ; 'Bernard Shaw' page 134.
2. Graham Sutton ; "A Note on Galsworthy's Plays" in this Bookman Dec. 1923 p. 137, J. Isaacs also describes Galsworthy's plays as "tracts, symptoms of an age, not great achievements."

   (Contemporary Movements in European Literature page 6)
3. T. H. Dickinson, 'Contemporary Drama of England P. 215.

'जस्टिस' नामक समस्या नाटक में गाल्सवर्दी को एलिजवेथ फ्राई और जान हावर्ड जैसे जेल के सुधारकों की श्रेणी में रख दिया गया था। 'जस्टिस' और 'स्ट्राइफ' समस्या नाटकों को सामयिक दिलचस्पी के क्षणिक नाटक बताया गया, जो युग के समाज सुधार और परिवर्तनों के साथ स्वयं लुप्त हो जाने वाले थे। इसमें अपराध समस्या और मालिक मज़दूरों के झगड़ों का विवेचन था, जो स्वयं समय की गति के साथ विलुप्त हो जाने वाले थे। गाल्सवर्दी का विचार था कि आधुनिक युग में दुखान्त या सुखान्त नाटक प्राचीन उच्चवर्ग के शासनतन्त्र के व्यक्ति न होकर समाज के साधारण शोषित और पीड़ित व्यक्ति होने चाहिए।

गाल्सवर्दी का उद्देश्य समाज के बनावटी कृत्रिम या ऊपरी विशृंखलित चरित्र न होकर यथार्थ और सच्चे पात्रों को नाटक के माध्यम से प्रस्तुत करना था।१ वे घटनाओं और कथानकों को नए रूप में जमाने और शृङ्खलाबद्ध करने में विश्वास करते थे। अतः 'जस्टिस' नामक समस्या-नाटक में उनकी नाट्यकला को अवास्तविक कहा गया।२

समस्या नाटककार ए० डब्ल्यू पिनरो ने तत्कालीन जीवन, सामाजिक समस्याओं तथा संस्कृति के यथार्थ को प्रस्तुत करना अपना उद्देश्य बनाया। उनके दी वीकर सेक्स (१८८८) दी प्रोफीलगेट (१८८९) दी सैकिन्ड मिसेज टैन्क्वरी (१८९३) दी नोटिरियस मिसेज एव्सस्मिथ (१८९५) इरिस (१९०१) और मिड चेनल (१९०९) आदि समस्या नाटक विशेष सामाजिक प्रश्नों का विवेचन करते हैं। पिनरो समस्या-नाटक सम्बन्धी आन्दोलन के नेता बनते बनते रह गये। सेन्ट जेम्स थियेटर में सन् १८९३ में अभिनय होने वाला उनका समस्या नाटक 'दी सैकिण्ड मिसेज टैनक्वरैरी' नए युग का सन्देशवाहक समझा जाता रहा।

हेनरी आर्थर जोन्स कृत 'सेन्टस एण्ड सिनर्स' (१८८४) प्रथम आधुनिक समस्या–नाटक माना गया।३ पिनरो

---

1. "Some platitudes concerning Drama," The inn of Tranquillity

2. "As to photography, We would gladly own the patent for a Camera that would Select from among the myraid details of a Scene as Mr. Galsworthy's art does." (The Westiminister Review) "It won't do to reject art of this kind a 'Photography,' for the plain truth is that there is artistic selection, compression, arrangement in every line of it." (The Times)

3. A. Nicoll ; Late Nineteenth-Century Drama, Vol. 1, P. 164.

की भांति यद्यपि जोन्स ने पुरानी विक्टोरियम नाटकीय परम्पराएं न तोड़ सके तथापि उन्होंने बड़ी शक्ति और उत्साह से गंभीर समस्या-नाटकों के पक्ष का समर्थन किया ।[1] नए यथार्थवादी समस्या नाटकों में सामाजिक संस्थाओं, परम्पराओं, रूढ़ियों कुरीतियों और शत-शत समस्याओं की स्पष्ट, निर्भयतापूर्ण और कहीं अति कटु आलोचना प्रारंभ हो गई, तथा कृत्रिमता मिथ्याडम्बर और प्राचीन जीर्ण शीर्ण मान्यताओं पर व्यंग्य-वाण फैंके गए।

निष्कर्ष यह है कि इंग्लैंड मे पेशेवाले थियेटर वालों द्वारा समस्या-नाटकों की बहुत दिनों तक उपेक्षा रही । रंगमंच का स्वामी सस्ते उत्तेजक और अतिरंजित रोमांटिक नाटकों द्वारा अपना आर्थिक लाभ देखता है, गंभीर विचारप्रधान समस्या नाटक की परख उसके पास नहीं है । इन पूंजीपतियों और पेशे वाले अभिनेताओं से रंगमंच का उद्गम करने को इंग्लैंड में अनेक स्वतन्त्र नाटक मंडलियां बनीं । विद्यालयों, अमेचर क्लबों और गंभीर अभिनेताओं द्वारा समस्या नाटकों का विशेष स्वागत हुआ । सस्ते मनोरंजन के स्थान पर नाटक जीवन और समाज की समस्याओं तथा गभीर पहलुओं के प्रदर्शन का लोकप्रिय माध्यम बनने लगा ।

इस प्रकार पाश्चात्य देशों में क्रमशः समस्या-नाटकों का प्रादुर्भाव और प्रचार हुआ । नाटक साहित्य के लिये यह एक नई दिशा थी । नवीन नाट्य-साहित्य युग में प्रचलित उपयोगितावाद और यथार्थ-वाद के विचारों से प्रभावित हुआ । अन्य देशों में भी समस्या नाटकों का अनुकरण होने लगा । भारत के नाट्य-कारों को भी इस नई धारा ने आकृष्ट किया । हिन्दी में अनेक समस्या-नाटकों के अनुवाद और अनुकरण हुए । धीरे-धीरे समस्या-नाटकों का प्रचलन हो गया और व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र की सैंकड़ों छोटी बड़ी समस्याएं एकांकियों के माध्यम से जनता के समक्ष आई । यों तो सभी भारतीय भाषाओं में समस्या-नाटक लिखे गये, किन्तु सर्वाधिक सशक्त और प्रचलित होने के कारण हिन्दी में इनका विशेष प्रचार हुआ । गत २५–३० वर्षों में भिन्न भिन्न समस्याओं को लेकर असंख्य समस्या-एकांकी लिखे गये हैं जो पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं । समाज, राजनीति

शेष पृष्ठ ५३ पर

1. Jones claimed to have been "The original Promoter of the English dramatic renascence. (Preface to 'The Divine Gift.'

'हीर-दमोदर' का रचना-काल

चंद्रकांत बाली

भारत की प्रायः सभी प्रान्तीय भाषाओं के साहित्यकारों ने अपना परिचय देना उचित नहीं समझा। संस्कृत के साहित्यकार तो इस दिशा में विशेष कठोर-वृत्ति वाले सिद्ध हुए हैं। किसी कवि ने कृपा करके अपना परिचय अथवा रचनाकाल लिख दिया है तो उसका ठीक-ठीक अर्थ लगाने में जटिलताओं का सामना करना पड़ता है। यदि शब्दों का ठीक-ठीक खण्डान्वय या दण्डान्वय लगाकर अर्थ-संदोहन किया जाय तो उसकी संगति इतिहास से मेल नहीं खाती; यदि विशेष मानदंड स्थिर करके अर्थ लगाया जाय तो विद्वान् उसे स्वीकार करने में घबड़ाते हैं, क्योंकि कुछ रूढ़ियां उनके मनोमस्तिष्क पर बुरी तरह सवार होती हैं। जो बात समझ में नहीं आती, उसे जाली कहने की आदत१ भी कुछ लोगों में है; या उसमें कोई भूल ढूंढने की कोशिश की जाती है।२ अनुसन्धान करके अपना नया रास्ता बनाना या ढूंढना आज के साधकों की आदत में शामिल नहीं है। पृथ्वीराज रासो की संवत्-परम्परा इसी दूषित वातावरण के कारण इतिहासकारों की पकड़ाई में नहीं आई। ऐसा ही एक उदाहरण पंजाबी के प्रथम हीर-काव्य-कर्ता दामोदर गुलाटी का भी है। प्रस्तुत निबंध हीर-दमोदर का रचनाकाल निश्चित करने के लिये आपकी सेवा में सादर भेंट हैं।

१––शक संवत् ––

लेखक ने प्राचीन शिलालेखों, पाण्डुलिपियों तथा प्रामाणिक ग्रन्थों का अनुशीलन करके ६ शक संवत्––गणनाओं३ की एक तालिका बनाई है जिसका विवरण इस प्रकार है––

१––शक संवत्: पहला शक संवत्

---

१. भारतीय प्राचीन लिपिमाला : गौरीशंकर हीराचंद ओ : पृष्ठ १८५।

२. पंजाबी साहित्य दा इतिहास : गोपालसिंह दर्दी : पृष्ठ ११५ टिप्पणी।

३. (क) काशीनागरी प्रचारिणी पत्रिका : कल्हणकृत काल गणना : २०२०-१,२
(ख) हिन्दुस्तानी : गुप्तसंवत् : भाग-२४ : सन् १९६३।

६२२ ईसापूर्व से चला था। वराहमिहिर के कथनानुसार वह शक संवत् महाभारत से २५२६ वर्ष पश्चात् चला था।१ महाभारत का समय हमने ३१४८ ईसा पूर्व माना है।२ सो ३१४८-२५२६-६२२ ईसा पूर्व बनता है। यह शक संवत् कल्हण कृत राज तरंगिणी में पाया जाता है।३

२--शक संवत् : दूसरा शक संवत् ३२ ईसवी से चला। इसका उल्लेख या तो अभिलषितार्थ चिन्तामणि में देखा जा सकता है, ४ या फिर पृथ्वीराज रासो में पाया जाता है। आश्चर्य की बात है कि रासो-लिखित सभी तिथियों में ३२ जोड़ने से ईसवी सन् बन जाता है और उसका इतिहास से तालमेल भी हो जाता है।

३--शक संवत् : तीसरा शक संवत् ६६ ईसवी से चला। जिसकी चर्चा हम आगे चल कर करेंगे।

४--शक संवत् : चौथा शक संवत् ७८ ईसवी से चला। यह अति प्रचलित संवत् है। हमारी नेशनल सरकार ने इसी शक संवत् को सरकारी तौर पर मनाने का निश्चय किया है।

५--शक संवत् : पांचवां शक-संवत् २१४ ईसवी से चला। यह प्रायः जैन ग्रन्थों में पाया जाता है।

६--शक संवत् : छठा शक संवत् ४१२ ईसवी से चला। यह भी प्रायः जैन ग्रन्थों में पाया जाता है।

इसके अतिरिक्त ७वां शक संवत् और भी है। जो ९४ ईसा पूर्व से चला। हमने उसे इस परम्परा में इसलिये नहीं गिना कि उसका चलाने वाला कोई विक्रमादित्य न था, बल्कि कोई अन्य शक राजा था; और यह शत-प्रतिशत सही है कि इन ६ शक संवतों के चलाने वाले सभी 'विक्रमादित्य' नामधारी राजा थे।

शक संवत् बनाम शक संवत्

इतिहासकारों के लिये यह बड़ी कठिन समस्या है कि ६६ ईसवी तथा ७८ ईसवी से चलने वाले दो-दो शक संवतों को न्यारा-न्यारा कैसे सिद्ध किया जाय। १२-वर्षों का सूक्ष्म व्यवधान इन दोनों को न्यारा-न्यारा करने में हमारी कोई सहायता नहीं करता और इस तथ्य से इन्कार करना अब कठिन है कि ये दो संवत् नहीं बल्कि एक है। यथा--

(क) नाम--६६ ईसवी से चलने वाले शक संवत् के प्रतिष्ठापन का

---

१. षड्द्विकपञ्चद्वियुत : शककाल : तस्य राज्ञश्च। --वराहमिहिर।

२. कल्याण : संवत् २०२२ : जून १९६५ : पृष्ठ ९८८।

३. काशीनागरी प्रचारिणी पत्रिका : संवत् २०२० : अंक १-२ : पृष्ठ-१-३८

४. भारतवर्ष का बृहद् इतिहास : भगवद्दत्त : भाग-१ : पृष्ठ १७६

नाम साहसाङ्क है। ७८ ईसवी से चलने वाले शक संवत् के संस्थापक का नाम विक्रमांक१ है। सहसाङ्क के अन्य नाम विक्रमादित्य द्रौपदीगुप्त और शकान्तक २ है। विक्रमांक के अन्य नाम इन्द्राणीगुप्त, शूद्रक और अग्निमित्र ३ है।

(ख) पिता--इन दोनों के पिता का नाम महेन्द्रादित्य है। ४

(ग) भाई-भाई--प्रश्न होना स्वाभाविक है कि इनको एक ही शरीर क्यों न मान लिया जाय ? एक ही व्यक्ति के ये सभी नाम मान लिये जायें ? परन्तु इतिहासकारों के नोटिस में इनके अलग-अलग शरीर होने के प्रमाण आ चुके हैं। कल्हण५ तथा राजशेखर६ ने इन्हें एक नहीं माना। अतः ये भाई-भाई हैं।

(घ) कालिदास--कालिदास इन दोनों की सभा का रत्न रह चुका है। पहले वह विक्रमांक --अग्निमित्र७ की सभा में था; विक्रमोर्वशी नाटक लेखन काल में वह किसी भी सभा में न था८ जीवन के अन्तिम वर्षों में वह विक्रमादित्य९ की सभा में आ गया था।

(ङ) भर्तृहरि--एक जनश्रुति के अनुसार भर्तृहरि विक्रमादित्य का भाई है, दूसरी जनश्रुति के अनुसार वह शूद्रक का भाई भी है १०

निष्कर्ष यह कि इतिहास के पृष्ठों पर संवत् चलाने वाले दो व्यक्तियों के

---

१. पञ्चोत्तर षट् शतवर्षाणि पंचमास युतानि गत्वा पश्चात् विक्रमाङ्क शकराजो। जायते अर्थात वीरसंवत् ६०५ में विक्रमाङ्क शकराजा हुआ। सभी जानते हैं कि वीर-निर्वाण ५२७ ईसापूर्व में हुआ था। सो ५२७+७८=६०५ वर्ष होते हैं।

२. द्रौपदी विक्रमादित्यः साहसाङ्कः शकान्तकः ।

३. शूद्रकस्वाग्निमित्राख्यः । —क्षीरस्वामी

४. (क) विक्रमादित्यपर्यायः (विक्रमाङ्कः) महेन्द्रादित्यसंभवः ॥ कल्पद्रुमकोश।

(ख) राज्ञो महेन्द्रादित्य स्वप्ने शर्वेण सूचित : —बृहत्कथामंजरी १२

५. संत्यज्य विक्रमादित्यं सत्त्वोद्रिक्तं च शूद्रकम् ।

६. वासुदेव-सातवाहन- शूद्रक-साहसाङ्क....

७. (क) व्याख्यातः किल कालिदासकविता श्री विक्रमाङ्को नृपः ।

(ख) सम्पत्स्यते न खलु गोप्तरि नाग्निमित्रे। — मालविकाग्निमित्र नाटक ।

८. अनुत्सेकः खलु विक्रमालङ्कार ।

९. (क) रसभाव विशेष दीक्षागुरोः साहसाङ्कस्य श्री विक्रमादित्यस्य..,शा० नाटक ।

(ख) धन्वन्तरिं क्षपणको अमर सिंह शंकु-वेतालभट्ट घट खर्पर कालिदासा : ।

—ज्योतिर्विद् कालिदास

१०. संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास : भाग-१ : पृष्ठ ३४०

नाम प्रकाशित हैं। विक्रमादित्य ही शक संवत् चलाने वाला है ––इसका उल्लेख अल्बेरूनी ने भी किया है ।१ इन दो पृथक्-पृथक् चल रहे शक संवत् का सीमानिर्धारण भी ग्रन्थों में मिल जाता है । रेवा नदी के उत्तर की ओर ६६ ईसवी से चलने वाले शक संवत् का निर्धारण करना चाहिए २ और रेवा के दक्षिण की ओर ७८ ईसवी से चलने वाले शक संवत् की गणना इष्ट-धायक है । सामान्यत: पंजाव, राजस्थान, उत्तरभारत तथा मध्यभारत में प्राप्त शक संवत् में ६६ जोड़कर ईसवी सन् खोजना चाहिए और बंबई, केरल, मैसूर, मद्रास, उड़ीसा, आंध्र, बंगाल तथा आसाम में प्राप्त शक संवत् में ७८ जोड़कर ईसवी सन् मानना चाहिए ।

दामोदर गुलाटी––

हीरकाव्यों के अग्रणी दामोदर दास गुलाटी ने अपना रचनाकाल १५२६ साके विक्रमराय लिखा है ।३ विक्रम का नाम देखकर लोगों का ५८ ईसवीपूर्व वाले विक्रमादित्य की ओर जाना स्वाभाविक है; परन्तु वह तो विक्रमादित्य ही नहीं था––ऐसा कल्हण का दावा है ।४ दूसरी बात, वह समय अकबर का युग भी नहीं है, जैसा कि गुलाटी ने अपने समय के शासक – अकबर –– को स्मरण किया है । ५ अकबर का समय ईसवी सन् १५५५–१६०६ ईसवी है ।

(१) यदि गुलाटी के आलेख्य को सचमुच विक्रम संवत् मान लिया जाय तो १५२६-५८ = १४७१ ईसवी में अकबर न था ।

(२) यदि गुलाटी ने अपने समय को शक काल में लिखा है तो १५२६ + ७८ = १६०७ ईसवी में भी शाह अकबर स्वर्ग जा चुका था ।

अत: सब परिस्थितियों का मन्थन करके गुलाटी दामोदरदास का समय १५२६ + ६६ = १५९५ ईसवी बनता है, जोकि तर्क-सिद्ध है ।

---

१. अल्बेरूनी का भारत : संतराम कृत हिन्दी अनुवाद : भाग-३ : पृष्ठ ७ ।

२, स एव पन्चाग्निकुभियुक्त : स्यात् विक्रमस्य ।
रे वाया : उत्तरे तीरे संवान्नग्राति विश्रुत: ।।

३. पंद्रह सौ अते उनत्री साके, विक्रम राए ।
हीर व रांझा होए इकट्ठे झगड़े रब मुकाए ।

४. शकारि विक्रमादित्य: इति स भ्रममाश्रित : ।
अन्यैरत्रान्यथा लोवि विसंवादि, कर्दार्थतम् ।।

६. पंजावी साहित्य दा इतिहास : नरूला : पृ० ११८ ।

अपनी भूल--

लेखक ने 'पंजाब प्रान्तीय हिन्दी साहित्य का इतिहास' लिखते समय दामोदरदास गुलाटी का समय ३२ ईसवी वाले (देखो शकसंवत्--२) शक संवत् में ढालने का यत्न किया१ है और उसे १५२९+३२=१५६१ ईसवी का ठहराया है, जो ऐतिहासिक तथ्य के विपरीत नहीं पड़ता; परन्तु बहुत सोच विचार के पश्चात् यही समझ मे आया है कि इसे ६६ ईसवी वाले शक संवत् में फिट किया जाय । यह उपलब्धि उत्तम और अन्तिम सिद्ध होगी । दामोदर दास के संवत्-संकेतों की उपेक्षा करने वाले२ या उसे लिपि-कारों की भूल बताने वाले३ अपने अपने पक्ष पर पुनः विचार करें ।४

----

१. देखो—परिशिष्ठ ७

२. सुरिन्द्र सिंह नरूला और डाक्टर मोहन सिंह ।

३. बावा बुधसिंह ।

४. संदर्भग्रंथ

क. भारतवर्ष का बृहद् इतिहास : भगवद्दत्त : दोनों भाग

ख. पंजाबी साहित्य दा इतिहास : गोपाल सिंह दर्दी

ग. पंजाबी साहित्य दा इतिहास : सुरिन्द्र सिंह नरूला

घ. पंजाबी अदब दी मुख्तसर तारीख : डाक्टर मोहन सिंह

ङ. काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका : २०२० संवत् : १-२ भाग

च. हिन्दुस्तानी : २४ भाग : अंक-२ : सन् १९६३,

छ. कल्याण : जून-१९६५ : ३९-६ ;

ज. भारतीय प्राचीन लिपिमाला : गौरीशंकर हीराचंद ओझा ।

झ. संस्कृत व्याकरण शाखा का इतिहास : युधिष्ठिर मीमांसक

ञ. पंजाब प्रान्तीय हिन्दी साहित्य का इतिहास : चंद्रकांत बाली ।

भारतीय संस्कृति के परिचायक ये शब्द

देवदत्त भट्टि

किसी देश की संस्कृति का परिचय प्रायः तद्देशीय इतिहास ग्रन्थों के एव स्मृतियों के अध्ययन तथा परिशीलन से मिला करता है, लेकिन इसके साथ साथ उस संस्कृति के अनुयायियों की भाषा भी इस दिशा में पर्याप्त प्रकाश डालती है। किसी संस्कृति का परिचय पाने के लिये उस संस्कृति के अनुयायियों की भाषा के अवलोकन का मार्ग सर्वोत्तम कहा जा सकता है क्योंकि यह किसी इतर प्रमाण, पर आश्रित नहीं होता और न ही इसमें किसी प्रकार की भूलचूक का प्रश्न होता है। साक्ष्यन्तर भी इसे वाधित नहीं कर सकता। यह वात सर्वविदित है कि भाषा के साथ आचार विचार का गहरा संबंध हुआ करता है। एक विशेष प्रकार का आचार विचार भाषा को भी विशिष्ट सांचे में ढाल दिया करता है।

भारतीय संस्कृति त्याग प्रधान है। इसमें किसी को सन्देह नहीं। महामुनि पतञ्जलि ने ब्रह्म प्राप्ति के लिये अष्टांग मार्ग बतलाया है। उसमें सबसे पहले यम (मार्ग) है। यमों में एक अस्तेय भी है। अस्तेय का अर्थ है—किसी की वस्तु को अनधिकृत रूप में ग्रहण न करना, अर्थात् चोरी न करना। चोरी करना हमारे यहां प्रारम्भ से ही हेय माना जाता रहा है। हमारे यहां चौर्य-कर्म नहीं के बराबर था, इसमें चीनी यात्री ह्यूनत्सांग और मैगस्थनीज साक्षी हैं। हम चोरी के लिये उनके साक्ष्य की तनिक भी अपेक्षा नहीं, जब तक हम अपनी संस्कृत में 'तस्कर' शब्द को पाते हैं।

तस्कर शब्द की निरुक्ति है—'तत्करोतीति तस्करः', अर्थात् जो उसको करता है वह तस्कर (चोर) होता है। यहां तत् सर्वमान से चौर्य की ओर इंगित है। सर्वनाम का प्रयोग सर्वदा संज्ञा के स्थान पर किया जाता है, जहां पर संज्ञा गम्य हो। यहां पर संज्ञा के गम्य न होने पर भी सर्वनाम का प्रयोग करना इस बात का द्योतक है, कि हम

चोरी को इतना गर्हित तथा निन्ध समझते थे कि उसका नाम लेना भी या अपने मुखसे चोरी शब्द का उच्चारण करना भी हेय समझते थे। जिस कार्य का नाम लेना भी हमें पसन्द नहीं उस कार्य का करना दूर की बात है। अतः 'चोरी करने वाले को चोर कहते हैं' ऐसा न कह कर' उसको करने वाले को चोर कहते हैं' ऐसा कहा जाना चोरी की बुराई पर पुष्कल प्रकाश डालता है। तस्कर' शब्द से ही, चोरी के लिये हमारी क्या धारणा थी तथा समाज में और व्यक्ति में इसके लिये क्या स्थान था, इस बात का पूरा पता लग जाता है। संस्कृत कोशों में ताले कुञ्जी के लिये किसी शब्द का न होना भी चौर्याभाव को बताता है। इसी प्रकार एक शब्द है 'अवद्य'। अवद्य का भावार्थ होता है--पाप तथा शब्दार्थ होता है--न करने योग्य। कहने का तात्पर्य यह हुआ कि पाप कर्मों को हम अकरणीय समझते थे। इसीलिये पाप (बुरे कर्म) को अवद्य (अकरणीय) कहा जाता है।

शब्द कई बार सांस्कृतिक विशेषताओं एवं मान्यताओं के अतिरिक्त व्यक्तियों के स्वभाव पर भी आलोक पहुंचाते हैं। भारतीय स्वभावः से ही सरल एवं ईमानदार थे और हैं, इसका पता चलता है 'साप्तपदीन' शब्द से। साप्तपदीन' शब्द विशेषण था परन्तु कालान्तर में इसने विशेष्य का रूप ग्रहण कर लिया। साप्तपदीन का अर्थ होता है --'सात कदम एक साथ चलने में होने वाला कर्म।' इसका भावार्थ होता है --मैत्री। अर्थात् जिसके साथ सात कदम एकसाथ चल लिये वह आपका मित्र बन गया। सात कदम साथ चलना ही मित्रता कहलाती थी। इसका एक और भी अर्थ निकलता है। वह है --'सात वचन बोलने का नाम मैत्री होती है।' सो सात वचन बोल लेने पर या सात कदम चलने पर दोस्ती करना भारतीयों का सहज स्वभाव हुआ करता था।

इसी विश्वास को लेकर आज भी हिन्दुओं के यहां विवाहों मे सप्त-पदी की विधि है। इस विधि के लिये आश्वलायन गृह्यसूत्र (१-८-१९) में 'ओम् सखा सप्तपदी भव' कहा गया है।

इसी सप्तपदीन मैत्री में निहित सरलता के प्रमाण हमें अर्वाचीन काव्यों में भी मिलते हैं। 'कुमार सम्भव' में ब्रह्मचारी के वेश में आए शिव पार्वती से कहते हैं :--

"यतः सतां संनतगात्रि, संगतं,
मनीषिभिः साप्तपदीनमुच्यते ॥"

(हे सुन्दरि, मनीषी, सज्जनों के साथ चल लेने मात्र को मैत्री कहते हैं।)

रघुवंश में भी एकत्र कहा है--

"सम्बन्धमाभाषाणपूर्वमाहुः"।

अर्थात् केवल बोलचाल से ही सम्बन्ध स्थापित हो जाया करता है ।

भारतीय संस्कृति त्याग प्रधान होती हुई भी अर्थ की महत्ता से अनवगत नहीं । संस्कृत के 'धन्य' शब्द को कौन नहीं जानता । पाणिनि के 'धनगणं लब्धा' सूत्र के अनुसार धनं लब्धा (धन प्राप्त करने वाला) धन्य कहा जाता है । चूंकि धन प्राप्त करने वाले को भाग्यवान् समझा जाता है । इसी कारण धन्य शब्द का अर्थ 'सौभाग्यशाली' हो गया । पर यहां यह बात हमें नहीं भूलनी चाहिए कि हम भारतीयों को धन की प्राप्ति या अर्जन किसी निश्चित सीमा तक ही अभिप्रेत था और वह भी 'दानाय संचिताथानां' के अनुसार दान के लिये ही होता था । असंख्य सम्पत्ति को संचित करना हमें कैसा लगता था इस बात को देखिए कुबेर शब्द के अर्थ से––

कुबेर का अर्थ है––

'कुत्सितं बेरमस्येति कुबेरः।' अर्थात् जिसका शरीर बुरा हो वह कुबेर हुआ। यहां कुबेर को, जोकि स्वर्ग में देवों का धनपति है, बुरे शरीर वाला कहने का तात्पर्य इसलिये हुआ क्योंकि वह विशाल सम्पत्ति का अधिपति है । कुबेर का दूसरा नाम 'कुष्ठी' भी है । इससे भी इसी भावना को बल मिलता है कि धन संचय के कारण कुबेर का शरीर दूषित है । कुबेर का नाम 'नरवाहन' भी है । दूसरों को बिना सताये या बिना दलित किये धनार्जन करना असम्भव है । सम्भवत: इसीलिये उसे 'नरवाहन' कहा है । महाभारत में कहा है ––

''नाच्छित्वा परमर्माणि नाकृत्वा कर्मदारुणम् ।
नाहत्वा मत्स्यघातीव, प्राप्नोति महती श्रियम् ।।

''दूसरों के मर्मों के ऊपर आघात किये बिना, कठोर और जघन्य काम किये बिना और कसाई की भांति हिंसा किये बिना, धन प्राप्त नहीं होता ।''

दान न देने का क्या परिणाम हो सकता है इसका अनुमान 'अराति' शब्द से चलता है । अराति उस धनवान् को कहते हैं जो दान नहीं देता । क्योंकि वह समाज के धन को दबा कर रखता है अत: वह समाज का शत्रु है ।

भारतीय संस्कृति में दान का स्थान बहुत ऊंचा है । देशकाल और पात्र का विचार करके दान देना प्रशस्यतम माना गया है । लेकिन दान न देनेवाले को कुत्सित समझा जाता था । 'कदर्य' शब्द को देखिए । 'कदर्य' का अर्थ कंजूस होता है । 'अर्य' का अर्थ स्वामी और 'कत्' का अर्थ बुरा । 'बुरा स्वामी' कदर्य का पर्याय हुआ । अर्थात् जो स्वामी अपने भृत्यों पर तथा अपने पर खर्च करता सकुचाता है वह कुत्सित स्वामी

है, प्रशंसनीय नहीं । कंजूसी की भर्त्सना ही हमें मान्य थी जहां भी यह धन से सम्बद्ध थी । कंजूसी की भर्त्सना से दान की तथा खर्च की भावना की प्रशंसा होती है ।

भारतीय संस्कृति में अन्तरात्मा की शुद्धि के साथ शारीरिक शुद्धि या बाह्य-शुद्धि पर नितान्त ध्यान दिया जाता था। हमारे यहां स्नान की महिमा बहुत रही है । चतुर व्यक्ति के लिये 'नदीष्ण' शब्द का प्रयोग किया जाता है । लेकिन इसका शब्दार्थ 'नदी में नहाने वाला' है । इस शब्द से स्नान की महिमा चातुर्य गुण के द्वारा लक्षित होती है। अथ च इसी प्रसंग मे 'स्नातक' शब्द से भी यही भाव उपोद्‌वलित होता है । 'स्नातक' उस व्यक्ति को कहते हैं जिसने विद्या समाप्त कर ली हो । लेकिन इसका भी शब्दार्थ 'नहाया हुआ' यही होता है । यहां स्नान क्रिया से विद्या पारंगत होना अभिव्यञ्जित होता है । अपिच, राजा को राजसिंहासन पर पहली बार बैठाने के लिये संस्कृत मे 'अभिषेक' शब्द का प्रयोग किया जाता है । अभिषेक का शब्दार्थ भी स्नान ही होता है । यद्यपि राजसिंहासनारोहण पर मुकुट पहनाना, दण्ड हाथ में देना, छत्र धारण करना आदि अनेक क्रियायें होती हैं तथापि स्नान क्रिया प्रधान होने के कारण अभिषेक शब्द का प्रयोग किया जाता है । अंग्रेज़ी में राजसिंहासनारोहण को (Coronation) "कौरोनेशन" कहते हैं । कौरोनेशन का अर्थ मुकुट पहनाना होता है । इसका अभिप्राय यह हुआ कि भारतीय संस्कृति में स्नान का अधिक महत्व होने के कारण इसे 'अभिषेक' कहा जाता है जबकि पश्चिम की संस्कृति में मुकुट पहराना (Coronation)।

स्नान महत्त्व के साथ ही नदियों के महत्व को भी कम नहीं किया जा सकता सम्भवतः इसी लिये अनुकूल , प्रतिकूल प्रतीप आदि शब्द प्रयोग में आए होंगे। इन शब्दों की सत्ता से नदियों की महत्ता का अंकन आसानी से हो जाता है ।

जहां भारतीय- जन-जीवन में जल का गहरा स्थान था वहां अन्य देशवासियों की भांति पक्षियों के साथ इष्टानिष्ट की धारणा का भी विश्वास था । सगुन और अपसगुन को संस्कृत में 'शकुन' तथा 'अपशकुन' कहते हैं। शकुन शब्द शकुनि (पक्षी) की ओर संकेत करता है । अतः शब्द साम्य के कारण शकुनों और अपशकुनों का शकुनियों (पक्षियों) से गहरा सम्बन्ध प्रतीत होता है । ऐसी मान्यता आज भी देखने को मिलती है । गरुड़ , कुक्कुट, काक, सर्प आदि का दिखाई देना समय के अनुसार आज भी शकुन और अपशकुन माना जाता है।

इत्यादि उदाहरणों से न केवल भारतीयों के मन्तव्यों का ही भान होता

है अपितु उनकी दिनचर्या का भी । भारतीयों की वेशभूषा बहुत ही सीमित तथा संक्षिप्त हुआ करती थी । संस्कृत में पहनने-ओढ़ने के वस्त्रों के लिये सदा द्विवचन का ही प्रयोग उपलब्ध होता है, जैसे द्वे....., वाससी, दुकूले, वस्त्रे इत्यादि। इससे स्पष्ट प्रमाणित होता है कि प्राचीन भारतीयों की वेशसज्जा केवल दो वस्त्रों तक ही सीमित थी । एक को अधोवस्त्र और दूसरे को उत्तर-वस्त्र कहा जाता था। अधोवस्त्र कटिभाग से नीचे तथा उत्तर-वस्त्र कटि से ऊपर प्रयोग किया जाता था ।

वस्त्रों की बहुत कम खपत या आवश्यकता थी इसकी ओर तन्तुवाय (जुलाहे) के लिये प्रयुक्त 'कुविन्द' शब्द से प्रकाश पड़ता है । 'कुविन्द' शब्द की व्युत्पत्ति--'कुत्सितं विन्दतीति कुविन्दः' ऐसे की जाती है । अर्थात् जिसकी आय बहुत कम होती है । कुविन्द की आय कपड़े की खपत कम होने के कारण, बहुत कम हुआ करती थी ।

कपड़े का कम प्रयोग होना यहां की ऋतु की ओर भी संकेत करता है। यहां ज्यादा सर्दी नहीं हुआ करती थी। जितनी होती थी वह सह्य थी, इसका भी पता चलता है ।

भारतीय-जनजीवन की दिन चर्या में नापितों के स्थान के विषय में नापित के लिये 'जनंगमः' शब्द का प्रयोग पर्याप्त प्रकाश डालता है । जनंगम शब्द से प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में नापित लोग लोगों के पास जाकर क्षौर किया करते थे । आज की तरह दुकानों पर लोगों को नहीं जाना पड़ा करता था। अपिच, शास्त्रों में रात्रि-क्षौर वर्जित है। इसके लिये हमें धर्म शास्त्रों मे देखने की आवश्यकता नहीं । 'दिवाकीर्ति' शब्द से ही पता चल जाता है कि नापितों को (दिवाएव कीर्त्यते) दिन में ही बुलाया जाता था, रात को नहीं ।

प्राचीन भारत में शिक्षा के ढंग पर 'उपाध्याय' शब्द प्रकाश डालता है। उपाध्याय का अर्थ होता है --अध्यापक । 'उपेत्याधीयते--ऽस्मादित्युपाध्यायः' इस निर्वचन के अनुसार शिष्यों का अध्यापकों के पास जाकर पढ़ना प्रमाणित होता है। आज की भांति घर जाकर पढ़ाना या डाक शिक्षा (Correspondence education) नहीं थी ।

भारतीय संस्कृति की शिक्षा दीक्षा देने लेनें वाले गुरु-शिष्यों के सम्बन्ध परस्पर एक दूसरे की कमी को पूरा करने के लिये थे इस बात का प्रमाण 'छात्र' शब्द से मिलता है ।

'छत्त्रमिवेतिछात्रः' अथवा 'छादयति दोषान्-गुरोः' इस व्युत्पत्ति के आधार पर हम अनुमान कर सकते हैं कि शिष्य का गुरु के प्रति क्या कर्त्तव्य था । शिष्यों

का कर्त्तव्य था कि वे अपने गुरु के लिये छत्र बनें की भांति उनकी रक्षा करें तथा उनकी कमियों को ढकें ।

कई शब्द भारतीय–दार्शनिक - विचारधारा का प्रतिनिधित्व करते हैं । हमारी यह मान्यता है कि दुःख शरीर का विषय है , आत्मा का नहीं ।इसे हम 'दुःख' शब्द से सिद्ध कर सकते हैं । दुःख का अर्थ कष्ट होता है ! इसका सन्धिच्छेद करने पर दुः का अर्थ कष्ट होता है तथा ख का अर्थ इन्द्रिय होता है । अर्थात् कष्ट इन्द्रियों को होता है, आत्मा को नहीं । यह छोटा सा शब्द सांख्य दर्शन के तत्व की ओर संकेत कर गया । अतः हम कह सकते हैं कि शब्द संस्कृति का इतिहास लेकर चलते हैं । प्रत्येक संस्कृति की एक भाषा हुआ करती है, जो अपने शब्दों में उस संस्कृति को संजोए, युग युग तक जीवत रहती हुई, अपने अनुयायियों को अनुप्राणित करती रहती है ।

———

पृष्ठ ४२ का शेष

साहित्य और इतिहास की कदाचित ही कोई ऐसी समस्या है जिस पर समस्या एकांकी न लिखे गए हों । विषयों के प्रतिपादन की दृष्टि से हिन्दी एकांकियों का विवेचन अध्ययन की एक नई दिशा है आगे के पृष्ठों में विषयों के अनुसार हिन्दी एकांकी का अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है ।

भाई गुरुदास और उनकी हिन्दी रचना

डा० मनमोहन सहगल

भाई गुरुदास १७वीं शताब्दी विक्रमी में पंजाब के प्रसिद्ध भक्त कवि हुए हैं। इनका प्रारम्भिक जीवन सामान्यत: उसी प्रकार अविदित है, जैसे अन्य अनेक भक्त-कवियों के सम्बन्ध में माना जाता है। यद्यपि पंजाब के भक्ति-आन्दोलन में भाई गुरुदास का नाम ससम्मान लिया जाता है, तथापि इनका जन्मस्थान और जन्म-काल आज तक निश्चित नहीं किया जा सका। डा० भाई वीर सिंह ने इस सम्बन्ध में अपने पंजाबी सम्पादन 'कवित्त भाई गुरुदास' में चर्चा करते हुए पूरे एक दशाब्द का अनुमान प्रस्तुत किया है। उनका मत है कि भाई गुरुदास का जन्म संवत् १६०० संवत् १६१० के दशाब्द में किसी वर्ष हुआ होगा। उनके इस अनुमान का आधार भी मेरी समझ में भाई गुरुदास की गुरु अमरदास (तीसरे गुरु) के साथ नातेदारी के अतिरिक्त और कुछ नहीं। इतिहासकारों के अनुसार गुरु अमरदास का जीवन-काल संवत् १५३६–१६३१ माना जाता है और भाई गुरुदास का गुरु रामदास के भतीजे होना प्रसिद्ध है। गुरु अमरदास को बुढ़ापे में गुरु गद्दी मिली थी, और तभी कहीं भाई गुरुदास सिक्ख विचार धारा से प्रभावित हुए होंगे। यदि डॉ० वीरसिंह के अनुसार इनका जन्म संवत् १६०७ के समीप मान लिया जाए, तो गुरु अमरदास के ज्योति-जोत समाने पर भाई गुरुदास की आयु २४ वर्ष की रही होगी। भाई कान्हसिंह ने लिखा है कि संवत् १६३६ में भाई गुरुदास ने चौथी पातशाही गुरु रामदास से सिक्ख–धर्म ग्रहण किया और पांचवें गुरु अर्जुनदेव से गुरुवाणी के सिद्धान्तों का मर्म जाना। इनकी मृत्यु भाद्र सुदी ८, १६९४ में गोइंदवाल में हुई। तब छठी पातशाही गुरु हरगोविंद गद्दी पर विराज-मान थे और उन्होंने स्वयं अपने हाथों भाई गुरुदास की अन्त्येष्टि की। इस

प्रकार सिद्ध है कि भाई गुरुदास का सम्पर्क चार गुरुओं --गुरु अमरदास, गुरु रामदास, गुरु अर्जुनदेव तथा गुरु हरगोविंद- से रहा ।

भाई गुरुदास का हिन्दी और संस्कृत भाषाओं पर विशेष अधिकार था । सिक्ख-धर्म के मर्म को जितनी सुविधा और सरलता से दूसरे को समझा सकने की सहज वृत्ति इनमें पाई जाती थी, उसकी पहुंच तक तत्कालीन साधकों में से कोई नहीं पहुंचा । यही कारण था कि भाई गुरुदास को हिन्दू-धर्म के गढ़ और विद्वानों के पीठ काशीनगर में सिक्ख धर्म का प्रचारक नियुक्त किया गया था । यों भी हिन्दी भाषी प्रदेश में प्रचार-कार्य के लिये भाई गुरुदास से योग्य व्यक्ति उस समय सिक्ख समाज में अनुपलब्ध था । काशी के अतिरिक्त लाहौर और आगरा में इन्होंने सिक्ख मत का प्रसार किया । इन्हें सिक्खी का व्यास कहा जाता है, इनकी वाणी को सिक्ख -धर्म की वास्तविक सैद्धान्तिकता से ओत-प्रोत माना गया है, इसीलिये यद्यपि गुरु अर्जुनदेव ने भाई गुरुदास की रचना को आदिग्रंथ में स्थान नहीं दिया, तथापि उन्होंने इनकी वाणी को गुरुवाणी की टीका कह कर पुकारा ।

रचनाएँ --भाई गुरुदास को हम सिक्खी का व्यास कह चुके हैं। आदिग्रंथ का जो सर्वप्रथम सम्पादन गुरु अर्जुनदेव ने किया, उसको भाई गुरुदास की लेखनी ने ही लिपि-बद्ध रूप दिया था। भक्त-कवि के नाते भाई गुरुदास ने पंजाबी और हिन्दी दोनों भाषाओं में भक्ति-रचना प्रस्तुत की । पंजाबी में मुख्यतः 'वारां' नामक रचनाएं की हैं। हिन्दी में कवित्त-सवैये रचे गये हैं । पटियाला के पंजाबी-विभाग के पुस्तकालय में हस्तलिखित प्रतियां के अनुसार इन कवित्तों की संख्या ५५६ है, परन्तु भाई वीरसिंह ने अपने सम्पादन में इनकी संख्या ६७५ प्रस्तुत की है। जोड़े गए ११९ कवित्त उनकी अपनी खोज हैं। वे सबके सब या आंशिक रूप से भाई गुरुदास के रचे हुए ही हैं, यह नहीं कहा जा सकता । रचना-शैली, भाषा एवं चमत्कार की दृष्टि से प्रथम ५५६ तथा बाद के ११९ कवित्तों में कोई विशेष अन्तर दिखाई नहीं देता । इसलिये यदि अस्थायी तौर पर हम यहां उन ११९ कवित्तों को भी भाई गुरुदास की रचना स्वीकार कर लें तो आपत्तिजनक न होगा।

विषय-वस्तु --हमारा सम्बन्ध यहां भाई गुरुदास की हिन्दी रचना-कवित्त सवैयों से है । इनकी विषय-वस्तु है गुरु-भक्ति । गुरु क्या है ? गुरु के लक्षण, शिष्य के लक्षण , मधुर और दास्य-भाव की भक्ति, गुरु और सिक्ख का नाता, गुरु-उपदेशों की शक्ति और उन पर आचरण से मुक्ति-लाभ, गुरु-ज्ञान

की महत्ता, गुरु के प्रति सर्वस्व समर्पण आदि विषयों पर भाई गुरुदास ने कवित्तों की रचना की है । प्रथम खण्ड के ५५६ कवित्तों में लगभग इन्हीं विषयों पर लिखा गया है । इसमें सन्देह नहीं कि भाई गुरुदास ने चारक होने के नाते जन-मन को अधिक आकर्षित करने के लिये मधुरा-भाव की भक्ति पर ही अधिक रचना की है, परन्तु यह भाव उनकी निजी देन नहीं कहा जा सकता । गुरुवाणी एवं उससे भी पूर्व फरीद शकरगंज की रचना में मधुरा-भक्ति के उदाहरण उपलब्ध हैं । यद्यपि गुरुवाणी की मधुरा-भक्ति पर भक्तिकाल का प्रभाव दृष्टिगत होता है, तथापि गुरुदास की नवलता इस मधुर-भक्ति में रीतिकालीन वृत्ति को प्रविष्ट कराना है । इसका कारण सम्भवतः इनका काशीवास ही हो सकता है, जहां रहते हुए इन्होंने अधिकतर कवित्तों की रचना की है । वहां के हिन्दी-क्षेत्र में रीतिकालीन शृंगारिक रचनाओं का आरम्भ हो चुका था और वे राज-दरबारों में (काशीराज की सभा में भी) पर्याप्त प्रशंसा प्राप्त कर रही थीं । स्वयं कवित्त छंद रीतिकालीन-प्रदेय है, गुरुवाणी एवं अन्य महात्माओं की अधिकतर वाणी गेय पद-शैली में लिखी गई है, कवित्तों में नहीं। भक्ति-साहित्य में मधुर-भावना का प्रयोग पंजाब में बहुत पहले से हो रहा था, परन्तु सिक्ख गुरु उससे अप्रभावित रहे थे । श्रीकृष्ण के लोक-रंजक नामों (मोहन, स्यामल, लालन, चित्तचोर आदि) का प्रयोग गुरुओं ने अवश्य किया था, परन्तु सूफियों की तरह वे इश्क हक़ीक़ी का निर्देश करने के लिये इश्क़-मिज़ाजी तक नहीं उतरे थे । गुरुनानक, गुरुअमरनास एव गुरुअर्जुनदेव ने जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध जनता की समझ में बिठाने को पति-पत्नी के सम्बन्धों की ओर निश्चय ही संकेत किये थे, परन्तु आत्मा को नायिका-भेद के सांचे में ढालने से वे झिझकते रहे थे । नायक शब्द का प्रयोग तो गुरुवाणी में हुआ था, परन्तु नायिका शब्द का प्रयोग नहीं हो सका था । भाई गुरुदास ने जीव और गुरु के सम्बन्ध बताने के लिये स्वकीया, परकीय, वासक-सज्जा, प्रोषित-पतिका, खण्डिता (दोहागिन) आदि नायिकाओं (आत्माओं) का निर्देश किया है । अतः भाई गुरुदास सिक्ख साहित्य में पहले व्यक्ति थे जिन्होंने 'नायिका' शब्द का प्रयोग किया और रीतिकाल के प्रभाव में आध्यात्मिक-चित्रण करते हुए आत्मा को नायिका मानकर उसके विभिन्न रूप प्रस्तुत किये । डा० हरभजनसिंह का कहना है कि गुरुवाणी में नायिका का स्वरूप यदि है भी तो ग्रामीण-मुग्धा का है। औपचारिक रूप से सुसज्जित रूप, भाई गुरुदास की लेखनी की सर्वप्रथम देन

है । गुरुवाणी में मुग्धा ग्रामीण, बाट-जोहती विरहिन या रूप-यौवन हीना अनाथ कन्या ही प्रेम-निवेदन करती मिलती है । गुरुदास की नायिका में नागरिका के लक्षण उपलब्ध हैं। डा० सिंह का यह विचार निश्चय ही बाद के ११६ कवित्तों पर आधारित है । सम्पूर्ण नायिका-भेद एवं शृंगार रस चित्रण उन्हीं में से ५०–६० कवित्तों का विषय है, अन्य सभी तो भक्ति सम्बन्धी ही हैं। इन ११६ कवित्तों में बहु-नायकत्व, मान, दूती, सपत्नी आदि के चित्रण भी उपलब्ध हैं ।

गुरुदास-वाणी का मुख्य विषय गुरु-भक्ति ही है । गुरु भक्ति भी एकाधिक स्थानों पर संस्था-जन्य दिख पड़ती है । इसका कारण सम्भवत: भाई गुरुदास का प्रचारक होना है । व्यास-कार्य में व्यक्ति का स्थान उतना ऊंचा नहीं होता, जितना धारणा -विशेष का हो सकता है । इसीलिये गुरुदास गुरुनानक-पथ का निर्देश करना अपना कर्तव्य मानते थे, अपने गुरु (गुरुरामदास) का प्रशस्ति - गान ही उनके लिये सब कुछ न था । गुरु नानक यों भी समाज और धारणा को साथ–साथ लेकर बढ़े थे, इसलिये उनके पथ का शृंगार-संस्था -जन्य गुरुपद से सम्बन्धित है । भाई गुरुदास ने यही तथ्य अपनाया था । उन्होंने अपने कई कवित्तों में गुरु के साथ-साथ गुरु–सिक्ख के प्रति भी प्रेम और भक्ति का प्रदर्शन किया है ।

गुरु भक्ति––इससे पूर्व की हम भाई गुरुदास के कवित्तों में प्रस्तुत गुरु-भक्ति का विश्लेषण करें, हमें सिक्ख-धारणा के अनुसार गुरु का स्वरूप जान लेना अपेक्षित है । यों तो गुरु-पद प्राचीन भारतीयता की सांस्कृतिक-थाती है, तथापि सिक्ख विचारधारा न तो क़बीर की तरह गुरु को गोविंद से बड़ा मानती है, न उसे ब्रह्मा, विष्णु, महेश की पदवी देती है। सिक्ख-दर्शन गुरु और अकाल पुरुष में अभेद मानता है । गुरु संसार में अकाल-पुरुष का प्रतिनिधित्व करता है, ऐसी मान्यता के अनुसार सिक्ख विचार-सरणी में गुरु का पद प्राचीन भारतीय विचारधारा में 'अवतार' के समकक्ष ठहरता है । जैसे गीता तथा रामचरित मानस के लेखकों के मता–नसार संसार के कष्टों के निवारणार्थ स्वयं परमात्मा अवतरित होता है,

(१) **जब जब होइ धरम के हानी**
बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी
तब तब प्रभु धरि विविध सरीरा
हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा
(मानस)

(२) **यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत**
अभ्युत्थानम धर्मस्य तदात्मानं सृज्याम्यिहम् (गीता)

वैसे ही भाई गुरुदास अपनी पहली पहली वार में लिखते हैं––

भई ग्लानि जगत विच, चार वरण आश्रम उपाए
दस नाम सन्यासियां१ जोगी बारह पंथ चलाए २
सुनी पुकार दातार प्रभु, गुरुनानक जग माँहि पठाया
चरण धोइ रहिरास कर, चरणामृत सिक्खां पीलाया,

या

वेद ग्रंथ गुरु हट है, जिस लग भवजल पार उतार ।
सतिगुरु बाझ न बूझिए, जिच्चर धरै न गुरु अवतारा ।

गुरु और वाहिगुरु (अकाल-पुरुष) में भेद देखने के कारण ही गुरु के लक्षण प्रस्तुत करते हुए भाई गुरुदास उन सभी लक्षणों की सूची सी प्रस्तुत कर देते हैं जो गुरुवाणी में अकालपुरुष के स्वरूप का संकेत करते हैं।

सतिगुरु सत्त, सतिगुरु मति , सत्त रिदै,
राखै न दुतीआ भाव, त्रिगुण अतीत है,
पूरन ब्रह्म गुरु पूरन सरबमई
एक ही अनेक मेक सगल को मीत है
निरवैर, निरलेप , निराधार, निरालंब
निरंकार, निरविकार, निःचल चीत है
निरमल, निरमोल, निरंजन , निराहारे
निरमोह, निरभेद अछल अजीत है ।१६७

सच्चे सिक्ख का कर्त्तव्य है कि वह गुरु के गुणों को धारण करे। स्वयं उन विशेषताओं को अपने भीतर उपजाए जिनके पोषण से उसका गुरु वाहिगुरु से अभेद प्राप्त कर चुका है । अस्तु, यदि सचमुच वह उन गुणों के विकास में सफल हो सके तो वह भी वाहिगुरु से अभेद-प्राप्त कर सकेगा और उसके लक्षण भी सतिगुरु के समान महनीय होंगे । बानगी देखिए ––

निःकाम, निःक्रोध, निरलोभ, निरमोह
निरमेव, निःटेव, निरदोख वासी है
निरलेप , निरबान, निरमल, निरवैर
निरविघनाइ निरालंब अबिनासी है
निराहार, निराधार, निरंकार, निरबिकार
निहचल, निःभ्रान्ति निरभै निरासी है
निःकर्म निः भ्रम निःश्रम, निःस्वाद
निरंजन, निरवाद सुनंमै सन्यासी है ।१६८

इससे स्पष्ट है कि भाई गुरुदास सिक्ख विचारधारा के अनुसार गुरु और वाहिगुरु का अभेद तो मानते ही हैं, साथ ही सच्चे गुरु के सच्चे सिक्ख को भी उसी लोक का वासी मान लेते हैं, जिस धाम का उसका गुरु होता है। इसीलिये

---

१. तीर्थ, आश्रम, वन, आरण्य, गिरि, परवत, सागर, सरस्वती, भारती, पुरी ।

२. हेतु पंथ, पाव, आई, गम्य, पागल, गोपाल, कंथरी, वन, ध्वज, चोली, रावल, दास ।

वे जहां गुरु के प्रति प्रेम और भक्ति निवेदन करते हैं, वहां सिक्ख की अवहेलना नहीं करते। उसको भी सादर वंदन करते हैं --

जैसे बीस बार दरसन साध किया काहू
तैसा फल सिक्ख को चापि पग सुआए
का ।५७३

क--मधुर-भाव की गुरु भक्ति --

मधुर-भाव की भक्ति में जहां प्रेम और श्रद्धा की अपेक्षा रहती है, वहां दाम्पत्य रति और समर्पण के भाव भी बड़े तीव्र होते हैं। यों तो रति-भाव सख्य, दास्य और वात्सल्य-भाव-प्रधान भक्ति में भी सजीव रहता है, परन्तु दाम्पत्य की छटा ही निराली है। पति-पत्नी का प्रेम अद्वितीय माना जाता है। पत्नी-पति-गृह में आकर सर्वस्व पति को समर्पित कर देती है, पति के बताये मार्ग पर प्रेम और भय सहित आचरण करती है, और ससुराल में यश-लाभ करती है। इसी प्रकार यदि गुरुसिक्ख रूपी पत्नी वाहिगुरु रूपी पति को सर्वस्व सौंप दे, पतिव्रता बन कर रहे, तो वह धन्य हो जाए।

नैहर कुटुंब तज ब्याहे ससुरार जाइ
गुनन कै कुलवधु बिरद कहावई
पूरन पतिव्रत औ गुरुजन सेवा भाई
ग्रहि में ग्रहेसुरी सुजस प्रगटावई
अंतकाल जाइप्रिय संग सहगामिनी ह्वै
लोक परलोक विखै उचपद पावई
गुरुमुख मारग भै भाई निरबाह करै
धन्य गुरुसिख आदि अंत ठहिरावई।११९

सच्चा गुरुभक्त पतिव्रता की तरह कदापि किसी अन्य देवी-देवता पर श्रद्धा नहीं रखता मन, वचन, कर्म से अपने पति-गुरु की सेवा में लीन रहता है। उसके लिये किसी अन्य का ध्यान या स्मरण व्यभिचार से कम नहीं।

लोग वेद ज्ञान उपदेश है पतिव्रता को
मन, वच, कर्म स्वामी सेवा अधिकार है
० ० ० ०
तैसे गुरु सिक्खन में एक टेक ही प्रधान
आन ज्ञान ध्यान सिमरण बिभचार है।४८२

नारी के लिये भरतार ही सर्वस्व है, और गुरु-सिक्ख के लिये गुरु शरण-

नारि भरतार के सनेह पतिव्रता होइ
गुरु सिक्ख एक टेक पतिव्रत लीन है
राग, नाद, बाद औ संवाद सुनै पतिव्रता
बिनु गुरु शब्द न कान सिक्ख दीन है
रूप अंग-रंग -सरबंग हेरे पतिव्रता
आन देव सेवक न दरसन कीन है
सुजन कुटुंब ग्रहि गौंन करे पतिव्रता
आन देव थान जैसे जल बिन मीन है।४४९

ख--दास्य-भाव की गुरु भक्ति --

दास्य-रति के प्रकाशन नें दास्य-भाव की भक्ति का उदय होता है। भाई गुरुदास ने गुरु के प्रति दास्य-भावना का निश्चित प्रदर्शन अपने दैन्य-पूर्ण कवित्तों में प्रस्तुत किया है। ऐसे कवित्तों में भाई साहिब अपनी हीनता और सतिगुरु की महानता,

उदारता तथा कृपालता का चमत्कार-पूर्ण शब्द-चित्र खींचते हैं। अन्ततः गुरु के अवलम्ब की मांग करते हैं, क्योंकि वही तो भवसागर में पड़ी जीवन—नैया की पतवार बन सकता है—

तो सो न नाथ, अनाथ न मोसर।
तो सों न दानि न मोंसों भिखारी
मो सो न दीन दयालु न तो सर।
मो सों अज्ञानी, न तो सो विचारी
मो सो पतित न पावन तो सर।
मो सों विकारी, न तो सोपकारी
मोरे हैं औगुण, तू गुण सागर।
जात रसातल ओट तिहारी।५२८

अपनी हीनताओं की सूचियाँ बनाने में भाई गुरुदास ने हिन्दी साहित्य के पूर्ववर्ती सभी भक्त—कवियों को मात दी है। सूर और तुलसी के दैन्य में एक सीमा थी, कबीर की दीनता में अक्खड़पन की बू मौजूद थी परन्तु भाई गुरदास अपने में कुछ देख ही नहीं पाते, गुरु की शरण मिले भी तो कैसे? कहते हैं—

रूपहीन, कुलहीन गुणहीन, ज्ञानहीन।
शोभाहीन, भागहीन, तपहीन बावरी
दिष्टीदरस हीन, शब्द सुरति हीन।
बुधि बलहीन, सूधे हसत न पावरी
प्रीतिहीन, रीतिहीन भाई भै प्रतिहीन।
चित्तहीन, बितहीन सहजि सुभावरी।
अंग अंगही न, दीनाधीन, परर्च.न लग।
चरण शरण कैसे प्राप्त हो रावरी।२२०

ग—गुरु और सिक्ख का नाता—ठीक है कि भाई गुरुदास मधुर और दास्य भावों के कवित्तों में गुरु और सिक्ख का नाता कहीं पति-पत्नी और कहीं स्वामी सेवक के रूप में बताते हैं, परन्तु ये रिश्ते-नाते तो सांसारिक हैं। गुरु और सिक्ख का नाता शारीरिक या आर्थिक तो नहीं, ना ही वह मात्र पूज्य और पुजारी का सम्बन्ध कहा जा सकता है। गुरु तो सिक्ख का सर्वस्व है, तन-मन-प्राण सिक्ख उसे सौंपता है और यदि जीव गुरु के उपदेशों पर आचरण करे तो समयानुसार दोनों में वैसा ही अभेद स्थापित हो जाता है, जैसा गुरु और अकालपुरुष में होता है। उसी विचार से, व्यास-गद्दी पर बैठ कर भले ही भाई गुरुदास जनता तक अपनी बात पहुंचाने के लिये गुरु और सिक्ख के नाते के उपमान खोजते रहे, वास्तव में इस नाते की अनुपमता, अद्वितीयता से वे भली प्रकार परिचित हैं। लिखते हैं—

नहीं ददसार पिता पितामा परपितामा।
सज्जन कुटुंब सुत बांधव न भ्राता है
नहीं ननसार माता परमाता बृद्धमाता।
मामू मामी, मासी, मौसा बिबिध बिख्याता है
नहीं ससुरार सास ससुरा औ सारो सारी।
नहीं बिरती सुर औ जाचक न दाता है
असन बसन धन धाम काहू में न देख्यो।
१००
जैसे गुरु सिक्ख साधु संगति को नाता है।

(च) गुरु के उपदेशों की शक्ति-- भाई गुरुदास नानक-पंथ के अनुसार गुरु-उपदेश की महानता स्वीकार करते हैं। गुरु के उपदेशों का पालन करने वाला मलिनता का त्याग कर निर्मल हो जाता है, उसका आवागमन छूट जाता है, कर्मलेख मिट जाता है, उसका भय-भ्रम नष्ट हो जाता है और वह अमर-पद को प्राप्त करता है। गुरु नानक ने जपुजी साहिब में सचखण्ड प्राप्ति के लिये गुरु-उपदेशों का पालन (नाम-जाप) विशेष अर्हता स्वीकार की है। बिना इसके बड़े बड़े ज्ञानी, रजो-तमोगुणी और त्रिगुणमयी प्रकृति या माया के पुजारी पहले-दूसरे खण्ड में ही विचरण करते रह जाते हैं। तीसरे खण्ड (श्रम खण्ड) में सच्चा गुरु-सिक्ख ही पहुंचता है, जो गुरु-उपदेशों का मेहनत से पालन करता है और वाहिगुरु की कृपा (करम) का भागी बन पंचम खण्ड, सचखण्ड वास का अधिकारी बनता है। चौबीसवें कवित्त में भाई गुरुदास ने गुरु-उपदेशों की इसी महत् शक्ति का आकर्षक चित्र प्रस्तुत किया है। वे लिखते हैं --

गुरुमति सत्त कर चंचल अचल भए
महा मलमूत्रधारी निरमल कीने हैं
गुरमति सत्त कर जोनि के अजोनि भए
काल से अकाल के अमरपद दीने है
गुरुमति सत्त कर हौमै खोई होई रेणु
त्रिकुटि त्रिबेनी पार आपा आप चीने हैं
गुरुमति सत्त कर बरन-अबरन भै
मै भ्रम निवार डार निरभै कै लीने हैं।२४

इसलिये सतिगुरु के आगे जो प्राण-पूजा अर्पित करता है और आज्ञाकारी रहकर उससे प्राप्त उपदेश को मन में बसाता है, वह महानिधि (वाहिगुरु) को पा लेता है —

पूजा प्रान ज्ञान गुरु आज्ञाकारी अग्र भाग,
आतम अवेश परमातम निधानीए।१३७

(ङ) गुरु संगति में मुक्ति-प्राप्ति-- गुरु-पंथ में मुक्ति से अकाल-पुरुष में लीनता का अर्थ लिया जाता है। गुरु-वाणी-अनुसार सद्गुरु की प्राप्ति से मन का अहंकार (हौमै) नष्ट हो जाता है और परिणाम-स्वरूप मन गुरु-नाम का जाप कर प्रभु-प्रेम में लीन होता है। तब अकाल की कृपा और पूर्व सत्कर्मों के प्रभावानुरूप जीव वाहिगुरु से अभेद प्राप्त करता है और मुक्तावस्था में सचखण्ड में विचरण करता है। उसका जन्म-मरण चक्र मिट जाता है और वह मानव-जीवन के अन्तिम लक्ष्य को पा लेता है। अभिप्राय यह कि मुक्ति-पथ के पथिक का प्रथम पड़ाव गुरु ही है। जब तक वह गुरु की सत्संगति नहीं करता, तब तक मुक्ति की ओर कोई कदम नहीं बढ़ाया जा सकता। इसीलिये भाई गुरुदास गुरमुख-पंथ ग्रहण करने की सम्मति देते हैं। क्योंकि उससे काल-पंथ का बोध होता है और जीवन की पांचों

मायावी वृत्तियों का उन्मूलन सम्भव हो पाता है --

गुरुमुख पंथ गहे, जमपुर पंथ भेटै ।
गुरुसिक्ख संग पंचदूत संग त्यागे हैं । ५७

जैसे रात्रि के अंधकार में दिनकर के उदय से चतुर्दिक प्रकाश की किरणें प्रसरित हो जाती हैं, वैसे ही गुरु-ज्ञान रूपी सूर्य के उदय से माया, मोह, भ्रम, कुबुद्धि आदि का अंधकार नष्ट हो जाता है ।

जैसे निस अंधकार तारका चमतकार
होत उजिआरो दिनकर के उदोत है ।
तैसे माया मोह भ्रम होते हैं मलीन मति,
सतिगुरु ज्ञान ध्यान जगमग जोति है।३२०

(च) **गुरु-ज्ञान की महत्ता**--मुक्ति-दाता गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञान गुरुदास-वाणी में बहुत बड़ी निधि स्वीकार की गई है । लोकाचार हो या वेदाचार, सब गुरु ज्ञान के सम्मुख उन्नीस है, इक्कीस का पद गुरु-प्रदत्त ज्ञान के लिये ही निश्चित है । कहा भी है--

लोगन में लोगाचार, वेदन में वेदाचार
लोग वेद बीस, इकईस गुरु ज्ञान है ।

यों भी सिक्ख-मत में गुरुवाणी को स्वयं गुरु के स्थानापन्न ही माना जाता है । दशम गुरु, गुरु गोविंद सिंह के पश्चात् तो गुरुवाणी को निश्चित गुरु-पद प्रदान कर दिया गया । यद्यपि इसका अभिप्राय यह नहीं कि गुरु ग्रंथ साहिब नामक रचना को गुरुपदासीन कर दिया जाये, तथापि यह निश्चित है कि उसमें बताए पथ की पहिचान और संकेतित-कर्मों पर आचरण मुक्ति- पथ के पथिक का ठीक उसी प्रकार पथ-प्रदर्शन करेंगे, जैसे स्वयं देह-धारी गुरु से आशा की जाती है । इसीलिये भाई गुरुदास उस अमूल्य वाणी को अथाह सागर मानते हैं । यह तो जीव रूपी मरजीवे की हिम्मत है कि वह गहराई तक जाकर मोती-भरी सीप निकाले, या उथले में शंख घोंघे ही पकड़ता रह जाए --

जैसे तो सकल विधि पूरन समुंद बिखै
हंस मरजीवा निहचै प्रसाद पावई
तैसे गुरुबानी बिखै सकल पदार्थ हैं
जोई जोई खोजै सोई सोई निपजावई।५४६

छ--गुरु-चरण महान तीर्थ--हिन्दू-समाज में पवित्रता के नाते भारत के अठासठ प्रसिद्ध स्थान गिने जाते हैं । उन स्थानों पर यथासमय अवतारों महापुरुषों, योगियों-महात्माओं आदि ने अपने जीवन के कुछ दिन बिताए थे, कहीं तपस्या की थी, कहीं उपदेश दिये थे, कहीं देह धारण की थी और कहीं त्यागी थी । ऐसे सब स्थान तीर्थ कहलाते हैं और हिन्दुओं में वहां की यात्रा पुण्यमयी मानी जाती है । भाई गुरुदास व्यास गद्दी पर बैठ इस मिथ्या-विश्वास को स्वाभावतः कोई महत्त्व नहीं दे सके -- परन्तु जनता-जनार्दन को समझा सकना इतना सरल नहीं होता । इसलिये

उन्होंने यात्रा की समस्या का समाधान गुरु-चरणों में खोज निकाला । जनता का प्रिय शब्द 'तीर्थ' भी सम्मिलित कर लिया गया और इधर उधर भटकने से बचा कर जनता को गुरु शरण ग्रहण करने का उपदेश भी दे डाला —

सुरसरी, सुरसुती जमना औ गोदावरी,
गया, प्राग सेतु कुरुखेत मानसर हैं
कांशी, कांती द्वारावती माया मथुरा अयुध्या
गोमती, अवतंका, किदार हिमधर हैं
नरबदा, बिबुधबन देवस्थल कैलास
नील मंद्राचल सुमेरु गिरिवर है
तीरथ अरथ सूचि धरम दया संतोख
श्री गुरु-चरण रज तुल्ल न सगर है ।४१६

ज—अंग अंग गुरु के अर्पण—अतः जीव को चाहिए कि पुण्य-संचयार्थ अपना अंग-अंग गुरु-चरण तीर्थ की सेवा में सफल बनाले । आंखों की सफलता गुरु के दर्शनों में है, कानों की योग्यता गुरु के शब्द सुनने में हैं, जिह्वा का पुण्य-गुरु-गुण गान में, हाथों का उपयोग गुरु-चरण पूजन में, पैरों की अनुकूलता गुरु-प्रदक्षिण में और हृदय की सारवानता गुरु-शब्दों को अपने में समा लेने में विद्यमान है । यदि गुरुसिक्ख इन लक्ष्यों को त्यज कर इधर-उधर भटकता है, तो निश्चय ही वह पूर्ण-सिक्ख नहीं कहला सकता । आत्म-समर्पण के पश्चात् सिक्ख का सब कुछ गुरु की न्यास है, उसका अन्य कहीं प्रयोग ईमानदारी को चुनौती देने के समान होगा । भाई गुरुदास उपदेशात्मक ढंग से कहते हैं —

सफल जनम गुरु चरण शरण लिवः,
सफलदृष्टि गुरु दरस अलोई ए ।
सफल सुरति गुरु शब्द सुनत नित,
जिह्वा सफल गुणनिधि गुण गोईऐ ।
(कहिए)
सफल हसत गुरु चरण पूजा प्रणाम,
सफल चरण परदछना करोईऐ ।
संगम सफल साधुसंगति सहज घर,
हिरदा सफल गुरुमति के समोईऐ ४९९

झ—गुरु-प्राप्ति : कथनी से नहीं करनी से— जो गुरु जीव के लिये सब कुछ है, जिसके लिये जीव का सब कुछ अर्पित है, उसकी खोज का आधार क्या है ? गुरुवाणी "पूरब होवै लिखिया, तो सतिगुरु पाईए" पर ज़ोर देती है । गुरु नानक ने बार बार गुरु की प्राप्ति में प्रारब्ध, सत्कर्म, उत्तम-प्रवृत्तियों और प्रभु-कृपा की ओर संकेत किए हैं । परन्तु भाई गुरुदास का दृष्टिकोण स्पष्टता गुरु-पंथ से सम्मत होते हुए भी गुरुप्राप्ति में जीव के परिश्रम को विशेष महत्व देता है । वास्तव में यहां करनी का अभिप्राय खोज के अथक प्रयत्नों से है । "जिन खोजा तिन पाइआ" वाला भाव गुरुदास को भाता है । अतः बातें बघारने पूछ-परछ तक ही अपने को सीमित रखने और जीवन में अपेक्षित संयम का अभाव

बनाए रखने में गुरुदास को कोई विश्वास नहीं; इसलिये वे ललकार कर कहते हैं कि भोजन परोसा होने पर भी क्षुधा-तृप्ति के लिये जैसे उसे खाना चबाना आवश्यक है, वैसे ही गुरु की उपस्थिति में भी वहां तक चलना अपेक्षित है, नाम प्राप्त कर लेने पर भी मुक्ति प्राप्त्यार्थ उसकी कमाई (जाप) बड़ी ज़रूरी है। लिखते हैं --

पूछत पथक तिह मारग न धारै पग,
प्रीतम के देश कैसे बातन कै जाईऐ ?
पूछत है बैद खात औखधि न संजम से
कैसे मिटै रोग सुख सहिज समाईऐ ?
पूछत सुहागिन, हैं करम दुहागिन के
रिदै विभचार, कत सिहजा बुलाईऐ ?
गाए सुनें आंखें मींचे पाईए न परमपद
गुरु उपदेश गहि जो लौ न कामईऐ।४३६

छ--व्यास-कार्य --पहले कहा जा चुका है कि भाई गुरुदास-सिक्ख-दरबार की ओर से व्यास-कार्य पर नियुक्त किए गए थे। प्रचारक का कार्य विश्वासु की अपेक्षा कठिन तो होता ही है। उसे अपने मत के प्रभाव की स्थापना के अतिरिक्त लोगों की शंकाओं-संशयों का समाधान करना होता है, विरोधी-मतों का खण्डन और विपक्षियों को तर्क द्वारा मात देनी होती है। इस वातावरण में दृष्टांत, उदाहरण, प्रसिद्ध उपमान और प्रचलित मान्यताओं का आश्रय लेना प्रचारक के लिये स्वाभाविक ही होता है। भाई गुरुदास की रचना में ऐसे उपमानों और उदाहरणों की छटा दर्शनीय है। उनके अधिकतर उपदेशात्मक कवित्तों का आरम्भ "जैसे" शब्द से होता है और अन्तिम वाक् जो वास्तविक दृष्टव्य होता है, 'वैसे' या 'तैसे' शब्द से आरम्भ होता है। उदाहरणार्थ उनके सैंकड़ों कवित्त प्रस्तुत किये जा सकते हैं। बानगी के तौर पर एक उदाहरण देखिए --

खांड खांड कहै जिह्वा न स्वाद मीठो आवै
अगनि अगनि कहै सीत न विनाश है
बैद बैद कहै रोग काहू को मिटत नाहीं
द्रब द्रब कहै काऊ द्रबै न विलाश है
चंदन चंदन कहै होत न सुबास बास
चंद चंद कहै उजियारों न प्रकास है
तैसे ज्ञान-गोष्टि कहित न रहित पावै
करनी प्रधान भानु उदित आकाश है।
४३७।

ऐसे कवित्तों में उपदेशात्मकता सिद्ध है। गुरुदास मात्र नाम लेने से ही नहीं, काम करने से ही किसी कार्य की सिद्धि स्वीकार करते हैं, और इस धारणा को कितना स्पष्ट करके उक्त कवित्त में समझाया गया है।

सिक्ख-धर्म के प्रचारक होने के नाते भाई गुरुदास कर्म-काण्ड का बराबर विरोध करते हैं। जनता को सुयोग्यमार्ग दर्शाने के लिये वे मूर्ति-पूजा का विरोध करते हैं, गृहस्थ-धर्म की अनुकूलता की चर्चा करते हैं, तथा दान देने और लेने

के लिये अधिकारी पात्र के लक्षण निश्चित करते हैं ।

सिक्ख-मत मूर्ति-पूजा का विरोधी है । इसे कर्मकाण्ड का एक अंग माना जाता है । यद्यपि आधुनिक सिक्ख पूजन में गुरु-ग्रंथ की पूजा और उस पर चढ़ावे का स्थान मूर्तिपूजा से किसी प्रकार भी कम नहीं समझा जा सकता, तथापि सैद्धान्तिक दृष्टि से गुरुवाणी में इसको कोई स्थान नहीं । सिक्खों में मूर्ति पूजा अज्ञान और हीनता के लक्षण माने जाते हैं । एक प्रचारक के लिये जनता को इस धारणा के विरुद्ध प्रेरित करना अनिवार्य ही है । अतः भाई गुरुदास लिखते हैं --

पाहन की प्रतिमा को अंध कंध है पुजारी
अंतर अज्ञानमति ज्ञानगुरु हीनो है ।४८५

गृहस्थ धर्म नानक-पंथ में विशेष महत्त्व रखता है । इस पंथ में किसी गुरु-सिक्ख को योगी, सन्यासी, तपस्वी बनने की प्रेरणा नहीं दी जाती, बल्कि "नानक सतिगुरु भेटिए पूरी होवे जुगति । हंस दियां, खलंदियां, खावंदियां, पैनंदियां, विचे होवे मुकति ।" इसलिये लेखक ने अपनी रचना 'संत-काव्य का दार्शनिक-विश्लेषण' मे नानक-पंथ को गृहस्थियों का अध्यात्म-मार्ग कह कर पुकारा है । वास्तव में गृहस्थाश्रम ही तो ऐसा वातावरण है, जिसमें सर्वांगीण शारीरिक, आर्थिक और मानसिक संतुष्टि उपलब्ध होने के कारण जीव निश्चल भाव से प्रभु में ध्यान लगा सकता है । भाई गुरुदास भी इसी विचार से उद्भूत हो गृहस्थ -धर्म की स्तुति करते हैं --

जैसे सर सरिता सकल में समुन्द बड़ो
मेरु में सुमेरु बड़ो जगत बखान है
तरुवर विखे जैसे चंदन बिरख बड़ो
धातु में कनक अति उत्तम कै मान है
पंछिन में हंस, मृगराजन में शार्दूल, रागन
में सिरी राग, पारस पखान है ।
ज्ञानन में ज्ञान अरु ध्यानन में ध्यान गुरु
सकल धर्म में गृहस्थ प्रधान है ।

दान देने, और धान खाने आदि के सम्बन्ध में उपदेश देते हुए भाई गुरदास लिखते हैं --

जैसे काचो पारो खात ऊपजे विकार गात
रोम रोमक पिरात महा दुःख पाईऐ ।
जैसे तौ लसन खाए मौन के सभा में बैठ
प्रगट दुर्गंध नहिं दुरत दुराईऐ ।
जैसे मिष्टांन पान संगम के माखी लीले
होत उकलैद खेद संकट सहाईऐ (कै)
तैसे अपरचे पिंड सिक्खन की भिख्या खाए
अंतकाल भारी होई यमलोक जाईऐ ।

अतः यदि यमलोक से आत्म-रक्षा करनी हो तो, गुरु नानक-साखी की जुदी-जुदी रोटियों में से दूध और रक्त निचोड़ दिखाने वाली घटना का ध्यान रखते हुए दाता की सुपात्रता की विशेष पड़ताल अपेक्षित है ।

६—नायिका-भेद–गुरु-भक्ति एवं जनता में उपदेशार्थ लिखे कवित्तों के अतिरिक्त कुछेक कवित्त रीतिकालीन प्रभावानुरूप नायिका-भेद आदि का संकेत करते हैं। पीछे कहा जा चुका है कि उत्तर-खंड के ११३ कवित्त ही, जिनकी खोज का श्रेय डॉ० भाई वीरसिंह को दिया जा रहा है, इस प्रकर की रचना के मुख्य आधार हैं। पूर्व खंड के ५५६ कवित्तों में नायिका भेद प्रदर्शित करने वाले कवित्तों की संख्या नगण्य है, तथापि नायिका में नागरिक गुणों सोलह शृंङ्गारों और स्वकीया एवं गणिका की तुलना आदि के कुछेक कवित्त देखे जा सकते हैं। 'रसिक-प्रिया' के सोलहों शृङ्गार—

प्रथम सकल शुचि मज्जन अमल तास
जावक सुदेश केश पास को सुधारबो
अंगराग, भूषण विविध मुखवास रंग
कज्जल कलित लोल लोचन निहारबो
बोलन हसन मृदु चलन चितौन चारु
पल पल पतिब्रत प्रीति पति पारबो
केशोदास सविलास करहो कुवरि राधे।
इहि विधि सोरहि शृंगारन शृंगारबो।

भाई गुरुदास अपनी नायिका में देखना चाहते हैं—परन्तु एकसा शृंगार होने पर भी गणिका और पतिव्रता में भारी भेद बना रहना स्वाभाविक ही है—

जैसे कुलबधु अंग रचत सिंगार खोड़
तेई गणका रचत सकल सिंगार जी।
कुलवधु सेजा समै रमत भतार एक
वेश्वा तो अनेक से करे बिभचार जी।
कुलवधु संगम सुयस निरदोल मोख,
वेश्वा परसत अपयश है विकार जी।
तैसे गुरु सिक्खन को परम पवित्र माया
सोई दुखदायक है दहित संसार जी।३८४

पीछे के ११६ कवित्तों में चतुरा, वासकसज्जा, खण्डिता एवं प्रोषित-पतिका के चित्रण भी उपलब्ध हैं, परन्तु हम उन कवित्तों को इस लेख का विषय नहीं बना रहे।

रस—भाई गुरुदास की प्रस्तुत रचना में भक्ति की प्रमुखता होने के कारण शान्तरस ही प्रधान है। मधुर-भाव की भक्ति में प्रभु-विषयक पार्थिव शृंगार के दर्शन भी उपलब्ध होते हैं। नायिका-चित्रण में चित्रण है, नायक-नायिका संगम नहीं, इसलिये शुद्ध शृंगार-रस की प्राप्ति कदाचित् पहले ५५६ कवित्तों में नहीं हो पाती। मधुरा-भक्ति का संयोग, जीवात्मा और परमात्मा के मिलन की कथा है, इसलिये आध्यात्मिकता का पुट होने के नाते वह शास्त्रीय दृष्टिकोण से शृंगार रह ही नहीं जाता।

छंद और अलंकार—रचना का नाम "कवित्त-सवैये" है, और विस्मय यह है कि पूर्व एवं उत्तर खंड की संपूर्ण पद-संख्या में सभी कवित्त ही हैं, सवैया

(सोलह)

कोई भी नहीं । कवित्त रीतिकाल के कवियों का प्रसिद्ध छंद रहा है और भाई गुरुदास पर रीतिकालीन पद्धति परकता का प्रभाव हम ऊपर स्वीकार कर चुके हैं । उसी प्रभावान्तर्गत ये लिखे गए हैं, ऐसी गंध उनमें से बराबर आ रही है ।

नाम के लिये अनुमान किया जा सकता है कि 'कवित्त सवैये' उस युग की छन्द शैली बन गई होगी, उसमें कवित्त सवैया छप्पय आदि छंदों का समावेश होता होगा और प्रचलन एवं रूढ़िवादिता के नाते किसी भी छंद की रचना 'कवित्त -सवैये' कहलाते होंगे ।

अलंकारों की ओर भाई गुरुदास की कोई विशेष रुचि नहीं कही जा सकती । वे प्रचारक थे, अतः उन्हें सरल से सरल ढंग से, भले ही वह उक्ति वैचित्र्य विहीन ही क्यों न हो, अपनी बात जनता जनार्दन तक पहुंचानी थी । ऐसा करने के लिये उन्होंने दृष्टांत, उदाहरण, उपमाओं आदि का भरपूर सहारा लिया है, और उसमें उन्हें सफलता भी मिली है । हां, जन-समाज को प्रभावित करने तथा अपनी ओर आकृष्ट करने के लिये भाई गुरुदास ने उक्ति में चमत्कारोत्पादन का बराबर ध्यान रखा है । उनकी उक्तियों के चमत्कार ही वास्तव में उनके काव्यालंकार हैं, उदाहरणार्थ --

जैसे नाउ बूड़ति से जोई बचै सोई भलो,
बूढ़ गए पाछै पछताए रहि जात ह्वै
जैसे घर लागे आग जोई बचै सोई भलो,
जरे बूझे पाछे कछ बस न बसात है।
जैसे चोर लागे जागे जोई रहे सोई भलो।
सोइ गए रीतो घर देखे उठ प्रात है ।
तैसे अंतकाल गुरचरण शरण आवै
पावै मोख पदवी, न तुर बिललात है।६६

इन अलंकारों के अतिरिक्त भी कोई कोई उक्ति-वैचित्र्य कभी दीख पड़ ही जाता है । यथा 'क्रम' का एक नमूना प्रस्तुत है --

परत्रिय दीरध समान लघु यावदेक
जननि भगनि सुता रूप कै बिहारीए ।

भाषा-शैली--अंत में कवि की भाषा और शैली के सम्बन्ध में भी कुछेक शब्द कह लेना आवश्यक ही है । भाई गुरुदास पंजाबी थे, हिन्दी के विद्वान् होने से वे हिन्दी प्रदेश में व्यास नियुक्त हुए थे । उनका तत्कालीन साहित्यिक भाषा (ब्रजभाषा) पर अच्छा अधिकार था । उन्होंने अपनी पंजाबी रचना के अतिरिक्त शेष सब रचना उसी भाषा में की है । उनकी ब्रजभाषा परिमार्जित एवं अमिश्रित कही जाती है । आगरा के प्रदेश में दूर-दूर तक प्रचलित भाषा यहां प्रयुक्त हुई है । पंजाबी शब्दों के प्रयोग से लेखक पूर्णतः बच नहीं पाया । संस्कारवश, जैसाकि इस लेख

में भी आपको कहीं महसूस हो सकता है, भाई गुरुदास के कवित्तों में कहीं-कहीं एकाध पंजाबी शब्द व्रजभाषा के आभूषण में नगीने की तरह जड़ा हुआ मिल ही जाता है यथा भै, बेनती, विभचार, सुभा आदि शब्दों का प्रयोग। यों भी लेख में मूर्धन्य 'ष' के स्थान 'ख' वर्ण का प्रयोग पंजाबीपन का ही द्योतक है।

शैली मुक्तक है। प्रचलित नाम, उस युग में, सम्भवत: "कवित्त-सवैया" रहा होगा। यह शैली पंजाब के साहित्य में नवीन देन थी, बाद के कई कवियों ने भाई गुरुदास का अनुसरण किया।

महत्त्व—गुरुमुखी लिपि के हिन्दी रचनाकारों में भाई गुरुदास का बड़ा ऊंचा स्थान है। इसके मुख्य कारण हैं—

(१) गुरु अर्जुन देव द्वारा गुरुदास-वाणी को सिक्ख-धर्मानुकूल स्वीकार किया जाना एवं उसे गुरुवाणी की टीका का सम्मानित स्थान प्रदान करना; (२) भाई गुरुदास का हिन्दी-संस्कृत के विद्वान होना और व्यास-कार्य को अपनाना; (३) रीतिकालीन प्रभाव में मधुरा-भक्ति एवं नायिका–भेद की पंजाबी काव्य में नव-चेतना उत्पन्न करना; (४) पंजाब के साहित्य में कवित्त सवैया शैली का प्रचलन और स्वयं गुरु गोविंदसिंह एवं दरबारी कवियों द्वारा उसका अनुसरण; तथा (५) भाई गुरुदास का आदिग्रंथ के प्रथम लिपिक होना। ये सब बातें एवं भाई गुरुदास की रचना के दार्शनिक, व्यावहारिक, चमत्कारक एवं मधुर-सद-भावात्मक पहलु उनके महत्त्व को शत गुणित करने में समर्थ थे। सिक्ख धर्म के दार्शनिक-तत्त्व 'भेदाभेद' का चित्रण करते हुए हम उनके प्रथम कवित्त —

आदि पुरख आदेस, उनम श्री सतिगुरुचरण
घट घट का परवेस, एक अनेक विवेक ससि ?

के माध्यम से भाई गुरुदास की दार्शनिक प्रवृत्ति का परिचय देते हुए इस लेख को सम्पन्न करते हैं।



जापान की एक विभूति

कर्मठता का प्रतीकः सोन्-तो-कू

भैरवदत्त शुक्ल

एशियाई राष्ट्रों में छोटा होने पर भी जिसने अपने विकास से सारे संसार की प्रमुख राष्ट्रीय मान्यताओं को पर्याप्त प्रभावित किया, वह हमारा पड़ौसी एवं धर्म-बन्धु जापान है। उसके आँगन में पुरुषार्थ का यौवन किलकता है और अंतर में सूक्ष्म भावनाओं की अन्तः सलिला प्रवाहित होती रहती है। यही कारण है कि 'सूर्य का देश' कहलाने पर भी जो कभी अंधकार से परिपूर्ण था, कुछ शताब्दियों बाद, आलोक से परिपूर्ण होकर, अखिल भू-मंडल पर अपनी छाप लगाने में समर्थ हुआ और विगत विश्व महासमर में अणुबम के विनाशकारी प्रहार झेल कर अवनति की गोदी में लुढ़क जाने के वावजूद, कुछ ही समय की अवधि में उन्नति से परिरंभित होकर गर्वोन्नत स्थिति में दिखायी पड़ने लगा। उसी राष्ट्र के एक कर्मठ व्यक्तित्व 'सोन्-तो-कू' का यहां पर संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है जिससे 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' जैसा सूत्र रटने का दम भरने वाले अकर्मण्य कुंभकर्णों का भला हो सके।

जापान के 'कामामा' नामक ग्राम में 'निनोमिया' वंशी कृषकों का एक परिवार उद्यम, पुरुषार्थ, साहस एवं मितव्ययिता का सम्बल लेकर धन-संपत्ति के अशेष अर्जन एवं पर्याप्त संचय में सफल हुआ था। आस-पास के ग्रामों में उस परिवार की धाक और प्रसिद्धि थी। किन्तु 'बुरे भले सों होत हैं' सूक्ति के अनुसार ऐसे परिश्रमी कर्मरत परिवार में एक ऐसे व्यक्ति का जन्म हुआ जो अकर्मण्य, दीर्घसूत्री या अज्ञानी तो नहीं था फिर भी अपव्ययता के प्रेम-पाशों में पड़ कर, पैतृक सम्पत्ति का होम करते हुए, अभावों के सुदृढ़ शिकंजे में फंस कर, लक्ष्मी की घृणा का आखेट हो गया था। उसी अपव्ययी व्यक्ति का १७८७ ई० में पैदा होने वाला पुत्र 'किन्जा-जा-रो' था जिसे कालान्तर में उदारता, परोपकार सहृदयता, कर्त्तव्यनिष्ठा, प्रभृति उत्तम गुणों से युक्त होने के कारण, जनता ने

'सोन्-तो-कू' (सद्गुण मंडित) संज्ञा प्रदान की जो इतनी प्रसिद्ध हुई कि वास्तविक नाम किसी को याद ही नहीं रहा ।

शैशव के आंगन में किलकते हुए, 'सोन्-तो-कू' ने केवल अभाव का प्रकोप ही नहीं देखा वरन् दैवी आपत्तियों की निरन्तर कुचालें भी निहारीं। उनके ही सामने बाप-दादों की कर्मस्थली बनी हुई वसुन्धरा जो दो-तीन परिवारों के भरण-पोषण के लिये, सुदृढ़ सबलवत् थी नदी की उमड़ती जवानी में पूर्ण रूप से विलीन हो गयी । उन्होंने अवशिष्ट कृषि-क्षेत्र पर इंटों, पत्थरों आदि अनुपयोगी पदार्थों की भीड़ से भरा पाया जिस पर किसी भी तृण-तरु के उगने की संभावना शेष नहीं रह गयी थी । अपने पिता के विकृत स्वास्थ्य को उनकी मासूम आंखें देखने की अभ्यस्त हो गयी थीं पर जवानी की देहली पर पहुंचते ही , उन्हें यह पता नहीं था कि शारीरिक यंत्रणाओं, आंतरिक वेदनाओं एवं क्रूर संघर्षों के सामने अधैर्य एवं अभाव से पराजित हो कर, उनके पिता की आत्मा, रुग्ण-शय्या पर ही, शरीर-पंजर छोड़ते हुए किसी अन्य लोक की ओर चली जायगी ।

'सोन्-तो-कू' के जीवन की यह सर्वाधिक मर्मान्तक घटना थी । उन्होंने जीवन के प्रारंभ से ही, तरह-तरह की आपत्तियों के नाज़-नखरे देखे थे परन्तु मन अविचलत ही रहा था किन्तु पिता के आकस्मिक निधन से वह चकनाचूर हो गया। घर में न तो एक पैसा था और न एक दाना ही । डॉक्टर का बिल चुकाना भी एक जटिल समस्या का रूप धारण कर चुका था । यदि वह अवशिष्ट पैतृक संपत्ति बेचते तो उन्हें पुत्र-धर्म-परित्याग का दोष लगता और डॉक्टर का बिल न चुका कर, भूमि बचाने के चक्कर में पड़ते तो पितृभक्ति छोड़ने का भयानक कलंक उनके मस्तक पर लगे बिना न रहता । इस द्विविधा पूर्ण उभयतोपाशयुक्त स्थिति पर पर्याप्त ऊहापोह करने के अनंतर, सुरक्षा का कोई अन्य संबल न पाकर, उन्होंने कलेजा थामते हुए, भूमि बेच डाली । डॉक्टर के ऊपर 'सोन्-तो-कू' की परिस्थिति की विकरालता का व्यापक प्रभाव पड़ा और उसने कहा, --"भाई ! यदि मैं तुम्हारी विपत्ति हल्की करने की सामर्थ्य नहीं रखता तो उसे और अधिक बढ़ाने का पाप क्यों कमाऊँ ? जाओ, इन रुपयों से अपने परिवार का पालन करो । तुम्हारे ऊपर मेरा ऋण नहीं रहा !" पर 'सोन्-तो-कू' पितृ-भक्ति भुला कर, उस जापानी सूक्ति को कैसे कलंकित करते ? जिसमें कहा गया है कि राजा, अपनी जाति और पिता की भक्ति में त्रुटि प्रदर्शित करना भारी पाप होता

है। विवशत: डॉक्टर ने अपने बिल के पैसे ले लिये और उनके दिल पर लदे बोझों में से एक बोझ कम हो गया।

इस समय वे चौदह वर्ष की अवस्था के थे। ऐसी अपरिपक्वावस्था में निस्संबल और अकिंचित होकर, मां और दो अनुजों के भरण-पोषण का गहन दायित्व निबाहना उनके वश का नहीं था पर वे रंचमात्र भी विचलित नहीं हुए। जब दिनकर की प्रकाशमयी रश्मियां वसुधा के हरे अंचल पर किलकने-पुलकने लगतीं तब वे दूर दुर्गम पहाड़ों पर चढ़ कर लकड़ियां एकत्र करते थे और जब हिमकर रजनी के प्रणय-पाशों में आबद्ध सुख-विलास में डूबता उतराता था या रात्रि एवं तिमिर का परस्पर वार्तालाप चलता था तब वे रस्सियों के खड़ाऊं तैयार किया करते थे। इससे भावुकता पूर्ण व्यापारों की हलचलें तो निश्चय ही दमित रही किन्तु गृहस्थी के सारे कार्य व्यविस्थत एवं स्वतंत्र रूप से चलते रहने के कारण आत्मिक तुष्टि छाया घनीभूत और सुखदायिनी लगती।

जब वे सोलह वर्ष की अवस्था पार कर गये तो उनकी ममतामयी माता के भी प्राण-पखेरू उड़ गये। उनकी दुरवस्था चरम सीमा पर पहुंच गयी। संरक्षण के अभाव एवं अनुजों की देख-भाल के अतिरिक्त गृहस्थी के व्यय-पूर्ति के साधन जुटाने की समस्या के समाधान खोजने आदि के कारण उन्हें भयंकर असमर्थता की अनुभूति हुई जिसे दूर करने के लिये एक दूर के संबंधी ने अनुजों के साथ उन्हें अपने घर पर आश्रय प्रदान कर दिया। पर यह आश्रय सुखद नहीं रहा क्योंकि पहले तो वे यदा-कदा चैन की सांस लेने के अवसर निकाल भी लेते थे किन्तु अब परिश्रम के अविराम दुर्वह चक्र में पड़े रहने से भी संभव नहीं रहा। आश्रयदाता एवं उसके परिवार के अन्य व्यक्ति उनके साथ अच्छा व्यवहार नहीं करते थे। परन्तु उन्होंने कभी 'उफ्' तक नही की। उनके मुख पर मन्द मुस्कान नेत्रों में चमक और हृदय में श्रमरत रहने की सच्ची भावना इठलाती रही।

किन्तु कभी-कभी मानव-जीवन में कुछ ऐसे भी कारुणिक प्रसंग आ जाते हैं जब धैर्य डिग जाता है, भावनाएं अस्त-व्यस्त हो जाती हैं और दृढ़ता लुप्त प्रतीत होने लगती है। लक्ष्मण के शक्ति लगने पर मर्यादा पुरुषोत्तम राम का हृदय अमर्यादित विलाप से परिपूर्ण हो गया था और प्रणवीर राणा प्रताप तुतुलाती कन्या के हाथ से घास की रोटी बिल्ली द्वारा छीन ले जाने पर संधि-पत्र लिखने के लिये उद्यत हो उठा था। यही स्थिति सोन् तो-कू के सामने आगयी। उन्हें अध्ययन करने की रुचि

के कारण, रात्रि में कुछ समय निकाल कर पढ़ने, लिखने का अभ्यास करना होता था। आश्रयदाता की ओर से जब इस कार्य के लिये आवश्यक उपकरण तेल के भी देने में आना कानी होने लगी तो सोन्-तो-कू की आत्मा पर मार्मिक आघात पहुंचा। उन्होंने अपने को स्वावलंबी बनाने का निश्चय किया।

इस स्वावलंबन के लिए गांव की परती और ऊसर भूमि को अवकाश के समय जोत-बो कर लाभ उठाने और निजी आवश्यकताएं पूरी करने जैसे अच्छे कार्य भी उन्हें गुप्त रूप से संपन्न करने पड़े। दृढ़ संकल्प, अडिग विश्वास, अथक परिश्रम एवं उत्कट लगन के बल पर, उनके इस निश्चय का यह सुफल निकला कि थोड़े ही समय में उनके पास बहुत से अपने खेत हो गये और अच्छी खासी आमदनी भी होने लगी।

इस प्रकार, जब उनकी आर्थिक स्थिति में सुधार हो गया तो अपने भाइयों के साथ वे आश्रयदाता संबंधी महोदय के संरक्षण-जाल से मुक्ति पाने में सफल हो चले। अब उनके सामने छोटी छोटी वस्तुओं के लिये कुटुम्बियों के सामने गिड़गिड़ाने की आवश्यकता नहीं रह गयी। कुछ अवधि के बीत जाने पर असाधारण उद्योग एवं निरन्तर कमरत रहने के सहारे, उन्होंने अपनी पैतृक भूमि पुनः वापस करली। इस महान् कृत्य के परिपूर्ण होने पर उन्हें सर्वाधिक संतोष मिला जिसका प्रमाण अपने भाइयों के सामने कही गयी उनकी निम्नोक्त बात है—"यदि मैं जन्मांध होता और बहुत वर्षों के पश्चात् औषधि-प्रयोग से दृष्टि पा जाता तब भी मुझे इतना हर्ष नहीं होता जितना कि पैतृक भूमि को वापस करके अपने पूर्वजों की आत्मा को संतोष प्रदान करने में हुआ है।"

जीवन-रक्षक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उपयुक्त साधन जुटने में सक्षम हो जाने पर उनका विवाह हो गया और वे गृहस्थ जीवन की सुखानुभूति से परिपूर्ण हो उठे। इसी बीच, उनके पौरुष की गाथा उस क्षेत्र के प्रमुख अधिकारी के कानों में पहुंची। जिसकी आर्थिक-स्थिति अत्यन्त शोचनीय हो चुकी थी। ऋण के दुर्वह भार से आक्रांत हो जाने से वह भली प्रकार से समझ गया था कि कुछ ही अवधि के बाद उसका सभी इलाका महाजन के हाथों में पहुंच जायगा।

उसने सोन्-तो-कू को बुला कर अपनी दुरावस्था का वास्तविक विवरण सुनाने के अनंतर, इलाके की सारी व्यवस्था उनके कंधों पर डाल दी। उन्होंने सर्वप्रथम सभी कर्मचारियों का सहयोग प्राप्त करके इलाके की आय एवं व्यय में संशोधन एवं संतुलन बनाये रखने के लिये अभिनव नियोजन किया।

दूरदर्शी होने के कारण, उन्हें सफलता मिलती गयी और पांच वर्ष तक निरंतर कठोर परिश्रम एवं उत्कट लगन के संबल पर पदाधिकारी की आर्थिक स्थिति में असाधारण परिवर्तन कर देने का श्रेय मिला। इस कार्य के बदले उन्होंने यश एवं संपत्ति अर्जित की जिसमें संपत्ति अपने सहायकों में वितरित करके घर की राह ली।

उस पदाधिकारी के हृदय में प्रत्युपकार करने की भावना इतनी प्रबल थी कि जापान शासन के सेनाविभाग का मंत्री होने की सबल हैसियत के बल पर, उसने सोन्-तो-कू को उच्च प्रशासकीय पद पर अविलंब नियुक्त कर देने के लिए संस्तुति की जिसकी पीठिका के रूप में उनके गुणों-निःस्वार्थिता, कर्त्तव्यपरायणता एवं योग्यता का यथातथ्य चित्रण भी किया।

यह दुर्भाग्य ही कहा जायगा कि सभासदों के बहुमत ने उनके वास्तविक गुणों की उपेक्षा करते हुए साधारण कृषक के रूप में कोई भी उत्तरदायित्व पूर्ण पद देना स्वीकार नहीं किया फिर भी संस्तुति का सम्मान रखने के लिये इतना आश्वासन पूर्ण सुझाव अवश्य दे दिया कि सोन्-तो- कू के हाथों में पहले कृषि-सुधार विषयक व्यावहारिक कार्य सौंपा जा सकता है और यदि उसमें उन्हें उचित सफलता मिल जाये तो कोई उच्चपद देने पर भी विचार किया जा सकता है।

सभासदों के इस सुझाव को अमली जामा देने के लिये सोन्-तो-कू के हाथों सुधार के लिए कुछ ऐसे गांव दिये गये जिनकी जनता पूर्ण अकर्मण्य, आलसी, स्वेच्छाचारिणी, राजद्रोहिणी एवं अनैतिक थी। कोई भी ऐसा दुर्गुण नहीं था जो उसमें न होता। उनके सुधार के लिए शासन ने असंख्य मुद्राएं झोंक कर भी, फल शून्य पाया था।

सोन्-तो- कू ने सारी परिस्थिति पर सम्यक् रूपेण विचार करने के पश्चात् स्पष्ट रूप से कहा,—"जब तक जनता के मानस एवं प्रकृति को परिवर्तित नहीं कर दिया जाता, इन क्षेत्रों का रंचमात्र भी सुधार नहीं किया जा सकेगा।" और अधिकारियों से अपने इस नवीन जटिल कार्य के लिये कम से कम दस वर्ष की अवधि मांगी। उन्हें सहर्ष अवधि दे दी गयी।

जब उन्होंने इस कार्य के करने के लिये आवश्यक उपकरण जुटा लिये और समस्त तथ्यों का ताल-मेल बिठा लिया तो स्पष्ट हो गया कि यह कार्य जैसा दिखायी पड़ रहा है, उससे कई गुना कठिन है। उन्होंने निर्णय किया कि इस कार्य की सिद्धि के लिये विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों के स्वभाव का पता लगा कर प्रत्येक

स्वभाव-कोटि के अनुरूप व्यवहार-कोटि का निर्धारण अपरिहार्य होगा ।

इस निर्णय के आधार पर, कार्य का श्री गणेश करने पर उन्हें विफलता के लक्षण दिखायी पड़ने लगे जिससे विचलित न होते हुए भी, अपने दौर्बल्य के संशय की निवृत्ति के लिये, एक मंदिर में जाकर अन्न-जल छोड़ कर भगवद्भक्ति में लीन होना पड़ा । तीन सप्ताह व्यतीत हो जाने पर भी वे बाहर नहीं निकले। पहले पहल जो व्यक्ति उनके कार्य में बाधा पैदा करने लगे थे, अब आशंकित हो उठे । क्योंकि, उन सब का अब बहुत लाभ होने लग था । वे दौड़े-दौड़े उनके पास गये और सोन्-तो-कू से पहले जैसा नियोजित उद्योग करने के लिये अपनी ओर से अनुनय-विनय किया । इससे अच्छा अवसर कब मिल सकता था ? उन्होंने एक पल भी व्यर्थ गँवाना उचित न समझ कर, उद्योग एवं साधना के बल पर, उस क्षेत्र के सभी गांवों की काया पलट दी । एक बार भावी अकाल की आशंका से उन्होंने गांव वालों से अधिक परिमाण में अन्न संग्रह करवाया उनकी आशंका वास्तविक निकली । उनकी दूरदर्शिता से उन गांवों के लोग भूखों मरने से बच गये ।

जापान के शासकीय कार्यालय में इस बात के प्रभूत साक्ष्य उपस्थित हैं कि जाने कितने गांवों के मुखिया बड़े-बड़े इलाकेदार-ताल्लुकेदार और नामज़द जमींदारों के कार्यवाहक गाँव-सुधार एवं विकास-विषयक बहुमूल्य शिक्षा प्राप्त करने के लिये सोन्-तो-कू के पास आया करते थे और पूर्ण संतुष्ट होकर जाते थे। उनकी शिक्षा सभी के लिये एक जैसी नहीं होती थी। ग्राम्य स्थिति, भूमि-कोटि कृषि, श्रम, कृषकों की नैतिक परिस्थिति आदि सभी पृथक्-पृथक् तथ्यों का विवेचन एवं परीक्षण करने के पश्चात् ही, अवसरानुकूल, प्रसंगोचित अधिकारी की क्षमता के अनुसार ही, वे भिन्न-भिन्न विधियां एवं सरणियां बतलाया करते थे । परन्तु सब से महत्त्वपूर्ण बात यह होती थी कि लगान और कर की सीमा उतनी ही होनी चाहिए जितनी कि परिश्रमी व्यक्तियों को उनके परिश्रम का यथोचित फल देने में बाधा न बन सके। इस तथ्य का वर्तमान कर-निर्धारण के लिये भी कम महत्त्व नहीं है ।

अथक-परिश्रम एवं सरलता सोन्-तो-कू के जीवन के प्रमुख उपादान बन चुके थे । संपन्न एवं समृद्ध होने पर भी वे सामान्य कृषक के सदृश रहते थे । आपकी बचत का अधिकांश वे निर्धनों के सहाय्य में अर्पित कर देते थे । भिन्न-भिन्न विधियां खोज कर, उन्हें व्यावहारिक रूप प्रदान करते हुए, परोपकार में जुटने से उन्हें आनंदानुभूति होती थी ।

जब 'निक्को' के पर्वतीय क्षेत्र में भयंकर अकाल की छाया छा गयी तो १८५३ ई० में शासन की ओर से सोन्-तो-कू की फिर याद हुई । वे छांछट (६६) वर्ष के हो. जाने से अब तरुण नहीं रह गये थे । निरंतर श्रम-साधना से शरीर भी जीर्ण-शीर्ण हो गया था तथा उनकी क्षमता एवं शक्ति ने जवाब दे दिया था किन्तु इस महत्त्वपूर्ण कार्य-भार के वहुत करने में वे पीछे नहीं रहे और उन प्रान्तों के गांव गांव में निरंतर तीन वर्ष की अवधि भर घूम-फिर कर कृषि के उत्थान एवं जीवन के विकास का पथ प्रशस्त करते हुए, आशातीत परिवर्तन की झांकी दिखा दी । उनकी शिक्षा का अनुसरण करने से कृषकों को परती भूमि से लाभान्वित होने एवं निरर्थक बह जाने वाले पानी के पूर्ण प्रयोग कर लेने की पद्धति ज्ञात हो गयी । इसके अतिरिक्त कर्त्तव्य प्रियता और पारस्परिक सहकारिता से प्रभूत लाभ होने के तथ्य भी उन्हें भली प्रकार से अवगत हो गए ।

यदि सोन्-तो-कू की शिक्षा का अनु-शीलन किया जाय तो उसमें चार सिद्धांत दृष्टिगोचर होंगे--

(१) **सत्यता, निष्कपटता निःस्वार्थता**--उनका स्पष्ट मत है कि सत्यता, निष्कपटता और निःस्वार्थता का व्यवहार प्रतिदिन के सभी कार्यों में स्वतंत्रता के साथ करना चाहिए ।

(२) **परिश्रम**--इसको उन्होंने निष्कलंक एवं सुखपूर्ण भले जीवन का सोपान घोषित किया है । ईश्वर निर्मित समस्त जगत् का कार्य-व्यापार निरंतर बिना विश्राम किये चलता रहता है । इसलिये विश्व में अपना कर्त्तव्य कर्म करने से कोई भी पीछा नहीं छुड़ा सकता ।

(३) **सरलता एवं मितव्ययिता**--का भी उनकी दृष्टि में सर्वाधिक महत्त्व है । आय से कम व्यय एवं सरल जीवन व्यतीत करने से ही दारिद्रय-चिंता से सर्वथा छुटकारा मिल सकता है । परिधान शारीरिक स्वास्थ्य के लिये उपयुक्त हैं पर कोरे प्रदर्शन के लिये नहीं । इसलिये प्रतिष्ठा एवं ठाठ-बाट की स्पर्धा में पड़ कर विलासिता के उपकरणों पर मनमाना व्यय करना बुद्धिमत्ता नहीं, मूर्खता है । उत्तम स्वास्थ्य एवं शारीरिक पौष्टिकता के लिये सादा भोजन ठीक है । किन्तु जीभ के स्वाद के लिये गलत सलत चीज़ें खाना हानिप्रद होगा । धनी-निर्धन सभी को आय व्यय में पूर्ण संतुलन रखना चाहिए । इससे न केवल अपना वरन् सारे राष्ट्र का कल्याण-होगा ।

(४) **दयालुता, परोपकार, लोक-कल्याण**--के लिये उनका कथन है कि अपनी अनावश्यक या आवश्यकता से अधिक संपत्ति मनुष्य जाति पर लगानी

चाहिए। इससे लोभ एवं कृपणता पर नियंत्रण हो सकेगा ।

इतने झंझटों में पड़े रहने के बावजूद, सोन्-तो-कू के पास काव्यसर्जन का भी अवकाश निकल आता था । उनकी रचनाएं प्रायः फुटकर हैं जिनमें नीति-उपदेश या कल्याण के मंजुल सूत्र निहित हैं। एक पद्य में वे कहते हैं--

"यह मृत्तिका का लघु भवन उस प्रभु के प्रति अर्पित है जो इसका स्रष्टा एवं रक्षक है । उसी से प्रार्थना करता हूँ कि वह अपने प्राणियों को-- जो पूर्ण-रूपेण दुर्बल हैं, आशीर्वाद और दोषों से सुरक्षित रक्खे ।"

उनके एक पद्यांश में सद्पथ की महिमा गायी गयी है --

"प्रत्येक प्राणी को अपनी संतति के लिये निसर्ग जननी से जो प्रेम मिलता है उससे अधिक व्यापक प्रेम की शिक्षा सद्पथ से मिल जाती है ।"

ऐसे कर्मठता के अनन्य पुजारी का १८५६ ई० में स्वर्गवास हुआ और जापान का एक ऐसा स्थान रिक्त हो गया जिसकी पूर्ति कभी भी नहीं हो पायी। उनके निधन के शोक में तत्कालीन जापान भीग-सा गया था हम भी सोन्-तो-कू से बहुत कुछ सीख सकते हैं क्योंकि कर्मण्य जीवन बिताने वाला व्यक्तित्व देश, काल, जाति की सीमाएं तोड़ कर समष्टिगत श्रद्धा का अधिकारी हो जाता है ।



कृष्ण-भक्त रसखान

गंगा प्रसाद पाण्डेय

शुद्धाद्वैतवाद के आदि प्रवर्त्तक आचार्य वल्लभ ने जिस प्रेम लक्षणापूर्ण भक्ति व कृष्ण लीला की रूप रस माधुरी में समस्त उत्तर भारत की जनता को रसबोर कर देना चाहा था वह विजातियों के अनवरत आक्रमणों के उपरान्त भी प्रवाहहीन नहीं हुई अपितु धीरे-धीरे न जाने कितने मियां उसमें डूब डूब कर रसखान बनते रहे। इस परम्परा के उदय की कहानी कहते हुए आचार्य शुक्ल ने अपने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में लिखा है "रामानुजाचार्य के समान ही आचार्य वल्लभ ने भी भारत के बहुत से भागों में पर्यटन और विद्वानों से शास्त्रार्थ करके अपने मत का प्रचार किया था और अन्त में अपने उपास्य कृष्ण की जन्म भूमि में जाकर उन्होंने अपनी गद्दी स्थापित की थी और पूरन मल खत्री द्वारा गोवर्धन पर्वत पर नाथ जी का बड़ा भारी मंदिर निर्माण करवाया। वहां पर सेवा का भारी मडांन बांधा। वल्लभ सम्प्रदाय में जो उपासना-पद्धतियां या सेवा-पद्धतियाँ ग्रहण की गईं उसमें भोग राग और विलास सामग्रियों की ही प्रधानता रही। मन्दिरों की प्रशंसा "केशर की चक्कियां चलै है" कह कर की जाती थी। इसका प्रभाव जनता पर जो कुछ भी पड़ा हो पर गद्दी के भक्त इससे इस तरह प्रभावित थे कि उन्होंने प्रेम संगीत की जो धारा बहाई उसमें समस्त हिन्दू जीवन रसबोर हो उठा। समय समय पर इस प्रेम संगीत धारा के प्रवाह में दूसरे सम्प्रदाय के कृष्ण भक्तों की भी प्रेम धारायें आकर मिलती रहीं। इनमें से एक प्रेमी की अजस्र प्रेम धारा तो सदा के लिये ही विलीन हो गई। यह प्रेमी भक्त हिन्दी के सरस कवि रसखान थे। इनके सम्बन्ध में अधिक कुछ तो ज्ञात नहीं है किन्तु इतना प्रसिद्ध है कि वह वल्लभाचार्य के पुत्र बिट्ठल नाथ के शिष्य थे। "**दो सौ बावन** वैष्णन की वार्त्ता" में उनके बारे में एक कथा है :—

"सो वादिल्ली में एक साहूकार रहे तो हतो। सो वा० साहूकार का बेटा बहुत

सुन्दर हतो । अष्ट पहरो वा साहूकार के बेटा में चित्त रहे तो । एक दिन चार वैष्णव मित्र भागवत वार्त्ता करते हतो । करते करते जी भगवान् मैं चित्त ऐसा लगावनो जैसे रसखान का चित्त.........। इतने में रसखान वा रास्ता निकस्यो। विनने वा बात सुनी ।" यहीं से रसखान का जीवन बदल गया । इसके बाद उन्होंने फारसी में भागवत का अनुवाद भी पढ़ा । इससे उन पर कुछ ऐसा रंग चढ़ा कि कृष्ण पर बलिहार होने वाली गोपियों के अनन्य भाव ने उन्हें दीवाना सा बना दिया । उनका भौतिक प्रेम एक अलौकिक प्रेम से जा जुड़ा। प्रेमी रसखान का कण्ठ फूट पड़ा ।

"तोर मानिनी ते हियो छोर मोहिनी मान।
प्रेम देव की छविहि लखि भयो मियां रसखान।"

वह बेचैन हो उठे उस अद्भुत सर सागर में निमग्न हो जाने के लिये । जब हाड़ मांस की महीनों वर्षों के बंधन में बंधी मानिनी का वियोग ही उन्हें एक क्षण चैन नहीं लेने देता था तो फिर उसे जिसकी लुनाई पर हजार हजार गोपियां बलिहार हुआ करती थीं, देखने के लिये वह भला क्यों कर न छटपटा उठते । वह भी उन्हीं प्रेमियों की सूची में अपना नाम लिखाने के लिये ललक उठे जिसकी लहर पूरब से पश्चिम, उत्तर से दक्खिन तक बेरोक टोक फैल रही थी । उनके बादशाह वंश की ठसक प्रेम के अपार पारावार में अस्तित्व विहीन हो उठी। हृदय की क्रूरता को तिलांजलि देकर वह आराध्य मोहन की प्रेम वाटिका में विचरने लगे ।

देखि गदर हित साहिबी दिल्ली नगर मसान ।
छिनहि बादशाह बंश की ठसक छाड़ि रसखान।।

प्रेम बंधनहीन होता है । हृदय से अद्भुत सहज प्रेम ही अरारध्य को रिझा सकता है । जब तक दुनियावी प्रेम है तब तक करील के कटीले कुंजों पर कलधौत के धाम को निछावर करने की आदत आही नहीं सकती । सच्चे प्रेम की पहली सीढ़ी उत्सर्ग है। जैसे जैसे उत्सर्ग की सीढ़ियों पर कदम रखता हुआ प्रणयी प्रणय के अन्तिम सोपान पर पहुंचता है, उसे सर्वत्र सब कुछ प्रेम की लाली से लाल दिखाई पड़ने लगता है । प्रेम की इस स्थिति का ज्ञान बिना आत्म-समर्पण के हो ही नहीं सकता । मोहन मोहिनी पर रीझे हुए रसखान अखिर इसी परिणाम पर पहुंचते हैं ।

जेहिं बिनु जाने कछहिं नहि जान्यो जाति विशेष ।
सोई प्रेम जेहिं जान कै रहि न जात कुछ शेष ।।

जब तक इस प्रेम का ज्ञान नहीं होता तब तक प्रिय का सही ठिकाना

भी नहीं मिलता। मोहन को ढूंढते ढूंढते रसखान के पैर दुखने लगे पर उसका पता न मिला और बाद मुद्दत के जब पता मिला भी तो ऐसी जगह जिसकी वह कल्पना तक नहीं कर सकते थे।

"ब्रहम में ढूंढ़यो पुरानन गानन बेद रिचा सुनी चौगुनी चायन
देख्यो सुन्यो कबहूँ न कछू वह कैसे सरूप और कैसे सुभायन ।।

वेद की ऋचाएं और पुराण की कथाएं, उसका स्वरूप और स्वभाव तक न बता सकी, फिर साक्षात्कार करा सकने की बात तो दूर रही किन्तु "मनोरथानाभर्गातिन विद्यते" खोज निष्फल नहीं होती आखिर वह अनजान जगह भी मिल गई जहां से वह प्रेमोपास्य पल छिन के लिये भी अलग नहीं होता। उसे देखते ही प्रेमी कंठ फूट उठा।

"टेत टेरत हार थक्यो रसखान बतायो न लोग लुगायन।"

और जब देखा भी तो आंखें चौंधिया सी उठी क्योंकि वह किसी के पैरों पर लोट रहा था।

देख्यो दुरो वह कुंज कुटीर में बैठो पलोटेल राधिका पायन।

यह राधिका कौन है, उसके पैरों में कौन सी दाख मिसरी लगीं है जहां पलोटे बिना कृष्ण से रहा नहीं जाता। प्रणय की राशिकृत प्रतिमा का नाम राधिका है। इसी से वेदों पुराणों की पकड़ में न आ सकने वाली उपास्य उससे एक क्षण भी अलग नहीं रह पाता। राधा तो राधा ही है उसके आसन्न में रहने वाली गोपिकायें भी कितना धन्य है कि छछिया पर दही के लिये उसे मनमानी नाच नचाती रहती है। यहीं पर ज्ञान और प्रेम के सामर्थ्य का अंतर स्पष्ट हो जाता है। जहां बड़े बड़े ज्ञानी, ज्ञानप्रण ग्रंथ उसे अनादि अन्त, अगम्य नेति नेति कह कर थक जाते हैं, वहां गोपियां उससे तुनक तुनक कर बातें करती हैं। उसके बतरस के लिये बत बढ़ाव करती है और बलिहार होने की अनन्य कामना ही भागवत भक्तों की अपनी विशेषता रही है। भागवत में श्री कृष्ण का जो रूप वर्णित है उसके अनुसार कृष्ण में परब्रह्म की अवधारणा के साथ ही साथ उनके लीलामयबिहार का मधुर सामंजस्य मिलता है। श्री मद्भागवत में एक ओर जहां कृष्ण के परम्परागत ऐश्वर्य रूप की चर्चा और उसके उपासक भक्तों द्वारा उस परम सत्य का निरूपण मिलता है वहीं उसके दसम स्कंध में कृष्ण के माधुर्य रूप की अनुपम छटा भी बिखरी मिलती है। यशोदा नन्द, राधा और गोपियां आदि कृष्ण के माधुर्य सागर में ही लीन रहने वाली मीन हैं। न केवल गोकुल और बृन्दावन में ही अपितु मथुरा तक कृष्ण के ऐश्वर्य पर

उनका माधुर्य ही हावी रहा है। वस्तुतः समस्त संसार को प्रेम प्रधान माधुर्य रस की मंदाकिनी में गोते लगाने के लिये ही व्यास द्वारा श्रीमद्भागवत की रचना की गई थी । स्वयं भागवतकार ने ही कहा है कि ज्ञान की शुष्कता से ऊबे हुए भक्तों के रसामृतपान के लिये इस ग्रंथ का निर्माण हो रहा है ।

"निगम कल्पतरोर्गलितं फलं,
शुकमुखाद्रवमृत-संयुतं
मुईरहो रसिकाःभुवि भावुकाः
बिवतु भागवतं रसमालयं ।"

ऐसे प्रेमी कवि को यदि कृष्ण का लोक-रक्षक या धर्म-संस्थापक रूप नहीं रुचता, तो आश्चर्य की बात नहीं । अपितु वह हर क्षण अपने आराध्य की रसमाधुरी में ही लीन रहना चाहता है । प्रभु के लिये आत्म-समर्पण की यह लोकोत्तर भावना रसखान की अपनी महती विशेषता रही है उन्हें अपने लीलामग्न के छविपान के अतिरिक्त कुछ नहीं चाहिए ।

"मानुष है तौ वही रसखान बसौ ब्रज
गोकुल गांव के ग्वारन ।
जौ पशु हौ तौ कहां बसु मेरौ चरौ नित
नंद की धेनु मझारन ।
पाहन हौ तो वही गिरि कौ जो धरयो
कर क्षात्र पुरन्दर कारन ।
जौ खग हौ तौ बसेरो करौ मिलि
कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन ।"

इस प्रकार रसखान को परम भागवत की कोटि में रखा जा सकता है । वह आरम्भ से ही प्रेमी जीव थे और वही प्रेम जब भगवत भक्ति में परिवर्तित हो गया तो वह भी कितना रसिक है कि न तो उनसे एक क्षण के लिये अलग ही हो पाता है और न ही उनके नचाने की मांग को अस्वीकृत कर सकता है । रसखान के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहता ।

"नारद से शुक व्यास रहे पचि हारे
तऊ पुनि पार न पावत ।
ताहि अहीर की छोकरिया छछिया भर
छाछ पर नाच नचावत

प्रेम की इस अवस्था में रसखान आराध्य व आराधक के बीच की खाई को पटी पाते हैं । वह दोनों के बीच के भेद की कोई लकीर नहीं खींच पाते । दोनों की अभिन्नता को वह यों प्रकट करते हैं ।

प्रेम हरी को रूप है त्यौं हरि प्रेम स्वरूप ।
एक होय द्वै यो लसैं ज्यो सूरज और धूप ।।

प्रेम का सानिध्य सदा ब्रह्म से है । भक्ति सूत्र के अनुसार यह प्रेम पूर्ण निर्गुण और कामना रहित होता है । यह प्रतिपल बढ़ने वाला एक अत्यन्त सूक्ष्म एवम् अनुभव गम्य रस है । इसके समक्ष किसी चतुर चितेरे का भी गर्व हिरन हो जाता है ।

गुणरहितं-कामना रहितं-प्रतिक्षण वर्द्धं
मानभवविच्छिन्न-सूक्ष्मतरमनुभव-गम्यं ।।
अथवा
लिखन बैठ जाकी सबै गहि गहि गरब गरूर ।
भये केते जगत के चतुर चितेरे क्रूर ।।
बिहारी ।।

थोड़ी देर के लिये उस प्रेम का परिचय जिसकी स्नेह स्निग्धता में यह सारा संसार जुड़ा हुआ है, कर लेना चाहिए । समस्त सृष्टि प्रेम से ही ओत प्रोत है । कृष्ण उस प्रेम का पारावार है जिसका न तो आदि है न अंत । गोपियां उस अनन्त प्रेम पारावार में विलीन रहने के लिये निरन्तर आतुर रहती है । रसखान भी एक ऐसे प्रेमी जीव है जो कृष्ण माधुर्य के आगे अपना सब कुछ भूल बैठे हैं, उनमें गोपियों की तरह अपना सब कुछ छोड़ देने, उसे वन वन ढूंढने या पीछे पीछे पागल बन कर घूमने की सभी आदतें आ गई हैं। वह कृष्ण की गाई हुई तान, वन लीला-अथवा वेणु-स्वर पर एक दम मीरा की तरह मुग्ध दिखाई देते हैं। यही मुग्धता या प्रेम के एक से एक अनूठे उद्गार इनके सवैयों के रूप में छलक उठे, जिन्हें सुन कर जन-साधारण उन्हें 'रसखान' कहने लगा था । इनकी कृतियां परिणाम में तो अधिक नहीं हैं पर जो हैं वे प्रेमियों को छुए बिना नहीं रहती ।

कृष्ण के माधुर्य रूप पर रीझने वाले जितने भी भक्त हैं उन्हें स्वजन, परिजन, लोक लाज, कुलकान की कभी कोई परवाह नहीं रही । वे अपने हाव-भाव, उपालम्भ, प्रेम सब कुछ के लिये स्वतन्त्र रहते है । वे अपने आराध्य के इतने अधिक निकट पहुंच गये होते हैं कि उन दोनों के बीच भौतिक सम्बन्ध किसी प्रकार के विघ्न नहीं डाल पाते । उन्हें अपने आराध्य का दर्शन चाहिए उसके लिये वे अपना सब कुछ उत्सर्ग कर सकते हैं। परम ज्ञानी शुक जिस समय कृष्ण के पीछे पागल रहने वाली गोपियों की विह्वलता का वर्णन करने लगते हैं तो उनकी भी आंखों में आंसू आ जाते हैं। वे कृष्ण की बांसुरी की तान भर ही नहीं सुनती बल्कि जो जहां होती है वहीं से विना किसी की परवाह किये दौड़ पड़ती है । वह माधुर्य ही किस काम का जिसकी अच्छी बनी छवि एक बार पाषाण तक को मोहित न कर ले, फिर प्रेमियों की कोई जाति थोड़े ही होती है । इस प्रेमोद्भावना में एक बार बह जाने के बाद फिर तो प्रेमी भक्त अपने प्रेमोपास्य के आगे मान मनौवल आरम्भ कर ही देता है । पर इसमें भी थोड़ा मान का पुट रख देना इन भक्तों की अपनी विशेषता रही है । रसखान की भी कविताओं में यही लोकोत्तर प्रेम-भावना प्रधान रूप से व्याप्त मिलती है।

सत्यदेव शर्मा

बालमुकुन्द मिश्र

आकाशवाणी, दिल्ली केन्द्र के कार्यक्रमों को सन् १९५९ तक यदि आप नियमित रूप से सुनते रहे हैं तो निश्चय ही श्री सत्यदेव शर्मा से आप भली प्रकार परिचित होंगे। गीतकार, नाटककार, कहानीकार, व्याख्याकार, रूपक-लेखक और 'तुहाडी चिट्ठी' के उत्तरप्रदाता के नाना–रूपों में, श्रोताओं के मन को उन्होंने मोहा है। पण्डित सत्यदेव जी वास्तव में एक समर्थ और सफल कलाकार थे, सरल हृदय विद्वान् सच्चे मौन-साधक और भारी डीलडौल, सादे व्यक्तित्व, स्वभाव में निष्पक्षता आदि गुणों में वे देव-तुल्य थे। वे भीरू व असफल व्यक्ति थे। भीरू इन अर्थों में कि वे व्यक्तित्व विज्ञापन से अपरिचित थे, पैंतरेबाजी आती नहीं थी और न वे तिकड़मी ही थे। Stant फन से तो वे बिल्कुल अपरिचित थे। इसीलिये उनकी कला, रचना और सामर्थ्य का मूल्यांकन प्रकाश में आ नहीं पाया।

२४ अक्तूबर, सन् १९१२, (कार्तिक १८६९) में बिलगा जि० जालन्धर में संस्कृत साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान् भारतीय दर्शन शास्त्र के पंडित, प्रसिद्ध वाग्मी, "दर्शन और अनेकातवाद", "चैत्यवाद समीक्षा" तथा "पुराण और जैन धर्म" आदि ग्रंथों के प्रणेता, स्वनाम-धन्य श्री पं० हंसराज जी शास्त्री आयुर्वेदाचार्य के घर में आपका जन्म हुआ।

प्रारम्भिक शिक्षा घर पर हिन्दी और संस्कृत में हुई तदनन्तर रणधीर हाई स्कूल, रणधीर कालिज और डी० ए० वी० कालिज जालन्धर से क्रमशः मैट्रिक बी०ए० व एम०ए० (संस्कृत) में किया।

अध्ययन के पश्चात् दुआवा आर्य हाई स्कूल नूर महल, सनातन धर्म हाई स्कूल श्याम चुरासी हिन्दू हाई स्कूल कामोक में अध्यापन कार्य किया। स० धर्म प्रतिनिधि सभा लाहौर में पांच वर्ष कार्य करके आयुर्वेद महामंडल

में कार्यालयाध्यक्ष रहे। १९४० से ४४ तक ग्रा० ई० रेडियो लाहौर में, ४४ से १९६१ तक ग्राल इण्डिया रेडियो, दिल्ली में लेखक-कलाकार के रूप में कार्यरत रहे।

स्कूल के जमाने में ही लिखने का शौक लगा। मास्टर बाबू लाल जी "लाल" कपूरथला निवासी के सम्पर्क से कविता लिखने का उत्साह हुग्रा। कुछ ग्रंग्रेजी कविताग्रों का ग्रनुवाद किया ग्रौर श्री मैथिलीशरण गुप्त की "भारत-भारती" से प्रभावित होकर राष्ट्रीय ढंग की कविताएं लिखीं। प्रारंभिक रचनाएं हिन्दी मिलाप ग्रौर विश्वबन्धु में छपीं।

उर्मिला, मीरा बाई, डाक्टर नर्त्तकी, कादम्बरी, स्वप्न वासवदत्ता; मालती माधव, साधना, ग्रनाथ बालक, भिखारी बालक, लव कुश, ग्रनपढ़ कुमार इत्यादि एकांकी नाटक बड़े लोकप्रिय हुए। बच्चों के लिये गीत, प्रहसन, रूपक ग्रादि खूब लिखे।

रेडियो पर गाए गए गीतों में इनके गीत ग्रत्यन्त लोकप्रिय हुए। इनके गीत प्रधान सरल ग्रौर ऊंचे भावमय गीतों को सभी गायकों ने पसन्द किया ग्रौर श्रोताग्रों ने ग्रत्यन्त सराहा।

मनुष्य प्रवृत्ति बड़ी विचित्र है, उसके स्वभाव के बारे में कोई भी एक सिद्धान्त निश्चित नहीं किया जा सकता। मिलन में मुस्कराना तो स्वभावजन्य है, परन्तु विरह वेदना की कसक में ग्रोठों पर मुस्कान बिखेर लेना ग्राश्चर्य युक्त है ग्रौर यह भी मनुष्य स्वभाव की विचित्रता है। क्रीड़ा-कलाप की किलकारियां तो समझ में ग्राती हैं, पर विरह ग्रौर प्रेम की जलन में ग्रानन्द ग्रौर तुष्टि की ग्रनुभूति समझ से परे है। पर हमारे ग्रनेक विज्ञ कवियों ने भी इस भाव की ग्रभिव्यक्ति की है। सत्यदेव जी के हृदय ने भी विरह में एक तुष्टि का ग्रनुभव किया ग्रौर उस तुष्टि ने उन्हें इतना ग्रभिभूत किया कि उन्होंने विरह के संसार से ही प्रीति को जीवनी-शक्ति प्राप्त करते पाया। विरह में जीवन निखर उठता है, इसीलिये उन्होंने गाया :—

विरह में बसे प्रीति के प्राण
विरह है जीवन का वरदान

मनुष्य के विचित्र स्वभाव की एक विशेषता ग्रौर भी है, वह है प्रत्येक परिस्थिति में जीवन सूंधान ग्रौर समन्वय कर लेना। यदि मनुष्य स्वभाव में यह न होता तो मनुष्य का जीवन ग्राज से कहीं ग्रधिक कटु ग्रौर ग्रसह्य हो जाता। साकार सत्य के ग्रभाव में मनुष्य का भारी मन कैसे बदलता? स्वप्न ग्रौर कल्पना का चमत्कृत शून्य संसार उसे विह्वल कर उठता ग्रौर "ग्रपना भी एक जमाना था" याद कर-करके मनुष्य का जीवन दुख ग्रौर व्यथा का रौरव नरक बन जाता। वह कसक

में फिर मधुरता न पाता आता केवल आह।
प्रेमी को, प्रेमिका के अभाव में उसकी प्रत्येक वस्तु उतनी आकर्षित करती है जितनी प्रेमिका स्वयं । इस समस्या का समाधान चाहते हुए कवि-मन प्रियतम की तस्वीर से मनःतोष चाहते हुए कहता है :

प्रियतम मुझसे रूठ गए,
पर तुम तो मुझसे बोलो प्यारी ।
तू तस्वीर प्रिये प्रियतम की,
तू भी कब है उनसे न्यारी ।
मैंने तो दिल उनको बेचा,
बदले में पीड़ा ही पाली ।
ठगी गई है तू ही पगली,
उनसे जो हो गई निराली ।

लेकिन तस्वीर तो तस्वीर ही है । तस्वीर से जब प्रेमी हृदय वह अन्दाज़, वह नाज-नखरे नहीं पाता जो प्रेमिका से पाता था, तब उसका दिल चूर-चूर हो निराशा में गा उठा :—

प्राण की ज्योति मगर अब बुझ रही है
लौ अंधेरे की भुला सुध-बुध रही है
प्राण की है ज्योति ! तुम पर दूर कितनी
व्यर्थ ही आश में दिल को छल रहा हूँ ।

निराशा की अग्नि में जीवन छटपटाता रहा और आगे बढ़ता रहा, उमर ढलती चली और कवि का हृदय पुकार उठा :

लुटा रहा हूँ आहों का धन
इसी तरह बीता है जीवन
साधों अरमानों को लेकर
मिट्टी में मिल जाएगा तन,

पर निराशा के क्षणों में भी विगत स्मृति पुनः उभर आई :—

जिस क्षण हृदय गया हाथों से
वही लौट क्या आएगा क्षण
इसी तरह बीतेगा जीवन ?

जीवन की ऊहापोह का कितना भारी सत्य सुन्दरता के साथ यह अपने में समाए हुए है ।

यौवन और प्रेम का चोली-दामन का सम्बन्ध है । जिस रसिक की आंखें प्रेम के उन्माद से रक्तिम न हुई हों, जिसका हृदय किसी को अपने आत्मसात् करने के लिये व्याकुल न हो उठा हो, समझना चाहिए अभी प्रेम उससे दूर है। प्रेम कवि के जीवन में रच पच गया है । तभी तो वे प्रेम और अनुराग का इतना समर्थ और वैज्ञानिक चित्रण करने में सफल हुआ है कि ऐसा सफल चित्रण हिन्दी साहित्य में कम ही मिलेगा । जब चार युवा दृग आपस में एक कोमल भावना से टकरा जाते हैं तो क्या होता है ?

जब नयन—नयन से मिलते हैं
दो कमल हृदय के खिलते हैं
जीवन में रस छा जाता है
मन गीत प्रेम के गाता है
इक जादू सा जग जाता है

दिल में अरमान मचलते हैं
सपनों की दुनिया बसती है
फिर प्रेम की वीणा बजती है
जीवन बन जाता मस्ती है
और मन के तार उलझते हैं
अपनापन सब खो जाता है
दिल उनका ही हो जाता है
कुछ जी को और न भाता है
पीड़ा में प्राण मचलते हैं
नयनों में बातें होती हैं
और प्रेम की घातें होती हैं
आशाएं जगती सोती हैं
और सावन -भादों मिलते हैं ।

प्रेमी जीवन की तो कई छवियां अति-हृदयग्राही हैं पिया से मिलने के हेतु चली जा रही एक पुजारिन की यह छवि कितनी सरल, साफ और सुन्दर है, जो हृदय में उसके प्रति अनुराग को जगाती है :–

पिया मिलन को चली पुजारिन
कर अनुपम शृंगार
बसाने नया प्रेम संसार
पिया मिलन को चली पुजारिन
दीप शिखा-सी वह लहराती
चतुर्चरण मस्ती बिखराती
रूप-चांदनी सी छिटकाती
बलखाती सी चली ––
बजाती पायल की झंकार

प्रेम और यौवन के उन्माद में कवि ने कितने ही उन्माद और मस्ती भरे गीत गाये हैं। जब मनुष्य स्वयं उल्लासित होता है तो संसार और उसका कण-कण उसे उल्लास से पूर्ण दिखाई देता है । उसका मन बस में नहीं रहता और मान-मर्यादाएं खोकर उमंग से नाच उठता है । उसके कंपित ओठों से स्वर फूटता है : ––

नाच मगन मन नाच
तरु तरु पर तरुणाई छाई
पुष्पों पर अरुणाई आई
जीवन में नव-जीवन छाया
जाग्रति में नव जाग्रति लाया

पेड़-पौदे और फूल अपनी हंसी से कवि की हंसी को बढ़ावा देते हैं––

फूल-फूल हंसते हैं फूल

नदी की चंचल लहरें भी तो प्रेयसी की शोखियों की भांति उसके उन्माद को वाणी दे देती है :––

यह नदिया की लहरें चंचल
लहराती लहरों का मेला
इठलाता जीवन अलबेला ।

सुख के बाद दुःख और दुःख के बाद सुख जीवन में यह उलट फेर चलता ही रहता है । कवि के मन को अकस्मात् किसी की याद आकर उदास कर देती है । उसका मन उदासी में डूब-डूब जाता है और अन्दर ही अन्दर वह गा उठता है :––

मन में आज उदासी आई
मुझको याद किसी की आई ।

और इसके पश्चात् कवि का विरही-जीवन आरम्भ हो चला। विरह-वेदना के संसार में 'आंसू' अनमोल हैं। प्रायः सभी कवियों ने आंसू पर अपनी-अपनी अनुभूतियां विविध रूपों में अभिव्यक्त की हैं। सत्यदेव जी की इस विषय में प्रकाशित निज प्रतीति कितनी मार्मिक और अपने पीछे कितनी ही गहरी भावनाओं को छपाये हुए है। 'कल्पना' रचना में वे कहते हैं :--

मौन आंसू बहते-बहते बह गए
नयन भी कुछ कहते कहते रह गए
प्रबल झंझावात पीकर प्राण मेरे --
मृत्यका उपहास तक भी सह गये
कल्पना के पंख कट कर रह गये

कवि ने बहुत कुछ लिखा है--उनकी समस्त रचनाओं को अनेक विभागों में विभाजित किया जा सकता है। उनकी अगणित उच्चकोटि की रचनाओं में से यहां एक प्रस्तुत है। जिसके विषय में निःसंकोच कहा जा सकता है कि यह रचना अपने में एक विराट सत्य को समोए हुए है। वह अपने में ब्रह्माण्ड की एक महत् दिव्य रूप को आलोकित करने में समर्थ है और जिसमें भारतीय जीवन का एक सांस्कृतिक दर्शन प्रकाशित दमका है :

सत्य से स्वप्न बड़ा सुन्दर
कल्पना सदा सलोनी है
सत्य की है सुन्दर माया
भूलती सब दुख है काया
प्राण को छलती है छाया
कल्पना उड़ती पंख पसार --
खेलती आंख-मिचौनी है
कल्पना सदा सलोनी है
जागते कटे न दुःख की रात
स्वप्न में सदा मिलन की बात
भाग्य भी होता अपने हाथ
हृदय जनता पर सोते नयन--
बात होती अनहोनी है।
कल्पना सदा सलोनी है।

हमारे मूर्धन्य कवियों ने जीवन की सम्पूर्णता सुख और दुःख के समन्वय में बताई है परन्तु जीवन का प्रवाह कभी सुख के तट को हटा देता है तो कभी दुःख के। और वहां जीवन एक प्रकार से एयाशी हो जाता है। ऐसे समय में मनुष्य दीर्घकालिक हृदय मंथन के पश्चात् एक में दूसरे की प्रतीति कर उठता है। आंसुओं में ही उसे मुस्कान दिखाई देने लगती है, पतझड़ उसे बसन्त का सन्देश देता है और उसकी आत्मा मुस्करा उठती है। इसी अवस्था के दो चित्र देखिए :-

जीवन में विष ही विष बोया
क्यों अमृत का ध्यान करूँ मैं
पतझड़ से ही नाता जोड़ा
क्यों बसंत का ज्ञान करूँ मैं
मेरे जीवन में पतझड़ ही
नित्य बसन्त मनाया करता

गीत कोकिल कभी न गाती
रौरव शून्य मचाया करता
मधुर गीत की मादक लय से
मेरे कर्ण कुहर अनजाने
नेह खचित यह भाव हृदय के
कभी न हो पाये बेगाने
घू घू कर जलना जीवन का
निज प्राणों का प्यार बन गया
मुझे डुबाने आया तूफां --
ही मेरी पतवार बन गया
मुझे डराएगा क्या सागर
वह मुझ ही भय खाएगा
मौत बन गई जिसकी बांदी
उसे कष्ट क्या कलपाएगा
काली रात डराती जग को
सुनती मौन व्यथा वह मेरी
हेय समझती दुनिया जिसको
मुझको प्रिय वह कालिख ढेरी

(२)

आशा मुझे नहीं ठग पाई
मुझे निराशा भी क्या खलती
रहा अंचल यौवन मेरा
मुझ वेदना भी क्या छलती
कभी-कभी अपने में खोकर
अपनी बाट तका करता हूँ
अपनी धुन में चलता-चलता
मंजिल देख डरा करता हूँ
चलते जाना ही मंजिल है
और न कोई ठौर ठिकाना
पल भर भी रुकना मुश्किल है
इस पर भी पथ है अनजाना
मुझे रोकने को भी अब तक
कब किसने युग-भुज फैलाये
मुझे बांध रख लें अपने में
ऐसे नयन नहीं लख पाये
मैं असीम अपनी सीमा में
खुद ही मौज मनाया करता
अपने उर की अमिट दाह से
अपने पंख जलाया करता ।

कवि ने अपने किसी भी गीत को रहस्यवाद या छायावाद के कवियों की भांति भारी भावों और शब्दों से बोझिल नहीं होने दिया है। ऊंचे-ऊंचे भावों को भी उन्होंने अपनी सरल शब्दावली से ग्राह्य बना दिया है । साहित्य को जन-साधारण तक पहुंचाने में ऐसे साहित्यकारों का नाम सदैव स्मरणीय रहेगा ।

लोक-गीतों से भी उनका सीधा-गहरा संपर्क रहा है । उनकी रचनाओं में आई सरलता का प्रत्यक्ष प्रभाव, लोक-ग्राम गीतों का ही है । अपनी बोली में उन्होंने भी ग्राम-गीतों के वर्ण्य-विषयों में प्रतीकों को अपना कर पर्याप्त लिखा है । पनिहारी के विषय में यह वर्णन कितना मृदु है : --

गोरी नीर भरे
रेशम की डोरी चांदी की मटकी
नीलम-सा नीर भरे --
गोरी-गोरी बैय्यां पतुरी अंगुरिया
कमरिया लचक परे.........

सत्यदेव शर्मा की गति न केवल काव्य-जगत तक ही सीमित रही अपितु वे एक सफल नाटककार, कहानीकार और उपन्यासकार भी थे। 'तस्वीर का फ्रेम' कहानी-संग्रह और 'वह हार गई', 'पंथ का अन्त' आदि उपन्यास साहित्य-जगत की अनुपम निधि हैं। सरस्वती के परम साधक सत्यदेव शर्मा अपने जीवन के अन्तिम दिनों में जीवन-सुविधाओं के अभाव से पीड़ित रह कर ११ मार्च १९६० की प्रातः ७ बजे लुधियाना में सदा के लिये इस लोक से विदा हो गए।



श्री कृष्ण का समय

रमेश कुमार खुराना स्वप्न

पुराणों एवं रेडियम के आविष्कारक के मतानुसार पृथ्वी का जन्म आज से लगभग दो अरब वर्ष पूर्व हुआ था। वैज्ञानिकों के विचारानुसार आज से लगभग ५००० वर्ष पूर्व चतुर्थ हिमयुग था जिसे प्रलय भी कहते हैं। महाभारत भी इसका समर्थन करता है––

प्रतिस्त्रोतो महानद्यः सरितः शोणीतोदकाः।
फेनायमाजाः कूपाश्च कूर्दन्ति वृषभा इव ।।
पतन्त्युल्का सनिर्घाताः शक्रा शनिसमप्रभाः।
कैलाशमन्दशभ्यान्तु तदा हिमवता विभो ।।
सहस्त्रशो महाशब्दा शिखरणि पतन्ति च ।
महाभूता भूमिकम्पे चत्वारो सागरा :पृथक
बेलामुर्द्धतयन्तीव क्षोभयन्तीवसुन्धराम् ।
वृक्षानुन्मूल्य वात्युग्राः वाताः शर्करखषिणाः।।

(नदियां उल्टी बहने लगीं। मानव के रक्त से मिल जाने के कारण सारा जल लाल हो गया। कुओं का जल उफनने लगा और उसमें से बैल के हिम्बाने की सी ध्वनि होने लगी। उल्कापात होने लगा। हिमालय से बड़े-बड़े हिमखण्ड टूट-टूट कर गिरने लगे।

भाद्र बुधे कृष्ण पक्षे धात्रक्षें हर्षणे वृषे ।
कणोऽष्टम्यामर्धरात्रे नक्षत्रेशमहोदये ।।
अंधकारावृतेकाले देवक्यां शोरिमन्दिरे ।
आविरासीद्धरिः साक्षादरण्यामध्वरेऽ-
अग्निवत् ।। (गर्ग० १।११।२३,२४)

(भाद्रपद मास, कृष्ण पक्ष, बुधवार, रोहिणी नक्षत्र, हर्षण योग, अष्टमी तिथि और वृष लग्न में अंधकारपूर्ण अर्धरात्रि के समय वसुदेव के घर देवकी के गर्भ से श्रीकृष्ण अरणि से अग्नि के समान प्रकट हुए।)

श्रीकृष्ण का समय भारतीय धर्म-ग्रन्थों के अनुसार ५००० वर्ष से भी पूर्व का निश्चित होता है जबकि पुरातत्व विभाग की खोजों के अनुसार श्रीकृष्ण का जन्म लगभग साढ़े तीन हजार वर्ष पूर्व हुआ था। विद्वान् पार्जीटर के मतानुसार महाभारत का युद्ध ईसा से एक हजार वर्ष पूर्व हुआ था और बंकिमचन्द्र के अनुसार कुरुक्षेत्र का युद्ध आज से (१९६५ ई० से) १२८१ वर्ष पूर्व हुआ था।

विज्ञान की कसौटी पर

समुद्र पृथ्वी पर कूदने लगा । आंधियों से टूट-टूट कर वृक्ष गिरने लगे ।;

यह भूकम्प हस्तिनापुर में आया था। द्वारका में आने वाले भूकम्प के विषय में श्री कृष्ण ने उद्धव से बतला दिया था--समुद्रः सप्तमेऽह्येता पुरश्चि प्लावसिष्पति --भावगवत ११/७३ (हे उद्धव ! आज से सातवें दिन समुद्र इस द्वारका को डुबो देगा।) इस भूकम्प के प्रथम दिवस श्रीकृष्ण ने द्वारकावासियों से कहा था--एते वै महोत्पाता ह्यत्तिष्ठन्तीह सर्वतः (आज द्वारका में चारों ओर से महाउत्पात और आंधियां उठ रही हैं ।)

यह भूकम्प अनेक स्थानों पर एक साथ आया था । उर नगर के शिलालेखों के अध्ययन के पश्चात् शोधकर्ता इस निष्कर्ष पर पंहुचे हैं कि वहां भी भूकम्प आया था । यह नगर ईराक में बसरा नगर से लगभग सो मील की दूरी पर पश्चिम दिशा में यूफीटास नदी के किनारे बसा हुआ है । वाईविल में भी इस नगर का वर्णन मिलता है । उर नगर में भूकप के समय (जनवरी १९३० में अमेरिका के मुख्य पत्र 'नेशनल ज्योग्राफिकल मैगज़ीन' के एक लेख के अनुसार) ६ दिन और ६ रातों क तक मूसलाधार वर्षा होती रही आंधी-तूफान के साथ सातवें दिन आंधी कुछ कम हुई । नगर जलमग्न था । ईराक और हस्तिनापुर एक ही अक्षांस पर हैं। एक अक्षांस पर बसे नगरों में भूकम्प का एक साथ आना विज्ञान-सिद्ध है । (अगस्त १९३९ के उसी अमेरिकन पत्र के एक लेख के अनुसार) मय प्रदेश (मैक्सिको) में भी लगभग ५००० वर्ष पूर्व भूकम्प आया था । यह प्रदेश द्वारका के अक्षांस पर है ।

इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि विज्ञान के मतानुसार जव लगभग ५००० वर्ष पूर्व भूकम्प आया था तो श्रीकृष्ण जीवित थे ।

ज्योतिषशास्त्र की कसौटी पर

जिस प्रकार वर्तमान-समय में हम हिन्दी वर्ष का आरम्भ चैत्र मास से और अंग्रेजी वर्ष का आरम्भ जनवरी मास से मानते हैं, ठीक उसी प्रकार कृष्ण काल में वर्ष का आरम्भ मार्गशीर्ष से माना जाता था । अमर कोषाकार के मतानुसार मार्गशीर्ष सहामार्ग आग्राहायणिश्च स (मार्गशीर्ष प्रथम मास है। वर्ष का आरम्भ इसी मास से होता है।) काल माध्वकार के मतानुसार- मार्गमासादिकैस्मिमित्रृतुभि कल्पितः काल षण-मासात्मकमुत्तरायणांम् । (मार्गशीर्ष से लकर तीन ऋतुओं वाला ६ मास का समय उत्तरायण होता है ।) सूर्य पंडित के विचारानुसार-मार्गशीर्ष मृगशिरः पूर्णिया सम्बन्धे वर्षादिरभिहितः तस्मिन्नेवागृहायणीधिनात् । आग्राहायणक

यस्यां सा आग्रहायणी, अत आग्रहायणक इति मार्गशीर्ष नाम । उत्तोऽस्य मासस्त्र मुख्यत्वाद विभूतिमत्वम् । (मृगशिर नक्षत्रयुक्त पूर्णिमा के सम्बन्ध से मार्गशीर्ष नाम है । यह आरम्भिक मास है । अतएव इसका नाम आग्रहायणिक है । सब मासों में मुख्य होने के इसे विभूति भी कहा जाता है ।)

भारतीय ज्योतिषशास्त्र (शंकर बालकृष्ण दीक्षित) के मतानुसार–मार्गशीर्ष बसन्त सन्पात शक पूर्व सुमारे ४००० वर्ष या काली होता । (मार्गशीर्ष में बसन्त का सम्पात शक से लगभग ४००० वर्ष पूर्व से माना जाता है।)

भारतीय ज्योतिष शास्त्री काल की गणना आकाशस्थित सप्तऋषियों-मरीची, वशिष्ठ, अंगिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह औ ऋतु –से भी करते हैं––ते त्वदीये द्विज: काल अधुनाचाश्चित मघा :

सप्तऋषियों को एक नक्षत्र पर सौ वर्ष लगते हैं । नक्षत्र सत्ताइस हैं। अतः सम्पूर्ण नक्षत्रों का समय हुआ २७ × १०० = २७०० वर्ष । आजकल कृत्तिका नक्षत्र में सप्तऋषि पाये जाते हैं। कृत्तिका इक्किसवां नक्षत्र है और मघा प्रथम । अतः मघा से कृत्तिका तक आने का समय हुआ १०० × २१ = २१०० वर्ष । सप्तऋषियों का एक चक्कर पूरा भी हो चुका है । अतः समय हुआ–– २७०० + २१०० = ४८०० वर्ष । यह समय परीक्षित का है । श्रीकृष्ण का समय इससे कुछ पूर्व का है ।

मैगस्थनीज़ का मत

यूनान के प्रसिद्ध यात्री मेगस्थनीज के विचारानुसार मथुरा के सौरसेनी जाति के लोग हरक्युलिस के उपासक थे । श्रीकृष्ण का ही दूसरा नाम हरक्युलिस है । हरक्युलिस डायोनियस से १५ पीढ़ी पीछे हुआ था । चन्द्रगुप्त और डायोनियस में १५३ पीढ़ियों का अन्तर है अर्थात् श्रीकृष्ण और चन्द्रगुप्त में १३८ पीढ़ियों का अन्तर है ।

वैज्ञानिकों एवं इतिहासकारों के मतानुसार अगर प्रत्येक पीढ़ी का अन्तर २० वर्ष मान लिया जाए तो चन्द्रगुप्त और डायोनियस में अन्तर हुआ १३८ × २० = २७६० वर्ष का । चन्द्रगुप्त का समय ईसा पूर्व ३२६ वर्ष है । अतः श्रीकृष्ण का समय हुआ ३२६ + २७६० + १९६५ = ५०५१ वर्ष पूर्व ।

नारायण शास्त्री का मत

नारायण शास्त्री की पुस्तक–– 'दि एज एण्ड शंकर' के अनुसार भीम की मृत्यु माघ मास, उत्तरायण सूर्य, शुक्ल पक्ष अष्टमी तिथि रोहिणी नक्षत्र में हुई थी ।

यह समय ईसा से ३१३९ वर्ष पूर्व का है । अतः ३१३९ + १९६५ = ५१०४ वर्ष पूर्व महाभारत युद्ध हुआ था।

लोकमान्य तिलक का मत

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक की पुस्तक 'गीता रहस्य' के 'भागवत धर्म का उदय और गीता' शीर्षक लेख के अनुसार मैत्र्युपनिषद् आज से ३८४५ वर्ष पूर्व की है। छान्दोग्यादि के कुछ अवतरण मैत्र्युपनिषद में आए हैं और छान्दोग्यादि में श्री कृष्ण का घोर आङ्गिरस से शिक्षा ग्रहण करने का स्पष्ट उल्लेख है।

यह सिद्ध हो चुका है कि शतपथ ब्राह्मण और छन्दोग्यादि समकालीन ग्रन्थ हैं। शतपथ ब्राह्मण में उस समय की आकाशीय स्थिति का उल्लेख है--

कृत्तिका स्वादधीत। एता ह वै प्राच्यै न च्यवन्ते सर्वाणि ह वा अन्यानि नक्षत्राणि प्राच्यै निशश्च्यवन्ते। (कृत्तिका नक्षत्र अन्य नक्षत्रों की भांति पूर्व दिशा में च्युत नहीं होता। अतः इसमें अग्नि का आधान करें।) खगोल एवं ज्योतिषशास्त्र के अध्ययन से यह प्रमाणित हो चुका है कि यह स्थिति ईसा से ३००० वर्ष पूर्व थी। इस प्रकार श्री कृष्ण का समय हुआ ३००० + १९६५ = ४९६५ वर्ष पूर्व।



प्राचीन भारतवर्ष की नगर निर्माण भवन निर्माण और यन्त्र कला

राम मोहन शर्मा

आज केवल मोहञ्जोदारों, हड़प्पा तथा तक्षशिला आदि प्राचीन भारतवर्ष के नगरों के भग्नावशेषों को देख कर, आश्चर्य चकित होने वालों से निवेदन है कि मैं पहले अपने एक लेख में "प्राचीन भारतवर्ष की स्थापत्य कला और यन्त्रकला" यानि मशीनों आदि को बनाने की कला के विषय में श्री बाल्मीकि रामायण के प्रमाणों से "श्रीसेतुबन्ध रामेश्वर नाम के" समुद्र तक के महाविशाल और असम्भव समझे जाने वाले संसार भर के एक अद्वितीय और सबसे बड़े पुल के निर्माण के विषय में लिखते हुए। उसके बनाये जाने के सम्बन्ध में अपने प्राचीन भारतवर्ष की "स्थापत्य कला और यन्त्रकला" पर लिखते हुए इस प्रकार से लिख चुका हूँ कि यह सागर का सौ योजन लम्बा पुल कैसी सामग्रियों से, कैसे साधनों से, कैसी विधियों से और यन्त्रों से और किसी की भी समझ में न आ सकने योग्य कुल पांच ही दिनों में यह कैसे बनाया गया था ? इत्यादि ये सब बातें मैं पर्याप्त रूप से विस्तार–सहित उसमें लिख चुका हूँ।

फिर भी जिनके मनो में केवल पाश्चात्य सभ्यता के उत्कर्ष और अपने अपकर्ष को सदा प्रगट करने और कहने की अभिरुचि अपनी गहरी जड़ें जमा चुकी है। वे तो अब केवल यह कहेंगे कि यदि उन्होंने उस समय भूल से कहीं समुद्र का एक मात्र पुल किसी भी प्रकार से बना लिया था। तो उस समय के या उससे पूर्व के और उसके पश्चात् के प्राचीन भारतवासी कभी इन आधुनिक नगरों तथा यन्त्रों आदि के निर्माणों की कलाओं में इस प्रकार की आज जैसी उन्नति, कौशल तथा ऐसी

सभ्यता को कभी पहुंच ही नहीं पाये थे। जिस प्रकार आज इन नगरों तथा यन्त्रों के निर्माणों की कलाओं में आजका पाश्चात्य सभ्यता के रङ्ग में रङ्गा हुआ यह हमारा सभ्य संसार पहुंच पाया है। उसमें मुख्य रूप से पाश्चात्य जगत् अब जिस प्रकार की उन्नति और कला-कौशल, सभ्यता को पहुंच चुका है। ऐसा तो पहले कभी हुआ नहीं था। इस प्रकार के आज के से नगरों, मकानों तथा अन्य साधनों यन्त्रों अथवा मशीनों आदि को तो उस प्राचीन समय में तो बनाया ही नहीं जाता था। न ही वे आजकल के से नगरों, भवनों तथा यन्त्रों जैसे अपने नगर, भवन और यन्त्र आदि पहले कभी उस समय में बना भी सकते ही थे। जैसेकि आज सर्वलोक हित-कारिणी पश्चिमी सभ्यता के विज्ञान-मय सूर्य के प्रकाश में बनाये जाते हैं।

अब हम पहले उस समय की अयोध्या नगरी का वर्णन यहां बालमीकि रामायण से लिखते हैं। इससे विद्वान् पाठक यह देखने और समझने की कृपा करें कि उस लगभग १४ लाख वर्षों के प्राचीन समय की हमारे भारतवर्ष की अयोध्या-नगरी कैसी और कितनी लम्बाई चौड़ाई में बसी हुई थी, किस प्रकारों के बाजारों, दुकानों, गलियों, सड़कों, मार्गों, भवनों, मकानों और बागों, बागीचों बनों, उधानों और किले और खाइयों आदि सबही प्रकारों के साधनों तथा यन्त्रों से वह सम्पन्न और भरीपूरी तथा सुरक्षित थी।

उस समय के वे यन्त्र अथवा मशीनें भी आज की अपेक्षा कितने उच्च-कोटि के थे कि जो भारी से भारी बोझ को उठाने वाले वे चाहे आजकल के क्रेनज़ ranes की भांति के होते थे। चाहे भार को उठा कर ले जाने और इसीलिये लोहे की लाइनों पर ही चलने वाले आज कल की माल गाड़ियों के छकड़ों की भान्ति के कोई यन्त्र चालित छकड़े ही क्यों नहीं होते थे। परन्तु वे सबही इतने शक्तिशाली और उच्च-कोटि के हुआ करते थे। जो पर्वतों के समान बड़े भार को उठा कर सुगमता के साथ इधर से उधर ला और लेजा भी सकते थे।

समुद्र का पुल बनाने का वर्णन करते हुए, श्री बालमीकि जी ने लंकाकाण्ड में यों लिखा है—

हस्तिमात्रान्महाकायाः, पाषाणांश्च महाबलाः।

पर्वतांश्च समुत्पाट्य, यन्त्रैः परिवहन्ति च ।।सर्ग २२। श्लोक ६० ।

वे बड़े बड़े शरीरों वाले महाबली वानर हाथियों के समान शिलाओं और पर्वतों को उखाड़ कर यन्त्रों के द्वारा उठा कर समुद्र के तट पर ले ले कर आते हैं ।

अब हम केवल उपर्युक्त नगर-निर्माण आदि के विषय में श्री बाल्मीकि रामायण के बालकाण्ड के ५वें सर्ग में ऊपर लिखी अयोध्या नगरी के वर्णन को अपने पाठकों के सन्मुख उपस्थित करते हैं कि जिससे पाठक यह देखने की कृपा कर सकें कि उस समय की अयोध्या नगरी हमारे आधुनिक नगरों की तुलना में कैसी थी ? वहां यों लिखा है--

कोसलो नाम मुदितः, स्फीतो जनपदो महान् ।
निविष्टः सरयू तीरे, प्रभूत धन धान्यवान ।।
बाल्मी. रा. बा. कां. स. ५। श्लो. ५

सरयू नदी के किनारे पर बहुत ही धनधान्य से भरपूर होने के कारण अति समृद्ध और मुदित बड़ा ही स्फीत कोसलनाम का जनपद (किसी राजा का बसाया हुआ प्रदेश) है ।

अयोध्या नाम नगरी, तत्रासील्लोक विश्रुता ।
मनुना मानवेन्द्रण , या पुरी निर्मिता स्वयम् ।। बा. रा. बा. कां.सं.५। श्लो. ६ ।

उस जनपद में लोक-प्रसिद्ध अयोध्यानगरी थी (और अब भी है) । और जो श्री मनु ने स्वयं ही बनाई थी ।

आयता दश च द्वे च, योजनानी महापुरी ।
श्रीमती त्रीणि विस्तीर्णा सुविभक्तमहापथा
बा रा बां का स। ५ श्लो७ ।।

वह बहुत ही शोभा वाली पुरी लंबाई में बारह योजन, चौड़ाई में तीन योजन और स्पष्ट रूप से पृथक् पृथक् बंटे हुए महापथों वाली थी ।

राजमार्गेण महता, सुविभक्तेन शोभिता ।
मुक्त पुष्पावकीर्णेन, जलसिक्तेन नित्यशः।।
बा. रा. बा कां. स. ५ श्लो. ८।।

प्रतिदिन अर्थात् किसी राजा महाराजा अथवा किसी महापुरुष के आने के किसी एक आधे विशेष दिन नहीं । बल्कि प्रतिदिन खिले हुए पुष्पों से युक्त जल से छिड़काव किये हुए और सुविभक्त राजमार्ग से यानि बड़ी चौड़ी और लम्बी सड़क से अथवा जिसको आज कल शहर की ठण्डी सड़क कहा जाता है । ऐसी उस ठण्डी सड़क से भी अयोध्या-पुरी सुशोभित थी ।

तां तु राजा दशरथो, महाराष्ट्र विवर्धनः ।
पुरीमावासयामास, दिविदेवपतिर्यथा ।।

बा. रा. कां. स. ५ । श्लो. ६।।

अपने उस पहले ही बढ़े हुए महाराष्ट्र की वृद्धि करने वाले राजा दशरथ ने उस पुरी को अपने निवास से अपनी राजधानी बना कर उसको और भी अधिक ऐसे बसाया था कि जैसे देवताओं के स्वामी इन्द्र ने स्वर्ग को अपनी राजधानी बना कर बसाया हुआ हो ।

कपाटतोरण वंती, सुविभक्तांन्तरापणाम् ।
सर्वयन्त्रायुधवतीमुषितां सर्वशिल्पिभि :।।

बा. रा. बाकां. स. ५ श्लो. १०।।

किवाड़ों सहित नगर के और घरों के द्वारों वाली पृथक् पृथक् बंटे हुए बाज़ारों वाली–– अर्थात् जिसमे बजाजा, बिसाती, आटा, दाल, शाक सब्जी, सर्राफा और सुनारों, लुहारों, तरखानों आदि बाज़ार विभक्त हैं, ऐसी अथवा अलग अलग बाज़ारों वाली और सर्व प्रकारों के यन्त्रों कल कारखानों वाली और आयुधों, अर्थात् अस्त्रों-शस्त्रों से भी युक्त । सर्वप्रकार के शिल्पी अर्थात् कारीगर भी जिसमे रहते हैं ।

सूतमाग धसम्बाधां, श्रीमती मतुल प्रभाम् ।
उच्चाटालध्वजवंती, शतध्नीशत संकुलाम् ।

बा. रा. बा. कां. स. ५ । श्लो. ११।

सूतां (रथों को हांकने वालों) और मागधों (राजाओं का वंश वर्णन करने वालों) के भीड़ वाले अर्थात् सघन निवास वाली और ऊंची ऊंची अट्टालिकाओं और ध्वजों से युक्त भवनों वाली, असंख्य ही तोपों से परिपूर्ण ऐसी उत्तमशोभा वाली और अलौकिक कान्ति वाली ।

वधूनाटक संधैश्च, संयुक्तां सर्वतः पुरीम् ।
उद्यानाम्रवनोपेतां, महंती सालमेखलाम् ।।

बा. रा. बा. कां. स. ५ । श्लो. १२ ।।

नगर वधुओं अर्थात् गाने वालियों की और नाटक खेलने वालों की मण्डलियों से युक्त (नोट–– अब यहां इस बात पर ध्यान देने की कृपा करें कि जो केवल यह समझते है कि लगभग कवि कालिदास आदि कवियों के समय से हमारे भारत वर्ष में नाटकों का आरम्भ हुआ है । उनको भी समझना चाहिए कि नाटकों का प्रचलन तो यहां राम के समय में आजसे लगभग १३–१४ लाख वर्ष पूर्व से है । बल्कि इससे भी पूर्व का ही है) । उद्यानों बाग बगीचों तथा आमों के तो वनों वाली और चारों ओर से साल के वृक्षों से घिरी हुई भी ।

दुर्गगम्भीर परिरवां, दुर्गमिन्यैर्दुरासदाम् ।
वाजीवारण सम्पूर्णां, गोभिरश्वैः रवरैसाथा।।
बा.रा. बाकां. स· ५ । श्लो. १३ ।।

दुर्गम किले और गहरी खाइयों वाली शत्रुओं के लिये दुःख और कठिनता से पहुंचने के योग्य, घोड़ों, हाथियों, गायों, ऊंटों और गधों से परिपूर्ण ।

सामन्त राजसंघैश्च, बलिकर्मभिरावृताम् ।
नानादेशनिवासैश्च, वनिग्भिरूपशोभिताम्।
बा. रा. बा कां. स. ५। श्लो. १४ ।।

अपने करों को देने के लिये वहां आये हुए, सामन्त राजाओं से घिरी हुई और वहां व्यापार के लिये बाहर के नाना देशों से आए हुए अनेकों देशो के व्यापारियों से सुशोभित ।

प्रासादैर्रत्नविकृतैः, पर्वतैरिव शोयभताम् ।
कूटागारश्च सम्पूर्णामिन्द्रस्यवामरावतीम् ।।
बा. रा. बाकां.स. ५ । श्लो. १५ ।।

रत्न जड़े हुए होने के कारण से जो अनेकों रंगों के दिखाई दे रहे हैं। ऐसे पर्वताकार बड़े बड़े भवनों से सुशोभित है और साथ ही उन भवनों में गुप्तगृह यानि तहखाने भी बने हुए हैं। ऐसी देवराज इन्द्र की अमरावतीपुरी के समान —— इस "कुटागार" शब्द का अर्थ नालन्दा विशाल शब्द-सागर में—— घर के ऊपर खण्ड, चौबारे, मण्डप और क्रीड़ागृह लिखा है ।

चित्रामष्टापदाकारां, वरनारी गणायुताम् ।
सर्वरत्न समाकीर्णां, विमानगृहशोभिताम् ।।
बा. रा. बा कां. स. ५। श्लो. १६ ।।

चित्र की भान्ति दर्शनीय है और अपने मध्य अथवा केन्द्र से चारों ओर को जाने वाले बाजारों और मार्गों वाली होने के कारण से जो चौसर की बिसात के समान आकार वाली है और श्रेष्ठ नारियों के समूहों से युक्त रत्नों से परिपूर्ण विमानगृहों अर्थात् हवाई जहाजों के मकानों से सुशोभित है ।

नोट——मैंने जो अपने सेतुबन्ध रामेश्वर नाम के समुद्र का पुल बनाये जाने के लेख में यह लिखा था कि उस समय विमान अनेकों मनुष्यों के पास हुआ करते थे । यह बात हम कभी अयोध्यापुरी के वर्णन में स्पष्ट करेंगे। सो अब यहां इससे यह बातें स्पष्ट हो गई हैं कि विमान उस समय में असंख्य पुरुषों के पास हुआ करते थे ।

गृहगाढ़ामविच्छिद्रां, समभूमौ निवेशिताम् ।
शालितण्डुल सम्पूर्णाभिक्षुकाण्डरसोदकाम् ।।
बा. रा. बा कां. स. ५ । श्लो. १७ ।

जो असंख्य घरों वाली होने कारण गाढ़-गृहों वाली है

जिसमें नियत मार्गों से भिन्न चोरों आदि के लिये आने-जाने का छिद्र के समान अन्य कोई मार्ग नहीं है। जो समतल भूमि में बसाई गई है और जो बासमती के और अन्य दूसरे चावलों से परिपूर्ण है तथा गन्ने के रस अर्थात् गुड़, शक्कर और खाण्ड आदि मिष्ट पदार्थों से युक्त और सुलभ जलवाली है।

दुन्दुभिभिर्मृदङ्गैश्च, वीणाभिः पणवैस्तथा।
नादितां भृशमत्यर्थं, पृथिव्यां तामनुत्तमाम्॥
बा. रा. बा. कां स. ५। श्लो. १८।

जो ढोल, मृदङ्ग (ढोलक के आकार का तबले की भांति का एक वाद्य) और वीणा (यह भारतवर्ष का आविष्कृत एक मुख्य वाद्य है जो सितार की भान्ति का होता है। इसके ऊपर नीचे दोनों ओर तूम्बे लगे हुए होते हैं। यह भारत के सब वाद्यों में सर्वोत्तम माना गया है) यह एक प्रसिद्ध बाजा है और पणव यानि छोटे छोटे नगारों इत्यादि के बजते रहने से जो सदा गुञ्जायमान रहती है। ऐसी उस पृथ्वी में सर्वश्रेष्ठ।

विमानमिवसिद्धानां, तपसाधिगतं दिवि।
सुनिवेशितवेशमान्तां, नरोत्तमसमावृताम्॥

बा. रा. बा. कां. स. ५ श्लो. १९।

अपने तप की प्रसिद्धि के प्रताप से स्वर्ग में प्रताप किये हुए, सिद्ध पुरुषों के स्वर्गीय दिव्य विमान की भांति जो शोभायमान है। जिसमें सब मकान उनके योग्य उचित उचित स्थानों पर बनाये गये हैं। और जो सर्वश्रेष्ठ मनुष्यों से बसी हुई और आवृत्त है।

ये च वाणैर्न विध्यन्ति, विविक्तमपरापरम्
शब्दवेध्यं च विततं, लघुहस्ता विशारदाः॥

बा. रा. बा. कां. स. ५। श्लो. २०।

अयोध्या के वे मकान कैसे हैं, कि जो वाणों से भी दूर फैंके जाने वाले अग्नि-वाण आदि वाणों से भी अथवा आग लगाने वाले बम्बों से जो वेधे ही अर्थात् तोड़े फोड़े, जलाये नहीं जा सकते ऐसे हैं। जो एक दूसरे के बीच में स्थान छोड़ छोड़ कर बनाये गये हैं। ऐसे मकानों वाली उस अयोध्यापुरी में रहने वाले भी अच्छी प्रकार से ही शब्द वेधी वाणों को चलाने में हाथ की बड़ी ही फुर्ती वाले और इस विद्या के पण्डित हैं।

सिंहव्याघ्रवराहाणां, मत्तानां नदतां वने।
हन्तारो निशितैः शस्त्रैर्बलाद्बाहुबलैरपि॥

बा. रा. बा. कां. ५। श्लो. २१॥

केवल यहां इस पर ही बस नहीं थी कि उस समय के वे अयोध्या-निवासी केवल शब्द वेधी वाण ही चलाने के पण्डित थे। बल्कि उस अयोध्यापुरी के निवासी तो इससे आगे और भी

ऐसे थे कि जो केवल तीक्ष्ण धारों वाले शस्त्रों से यानि खड़ग आदि से अर्थात् दूर से फैंक कर मारे जाने वाले यानि वाण और बन्दूक की गोली आदि अस्त्रों से नहीं, केवल अपने शारीरिक बलों से ही वनों में मस्त होकर, गर्जनाएं करते हुए, शेरों, बाघों और सूअरों को यानि केवल हिंसक और दुष्ट जीवों को अपने शारीरिक-बल से ही पकड़ कर, उनको मारने वाले हैं। और दूसरे अहिंसक और अदुष्ट जीवों को नहीं और इस पर भी वे हिंसक जीवों को पूर्ण-बल और यौवन सम्पन्नों को मारने वाले हैं। अर्थात् वे उन हिंसक जीवों के बच्चों को भी नहीं मारते।

नोट--आजकल के शिकारियों की भान्ति हरिण, रोझ, तीतर, बटेर, और तिलियर आदि आदि अहिंसक जीवों का और वह बन्दूक की गोली से वे शिकार नहीं किया करते थे।

तादृशानां सहस्रैस्तामभिपूर्णं महारथैः।
पुरीमावासयमास, राजा दशरथस्तदा ।।
बा. रा. बा. कां. स. ५। श्लो. २२।

इस प्रकार से ऊपर के श्लोकों में कहे हुए ऐसे हजारों ही महारथियों (महारथ और महारथी उस बहुत बड़े योद्धा का नाम है कि जो अकेला दस हजार योद्धाओं से लड़ सके। नालन्दा विशाल शब्द सागर--हिन्दीकोष) के द्वारा राजा दशरथ ने अपनी उस अयोध्यापुरी को परिपूर्ण करके बसाया हुआ था।

तामग्निमद्भिर्गुणवद्भिवृतां, द्विजोत्तमै-
र्वेदषडङ्ग पारगैः।
सहस्रदैः सत्यपरैर्महात्मभिर्महर्षिकल्पै
ऋषिभिश्चकेवलैः बा, रा, बा. का. स. ५। श्लो. २३।

केवल उपर्युक्त शिल्पियों, व्यापारियों और महारथियों आदि उत्तमोत्तम पुरुषों को महाराजा दशरथ ने अपनी उस अयोध्यापुरी में नहीं बसाया था। बल्कि उनके साथ ही ऐसे ब्राह्मणों को भी अपनी उस अयोध्यापुरी में बसाया था कि जो अग्नि वाले अर्थात् नित्य ही दोनों अथवा तीनों ही समय हवन करने के लिये जो अपने यहां अग्नि को बनाये ही रखने वाले हैं। और साथ में जो अनेकों ही गुणों वाले भी हैं और चारों ही वेदों को उनके छहों अङ्गों के साथ इस प्रकार से जिन्होंने सम्पूर्ण वेदों को उनके पूर्ण तत्त्व ज्ञान-सहित पढ़ा हुआ है।

वेदों के छहों अङ्ग इस प्रकार से हैं--प्रथम छन्द शास्त्र- अर्थात् वेद मन्त्रों को उनके वर्णों और मात्राओं आदि की गणना के विचार से

उनके अनुष्टुप और गायत्री आदि छन्दों के नामों को बताने वाला शास्त्र। द्वितीय कल्पशास्त्र —अर्थात् वेदों के द्वारा बताये गये यज्ञ आदि करने के विधि-विधानों सम्बन्धी शास्त्र। तृतीय-ज्योतिष शास्त्र — वेदोक्त कर्मों को करने के लिये उनके तिथि, वार, नक्षत्र अयन और ऋतुओं आदि के ज्ञान को करवाने वाला शास्त्र। चतुर्थ–निरुक्तशास्त्र—वेदों के मन्त्रों के गूढ़तम अर्थों को करने और उनको समझने के ज्ञान को करवाने वाला शास्त्र। पञ्चम—शिक्षा-शास्त्र–वेदों अर्थात् वेदों के वर्णों और उनके स्वरों और मात्राओं आदि के ज्ञान को करवाने वाला शास्त्र। षष्ठम —व्याकरण शास्त्र —अर्थात् वेदों की भाषा के शब्दों के रूपों और प्रकारों तथा उनके प्रयोगों की विधियों के नियमों आदि का बोध करवाने वाला शास्त्र।

इस प्रकार से (१) छन्द (२) कल्प (३) ज्योतिष (४) निरुक्त (५) शिक्षा (६) व्याकरण ये छहों वेदों के अङ्ग हैं। इन छहों अङ्गों – सहित वेदों को पढ़ कर। इस प्रकार से जिन ब्राह्मणों ने वेदों के सम्पूर्ण तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर लिया है, फिर इससे भी आगे हजारों की संख्याओं में वे दान देने वाले भी हैं। (नोट—जो ब्राह्मणों को सदा निर्धन रहने वाले समझा करते हैं, वे जरा इस बात पर यहां ध्यान देने की कृपा करें कि क्या निर्धन रहने वाले ब्राह्मण हजारों की संख्याओं में कभी दान दे सकते थे)। अर्थात् वे ब्राह्मण केवल दान लेने वाले ही नहीं बल्कि दान देने वाले भी हैं। वह भी दस बीस आदि का ही नहीं, बल्कि हजारों की संख्याओं में वे दान देने वाले हैं।

आगे केवल सत्य-भाषण में ही जिनको प्रेम है। ऐसे उन महर्षियों के समान और नहीं तो कम से कम जो ऋषि तो हैं ही। ऐसे ऐसे महात्माओं यानि उच्च-आत्माओं व सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मणों से भी पूर्ण रूप से महाराजा दशरथ ने अपनी उस अयोध्यापुरी को बसाया था। (नोट–यहां यह भी विचार करें, कि महर्षि और मुनि सब विद्वान् ब्राह्मणों के नाम हुआ करते थे। किन्हीं साधुओं व सन्यासियों के नहीं जैसेकि आजकल बहुत का यही विचार है कि ये कोई वनों में रहने वाले सन्यासी व साधु ही हुआ करते थे: ऐसा नहीं। ये तो बनों में अपने अपने आश्रम बना बना कर रहने वाले विद्वान् ब्राह्मण गृहस्थी ही हुआ करते थे।

महाराजा दशरथ के लगभग १३ लाख वर्षों के पुराने समय की अयोध्यानगरी ऐसी थी । अब जबकि हमारे देश में उस समय के इसके नगरों अथवा इसकी पुरियों में रहने वाली प्रजा भी ऐसे विद्वानों और शूरवीरों महारथियों तथा कला कौशल सम्पन्न शिल्पियों से भरपूर हुआ करती थी । उस प्राचीन समय में क्या बाहर के किसी भी आक्रमणकारी की कभी स्वप्न में यह शक्ति हो सकती थी कि वह हमारे देश पर कभी भूल से आक्रमण करने का उत्साह कर सके और हमारी ऐसी अवस्था में क्या कोई बाहर का आक्रमण-कारी उस समय आक्रमण करके हमारे देश को अपने बल से कभी विजय करके और अपने वश में कर सकता था ।

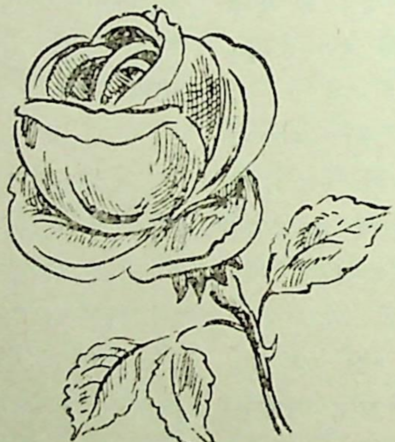
अपने इन ऐसे ही कारणों अथवा प्रबन्धों से हमारा देश सृष्टि के आरम्भ से ही लेकर मुसलमानों के सिन्ध पर आक्रमण करने के समय तक प्रायः सदा स्वतंत्र रहा है । और इसी लिये हमारा यह देश अब तक अपनी सभ्यता और संस्कृति तथा अपने धर्म की रक्षा करने में भी समर्थ रहा है। जबकि आज संसार के सब दूसरे देश तो अपनी अपनी-प्राचीन सभ्यताओं को, अपनी संस्कृतियों को तथा अपने-अपने धर्मों को अब तक प्रायः नष्ट ही कर और गंवा भी चुके हैं ।

क्योंकि हमारा तो यह देश पहले कभी पराधीन ही नहीं हुआ था । यह केवल इस लिये पहले कभी पराधीन नहीं हुआ था । क्योंकि हमारे रहने सहने के सब रंगढंग ये ऊपर लिखे अनुसार हुआ करते थे और उन के ही कारणों से हम सदा ऐसे ही बल, पराक्रम और विद्या, बुद्धि के भण्डार बने रहा करते थे । किसी भी बाहर वाले को आक्रमण करने का उत्साह तक नहीं हुआ करता था ।

इस सब पर भी अब यह भी विचार करने की कृपा करें, कि आजकल के युरोप और अमेरिका आदि देशों के आधुनिकतम ही नगरों की नकलें करके आज अपने भारत वर्ष में ही बनाये जा रहे । इन आदर्श नगरों आदि के साथ हम श्री महर्षि बालमीकि जी द्वारा वर्णन किये गए । इस अयोध्यापुरी के वर्णन का मुकाबला करके आप स्वयं यह देखने और विचार करने का कष्ट करें । क्या उस समय की लाखों वर्ष पुरानी हमारे भारतवर्ष की अयोध्या-पुरी का यह वर्णन इन आधुनिक और मीलों में फैले हुए आजकल के हमारे

कलकत्ता, बम्बई, और दूसरे देशों के, लन्दन, वाशिङ्गटन आदि से क्या कहीं किसी प्रकार से भी कम है? इसके वर्णन में श्री महर्षि वाल्मीकि जी ने लाखों ही वर्ष पहले के उस प्राचीन काल की नगर निर्माण, भवननिर्माण, यन्त्रकला आदि का भी सबही प्रकार का वर्णन, कर दिया है। हम अब यदि अपने इस प्राचीनकाल जैसे ही आप स्वय बनने का अपने देश और अपने नगरों, ग्रामों को बनाने का यत्न करेंगे तो हम आज की अपेक्षा किसी प्रकार से कभी घाटे में नहीं रहेंगे। बल्कि इससे उल्ट हम तो आज कल की अपेक्षा बहुत अधिक लाभ ही लाभ में रहेंगे। हमारा और हमारे देश का उस प्राचीन समय में ऊपर लिखित कारणों से संसार में जो मान और प्रतिष्ठा हुआ करती थी। अब हमारे ऐसा करने से वह तो दूसरे अन्य सब लाभों से कहीं अधिक हमारे लिये विशेष लाभ की वस्तु भी होगी ही।

आशा है कि हमारे देश के सब विद्वान् शासक, अधिकारी ऊपर लिखे अनुसार ही श्री महाराजा दशरथ की भांति इस ओर अपना ध्यान देने की कृपा अवश्य करेंगे।



बच्चन काव्य :

प्रभाव और प्रेरणाएं

पवित्रा कौशल

कविता कवि के मनःपटल पर अंकित होने वाली समसामयिक वातावरण की सहज प्रतिक्रिया का प्रतिफलन और निजी परिस्थितियों की अनुभूतियों की अभिव्यक्ति है अथवा बच्चन के शब्द उद्धृत करते हुए हम कह सकते हैं कि यह 'जगती के प्रांगण मे जीवन की चिंगारी है ।' इस प्रकार उसमें कवि के 'स्वः' और 'पर' दोनों का समंजन रहता है । बच्चन की काव्य चेतना का मूलाधार भले ही व्यवित रहा है परन्तु उनकी दृष्टि 'जगती के प्रांगण का जायज़ा भी लेती रही है । यूं भी उन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से व्यक्तिगत अनुभूतियों का निर्वैयक्तिकरण भले ही न किया हो परन्तु उनका सामान्यीकरण अवश्य किया है । उनकी कविता अपने पाठक के मन में एक ऐसी संवेदनशीलता जागृत करती है जो उस पर अनुभूति के 'स्वः' अनुभूति के रूप में ग्रहण करती है ।

बच्चन की काव्य चेतना का उदय बहुत कुछ विषम परिस्थितियों में हुआ। राष्ट्रीय आन्दोलन के उपस्थित गतिरोध और अंग्रेज़ी सरकार के दमन चक्र से बच्चन का युवक हृदय पराजय, अवसाद और विक्षोभ से भर उठा था । घरेलू परिस्थितियों ने निराशा के रंग को और भी गहरा किया । कवि का कुंठित अहं युग-वातावरण और परिस्थियों के प्रति उपेक्षा और विद्रोह की भावना रखता हुआ एक नये मार्ग की खोज में निकल पड़ा । उसे वह मार्ग मिला उमर खैयाम की हालावादी विचारधारा में जिसमें नियति के हाथों असहाय मानव की समूची निराशा, पराजय, क्षण-वादिता एवं विवशता झलकती है । यद्यपि बच्चन ने खैयाम की समस्त चिन्तन पद्धति को अविकल रूप में ग्रह नहीं किया, प्रत्युत उसमें भारतीय आनन्द-वाद की पुट देकर उसे अधिक व्यापक एवं ग्राह्य बनाने का प्रयास किया, फिर भी

एक बात निर्विवाद है कि जग और जीवन के प्रति जिस एक विशेष दृष्टि-कोण को उन्होंने अपनाया वह मूलत: ख़ैयाम से ही प्रभावित है ।

प्रतिकूल बाह्य परिस्थितियों ने बच्चन के कवि को इतना अहंनिष्ट बना दिया कि उसने उन के महत्त्व को गौण बनाते हुए वैयक्तिक उलझनों से अधिक प्रेरणा ग्रहण की है । यही कारण है कि उनकी कल्पना के पंख अनुभूति से बोझिल होकर प्राय: लम्बी उड़ान नहीं भर पाते । इस सम्बन्ध में बच्चन का एक अपना कथन भी द्रष्टव्य है :— अनुभवों में डूब और अभिव्यक्ति के माध्यम पर यथासंभव अधिकार करके मैंने अपने आपको प्रेरणा पर छोड़ दिया है । प्रेरणा के अस्तित्व को मैं मानता हूँ। किसी मन:स्थिति से किसी परिस्थिति से, किसी घटना से किसी दृश्य से, किसी विचार से, सर्जन की यह प्रवृत्ति सहसा जाग उठती है जो सृजन के लिये विवश करती है । इसी मत को अग्रसर करते हुए उनका कथन है कि 'किसी कवि के लिये आदर्श परिस्थिति तो यही हो सकती है कि जीवन और साहित्य के स्वाध्याय से परिपक्वहो कर वह प्रेरणा की प्रतीक्षा करे और अपनी 'अर्ज़' के अनुसार लिखने को स्वतंत्र हो। मुझे दुर्भाग्यवश ऐसी परिस्थितियां सदा नहीं मिलीं । मैं शतप्रतिशत कवि नहीं रह सका मुझे अपने और अपने ऊपर निर्भर रहने वालों के लिये जीविका के साधन जुटाने को प्राय: सदा ही कुछ ऐसा काम करना पड़ा है जो सृजन को पूरी स्वतंत्रता नहीं देता । मुझे क्लास में पढ़ाते हुए भी प्रेरणा हुई है कचहरियों के इजलास पर भी, परेड के मैदान में भी सरकारी दफ्तरों की फायलों के बीच भी और सदा मैंने उन्हें संजो कर किसी सुविधाजनक समय पर उनका प्रयोग करने का प्रयत्न किया है ।

इस प्रकार की रचनाएं विभिन्न बाह्य और आन्तरिक प्रभावों से प्रेरित होकर रची गई हैं । बाह्य प्रभावों ने अधिकतर उनके भावबोध को प्रभावित किया है और कुछ एक ने वस्तुबोध को । इन विविध प्रभावों का क्रमिक विवेचन करते हुए सब से पहले हम छायावादी काव्यचेतना के प्रभाव को लेते हैं। बच्चन का काव्य सृजन छायावाद के चरमोत्कर्ष काल में प्रारम्भ हुआ । अत: इसका प्रभाव उनकी प्रारम्भिक रचनाओं पर तो स्पष्ट देखा ही जा सकता है परवर्ती रचनाओं में भी जहां उन्होंने छायावाद को अपनी प्रकृति के अनुरूप न पाकर छोड़ दिया था यह प्रभाव किसी न किसी रूप में देखा जा सकता है । प्ररम्भिक रचनाएं जहां छायावादी वस्तु और शिल्प दोनों से प्रभावित हैं वहां परवर्ती

रचनाओं में यह प्रभाव शिल्पगत ही अधिक रह जाता है ।

छायावाद की संगीतमय शैली, सौन्दर्य भावना और गीति रचना को उन्होंने पूर्णतया अपनाया है । बच्चन ने अपने समस्त काव्य में सरल तथा प्रसाद गुणमयी भाषा का व्यवहार किया है । बच्चन की वह रोमांटिक भावना भी जिसे उनकी परवर्ती रचनाओं में भी देखा जा सकता है छायावाद के माध्यम से आई प्रतीत होती है । इन दोनों में अन्तर इतना ही है कि छायावादी कवियों ने इस भावना को आध्यात्मिक रूप दिया है । बच्चन ने इसी भावना को घोर व्यक्तिवाद का । छायावादी कवियों की भावना पर रहस्य का एक झीना आवरण है । 'पंत' की 'ग्रन्थि' और 'प्रसाद' के 'आंसू' में उनकी व्यक्तिवादिता के दर्शन भी होते हैं । जहां व्यक्तिगत भावना को व्यक्त करते हुए प्रसाद लिखते हैं :—

परिरम्भ कुम्भ की मदिरा
निश्वास मलय के झोंके

मुख चन्द्र चांदनी जल में
मैं उठता था मुँह धोके ।

वहां इसी भावना पर वह इस प्रकार रहस्य का आवरण भी डाल देते हैं :—

शशि मुख पर घूंघट डाले,
आंचल में दीप छिपाए,
जीवन की गोधूलि में
कौतूहल से तुम आये ।

परन्तु बच्चन ने ऐसे किसी आवरण को स्वीकार नहीं किया । वह सर्वथा स्पष्ट मुक्त हैं । जैसे 'मिलन यामिनी' का यह चित्र —

अब तुम्हें डर लाज किससे लग रही है
आंख केवल प्यार की अब जग रही है।

'प्रकृति' कवि बच्चन की कविता का विषय नहीं है फिर भी उनकी प्रारम्भिक कविताओं में प्रकृति सम्बन्धी कुछ सजीव चित्रण हैं । एक दो उदाहरण देखिए —

बहेगा सरिता में जल श्वेत,
समुज्ज्वल दर्पण के अनुरूप
देख कर जिससे अपना रूप
पीत कुसुम की चादर ओढ़ेंगे सरसों के खेत ।

प्रकृति के उद्दीपन स्वरूप का अंकन करते हुए बच्चन ने लिखा है—

आज पागल हो गई है रात ।
हंस पड़ी विद्युत् छटा में
रो पड़ी रिमझिम घटा में
कभी भरती आह करती कभी वज्राघात ।

परवर्ती रचनाओं में प्रकृति का यह स्वरूप तो नहीं रहा फिर भी कहीं कहीं वातावरण सृष्टि उद्दीपन अथवा अलंकरण और प्रतीकात्मकता के लिये उसका प्रयोग अवश्य हुआ है । 'लहरों का निमंत्रण' में कविता के प्रारम्भ में बच्चन वातावरण की सृष्टि प्रकृति की

सहायता से इस प्रकार करते हैं --

रात का अन्तिम प्रहर है
झिलमिलाते हैं सितारे
वक्ष पर युग बाहू बांधे
मैं खड़ा सागर किनारे ।
वेग से बहता प्रभंजन
केश पर मेरे हिलाता
शून्य में भरता उदधि
उर की रहस्यमयी पुकारें ।

उद्दीपन

रश्मियों में रंगी पहन ली आज
किसने लाल सारी ,
फूल कलियों से प्रकृति ने मांग
है किसकी संवारी ।

अलंकरण --

प्राप्त हो उस पार भी इस पार का चाहे अंधेरा ।
प्राप्त हो युग की ऊषा चाहे लुटाती नव-किरण मन।

छायावादी काव्य वातावरण में बच्चन की अर्ध-स्फुट काव्य प्रतिभा उमर ख़ैयाम के प्रभाव से पूर्ण मुखर हो उठी। निराशा और अवसाद से घिरा हुआ कवि का युवक हृदय इस प्रभाव को पाकर एक नई प्रकार की कविताधारा में बहने को लालायित हो उठा । अपनी इस भावना को सर्वप्रथम उसने ख़ैयाम की रूबाइयों के अनुवाद के रूप में व्यक्त किया । बच्चन का प्रारम्भिक काव्य जोकि सामान्यत: हालावाद के नाम से प्रख्यात है इसी प्रभाव का परिणाम है। फिटज़जेरल्ड महोदय ने ख़ैयाम को रूबाइयों का अनुवाद किया । बच्चन ने पहले पहल इस अनुवाद द्वारा ही कुछ प्रेरणा ग्रहण की । इन्हीं अनुवादित रूबाइयों के माध्यम से वे ख़ैयाम के जीवन दर्शन की तह तक जा सके। बच्चन ने अपने काव्य में जिन प्रतीकों का प्रयोग किया उनमें से अधिकांश ख़ैयाम से ही ग्रहण किये गये हैं। कवि को यूं प्रतीत होने लगा जैसे ख़ैयाम की एक एक रूबाई उसके अपने व्यक्तित्व से सम्बन्धित हो। इसे स्वीकार करते हुए बच्चन लिखते हैं --

उमरख़ैयाम ने रूप - रंग -रस की एक नई दुनिया ही मेरे आगे नहीं उपस्थित की उसने भावना विचार और कल्पना के सर्वथा नये आयाम भी मेरे लिये खोल दिये । उसने जगत, नियति और प्रकृति के सामने लाकर मुझे अकेला खड़ा कर दिया । ख़ैयाम के प्रति लिखते हुए मैंने स्वीकार किया है --

हुई थी मेरे मन की ठीक
वही हालत जिस दिन जिस याम
निहारा था मैंने निज रूप
तुम्हारे प्याले में ख़ैयाम ।
तुम्हारी मदिरा से जिस रोज़
हुए थे सिंचित मेरे प्राण –

उसी दिन मेरे मुख की बात
हुई थी अंतरतम की तान ।

ख़याम से ग्रहण किये प्रतीकों से बच्चन को अपने को व्यक्त करने में बड़ी सहायता मिली और उन्होंने अपने हालावादी काव्य में ख़ैयाम के हाला, प्याला, मधुशाला, साकी बाला और मालिक मधुशाला और पीने वाला आदि प्रतीकों का प्रयोग किया । फिटज़रजेरल्ड ने अपने अनुवाद से घोषित किया कि यह ख़ैयाम और उसकी प्रेयसी का वार्तालाप मात्र नहीं । यह मानव जीवन के कटु कठोर सत्यों का दर्शन उसकी प्रतिक्रिया है । यह वार्तालाप मनुष्य और उसकी तृष्णा का संभाषण है इस प्रभाव को बच्चन की उस रूबाई में देखा जा सकता है जहां कि वे कहते हैं--

लाल सुरा की धार लपट सी
कह न इसे देना ज्वाला
फेनिल मदिरा है मत इसको
कह देना उर का छाला ।
दर्द नशा है इस मदिरा का
विगत स्मृतियां साकी हैं
पीड़ा में आनन्द जिसे हो
आए मेरी मधुशाला !

इन प्रभावों के अतिरिक्त बच्चन पर ख़ैयाम के नियतिवाद का प्रभाव भी पर्याप्त मात्रा में परिलक्षित होता है । उमर ख़ैयाम की कुछ रूबाइयों के आधार पर फिटज़जेरल्ड ने स्थापना की कि मानव जीवन विवश और निरूपाय है । वह क्रूर नियति की इच्छा पर निर्भर है । नियति क्रीड़ा कन्दुक के समान हमारे जीवन को इधर उधर ठुकराया करती है । ख़ैयाम के इस नियतिवाद का प्रभाव बच्चन की निम्न पंक्तियों में स्पष्टत: परिलक्षित होता है --

भ्रान्त उस आवर्त में ही
विश्व जीवन लीन होगा
किस विजय पर ढोल पीटूं
किस पराजय पर धुनूं सिर
रात-दिन सा जड़ नियम है
बद्ध पतनोत्थान मेरा ।

अथवा

कहाँ विमोहिती ले आओगी रिक्षा
मुझे झंकृत पायल से जयां पराजय ही
अंगित है मानव क सब संघर्यों पर
जहां विफलता के क्रन्दन से घबराई
प्रत्येक घड़ी है । ख़याम के क्षणवाद का प्रभाव बच्चन पर इस प्रकार देखा जा सकता है --

प्याला है पर पी पायेंगे
है ज्ञात नहीं इतना हमको
इस पार नयति ने भेजा है
असमर्थ बना कितना हमको ।

ख़ैयाम का जीवन दर्शन बहुत हद तक एकांगी है । उसमें विषाद की छाया अधिक गहन है । जगती के प्रति उसका दृष्टिकोण विरक्तिपूर्ण है । परन्तु बच्चन ने इसे पूर्णता देने के लिये आसक्ति का

तत्त्व भी इसमें सम्मिलित कर दिया है। उनका कवि निराशा और विषाद के क्षण में भी मस्ती का एक संदेश लिये फिरता है --

मैं दीवानों का वेश लिये फिरता हूँ
मैं मादकता निःशेष लिये फिरता हूँ
जिसको पीकर जग झूम झुके लहराये
मैं मस्ती का वह संदेश लिये फिरता हूँ।

बच्चन की 'मधुशाला' दीन-दुनियां धर्म और समाज से घबराये हुए लोगों को सान्त्वना देती है। यहां न ऊंच-नीच का भेद है और न अज्ञ-विज्ञ का अन्तर। यह मधुशाला स्वर्गलोक से उतरी है अतः वसुधा के दुःखों का इस पर प्रभाव नहीं। जहां सारी दुनियां में मुहर्रम का तम छाया है वह मधुशाला में सतत ईद है। दुनिया वाले साल में एक बाद होली दीवाली मनाते हैं परन्तु यहां तो हर दिन होली और हर रात दीवाली है यद्यपि यह दृष्टिकोण निराशाजनक घोर पलायनवाद का भी परिचयाक है परन्तु उसमें भारतीय आनन्दवाद के तत्त्व भी देखे जा सकते हैं। मधु का ज्वार और यौवन का वेग शांत हो जाने पर बच्चन ने अपने हालावाद को और भी संयत एवं व्यावहारिक रूप दिया है।

बच्चन का अंग्रेज़ी साहित्य का अध्ययन बहुत गहन है। अभी कुछ समय पूर्व उन्होंने शैक्सपीयर की रचनाओं को हिन्दी में रूपान्तरित भी किया है। ईटस को वह अपना प्रिय कवि मानते हैं। अतः उनके काव्य पर इसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही कहा जा सकता है। पाश्चात्य साहित्य में पनपने वाली व्यक्तिवादी भावना बच्चन की प्रकृति के सर्वाधिक अनुकूल बैठती थी जिसको उन्होंने निःसंकोच ग्रहण किया है। स्वच्छन्दतावादी कवियों की संवेदनशीलता और भावुकता भी उन के काव्य में देखी जा सकती है। हालावादेतर प्रतीक विधान और नवीन बौद्धिक दृष्टिकोण योरोप में प्रचलित अभिनव काव्य धाराओं के अनुरूप है। उनकी अहंनिष्ठा और व्यक्तिवादी भावना आधुनिक मनोविश्लेषणवाद का परिणाम है। बच्चन काव्य की शैली, शिल्प और छन्द विधान पर भी कुछ पाश्चात्य प्रभाव देखे जा सकते हैं।

बच्चन का कवि सदैव प्रबुद्ध एवं जागरूक रहा है। वह यद्यपि धार में बह नहीं गया है परन्तु तट से उसने निहार सब कुछ लिया है। समसमायिक काव्य धाराओं के रूप को भी उसने निरखा है। प्रगतिवाद उसे आकर्षित नहीं कर पाया परन्तु उसके मानवतावादी दृष्टिकोण को उसने अपने विशेष में 'बंगाल का अकाल' 'आरती और अंगारे' में व्यक्त किया है। प्रयोगवाद और नई कविता के नवीन

भावबोध काव्य चेतना बिम्ब और छन्दविधान की छाया बच्चन की उद्यतन रचनाओं में देखी जा सकती है ।

उर्दू वातावरण में पले होने के कारण इस साहित्य की शोखी, मस्ती, रंगीन मज़ाज़ी चुस्त बन्दश आदि विशेषताएं बच्चन के काव्य को एक ऐसा रूप प्रदान करती हैं जो उनसे पूर्व हिन्दी वालों के लिये अपरिचित सा था ।

बच्चन का मस्तिष्क विशेष आदान-शील रहा है और उनका व्यक्तित्व उतना ही अहंनिष्ठ । इसलिये कोई भी बाह्य प्रभाव उनकी मौलिकता को नष्ट नहीं कर पाया । सब प्रभाव और प्रेरणाओं के रहते हुए भी बच्चन ने जो कुछ कहा है वह उनकी अपनी संवेदनशीलता और अनुभूति का परिणाम है ।

● ● ●



श्री गुरु ग्रन्थ साहिब के मूलमन्त्र में १ ओ३म् का उच्चारण

राजकुमार मृगेन्द्र सिंह,

प्रत्येक जपु नीसाणु के टीकाकार ने संक्षेप व विस्तार से मूलमन्त्र में 'ੴ' के स्वरूप तथा उच्चारण के सम्बन्ध में अपने विचार प्रगट किये हैं । यथा—

(१) श्री निर्मल शिष्य साधु पण्डित तारा सिंह नरोत्तम 'ੴ' को '१ ओ३म्' रूप से प्रतिपादित और 'ओं' उच्चरित मानते हैं, जोकि वैदिक रीति है, एवंमेव पण्डित साधुसिंह आदि सभी निर्मल सम्प्रदायी स्वीकार करते हैं ।

(२) उदासीन सम्प्रदाय के पण्डित हरि प्रसाद वैदिक मुनि 'ੴ' में केवल 'ਓ' के उच्चारण सम्बन्धी लिखते हैं—जैसे 'स्वाहा' के आगे 'कार' प्रत्यय लगने से स्वाहाकार और वषट् के आगे 'कार' लगने से वषट्कार, शत: ६।३।३।१४ बनता है। वैसे 'ओम्' के आगे 'कार' लगाने से 'ओंकार' बनता है परन्तु स्वाहा और स्वाहाकार का अर्थ जैसे एक है वषट् और वषट्कार का अर्थ जैसे एक है, वैसे 'ओम्' और 'ओंकार का' अर्थ एक नहीं है । किन्तु यह सर्वत्र उदासीन पन्थ में स्वीकार नहीं है, वह भी निर्मलोंवत प्लुत 'ओ३म्'' का ही उच्चारण मानते हैं ।

(३) प्राचीन खालसा, सिंह साहिब, श्री भाई सन्तोष सिंह जी अपने गर्वगाजनी टीका में 'ੴ' को 'एकोऽहं बहुस्यां' इति श्रुति वचन का अपभ्रंश रूप मानते हैं और वैदिक 'ओं' रूप में उच्चारण स्वीकार करते हैं ।

(४) अर्वाचीन खालसाओं में सबसे प्रथम श्री भाई वीर सिंह जी जो अत्यन्त विद्वान् और बहुत कार्यकर्त्ता हुए हैं, वह अपनी सन्ध्या श्री गुरु ग्रन्थ साहिब के पृष्ठ पर लिखते हैं --

"सो गुरु जी ने आपणे 'ੳ' (ओं) दे पहलां '१' रखके इसदा आपणा सम्पूर्ण रूप '१ੳ' लिखिआ है उच्चारण 'एकोंकार' स्थापन कीता है--इत्यादि ।"

(५) श्री गुरुमत व्याकरण के कर्त्ता माननीय भाई साहिब सिंह अपने 'जपु साहिब सटीक' में विशेष व्याकरण के नियमों द्वारा '१ੳ' का उच्चारण 'एक-ओंकार' स्थापित करते हैं । जैसे कि वह लिखते हैं--

"'१ੳ' (१ओं) दे उच्चारण वेले इसदे तिन्न हिस्से कीते जान्दे हन '१' '१ੳ,' इस दा पाठ है, 'इक ओअं कार ।। आप आगे लिखते हैं 'ओं संस्कृत दा शब्द है ।' आगे '१ੳ' के सम्बन्ध में लिखते हैं । "तीजा हिस्सा है जिसदा उच्चारण है 'कार' । 'कार' संस्कृत दा इक पिछेतर है । आम तौर ते इह पिछेतर 'नांवां' दे अखीर विच्च वरतया जान्दा है । इसदा अर्थ है "इक रस, जिस विच्च तबदीली नहि आवे" ।। इस 'पिछेतर' दे लाण नाल 'नांव' दे लिंग विच्च कोई फरक नहीं पैन्दा ;--

पुनः आप इस प्रकार से उदाहरण अंकित करते हैं --

पुंलिग--

नंनाकार न कोई करेइ ।।
राखै आपि बढ़िआई देई ।।२।।२।।
गउड़ी मः १
की मति सो पावै आपि जाणावे आपि
अभुल न भुलए ।।
जैजैकार करहि तुधु भावहि गुरकै सबदि
अमुलए ।।६।२।५।।सूही मः १।।
सहजै रुणझुण कार सुहाइआ।। ताके घरि
पारब्रह्म समाइआ ।।७।३।।गउड़ी मः ५।।

स्त्रीलिग--

दइआ धारी तिनि धारण हार ।।
बन्धन तै होइ छुटकार ।।७।४।। रामकली
मः ५।।

मेघ समै मोर निरतकार ।।चन्दु देखि
बिगसहि कउलार ।।४।२।।बसन्त मः ५
देखि रूप अतिअनूप मोह महा मग भई ।।
किंकनी शबद झनतकार खेलु पाहि
जीउ ।।१।६।। सबईए मः ४ के।।

पिछेतर 'कार' दे लाण तों बिना अते लगाण नाल दोहां तरां दे शब्दां दे अर्थ

विच फरक हेठ लिखे प्रमाणां तो स्पष्ट हो जांदा है —

घरमहि घरु दिखाइ देई सो सतिगुरु पुरुष सुजाणु ॥

पञ्च शबद धुनिकार धुनि तिह बाजै शबदु नीसाणु ॥१॥२७॥

धुनि आवाज़—

धुनिकार—लगातार नादु, अतुट आवाज़।

इसे तरां

मनु भूलो सिरि आवे भारु ॥

मनु मानै हरि एकंकारु ॥२॥२॥

गउड़ी म: ॥१॥

एकंकारु—एक औअंकार; उह इक औं जो इक-रस है, जो हर थां विआपक है। इस प्रकार से वह लिखते हैं कि इस 'पिछेतर' दे लगण नाल इहनां शब्दां दे अर्थ इउं करने हन :—

नंनाकार—इक रस इनकार, सदा लई इनकार ।

जैंजैकार—लगातार जै जै दी गूंज ।

निरतकार—इक रस नाच ।

झनतकार—इक रस सोहणी आवाज़ इत्यादि ।

हमारी स्वतन्त्र ढूंढ करने से वह भाव प्रगट हुए हैं जो पहले इस रूप से मेरे अनेक प्राचीन और अर्वाचीन टीकाएं देखने पर नहीं आए हैं जो '१' की खोज में मुझे प्राप्त हुआ है। अब हमें सर्वोपरि यह देखना आवश्यक है कि जैसे '१' के इक, एक, एकंकार आदि अनेक रूप हमें श्री गुरुवाणी में 'ੴ' ओ३म् से भिन्न प्राप्त हैं :—

यथा—

एका एकंकार लिख दिखालिआ ॥

ऊड़ा ओंअंकार पास बहालिआ ॥

भाई गुरदास—वार: ३॥१५॥

तथा च —

एका एकांग लिख ऊड़ा औअंकार लिखाइआ ॥ भाई गुरदासथवार: ३६।१॥

सो जिस प्रकार से '१' के सम्वन्धी अनेक रूप श्री गुरुवाणी में मिलते हैं उसी प्रकार से 'ੴ' के भी अनेक स्वरूप श्री गुरुवाणी आदि ग्रन्थ में हमें दृष्टिगोचर होते हैं ॥ यथा —

(१) '१ੴ'—१ओ३म् ॥प्रारम्भिक मूल मन्त्र पृष्ठ १ पर

(२) ੴਠ —औं नम ॥ औअंकार रामकली म:१॥ पृष्ठ ९३०। और भा: गु: छन्द : १–२–३

(३) ੳਨਮੋ—ओंनमो :॥ रामकली म: ५॥४५॥३४॥ रहाउ॥ पृष्ठ ८९७॥ओं अनेकों वार प्राप्त होता है ।

(४) ੴਅੰ—ओअं ॥ गउड़ी बावन अखरी म: ५–१॥ पृष्ठ २५०॥ और सारग म: ५–४५ ॥२२॥१॥ पृष्ठ १२१३ इत्यादि ॥

५ (५) ਓਅੰਕਾਰ—ओअंकार।।गउड़ी म: कबीर: ५२।।६।।पृष्ठ ३४० ।।
(६) ਓਅੰਕਾਰਿ—ओअंकारि ।। ओअंकार रामकली म: १—१।। पृष्ठ ९३० ।।
(७) ਓਅੰਕਾਰੁ—ओअंकारु ।।ओअंकार रामकली म: १—१।।पृष्ठ ९३०।। इत्यादि ।।

यदि हम उच्चारण के लिये मेरुखण्ड रूप बनाएं तो पहले हमें यह विचारना है कि हमारी पड़ताल में 'ੴ' का भी एक उड़े (३) अक्षर द्वारा विनिर्मित ३५ अक्षरों से भिन्न सांकेतिक स्वरूप ही श्री भाई गुरुदास जी द्वारा कथित स्वीकार करना होता है जिसका स्वरूप 'ੴ' यह है । इसलिये संक्षेप से—

(१) एकंकार औअंकार
(२) इक औअंकार
(३) एक औअंकार
(४) इक औअं
(५) एक औअं
(६) इक औं
(७) एक औं

इत्यादि । परन्तु एक बात तो सभी मानते हैं कि '१' भाव एकंकार और 'ੳ' औअंकार दोनों ही संस्कृत रूप मूल से सम्बन्धित शब्द हैं । सो यदि '⌒' वा 'कार' को पछेतर माना जाता है तो इसको संस्कृत में प्रत्यय कहते हैं जो संस्कृति व्याकरण की परिभाषिक संज्ञा है । इस बात को प्रथम स्वीकार करने पर फिर और कोई भी बात अपनी मनमरज़ी की नहीं रह सकती, अपितु संस्कृत व्याकरण का विधान ही स्वीकार करना होगा । वह विधान यह है :—

पाणिनीय अष्टाध्यायी में—अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः ।१।१।६९।। है जिसकी वारतिक श्री भट्टो जी दीक्षित ऐसे कहते हैं—प्रतीयते धीयतैति प्रत्ययः। अर्थात् प्रत्यय वह है जो प्रतीयत भाव विधान व्याकरण ने किया हो । सो संस्कृत प्रत्यय पाणिनीय और महाभाष्यकार ने इस प्रकार से कार प्रत्यय के सम्वन्ध में लिखा है—

रोगाख्यायांण्वुल्बहुबलम् ।।३।।३।। १०८।। आगे तत्वबोधिनी टीकाकार लिखता है इस सूत्र से रोग का नाम निर्माण करने में 'ण्वुल्' प्रत्यय बाहुल्यता से होता है 'स्त्रीलिंग शब्द प्रच्छर्दिका 'प्रवाहिका' विर्चिचिका आदि अनेक शब्द बनते हैं । बहुलता के कारण कहीं नहीं होता यथा—'अर्द' शब्द, शिरपीड़ा का वाची है इसमें 'ण्वुल्' प्रत्यय नहीं है । इसीलिये शिरोरति रूप बनता है । और.........आगे ऋषि कात्यायन् का आक्षेप सूत्र है—

धात्वर्थनिर्देशैण्वुल्वत्तलव्य।वा: २२२५। धातु का अर्थ ही निर्देश करने पर भी

'ण्वुल्' प्रत्यय बाहुल्यता से होता है, यथा आस उपवैशने धातु से आसिका (बैठना) शिम् -शयते धातु से शायिका (शयन करना) आदि शब्द बनते हैं, इसी प्रकार आगे --

इक् शितपौ धातु निर्देश ।।वा: २२२६। है, परन्तु इसकी आवश्यकता नहीं आगे–वर्णात्कारः।।वा:।।२२२७।। है, निर्देश इत्येव ।। भाव अ इ उ इत्यादि वर्णों के निर्देश से अनुकरण से प्रतिपादिक शब्द अपने ही अर्थ में 'कार' प्रत्यय बाहुल्यता से होता है । यथा अकार, इकार, उकार, ओंकार, ककार, खकार, आदि शब्द बनते हैं। तत्वबोधिनी कहती है --वर्णादिति –वर्णानुकरणदित्यर्थ न तु वर्णादुच्चार्यमाणादिति । तथाहि सत्यंकार इत्याखावैव स्यान्नतु ककार इत्यादि अब हि संघातस्यौच्चारणांत् । अनुकार्यदित्वह वर्णमात्रम् । अकारस्योच्चारणार्थत्वात् ।

अर्थात्--यहां वर्णनिर्देश शब्द से वर्णानुकरण अर्थ है । उच्चार्यमाण वर्ण का अथ नहीं है । यथा --

'ॐ'—ओ३म् शब्द के अनुकरणार्थ में ही औंकार शब्द बनता है । केवल ओ३म् उच्चार्यमाण शब्द है। इसीलिये माण्डूक्योपनिषद् में दोनों रूप इस प्रकार से आए हैं —प्रथम मन्त्र :-

ओ३म् इत्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्व ओंकार एव । बाहुल्यता के कारण कहीं संघात आदि अर्थ में भी 'कार' प्रत्यय होता है । यथा -- सत्यंकार एवकार, नमस्कार, वषट्कार, झनतकार आदि शवेद बनते हैं। पर ओंकार इससे नहीं बनता है क्योंकि संघात के अर्थ में नहीं है ।

इसी प्रकार आगे--

रादिफ ।।वा:२२२८।। 'र' वर्ण के निर्देशार्थ में 'इफ' प्रत्यय भी बहुल्यता से होता है यथा--रेफ। बहुल्यता के कारण कहीं भी नहीं होता [यथा --रकारः । यथा-- "रकारानि नामानि शृण्वतो मम पावती"; इत्यादि वाक्यों में द्रष्टव्य है ।

परन्तु रतिकार, ध्वनिकार, स्मृतिकार, सूत्रकार, कलाकार आदि अनेक शब्दों में –कार– अनुकरणार्थक कार प्रत्यय नहीं है किन्तु वह यहां तो तनादय कृ धातु जो श्री शंकराचार्य के अतिप्रसिद्ध चरपटपंजरी का स्तोत्र में डुकृकरणे धातु से स्वार्थ में अण् प्रत्यय णित्वात् वृद्धि होकर 'करोति इति कारः'शब्द बन कर पुनः रतिं करोति इति रतिकारः, ध्वनिं करोति इति ध्वनिकारः , आदि कुम्भकार जैसे अनेक शब्द बनते हैं; किन्तु जैजैकार झनत्कार आदि क्रिया के विशेषण रूप

से कृत्रिमता की विशेषता प्रतिपादन करते हैं और इस प्रकार से --ओ३म् करोति इति ओंकार ' व्याकरणानुसार सर्वथा असंगत है, इस प्रकार से सिद्ध करना सर्व व्याकरण प्रेमियों से अमान्य ही प्रतीत होता है ।

जिस प्रकार से अ, इ, उ आदि अक्षर हैं उसी प्रकार से ओ३म् भी अक्षर श्री गुरुवाणी में स्वीकार किया है यथा --

ओ नम अखर सुणहु बीचारु ॥
ओ नम अखर त्रिभवण सारू ॥१॥
सुणि पाडे किआ लिखहु जंजाला ॥
ओअंकार रामकली म: । १।पृष्ठ ६३०।।

जैसे संस्कृत में कार प्रत्यय वर्ण में उपदेशार्थ लगता है और उच्चार्यमाण नहीं, इसी प्रकार से भाषा में ऊड़ा, आड़ा, आदि -- ड़ा प्रत्यय है और कका, खखा आदि अपने ही वर्ण के प्रत्यय हैं ॥ सो जैसे किसी को कहा जाय, कि 'अमृत' के भिन्न भिन्न पद उच्चारण उपदेशार्थ करो, तो संस्कृत भाषा में अकार मकार ऋकार तकार आदि कहेगा और भाषा में आड़ा, ममा, ते सिहारी ते पर विच रारा ते तता कहेगा, किन्तु जब उपदेश से भिन्न व्यवहार में लिखेगा, व उच्चारण करेगा, तो अम ऋ त; ही लिखेगा और उच्चरित करेगा, सो इसी प्रकार से उपदेशार्थ ओ३म् को--अ.अंकार--श्रीगुरुवाणी में लिखा है और मन्त्र रूप में उच्चार णार्थ--

ੴ --ओ३म् ही लिखा है ॥ सो जिस प्रकार से व्याकरण के विधान अनुसार--कार--प्रत्यय का परित्याग का विधान सिद्ध हो गया, सो श्री भाई गुरदास जी के वचनों के अनुसार --"एका एकंकार लिख दिखालिआ ॥ ऊड़ा ओअंकार पास बहालिआ ॥" के अनुसार दोनों एकंकार और ओअंकार में से 'कार' का लोप हो जाने से शुद्ध उच्चारण :--

-- ੧ੴ --१ओ३म् का ऐक ओ--३--म् उच्चारण सिद्ध होता है ॥

सो ओ३म् संस्कृत के तिङन्त भवदिय गणीय धातु 'अव'=रक्षणे, गति, कान्ति, प्रीति, तृप्ति, अवगम, प्रवेश, श्रवण, स्वामि, अर्थवाचन, क्रये, इच्छा, दीप्ति अवाप्य, आलिंगन, हिंसा, दान, भाग-वृद्धि आदि अर्थों में है । ओ पाणिनीय अष्टाध्यायी के वैदिकी प्रक्रिया में--

ओ३म्भ्यादाने ।८।२।८७॥ सूत्र है, जिसका अर्थ भट्टोजीदीक्षित ऐसे करते हैं--ओ३म् शब्दः प्लुत स्यादारम्भे ॥ ओ३म्अग्निमीलेपुरोहितं--ऋ १।१।१॥ अभ्यादाने किं ॥ ओ३म् इति अक्षरम् ॥ अर्थात् ओ३म् शब्द प्लुत हो, और आरम्भ में हो प्रयुक्त हो, जैसे ऋग्वेद के पहले मन्त्र के सामने 'ओ३म्' उदाहरणार्थ दिया है, और अभ्यादान

क्यों कहा है। ओ३म् क्योंकि अक्षर है। अग्रिम सूत्र है--

ये यज्ञकर्मणि ।।८।२।८८।। ये३यजा-महे ।। यज्ञेति किं । ये यजामहे ।।अर्थात् ये कोयज्ञादि कर्म में प्लुत -३ मात्रा का उच्चारण होता है जैसे ये ३ यजामहे । यज्ञादि क्यों कहा। यह वेद विद्धि रूप वचन है । ये यजामहे आदि बहुत विस्तार करके कहा है ।आगे का सूत्र --

प्रणव ष्टे ।।८।२।८९।। यज्ञकर्मणि टे ओ३म् इति आदेशः स्यात् अपां चैतांसि जिम्वतो३म् ।। टे किं ।। हलन्ते अन्तस्य मामूत् ।। अर्थात् --यज्ञ कर्म में टे ओ३म् में आदेश हो ।। जैसे --

अपां रेतासि जिम्वतो३म् टे क्युं ।। हलन्त में अन्त का नहीं होता ।

सो संस्कृत का एक अक्षर है जो इस प्रकार से और अक्षरों की भांति बनता है। प्रथम सर्व स्वरों की बनावट दर्शाते हैं --

संस्कृत (ह्रस्व दीर्घ प्लुत)	गुरुमुखी (ह्रस्व दीर्घ)
स्वरः-- अ, इ, उ, ऋ,	ਅ, ੲ, ਉ
अ+अ = आ+अ=आ ३	ਅ+ਅ=ਆ
इ+इ = ई+इ = ई ३	ਇ+ਇ=ਈ
उ+उ = ऊ+उ= ऊ ३	ਉ+ਉ=ਊ
ऋ = = ऋ ३	- - -
अ+इ = ए = ए ३	ਅ+ਿ=ਏ
अ+उ = ओ = औ ३	ਅ+ਉ=ਓ
अ+ए = ऐ = ऐ ३	ਅ+ਏ=ਐ
अ+ओ = औ = औ ३	ਅ+ਓ=ਔ
अ+उ = औ+३+म=ओ ३	ਅ+ਉ=ਓ+ੜ+ ' =ੴ

सो इस प्रकार से प्लुत संज्ञक ओ३म् का जो अनुस्वार है वह मोनुस्वारः । ८।३।२३।। सूत्र से मान्तस्य पदस्यानुस्वारः स्याद्धलि । हल् पर रहने पर अन्त में म् पद को अनुस्वार हो ।। इस न्याय से सिद्ध हुआ और इसको श्री गुरु गोविन्द

सिंह जी महाराज इस प्रकार से लिखते हैं :--

ओअं आदि रूपै ।। अनादि सरूपै ।।
अनंगी अनामै ।। त्रिभंगी त्रिकामै
'।।१२८।।
।जापु साहिब ।

भावार्थ यह है--'१'= निर्गुण निराकार निस्फुर, तदानन्तर, स्फुरनिर्गुण साकार स्वरुप शक्ति सबल अनादि है, और........ 'ओ३म्' आदि 'अनंगी' रूप सगुण निराकार स्वरूप है, जो 'अनामि' नाम रहित है । सुप्तिडन्तं पदम ।१।४।१४।। इन दोनों से परे है और व्याकरणानुसार ह्रस्व १ दीर्घ और ३ प्लुत की ही गिनती है, सो 'त्रिभंगी'– त्रिभिः स्थानं विभज्यते या सा त्रिभंगी ।। तीन स्थानों में जिसका --अ, उ, म्,-- करके विभाजन हो सो त्रिभंगी है और वह 'त्रिकामें' भाव तिस्रः कामन् सत्, रज, तम, माया रूपा इति त्रिकामे । तीन सत, रज, तम, गुणों से त्रिकामना वाला उत्पत्ति, पालन, संहार त्रिकाम-नाममय है ।।

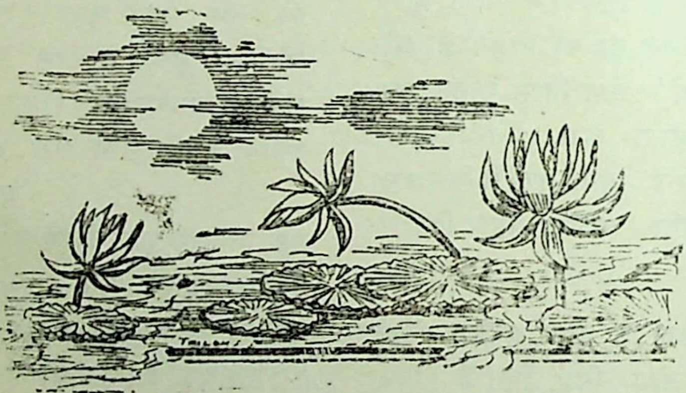
इस प्रकार से हमारे अनुसार संस्कृत में तो प्लुत संज्ञा सिद्ध होता है । किन्तु गुरुमुखी भाषा में प्लुत नहीं है और '⌒' यह जो चिह्न है सो प्लुत का सांकेतिक है क्योंकि प्लुत दीर्घ से भी दीर्घ है और उसको दिखाने के लिये श्री गुरु जी ने दीर्घ रूप 'ੳ' को ओ त्रिमात्र दिखाने के लिये ही ऊड़े का एक और रूपरेखा द्वारा प्लुत की संज्ञा दर्शाई है । इसलिये 'ੴ' ओ३म् प्लुत संज्ञा ही मेरे विचार द्वारा युक्तियुक्त सिद्ध होता है ।

इस लेख का व्याकरण द्वारा ओ३म् का प्लुत रूप उच्चारण सिद्ध करना तो बनता ही है, अपितु यह भी मेरी दृष्टि में गौण कारण है; मुख्य कारण तो ओ३म् को तो श्री गुरु नानक देव जी के दार्शनिक दृष्टिकोण से देखना है । सो जब तक वह प्लुत संज्ञा नहीं होता और उसमें त्रिमात्रा की अध्यारोपता नहीं की जाती, तब तक वह बीजमन्त्र ब्रह्म का नहीं बन सकता, यथा :--

ओ नम अखर सुणहु बीचारु ।।
ओ नम अखरु त्रिभवण सारु ।।१।।
ओअंकार रामकली म: १।।पृष्ठ ९३०)
तथा व **अवरि सभि भलै भ्रमत न**
जानिआ ।।
एकु सुधाखरु जाकै हिरदै बसिआ तिनि
बेदहि ततु पछानिआ ।।१।।रहाउ ।।
'(सारग म० ५–११।१।।पृष्ठ १२०५)

और 'त्रिभवण' का सार ओ३म् उस समय तक नहीं बन सकता । जब पर्यन्त त्रिमात्र नहीं होता, क्योंकि त्रिभवण का यहां श्री गुरु जी की परिभाषा अनुसार त्रिशरीर है, जो कारण , सूक्ष्म और स्थूल हैं,

जिनकी तीन अवस्थाएं सुषुप्ति, स्वप्न और जागृति; तीन गुणान्तर्गत तमो, रजो, सतो गुणमय हैं। यही त्रिभंगी त्रिकामे का भावार्थ है। इसलिये जिन्होंने इस दृष्टिकोण से न देख कर केवल 'एकांगी ओंकार' स्वीकर किया है, वह मेरे विचार में श्री गुरुमत के दार्शनिक सिद्धान्त से अपरिचित हैं। श्रुति में भी जो त्रिमात्र रूप 'ओ३म्' को माना है, सो भी ब्रह्म का 'समग्र बीज' स्वरूप करके ही मांडूक्योपनिषद् में विभाजन किया है; अन्यथा ऐसा करने की आवश्यकता ही नहीं रहती और 'ओं' का तो दार्शनिक तात्पर्य ही नहीं रहता। सो मैंने किसी के खण्डन मण्डन की दृष्टि से इसको व्याकरण आदि से नहीं लिखा, किन्तु दार्शनिक सिद्धान्त की प्रौढ़ता की सिद्धि में लिखा है। बाकी जिसकी जैसी भावना है उनके सिद्धान्त को मानें, किन्तु मेरा मुख्य अभिप्राय, तो दोनों गौण रूप से व्याकरण और मुख्य रूप से गुरु दर्शन के सिद्धान्तीय दृष्टिकोण से इदन्ता करके श्री गुरुवाणी का मनन और अनुभव करना बनता है। इसलिये विचारवानों के लिये यह एक दृष्टिकोणमय लेख उपस्थित है।



महाकाव्य का शिल्प

श्री ओम्प्रकाश भारद्वाज

राज शेखर ने अपनी काव्य-मीमांसा में सृजन प्रतिभा का वर्णन करते हुए प्रतिभा के दो रूप माने हैं--१.कारयित्री और (२) भावयित्री। कारयित्री प्रतिभा कवि की उपकारक होती है और भावयित्री प्रतिभा भावक अथवा आलोचक का उपकार करती है।१ राजशेखर द्वारा प्रतिभा का यह स्फुट विभाजन बहुत व्यञ्जक है। इसके अनुसार कवि के लिये कारयिता अथवा रचयिता या प्रकल्पक होना आवश्यक है। भारतीय आचार्यों ने इसी लिये उसे प्रजापति कहा है, क्योंकि किसी भी वस्तु को वह अपनी रुच्यनुसार परिवर्तित कर देता है।२ वह दूसरा सृष्टिकर्ता होता है। उस पर नियति के नियम लागू नहीं होते। मम्मटाचार्य ने काव्य-प्रकाश में कविता की परिभाषा देते हुए बहुत सी बातों की ओर संकेत किया है। कविता की प्रशस्ति गाते हुए वे कहते हैं: नियति -नियत-नियमों से जो नियन्त्रित नहीं है, आह्लाद ही जिसका सर्वस्व है, अन्य प्रकार के उपकरणों से परतन्त्र नहीं है, और नवरस सिक्त होने के कारण जिसकी निर्मिति मनोहारिणी है, ऐसी कवियों की वाणी सदैव विजयशील हो।३

अर्थात् (१) कवि अपनी कल्पना शक्ति के बल पर नव-नवोन्मेष करता है, (२) उसकी कविता आह्लाद (आनन्द)

---

१. साच द्विधा कारयत्री भावयित्री च। कवेरुपकुर्वाणा कारयित्री।
.... भावकस्योपकुर्वाणा भावयित्री।
काव्यमीमांसा (पृष्ठ २९—३३)

२. अपारे काव्य संसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥
(अग्नि पुराण)

३. नियतिकृत नियम रहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरस रुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति॥
(काव्य प्रकाश)

दायिनी होती है; और (३) वह रसरुचिरा होती है। संक्षेप मे हम कह सकते हैं कि कविता में कल्पना के माध्यम से रमणीयता उत्पन्न करने की शक्ति होनी चाहिए। उसमें विस्मय और सौन्दर्य के तत्त्व बीज-रूप में विद्यमान होते हैं जो अनुभूति की मिट्टी में कल्पना की खाद से पुष्ट होकर शब्द-अर्थ के लय में प्रस्फुटित होते हैं किन्तु यह प्रस्फुटन जैसे कि प्रस्फुटन शब्द से ही व्यक्त है, एक आग्रह की कामना करता है। इसके व्यञ्जन के लिये कलाकार के हृदय में आकुलाहट होना नितांत अनिवार्य है। इसके लिये कुछ उन्माद के क्षण चाहिएं। कालिदास ने अभिज्ञान शाकुन्तल में इस अवस्था को बड़े मधुर प्रसंग में स्पष्ट किया है। दुष्यन्त शकुन्तला के रूप--सौन्दर्य पर रीझ कर कहता है :—

चित्ते निवेश्य परिकल्पित सत्त्वयोगा
रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृता नु।
स्त्रीरत्न सृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे।
धातुर्विभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्याः॥

"शकुन्तला के शरीर को और विधाता के रूपवैभव को देख कर मुझे यों लगता है कि शकुन्तला की रचना करने से पूर्व ब्रह्मा ने इसकी परिकल्पना पहले चित्त में की होगी, या संसार के सभी रूपों को पहले मन में भावित किया होगा। अन्यथा इस अलौकिक 'स्त्रीरत्न' का निर्माण सम्भव नहीं था। यहां कालिदास प्रकारान्तर से कलात्मक सत्य पर टिप्पणी करते हुए सौन्दर्य के सृजन के लिये ब्रह्मा के मानसिक आग्रह द्वारा काव्य-सृष्टि के क्षणों में इसी मानसिक समाहिती पर बल दे रहे हैं जिसे अभिनव गुप्त ने आगे आकर पारिभाषिक शब्दावली में 'रसावेश' १ और महिमभट्ट ने 'स्तिमितचित्त' २ कहा है। आंग्ल नाटककार शेक्सपियर की 'डिवाइन मैड्नस' (दिव्य उन्माद), और कवि कीट्स की फाइन फ़ैन्ज़ी (सुन्दर आवेश) इन्हीं अद्भुत अवस्थाओं के भावानुवाद है। उत्तम कला या उतय काव्य के सृजन के लिये एक इस प्रकार की दिव्य मानसिक समाधि को प्राप्त करना परमावश्यक है, जब कलाकार व्यक्तिगत राग-द्वेष से ऊपर उठ कर अपनी अनुभूति

१. प्रतिभा अपूर्व वस्तु निर्माण क्षमा प्रज्ञा।
तस्या विशेषो रसावेश वैशद्य-सौन्दर्यकाव्यनिर्माणक्षमत्वम्॥

(अभिनवभारती)

२. रसानुगुण शब्दार्थचिन्तास्तिमिततेजसः।
क्षणं स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः॥

(व्यक्ति विवेक)

को तीव्र और सर्वसामान्य बना लेता है। यही भट्टनायक का साधारणीकरण है। कविता इन्हीं क्षणों की उपज है।

लेकिन यह अनुभूति किसी संवेदनशील हृदय में ही हो सकती है जिसके लिये कलाकार को विषय-ग्रहण-क्षम होना परमावश्यक है। उसमें प्रभावित होने की क्षमता होनी चाहिए। इसलिये कोई भी कलाकृति तभी सम्पूर्ण कही जा सकती है जब वह इतनी स्पष्ट कर दी जाए कि वह दूसरों तक अपने को प्रेषित कर सके और उन में वही भावना जागृत कर दे जो रचना करते समय कलाकार को अनुभूत हुई थी। जो कुछ पहले अननुभूत, अदृष्ट अस्पष्ट और अबोध्य था वह भावना की सघनता द्वारा इतना सुस्पष्ट हो उठता है कि वह सब के लिये ग्राह्य और स्वीकार्य हो जाता है। तालस्ताय ने इसके लिये तीन बन्धन लगाए हैं। वे कहते हैं कि प्रत्येक कलाकृति के लिये आवश्यक है कि "(१) उस में नवीन विचार निहितहो और कला का वस्तुतत्त्व मानव जाति के लिये महत्त्वपूर्ण हो। (२) वस्तुतत्व इतनी स्पष्टता से अभिव्यक्त हो कि लोग इसे समझ सकें। (३) कलाकार निर्माण की ओर आंतरिक अनुरोधवश प्रेरित हो न कि बाह्य प्रलोभनों के कारण।"[१] भारतीय काव्य की परिभाषावली में यदि कहना हो तो (१) कवि की प्रतिभा "नवनवोन्मेषशालिनी", और उसकी वाणी "सर्वमङ्गला" होनी चाहिए। (२) उसकी अभिव्यक्ति का "साधारणीकरण" हो सके। (३) इनमें सफल होने के लिये उसे 'समाधिस्थ' होना चाहिए।

काव्य एक सर्वोत्तम कला है क्योंकि इसमें अन्य कलाओं के असमान कवि स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म की ओर प्रवृत्त होता है। इस संदर्भ में राजशेखर ने काव्यमीमांसा में एक बड़ा रोचक प्रसङ्ग दिया है : सरस्वती ने पुत्र प्राप्ति की इच्छा से हिमालय पर जाकर घोर तपस्या आरम्भ की। उसकी साधना से प्रसन्न होकर ब्रह्मा ने वरदान देते हुए कहा कि मैं तुझे पुत्र का वरदान देता हूँ। इस बात के कुछ दिनों के बाद सरस्वती ने एक पुत्र को जन्म दिया। उस पुत्र ने उत्पन्न होते ही माता के चरणों में स्पर्श करते हुए छन्दोबद्ध भाषा में कहा; हे माता ! यह सारा वाङमय विश्व, जिसके द्वारा अर्थरूप में परिणत हो जाता है, वह "काव्य पुरुष" मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ। इस पर सरस्वती बहुत प्रसन्न हुई और उसने नवजात शिशु को गोद में भर कर चूमा और कहा : पुत्र यद्यपि

---

१. कला क्या है। पृष्ठ ३१ हिन्दी रूपान्तर।

मैं समूचे वाङमय की माता हूँ, किन्तु तूने माता को जीत लिया है। कहा जाता है कि पुत्र से पराजित होना द्वितीय पुत्र जन्म के समान है। हे पुत्र! शब्दार्थ तेरा शरीर है, संस्कृत (भाषा) तेरा मुख है, प्राकृत बाहु हैं, अपभ्रंश तरो जंघाएं हैं, पिशाच भाषा तेरे चरण हैं और मिश्र भाषाएं तेरा वक्षस्थल है। तू सम, प्रसन्न मधुर, उदार और ओजस्वी है। वाणी तेरी उक्ति है, रस तेरी आत्मा है, छन्द तेरे रोम हैं, प्रश्नोत्तर, पहेली समस्या आदि तेरे वाग्विनोद हैं। अनुप्रास - उपमादि तेरे अलंकार हैं। भावी अर्थों को बताने वाली श्रुति (वेद) भी तेरी स्तुति करती हैं।"१ इस रूपक से यह स्पष्ट हो जाता हैं कि भारतीय दृष्टि काव्य-पुरुष को अधिक व्युत्पन्न और सर्वांगीण मानती रही है, यद्यपि संस्कृत प्राकृत आदि भाषाओं की दृष्टि से यह संगति ठीक नहीं बैठती। लेकिन इस काव्य पुरुष की रचना के लिये राजशेखर ने विकलाङ्गता और "मानसिक समाधि" अनिवार्य समझते हैं। "शिथिल समाधि" होकर उसकी रचना सर्वगामी नहीं हो सकती। यही वह अवस्था है जबकि कवि का मन व्यक्तिगत रागद्वेष से ऊपर उठ कर सर्वसंवेद्य बन जाता है। यह वह अवस्था है जिसके लिये कवि कीट्स तड़प उठते हैं।२ यह वह साम्राज्य है जो हमें "...tease us out of thoughts As doth eternity." तभी उसकी रचना सर्वसामान्य होने के कारण 'सर्वहिताय' होगी, और तभी उसमें प्रेषणीयता और सर्व संवेद्यता आ पाएगी जिनकी विद्यमानता टाल्सटाय उत्कृष्ट रचना में अनिवार्य समझते हैं।

किन्तु जब लीनवृत्ति के ये क्षण लम्बे हो जायें, जब कवि की वरेण्य वस्तु की परिधि विस्तीर्ण हो, और जब वह उस वस्तुपटल पर किसी महामानव का चित्र उभारना चाहता हो, तो उसकी रचना महारचना हो उठती है, और तब उसका काव्य महाकाव्य बन जाता है। उसकी सिद्धि के लिये एक अखण्ड समाधि की आवश्यकता है। एक ऐसी अखण्ड समाधि, जिसमें 'प्रचेता' समाधिस्थ होकर (वल्मी पड़ने से) वाल्मीकि हो गए। तभी तो उन द्वारा 'आदि महाकाव्य' लिखा गया। तभी तो उन्हें आदिकवि की उपाधि मिली। अपने सहचर के वियोग से कातर क्रौञ्चपक्षी के रुदन से उत्पन्न हुआ शोक श्लोक बन जाना तो एक योग है, एक घटनामात्र, एक प्रसङ्गमात्र--उनके सुकुमार हृदय को उद्वेलित करने के लिये एक उपादान या यों कहिए कि रामकाव्य के सृजन के

१. काव्य मीमांसा—राजशेखर।
२. "O for a life of sensations, rather than of thoughts."
(Grecian Urn.)

हेतु अखण्ड समाधिस्थ होने के लिए एक निमित्त । यह समाधि काव्य के कलाकारों के लिये एक अखण्ड प्रेरणा है। महर्षि व्यास का महाभारत भी इसी सनातन साधना की परिणति है तभी तो वे भारत की बौद्धिक चेतना के व्याख्याता बन पाए । महाभारत का वस्तु पटल इसी लिये विशालतर है क्योंकि उसके कलाकार की कल्पना का वितान सारे भारत पर व्याप्त है, और उसकी महत्वाकांक्षाएं, आस्थाएं, अनास्थाएं और परम्पराएं इसकी छाया से आच्छादित हैं। कालिदास के अन्दर भी वही अखण्ड ज्योति जल रही है। महर्षि अरविन्द का कथन है कि वाल्मीकि, व्यास तथा कालिदास प्राचीन भारतीय साहित्य की अन्तरात्मा हैं। सब कुछ नष्ट हो जाने पर इनकी कृतियों में हमारे सांस्कृतिक इतिहास के प्राणतत्त्व पूरी तरह अक्षुण्ण एवं सुरक्षित रहेंगे। इन के काव्यों में हमारे सांस्कृतिक रिक्थ की त्रिवेणी प्रवहमान है । सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् के ये प्रतीक हैं। भारत ही नहीं, बल्कि ऐसे महाकाव्य प्रत्येक प्रौढ़ एवं समृद्ध साहित्य में मिलेंगे ।

यूनान के 'इलियड्' और 'ओडीसी' भी उस देश के नाभि-कमल से उत्पन्न-हुए हैं। सभी यूनानी संस्कृति के वे घनी भूत पुञ्ज हैं। यूनान की आस्थाओं-अनास्थाओं आशा-निराशाओं और उत्थान-पतनों के वे सजीव चित्र हैं, जिन में उस देश की कल्पनाएं और स्वप्न निहित हैं। कवि होमर तो यहां गौण हैं। इसी प्रकार लैटिन कवि वर्जिल का 'एनियड्' (३० ई० पू०) जिसमें रोम की, रोमन जाति की, रोमन सभ्यता और संस्कृति की और रोमन साम्राज्य की गाथा गाई गई है, लैटिन जाति के लिये उनकी टाइबर नदी के समान पुनीत है। आगे चल कर दांते की 'डिवाइन कामेडी' (१३०२-१३२१ के बीच) का भी यही स्थान है जिसमें मानव को नारकीय लोक से मुक्त करवा कर स्वर्लोक में अवस्थित किया गया है। है यह कोरी कल्पना, किन्तु इस कल्पना-प्रसूत महाकाव्य में मानवीय उच्चादर्शों महत्त्वाकांक्षाओं और जिजीविषाओं के सुन्दर स्वप्न संजोए गए, हैं, मानवीय प्रकृति के साथ जिनका सनातन सम्बन्ध है ।

जिस प्रकार रोमन भावनाएं 'एनियड्' में उच्छलित हुई हैं, इसी प्रकार अंग्रेज जाति को बिओवुल्फ (700 A. D.) जिसके नायक बिओवुल्फ को अपनी जाति की रक्षा करते करते अपने प्राणों की आहुति देनी पड़ती है, स्पेन्सर द्वारा लिखित 'फेअरी क्वीन' जिसमें महारानी एलिज़ाबेथ प्रथम को राष्ट्रीय भावनाओं का प्रतीक माना गया है, और जिस के पात्र सद्गुण श्रद्धा, पाप तथा पाखण्ड के प्रतीकोंके रूप में विश्व के

चिरन्तन संघर्ष को प्रस्तुत करते हैं कवि मिल्टन विरचित "पैराडाइज़ लॉस्ट', जिसमें स्वर्लोक से मानव के पतन का हृदय द्रावक चित्रण प्रस्तुत किया गया है, और टेनीसन रचित 'इडिल्स ऑफ दि किंग" जिसमें राजा आर्थर और उसके गोलमेज के योद्धाओं की रोमाञ्च-कारी घटनाओं को चित्रत किया गया है और एक आदर्श राज्य की स्थापना के लिये उस द्वारा किए गए विफल यत्नों का लेखा प्रस्तुत किया गया है, जैसे महाकाव्य उपलब्ध हैं।

वास्तव में महाकाव्य की रचना-संगठन के प्रति भारत के आचार्य जितने प्रबुद्ध रहे हैं, उतने पाश्चात्य आचार्य नहीं रहे। मध्ययुग में हर वर्णन प्रधान सुदीर्घ कविता को महाकाव्य माना जाता रहा। 'शान्सां द रोलां' के कृत्यों से प्रेरित होकर इटली में कई महाकाव्य लिखे गये। इस दिशा में लूजी पुल्सी (१४३२-८७) तथा लार्डो विको एरिओस्तो, जिसका "ओर्लेण्डो फयूरि-ओसो १५१६ ई० में प्रकाशित हुआ था, के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इसी समय इटली में धार्मिक भावनाओं से प्रेरित होकर तारक्वातो तास्सो ने "जेरुसलम डिलिवरड्" नामक एक सर्वोत्कृष्ट महाकाव्य लिखा। इटली के साहित्य में इसका विशेष स्थान है। पूर्वकालीन पुर्तगाली साहित्य भी महाकाव्यात्मक रचनाओं की दृष्टि से पर्याप्त समृद्ध है। किन्तु इस साहित्य के सर्वोत्कृष्ट महाकाव्यकार कैमोइन्ज (१५२४–८०) का स्थान सर्वोपरि है जिसका "ल्यूसिअड्स" (१५७२) का वही स्थान है जो हमारे यहां वाल्मीकि रामायण का है। स्पेनिश साहित्य में 'सिड् की कविता' जो ११३५–११७५ ई० के बीच लिखी गई का स्थान राष्ट्रीय महाकाव्य की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। किन्तु इससे भी ऊपर जुनेगा द्वारा विरचित 'एराओकना' (१५६९–९०ई०) का स्थान है जिसमे स्पेनिश कविता अपनी प्रगल्भता को छोड़ कर प्रौढ़ हुई पाई जाती है।

महाकाव्य के भारतीय आचार्यों ने भिन्न भिन्न लक्षण दिये हैं। सब से पहले भामह (समय छठी शती का मध्यकाल) ने काव्यालंकार में महाकाव्य के निम्न लक्षण दिए हैं :—

(१) महाकाव्य सर्गबद्ध होता है।
(२) वह महान् (विषय) का निरूपक होना चाहिए।
(३) उसमें अग्राम्य शब्द, सुन्दर अर्थ, अलंकार और सद्वस्तु होनी चाहिए।
(४) उसमें मन्त्र, दूतप्रयाण, युद्ध नायक का अभ्युदय और पाञ्च सन्धियां होनी चाहिए। बहुत

व्याख्या के योग्य न हो, उत्कर्षयुक्त हो ।

(५) धर्म आदि चारों वर्गों का वर्णन होने पर भी प्रधानतया उसमें अर्थ उपदिष्ट हो । उसमे लोक स्वभाव का वर्णन हो और सभी रसों का पृथक् निरूपण हो ।

(६) कुल, बल, शास्त्राध्ययन आदि से नायक का उत्कर्ष बता कर, फिर दूसरे का उत्कर्ष कहने की इच्छा से उस नायक का वध न दिखाया जाय ।

(७) यदि उसे (नायक) को काव्य शरीर में व्याप्त नहीं करना और उसका अभ्युदय न दिखलाना हो, तो उसका आश्रायण तथा पहले स्तुति करना भी व्यर्थ है ।१

आगे चलकर दण्डी (सातवीं शती का उत्तरार्द्ध) ने अपने काव्यादर्श में महाकाव्य की और विस्तृत परिभाषा की जिसमें आचार्य भामह की परिभाषा के साथ महाकाव्य के लिए कुछ अन्य लक्षण जोड़ दिये गए । दण्डी के अनुसार (जिस रचना में) अनेक सर्गों में जहां कथा वर्णित हो उसे महाकाव्य कहा जाता है ।

(१) वह आशीर्वाद, नमस्कार या वस्तु-निर्देश द्वारा आरम्भ होता है ।

(२) इसकी रचना का आधार ऐतिहासिक कथा या अन्य कोई उत्कृष्ट कथा होना चाहिए । चतुर्वर्ग (धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष) से युक्त होना चाहिए और इसका नायक चतुर एवं उदात्त होना चाहिए ।

काव्यालङ्कार

१. सर्गबन्धो महाकाव्यं महताञ्च महच्चयत् ।
अग्राम्य शब्दमर्थ्यञ्च सालङ्कारम् सदाश्रयम् ।।१।   ।।
मन्त्रदूत प्रयाणानि नायकाभ्युदयैश्च यत् ।
पञ्चभिः सन्धिभिर्युक्तं नाति व्याख्येयमृद्धिमत् ।।१।२०।।
चतुवर्गाभिधानेऽपि भूयसार्थोपदेशकृत् ।
युक्तं लोक स्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक् ।१ १।२१।।
नायकं प्रागुपन्यस्य वंशवीर्यश्रुतादिभिः ।
न तस्यैव वधंब्रूयदन्योत्कर्षाभिधित्सया ।।१।३२।।
यदि काव्य शरीरस्य न स व्यापितयेष्यते ।
न स्तवौ चाम्पुदय भाक्तस्य मुधादौ ग्रहण स्तवौ

(३) महाकाव्य में नगर, समुद्र, पर्वत, ऋतु तथा चन्द्र और सूर्य के उदय-अस्त, उपवन, जलक्रीड़ा मधुपान, प्रेमोत्सवादि का वर्णन होना चाहिए।

(४) इसमें विरहजन्य प्रेम, विवाह, कुमारोत्पत्ति, विचारविमर्श, राजदूतत्व, अभियान, युद्ध तथा नायक के जयलाभ आदि मनोहर प्रसङ्ग होने चाहिएं।

(५) यह विस्तृत तथा विभिन्न वृत्तान्तों से सुशोभित होना चाहिए। रस और भावों से भरा हुआ होना चाहिए। इसके सर्ग बहुत लम्बे लम्बे नहीं होने चाहिए। सर्गों के छन्द श्रव्य तथा सन्धियों से युक्त होने चाहिएं।

(६) सर्गों का अन्तिम श्लोक भिन्न वृत्त होना चाहिए। यह काव्य लोक रञ्जक तथा अलंकृत होना चाहिए।

(७) यदि उपर्युक्त अङ्गों में से कोई एक न्यून हो, तो भी यह काव्य दूषित नहीं हो जाता, यदि इसमें प्रतिपाद्य (विषय वस्तु रूप) सम्पत्ति सहृदयों के चित्त को आकृष्ट कर लेती है।

(८) पहले नायक के गुणों का वर्णन करके, फिर उस द्वारा उसके शत्रुओं की पराजय का वर्णन करना चाहिए। १

---

१. सर्गबन्धो महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम्।
आशीर्नमस्क्रिया वस्तु निर्देशो वापि तन्मुखम् ॥१।१४॥

इतिहासकथोदभूतमितरद्वासदाश्रयम्।
चतुर्वर्गफलायत्तं चतुरोदात्त नायकम् ॥१।१५॥

नगरार्णवशैलर्तु चन्द्रार्कोदयवर्णनैः।
उद्यान सलिलक्रीडामधुपान-रतोत्सवैः ॥१।१६॥

१. विप्रलम्भै र्विवाहैश्च कुमारोदयवर्णनैः।
मन्त्रदूत प्रयाणानि नायकाभ्युदयैरपि ॥१।१७॥

अलंकृतमसंक्षिप्तं रसभाव निरन्तरम्।
सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्रव्यवृत्तैः सुसन्धिभिः ॥१।१८॥

सर्वत्र भिन्न वृत्तान्तै रुपेतं लोक रञ्जनम्।
काव्यं कल्पोत्तर स्थायि जायते सदलङ्कृति ॥१।१९॥

न्यूनमप्यत्र यैः कैश्चिदङ्गैः काव्यं न दुष्यति।
मधुपात्रेषु संपतिराराधायति तद्विदः ॥१।२०॥

(६) शत्रु के वंश, पराक्रम तथा पाण्डित्य आदि का भी वर्णन करने के पश्चात् नायक द्वारा उस पर विजय प्राप्ति (के माध्यम से) नायक का उत्कर्ष दिखाना हमें सन्तोषप्रद है ।१

बाद में होने वाले आचार्यों -- आनन्द वर्द्धन (नवम शताब्दी का आरम्भ) भोज, (ग्यारहवीं शती का पूर्वार्द्ध), मम्मट (ग्यारहवीं शती का उत्तरार्द्ध) विश्वनाथ (१३००-१३५० ई०) और पण्डितराज जगन्नाथ (१६३०-१६६०? ई०) ने इन लक्षणों के साथ कोई विशेष लक्षण नहीं जोड़े । केवल भामह और दण्डी द्वारा दिये गए लक्षणों को ही अपने शब्दों में व्याख्यात किया ।

भारत में महाकाव्यों की एक सुदीर्घ एवं सुशक्त परम्परा रही है । इस देश में आदि कवि वाल्मीकि के रामकाव्य, महाभारत, बुद्ध चरित, सौन्दरानन्द (अश्वघोष), रघुवंश, कुमारसम्भव, शिशुपालबध, नैषधचरित, पृथ्वी राज रासो, रामचरितमानस, पद्मावत, प्रियप्रवास, साकेत कामायनी आदि महाकाव्यों का नाम विशेष उल्लेखनीय है ।

पाश्चात्य काव्य-शास्त्रीय सिद्धान्तों के मूल प्रेरणास्रोत यूनान के मेधावी आचार्य अरस्तु (ई०पू० ३८४-३२२ ई० पू०) हैं । उन्होंने अपने काव्य-सिद्धान्तों का विशद वर्णन अपने ग्रन्थ 'पेरि. पोइतिकेस' में किया है । इस ग्रन्थ का प्रधान विषय यद्यपि ट्रेजिडी का विश्लेषण है, तथापि उन्होंने कॉमेडी, तथा महाकाव्य की रचना पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है । महाकाव्य का वर्णन उन्होंने अपने काव्य शास्त्र के अन्त में भाग २३ तथा २४ में किया है । भाग २३ में वे कहते हैं, "जहां तक ऐसी काव्यानुकृति का प्रश्न है जिसका रूप समाख्यानात्मक हो और जिसमें एक छन्द का प्रयोग किया गया हो, यह स्पष्ट है कि उसके कथानक का निर्माण त्रासदी की तरह नाट्य-सिद्धान्तों के अनुसार ही होना चाहिए । उसका आधार आदि-मध्य-अवसान-युक्त एक समग्र एवं पूर्ण कार्य होना चाहिए । इस तरह अपनी अन्विति में यह काव्य रूप एक जीवन्त प्राणी-सा प्रतीत होगा और अपना विशिष्ट आनन्द प्रदान करेगा । संगठन में वह ऐतिहासिक रचनाओं से भिन्न होगा क्योंकि वे एक कार्य को नहीं

---

१. गुणत प्रागुपन्यस्य नायकं तेन विद्विषाम् ।
निराकरणमित्येव मार्गः प्रकृति सुन्दर : ।।१।२१।।
वंशवीर्य श्रुतादीनि वर्णयित्वा रिपोरपि ।
तज्जयान्नायकोत्कर्षकथनंच धिनोति न : ।।१।२२।।

वरन् एक कालखण्ड को और उस कालखण्ड में एक या अनेक व्यक्तियों से सम्बन्धित सभी घटनाओं को हमारे सम्मुख उपस्थित करती हैं --चाहे ये घटनाएं परस्पर असम्बद्ध क्यों न हों।"१ आगे वे भाग २४ में महाकाव्य की त्रासदी से तुलना करते हुए कहते हैं, "इसके अतरिक्त महाकाव्य के भी उतने ही प्रकार होने चाहिए और हैं जितने त्रासदी के--अर्थात् सरल, जटिल, नैतिक और करुण । गीत एवं दृश्य-विधान के अतिरिक्त दोनों के अङ्ग भी समान ही हैं क्योंकि इसमें भी स्थिति विपर्यय, अभिज्ञान एवं यातना के दृश्य आवश्यक होते हैं। साथ ही विचारतत्त्व एवं पदावली भी कलात्मक होनी चाहिए ।"२

"महाकाव्य में एक बड़ी विशिष्ट क्षमता होती है अपनी सीमाओं का विस्तार करने की.......।३ महाकाव्य को यह बड़ा लाभ है--जिससे उसकी प्रभाव-गरिमा की वृद्धि होती है, श्रोता का मनोरञ्जन होता है और विविध उपाख्यानों के द्वारा कथा की एकरसता दूर होती है ।"४ इन सभी व्याख्याओं को समक्ष रख कर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं :--

१. महाकाव्य एक समाख्यानात्मक काव्य रूप है ।
२. उसकी कथा का संगठन नाट्य-सिद्धान्तों के अनुसार होना चाहिए, अर्थात् उसके कार्य की सफल परिणति के लिये कथानक में (आदि मध्य-अवसानात्मक) अन्विति होनी चाहिए ।
३. इसकी कथावस्तु का आधार ऐतिहासिक होना चाहिए ।
४. इसमें चरित्र भव्य होने चाहिए ।
५. इसमें मुख्य घटना के साथ अन्य घटनाएँ भी सम्बद्ध होती हैं ।
६. इसमें भिन्न भिन्न दृश्य विधान होने चाहिएं ।
७. इसकी परिधि विस्तृत होती है ।
८. इसमे एक ही छन्द का प्रयोग होता है ।
९. इसमें एक विशिष्ट विचार तत्त्व विद्यमान रहना चाहिए ।
१०. इसका रूप एवं पदावली कलात्मक होती है।

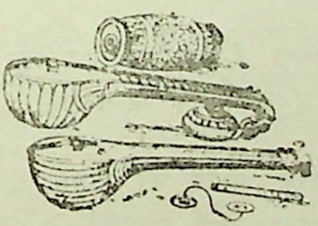
यूनानी साहित्य के बाद, लेटिन, और अंग्रेजी साहित्य के विकास में अरस्तु द्वारा संकेतित

---

१. अरस्तु का काव्य शास्त्र (हिन्दी रूपान्तर डा० नगेन्द्र), पृ० ६१.
२. तदेव पृ० ६२-६३.
३. तदेव पृ० ६३
४. तदेव पृ० ६३.

इन मूल लक्षणों में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन या परिवर्धन नहीं हुआ योरोप के साहित्य के काव्य शास्त्रीय सिद्धान्तों का मूलस्रोत यूनान और विशेषतया अरस्तु का पोइटिक्स ही है। जैसे हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं कि अरस्तु ने भारतीय आचार्यों की तरह महाकाव्य के लक्षण स्पष्टतया एवं पृथक्शः नहीं दिये, तो भी अपनी इस पुस्तक में उन्होंने त्रासदी की परिभाषा, व्याख्या, और साहित्य के अन्य अङ्गों से तुलना करते हुए जो कुछ भी कह दिया है, उनसे महाकाव्य के लक्षणों, उसकी संरचना और उसकी गरिमा पर पर्याप्त प्रकाश पड़ जाता है।

भारतीय महाकाव्य की संरचना के सिद्धान्तों के प्रतिकूल ये लक्षण बिल्कुल नहीं हैं। दोनों तरह के लक्षणों की तुलना करने से ऐसा प्रतीत होता है कि मानों ये लक्षण एक दूसरे के प्रतिरूप हैं। वस्तुतः मानवीय मस्तिष्क की धारणाएं प्रतिक्रियाएं और उद्भावनाएं किसी देश विशेष की मिट्टी से भिन्न नहीं हो जातीं। देश भक्ति की भावना से अनुप्राणित होकर जो व्यक्ति भारत में रह कर उसकी पर्वत श्रेणियों, नदियों, उद्यानों, वनस्थलियों और रम्य भूमियों से प्रेम कर सकता है, उसी भावना से प्रेरित होकर इंग्लैंड या किसी अन्य राष्ट्र का व्यक्ति भी अपने देश की वन्यस्थलियों से कर सकता है। इसलिये यदि यहां पर रामायण लिखी जा सकती है तो यूनानी साहित्य में इलियद् लिखा गया। यदि थोड़ा बहुत अन्तर है, तो वह दृष्टिकोण का। हमारे कवियों ने भारतीय आदर्शानुसार लोक मङ्गल को सामने रखा और काव्य के उद्देश्य को भी रस द्वारा 'पुरुषार्थ चतुष्टय' की सिद्धि का एक सशक्त माध्यम स्वीकार किया, और योरोपीय कवियों ने धर्म के साथ इसे न जोड़ते हुए मानवीय हितों और आनन्द का साधन बनाया जो भारतीय दृष्टिकोण से बहुत दूर नहीं पड़ता।



पुस्तक समीक्षा

गुरु नानक चमत्कार (द्वितीय भाग)

लेखक--भाई साहब डा० वीर सिंह

अनुवादक--प्रो० हरनाम सिंह, द्रोणाचार्य सनातन धर्म कालेज, गुड़गांव

प्रकाशक--भाई वीर सिंह साहित्य सदन

पृष्ठ संख्या--२८४

मूल्य--पांच रुपये मात्र

प्रस्तुत पुस्तक का पहला भाग १९६२ में उपर्युक्त प्रकाशकों द्वारा ही प्रकाशित हुआ था। यह दूसरा भाग है। मूल पुस्तक के लेखक पंजाबी साहित्य में आधुनिककाल के प्रवर्त्तक भाई साहब डा० वीरसिंह हैं। इस पुस्तक में गुरु नानकदेव जी की विभिन्न यात्राओं का वर्णन किया गया है। पुस्तक के शीर्षक के नीचे मूल लेखक द्वारा यह उल्लेख है:--"जीवन चरित्र साहब श्री गुरु नानकदेव जी जैसा कि उनके चरणों को प्राप्त पुरुषों के प्रसंगों द्वारा विहित होता है।"

पुस्तक विवरणात्मक शैली में लिखी गई है। यात्राओं का विवरण मूर्तिमान और सजीव है। यात्रा के विभिन्न प्रसंगों में गुरु जी द्वारा वाणी के उच्चारण करने का उल्लेख है और विभिन्न वार्तालाप भी हैं। उदाहरणार्थ नीचे के दो संदर्भ उद्धृत किये जाते हैं:--

१--"महाराज ने कहा--उठ! रबाब बजा, वाणी आई है। मरदाना उठा, अंगों में कोई बिजली की रौ फिर गई का पता चला और सावधान होकर गड्डी राग का स्वर छेड़ बैठा। तब श्री सतगुरु जी के दैवी कंठ से एक अत्यन्त बल वाली मेघ के समान गर्ज से भरी हुई ध्वनि उठी।"

पृष्ठ १५७

२--"गुरु जी! न मैं डरता हूँ, और न डर देता हूँ, मैं तो करतार के भय में हूँ और मेरी इच्छा है कि सभी उसी के भय में हों।"

पृष्ठ १५९

ये दो उदाहरण चरित्र नायक की जीवन पद्धति के भी उदाहरण हैं। गुरु नानकदेव जी ने अधिकांश वाणी यात्राओं के दौरान कही है और उनकी

वाणी उनके साथी मरदाना की रबाब के साथ सम्बन्धित रही है । दूसरी बात यह कि उन्होंने सदैव लोगों को यही उपदेश दिया कि एक ईश्वर में विश्वास करना चाहिए, तथा उस एक के ही भय में रहना चाहिए, उस एक को छोड़ कर ग्रन्य किसी से नहीं डरना चाहिए ।

ऐसे महान चरित्र नायक के पावन जीवन वृत्तान्त को पंजाबी से राष्ट्र-भाषा हिन्दी में उल्थाकर प्रो० हरनाम सिंह जी ने एक पुनीत कार्य किया है। ग्रनुवादक ने मूल विषय ग्रौर मूल रचना को सर्वथा ध्यान में रखा है इसमें भाषा विषय की वशर्वातिनी है । धार्मिक भाषा दैनिक भाषा से कुछ ग्रलग सी हुग्रा करती है । ग्रनुवादक ने बड़ी कुशलता से भाषा का प्रयोग विषय के ग्रनुकूल किया है । मध्ययुगीन भक्ति ग्रांदोलन पर प्रकाश डालने वाली यह पुस्तक हिन्दी साहित्य में एक बहुमूल्य वृद्धि है । ग्रनुवादक ने पंजाबी के प्रसिद्ध इस ग्रंन्थ का हिन्दी में ग्रनुवाद करके राष्ट्रभाषा एवं राष्ट्रीय एकता की दिशा में ग्रपूर्व योग दिया है ।

गुरु वाणी की पावनताग्रों (प्रामाणिकता को ध्यान में रखते हुए ऐ को ग्रै रूप में लिप्यन्तरित किया गया है ग्रौर इ को इि रूप में ताकि हिन्दी के पाठक पंजाबी के मूल पाठ का सही स्वरूप बोध गम्य पा सकें ।

सिंह शब्द को सिंघ करके लिखा गया है । इस सम्बन्ध में इतना निवेदन है कि देवनागरी लिपि-विज्ञान ग्रौर ध्वनि-विज्ञान के सिद्धान्त के ग्रनुसार है। ग्रक्षर से पहले ग्रौर ध्वनि-विज्ञान के सिद्धान्त के ग्रनुसार है ग्रक्षर से पहले ग्राने वाला कंठीय ग्रनुनासिक (Velar Nasal) 'ह' को कंठीय महाप्राण सघोष (Velar aspirated voiced) स्वयमेव बना देता है, इसलिये देव नागरी में सिंह ही ठीक है सिंघ नहीं क्योंकि सिंघ का उच्चारण ग्रंग्रेज़ी (Singh) न होकर ध्वनि-विज्ञान के ग्रनुसार (Singgh) हो जाएगा ग्रर्थात् दूपूरे कंठीय ग्रनुनासिक के बाद पूरा कंठीय महाप्राण संघोष होगा, जोकि वस्तुस्थिति के ग्रनुकूल नहीं । यह संभवतः इसलिये किया गया है कि पंजाबी में 'सिंह' का उच्चारण 'सिंघ' है ग्रौर नाम होने के कारण इसमें भाषा की दृष्टि से कोई विशेष ग्रन्तर नहीं पड़ता ।

ग्राशा है कि ग्रनुभवी एवं विद्वान् ग्रनुवादक इसी प्रकार भारतीय भाषाग्रों की समृद्धि में योग देते रहेंगे ग्रौर पाठक इससे लाभान्वित होते रहेंगे ।

—गुरुदत्त

सितम्बर, १९६५

राष्ट्रीय सुरक्षा कोष में दिल खोल कर धन दीजिए

हमारे जवान मातृभूमि की रक्षा के लिए अपना खून बहा रहे हैं। इस लड़ाई में आप भी एक सिपाही हैं। अपने अनेक खर्चों में कटौती कर पैसा बचाइए और दिल खोल कर राष्ट्रीय सुरक्षा कोष में जमा कीजिए। आपका दिया हुआ एक-एक पैसा देश के काम आएगा। जवानों की सहायता अपनी सुरक्षा है।

मेजर श्री सत्य प्रकाश वर्मा

प्राण दे दिये — चौकी ले ली

श्री सत्यप्रकाश वर्मा जी भारतीय वीरवाहिनी के अद्वितीय रत्न और अनुपम सेनानी थे। पजाब सरकार के उप शिक्षा सचिव माननीय श्री दीपचन्द वर्मा आई० ए० एस० के ये पुत्र-रत्न थे। ये १९६२ में ही कमिशनण्ड (आयुक्त) हुए थे और थोड़े ही समय में इन्होंनें मेजर के उच्च पद को पा लिया था।

बड़े दुःख और शोक की बात है कि ऐसा होनहार वीर तीन और चार सितम्बर १९६५ की मध्य रात्रि में पराक्रम से शत्रुओं को पछाड़ते हुए वीरगति को प्राप्त कर चुके हैं भारत राष्ट्र को इनके पराक्रम और साहस पर उचित गर्व और अभिमान है।

काश्मीर के मोर्चे पर इनके नेतृत्व में इनकी सेना ने संजोई की सामरिक महत्त्व की चौकी को इन्होंने ही लिया है। टिथवाल से आगे पाकिस्तान की भीरू सेना खन्दकों में छिपी पड़ी थी ऐसे समय में मेजर सत्यप्रकाश वर्मा जी ने अद्वितीय साहस तथा पराक्रम का परिचय देते हुए उन पर धावा बोल दिया। पाकिस्तानियों की भारी प्राण-हानि हुई और वे चौकी खाली छोड़ने पर मजबूर हो गये। चौकी तो प्राप्त हो गई परन्तु मेजर वर्मा हम से सदा के लिए पृथक् हो गये।

धन्य हैं मेजर वर्मा की माता तथा पिता जिन्होंने भारत माता को ऐसा वीर शिरोमणि पुत्र दिया।

—परमानन्द

हिन्दी प्रेमियों के लिए

अपूर्व अवसर

जन-साहित्य एवं सप्तसिन्धु के

आगामी विशेषांक

अक्तूबर-नवम्बर मास में

स्व० पं० जवाहरलाल नेहरू जी की पुण्य-स्मृति में प्रकाशित किये जा रहे हैं ।

जन-साहित्य	सप्तसिन्धु
हरियाणवी लोक मानस की एक झलक	उपभाषा विशेषांक (हरियाणवी एवं पर्वतीय लोक भाषाओं का वैज्ञानिक अध्ययन)

इन विशेषांकों में देश के सुप्रसिद्ध भाषाविज्ञों एवं लोक-साहित्य के विशेषज्ञों के लेख होंगे ।

विशेष नोट :--पाठकों से विशेष अनुरोध है कि वे अपनी प्रति अभी से सुरक्षित करवा लें । प्रत्येक प्रति का मूल्य एक रुपया । स्थायी ग्राहकों से अतिरिक्त मूल्य नहीं लिया जायेगा ।

निदेशक,
हिन्दी विभाग, पंजाब, पटियाला

श्री लाल सिंह, डायरेक्टर जनरल, भाषा विभाग, पंजाब, पटियाला द्वारा प्रिंटिंग एण्ड स्टेशनरी डिपार्टमेंट, पंजाब, पटियाला से छपवाकर प्रकाशित किया गया ।

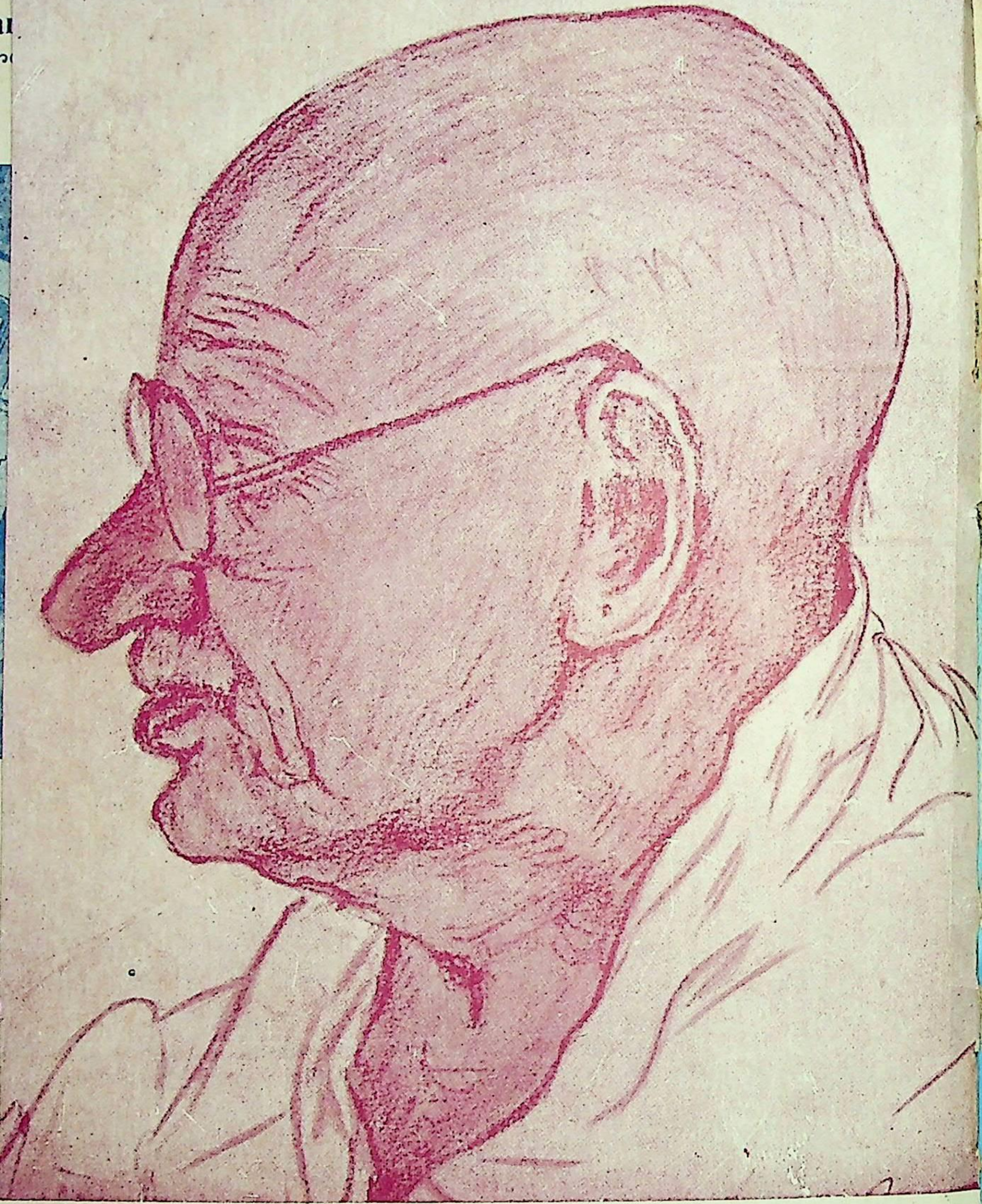
सम्पादक--डा० परमानन्द

सप्तसिन्धु

अक्तूबर, १९६५

हिन्दी विभाग, पंजाब, पटियाला

५० न०पै०



यदि कायरता और हिंसा के बीच चुनाव करना हो तो मैं हिंसा की सलाह दूंगा।

सप्तसिन्धु

(मासिक प्रकाशन—अकतूबर, १९६५)

वर्ष १२ अंक १०

सम्पादक——डा० परमानन्द

परामर्श समिति

श्री कृष्ण मधोक (सहायक निदेशक, अनुवाद)

श्री त्रिलोकीनाथ रञ्जन (सहायक निदेशक, कोश)

श्री ओम् प्रकाश भारद्वाज संयोजक (सहायक निदेशक, विकास)

श्री गुरुदत्त शर्मा (सहायक निदेशक, अनुवाद)

श्री हरिचन्द पाराशर (सहायक निदेशक, अनुवाद)

हिन्दी विभाग, पंजाब, पटियाला।

विशेष सूचना

'सप्तसिन्धु' के सभी ग्राहकों को सूचित किया जाता है कि 'सप्तसिन्धु' का 'उपभाषा अंक' कुछेक कारणों वश अक्तूबर-नवम्बर की बजाये नवम्बर-दिसम्बर ६५ में प्रकाशित होगा।

यह अंक दिसम्बर ६५ में प्रकाशित होगा इसलिए नवम्बर ६५ में 'सप्तसिन्धु' नहीं भेजा जायेगा।

जिन ग्राहकों का चन्दा नवम्बर मास में समाप्त हो रहा है उन्हें चाहिए कि वह अपना आगामी वर्ष का चन्दा भेज दें ताकि उन्हें विशेषांक समय पर भेजा जा सके। अन्यथा उन्हें विशेषांक के बदले जनवरी ६६ का अंक भेजा जायेगा क्योंकि यह अंक दो मास का इकट्ठा होगा।

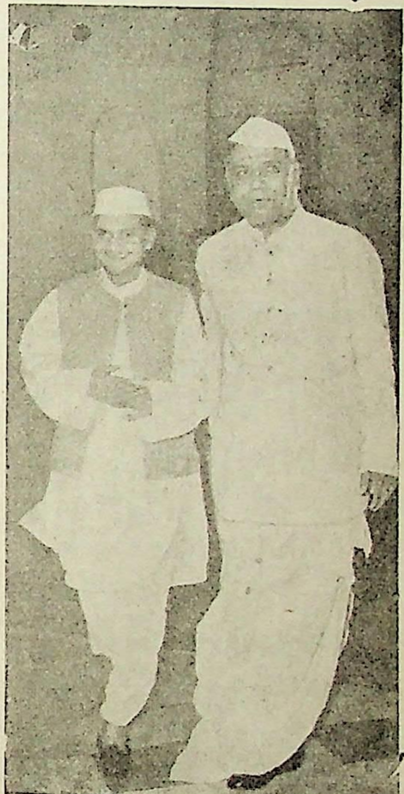
——सम्पादक

एक साथ चलो—

मिलजुल कर काम करो !

"देश के अलग अलग भागों में रहने वाले लोगों की धारणाएं कुछ खास मामलों में चाहे जितनी भी दृढ़ हों, उन्हें यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि वे पहले भारतीय हैं, और यह कि उन्हें अपने सभी विवादों का हल एक राष्ट्र और एक देश के अपरिवर्तनीय ढांचे में रहकर ही करना है। आइए, हम इस एकता की भावना को दिलों में जगह देने की पूरी कोशिश करें और राष्ट्रीय एकता को मजबूत बनाएं।"

—लाल बहादुर शास्त्री
प्रधान मंत्री



मेजर श्री सत्य प्रकाश वर्मा

प्राण दे दिये – चौकी ले ली

श्री सत्यप्रकाश वर्मा जी भारतीय वीरवाहिनी के अद्वितीय रत्न और अनुपम सेनानी थे। पंजाब सरकार के उप शिक्षा सचिव माननीय श्री दीपचन्द वर्मा आई० ए० एस० के ये पुत्र-रत्न थे। ये १९६२ में ही कमिशनण्ड (आयुक्त) हुए थे और थोड़े ही समय में इन्होंने मेजर के उच्च पद को पा लिया था।

बड़े दुःख और शोक की बात है कि ऐसा होनहार वीर तीन और चार सितम्बर १९६५ की मध्य रात्रि में पराक्रम से शत्रुओं को पछाड़ते हुए वीरगति को प्राप्त कर चुके हैं भारत राष्ट्र को इनके पराक्रम और साहस पर उचित गर्व और अभिमान है।

काश्मीर के मोर्चे पर इनके नेतृत्व में इनकी सेना ने संजोई की सामरिक महत्त्व की चौकी को इन्होंने ही लिया है। टिथवाल से आगे पाकिस्तान की भीरू सेना खन्दकों में छिपी पड़ी थी ऐसे समय में मेजर सत्यप्रकाश वर्मा जी ने अद्वितीय साहस तथा पराक्रम का परिचय देते हुए उन पर धावा बोल दिया। पाकिस्तानियों की भारी प्राण-हानि हुई और वे चौकी खाली छोड़ने पर मजबूर हो गये। चौकी तो प्राप्त हो गई परन्तु मेजर वर्मा हम से सदा के लिए पृथक् हो गये।

धन्य हैं मेजर वर्मा की माता तथा पिता जिन्होंने भारत माता को ऐसा वीर शिरोमणि पुत्र दिया।

—परमानन्द

कवि अज्ञेय—

महाशून्य के साधक

डा० कुमार

कवि (स्रष्टा) सीधे अथवा प्रकारान्तर से आत्म तत्त्व और विराट पर विचार किये बिना रह नहीं सकता है। उसकी दृष्टि भौतिक जगत के विविध रूपात्मक दृश्यों तक सीमित न रह कर, इसके मूल में संघटित किसी अलौकिक सत्ता की अनुभूति करती है। इस रहस्य के प्रति उद्‌गार अनेक प्रकार से प्रकट होते आये हैं। परन्तु तब भी कवि वाणी को संतोष न हुआ है न होगा। आधुनिक युग में जबकि एक सिरे से आत्म तत्त्व और विराट में अनास्था प्रकट की जाती है, कवि अज्ञेय ने अपने संकलन "आंगन के पार द्वार" के चक्रान्त शिला खण्ड में २७ कविताओं में आत्मा और महाशून्य (उनके लिये विराट का द्योतक शब्द) के पारस्परिक संबंध, प्रकृति आदि पर अभिव्यक्ति दी है। प्रयोगवादी काव्य धारा के संवाहक प्रवाहक अज्ञेय का यह नूतन भावलोक है। पर इसमें कवि परम्परा से अलग नहीं हो पाया। साधरणतः अव्यक्त विराट और अनुभूतिगम्य आत्म तत्व को अब तक कवि-प्रतीक के माध्यम से ही व्यक्त करते रहे हैं। अज्ञेय ने भी प्रतीकों को ही आधार बनाया है, नये भी और परम्परा मुक्त भी। अज्ञेय ने जापान की यात्रा की थी। इस यात्रा ने उनके आत्म चिंतन को नया मोड़ दिया है। बौद्ध धर्म की ध्यान पद्धति में उनकी आस्था को केन्द्र मिला और इसी के अनुरूप उन्होंने विराट को "महाशून्य" कहा है। यद्यपि "रात में जागा" प्रथम पंक्ति वाली कविता मे ईश्वर शब्द का प्रयोग भी हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कवि के पास अनुभूति तो है पर अभिव्यक्ति देने को माध्यम नहीं है। लगता है यहां उसकी प्रयोगशीलता भी चुक गई है। अस्तु!

अज्ञेय जी का यह महाशून्य—असीम है। मन इसे जानने और समझने के लिए

प्रतीकों की भाषा ढूंढना चाहता है, वह पाता है कि नानारूपात्मक संसार में वह "महाशून्य" अरूप बनकर निहित है। गोचर पदार्थों में वही अगोचर रूप में समाया हुआ है। उसका अनुभव इन्द्रियातीत है। (सूरदास ने भी 'मन वाणी को अगन अगोचर' कहा है)--

"यह महाशून्य का शिविर
असीम छा रहा ऊपर
नीचे यह महामौन की सरिता

× × ×

रूपों में एक अरूप सदा खिलता है

× × ×

अनुभव में एक अतीन्द्रिय

कवि को "महाशून्य" की व्यापकता असीमता का अनुभव तो होता है, पर, प्रकट नहीं कर पाता, अतएव मौन अनुभूति को ही जीता है, भोगता है। उसकी अनुभूति मौन में ही मुखर होती है--

"मैं, मौन मुखर, सब छन्दों में उस
एक अनिर्वच, छन्द-मुक्त को गाता हूं।"

विराट पर विचार व्यक्त करने वाला सृष्टि से निरपेक्ष नहीं रह सकता, सृष्टि महाशून्य का ही गोचर लीला विलास है, सृष्टि में ही तो वह अभिव्यक्त होता है। "चक्रान्तशिला" खण्ड की द्वितीय कविता में सृष्टि के प्रतीक द्वारा मानव जीवन के तत्त्व को कहा गया है। वन में प्रवाहित सोते के समान ही मानव जीवन गतिशील है। पक्षियों के रव सदृश ही उसकी मुखरता है, वृक्ष की नवीन कोयलों के समान वह भी नया जीवन झेलता है साथ ही साथ तरु के जीर्ण-शीर्ण दलों की भांति कहीं अपने में ही शीर्ण भी होता रहता है, पुनः नया जीवन पाता है। बौद्ध विचारणा के अनुसार अज्ञेय ने यहां पुनर्जन्म में विश्वास प्रकट किया है--

मैं सोते के साथ बहता हूं,
पक्षी के साथ गाता हूं
वृक्षों के, कोयलों के साथ थरथराता हूं,
और उसी अदृश्य क्रम से, भीतर ही भीतर
झरे-पत्तों के साथ गलता और जीर्ण
होता रहता हूं।
नये प्राण पाता हूं"

परन्तु यह अनुभूति भी कवि को मौन में ही होती है, यह विराट को भी "मौन" ही मानता है और इसलिये "मौन" में ही उसे अनुभूतिगम्य समझता है। अपना ज्ञान भी उसे मौन में होता है, और इस ज्ञान की उपलब्धि होते ही वह उस महा मौन से जुड़ जाता है। इस परिणति में मौन के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, केवल मौन ही है। परन्तु वैदिक मान्यता के अनुसार कवि उस महाशून्य को "अपरिवर्त" "अपौरुषेय" तथा अद्वैत दर्शन की भांति सब को उसमें समाया हुआ भी कह देता है। इससे ऐसा लगता है कि अज्ञेय के शब्द--जो बाह्य हैं वे तो बौद्ध दर्शन के हैं पर उनके अर्थ वैदिक ही

है। इस दृष्टि से यह पंक्तियां उल्लेख्य हैं —

पर सबसे अधिक मैं
वन के सन्नाटे के साथ मौन हूं
क्योंकि वही मुझे बतलाता है कि मैं कौन हूं
जोड़ता है मुझ को विराट से
जो मौन, अपरिवर्त है, अपौरुषेय है
जो सबको समोता है। (पृ. ४०)

जब कवि को यह अनुभूति हो जाती है कि आत्मा उस अपौरुषेय अपरिवर्त का ही अंश है तो जैसे उसकी शिराओं में कहीं कोई संगीत गूंज उठता है, ऐसा संगीत जिसने उसकी आत्मा को, पोर-पोर को अभिभूत कर दिया है। आह्लाद का ज्वार उठता है और इसके पश्चात् एक अवर्णनीय आलोक के समुद्र में वह डूब जाता है, उसकी आत्मा में उन्मेष होता है। इस दिव्य संगीत की अनुभूति की बात योगियों ने भी अनहद नाद के संदर्भ में कही है।

गूंज गूंज कर आते हैं, आह्वान के स्वर
भीतर अपनी शिरा शिरा से
उठते हैं आह्वान और सम्मान के स्वर
पीछे, अध–डूबे अवसान के स्वर
फिर सब से नीचे, पीछे, भीतर, ऊपर
एक सहस आलोक–बिद्ध उन्मेष
(पृ. ४१)

"मौन" की इस दिव्य स्थिति में ही, वासनाएँ, दाह, लीन हो जाते हैं ऋत प्रकाशित हो जाता है, ज्ञप्त हो जाता है। इस मौन की पुनीत निद्रा में ही वह सहसा जैसे महाशून्य के आलिंगन में बंध जाता है —

"पुनीत
गहरी नींद की
उसी में से तू
बढ़ा कर हाथ
सहसा खींच लेता
गले मिलता है

अज्ञेय जी ने इस "महाशून्य" को "ईश्वर" भी कहा है (संभवत: वे परम्परामुक्त नहीं हो पाये ?) अज्ञान में, अंधकार में डूबी आत्मा को यह ईश्वर जगाता है —एक दिव्य संगीत द्वारा। और जब आत्मा इस संगीत को समझ लेती है तो ऊषा की बाढ़ आ जाती है, स्फूर्ति दीप्ति, प्रकाश, कोमलता, आनन्द आदि आत्मा के सहज गुण उभर आते हैं, दिशाएं प्रकाशपूरित हो जाती हैं :

रात में जागा

× × ×

यह सन्नाटा नहीं
झरोखे के बाहर
ईश्वर गाता था
इसी बीच फिर
बाढ़ ऊषा की आयी।

विराट की निस्सीमता और आत्मा की सीमितता, अबोधता को कवि ने क्रमश: वारि और अंजुली के प्रतीक द्वारा व्यक्त किया है। वारि अंजुली में

नहीं समा सकती, उसी प्रकार वह विराट आत्मा में कैसे समा सकेगा, उसकी अनंत करुणा, ज्ञान, आत्मा में कैसे ज्ञप्त हो ? तब भी अंजुली में भर कर वापिका के स्वाद से तो परिचित हुआ ही जा सकता है । यह जो कुछ ओठों तक आ पाता है वह ऐसा प्रभाव छोड़ता है कि हृदय तक लकीर सी खिंच जाती है । धुंध के कारण वापिका का रहस्य सुलझ नहीं पाता । अलौकिक स्वाद में डूब कर दृष्टि अपनी सीमितता को विस्मृत कर देती है, वह भूल जाती है कि वापिका अंजुली में नहीं समा सकती । उस स्वाद को पाने के लिये बार बार अंजुली भरती है, पर धुंध बढ़ती ही जाती है । परन्तु कवि को विश्वास है कि वापी की धुंध मिट जायेगी और जल स्फटिक के सदृश स्वच्छ हो जायेगा । अपनी आशा में कवि बेकल है--

धुंध से ढकी हुई
कितनी गहरी वापिका तुम्हारी,
कितनी लघु अंजली हमारी

× × ×

उत्कंठा की ओक वही द्रव भर ओठों
तक लाती है
बिजली की जलती रेखा-सी
कण्ठ चीरती छाती तक खिंच जाती है

× × ×

किन्तु एक दिन खुल जायेगा
स्फटिक-मुकुर-सा निर्मल वापी का जल

पुनः कवि सोचता है, संभवतः वही धुंध वह माध्यम है जिससे विराट की करुणा, रात-दिन बंटती रहती है । और कवि इस भाव से अभिभूत हो कह उठता है--

करूणा धाम
बीजमंत्र यह, सार सूत्र यह, गहराई
का एक यही परिणाम
हमारा यही प्रणाम

इसी खंड की बारहवीं कविता में अज्ञेय का रहस्यवाद उसी माधुर्य भाव से प्रेरित है जो सदियों पूर्व कबीर की इस वाणी में मुखर हुआ था --

"दुलहिन गावहु मंगलाचार"

अज्ञेय की भोली, कंवारी आत्मा भी महाशून्य की वधुका है, परिणीता है !--

अरी ओ आत्मा री
कन्या भोली कंवारी
महाशून्य के साथ भांवरे तेरी रची गयी ।

कबीर ने प्रतीक का सहारा लिया था, अज्ञेय ने स्पष्ट ही कह दिया है । और अब वह आत्मा पूर्ण समर्पिता है, एक महाशून्य ही इसे स्पर्श कर पायेगा । वह जो समझायेगा, यह यही समझेगी । मीरा में भी यही महासमर्पण भाव था । अज्ञेय ने कहा है--

उद्देश्य, उसे जो भावे, लक्ष्य वही
जिस ओर मोड़ दे वह तेरा पथ मुड़-
मुड़ कर सीधा उस तक ही जायेगा
ओ आत्मा री
तू गयी वरी

"ओ आत्मा री तू गयी वरी" में एक विवशता जैसा भाव परिलक्षित होता है, यह आत्मा की अंतिम नियती का संकेत है । यहां रूपक का सहारा अज्ञेय ने लिया है । जिस प्रकार कन्या विवाहोपरांत नये वातावरण में जाती है, उसे अपने पूर्व परिजन छोड़ने पड़ते हैं । वैसे ही अज्ञेय आत्मा को मानते हुए कहते हैं --

हां छूट चला यह घर उपवन
आंखें भर कर ले फेर

"आंखें भर कर ले फेर" में अज्ञेय भौतिक अधिक हो गये हैं, अध्यात्मक का निर्वाह इस पंक्ति में नहीं होता । असंपृक्तता कवि की, समस्त कविता में झलकती है । कवि जैसे अलग खड़ा होकर आत्मा से कह रहा हो । अज्ञेय का यह वैवाहिक रूपक एकदम भारतीय है-- जहां वधु पति की एकनिष्ठ समर्पिता होती है, वही इसका धर्म-कर्म और गति अगति होता है । पत्नी, पति की अनुगा होती है ।

कन्या—वधुका,
उसकी अनुगा
वह महाशून्य ही अब तेरा पथ
लक्ष्य, अन्न, जल पालक पति
आलोक धर्म

महाशून्य के संबंध में अज्ञेय ने कहा है । वह तेजोमय है, ऐसा कि दृष्टि आपसे आप उसके समक्ष नत हो जाती है । उसका एक स्पर्श रोमांच शांत कर देता है । मन का तीव्र गति वाला रथ भी उसके पदनख तक नहीं पहुंच सकता । उसकी तुलना में आत्मा--

निरस्त, निर्वसन, निस्साधन निरीह
इस लिये,
अकेली

यह अज्ञेय के भक्त हृदय की अभिव्यक्ति है, जिसमें स्वयं का दैन्य और विराट का महत्व स्वीकारा गया है । विराट काव्य की भांति ही शाश्वत है, कवि इस काव्य का द्रष्टा है --

मैं कवि हूं
द्रष्टा, उन्मेष्टा
तू काव्य,

× × ×

अव्यय

अज्ञेय ने इस सृष्टि को शून्य से उत्पन्न और अन्त में शून्य में ही विलीन होने वाली कहा है --सृष्टि का आदि और अंत यह ज्योतिमय शून्य ही है । इसीलिये कवि इस शून्य की साधना में लीन है और अनजाने इस शीतल ज्योति में कवि की आत्मा निमज्जित हो जाती है, अभिषिक्त हो जाती है ।

चेतना मेरी बिना जाने
प्रभा में निमजती है
मैं स्वयं
उस ज्योति से अभिषिक्त
सजता हूं (पृ. ५८)

बौद्ध धर्म से प्रभावित अज्ञेय ने भी इस सृष्टि को, जरा-मृत्यु, मिलन-वियोग, दु:ख-सुख गति-अगति का अंतहीन संभार कहा है । काल-पुरुष सृष्टि की शिला पर इन्हीं जरा-मृत्यु इत्यादि को अनवरत लिखा करता है । परन्तु ईश्वर-योगी (बुद्ध)--इससे निरपेक्ष, उज्ज्वल शिला पर शांतचित्त, विगत शोक, राग-द्वेष हीन होकर, अपनी स्मिति से काल के लेख को भी मिटा देता है । कवि उससे प्रार्थना करता है कि वह अपनी स्मिति उसके हृदय मे भी भर दे, जिससे अशाश्वत सभी मिट जाय और उसे अपनी पूर्णता प्राप्त हो सके--

इस धवल शिला पर यह आलोक स्नात
उजला ईश्वर योगी, अक्लांत शान्त,
अपनी स्थिर धीर, मन्द स्मिति से
वह सारी लिखत मिटाता जाता है ।
योगी
वह स्मिति मेरे भीतर लिख दें
मिट जाय सभी जो मिटता है
वह अलम होगी (पृ० ६०)

बुद्ध के लिये कवि ने अनेकानेक विशेषणों का प्रयोग किया है, जैसे "अदम-आकांक्षा के विश्राम", "ओ आत्म साक्ष्य के मुकुर", "सत्ता करुणा", "मन्त्रों के शक्ति स्रोत" आदि ।।

(कविता -२२, चक्रांत शिला खंड)-

"अदम आकांक्षा क विश्राम
वस्तु-तत्व के बन्धन से छुटकारे के
ओ शिला भूत संकेत,
ओ आत्म-साक्ष्य के मुकुर" (पृ० ६५)

और इस सब के अंत में कवि कहता है कि दूज का चांद उसके घर आंगन का दिया है जो उसने विराट के विशाल मन्दिर (आकाश) के आंगन में रख दिया है, सहमा सा, क्योंकि विराट के लिये उसके मन में सहमने का ही भाव है, अकिंचनता का भाव है ।

कवि अज्ञेय की अब तक की कविताओं में "आंगन के पार द्वार" की ये कविताएं निश्चय ही उनकी विचार-धारा का नूतन प्रवाह है । यह उनकी अतियथार्थता की प्रतिक्रियात्मक परिणति भी कही जा सकती है । परन्तु अज्ञेय जी की इस अनुभूति में नूतनता नहीं है । यह शाश्वत अनुभूति है । अवश्य ही, इसका बाह्य आवरण नूतन है जो स्वाभाविक भी है । देखें, अज्ञेय की आने वाली सृष्टि क्या लाती है, इसी भावलोक का विकास या कुछ और--

राहुल जी का यात्रा-साहित्य

डा० जयभगवान गोयल

यह संसार संचरणशील है और इसकी मोहमाया में लिप्त जीव भी जब तक मुक्ति प्राप्त नहीं कर लेता आवागमन के चक्र में पड़ा हुआ एक योनि से दूसरी योनि में संचरण करता रहता है। मनुष्य का संसारिक जीवन भी एक लम्बी यात्रा है। आज मनुष्य जिस स्थिति को प्राप्त है वह इसी दीर्घ यात्रा का फल है। मनुष्य को अपने विकास के लिये निरन्तर गतिशील रहना पड़ा है! "ऐतरेय ब्राह्मण" में मनुष्य की आध्यात्मिक और आधिभौतिक उन्नति के लिये "चरैवेति चरैवेति' के मंत्र द्वारा उस के सतत् गतिशील रहने पर जोर दिया गया है। मनुष्य के व्यावहारिक जीवन में यात्रा के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए दामोदर गुप्त लिखते हैं कि "जो लोग घूम फिर कर लोगों के वेश, स्वभाव है और बातचीत का अध्ययन नहीं करते वे बिना सींग के बैल के समान हैं।१ इसी प्रकार 'सुभाषितरत्न भांडागार' में बताया गया है कि जो देश की यात्रा नहीं करता और पंडितों की सेवा नहीं करता उसकी संकुचित बुद्धि पानी में पड़े घी की बूंद की तरह स्थिर रहती है, इस के विपरीत जो यात्रा करता है, और पंडितों की सेवा करता है उसकी विस्तारित बुद्धि पानी में तेल की तरह फैल जाती है।२ वस्तुतः यात्रा भी ज्ञान और शिक्षा का एक प्रमुख साधन है और उस से मनुष्य की बुद्धि का विस्तार होता है। राहुल जी ने "घुमक्कडशास्त्र' में घुमक्कड़पन को संसार का सब से बड़ा धर्म कहा है क्योंकि इस से मानववादी भावना का विकास होता है।

भारत में प्राचीन काल से यात्रा का महत्त्व मान्य रहा है और भारतीय साहित्य में अनेक भारतीयों और विदेशियों की यात्राओं के रोचक विवरण मिलते हैं। वेदों, ब्राह्मणग्रंथों, पुराणों, महाभारत, रामायण, बौद्ध तथा जैन-साहित्य एवं परवर्ती संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश

१. कुट्टनीमतम्—श्लोक २१२।
२. सुभाषितरत्न भांडागार, पृ० ८८।

साहित्य में ऐसी अनेक यात्राओं का वर्णन किया गया है, जिन से पता चलता है कि यात्रा सम्बन्धी सीमित साधनों के उस युग में भी जब कि यात्रियों को मार्ग में अनेक बाधाओं, कष्टों, विपत्तियों और कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था, लोग ज्ञानर्जन, व्यापार, मनोरंजन, युद्ध अथवा धार्मिक भावना से बहुसंख्या में यात्राएं करते थे। इस यात्रा साहित्य में यात्रा साधनों, कुछ यात्रा–मार्गों, मार्ग की कठिनाइयों और आराम व विश्राम–व्यवस्था का भी विवरण मिलता है। ये यात्रा–विवरण उस युग के राजनैतिक इतिहास, भौगोलिक विवरण, सामाजिक व्यवस्था, सांस्कृतिक चेतना, साहित्यिक समृद्धि, तथा आर्थिक दशा पर भी प्रकाश डालते हैं। इन में यात्रा–क्षेत्रों का सूक्ष्मता से निरीक्षण करते हुए, दृश्यों का सजीव और यथार्थ चित्रण किया गया है, जिस का साहित्यिक मूल्य भी कम नहीं है। निःसन्देह भारत में यात्रा साहित्य की एक विकसित और समृद्ध परम्परा मिलती है।

हिन्दी में यात्रा–साहित्य के दर्शन १६वीं शती से होने लगते हैं परन्तु १९वीं शती तक उसका विशेष विकास नहीं हो पाया। इस युग के यात्रा साहित्य में विट्ठल जी की वनयात्रा (१६००), सेठ पद्म सिंह की यात्रा (१९०५), वात दूर देश की (१८८६) बदरी यात्रा कथा (१८८८) आदि कुछ ग्रंथों का ही उल्लेख किया जा सकता है। कलात्मक दृष्टि से भी इनका विशेष महत्त्व नहीं है। इन में प्रायः धार्मिक भावना ही मुख्य है।

वैज्ञानिक युग के साथ यातायात के साधनों की वृद्धि से देश और विदेश की यात्राएं बहुत सुगम, सरल और सुखद हो गई हैं। इसी युग में भारतीयों का पाश्चात्य देशों से सम्पर्क बढ़ा, उनकी व्यापारिक, राजनैतिक और शिक्षा सम्बन्धी आवश्यकताओं ने भी उन्हें विदेशों की यात्राओं के लिए प्रेरित किया और इस प्रकार भारतीयों का यात्रा–क्षेत्र विस्तृत हुआ तथा उन के उद्देश्यों में भी वृद्धि हुई।

वस्तुतः हिन्दी यात्रा साहित्य का वास्तविक विकास गद्य की अन्य विधाओं के साथ २०वीं शती में ही हुआ। इससे पूर्व एक तो हमारा यात्रा-क्षेत्र सीमित था दूसरे, हिन्दी गद्य का स्वरूप भी स्थिर नहीं था। पत्र–पत्रिकाओं में छोटी छोटी यात्राओं के विवरण ही प्रकाशित होते रहते थे। भारतेन्दुकाल तक प्रायः यही स्थिति रही। भारतेन्दु ने अपनी कुछ यात्राओं का वर्णन अवश्य ही रोचक ढंग से किया है, जिस में प्राकृतिक सौन्दर्य के साथ ही लोगों के रहन सहन, रीति रिवाज, खान–पान आदि पर भी प्रकाश डाला गया है। इनके अतिरिक्त प्रतापनारायण

मिश्र, दामोदर शास्त्री, भगवान दास वर्मा, तोताराम वर्मा, देवीप्रसाद खत्री आदि ने भी कुछ यात्रा संस्मरण लिखे। द्विवेदी युग में भी यात्रा साहित्य की विशष प्रगति नहीं हुई यद्यपि अब यात्राएं अपेक्षाकृत अधिक होनें लगी थीं तथापि उन में यात्रियों की धार्मिक भावना अथवा श्रद्धा–भक्ति ही मुख्य है या फिर यात्रा–स्थानों की प्रशंसा की गई है। न तो उन के साहित्य में प्रौढ़ वर्णनात्मक शैली के दर्शन होते हैं और न ही स्थिति का वैज्ञानिक विश्लेषण मिलता है।

इस युग में आकर हिन्दी में यात्रा साहित्य की खूब अभिवृद्धि हुई है। देश–विदेश की यात्राओं से सम्बन्धित ४०–५० लखकों के कोई ८०–९० ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। इस के अतिरिक्त विभिन्न पत्र–पत्रिकाओं में भी अनेक यात्रा–लेख प्रकाशित होते रहे हैं। इस युग में हिन्दी यात्रा साहित्य ने जो प्रगति की है उस में राहुल जी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। राहुल जी सच्चे अर्थों में एक 'घुमक्कड़' थे। इन के लिए अधिक समय तक एक स्थान पर टिके रहना प्रायः असम्भव था। घूमने की यह प्रवृत्ति उन में जन्मजात थी। बाल्य–अवस्था से ही उन के मन में नए स्थानों को देखने की लालसा बनी रही है और जीवन भर वे इस लालसा की पूर्ति मन भरकर करते रहे। अपने जीवन के कोई ४० वर्ष उन्होंने विभिन्न स्थानों की यात्राओं में व्यतीत किए। इस अवधि में उन्हें उत्तराखण्ड, कनैला, हरिद्वार, केदारनाथ, बदरीनाथ, मद्रास, तिरुमल, तिरुमिशी, तिरुपति, बाला जी, कांचीपुर, रामेश्वर, चित्रकूट, मैसूर, बंगलोर, कुर्ग, पंजाब, सीमाप्रांत, बुशहर, श्रीनगर, लेह, लुम्बिनी, कपिलवस्तु, सारनाथ, नालन्द, बोद्धगया, सांची, संकिया कोशम्बी, कसया, लद्दाख आदि भारत के विभिन्न स्थानों के अतिरिकत नैपाल, तिब्बत, लंका, पश्चिमी तिब्बत, इंग्लैण्ड, पेरिस, जर्मनी, जापान, रूस, वर्मा, कोरिया, मंचूरिया, ईरान आदि विदेशों की यात्रा की। योरुय, रूस व तिब्बत तो वे कई बार गए। वास्तव में राहुल जी "चरैवेति चरैवेति' के मूल मंत्र में विश्वास रखते थे और पूर्ण आस्था के साथ उन्होंने उसका जीवन पर्यन्त पालन किया। दुगर्म घाटियों तथा दूर देशों की यात्राएं राहुल जी ने जिस उत्साह से कीं, वे इन के अदम्य साहस और हठ आत्मबल की परिचायक हैं।

अपनी इन यात्राओं के विविध, विचित्र व रोचक अनुभवों को उन्होंने "मेरी लद्दाख यात्रा", जापान, ईरान, रूस में पच्चीस मास, यात्रा के पन्ने, यात्रावलि, घुमक्कड़शास्त्र, देश–दर्शन, सोवियत

भूमि, सोवियत मध्य ऐशिया, किन्नर देश में, दार्जलिंग परिचय, गढ़वाल, कुमाऊं, नेपाल जोनसर देहरादून, हिमाचल प्रदेश आदि कोई २० ग्रंथों में संजोया है। इनके अतिरिक्त उन के और भी कई ग्रंथ इन यात्राओं से प्राप्त सामग्री के आधार पर लिखे गये हैं। इस प्रकार के ग्रंथों में कम्युनिस्ट पार्टी का इतिहास, मानव समाज, आज की समस्याएं, दर्शन-दिग्दर्शन, बौद्ध-दर्शन, पुरातत्त्व निबन्धावलि, तिब्बत में बौद्ध धर्म, कम्युनिस्ट क्या चाहते हैं, वैज्ञानिक भौतिकवाद, विश्व की रूप रेखा, मध्य ऐशिया का इतिहास आदि पुस्तकों का उल्लेख किया जा सकता है।

राहुल जी के यात्रा-साहित्य का अनेक दृष्टियों से महत्त्व है। यह साहित्य उन के यात्रा-क्षेत्र की विविधता, व्यापकता और विस्तार की ओर संकेत करता है। वैज्ञानिक साधनों के उपयोग से देश, विदेश की सरल व सुखद यात्राएं भी उन्होंने की परन्तु ये यात्राएं उन्हें पूर्ण सन्तुष्ट न कर सकीं वे तो अछूते कठोर प्रदेशों के रोमांचक और साहसपूर्ण अनुभवों का सुख चाहते थे और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उन्होंने तिब्बत, लद्दाख और नेपाल के दुर्गम, पर्वतीय मार्गों की पद यात्रा अनेक कष्ट और कठिनाइयां झेलते हुए की। एक ओर उन्होंने नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों के प्रकाश से चमत्कृत पाश्चात्य देशों का भ्रमण किया, तो दूसरी ओर सामाजिक और वैज्ञानिक प्रगति की दौड़ में शताब्दियों पीछे पड़े लद्दाख और तिब्बत के पथरीले, शुष्क पर्वतीय प्रदेशों की यात्राएं कीं। एक ओर हिन्दु और बौद्ध धर्म के तीर्थों व धर्म-स्थानों की पूर्ण श्रद्धा भाव से यात्रा की तो दूसरी ओर "धर्म को जनता को सुलाने वाला नशा" (Religion is the opiate of masses) मानने वाले नास्तिकता प्रधान रूस में भी उनका खूब मन रमा। एक ओर औद्योगिक क्रांति से समृद्ध स्वतन्त्र योरुप की झलक देखी, तो दूसरी ओर गुलामी की जंजीरों में जकड़े, उद्योग-शिल्प विहीन जन-समूह की करुण-दशा का अवलोकन किया। एक ओर भौतिक-वादी पाश्चात्य संस्कृति के स्वरूप व प्रभाव को देखा तो दूसरी ओर प्राचीन आर्य संस्कृति के वैभव और महानता के सूचक दृश्यों ने उन्हें मोहित किया। इन विभिन्न, विविधता पूर्ण एवं विरोधात्मक अनुभवों ने उन के व्यक्तित्व और चिन्तनधारा के निर्माण में महत्त्व-पूर्ण कार्य किया है। एक साहित्यकार का संवेदनशील हृदय लेकर उन्होंने इन सभी दृश्यों का सूक्ष्म दृष्टि से निरीक्षण किया और वे उस के प्रभाव से बच न सके। यही कारण है कि उन के चरित्र में विभिन्न

संस्कृतियों, विचारधाराओं, मान्यताओं और विश्वासों का विचित्र संगम दिखाई पड़ता है, यद्यति उनकी आत्मा मूल रूप से भारतीय ही रही ।

इन यात्राओं ने उनके चरित्र को एक विशेष सांचे में ढाल दिया था । उनके चरित्र में जो उदारता, दया, साहस, निर्भयता, दृढ़ता, उत्साह, निर्लिप्तता, निश्चिंतता, सहृदयता, सहानुभूति, कोमलता, आत्म-विश्वास, आत्मनिर्भता, स्वावलम्बिता, सहनशीलता, विचार-सहिष्णुता, कृतज्ञता, चिन्तनशीलता आदि गुणों के दर्शन होते हैं वे बहुत कुछ इन यात्राओं के ही परिणाम हैं । उन्होंने विभिन्न देशों के विविध वर्णो, वर्गो के मानव समूह के चरित्र, उन के संस्कारों, स्वभाव व समस्याओं को देखा-परखा और उनकी अनकता में भी उन्हें मानवीय चेतना की एकता दिखाई दी, जिस ने उन्हें मानववादी दृष्टिकोण प्रदान किया। इन लोगों की आर्थिक विषमता, वर्ग-संघर्ष, दीन हीन अवस्था को देखकर वे साम्यवाद की ओर आकृष्ट हुए और धर्म के नाम पर प्रचलित अनेक आडम्बरों, पाखण्डों, अन्धविश्वासों और शोषणों की प्रतिक्रियां स्वरुप वे नास्तिक बन बैठे । राहुल जी के कथा-साहित्य में हमें जिस प्रगतिशीलता के दर्शन होते हैं, वह भी बहुत कुछ इन अनुभवों की प्रतिक्रया का परिणाम है । इनकी सम्पूर्ण प्रतिक्रियाओं, उन के अनुभवों, चारित्रिक गुणों, सुख-दुख, इच्छाओं-आकांक्षाओं, रुचियों, अरुचियों आदि की पूर्ण झलक उन के यात्रा-विवरणों में देखी जा सकती है । भारत भूमि तथा आर्य-संस्कृति के प्रति उन के प्रेम की व्यंजना भी इस साहित्य में हुई है । प्राचीन आर्य सभ्यता के प्रति उनके प्रेम और धर्म-परिवर्तन करने वाले आर्य-परिवारों के प्रति इन के क्षोभ का एक उदाहरण देखिए :-

"१०० मील चौड़े हिमालय के चरण से समुद्र तट तक फैले हुए सिंधु के आस पास का भू-भाग एक बड़ा ही विचित्र प्रदेश है । किसी समय यहा आर्यो की सभ्यता के गढ़ थे । ऋषि लोग पूत-सलिला सिंधु के तट पर अपने यज्ञ-भागादि का अनुष्ठान करते, वेदों का गान करते थे । लेकिन काल चक्र भी कितना प्रबल है । यद्यपि आज भी इस प्रदेश में उन प्राचीन आर्यों की संतान ही बस रही है, तथापि उन्होंने एक ऐसे धर्म को स्वीकार किया है जिस की वजह से वे अपने पूर्वजों को स्वीकार करने से इन्कार करते हैं । इन के लिये वे आर्य पूर्वज और उनकी सभ्यता के प्रत्येक चिह्न घृणा की वस्तु है । वे स्वप्न में भी यह ख्याल नहीं करते कि हमारे पूर्वज एक ऐसी सभ्यता के धनी थे एक ऐसे साहित्य के स्वामी थे, जिसे देखकर सभी निष्पक्ष समालोचक हृदय से उनका

सम्मान करने को तैयार हैं । यूरोप की जातियां भी तो हैं, जिन के पूर्वज पूर्वकाल में जंगली जीवन व्यतीत करते थे, किन्तु आज भी उन की संतान उन्हें मानने से इनकार नहीं करती । लेकिन क्या इस धर्म-परिवर्तन ने, लाखों के इस्लाम स्वीकार करने पर, इनके जीवन में किसी प्रकार का सौन्दर्य पैदा कर दिया है? नही । यह बात तो बिल्कुल स्पष्ट ही हो जाती है, अगर कोई आदमी फाहियान और ह्यूनसांग के यात्रा विवरणों में इन प्रांतों का वृतान्त एक बार पढ़कर फिर इन लोगों को ध्यान से देखें । जहां पांचवी-सातवीं शताब्दियों में इन प्रांतों के निवासी सभ्य, अत्यन्त कोमल स्वभाव, सत्यवादी, विद्याव्यसनी और कलाकौशल प्रवीण थे, वहां आज इनकी सन्तान क्रूर, झूठी, मूर्ख और दुर्व्यसगी देखने में आती है १।

परन्तु यह न समझ लेना चाहिए कि राहुल जी साम्प्रदायिक पक्षपात से ही ऐसा लिख रहे हैं । मानववादी भावना ने उन्हें एक अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि प्रदान की है और उन्होंने ऐसो सभी धर्मसंस्थाओं, समाज सुधारक समितियों की मुक्त कंठ से प्रशंसा की हैं जो प्रगतिशील हैं और जन-समूह को अन्धविश्वास ग्रस्त, हीनतापूर्ण स्थिति से निकाल कर उन्नति, स्वतंत्रता व प्रगति के मार्ग पर प्रशस्त करती हैं । निम्न जातियों में शिक्षा, सफाई आदि का प्रचार करन वाली ईसाई मिशनरियों की उन्हों ने बड़ी प्रशंसा की है । इसी प्रकार, वे आर्य समाजी नहीं थे फिर भी उन्होंने आर्य समाज के शिक्षा प्रचार, तथा प्रगतिशील दृष्टिकोण की सराहना की है ।३और जिस प्रकार उन्होंने इस्लाम की मर्ति-विरोधी भावना की विडम्बना का उपहास उड़ाया है । उसी कटुता से हिन्दुओं के पुरोहित वर्ग के पाखण्डों पर भी व्यंग्य कसे हैं । इस्लाम की मूर्ति-विरोधी ढोंग पर प्रकाश डालते हुए वे लिखते हैं "इस्लाम को शायद गर्व हो कि वह मूर्तिपूजा जैसी बुद्धि हीनता पूर्ण पापमयी प्रथा की जड़ काटने में समर्थ हुआ, लेकिन इन प्रांतों की एक बार भी देखने वाला कह सकता है कि इस्लाम ने कम से कम यहां के लोगों से मूर्तिपूजा कदापि नहीं छुड़वाई । फर्क मूर्तियों के आकार का है । जहां हिन्दुओं की मूर्तियां कलापूर्ण, भिन्न भिन्न मनुष्यों और जानवरों की शकल की थीं, वहां उनकी मूर्ति चौकोर, ऊपर स्तूपाकार, तीन चार-पांच हाथ लम्बी कब्रों की हैं । इन के ऊपर वस्त्र और मिठाइयां भी

---

१. मेरी लद्दाख यात्रा—पृ० १७ ।
२. वही पृ० ३ ।
३. वही, पृ० १०, १३

चढ़ती हैं। लोग हाथ भी जोड़ते हैं, प्रार्थनायें भी करते हैं, लड़के लड़कियां भी मांगते हैं, मुंडन भी कराते हैं। मुसलमान पड़े मुजावर के रूप में हैं, जिन के पास वही खाते भी हैं और यात्रियों की छीना-झपटी भी होती है।१

निसन्देह व्यंग्य काफी तीखा है परन्तु इस से भी अधिक तीव्र व्यंग्य उन्होंने हिन्दुओं की पुरोहित प्रथा पर किया है देखिए--

"आज कल इन लोगों का प्रधान काम आर्य-समाजियों के खिलाफ़ आग लगाना है। यद्यपि समझदार आदमी इन चालाकियों को समझते हैं, किन्तु तब भी बहुत से ऐसे मिल जाते हैं, जिन पर हिन्दुओं को रसातल भेजने वाले इस पुरोहित-समाज का जादू चल जाता है।२

वस्तुतः सभी प्रकार की रूढ़ियों, अन्धविश्वासों तथा पाखण्डों के प्रति उन के विद्रोह तथा मानव मात्र की स्वातन्त्र्य-भावना से यह साहित्य ओत-प्रोत है। इसी प्रकार राहुल जी की अन्वेषण तथा संग्रह की प्रवृत्ति, कला प्रकृति के प्रति आकर्षण, एवं पुरातत्व के प्रति मोह की झलक भी इन संस्मरणों में देखी जा सकती है। अपने जीवन से सम्बन्धित अनेक घटनाओं व सम्पर्क में आने वाले अनेक पात्रों के स्वभाव, व उन की समस्याओं का भी इन्होंने उल्लख किया है। इस प्रकार यह यात्रा साहित्य जीवनी-साहित्य भी बहुत निकट आ जाता है। उन के व्यक्तित्व व जीवन वृत की सच्ची, निश्छल, तथा यथार्थ अभिव्यकित इस में हुई है। न कहीं बनावट है न गोपनीयता, और न ही अतिशयोक्ति। बौद्धिक चिन्तन से युक्त ऐसे रोचक, रोमांचक और यथार्थ संस्मरण हिन्दी में कम ही मिलेंगे। क्षेत्र की व्यापकता और विस्तार की दृष्टि से तो ऐसे संस्मरण प्रायः दुलर्भ हैं। यद्यपि राहुल जी का व्यक्ति इन विवरणों का कथ्य नहीं है, मुख्य वर्ण्य विषय यात्रा-मार्ग अथवा यात्रा स्थान ही हैं, तथापि राहुल जी का व्यापक व्यक्तित्व इन रचनाओं में आद्यान्त परिव्याप्त है।

इन यात्रा-विवरणों में स्थान विशेष का भौगोलिक परिचय ही मुख्य है। यात्रा-स्थानों के नाम; बनावट, वृक्ष, क्षेत्रफल, जनसंख्या, जलवायु, पशु पक्षी, यातायात के साधन, मार्ग, ऊपज, वर्षा, सर-सरिता, पर्वत आदि का पूर्ण परिचय दिया गया है। इस के साथ ही वे वहां के लोगों के रहन-सहन, वेश-भूषा, खान-पान, व्यवसाय, शिक्षा, विश्वास, नियम विधान, समाज व्यवस्था, पारिवारिक जीवन

---

१. मेरी लद्दाख यात्रा पृ० १८।

२. वही, पृ० १३।

आर्थिक दशा, धार्मिक भावना, संस्कृति, शासन–व्यवस्था, वर्ण अथवा वर्ग–भावना, जल तथा सफाई के प्रबन्ध आदि का भी पूरा विवरण प्रस्तुत करते हैं। वहां के लोग जिस जाति के हैं, उस जाति का पूर्ण इतिहास, जिस धर्म में वे विश्वास रखते हैं वह उन्होंने कब और कैसे अपनाया, उस धर्म का स्वरूप क्या है, यह सब कुछ बताना भी वे नहीं भूलते।१ अपने पुरातत्व और इतिहास के ज्ञान के आधार पर सारे खोजपूर्ण तथ्य सामने रखते जाते हैं। यदि हस्तिनापुर का वर्णन कर रहे हैं तो वहां का सारा इतिहास सम्मुख रख देंगे।२ प्राचीन स्थानों के खण्डहरों में नया जीवन डाल कर उन्हें अमर कर देते हैं। यात्रा स्थानों से सम्बन्धित यदि कोई महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना है, तो वह भी बताना नहीं भूलते वरन् प्राचीन इतिहास से सम्बन्धित जो किंवदतियां या लोक-कथाएं प्रचलित हैं, उनका भी उल्लेख कर देते हैं। जैसे श्रीनगर का वर्णन करते समय काश्मीर के शासकों तथा जन–साधारण के इस्लाम को कबूल करने के सम्बन्ध में जो लोक–कथा प्रचलित है उसका वे सविस्तार वर्णन करते हैं।३ इस प्रकार यात्रा-स्थानों के लोक–जीवन का पूरा चित्र हमारे सामने रख देते हैं। कहीं-कहीं तो उनके लोक-गीत, लोक-नृत्य, लोक-संगीत तथा भाषा के नमूने भी दिए हैं। उन के मंदिरों, मठों आदि में कला का जो रूप है उसका भी वर्णन किया है। आवश्यकता पड़ने पर उन के रहन–सहन, संस्कृति, भाषा आदि की अन्य प्रदेशों से तुलना भी कर दी गई है।

इस प्रकार राहुल जी का यह यात्रा साहित्य उनके यात्रा स्थानों अथवा प्रदेशों की राजनैतिक, सामाजिक, भौगोलिक, सांस्कृतिक, आर्थिक स्थिति को जानने के लिये विश्वकोश के समान है। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि राहुल जी एक सामान्य पर्यटक की भांति इन स्थानों का वर्णन नहीं करते। उन्होंने इन सभी स्थानों को एक संवेदशील साहित्यकार और प्रगतिशील विचारक की दृष्टि से देखा है। इस लिए वे वहां के लोक जीवन के वाह्य रूप से उसकी तह तक पहुंच जाते हैं और उनकी स्थिति को बौद्धिक और वैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए उनकी प्रगति व उन्नति के लिये दिशा–निर्देश करते हैं। उन के इन विवरणों में नव–निर्माण का संकेत सर्वत्र निहित रहा है।

१. मेरी लद्दाख यात्रा—पृ० १३।
२. वही, पृ० १।
३. वही, पृ० ३६—५०।

अपनी यात्रा में पड़ने वाले दृश्यों का राहुल जी ने अत्यन्त सूक्ष्म, सजीव, और चित्रात्मक वर्णन किया है। नेपाल, दार्जलिंग, तिब्बत तथा लद्दाख के मार्गों, मार्ग की कठिनाइयों, यात्रा साधनों आदि का वर्णन तो बहुत ही यथार्थ और उपयोगी है। कुती से आगे के दृश्य का वर्णन देखिए उन्होंने कितना सुन्दर किया है:--

"अब हम बड़े मनोहर स्थान में जा रहे थे। चारों ओर उतुंग शिखर वाले हरियाली से ढके पहाड़ थे जिन में जहां जहां झरनों का कल कल सुनाई देता था। नीचे फेन उगलती हुई कोसी की वेगवती धार जा रही थी, नाना प्रकार के पक्षियों के मनोहर शब्द सारी दून को जादू का मुल्क सिद्ध कर रहे थे।१

श्रीनगर (काश्मीर) का भी बहुत ही मनोहर वर्णन किया है।

"जगह जगह लम्बे-लम्बे जलाशय, सर्प की भांति-कुटिल गति की जेहलम, दूर तक शहर के बाहर भी सेव, बादाम आदि के बागों से बने हुए छोटे-छोटे सुन्दर हरी घासों से ढके लम्बे लम्बे क्रीड़ा-क्षेत्र, सुन्दर चिनार वृक्षों की मधुर शीतल छाया के अन्दर हरी घास के मखमली फर्शोंवाली सुभूमियां देखने में बड़ी सुन्दर मालूम होती हैं।२

यहां राहुल जी का "प्रकृति-प्रेम भी स्पष्ट झलकता है। तिब्बत के पर्वतीय प्रदेश का चित्रण देखिए कितना सजीव और यथार्थ है:--

"तिब्बत में तो हरियाली के लिये आंखे तरसती हैं। नदियों की विस्तृत उपत्यकाएं कहीं कहीं रेगिस्तान का स्मरण दिलाती हैं और किसी-किसी जगह तो उसी तरह बवण्डर लाखों मन बालू को एक जगह से दूसरी जगह रखते रहते हैं। उपत्यकाओं के किनारे पर छोटे से छोटे पहाड़ बिलकुल नंगे जैसे होते हैं।३

ल्हासा से उत्तर की ओर जाते हुए वर्षा ऋतु में वहां के पर्वतीय दृश्य के भी बहुत ही सुन्दर चित्र अंकित किए हैं। "हरिगौरी" का देखिए कितने सुन्दर माधुर्यपूर्ण चित्र अंकित किया है:--

मैं मैरंपड़ा की खंडित मूर्ति से ही बहुत प्रभावित था। किन्तु यहां मैंने शोभा और सौन्दर्य में अद्वितीय इस हरिगौरी मूर्ति को देखा। इसकी कोमल बंकिम रेखाओं में वही सौन्दर्य भरा था जो कि अजन्ता के चित्रों में दिखाई पड़ता है, बल्कि पत्थर में ऐसा तन्वंग उत्कीर्ण करना संभव हो सकता है, इस पर

१. राहुल यात्रावली, पृ० २२६।
२. मेरी लद्दाख यात्रा, पृ० ४६।
३. यात्रा के पत्र पृ० १३८।

ग्र खें विश्वास नहीं करती थीं । ललितास्-नस्थ हर के वामांक में ग्रनुपम सौन्दर्य राशि की मूर्ति बनकर भूधरसुता विराज-मान है ।१

तिब्बत की स्त्रियों के रूप ग्रौर वेश भूषा के भी ऐसे ही सजीव रेखो-चित्र ग्रंकित किये गये हैं । 'मेरी यूरोप यात्रा' में सागरीय-यात्रा का भी उन्होंनें वर्णन किया है जो बहुत ही सुन्दर बन पड़ा है । उदाहरण देखिए --

"जब जहाज़ ऊंची लहरों पर उठता है तब सिर में थोड़ा सा चक्कर ग्राता है, परन्तु जिस समय लहर नीचे से निकल जाती है उस समय जहाज के पतन के साथ दिल एकदम गिर ही नहीं पड़ता, बल्कि मालूम होता है कि ठण्डी हवा का झोंका कलेजें के एक एक छिद्र में जल्दी से घुस गया है २।

इस प्रकार प्राकृतिक सुषमा, वस्तु सौन्दर्य तथा मानसिक प्रतिक्रियाग्रों का चित्रण करने में वे बहुत ही सफल रहे हैं ।

भाषा शैली

राहुल जी का ग्रधिकतर साहित्य कथात्मक ग्रथवा वर्णनात्मक शैली में लिखा गया है । तिब्बत में सवावर्ष, मेरी लद्दाख यात्रा, किन्नर देश में, लंका, नेपाल ग्रादि इसी शैली में लिखे गये हैं । कुछ यात्राग्रों का विवरण पत्रों ग्रौर डायरी के रूप में भी मिलता है । ग्रानन्द जी तथा ग्रन्य मित्रों तथा ग्रपनी पत्नी कमला जी को लिखे गये ऐसे ग्रनेक पत्र हैं जिन में उन्हों ने ग्रपने-यात्रा-प्रदेशों का वर्णन भी किया है । ऐसे विवरणों में संक्षिप्तता ग्रौर ग्रात्मीयता ग्रधिक है । शैली कहीं-कहीं ग्रलंकृत ग्रथवा भावात्मक भी हो गई है । किसी-किसी पत्र में स्थानीय भाषा का भी प्रयोग किया गया है । ऐसे विवरणों में ग्रात्मभिव्यंजना की प्रधानता है ग्रौर गोपनीयता का सर्वथा ग्रभाव है । उनमें उनके निजी प्रेम, क्षोभ, ग्रादि की भी व्यंजना हुई है ।

उनके यात्रा साहित्य की भाषा ग्रधिकतर सरल, सहज, ग्रौर सुबोध है, वैसे प्रसंग के ग्रनुसार उस में ग्रोज, माधुर्य, लाक्षणिक प्रयोग भी हुए हैं । "दूध का जला छाछ फूंक कर" सब जात में बुर्बक जथरिया, भारेलाठी छीनें चदरिया, उंगलियों पर नाचने वाले, सब धान-बाईस पैसेरी" ग्रादि कहावतों व महावरों का भी प्रयोग किया है । भाषा में उर्दू, व ग्रंग्रेज़ी के भी कुछ शब्द ग्रा गये हैं । शैली में भी प्रसंग के ग्रनुरूप ग्रनेक रूपता

१. मेरी तिब्बत यात्रा पृ० ५
२. मेरी यूरोप यात्रा, १० ५।

है । मुख्य रूप से उनकी शैलियों के निम्न रूप हैं :—

१.—कथात्मक

२.—भावात्मक

३.—अलंकृत

४—व्यंग्यात्मक

५—चित्रात्मक

६—संवदेनात्मक

७—दार्शनिक

कई जगह संवेदनात्मक तथा दार्शनिक, भावात्मक तथा अलंकृत शैली का और इसी प्रकार अन्य शैलियों का समन्वय भी मिलता है । वस्तुतः उनकी भाषा और शैली भावों का अनुकरण करती है और भाव स्थिति घटना अथवा दृश्य का सजीव बिंब उपस्थित करने में पूर्ण समर्थ है ।

ऊपर के विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि राहुल जी के यात्रा साहित्य का सामाजिक, भौगोलिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, पुरातत्व, आदि अनेक दृष्टियों से महत्व है और हिन्दी के यात्रा साहित्य में उन का महत्त्वपूर्ण स्थान है ।

आधुनिक हिन्दी काव्य में अस्त्र-शस्त्र-औज़ार और वाद्य-यन्त्र

प्रो० कृष्ण भावुक

अस्त्र-शस्त्र-औज़ार

मनोविज्ञान के अनुसार मनोवैज्ञानिक प्रेरण शक्तियां वस्तुतः सामान्य सामाजिक अभिप्रेरक ही हैं। इन में से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अभिप्रेरक है आत्म-गौरव की भावना अथवा प्रभुत्व की कामना। आदिकाल से लेकर अद्यावधि मनुष्य मात्र में दूसरे प्राणियों और पदार्थों पर शासन करने अथवा सिक्का जमाने की प्रवृत्ति चली आई है। किन्तु कभी कभी ऐसा भी होता है कि इस आत्म-गौरव के कुंठित हो जाने पर मनुष्य में अपने प्रतिद्वन्द्वी के प्रति एक अभ्याक्रामक क्रिया उत्पन्न हो जाती है। उदाहरण के लिए एक शिशु अपनी गति-विधियों पर प्रतिबंध लग जाने से रोना धोना और चीखना चिल्लाना प्रारंभ कर देता है। धीरे धीरे वह संघर्ष करने में प्रवृत्त हो जाता है। एक अवस्था ऐसी भी आती है जब वह निष्प्रत्यूह आचरण करने के लिए अग्रिम संघर्ष भी करने लग पड़ता है। इस प्रकार मनुष्य में युयुत्सा अर्थात लड़ने अथवा युद्ध करने की इच्छा का आविर्भाव होता है जिसे अभ्याक्रामकता की संज्ञा भी दी जाती है।

हैनरी ई. गैरेट भी लिखते हैं कि--'युयुत्सा की नैसर्गिक प्रवृत्ति का आरंभ संभवतया संघर्ष की अनुक्रियाओं से उत्पन्न होने वाले आक्रमण की आदत के साथ होता है।१'

आधुनिक हिंदी काव्य में युयुत्सा भाव की यह प्रवृत्ति सब से पहले छायावादी कवियों में मिलती है। चूंकि तत्कालीन परिस्थितियों में प्रेम की प्रत्यक्ष अभि-व्यक्ति संभव नहीं थी अतः फलस्वरूप इन कवियों में अपने परिवेश तथा वाता-वरण के प्रति एक उग्र असंतोष का भाव फूट पड़ा जो आगे चलकर युयुत्सा-भाव में परिणत हो गया। इतना ही नहीं, उथल पुथल के उस काल में आत्म-

१. हैनरी ई० गैरेट, मनोविज्ञान, अनुवाद, पृ० ५०

गौरव अथवा निजी प्रभुता के लिये विशेष अवसर प्राप्त न था इसलिए भी उन की अतृप्ति बढ़ती गई और उन कवियों ने अग्रिम संघर्ष करने की प्रणाली अपनाई। किन्तु इन में युयुत्सा की जो भावना मिलती है उस का रूप उग्र न हो कर कोमल है। वह एक कहानी का आदि तो कहा जा सकता है, अंत नहीं। धीरे धीरे युयुत्सा की यह आक्रामक भावना क्रमशः विकसित होती चली जाती है। प्रयोगवादी काव्य में उसका चरम रूप देखने को मिलता है। यह भावना आधुनिक कवियों में अस्त्र-शस्त्रों के प्रति रुचि-प्रदर्शन के रूप में प्रकट होती है।

वैसे तो सभी छायावादी कवियों ने कृषि-सुधार के आंदोलनों से आंदोलित होकर अपनी कविताओं में कुछ औजारों की भी गणना की है किन्तु उन की संख्या अस्त्र-शस्त्रों की अपेक्षा कम है। इन कवियों ने प्राचीन और नवीन दोनों प्रकार के हथियारों पर दृष्टिपात किया है। कुछ नाम ये हैं--

आग्नेयास्त्र, कटार, कटारी, कवच (वर्म), कृपाण, खंजर, खड्ग, गदा गोला, गोली, चक्र, छुरा, छुरी, ढाल, तलवार, तोप, त्रिशूल, दुधारी, दोनाली, धनुष, नेज़ा, पार्जन्य, पार्वतास्त्र, पिस्तौल, बम, बरछी, बाण, ब्रह्मास्त्र, भाला, भौमास्त्र, मशीनगन, लाठी, वज्र, वयव्य, विजय, शल्य, शिरस्त्राण, संगीन, सुदर्शन चक्र, सुनन्द और स्टेनगन।

इन में सामान्य और विशेष दोनों प्रकार के शस्त्रास्त्रों का सम्मिश्रण है। विशेष अस्त्र उन को कहा जाएगा जिनका सम्बन्ध किसी व्यक्ति विशेष से है जैसे कि सुदर्शन चक्र केवल भगवान कृष्ण से ही सम्बन्धित है।

इन शस्त्रास्त्रों के अतिरिक्त छायावादी कवियों ने जिन औज़ारों पर आलोक-रश्मियां विकीर्ण की हैं उनके नाम इस प्रकार हैं आरा, आरी, कुदाल, कुल्हाड़ी, क्षुरप्र, छेनी, परिघ, फरसा (फड़ुआ) हंसिया, हथौड़ा।

• 'क्षुरप्र' या 'क्षुरप्रिका' संस्कृत भाषा का शब्द है जिस के लिए लोक भाषा में खुरपी शब्द प्रचलित है। यह कृषक का एक विशेष लौरवर (औज़ार) है जो खेत निराने और फसल काटने में काम आता है। यह डढ़ दो बालिश्त लम्बा होता है। छेनी ठंडे लोहे को काटने वाला एक औज़ार है। जब ज्वार बाजरे के पौधों को काट कर छोटे छोटे गंडेलों (टुकड़ों) के रूप में परिवर्तित कर देते हैं तब उसे कुट्टी या कुटी कहते हैं। कुटी काटने का औज़ार गड़सा या गड़ासा (सं० गंडासा) या फरसा कहाता है। हंसिया या दरांत फ़सल काटने का दूसरा औज़ार है। इसे हंसिया, हसिया या हंसुआ

भी कहते हैं । दरांत (सं० दात्र[1] > दातर > दरात > दरांत) का छोटा रूप दरांती या हँसली कहाता है । यास्क ने निरुक्त (नैगम का २।१।२) में बताया है कि उत्तर भारत के लोग "दात्र" और पूरब के 'दाति' कहते हैं ।[2] लोक शब्द 'असिअ' वै० सं० 'असिद' से विकसित है । डा. वासुदेव शरण अग्रवाल लिखते हैं-- 'मानव श्रोत सूत्र में हंसिया के लिए 'असिद' शब्द प्रयुक्त हुआ है । उसी से लोक में 'हसिया' शब्द बना है । किन्तु इसका साहित्यिक प्रयोग वैदिक काल के उपरांत फिर देखने में नहीं आया ।[3] 'हथौड़ा' एक बहुत हल्का घन है जो किसी लोहे की वस्तु को ठोकने पीटने में काम आता है ।

राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्य-धारा के कवियों ने प्राचीन हथियारों के साथ साथ जिन नवीन शस्त्रास्त्रों के नाम गिनाए हैं वे इस प्रकार हैं--अजगव, अणु अस्त्र, गांडीव, तोमर, नश्तर, बारूद, परशु, पाशुपत, भुशुण्डी, और शतघ्नी। इन में अजगव शिव का विशेष धनुष है तो गांडीव अर्जुन का । ठीक इसी प्रकार परशु, पाशुपत आदि शस्त्रास्त्र भी पौराणिक और सांस्कृतिक महत्त्व रखते हैं। यह इस काव्य-धारा की प्रवृत्तियों के अनुरूप ही बन पड़ा है । किन्तु आपने देश प्रेम की दुहाई देने वाले इन कवियों में नये कृषि सम्बन्धी औज़ार खोजने पर भी कठिनाई से ही मिलेंगे जिस से हिन्दी काव्य के अनुसंधित्सुओं को निराशा ही होती है ।

बच्चन-अंचल-नरेंद्र धारा में चन्द्रहास, दैंक, भुजाली और सांगी आदि नए नाम उपलब्ध हो जाते हैं । दरांती आदि औज़ारों के नाम इन कवियों में सतत वर्द्धमान लोकोन्मुखी चेतना की घोषणा करते हैं ।

प्रगतिवादी कवियों ने जो नए हथियार गिनाए हैं वे ये हैं--एच बम, कन्नी किरिच, और तुपक । प्रायः ऐसे शस्त्रास्त्र अधिक हैं जो कि विदेशी हैं । यह इन कवियों के विदेशी प्रेरणा-स्रोतों के अनुकूल ही है । कला को जीवन के लिए मानने वाले ये जनप्रिय कवि कृषि सम्बन्धी औज़ारों का उल्लेख करने में किसी प्रकार की झिझक और हिचक महसूस नहीं करते । किन्तु इन्होंने पूर्ववर्ती कवियों के द्वारा गिनाए हुए औज़ारों तक ही अपने को सीमित रखा है । कहीं कहीं अपवाद रूप में बेलचे आदि नवीन औज़ार अवश्य

---

१. 'हस्ते दात्रं च नाददे'—ऋक ०८।७८।१०—अर्थात 'हे इन्द्र ! तेरे ऊपर आशा करके ही में यह दरांत अपने हाथ में ले रहा हूं ।'

२. दातिर्लवनार्थे प्राच्येपु दात्रमुदीच्येपु—यास्क, निरुक्त, नैगम, काण्ड २।१।२ ।

३. पृथिवीपुत्र, प्रथम संस्करण, सन् १९४९, पृ० ५५

दिखाई दे जाते हैं उन की संख्या अधिक नहीं है।

गीतिकाव्य धारा में उद्जन बम, एटम और ब्रेनगन आदि नये नाम आए हैं।

प्रयोगवादी कवियों ने जिन नये बमों और हथियारों का उल्लेख किया है वे उनके युयुत्सा भाव की उग्रता के अनुरूप ही हैं। यही कारण है कि ये अस्त्र शस्त्र स्फोटात्मक ही नहीं, विध्वंसात्मक भी हैं। उदाहरणार्थ उड़न बम, गिलोटीन, डायनामाइट, तमंचा और विस्फोटक प्रभृति नाम गिनाए जा सकते हैं। इन नामों के झरोखों से इन कवियों की विद्रोही और क्रांतिकारी प्रकृति ही झांकती दिखाई देती है।

प्रयोगवादी काव्य–धारा में नए औज़ारों का प्रयोग तो नगण्य ही है जिस से यह निष्कर्ष भी निकाला जा सकता है कि इन कवियों में राष्ट्र–प्रेम कम और व्यष्टि-प्रेम अधिक है। वस्तुतः स्व–रति, आत्म–प्रेम या वैयक्तिक चेतना की यह पराकाष्ठा है जिस में आपद्धर्म और आत्म–रक्षा के निमित्त अतिशय भयानक हथियारों का प्रयोग भी निषिद्ध नहीं समझा जाता।

आधुनिक कवियों ने जिन शस्त्रास्त्रों का नाम लिया है उन में कुछ ऐसे भी हैं जिन का उल्लेख सन् १४२१ में विरचित 'पृथ्वीचन्द्र चरित' में भी मिल जाता है। ये नाम इस प्रकार हैं––कटार, कुदाल, गदा, चक्र, छुरी, त्रिशूल, धनुष, परशु, भाला, भुशुण्डी, वज्र और सांग (सांगी)। वहां इसी भांति के ३६ दंडायुधों की सूची दी हुई है।

१८वीं शती के 'सुजान चरित' में भी जाटों द्वारा दिल्ली की लूट के प्रसंग में हथियारों का अच्छा वर्णन है। एक पंक्ति यह है––

तुपक, तीर, तरवार, तमंचा, तेगा,
तीछन १

ये सभी मध्यकालीन शस्त्रास्त्र हैं। अतः कहा जा सकता है कि आधुनिक हिंदी कवियों ने मध्ययुगीन अस्त्र-शस्त्रों पर तो दृष्टिपात किया ही है, साथ ही कुछ नए नाम भी गिनाए हैं।

वाद्य-यन्त्र

आधुनिक हिंदी कविता में झंकृत होने वाले पदार्थों में अस्त्र–शस्त्र औज़ारों और आभूषणों के अतिरिक्त तीसरी महत्त्वपूर्ण वस्तु है वाद्य–यन्त्र। ये सभी पदार्थ झंकार तत्त्व के सूत्र में अनुस्यूत किए जा सकते हैं। झंकृति उनका सामान्य गुण है। पंचेंद्रियों में 'शब्द' सम्बन्धी कर्णेन्द्रिय का स्थान सब से पहले आता है। इस से स्वर–चेतना का महत्व स्वतः सिद्ध हो जाता है।

---

१. पुस्तक 'कला और संस्कृति', डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, निबंध 'मध्यकालीन शस्त्रास्त्र पृ० २६०-२६१।

छायावादी–रहस्यवादी कवियों का शब्द–बोध भी उनकी रूप–चेतना और गंध–बोध की ही भांति तीव्रतम माना जा सकता है। इन स्वच्छन्द मनोवृत्ति के कवियों ने प्रकृति के वनों में अपन स्वरपायी कर्ण–रन्ध्रों द्वारा जीव जंतुओं और पशु–पक्षियों की विभिन्न ध्वनियों का सुष्ठुरूपेण श्रवण किया था जिन से उनकी शब्द–चतना संवृद्ध ही हुई है। देशी और विदेशी वाद्य–यन्त्रों के रूप में छायावादी और रहस्यवादी कवियों ने निजी संगीतप्रियता का प्रभूत प्रकाशन किया है। किन्तु स्वेदशी वाद्य यंत्रों का अधिक संख्या में प्रयोग इन कवियों का राष्ट्र–प्रेम ही प्रकाशित करता है। इन कवियों ने प्राचीन और नवीन उभय प्रकार के वाद्य–यंत्रों के नाम गिनाए हैं जिन की कुल संख्या ५० के लगभग ठहरती है। इन की सूची इस प्रकार है:––

(क) स्वेदेशी वाद्य-यन्त्र :––

अलग़ोज़े, इकतारा, कम्बु (शंख) करताल, खंजड़ी, घंटा, घंटी, घड़ियाल, घुंघरू, झांझ, डंका, डफ, डमरू, ढोल ढोलक, ढोलकी, तंत्री, तम्बूरा, तानपुरा, तार, दुरही, तूंबी, तूती, तूर्य, दमामा, दुन्दुभि, पटह, पांचजन्य, बाजा, बिगुल बीन, भेरी, भोंपू, मजीरे मारू, मुरली मृदंग, वंशी, वीणा, शहनाई, शृंग, सारंगी और सितार।

(ख) विदेशी वाद्य-यन्त्र :

कारनेट, क्लारिओनेट, गीटार, पियानो, फ्लूट, बैन्जो, लायर, वायलिन और हार्न।

इनके अतिरिक्त वाद्य–यंत्रों को बजाने में मिज़राब जैसी सहायक वस्तुओं का भी उल्लेख हुआ है किन्तु उनकी संख्या अधिक नहीं है।

संगीत दामोदर और संगीत मकरन्द आदि ग्रंथों में भारतीय वाद्य–यंत्रों के ४ प्रकार बताए गए हैं ––

(१) तन्त्रीगत (२) आनद्ध अथवा चर्मबद्ध (३) सुषिर अथवा रन्ध्रगत (४) घन अथवा धातु–निर्मित।

ऊपरलिखित वाद्यों में वीणा तन्त्रीगत वाद्यों में सर्वप्रमुख है। संगीत दामोदर वीणा के २९ प्रकारों का वर्णन किया गया है।[1] तम्बूरा, तानपुरा, वायलिन, सारंगी और सितार आधुनिक तन्त्री वाद्य के अन्तर्गत आते हैं। पाश्चात्य संगीत के वृन्द वादन मे वायलिन का सर्वप्रमुख स्थान है। तम्बूरा भारतीय संगीत का "सुर" देने का वाद्य है। आकार में यह वीणा के समान होता है। सितार भारतीय त्रितन्त्री वीणा का एक भेद

१. भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता, डॉ० प्रसन्नकुमार आचार्य, पृ० २९७।

है । कहा जाता है कि उसके नाम ग्रौर रूप की कल्पना ग्रमीर खुसरो ने की ।१

इनके ग्रतिरिक्त कारनेट, क्लैरिनट या क्लारिग्रोनेट, तुरही, तूर्य, बांसुरी, शंख, शहनाई, श्रृंग ग्रौर हार्न फूंक से बजने वाल रन्ध्रगत वाद्य हैं जिन्हें सुषिर वाद्य (Wind Instruments) भी कहते हैं । बांसुरी लकड़ी के सुषिर वाद्यों में प्रसिद्ध है । ग्रब यह धातु की भी बनने लगी है । शहनाई भारतीय संगीत में ग्रौर क्लैरिनट पाश्चात्य संगीत में पत्ते (Reed) के वाद्य हैं । क्लारिनेट पाश्चात्य नागस्वर है । दक्षिण भारत में ग्राज इस वाद्यमें कर्नाटक ग्रौर हिंदुस्थानी संगीत को ग्रच्छी तरह बजाया जाता है । 'हार्न' पीतल के सुषिर वाद्यों में प्रधान है । 'कारनेट' वस्तुतः ट्रम्पेट का ही लघु ग्राकार है ।

डमरू, दुन्दुभि, पटह ग्रौर भेरी ग्रादि ग्रानद्ध या ग्रवनद्ध वाद्य कहलाते हैं । ये वाद्य चमड़े से मढ़े हुए होते हैं । इनमें दुन्दुभि ग्रौर भेरी रण-वाद्य हैं । पटह ग्राबनूस की लकड़ी से बनाया जाता है जिसका देवता स्कन्द है । इन के साथ खंजड़ी, ढोल, ढोलक, ढोलकी, ग्रौर तबला भी ग्राते हैं । खंजड़ी मूल्य ग्रौर वादन दोनों दृष्टियों से सस्ता वाद्य है । तबला में मृदंग के दो भाग ग्रलग ग्रलग हैं । ग्राजकल उत्तर भारत में यही तबला मृदंग के स्थान में है ।

गिटार, प्यानो ग्रौर बैन्जो तत ग्रर्थात् मिज़राब या कोण से बजने वाले वाद्य (Plucked Instruments) हैं । गिटार वायलिन की भांति लकड़ी का बना होता है जब कि बैंजो की तबली खाल से मढ़ी होती है ।२

घंटा, घंटी, झांझ ग्रौर झांझ लगा हुग्रा डफ़ टैम्ब्रोरीन ग्रादि घन ग्रर्थात् ठोकर से बजने वाले घन वाद्य (Percussion Instruments) हैं । घंटे ग्रौर घंटियां कांस्य से बनी होती हैं । विशेष कर देवताग्रों के पूजन में इनका वादन करना ग्रावश्यक माना जाता है ।

राष्ट्रीय सांस्कृतिक काव्य-धारा में नवीन वाद्य-यंत्रों के दर्शन दुष्प्राप्य ही हैं । राष्ट्रीय चेतना के इन कवियों ने मृदंग ग्रादि प्राचीन संगीत-उपकरणों के लिये कुछ नए नाम ग्रवश्य गिनाए हैं यथा मन्द्र ग्रौर मुरज, ये चर्मबद्ध ग्रानद्ध वाद्य हैं । मृदंग शब्द ग्रादिकाल में 'पुष्कर' वाद्य का नाम था । पुष्कर वाद्य में चमड़े से मढ़े हुए तीन मुख थे । उसका पिण्ड मृत् या मिट्टी से बनाया जाता था । इसी कारण इसका नाम मृदंग पड़ा । बाद में उसका पिंड लकड़ी या लोहे से बनाया गया तब हमारे मृदंग, पटह,

१. संगीत-शास्त्र, के० वासुदेव शास्त्री, प्रथम संस्करण, सन् १९५८, पृ० २६६ ।

२. पाश्चात्य संगीत शिक्षा—भगवतशरण वर्मा, पृ० ७२ ।

झल्लरी, दर्दुर ग्रादि चमड़े से मढ़े हुए वाद्यों की सृष्टि हुई। पुष्कर ग्राज व्यवहार में नहीं है। पर मृदंग ग्रादि काल से ग्रब तक ग्रवनद्ध वाद्यों में मुख्य स्थान पाता रहा है।[1]

इसी प्रकार बच्चन–ग्रंचल–नरेंद धारा में तूती जैसे वाद्य यंत्रों के लिये नफ़ीरी (बच्चन द्वारा प्रयुक्त) जैसे ग्रन्य शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। इस के इतिरिक्त कुछ नवीन वाद्य–यन्त्र भी मिल जाते हैं यथा घड़ियाली, जलतरंग ग्रौर शृंगी। कहीं कहीं एक की ग्रपेक्षा ग्रनेक वाद्य-यन्त्रों का संमवाय प्रस्तुत किया जा सकता है।

श्री डी. टी. जोशी का मत है कि यह बात नहीं है कि भारतवासी समवेत रूप से कई वाद्य–यंत्रों का बजाना नहीं जानते थे। ग्रजंता जैसे प्राचीन ऐतिहासिक स्थानों में कितने ही ऐसे दृश्यों की भीड़ दिख जाती है जिन में कितने ही संगीतज्ञ एक साथ ग्रनेक वाद्य–यंत्रों को पकड़े हुए बजा रहे हैं।[2] गुप्त सम्राट स्वयं संगीत के बड़े प्रेमी थे। इसीलिये समुद्रगुप्त ग्रौर चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य जैसे प्रतापी सम्राटों ने ग्रपने कुछ सिक्के ऐसे भी जारी किए, जिन में वे वीणा या ग्रन्य वाद्य का रसास्वादन कर रहे हैं। बाघ गुहा मंदिरों के एक चित्र में नृत्य करने वाली दो मंडलियां दिखाई गई हैं। प्रथम मण्डली में एक नर्त्तक नाच रहा है ग्रौर सात स्त्रियों ने उसे घेर रखा है। इन में से एक स्त्री मृदंग, तीन झांझ, ग्रौर बाकी तीन कोई ग्रन्य बाजा बजा रही हैं। दूसरी मंडली के मध्य में भी एक नर्त्तक नाचता है ग्रौर छः स्त्रियां विविध बाजे बजा रही हैं। सारनाथ में प्राप्त एक प्रस्तर खण्ड पर भी ऐसा ही दृश्य उत्कीर्ण है।[3]

किन्तु फिर भी यह मानना होगा कि भारतीय वाद्य यंत्रों की संख्या इतनी बड़ी है कि उनमें साम्य उपस्थित करना कठिन प्रतीत होता है। इसी लिये वाद्य–यंत्रों में सामंजस्य न होने के कारण भारत में 'ग्रार्केस्ट्रा' (Orchestra) के रूप में संगीत का वैसा विकास नहीं हुग्रा जैसा कि पाश्चात्य देशों में है। ग्रब ग्रखिल भारतीय रेडियो में भारतीय संगीत में भी ग्रारकेस्ट्रा का प्रयोग किया जाने लगा है। इस ग्रारकेस्ट्रा में सरोद, विचित्र वीणा, तबला, मृदंग, ढोलक, ग्रादि ग्रनेक वाद्यों का प्रयोग किया जाता है।[4]

प्रगतिवादी कवियों ने भी नवीन वाद्य यंत्रों के प्रयोग के प्रति कृपणता का

---

१. संगीत-शास्त्र, के० वासुदेव शास्त्री, प्रथम संस्करण, पृ० २७३।
२. भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता, डॉ० प्रसन्नकुमार ग्राचार्य, पृ० २९८।
३. भारत का प्राचीन इतिहास—सत्यकेतु विद्यालंकार, पृ० ५६२।
४, भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता, डॉ० प्रसन्नकुमार ग्राचार्य, पृ० २९८।

ही परिचय दिया है । कतिपय प्राचीन वाद्यों के कुछ अन्य रूप एवं नाम अवश्य दिखाई दे जाते हैं यथा नक्कारे, नौबतें, फिडिल और मांद्री । ठीक यही बात गीति काव्य धारा पर भी लागू होती है, उसमें भी कुछ अभिनव वाद्यों के प्रयोग मिल जाएंगे उदाहरणार्थ झुनझुने, डफ़ली और मांदल प्रस्तुत किए जा सकते हैं ।

प्रयोगवादी कवियों ने प्रायः प्राचीन संगीतात्मक उपकरणों तक ही अपनी दृष्टि की परिधि को परिमित रखा है । कहीं कहीं टेशोकोटो (नरेश मेहता ने इस का नाम लिया है) जैसे विदेशी वाद्य-यंत्रों के अवश्य दर्शन हो जाते हैं । इन्हें देख कर ऐसे लगता है मानों हरिताभ पर्वत-उपत्यकाओं के मध्य रेत के टीले खड़े हों । किन्तु इतना निश्चित का विदेशी उपकरणों के प्रयोग का मूल लक्ष्य कविताओं में वस्तु वैचित्र्य का ही समावेश करना है । वस्तुतः प्रयोगवादी काव्य में इस प्रकार की अश्रुतपूर्व वस्तुओं का सन्निवेश मात्र वैलक्षण्य की अवतारणा के निमित ही किया जाता रहा है ।

सभी आधुनिक हिन्दी कवियों में अकेले महाप्राण निराला ने ही ३५–४० वाद्य-यन्त्रों के नाम लिए हैं जो कि उनके प्रगाढ़ संगीत प्रेम का ही परिचय देते हैं । सच तो यह है कि वाद्य-यंत्रों की गणना की दृष्टि से वे सर्व प्रथम स्थान के अधिकारी घोषित किए जा सकते हैं । सर्वश्री श्यामनारायण पांडेय, सुमित्रानन्दन पंत, माखन लाल चतुर्वेदी, सोहन लाल द्विवेदी, हरिवंश राय बच्चन, रामधारी सिंह 'दिनकर', डा. प्रभाकर 'माचवे', डा. रांगेय राघव, और नीरज इत्यादि कवियों में से प्रत्येक ने लगभग २० वाद्य-यंत्रों की नयनाभिराम लड़ी गूंथी है । इस प्रकार ये सभी कवि एक दूसरे के समानान्तर खड़े किए जा सकते हैं क्योंकि इन सब का शब्द-बोध या स्वरचेतना एक जैसी ही तीव्र जान पड़ती है ।

समग्रतः आधुनिक हिन्दी काव्य धाराओं का सिंहावलोकन करने से एक तथ्य स्पष्ट रूप से सामने आता है और वह यह कि इन धाराओं में वाद्य-यंत्रों के प्रति कवियों की संगीतात्मक रुचियों का क्रमशः ह्रास ही होता गया है । इन कवियों ने छंदों की लयात्मकता के साथ साथ वाद्य-यंत्रों की संगीतात्मकता के प्रति भी अपनी उदासीनता प्रदर्शित की है । आजकल ये कवि संगीत की माधुर्य-सिक्त रंगभूमि में ही नहीं, अपितु ध्वन्यात्मक व्यंजना के क्षेत्र में भी श्रुतिमधुर ध्वनियों की अपेक्षा कर्ण-कटु-स्वर लहरियों को आश्रुत करने में अधिकाधिक प्रवृत्त हो रहे हैं जोकि काव्य की मूल संगीतात्मक चेतना के विपरीत ही कहा जायगा । इतना ही नहीं, नई प्रयोगवादी कविताओं में कर्कश

स्वरों का अतिशय प्रयोग जीवन और जगत् के खोखलेपन को हमारे सामने उग्र रूप में उभारता है । वस्तुतः प्रयोगवादी धारा में हमें ऐसे नये मेधावी कवियों की, ऐसे वरद सरस्वती-पुत्रों की आवश्यकता है जोकि काव्य-जगत् में चतुर्दिक व्याप्त महाशून्य की इस नीरवता को चित्र-विचित्र वाद्य-यंत्रों की श्रवण मधुर लहरियों से गुंजायमान कर दें । भविष्य के प्रति हमें आशावदी ही रहना चाहिए ।

● ● ●

आधुनिक पंजाबी काव्य परंपरा में कवियित्रियों का योगदान

प्रो० चन्द्रशेखर

पंजाब की महिलाएं लगभग उन सभी सीमाओं में घिरी हैं, जो भारत की नारी के सामाजिक पारिवारिक और व्यावहारिक परिवेशों में घेरे हैं। स्वभावगत सहज संकोच, माता पिता की आज्ञा, सृजन द्वारा अर्जित यश की विडंबना—क्योंकि विशेषकर काव्य लेखन से कवि के साथ अनेक कहानियां, किंवदंतियां चिपका दी जाती हैं—यदि ऐसी ही किंवदंतियां महिला कवियित्रियों से जुड़ जाएं तो वह हवा के पंखों पर फैलती हैं और ऐसी अवस्था में विवाह के बाद ऐसी सभी उड़ी उड़ाई बातों की विडंबनाओं का सामना उसे करना पड़ता है। इन सारी सीमाओं के अतिरिक्त पंजाब की महिलाओं को एक अतिरिक्त प्रांतीय परिवेश की सीमाओं में भी रहना पड़ा है। पंजाब ने इतिहास में दोहरा दण्ड भोगा है। यह भारत का प्रवेश द्वार रहा है। पश्चिमोत्तर से हुए सभी आक्रमणों में यह दलित हुआ। विनाश अत्याचार के विष को पंजाब ने सदा पिया है। यह पराजित भारत की टूटी हुई ड्योढ़ी रही है, नारी समाज पर यहां जैसे अत्याचार हुए हैं, वह इतिहास में घृणित अक्षरों में सुरक्षित हैं। इसीलिये पंजाब का नारी समाज सदियों से अनेक सामाजिक पाखण्डों, कुरीतियों, अन्ध परम्पराओं और रूढ़ियों के नाम-जाल में घुटता आया है। वह एक सांस्कृतिक अंधकूप में दम तोड़ता रहा है। दण्ड का यह पहला रूप रहा है। अंग्रेज़ी राज्य के दौरान नई सामाजिक चेतना का उदय बंगाल में हुआ। वह प्रकाश जब भारत के अनेक प्रान्तों में फैले अन्धकार को दूर कर रहा था, तब भी पंजाब में अंधकार और गहरा होता जा रहा था, क्योंकि पंजाब भारत का सीमांत प्रदेश है अतः बंगाल से फैल रहे सामाजिक जागरण के आलोक की किरणें पंजाब में बहुत देर बाद पहुंची, दण्ड का यह दूसरा रूप था। यही कारण

... अनेक प्रांतों और भाषाओं में महिलाएं विविध कलाओं के क्षेत्र में काफी आगे बढ़ चुकी हैं, वहां पंजाब की महिलाएं उनके मुकाबिले में उतना आगे नहीं बढ़ सकी हैं।

आज पंजाब के जन जीवन में एक सामाजिक चेतना फैल चुकी है, क्योंकि विभाजन के कारण पंजाबी लोगों को सारे प्रान्तों में आजीविका के लिये फैलना पड़ा। इसलिये विभिन्न प्रकार के सम्पर्कों से कई नवीन जीवन दृष्टियां पंजाब में प्रचार पा रही हैं। नगरों की महिलाओं में सामाजिक जागरण की अंगड़ाइयां, करवटें, और उन्मेष स्पष्ट रूप से मिलता है। अतः सृजन की रुचि, प्रकाशन की लालसा, विविध ललित कलाओं की शिक्षा—इन सब की ओर पंजाब की महिला अग्रसर हो रही है। पंजाब के ग्रामों में जागरण का यह रूप अभी इतना प्रखर नहीं हो पाया है। नगरों में जागृति का यह रूप छोटी मोटी गोष्ठियों, सभाओं से लेकर अनेक प्रकार की प्रतियोगिताओं कवि दरबारों में पल रहा है। कालेज की पत्र-पत्रिकाओं से लेकर प्रसिद्ध पत्र-पत्रिकाओं, में प्रकाश पा रहा है। इसी लिये मेरा विश्वास है कि पंजाबी कवियित्रियों का एक विशेष भविष्य है, एक विशेष इतिहास है—उनका जो वर्तमान है वह एक आने वाले विकास का आश्वासन दे रहा है।

पंजाबी साहित्य की ऐतिहासिक काव्य परम्परा में महिलाओं का कोई ऐसा विशेष योगदान नहीं मिलता, जो किसी ऐतिहासिक क्रम की शृंखला बन जाए। मध्ययुगीन भक्ति आंदोलन में भी पंजाब में कोई ऐसा महिला स्वर नहीं सुन पड़ता, जो मीरा की सी गहन प्रेरणा से व्याकुल हो लोकलाज और कुल कानि छोड़, सांवरिया के रंग में रंग घुंघरु बांध मुखरित हुआ हो। वैसे पंजाब ग्राम्य गीतों, लोकगीतों, जनगीतों का एक विशेष भंडार है नारी कंठ का उल्लास, हृदय का तरल भाव, संवेदना का विशद रूप उनमें मिलता है, आधुनिक पंजाबी काव्य साहित्य में महिलाओं के योगदान की जो धारा बह रही है, वह लोकगीतों के इसी मानसरोवर से निकली है।

इस धारा का सबसे अधिक महत्वपूर्ण तीर्थ अमृता प्रीतम है। उसका जन्म सन् १६१६ में एक आस्थावान सिख परिवार में हुआ। पंजाबी संस्कृति का विशद रूप अमृता प्रीतम की रचनाओं में मिलता है। यहां की मिट्टी की सौंधीगंध हवाओं की महक, दरियाओं की छलछल—यह सब उसके काव्य में अभिव्यक्ति पाते हैं। "अमृता की प्रयोग कालीन रचनाओं में सुधार परक दृष्टिकोण मिलता है। परन्तु उत्तरोत्तर उनकी रचनाओं में आत्मानुभूति की संवेदना प्रबल होती

गई है। अपने विरह दग्ध जीवन की प्रणयानुभूतियों---मजबूरियों की दर्द भरी गूंज, उसके गीतों में मिलती है। उसके समस्त काव्य पर वेदना की घनी बदली छाई रहती है --जो बरसने को व्याकुल है। पर बरस नहीं पाती। बस ऐसी ही घनीभूत विफलता का क्रंदन उसमें मिलता है, अमृता ने किसी विशेष जीवन-दर्शन का प्रचार नहीं किया। उसका जीवन की सहजगति में विश्वास है, प्रणय में ही उसकी मूल आस्था है। प्रणय को उसने सर्वथा आधुनिक रूप में चित्रित किया है। अतः उसकी रचनाओं में मुक्त प्रणय का उदात्त रूप मिलता है। मेरा अभिप्राय यह नहीं कि उसमें वैचारिक पक्ष का अभाव है। नारी होने के नाते उसने नारी जीवन की सभी विवशताओं को काव्य में स्वर दिया है। अनैतिकताओं के विरुद्ध आवाज़ उठाई है। उसकी काव्यचेतना आत्ममुखी व व्यक्ति केन्द्रित ही नहीं वह जीवन और जगत के प्रति सजग है। उसने किसानों, मज़दूरों के गीत भी गाए हैं। समाज की रूढ़ियों पर भी चोट की है। इन सभी पक्षों पर उसका गीतकार बेचैन हुआ है। उसके हृदय के संगीत की मधुर फुहार और कल्पना की शीतल प्यार से उसका सारा काव्यजगत् लहलहाता है। उसने अपने उपमान बिंब एवं योजनाएं जन-जीवन के परिचित संदर्भों से लिये हैं। इसीलिये उसके गीतों में संप्रेष्यता और संवेदना का उदात्त रूप मिलता है। शिल्प और अभिव्यक्ति के क्षेत्र में उसने नवीन अध्याय खोले हैं --नई दिशाओं की ओर संकेत किए हैं। इसीलिये आज अमृता एक संस्था बन चुकी है। इसका स्कूल दिनोदिन विकास पा रहा है। आज गुणात्मक उपलब्धियों की दृष्टि से उसकी रचनाएं महत्त्वपूर्ण हैं। परन्तु एक बात जो विशेष रूप से उसमें खटकती है --वह है नगरबोध, आधुनिक वैज्ञानिक एवं औद्योगिक भावबोध, इन सभी का उसमें विशेष अभाव है। आधुनिकता के सनातन अंश का उस में यथेष्ट विस्तार नहीं--परन्तु अमृता का ऐतिहासिक महत्त्व सर्वोपरि है। वह महिला जगत में ही नहीं प्रत्युत पुरुष - जगत में भी काव्य प्रकाशन की दृष्टि से महान् है। अभी तक अमृता की लगभग पन्द्रह रचनाएं प्रकाशित हो चुकी हैं, जिनका विविध भाषाओं में अनुवाद भी हो चुका है, और स्वयं अमृता भी अपनी इस साधना के कारण अभिनंदित हो चुकी है। "सुनहड़ा" नाम की प्रसिद्ध काव्य रचना पर उसे साहित्य अकादमी की ओर से विशेष पुरस्कार भी मिल चुका है। नारी जीवन की आधुनिक प्रन्य जन्य समस्याओं का अमृता से बढ़ कर और कोई चित्रकार अभी तक पंजाबी काव्य साहित्य में

नहीं हुआ है। व्यक्तिचेतना के साथ साथ समाज चेतना का रूप भी इसमें मिलता है। पंजाब के विभाजन के समय जो बर्बरताएं एवं अमानुषिक अत्याचार हुए थे---अमृता ने उनकी निन्दा की है।

पंजाबी काव्य धारा का दूसरा तीर्थ प्रभजोत कौर है। अमृता स्कूल की अनेक संभावनाओं का विस्तार जो प्रभजोत में हुआ ही है। साथ साथ अनेक मौलिक अंकुर भी इस आंगन में फूटे हैं। आज अमृता एक विश्राम बिन्दु पर पहुंच चुकी है, जबकि प्रभजोत अभी उस ओर बढ़ ही रही है। अमृता अनेक अभावों, अतृप्तियों और असफल प्रणय की उपज है, अतः अधिक मर्मस्पर्शी है, परन्तु प्रभजोत जीवन की सभी सुख सुविधाओं, सफल-दांपत्य जीवन, तृप्ति और तोष की उपज है। अतः उसमें जीवन का सहज उल्लास है। प्रभजोत ने देश देशांतर का पर्याप्त पर्यटन किया है। अतः जिससे उसके दृष्टिकोण में एक विशेष व्यापकता आ गई है। उसकी अनुभूति का क्षेत्र अमृता की अपेक्षा विस्तृत तो है ही, भिन्न भी है, वैसे दोनों मूल रूप में नारी जीवन की चित्रकार हैं। अमृता की वेदना जन्य व्याकुलता के स्थान पर प्रभजोत में विशद चिंतन और बौद्धिकता के दर्शन होते हैं। दोनों की सृजन प्रक्रिया में भी एक विशेष भेद है। अमृता ने अपने व्यक्ति और इकाई का समाहार समूह में किया है जबकि प्रभजोत ने समूह का माध्यम से अपने व्यक्ति के हर्ष उल्लास को वाणी दी है। प्रभजोत और अमृता समाज और नारी जीवन के चित्रण में एक दूसरे के निकट हैं, परन्तु उनका व्यक्ति एक दूसरे से भिन्न है और दूर है। प्रभजोत विकास का अगला चरण है। इसके पर्याप्त काव्य संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं जिसमें "पब्बी" विशेष उल्लेखनीय है, जिस पर साहित्य अकादमी ने इसे सम्मानित किया है। पिछले वर्ष पंजाब सरकार ने भी इसे राज्य कवि नियुक्त किया था। आज प्रभजोत परम्परा की एक कड़ी भी है और स्वयं भी एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व है।

इसी प्रसंग में बलजीत कौर तुलसी का नाम परम्परा का अगला चरण है। उसका सम्बन्ध भाई वीर सिंह के रहस्यवादी स्कूल से है। जहां अमृता का स्कूल भाई वीर सिंह स्कूल की प्रतिक्रिया में चला था, वहां बलजीत अमृता और प्रभजोत की सम सामयिक होते हुए भी उनके स्कूल से अलग है। उसने अपनी रचनाओं में आध्यात्मिकता का विवेचन किया। जीव और ब्रह्म का जो स्वरूप है सिख दर्शन एवं गुरुवाणी में प्रतिपादित हुआ है, उसका विशेष प्रभाव बलजीत पर है, भाई वीरसिंह

और प्रो० पूर्ण सिंह की आध्यात्मिक तड़प जिज्ञासा, रहस्यपरक अभिव्यक्तियों तथा अरूप, अरंग, ब्रह्म एवं अद्वैत का आभास इनकी रचनाओं से मिलता है, जिनमें नीलकंठ,नीलांबर, नीलकमल विशेष प्रसिद्ध हैं। बलजीत ने गीत और गद्य गीत दोनों प्रकार की कविताएं लिखी हैं, जिनमें लय एवं संगीत का सुन्दर निर्वाह हुआ है। भाई वीरसिंह का स्कूल अपनी सारी संभावनाएं जी चुका है। अतः बलजीत के काव्य में चिंतन की कोई विशेष विशदता एवं नवीनता नहीं मिलती है। ऐतिहासिक क्रम में इसका महत्व अविवाद्य है।

इसी क्रम में कुछ एक और भी छोटी छोटी महत्वपूर्ण कड़ियां हैं, जिसमें जसवन्त कौर आहलूवालिया विशेष है। उसने अमृता स्कूल के प्रभाव में सृजन किया है। ग्राम्य बोध को लोकधुनों की शैलियों में बांध कर उसने यश प्राप्त किया है। पंजाब के प्रसिद्ध नृत्य गीत-गिद्धा, झूमर, टप्पे, बोलियां आदि में उसने एक ओर जन जीवन को बांधा है, दूसरी ओर अपने प्रणय की निश्छल अभिव्यक्तियां की हैं, इसीलिये इसके गीतों में सहज सुख का मृदु स्पर्श मिलता है। इसकी प्रसिद्ध काव्य रचना "रेतथल" पर पंजाब सरकार ने प्रथम पुरस्कार दिया है।

अन्य महिला लेखिकाओं में हरनाम कौर, राजवेदी, जसबीर कौर, हरीन्द्र कौर और निरंजन कौर का नाम भी उल्लेखनीय है। इनके स्वतन्त्र काव्य संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। जिनमें इनके विशद रूप की महत संभावनाएं पल रही हैं।

सुपनमाला में प्रभजोत कौर जैसी व्यापक जीवन दृष्टि और भावबोध है। "सुपनिआं दी माला" नाम की रचना पर इन्हें जम्मू काश्मीर सरकार का विशेष पुरस्कार भी मिल चुका है, जिसमें इसके कवि का सहजरूप मिलता है।

ऐसी ही अनेक महिला प्रतिभाएं काफी मात्रा में सृजन कार्य में लीन हैं। उनकी उपलब्धियां निश्चित ही एक दिन पंजाबी महिला कवयित्रियों की परम्परा समृद्ध करेंगी।

● ● ●

हिन्दी में "बापू" विषयक "प्रबन्ध काव्य"

लीलाधर वियोगी

विश्व-वंद्य महात्मा गान्धी को यदि विगत अर्द्धशताब्दी के भारतीय इतिहास का निर्माता स्वीकार करें तो इसमें तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं होगी। बापू ने भारत के राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक तथा साहित्यिक, किस क्षेत्र को प्रभावित नहीं किया? भारतीय जन-समाज के किस अंग को, बापू की महान् देन नहीं है? उनके विराट व्यक्तित्व की गहरी छाप भारत के इतिहास पर युग-युग तक रहेगी। बापू ने एकदम अनोखे और अभूत-पूर्व ढंग से भारत वासियों को आन्दोलित करके उनमें नई चेतना को जागृत किया। उन्होंने समस्त देश को राष्ट्रीयता की सबल प्रेरणा दी। अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद का समूलोच्छेदन करना, तथा भारत में 'स्वराज्य' की स्थापना करना —यही लक्ष्य उन्होंने भारतीयों को सुझाया। इतना ही नहीं, इस लक्ष्य को प्राप्त करने के साधन भी उन्होंने प्रस्तुत किये। बापू ने अनोखी सूझ बूझ के साथ इस विशाल देश का नेतृत्व किया, परिणामस्वरूप वह कोटि कोटि जनों के प्रतिनिधि बन गये। उनकी वाणी में समस्त भारत बोलता था। वह राष्ट्र के प्रतीक बन गये थे। अगाध श्रद्धा से परिपूर्ण होकर जनता उन्हें राष्ट्रपिता कहने लगी थी। सचमुच वह युगान्तरकारी "युग पुरुष" थे।

बापू के जीवन-काल में ही एक 'युगावतार' की भांति उनकी पूजा होने लगी थी लोगों के हृदयों में उनके प्रति अगाध श्रद्धा एवं असीम भक्ति-भावना का संचार हो गया था। हिन्दी के कवियों का, बापू के त्याग, कष्ट-सहिष्णुता, उदारता, महानता, संयम एवं आदर्श जीवन से प्रभावित होना भी अत्यन्त स्वाभाविक था। करोड़ों भारतीयों को परतन्त्रता की शृङ्खलाओं से मुक्ति दिलाने वाले इस तपस्वी सन्त तथा मनस्वी महामानव के प्रति, हिन्दी

कवियों ने अपने हृदय की भावनाओं को सम्पूर्ण भव्यता के साथ अभिव्यंजित किया है। उन्होंने बापू के चरणों में अपनी कविता के कमनीय कुसुम अर्पित किये हैं।

सन् १९४८ में बापू के 'महा-प्रस्थान' के अवसर पर तो सहस्रों कवियों ने अपनी भाव-भीनी, अश्रु-सिक्त श्रद्धाञ्जलियां अर्पित कीं। शोक-गीतों का एक क्रम सा चलता रहा। निष्कर्ष यह है कि हिन्दी में गान्धी जी के विषय में विपुल कविता एवं गीत भाण्डार विद्यमान है--परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में हमें उनसे कोई प्रयोजन नहीं। हमारा विवेच्य तो वे 'प्रबन्ध काव्य हैं जिन में बापू के समग्र जीवन की पूर्ण झांकी प्रस्तुत की गई है, उनके "जीवन-दर्शन" को काव्य का रूप दिया गया है :--

"महामानव" -- इस प्रबन्ध काव्य के रचयिता हैं--श्री ठाकुर प्रसाद सिंह। 'महामानव' की रचना बापू के जीवन काल में ही, भारत की स्वतन्त्रता-प्राप्ति से भी पूर्व, सन् १९४६ ई० में हो गई थी। यह पन्द्रह सर्गों में विभक्त है। कवि ने गान्धी जी के जीवन से चुनी हुई कुछ घटनाओं को काव्य-बद्ध किया है। 'महामानव' में घात प्रतिघात एवं संघर्षों की प्रधानता है। कवि ने इस काव्य को "जन-जागरण की महागाथा" कहा है। 'महामानव' में मानवमात्र के लिये समानाधिकार का उद्घोष, शोषण के विरुद्ध आक्रोश की तीव्र व्यंजना, सत्य और अहिंसा का गौरव-गान तथा धार्मिक ऐक्य का प्रतिपादन हुआ है। काव्य के अन्त में उक्त भावनाओं को छायाओं में परिवर्तित कर दिया गया है। काव्य के नायक महात्मा गान्धी 'मानवता' के प्रतीक बना दिये गये हैं।

स्वरूप-विधान की दृष्टि से इसमें 'महाकाव्य' के बाह्य लक्षणों का निर्वाह होने पर भी समालोचकों ने 'महामानव' को महाकाव्य स्वीकार नहीं किया। इस विषय में डा० गोविन्दराम शर्मा का कथन द्रष्टव्य है -- "कथानक गत विशृंखलता की चरित्र चित्रण की अस्वाभाविकता और रसात्मक स्थलों की उपेक्षा के कारण महाकाव्य की दृष्टि से महामानव एक सफल रचना सिद्ध नहीं होती।"[1]

महाकाव्योचित रसवत्ता, जीवन्त कथानक एवं गरिमामय अभिव्यंजना न होते हुए भी 'महामानव' का गांधी जी के सम्बन्ध में सर्व प्रथम काव्य होने के कारण, ऐतिहासिक महत्व है।

"बापू"--इस काव्य की पृष्ठभूमि भारतीय इतिहास की वह करुण वेला है जब कि भारत में साम्प्रदायिकता का ताण्डव पूरी भयंकरता के साथ हो रहा

१. हिन्दी के आधुनिक महाकाव्य, पृ० ४६९।

था । मानव ने दानवीय कुकृत्यों से समस्त देश के वायुमण्डल को दूषित कर दिया था । गांव-गांव, नगर-नगर में अग्नि की ज्वालाएं धधक रही थीं। चतुर्दिक भीषण नरसंहार हो रहा था। उस समय 'बापू' ने अपने प्राणों को संकट में डाल कर भी, उस ज्वाला को शांत करने के लिये 'नोआखली' की यात्रा की थी । मानव की इस क्रूरता एवं हिंसा-वृत्ति को 'नोआखली' यात्रा में बापू ने खुली चुनौती दी थी । पशुता पर मानवता की, हिंसा पर अहिंसा की विजय की इस महान् ऐतिहासिक घटना को कविवर रामधारीसिंह 'दिनकर' ने 'बापू' में प्रस्तुत किया है । 'बापू' का रचनाकाल सन् १९४६–४७ है । 'दिनकर' जी ने इस काव्य को "विराट के चरणों में एक वामन का दिया हुआ क्षुद्र उपहार" कहा है :—

ग्रीवा तक हाथ न जा सकते,
उंगलियाँ न छू सकतीं ललाट ।
वामन की पूजा किस प्रकार,
पहुंचे तुझ तक मानव विराट ।।

गान्धी जी से सम्बन्धित काव्यों में 'बापू' का विशिष्ट स्थान है । इसमें एक ओर चिन्तन की गहराई है तो दूसरी ओर भावों की कलात्मक अभिव्यंजना है । मानव प्रेम, शान्ति, सत्य, अहिंसा एवं करुणा की अबाध सरिता इसमें प्रवाहित हो रही है । गान्धी जी ने मानव के अन्तर में छिपे हुए 'देवत्व' को जगाने की चेष्टा की थी जन जन में निर्भयता का प्रचार किया था । 'दिनकर' ने कितने सुन्दर एवं सरस शब्दों में इसी भाव को व्यक्त किया है :—

नर के भीतर की दुनियां में,
है कहीं अवस्थित देवालय ।
सदियों में कभी कभी कोई
कर भी पाता जिस का परिचय ।।
मानवता का मरमी सुजान !
आया तू भीति भगाने को ।
अपदस्थ देवता को नर में
फिर से अभिषिक्त कराने को ।।

नोआखली में हो रहे साम्प्रदायिकता के ताण्डव का कितना सजीव चित्र कवि ने प्रस्तुत किया है :—

हंसों के नीड़ लगे जलने,
हंसों की गिरने लगी लाश ।
नर नहीं नारियों से होली,
खेलने लगा खुल सर्वनाश ।
कामार्त दानवों के नीचे
जगदम्बा कांप उठी थर थर,

× × ×

लपटों से लज्जा ढंको, कहीं हो
धधको, धधको घोर अनल ?.
कब तक ढक पायेंगे इस को
रमणी के दो छोटे करतल
नारी का शील गिरा, खण्डित
कौमार्य गिरा लोहू लुहान ।
भगवान भानु जल उठे क्रुद्ध
चिंघार उठा यह आसमान ।।

महात्मा गांधी ने जब यह भीषण अत्याचार देखा तो वह अपने प्राणों का उत्सर्ग करके भी इस धधकती ज्वाला को शान्त करने के लिये कटिबद्ध हो गये। नीचे की पंक्तियों में मानवता की रक्षार्थ बापू का उत्साह दर्शनीय है :—

मत साथ लगे कोई मेरे,
एकाकी आज चलूंगा मैं।
जो आग उन्हें है भून रही
उस में जा स्वयं जलूंगा मैं।

× × ×

बामी बामी पर घूम घूम मैं
तब तक अलख जगाऊं गा
जब तक न हृदय की सीता को
तुम से वापस फिर पाऊं गा ।।
या दे दूंगा मैं प्राण
खमंडल में हो चाहे जो उपाधि ।
मानवता की जो कब्र वही
गान्धी की भी होगी समाधि ।।

कवि ने बापू के हृदय की कितनी सुन्दर, स्वाभाविक एवं मार्मिक झांकी प्रस्तुत की है। भारतीय नारी की लज्जा को लुटते देख, बापू की आतुरता के वर्णन के अनन्तर कवि ने बापू को कलि का कृष्ण घोषित किया है। वह कहते हैं :—

बापू तू कलि का कृष्ण विकल
आया आँखो में नीर लिये
थी लाज द्रौपदी की जाती
केशव सा दौड़ा चीर लिये ।।

निष्कर्ष यह है कि 'बापू' एक अत्यन्त मनोहर काव्य है बापू के जीवन की ही एक महत्त्वपूर्ण घटना से सम्बद्ध होने के कारण यह स्पष्ट ही 'खण्डकाव्य' है। बापू की भाषा में ओज एवं प्रवाह है। भावों की अभिव्यंजना अत्यन्त सुन्दर एवं मार्मिक रूप में हुई है। 'बापू' हृदय पर अत्यन्त गहरा प्रभाव छोड़ जाती है। एक समालोचक के शब्दों में :—"इस विराट मानव का दर्शन दिनकर ने जिस रूप में नोआखली की पृष्ठभूमि में किया था, वह हम इस 'बापू' काव्य में देख कर कवि की अन्तदृष्टि पर मुग्ध हो जाते हैं।"१ निःसन्देह 'बापू' दिनकर की भाव और भाषा दोनों दृष्टियों से एक उदात्त कृति है।

जननायक :—इस प्रबन्ध काव्य के लेखक हैं—श्री रघुवीर शरण 'मित्र'। इस ग्रंथ में गान्धी जी के जीवन-वृत्त को इकत्तीस सर्गो में काव्यबद्ध किया गया है, जिसका आधार गान्धी जी द्वारा लिखित –'आत्मकथा' है। 'जननायक' की रचना बापू के दिवंगत होने के पश्चात् सन् १९४९ ई० में हुई थी। कवि ने गान्धी जी के सम्पूर्ण जीवन की, उनकी राजनैतिक गतिविधियों की, सामाजिक एवं सांस्कृतिक कार्यों की झांकी प्रस्तुत की है। गान्धी जी के नेतृत्व में कांग्रेस की ओर से चलाये गये विभिन्न आन्दोलनों

१. दिनकर की काव्य साधना पृ० १४६, लेखक प्रो० मुरलीधर श्री वास्तव।

की इस काव्य में सविस्तार चर्चा है। कांग्रेस के कलकत्ता -अधिवेशन की एक झांकी देखिए :—

महासभा कांग्रेस–सूर्य का
फैला था प्रकाश भूतल पर।
स्वतन्त्रता का दीपक देखो,
जिस की किरणों पर चल चल कर।।
कलकत्ते के अधिवेशन में रंग–बिरंगी चहल पहल थी।
देश भक्ति की मधुर वायु में,
'जय' की मंज़िल बहुत सहल थी।।
सब प्रबन्ध भी देखें आओ,
देखो खड़े स्वयं सेवक हैं।
मातृभूमि को गर्व इन्हीं पर,
मातृभूमि पर इनके हक हैं।।
(इत्यादि)

काव्य के आरम्भ में मंगलाचरण, प्रत्येक सर्ग में नये छन्द का प्रयोग तथा सर्गान्त में छन्द-परिवर्तन, गान्धी जी जैसे लोक विश्रुत धीरोदात्त महापुरुष की नायक-पद पर प्रतिष्ठा आदि, महाकाव्य सम्बन्धी बाह्य लक्षणों के विधान से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि कवि ने 'जन-नायक' की रचना एक महाकाव्य के रूप में की है। किन्तु बाह्य-दृष्टि से 'महाकाव्य' के कुछ लक्षणों का निर्वाह होने पर भी समालोचकों ने इसे महाकाव्य स्वीकार नहीं किया। प्रथम तो, गांधी जी की 'आतमकथा' पर आधारित होने के कारण इसमें मौलिकता का अभाव है, दूसरे कवि ने अनेक मार्मिक स्थलों की उपेक्षा की है। गान्धी जी की 'हत्या' के प्रसंग को कितना गम्भीर एवं करुण बनाया जा सकता था—पर कवि ने कितने नीरस एवं इतिवृत्तात्मक ढंग से इसे चलता कर दिया है :—

"किन्तु एक पागल हिन्दू ने चुपके से
पिस्तौल निकाला।
देख उसे मुस्काये बापू वह मीठी
मुस्कान उजाला।।
खून देख उस की आंखों में खिला
हुआ था कमल फाग सा।
वह उन्मत्त भयानक बन कर लाल
लाल हो गया आग सा।।

महाकाव्योचित रसात्मकता का भी 'जननायक' में अभाव सा ही है। राजनैतिक कर्कशता, ऐतिहासिक तथ्यों का नीरस वर्णन, अप्रासंगिक एवं असम्बद्ध चर्चाएं, कल्पना शक्ति का अभाव तथा उपदेशों की भरमार के कारण यह एक उत्कृष्ट काव्य नहीं बन पाया। ब्रह्मचर्य महिमा, मांसाहार की निन्दा शराबबन्दी, आदि विषयों पर कवि ने हृदय खोल कर उपदेश दिए हैं। नारी के मोहजाल में ग्रस्त मानव की शोचनीय अवस्था का एक चित्र लीजिये। स्पष्ट ही इसमें काव्यत्व कम और उपदेशात्मकता अधिक है :—

यौवन की जंजीर डाल कर नारी
नचा दिया करती है।

एक मधुर मुस्कान हृदय को बरबस
खींच लिया करती है ।।
तृप्ति नहीं तेरी मनुष्य ! यह, प्यास
नहीं बुझती पी पी कर ।
अन्त पियासा ही जायेगा,
चाहे जितनी पी जीवन भर ।।

डा० गोबिन्द शर्मा ने 'जननायक' के विषय में उपयुक्त ही कहा :-- "जन नायक" में महाकाव्योचित उत्कृष्ट कवित्व शक्ति और शैलीगत गम्भीरता तथा रमणीयता का अभाव ही दृष्टिगत होता है ।१ डा० प्रतिपाल सिंह भी इसे 'महाकाव्य", न मान कर 'चरितकाव्य' कहना अधिक उपयुक्त समझते हैं ।२ पर हमारे विचार में चरितकाव्य में चरित्र चित्रण में जो मनोवैज्ञानिकता एवं प्रभविष्णुता होती है, जननायक में इस का भी अभाव है । गान्धी जी अभी बालक ही रैं । अल्प वयस में ही कस्तूरबा से उनका विवाह हो गया है। विवाह के प्रारम्भिक दिनों में गान्धीजी कि कामातुरता का वर्णन देखिए :--

प्रतिपल मोम से मन में रस की
चाह बनी रहती थी ।
कब हो रात्रि मिलू कब 'बा' से,
मन की कली यही कहती थी ।।
बात किया करते पत्नी से,
सोने नहीं दिया करते थे ।
मन के उजियाले दीपक को ।
मन्दा नहीं किया करते ।

इस पर टिप्पणी करते हुए डा० गोविन्द शर्मा लिखते हैं --

"गान्धी जी जैसे भावी जन-नायक' का एक सामान्य कामातुर प्रेमी के रूप में चित्रण अस्वाभाविक ही प्रतीत होता है ।"३ इस विषय में हमारा विचार यह है कि उक्त वर्णन 'अस्वाभाविक', तो नहीं है । तथ्यों पर भी आधारित है-- पर कवि उपर्युक्त शब्दों में अपनी बात नहीं कह पाया । प्रतीकों की सहायता से, उक्त तथ्यों को 'काव्यत्व' में लपेट कर प्रस्तुत किया जा सकता था निष्कर्ष यह है कि कवि ने यद्यपि गान्धी जी पर काव्य लिखने का साहस पूर्ण प्रयत्न किया है, पर उसमें रमणीयता एवं स्वाभाविकता लाने में कवि सफल नहीं हुआ ।

जगदालोक:--बीस सर्गों में विभाजित, श्री गोपाल शरण सिंह जी द्वारा रचित प्रबन्ध काव्य है । इस काव्य का रचनाकाल सन् १९५२ है । कवि ने गान्धी जी के जीवन की महत्त्वपूर्ण एवं चुनी हुई घटनाओं को ही काव्य का रूप दिया है । काव्य की दृष्टि से महत्त्वहीन

१ हिन्दी के आधुनिक महाकाव्य, पृ० ४७३ ।
२ देखिये--"बीसवीं शताब्दी (पूर्वार्द्ध) के महाकाव्य," पृ० ५८-८९ ।
३ हिन्दी के अधुनिक महाकाव्य, पृ० ४७३ ।

एवं छोटी छोटी घटनाओं को कवि ने छोड़ दिया है । गांधी जी का जन्म, शिक्षा, इंगलैंड-यात्रा बेरिस्टरी के उपरान्त भारत प्रत्यागमन, दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह का श्री गणेश, भारत में स्वतन्त्रता-संघर्ष, जेल यात्राएं, देश में स्वतन्त्रता का सूर्योदय, भारत-विभाजन, शरणार्थियों की दीन हीन अवस्था, साम्प्रदायिक उपद्रव और बापू द्वारा उन्हें शान्त करने का प्रयत्न, गांधी जी की हत्या, और शोक-विह्वल विश्व द्वारा शोक प्रदर्शन एवं दाह-संस्कार आदि घटनाओं को काव्य में प्रस्तुत किया गया है ।

'जगदालोक' का आरम्भ अत्यन्त भव्य एवं कल्पना प्रसूत है । कवि ने आरम्भ में हिम-मण्डित, उत्तुंग-शृंग, पर्वतराज हिमालय की गरिमा-मय झांकी अंकित की है :—

सरिताएं उस के शरीर का,
करती हैं प्रक्षालन ।
प्रकृति वधू करती है उस का
मृदुल करों से मंडन ।।
उस के शिखरों पर करती हैं
रवि शशि किरणें नर्तन ।
अगणित झरने उसे सुनाते,
हैं मनोज्ञ मृदु गायन ।।

अगणित झरने उसे सुनाते हैं, मनोज्ञ मृदु गायन ।। हिमगिरि पर शिव और पार्वती परस्पर वार्तालाप कर रहे हैं । वे भारत की परतन्त्रता से चिन्तित हैं । 'भारत कब और कैसे स्वतन्त्र होगा ?" पार्वती के इस प्रश्न का उत्तर भगवान शंकर दे रहे हैं :—

लेगा जन्म भारत में कोई दिव्यात्मा नर ।
होगा फिर स्वाधीन देश यह,
उस का सम्बल पाकर ।।

गान्धी जी के जन्म की ओर कैसा मनोरम संकेत है !

कवि ने कथानक को सुसम्बद्ध रखने का भरसक यत्न किया है फिर भी कहीं कहीं शृंखला टूट ही गई है । इतिवृत्तात्मक प्रसंगों से यथाशक्ति कवि ने बचने का प्रयत्न किया है, इसलिये कतिपय प्रधान घटनाओं को भी स्वल्प शब्दों में ही (यथा-दूसरा सर्ग) वर्णन कर दिया गया है । गान्धी जी के जीवन के मर्मस्पर्शी-प्रसंगों से कवि ने पूरा पूरा लाभ उठाया है । कवि द्वारा वर्णित सत्याग्रह आन्दोलन अत्यत सजीव तथा प्रभावशाली है । गान्धी जी की हत्या का प्रसंग भी हृदय स्पर्शी बन पड़ा है। विश्वव्यापी शोक की अत्यन्त करुण शब्दों में व्यंजना की गई है । प्रकृति के भी कई रस-सिक्त चित्र काव्य में उपलब्ध हैं। 'बापू' के चरित्र की महानता, उनकी सत्य-परायणता, सेवा मानवप्रेम, करुणा, दयालुता, अहिंसा, दृढ़ता एवं उदारता की 'जगदालोक' में यत्र तत्र सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है ।

सारांश यह है कि यद्यपि 'महाकाव्यत्व' की दृष्टि से विचार करने पर इस कृति के कई दोष सामने आ जाते हैं— पर अनेक स्थलों पर इसमें उच्चकोटि का काव्य-सौष्ठव विद्यमान है । 'जगदालोक' एक सफल प्रबन्ध काव्य तो है ही, साथ ही बापू के विषय में लिखे गये सभी प्रबन्ध काव्यों में यह उत्कृष्टतम रचना है—इसमें कोई सन्देह नहीं !

● ● ●

विशेष सूचना

हमारे पास 'सप्तसिन्धु' के आगामी विशेषांक के लिए बहुत सी रचनाएं प्राप्त हो चुकी हैं । एक विषय पर कई रचनाएँ हैं और कई पिष्टपेषण-मात्र हैं । इस स्थिति में हम सभी रचनाओं को प्रकाशित करने में असमर्थ रहेंगे । केवल उन्हीं लेखकों की रचनाएं स्थान पा सकेंगी जिन्हें हमने एतदर्थ लिखित प्रार्थक की है ।

विनीत

सम्पादक

ग्रीक का महान नाटककार थेसपिस

नरोतम शर्मा

विश्व की प्राचीन सभ्यताओं में जिन प्रमुख देशों ने आज की सभ्यता के लिए पथ प्रशस्त किया उनमें ग्रीक का विशिष्ट स्थान है। मानव जीवन से संबंधित जटिलतम कला और विज्ञान के प्रश्नों पर मनन तथा विचार प्रकाशन में वहां के विचारकों का विशेष योगदान है। प्राचीन ग्रीक की कला आज भी विश्व के प्रगतिशील राष्ट्रों के कलाकारों के लिये अनुकरणीय है इसका श्रेय उन महान ग्रीक नाटककारों एवं शिलिपयों को है जिन्होंने मानव जीवन के तात्कालिक, स्थानीय एवं वैयक्तिक प्रश्नों पर ही नहीं अपितु सार्वभौमि, सार्वकालिक एवं लोक की समस्याओं एवं प्रश्नों पर अपना चिन्तन अपनी कला के माध्यम से स्पष्ट किया था। इसी लिये यू जीन "ओ" नील फ्रेनील, एलियट, जेराद, और सात्र जैसे आधुनिक कलाकारों को ग्रीक अवसादिक नाटककार प्रेरणा देते हैं।

ग्रीक नाटक कला की समुन्नति आकस्मिक या विशेष घटनावशात् नहीं हुई थी वरन् साधकों की सतत् साधना, अन्वेषण, परीक्षण और जीवन के श्वास प्रवास उसमे पिरोए गए थे। एटिक दुखांत नाटकों का जन्मदाता थेसपिस माना जाता है। वह ग्रीस में माराथॉन के निकट आईकारिया का निवासी थेसपिस के निवास स्थान के चतुर्दिक घने जंगल और मनोरम घाटी का प्राकृतिक वातावरण चित्रमय अथवा कवितामय था।

थेसपिस के जीवन के विषय में अत्यल्प सूचनाएं प्राप्त हैं। उसके जन्म काल (लगभग छठी शताब्दी का प्रारम्भ) की सामाजिक एवं राजनैतिक अवस्थाओं से कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। उसके समय में सामाजिक दुर्व्यवस्था व्याप्त थी। अतः समकालीन उथलपुथल का उसके मानस पटल पर अवश्य ही प्रभाव पड़ा होगा। कुछ काल के लिये उसका कवि जीवन मात्र आईकारिया के

इर्द गिर्द ही सीमित रहा। ऐसा विश्वास किया जाता है कि थेसपिस ने अपने अवसादिक नाटकों का प्रणयन संभवत: ५६० में प्रारम्भ कर दिया था।[1] किन्तु थेसपिस के तब तक के नाटक व्यक्तिगत और ऐच्छिक स्वभाव के ही थे उन्हें राज्य का संरक्षण प्राप्त नहीं था ५३५ में ही थेसपिस के नाटकों को राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त हुई तथा उनके भविष्य में उन्नयन के लिए सार्वजनिक वार्षिक प्रतियोगिता संगठित करने वाले संस्थान ने उत्तरदायित्व लिया। ई० पू० ५३५ के पूर्व तक तो थेसपिस के जीवन का विवरण अज्ञात सा है। ई० पू० ५३५ में ही प्रथम बार अथेन्स में दुखांत नाटकों की सार्वजनिक प्रतियोगिता हुई और थेसपिस ने उसमें भाग लिया सुइड्स[2] ने यह समय ईसा पूर्व ५३५ की बसंत ऋतु निर्धारित किया है। इसी समय पीसिसट्रास ने, जो कि जालसाजी से निष्ठुर शासक बन गया था, अपनी द्वितीय निर्वासन अवधि पूरी करके पुनश्च द्वितीय बार सत्ता प्राप्त की थी, जो उसकी मृत्यु के साथ ही ५२७ ई० में समाप्त हुई। उसके अन्तिम शासन काल में सत्ता अत्यन्त सम्पन्न बताई गई है। वह कला और साहित्य का प्रेमी था तथा जनरुचि के हेतु उसने बहुत से कार्य किये थे। अपोलो और जियस के प्रसिद्ध मंदिरों का निर्माण और अपने संरक्षण में होमर की कविताओं का सम्पादन भी उसने कराया था। उसकी हस्तलिपियों का संग्रह ग्रीस में सर्वत्र प्रसिद्ध था। अत: यह स्वाभाविक ही प्रतीत होता है कि ऐसे शासक के शासन काल में दुखान्त नाटकों की सार्वजनिक प्रतियोगिताओं का आयोजन प्रारम्भ हो। इन प्रतियोगिताओं का दृश्य स्थल डायोनिसिया नगर था।

थेसपिस के निवास स्थान की एक और विशेषता थी कि वह डिओनिसउस की अराधना और परम्परागत विश्वासों का केन्द्र था। अत: स्वभावत: ही उसके मानस पटल पर, डिओनीसउस की पौराणिक कथाओं एवं घटनाओं का प्रभाव पड़ा और उनकी प्रतिक्रिया हुई होगी। यही वह स्थान था जहां पर प्रथम बार थेसपिस के मन में डिथीरांव के संशोधन-परिवर्धन की कल्पना जागृत हुई। पहले सहगान में कुछ सदस्य होते थे किन्तु थैसपिस ने उसमें उनके प्रतिरोध के लिये एक अभिनेता का भी प्रवेश कराया। थैसपिस के पूर्व तक प्रमुख पात्रों में से कोई भी स्वयं उपस्थित होकर अपनी स्वतंत्र कथा, व्याख्यान या संभाषण के रूप में नहीं बताता था।

---

१ प्लू० सौलन, चै० २९.

२ इ० एन० आफ० जी० टी० प्र० ३७.

यह बहुत बड़ी कमी थी । इस कमी को पूर्ण करने तथा इसमें सर्वप्रथम योगदान करने का श्रेय थेसपिस को ही है । जिस अभिनेता का प्रवेश थेसपिस ने कराया वह आवश्यकतानुसार क्रमश: नाटक के सभी पात्रों का अभिनय स्वयं कर लेता था । इस प्रकार वह देवताओं से लेकर संदेशवाहक तक का अभिनय स्वयं करता था । थेसपिस की महान देन यह भी थी कि उसने डिथीराम्ब को विवरण रहित विशुद्ध नाट्य काव्य बना दिया था । नाटक के इतिहास में यह एक क्रांतिकारी घटना थी कि नाटक के पात्र ने प्रथम बार बिना नाटकेतर चरित्र की सहायता के दर्शकों के सम्मुख नाटक को प्रदर्शित किया । और इसी महत्त्वपूर्ण योगदान तथा अविष्कार के लिए थेसपिस दुखान्त नाटकों का वास्तविक जन्मदाता माना गया ।

थेसपिस के नाटक अति साधारण रूप में संपन्न होते थे । सर्वप्रथम अभिनेता रंग मंच पर उपस्थित होकर एक व्याख्यान देता था इस व्याख्यान का तात्पर्य कथा-वस्तु का प्रारम्भिक परिचय देना होता था इसी प्रस्तावना को 'प्रो-लॉग' की संज्ञा दी गई थी । इसके पश्चात् सहगीतों की एक शृंखला प्रारम्भ होती थी जोकि सह-गायकों द्वारा मंच के सामने गाई जाती थी । प्रत्येक सहगीत के मध्यांतर में अभिनेता और दूसरे पात्र क्रमश: उपस्थित होते थे । अभिनेता मंच पर उपस्थित होने के पश्चात् या तो किसी अन्यत्र घटित घटना का विवरण प्रस्तुत करता था या फिर सह-गायकों के नेता से वार्ता करता था । थेसपिस के काल में, जबकि अभिनेता अकेला होता था तब तो उसका और सह-गायकों के नेता का परस्पर (परिचर्चा या) सम्भाषण होता ही था, किन्तु इस काल के पश्चात् भी जबकि अभिनेताओं की संख्या एक से बढ़ कर तीन हो गई तब भी "प्रो-लाग" और सह-गान के नेता के साथ प्रथम अभिनेता का सम्भाषण लगभग एक निश्चित सीमा तक उसी प्रकार बना रहा ।

थेसपिस की स्वयं की रचनाओं के विषय में बड़ा विवाद है । ऐसा विश्वास किया जाता है कि उसकी कोई भी रचना उपलब्ध नहीं; संभवत: सभी नष्ट हो गई हैं और प्रारम्भिक नाटककारों की ही भांति थेसपिस भी स्वयं ही नाटकों की भूमिकाओं में भाग लिया करता था", तथा भिन्न पात्रों की अवस्था, स्थिति आदि के अनन्तर प्रदर्शन के लिये वह शीघ्रता से भेष बदल लिया करता था । इस कार्य के लिये वह पहले अपने चेहरे को श्वेत शीशे के चूर्ण, नागधातु अथवा कुल्फे के रंग से रंगा करता था । कालान्तर में उसने एक प्रकार के सन के

वस्त्र से बने मुखौटे का आविष्कार कर लिया। काफी समय बाद तक भी स्त्री पात्रों के लिये मुखौटे नहीं बन पाए थे। इससे यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि थेसपिस के काल तक नाटकों में स्त्री पात्रों का प्रवेश नहीं हो पाया था।

सम्भवत: थेसपिस के ही तत्त्वावधान में ग्रीक नाटकों का विषय क्षेत्र व्यापक हुआ था। तब तक नाटकों का विषय मात्र डिग्रोनिसउस से संबंधित कथानक ही थे। किन्तु अब उन्हें छोड़ कर यह क्षेत्र वृहदतम हो गया, कलाकारों ने ग्रीक के पौराणिक कथा-कोष से सम्पर्क स्थापित किया। इस विषय-अभियान का श्रेय प्लूटार्क ने आगे के युग को दिया है जबकि आरिस्टॉटिल के शिष्य कामाएलिग्रान ने इसका श्रेय थेसपिस को ही दिया है।

५६० में थेसपिस ने अपने नाटकों का प्रदर्शन प्रारम्भ कर दिया था। थेसपिस और उसके सह-गायक लोक उत्सवों में भाग लेने के लिए स्थान-स्थान पर गाड़ियों पर घूमते थे। कहा जाता है कि थेसपिस के किसी नाटक के प्रदर्शन के अवसर पर सोलन उपस्थित था उसने थेसपिस की नवीन कला एवं अभिनय के नवीन ढंग को आमान्य घोषित कर दिया था। उसका प्रमुख विरोध थेसपिस के उस नूतन आविष्कार से था जिसमें अभिनेता छद्मवेषी वीर पुरुष या देवता बन जाता था। उसने थेसपिस को ऐसी कृत्रिमता उत्पन्न करने के लिये भला-बुरा कहा किन्तु थेसपिस ने मनोरंजन के लिये ऐसे छद्मवेष एवं कृत्रिमता को साम्य बताया। तब सोलन ने रुष्ट होते हुए यह भय प्रगट किया कि ऐसा ही धोखा लोग जीवन में उतार लेंगे और तब वह मात्र रंगमंचीय न होकर वास्तविक जीवन का अंग बन जायेगा और सामाजिक जीवन भ्रष्ट हो जायगा। सोलन का कथन सत्य ही निकला क्योंकि उसके कुछ ही काल पश्चात् पीसीस्ट्राटुस ने जाल रच कर अपना निष्ठुर शासन स्थापित कर लिया था। उसने अपने आपको स्वयं हीं आघातों के द्वारा घायल कर लिया और तत्पश्चात् यह प्रचार करता फिरा कि उसका जीवन खतरे में है। उसका लोगों ने विश्वास कर लिया और उसे अंग रक्षक प्रदान कर दिया गया। और तब उसने पूर्व योजनानुसार शासन तंत्र पर अधिकार कर लिया।

थेसपिस की रचनाओं में नाटकीय तत्त्व कम किन्तु गीति तत्व अधिक हैं। कथा वस्तु में घटनाओं की भिन्नता का सर्वथा अभाव है। उसकी रचनाओं का मुख्य आकर्षण सह-गान और नृत्य है। वास्तविकता तो यह है कि उसकी स्वयं की रचनाएं इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं थीं जितना कि उसका नाटक संबंधी योगदान

था। थेसपिस ग्रीक नाट्य जगत के इतिहास में अपना स्थायी स्थान मात्र अपनी शोधनात्मक वृत्तियों और कृतियों के आधार पर कर गया है। उनकी अपेक्षा उसकी नाटकीय रचनाओं का कम ही महत्त्व है। इस महान कलाकार की जीवन लीला संभवत: अपने संरक्षक पीसीस्ट्राटुस के पूर्व ही समाप्त हो गई।

थेसपिस की मृत्यु के लगभग अर्ध शताब्दी पश्चात् महान नाटककार एस्काइलुस का काल प्रारम्भ होता है। किन्तु इस अर्ध शताब्दी के मध्यांतर में कई नाटककारों ने अपना योगदान दिया। प्रमुख रूप से इस काल के नाटककार कोएरिलुस, प्राटिनास और फ्रिनिकुस हैं। कोएरिलुस ने १६० नाटक लिखे। उसने मुखौटों और अभिनेता के वस्त्राभूषण में भी कुछ संशोधन किया। किन्तु उसकी प्रसिद्धि और प्रशंसा उसके उन नाटकों के कौशल पर निर्भर करती है जोकि उसने बन देवता के संबंध में लिखे थे। प्राटीनास इस समुदाय का दूसरा महान कलाकार, डोरिक ज़िले का निवासी था। इस नाटककार के विषय में भी बहुत कम ज्ञात है। कहा जाता है कि इसने एस्काइलुस से किसी प्रतियोगिता में प्रतिद्वंदिता की थी। उसमें १८ दुखांत नाटक और ३२ वन देवता संबंधी नाटकों की रचना की थी। कला की दृष्टि से उसकी रचनाएं बहुत श्रेष्ठ नहीं मानी जातीं। उसने अपने जीवन काल में मात्र एक प्रतियोगिता जीती थी। किन्तु वनदेवता संबंधी नाटकों के रचयिता के रूप में उसका स्थान एस्काइलुस से दूसरा है। प्राटीनास ने अपनी कला का प्रदर्शन अथेन्स में किया था। वह ग्राम देवता संबंधी नाटकों का आविष्कारक माना गया है। यद्यपि थेसपिस के काल से ही डिओनीसउस संबंधित कथाओं को छोड़ कर नाटकों का विषय क्षेत्र पर्याप्त विस्तृत और सम्पन्न दिशा की ओर आकर्षित हुआ था किन्तु धर्म-भीरू जनता ने इस विषय विस्तार को अपने देव की अवमानना समझा। परिणाम—स्वरूप इसका छिट-पुट विरोध भी प्रारंभ हुआ। प्राटीनास का प्रवेश ग्रीक नाट्य जगत में ऐसे ही संक्र-मण काल में हुआ था। उसने समय और समाज की मांग तथा रुचि को परख कर प्राचीन ढंग के नाटकों का निर्माण किया। वे नाटक बहुत ही लोकप्रिय हुए और कला की एक निश्चित शाखा के रूप में स्वीकृत हुए।

एस्काइलुस के पूर्व फ्रीनीकुस ही दुःखान्तक नाटकों का सम्राट् था। दुखान्त नाटकों की प्रतियोगिता में उसकी प्रथम विजय ई० पू० ५११ और द्वितीय ४७६ में विशेष उल्लेखनीय है। अयरस्टोफनेस ने उसे आकर्षक व्यक्तित्व का

स्वामी बताया है और साथ ही उसे अत्यन्त सुन्दर नाटकों का रचयिता घोषित किया है। फ्रिनिकुस ने अपने नाटकों के लिये अनेक विषयों का प्रयोग किया था। उसने ऐतिहासिक कथानकों पर दुखान्त नाटकों का निर्माण किया। एक बार उसने अथेन्स की एक ऐतिहासिक घटना पर इतना कारुणिक नाटक बनाया कि समस्त दर्शक दारुण करुणा से भर गए और उसे इतना कारुणिक नाटक निर्माण करने के लिये दंडित किया गया। उसने पेरसाए से युद्ध के आधार पर एक नाटक पुनः लिखा और इसमें ग्रीक निवासियों की विजय और उनके शौर्य का दिग्दर्शन कराया। उसकी यह कृति अधिक सफल और लोकप्रिय रही। अपने नाटकों के निर्माण में वह सहगान के नृत्यों पर विशेष ध्यान देता था। यह प्रथम नाटककार था जिसने स्त्री मुखौटों का प्रयोग किया था। उससे नाट्य-कला को जो दिशा दी थी उससे आगे आने वाला नाटककारों का समुदाय अत्यन्त प्रभावित था। स्वयं एस्काइलुस ने अपने पेरसाए की रूप रेखा फ्रिनीकुस के फोएनिस्साए से ली थी। सोफोक्लीस ने उसकी अत्यन्त प्रशंसा की और यदा कदा उसका अनुकरण भी किया है। वह अपनी कला के इंद्रजालिक प्रभावों के कारण अत्यन्त लोकप्रिय और कला के कौशल के कारण अत्यन्त प्रतिष्ठित था। फिर भी एस्काइलुस के उदय के पूर्व तक थेसपिस ने ग्रीक रंगमंच पर एक प्रतापी ज्योतिर्पुञ्ज के रूप में स्थान ग्रहण किया था।

● ● ●

संत महिमेशाह

प्यारा सिंह पद्म

पंजाब अथवा सप्तसिन्धु को भारतीय काव्यधारा का मूल स्थान कहना कोई अत्युक्ति की बात नहीं, अपितु ऐतिहासिक तथ्य का स्वाभाविक निरूपण है। यह सिन्धु-सरस्वती की पावन भूमि, ऋग्वद तथा गीता ज्ञान की जन्म भूमि, पाणिनि जैसे विद्वानों की मातृभूमि, तक्षशिला जैसे विद्यापीठों का केन्द्रस्थल और आर्य तथा अनार्य संस्कृतियों का संगम स्थल पंजाब हिन्दी भाषा तथा साहित्य के निर्माण में एक गौरवमय स्थान रखता है।

भारतीय काव्यधारा में संत कवियों का बहुत बड़ा ऊंचा स्थान है और पंजाब के सन्तों ने तो इसमें विशेष योगदान दिया है। श्री गुरूग्रंथ साहिब के रूप में सिक्ख गुरुओं ने जो हमारी संस्कृति तथा साहित्य की अमूल्य सेवा की, वह शब्दों के सीमित मानदण्ड से मापी जाने वाली नहीं। इस भक्ति साहित्य की धारा ने एक परंपरा को जन्म दिया जो गुरुओं के पश्चात् भी हमारी जीवन सता को बलवान करती रही। संत मोहर सिंह, जिनका प्रसिद्ध नाम संत महिमेशाह है, वह भी इसी परंपरा में निर्मल साधु मंडल के शिरोमणि रत्न थे जिन्होंने अपने आचरण तथा अपनी सीधी सादी सरल वाणी द्वारा पंजाब के जन जीवन को शक्ति प्रदान की।

संत महिमेशाह का अवतरण काल १८वीं शताब्दी है जबकि पंजाब शेष भारत की भांति लड़ाई तथा युद्ध की भूमि बना हुआ था। ऐसे वातावरण में जीवन के रचनात्मक पक्ष को विकसित करना तथा लोक कल्याण के लिये शांति, मानव प्रेम तथा प्रभु नाम का संदेश देना ऐसे महान् व्यक्तियों का ही कार्य था। जिनमें संत अडनशाह, बाबा संतरेण, बाबा प्रीतम दास तथा बाबा साहिब सिंह बेदी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

संत महिमेशाह जी का जन्म भाई साहिब गुरबख्श सिंह के घर जो कि महाराजा नाभा के हजूरी ग्रंथी थे, माता रसमा के उदर से, गांव सलाणा रियासत नाभा में १७५८ ई० तदनुसार

१८१५ वि० माघ, सुदी पंचमी को हुआ। धर्म विद्या पितामह से तथा संगीत विद्या अपने पिता से ग्रहणं की। स्वभाव बचपन से ही साधु वृत्ति का था, इसलिये शादी नहीं की। वैरागवान् हो कर लोपो गांव के ब्रह्मज्ञानी संत गुरबख्श सिंह जी के पास आ गये और उनके प्रभावशाली साधु व्यक्तित्व ने आप के जीवन को ही बदल दिया। अमृत पान कर नाम अभ्यास तथा संगत की सेवा के पवित्र कार्य में संलग्न रहने लगे। इस तरह बहुत वर्ष की सेवा पश्चात् आप की तपस्या संपूर्ण हुई और इलाके में आपका मान बढ़ने लगा। एक दफा नाभा गए तो वहां महाराजा जसवंत सिंह आपको बहुत आदर भाव से मिले। उनके सन्तान नहीं थी, इनके वरदान से उन्हें पुत्र रत्न प्राप्त हुआ। जिससे वह आपके बहुत ही श्रद्धालु बन गये। फिर वहां से आप भटिण्डा, फिरोजपुर आदि की ओर मालवा में भ्रमण करते रहे। ज़िला लाहौर के लुलयाणी ग्राम में दो तीन वर्ष ठहरे जहां कि आपकी स्मृति में 'महिमा सर' नाम का तलाब तथा एक स्थान बना हुआ है। एक दफा नाहन की ओर भी गए। कुछ समय के पश्चात् बनारस जगन्नाथ आदि तीर्थों की यात्रा की। अत १८१५ ई० तदनुसार १८७२ विक्रमी फागुन की पूर्णमासी, एतवार के दिन जीवन-यात्रा समाप्त कर आप लोपों के गांव में ही परलोक सिधार गये। यह लोपों गांव, दुराहा मंडी के पास है जहां आपका स्मृति स्थान बना हुआ है और आपकी पूजा होती है।

आपके शिष्य भाई वीर सिंह रंगरेज़ और भाई मन मस्तान सिंह हुए जो अच्छे कवि भी थे। इन्होंने आपकी पुण्य स्मृति में वहां एक कलामय सुन्दर समाधि बनाई जहां एक बहुत बड़ा डेरा है और साल के साल फागुन की पूर्णिमा को भारी मेला लगता है। इसके अतिरिक्त महिमाशाही सम्प्रदाय के रकबा, फतहगढ़, छन्ना, टिब्बा उगोकी, पंज गराईं इत्यादि नगरों में भी कई डेरे पाये जाते हैं जो कि संत महिमा शाह की कीर्ति का प्रसारण कर रहे हैं।

जैसे कि मैंने बताया कि इनका नाम तो संत मोहर सिंह था परन्तु प्रभुमहिमा में मग्न रहने तथा फकीरी वृत्ति के कारण महिमा शाह नाम अधिक प्रसिद्ध हो गया था। मुसलमानों में फकीरों के लिये शाह नाम का प्रयोग आम किया जाता है। इसी फकीरी रंग में आपने अपनी वाणी संत भाषा में उच्चारण की। यह वाणी प्रकाशित नहीं हुई, यत्र तत्र हस्तलिखित प्रतियों में ही सुरक्षित है। पंजाबी में भी आपने काफी काव्य रचना की।

इतिहास से प्रकट है अठारहवीं शताब्दी पंजाब के लिये युद्धों जंगों का समय था। अहमदशाह अबदाली के हमले मुल्क में बदअमनी फैला रहे थे चारों ओर लड़ने भिड़ने तथा विरोध भाव का ही वातावरण था। मगर उस समय संत महिमा शाह प्रेम तथा एकता का सिंहनाद फूंक रहे थे जो ऐसे संतों का परम कर्तव्य है उनकी दृष्टि में एक महान् प्रभु ही विभिन्न वेश धारण कर सारी लीला को चला रहा है।

एक ही तार प्रेरक एक ही,
एक सुतंत त्री ताल बजावे
एक ही हुक्म अदालत एक ही,
एको हजूर बुलाइ बुलावै,
एक ही सैन और बैन ही एक है,
एक ही नैन न दूसर भावै
एक ही सुरत है वृत्ति भी एक ही,
एकों ही बृत आनंद बढ़ावै।

एक समाधि लगी लिव एक ही,
एक ही उलट विसमाद समावै,
और न द्वैत जरा कोई दीसिह,
महिमाशाह सोई रूप कहावै।

इस द्वेष और द्वन्द्व की दुनिया से कैसे निपटा जा सकता है, लोक कल्याण का सही मार्ग क्या है, संत महिमेशाह बताते हैं, कि केवल प्रभु नाम के बेड़े से ही संत, खेवट बन कर जीवन का उद्धार कर सकते हैं और भख या किसी कर्मकांड से ऐसा होना सम्भव नहीं :--

न संन्यासी न वैरागी,
न जोगी ब्रहमचारी रे।
सभ ही बीच सभहुं तें न्यारे,
ऐसी समझ विचारी रे।
आत्म सत्ता सारे पसरी,
कीट हस्ति में सारी रे।
आपो अपनी करणी तरना,
क्या पुरखा क्या नारी रे।
राम नाम की नाव बनाई,
संसार सागर महिं डारी रे।
संत सजन मल्लाह बनाए,
चढ़े सो उत्तरे पारी रे।
महिमा शाह मोहनी मूर्ति,
तिस दर्शन बलहारी रे।

सच्चा ब्राह्मण कौन है ? उसके क्या लक्षण हैं, क्या बाहरी भेष से इस पदवी को पाया जा सकता है ? आप इसे स्पष्ट करते कहते हैं :--

गल में माला तिलक लिलाटे,
विप्र धरायो नामं
रुद्राक्ष गल तुलसी सेवा,
पाहन पूज करामं
अच्छत लेकर पूज पुजावहिं,
तिलक लिलाटहि देई
धूप दीप नैवेद चढ़ावोहु,
रीझि पषाण न लेई।
लोकाचारी परसत देवा,
अंतर मन नहीं धीरा

बग ज्यों ध्यान धरो तट तीर्थं,
बैठत होय गंभीरा ।
दिल से कुफर न जाय जब तक,
तब तक ब्राह्मण नाही
'महिमाशाह' करे ब्रह्म पूजा,
ब्राह्मण कहिये तांहीं ।

इसी तरह उन्होंने जिस सच्चे तीर्थ में स्नान कर तथा अज्ञान का अंधेरा दूर करने की बात कही, वह आज भी काम आने वाली है । वह जीवन का उद्धार करने के लिये जिज्ञासु को सही रास्ता बताते कहते हैं :—

अंतर तीरथ अमृत भरिया,
जे को निसचैं न्हावै रे ।
कोट जन्म के संसे काटे,
दीपक ज्ञान जगावै रे ।
सगल अंधेरा छिन महिं नासै,
प्रकट रूप दिखावै रे ।
गगन गऊ दुहि मथ ले माखन,
कृत संयोगी खावै रे ।
चढ़त विहंगम तत्त विरोले,
त्रिकुटी मध्य समावै रे ।
ओम्. अंतर एको स्वामी,
सभ घटि ब्रह्म लखावै रे ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संतों ने अपनी वाणी द्वारा जिस प्रेम का संदेश दिया, आज उसकी पहले से भी अधिक आवश्यकता है । पदार्थवाद दुनिया को शांति नहीं दे सकता । यह शांति तो प्रभु के नाम गंगा के स्नान द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है ।

साधो! गगन धुनकार है सबद झुनकार है।
सिफत जैंकार दर्बार सोहै ।
ज़ुहद के घाट है, चलण बिन बाट है
तहि रूप बिन जात ले अरश मोहै ।
अजगैब का महल है, राहु न सहल है
तहां निज रूप अकाल जो है ।
दस्त बिन करत है, पगन बिन फिरत है
धेनु बिन सुरति ले अमी चोहै
नीर बिन गंग है पवन बिन तरंग है
न्हावन निसंग, बिना जल हो है ।

सन्त महिमाशाह की विशेषता की एक बात यह है कि वह आध्यात्मिक जीवन की ऊंची बातें करते हुए भी अपने आपको बहुत ऊंचा तसव्वर नहीं करते थे, बल्कि प्रभु के आगे नम्रता प्रकट करते स्वयम् को अधम तथा तुच्छ जीव ज़ाहिर करते हैं । एक पंजाबी छन्द में कहते हैं :—

देश देसांतर न कोई मेरा ,
मैं पाजी तेरे बाणे दा ।
भेखी मकरी जोगी सांगी,
हां बांदा तेरे भाणे दा
लख लख पाप कीते मैं पापी,
ढक पड़दा दोजख–जाणे दा ।
होवे कल्याण दया गुर !
धारो बखशो छिद्र निमाणे दा ।
मैं परदेशी तेरे लड़ लागा,
थाऊं न किसे टिकाणे दा ।

महिमाशाह गुरा ! देस न कोई,
रख जाण के देश रबाने दा ।।

आज के युग की स्थिति भी ऐसी ही है, यदि हम भी सन्त महिमेशाह की भांति प्रभु से सही रास्ते की रहनुमाई मांगें, तभी आजकी समस्याओं का समाधान हो सकता है ।

श्री महिमाशाही पंथ सिखों के विद्वान् साधु निर्मल संप्रदाय की ही एक शाख है । इसके उद्गम के बारे में स्वयम् महिमेशाह जी का कथन श्रोतव्य है --

'सत्युग ब्रह्मा कहिये सुख,
प्रगटयो नाभि कवल दी कुख,
त्रेते राम अवतार कहाए,
सर्व देवता बंद छुड़ाए ।
दुआपुर उपजे कृष्ण मुरारि,
सभ गोपियन को कियो उधार ।
कलयुग नानक नाम अधारा,
अंतरयामी अपर अपारा ।
अंगद सोई आप कहाया,
ताके निकट गई नहिं माया ।
अमरदास दे नेड़े आई,
गोयंदवाल बाउली लाई ।
रामदास दे चरनीं आवै,
हरिमंदर दी पूज चढ़ाव ।
गुरू अर्जुन लाहौर पचाने ।
गुप्त रूप दरगाह सिधाने ।
हरगोविंद भयो खड़गधारी,
जुद्ध जंग कीने बहु भारी ।
सप्तम रूप धरयो हरिराय,
जीअजंत पुर करी सहाय ।
अष्टम श्री हरिकृष्ण कहायो,
नाम रूप धरि सबद वधायो ।
गुरु तेग बहादुर ऐसे धनी,
ताकी शोभा जाइ न गनी ।
दसवें पातशाह जब आए,
नाम गोविंद सिंह कहवाए ।
दयासिह गुरु प्यारा भयो,
सुधापान कर पंथ प्रगटयो ।
अटल सिंहासन बेप्रवाही,
भेख रच्यों जी महिमाशाही ।'

इस संप्रदाय में अन्य कवि भी हुए, परन्तु इनकी सब रचना प्रकाशित नहीं हुई । हम पुरानी हस्तलिखित प्रतियों से इन्हीं महात्मा के कुछ छंद तथा भजन पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करते हैं :--

मन बैराग पदार्थ त्यागी,
हाथ जोड़ि गुरु शरण समावै ।
पलंघी नींद न लेफ तुलाई,
आठ पहर सतसंग समावै ।
सिमरहि राम नाम नित रसना,
गुर मुखि वाणी आख सुनावै ।
गुरु के सबद रहे नित खीवा,
हरि जन आपे आपि कहावै ।
अहि निश अंग भङ्ग नहि होवै,
एक रङ्ग सद राता ।
सही सलामत हैभी होसी,
श्री 'महिमाशाह' विधाता ।

क्या कहिए किछु कहया ना जाए,
शोभा ताकी भारी रे ।
न जोगी न जंगम भासे,
न मूंडत जटधारी रे ।
न संयासी न वैरागी,
न गिरधर गिरधारी रे ।
न हिंदु नहि मुसलमान ,
न शूद्र चित्त धारी रे ।
वर्ण आश्रम न दोऊ जांके,
दीन मज़हब इक तारी रे ।
अचरज रूप रंग ते न्यारा ,
कीमत लखे हमारी रे ।
अकला कला ते परे विराजे,
जो है पुरख मुरारी रे ।
सदा आनंद मगन मतवारा ,
एकंकार दिदारी रे ।
जांकी उपमा होइ न आवहि,
गावहि खलकत सारी रे ।
'श्री महिमाशाह' मोहिनी मूर्त्ति,
तिस मूर्त्ति बलिहारी रे ।

— — —

मनमोहन दीदार प्यारे,
मन मोहन दीदार ।
छिन पल रहन न जोई मो ते,
हम लई नैना तार ।
देखे बाझु आराम न आवहि,
जो नूरी झलकार ।
खाए बाझु चैन नहीं आवहि,
बिन लाए लिव तार ।
पीए बिन पयास न जाए,
प्रेम मगन दी धार ।
लपटे बाझु द्वैत न जाए,
होय न एकता सार ।
मिले बाझ ईमान न आए,
अंतर बाहर भार ।
बिन दिल वसे दर्द न जाए,
पल पल दिल विच खार ।
गल लाए बिन शांति न पावहि,
बुरी बिस्म दी तार ।
तन मन सर्व प्राण गुरु लीने,
श्री महिमा शाह प्यार ।

सच्चे योग मार्ग की स्पर्शता के लिये योगियों से पूछे गये ये प्रश्न तथा फिर आप ही इसके दिये उत्तर पठनीय हैं । यह सवाल जवाब नीचे उद्धृत किया जाता है :—

जोगी ! काउन जोग तै कीना !
खट चक्र कौन से भेदे,
कहां भयो मन लीना ।
इड़ा पिंगला, सुखमन कैसे,
कहां लंपका लाई ।
नाभि कवल का किस घर वासा,
भेद कहहु समझाई ।
मूल दुआर कहां तै सोधिया,
सिङ्गी कहां बजाई ।
कउन उवर पुर आसन तुमरा,
कैसी सेज तुलाई ।।
किस भोजन करउं अहारा,
अकथ कथा कहां ते पाई ।

किस राजे की करी चाकरी,
कैसी खेप चलाई ।
किस नगरी महि व्याव 'चुकाया,
किस आवागमन मिटाई ।
कउन साधना कर्म कमत्ते,
कवन धारना भाई ।
मेरु दंउ कहां ते सोधया,
क्यों कर करी चढ़ाई ।
कवन कला उलट कर बैठे,
किस मूर्त्ति जाइ समाई ।
किस ताले पर कुंजी लागी,
क्यों कर अमी चुभाया ।
क्योंकर पी मतवाले होंदे,
कवन जोग घर पाया ।
पान अपान हैं कहां मिलाए,
सहज जोग कितु छाया ।
किस पवन को वस कर राखहु
गगन कहा गर्जाया ।
काली घटा कहां ते आई,
क्योंकर झलक दिखाया ।
कौन वरख छम छम लहराई,
कवन उज्यारा पाया ।
फकरां नाल फकीरत कैसी,
जोग मर्म क्या पाया ।
कउण न्योली ते नेती साधी,
क्यों कर अलख जगाया ।
क्यों कर जोगी मंगण चढ़िया,
भीख कहां ते लिआया ।
उस दर की कहु क्या निशानी,
जित्थे मन ललचाया ।

लालच लोभ कुसत्त अर निंदा,
छोडि कहां घर आया ।
लख लख जोग फक्कर दर सेवा,
तुझे कउन फुरमाया ।
कवन वर्ण महिं खल तुम्हारा,
साधु कवन मिलाया ।
कवन गुरु पहि दीख्या लीनी,
किस पहि मूंड मूंडाया ।
किस धूएं दे फक्कर सदावउ,
कैसा ज्ञान चलाया ।
किस सेवा कर तुझ पहि रीझया,
जिन आवा गउण मिटाया ।
दुआदस माला कहां फिराई,
क्यों कर जपु सुख पाया ।
इस प्रश्न का उत्तर देवहु,
जो मैं आखि सुनाया ।
श्री महिमाशाह अधर दे वासी,
कहु कैसे मार्ग पाया ।

उत्तर

भाव भक्ति प्रेम की झोली,
सबद टोप धर आया ।
श्रवणी हरि जस मुंद्रे पहने,
संतोख चौगान बनाया ।
धीरज फाहुड़ी खिमा मृगाली,
विभूति बंदगी लाया ।
सुरति निरत पर मंगन चढ़िया,
सच्च खंड नूं धाया ।
कृपाल दमोदर दयासिंधु दर,
जापकै अलख जगाया ।

जब धाल जी पलक लखाए,
नाम • डुले डुल पाया ।
देवां सीसां करां दुग्राई,
दर दा फक्कर सदाया ।
फिर फिर भौरीं करां सलामां,
दर पर धूत्रां पाया ।
दर दी उस्तति घर घर व्यापी,
आलम विशन घराया ।
अलख वर्ण माँहि खेल हमारा,
सच माँहि धीरज लाया ।
ज्ञान गुरु पहि दीख्या लीनी,
सबद मुंड पर छाया ।
पार ब्रह्म के दर के सेवक,
उस्तति ध्यान धराया ।
सेउ भेउ का आपे सुग्रामी,
भाणे नज़र मिलाया ।
गीत परमेश्वर संत पयारे,
करन अलाप सवाया ।
दसो दिशा महिमा मौलाई,
जप अजपा सुख पाया ।
वाहु वाहु के सबद हमारे,
आवागवन मिटाया ।
वाहु वाहु के सबद हमारे.
धोखा कबहुं न पाया ।
वाहु वाहु के सबद हमारे,
दुनिया दीन सुहाया ।
वाहु वाहु के सबद हमारे,
घर माँहि कादर पाया ।
श्री महिमाशाह अटल जिंहगादी,
तहि अनहद नाद वजाया ।

आल इंडिया रेडियो जलंधर, के धन्यवाद सहित ।
(संशोधित तथा परिवर्धित रूप में)

भाई वीर सिंह रंगरेज़

संत महिमाशाह के कुछ शिष्य भी अच्छे कवि हुए हैं जिनमें भाई वीरसिंह रङ्गरेज़ तथा भाई मन मस्तान सिंह का नाम अधिक प्रसिद्ध है ।

भाई वीर सिंह (१७८४–१८५४ ई०) ढक्क दा कोटला नामक नगर रि० पटियाला के रहने वाले थे, इन्होंने संत महिमेशाह से शिक्षा दीक्षा ली तथा काव्य कला का ज्ञान प्राप्त किया । रचना का नमूना नीचे दिया जाता है ।

उलटी है चाल जांकी उलटा है देस जांका
उलटे विहार सारे वेद न बतावई ।
उलटा है ज्ञान वांका, उलटा है ध्यान तांका
उलटा है नेम जांका नवै नित्य ध्यावही ।

प्रीति पिया सङ्ग कर री सजनी,
प्रीति पिया संग कर री ।
जे पिया तैनू दुर दुर करदा,
तो भी चरण गह फर री ।
प्राणों की सेज बना री सजनी,
सीस काट आगे धर री ।
अपने पिया दर पीस री सजनी ।
अपने पिया दर पीस री ।
बिरथा न जाइ घाल तुम्हारी,
होइ दयाल जगदीश री ।

दीनानाथ दयाल ए सजनो !
प्रीति कहु संग ईस री ।
देवैंगा नवनिधि बहुत ही सजनी,
सिर कटि देवहु फीस री ।
बेगमपुर होय वास तुम्हारा,
पहुंचहु जाई इकीस री ।
श्री रंग साहिब, झिम झिम वरसे,
पिया पिया नाम परीस री ।

भाई मन मस्तान सिंह

इनका जन्म ढक्क दा कोटला नगर (रि: पटियाला) १७६३ ई० के आस पास भाई गुरबख्श सिंह के गृह हुआ । संत महिमाशाह की चरण शरण में लोपों आ गए । आप संगीत में विशषतया प्रवीण थे, सितार वजाते तथा मस्त होकर कभी कभी नृत्य भी करते थे, १८५० ई० (कार्त्तिक सुदी दशमी) को लोपों में ही आपका देहान्त हुआ । इनकी काव्य रचना अधिकतर पंजाबी में है, एक उदाहरण देखिए ।

तेरी वैरागणि मैं आप थीवां
मैंनूं लैचल अपने देस पिया ;
घर वन मैंनूं भावहि नाही
लग रहया तेरा उपदेश ।
लोक लाज दी काण न करसां ।
बांदी मैं रहांगी हमेश ।
हार शृङ्गार सभ दूर करांगी,
ले लांगी भगवा भेष ।
तोहि बिछड़े इक पल नहीं जीवां,
मैंनूं छडि न जाई परदेस ।
मन मस्तान दी ज़िन्दड़ी कमली,
तेरा नाम जपूंगी हमेश ।

बेप्रवाह जी

एक इस नाम के कवि भी महिमा शाही संप्रदाय में हुए हैं ।

राग बिलावल

साधो सुन अंतर की गीता ।
मन मवास कहु किस विधि जीता ?
जिह रिद उपजे प्रेम प्याला,
मुक्त होत नहीं लागे वारा ।रहाउ १
रूप अनूप महां उज्यारा ।
आपे आप भया मतवारा ।
संत कृपाल दयाल सदा जै ।
मन जीतन दी बात सहज है ।

भाई खूब दयाल सिंह

यह रङ्गरेज़ जी के शिष्य थे, जन्म १८३० तथा देहांत १८६८ ई० में हुआ ।

राग बिलावल

बंगला अजब बनया गुलज़ार ।
जिस विच वसहि जी कर्त्तार ।
इस बंगले बिच लाल जड़े हैं,
परखे परण नहार ।
इस बंगले दे नौ दरवाज़े,
दसवां रख्या मार ।
पंच तत्त दा बंगला बणिया,
है बंगला पुर कार ।

इस बंगले विच ससीअर सूरज,
निस दिन चढ़न हज़ार ।
इस बंगले माँह विष्णु ब्रह्मा,
अष्टभुजी मुखचार ।
'खूब दयाल' रची विच बैठा,
जिन इह रची बहार ।

इस तरह के सन्तों की रचनाएं बताती हैं कि अब भी पंजाब में रहस्यवाद की वह ध्वनि किसी न किसी रूप में गुञ्जायमान हो रही है ।

● ● ●

आज मातृभूमि पर भीषण संकट आ गया है

हमारा कर्त्तव्य है कि

- शत्रु का डट कर मुकाबला करें; उसे परास्त करें ।
- सरकार की हर तरह से मदद कीजिए ।
- अनुशासन और व्यवस्था बनाए रखिए ।
- एकता और अखण्डता अक्षुण्ण रखिए । एकता से शक्ति बढ़ती है ।
- जी तोड़ कर मेहनत कीजिए —उत्पादन बढ़ाइए राष्ट्रीय-सेवा का यही सबसे बढ़िया तरीका है ।
- सैनिकों की सहायता के साधन जुटाएँ
- केवल आवश्यक सामान ही खरीदिए ।
- खपत कम कीजिए और कोई चीज़ खराब न कीजिए ।
- अफवाहों और शत्रु के गुप्तचरों से सावधान रहें ।

"वेदों और शास्त्रों का राष्ट्र-धर्म"

पं० हरि राम शर्मा

ऋग्वेद में कहा गया है :—

'समानो मन्त्रः समितिः समानो समानं मनः सहचित्त मेषाम् ।
समान मन्त्रमभिमन्त्रये यः समानेन वो हःवष जुहोम ।। (ऋग्वेद १०।१९१।३)

तुम्हारा सबका मंत्र अर्थात् ध्येय एक हो, तुम्हारी समिति एक हो, तुम सब का मन (संकल्प) एक हो, चित्त (चिन्तन) एक हो । मैं (वेद) तुम सब को एक ही विचार से युक्त करता हूँ और सब को एक ही प्रकार अन्नादि भोग-सामग्री प्रदान करता हूँ । और भी :—

समानो व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सु सहासति ।।
(ऋग्वेद १०।१९१।४)

अर्थात् तुम सबका ध्येय समान हो, हृदय समान हो, सबका मन समान हो, जिससे तुम्हारी सब को शक्ति उत्तम हो; इस प्रकार राष्ट्र की उन्नति के लिये संगठन, शक्ति अर्जन एक प्रधान उपाय है । तथा विशेषतः कलियुग में तो

संगच्छध्वं संवदध्वं संवो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथापूर्वे संजनाना उपासते ।।
(ऋग्वेद १०।१९१।२)

तुम सब एक होकर प्रगतिशीलता से चलो, एक साथ बोलो, सब के मन उत्तम संस्कार युक्त हों, तथा पूर्व कालीन उत्तम, ज्ञानी, व्यवहार कुशल, प्राचीन संस्कृति एवं आदर्श कुशल लोग जिस प्रकार अपने कर्त्तव्य का पालन करते आए हैं उसी भांति तुम भी करो । वास्तव मे कोई भी व्यक्ति और देश अपने राष्ट्र-धर्म को छोड़ कर जीवित नहीं रह सकता, और उसका भार एवं कर्त्तव्य राष्ट्रवासी प्रत्येक व्यक्ति पर है । क्योंकि व्यक्तियों का समूह ही समाज तथा समाज का समष्टि रूप ही राष्ट्र नाम से व्यवहृत है । अतः राष्ट्र की उन्नति के लिये प्रत्येक व्यक्ति को एक ध्येय, एक ही लक्ष्य, एक ही विचार-धारा, एक ही कार्य प्रणाली, एक ही शासन-शास्त्र तथा एक ही अनुशासन मे सुसंगठित रहना आवश्यक है ।

"संघे शक्ति कलौयुगे" इस उक्ति के अनुसार शक्ति प्राप्त करने का एकमात्र यही मार्ग है । हमारा वैभवशाली भारतीय राष्ट्र जो गौरव के सर्वोन्नत शिखर पर ज्वाजल्यमान था, जिसकी पाद पीठ का स्पर्श पाकर अन्य देशों के मणिमण्डित राजमुकुट अपना सौभाग्य समझते थे, अमर नगर निवासी देवता भी जिसके लिये--

"प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः,
यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे" ।
(श्रीमद्भागवत् ५।१९।२९)

यह कह कर कि जिन्होंने भारतवर्ष के आंगन में मनुष्य शरीर से जन्म लिया है उन पर भगवान् ही स्वयं प्रसन्न हुए हैं--प्रशंसा करते थे और गान करते थे:--

गायन्ति देवाः किल गीतकानि, धन्यास्तुते भारत भूमि भागे ।
स्वर्गापवर्गास्पद मार्गभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ।।
(श्री विष्णु० २।३।२४)

अर्थात् देवगण भी निरन्तर यही गान करते हैं कि जिन्होंने स्वर्ग और अपवर्ग के मार्गभूत भारतवर्ष में जन्म लिया है वे मनुष्य हम देवताओं की अपेक्षा भी अधिक धन्य हैं और वही सुरश्रेष्ठ सोचते थे कि --

जानीम नैतत्क्‍‍‌‍‍‍व वयं विलीने स्वर्गप्रदे कर्मणि देह बन्धम् ।
प्राप्स्यामधन्याः खलु ते मनुष्याये भारते-नेन्द्रिय शक्ति हीना: ।।
(श्री विष्णु पुराण २।३।२५)

अर्थात् पता नहीं कि अपने स्वर्गप्रद कर्मों का क्षय होने पर हम कहां जन्म ग्रहण करेंगे ! धन्य तो वे ही मनुष्य हैं जो भारत भूमि में उत्पन्न होकर इन्द्रियशक्ति से हीन नहीं हुए हैं। वही सुजलां, सुफलां, मलयज शीतलाम् शस्यश्यामलां विशेषण विभूषित भारत आज अपने वैभवशाली महत्त्व एवं गौरव को भूल गया है, वैयक्तिक स्वार्थ में अन्धा होकर तथा--

"अन्धेनैवनीयमाना यथान्धा: ।
(मुण्डकोपनिषद्--१।२।८)

इस श्रुत्यानुसार सवनति के गहरे गर्त में जा गिर । आजकी दीनता, दरिद्रता, विद्वेष, विघटन तथा अमानुषिक वीभत्स एवं पैशाचिक कृत्यों से शतशः पीड़ित, ताड़ित, शोकाग्नि की विकराल ज्वाला की माला से विदग्ध, संत्राण की भिक्षा को इच्छा से चीत्कार-हाहाकार करती हुई भारतीय मानव जाति का नग्न दृश्य इसमें प्रमाण है । उसे प्रतीत होना चाहिए कि उसने महान् भूल की । आज हमें अपनी प्राचीन भारतीय संस्कृति, भारतीय मर्यादा, प्राचीन भारतीय आदर्श को स्मरण करके प्राणपण से बद्ध परिकर होकर कठिनाइयों का सामना करते हुए देश को उसी भांति समृद्धि-

शाली, समुन्नत बनाना है और इसके लिये आवश्यकता है कि--

"यद्य दा चरति श्रेष्ठ स्तत्तदेश्वेंतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥"
(गीता--३।२१)

क्योंकि श्रेष्ट पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी उसके ही अनुसार बर्तते हैं, वह पुरुष जो कुछ प्रमाण कर देता है, लोग भी उसी को प्रमाण मानने लग जाते हैं। के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति चल कर स्वयं आदर्श उपस्थित करे। विचार कीजिये कि हम उसी देश में उत्पन्न हुए हैं जहां महाराजा शिवि ने शरणागत पक्षी, एक कपोत की रक्षा के लिये अपने शरीर का मांस काट कर दे दिया, जहां पर आसुरी शक्ति का दमन करने के लिये, एक मात्र राष्ट्र के कल्याण हेतु महर्षि दधीचि ने अपनी हड्डियां तक दे दीं, मोरध्वज जैसे राजा ने अपनी रानी के साथ आरे से अपने पुत्र के दो टुकड़े करके स्वयं अतिथि-सत्कार की पराकाष्ठा का एक ज्वलन्त प्रमाण उपस्थित किया। पिता-वचन पालन करते हुए श्री रामचन्द्र जी ने जटा वल्कल-वसन, कन्द-मूल फल अशन, अरण्य निवास, पूर्वक राष्ट्र हेतु, धर्म संस्थापनार्थ असुरदल दलन, साधु संरक्षण करके और अपने चरित्रों से, मर्यादा का पालन करते हुए एक अद्वितीय आदर्श उपस्थित किया तथा मर्यादा पुरुषोत्तम कहलाए। भीष्म जी आजीवन ब्रह्मचारी रहे, हरिचन्द्र ने सत्य रक्षार्थ राज्य, धन स्त्री पुत्र आदि तक का परित्याग कर दिया, महाराजा युधिष्ठिर अपने आदर्श से अजातशत्रु कहलाए, महाराणा प्रताप ने राष्ट्र धर्म की रक्षा के लिए एक ज्वलन्त आदर्श उपस्थित किया, छत्रपति शिवाजी वीर बन्दा बैरागी तथा गुरु गोविंद सिह जी के प्रातः स्मरणीय पुत्रों ने राष्ट्र-धर्म की रक्षा के लिये अपना बलिदान किया। कहां तक गिनावें, हमारा इतिहास ही उनकी गौरव-गाथाओं से पूर्ण है जिन्होंने कि समष्टि के लिये एक आदर्श बन कर वीरतापूर्वक दृढ़ता से हमें मार्ग प्रदर्शन किया और अग्रसर रहे। उन्हीं की हम सन्तान हैं। अपने पूर्वजों के गौरव मय चरित्रों को स्मरण करके उनकी उदारता, सरलता, सत्यप्रियता, दया, शिष्टाचार, सदाचार, परोपकार, ज्ञान, शास्त्रीय मर्यादा, संरक्षण आदि सात्विक वृत्ति तथा वीरता, धीरता, दृढ़ता, संगठन शक्ति सम्वर्द्धन, राष्ट्र संरक्षण तदर्थ बलिदान हो जाना, प्राणों की भी परवाह न करना, शरीरिक मोह-त्याग प्रतिपल, प्रतिक्षण कर्त्तव्य पालन हेतु शरीर समर्पण रूप तत्परता आदि राजस वृत्ति और दुष्ट-दल-दलन, पैशाचिक कृत्यों के परिमार्जन हेतु उग्र रूप धार, अत्याचारों के नाशनार्थ क्रोध आदि तामस वृत्तियों का यथा समय, यथा आवश्यकता

बुद्धिमानी से प्रयोग करने का अनुकरण करें। हमें अवश्य, सफलता मिलेगी। हमें वीरता, धीरता, गम्भीरता, एवं दृढ़ता के साथ अपने एकमात्र लक्ष्य को दृष्टि में रख कर चलना परमावश्यक है। हम उसी देश में उत्पन्न हुए हैं उन्हीं की सन्तान हैं जिनके लिये भगवान मनु जी ने लिखा है :—

"एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्र जन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्व मानवः।

अर्थात् इन देशों में उत्पन्नन हुए ब्राह्मणों से पृथ्वी के सम्पूर्ण मनुष्य अपने अपने चरित्रों की शिक्षा ग्रहण करें।

हमें आज सोचना चाहिए कि जिस राष्ट्र का अन्न खाकर हम बड़े हुए, अपना अन्नमय कोष सुरक्षित रखा, जिसके जल और वायु के बिना हम एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकते, जो प्राणमय एवं मनोमय तथा विज्ञानमय कोष का आधार है, जो हमारे शरीर में सर्वत्र व्यापक है। उस राष्ट्र के हम कितने ऋणी हैं, उसके लिये हमारा क्या कर्त्तव्य है। वेदों में कहा है :—

"अभिवर्तेन मणिना येनेन्द्रो अभिवावृधे।
तेनास्मान् ब्रह्मणस्पतेऽभि राष्ट्राय वर्धय।"

(अथर्ववेद १।२९।१)

अर्थात् हे ब्रह्मणस्पते परमात्मा! जिस विजयीज्ञान रूप मणि से हमारा इन्द्र नाम से परमैश्वर्यवान् शत्रुनाशक वीर बढ़ा था उसी से हम सब को राष्ट्र के लिये बढ़ा। अथर्ववेद में एक विस्तृत सूक्त हो, 'मातृभूमि के वैदिक गीत के रूप में' दिया है जोकि द्वादश काण्ड में ६० मन्त्रों का प्रथम ही सूक्त है जिसकी नेतृत्व में रहा जाय उस नेता के लिये कहा है कि—

"स्वस्तिदा विशां पतिर्वृत्रहा विमृधो वशी।
वृषेन्द्रः पुरः एतु नः सोमपा अभयंकरः॥"

अर्थात् मङ्गलकारी प्रजापालक और विशेषतः हिंसा को वश में करने वाला, बलवान, अभयकारी, शत्रुनाशक-वीर हमारे आगे चलने वाला नेता है। उसके महत्त्व के विषय में भी कहा है:—

"राजा राष्ट्रानां पेशो नदीनामनु मस्मै
क्षत्रं विश्वायु॥"

(ऋग्वेद ७।३४।११)

अर्थात् राजा गमनशील राष्ट्रों का रूप है अतः इसके पास सर्वप्रकार का उत्तम क्षात्र तेज होवे जिससे कि संरक्षण हो सके। नेता एवं राजा के ऊपर भी धार्मिक नियंत्रण का विधान है। इसी कारण सात्त्विक ब्राह्मण तथा राजस प्रधान क्षत्रिय रूप ब्राह्म और क्षत्र दोनों शक्तियों से राज्य का संरक्षण होता था। जोश के साथ होश का भी रहना आवश्यक था। महाभारत राजधर्मानुशासन प्रसङ्ग मुचुकुन्दोपाख्यान में कहा है :—

"तपोमंत्रबलं नित्यं ब्राह्मणेषु प्रतिष्ठितम्;
अस्त्र बाहु बलं नित्यं क्षत्रियेषु प्रतिष्ठम्।
ताभ्यं संभूय कर्त्तव्यं प्रजानांन परिपालम्॥

अर्थात् ब्राह्मणों में तप और मन्त्र का बल होता है । तथा क्षत्रिय में अस्त्र और भुजाओं का । अतः दोनों को मिल कर प्रजा का पालन करना चाहिए । भारतीय संस्कृति अथवा राष्ट्र-धर्म कोई कृत्रिम नहीं है वह प्राकृतिक ईश्वरीय नियम है जोकि सृष्टि के आदि काल से चला आया है । इसी लिये सृष्टि के आदिकाल से ही ब्राह्मण, तथा क्षत्रिय का सम्बन्ध रहा है ।

"ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव तदेकं सन्न व्यभवत् ।
तच्छ्रेयो रूपमत्य सृजं क्षत्रं यान्येतानि देवन्नाक्षत्राणीन्द्रो ।
वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमोमृत्युरीशान इति । तस्मातक्षात्रात्परं नास्ति तस्माद् ब्राह्मणः क्षत्रियमधस्तादुपास्ते राजसूये क्षत्र एव तद्यशो दधाति सैषा क्षत्रस्य योनिर्यद्ब्रह्म ।।"

(बृहदारण्यक उपनिषद् १।४।११)

अर्थात् आरम्भ में यह एक ब्रह्म ही था, अकेले होने के कारण वह विभूति युक्त कर्म करने में समर्थ नहीं हुआ । उसने कल्याण रूप क्षत्रीय संघ की रचना की । अर्थात् देवताओं में क्षत्रिय जो ये इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, मेष, यम, मत्यु और ईशनादि हैं उन्हें उत्पन्न किया । अतः क्षत्रिय से उत्कृष्ट और कोई कर्म नहीं है । इसी से राजसूय यज्ञ में ब्राह्मण नीचे बैठ कर क्षत्रिय की उपासना करता है, राजसूय में क्षत्रिय का पद ब्राह्मण से ऊंचा होता है । वह क्षत्रिय में ही अपने यश की स्थापना करता है, यह जो ब्रह्म है, वह क्षत्रिय की योनि है। इह लोक और परलोक दोनों पर दृष्टि रख कर ऋषियों ने स्वयं राजा की सृष्टि की । उन्होंने सोचा कि राजा सब प्राणियों में महान् और धर्म का साक्षात् विग्रह होगा । अतः जिसमें धर्म विराज रहा है उसे राजा कहते हैं । इस प्रकार राष्ट्र की रक्षा, उसकी वृद्धि, उन्नति तथा तत्सम्बन्धी शासन विधान, शासन प्रणाली एवं कर्त्तव्य का वर्णन विस्तृत रूप से महाभारत (शान्ति पर्व विशेष), मनुस्मृति (सप्तम अध्याय विशेष), तथा यज्ञवल्क्यादि स्मृतियों में, शुक्रनीति आदि अनेक शास्त्रों में साङ्गोपाङ्ग रूप से पाया जाता है । आपद्धर्म आदि के सहित सर्व ज्ञेय विषय का उल्लेख है जिसके अनुसार चलने से ही हमारी यथार्थ उन्नति हो सकती है और हम गौरव के शिखर पर पहुंच सकते हैं। शास्त्रों का अर्थ ही है कि —

"शिष्यते हि तमुपदिष्यते अनेन इति शास्त्रम्"

इसी से आजकल की विकट परि-स्थिति के लिये कर्त्तव्य का निर्देश इस प्रकार हुआ है :—

"आत्मत्राणे वर्णसंकरे वा ब्राह्मण वैश्यो शस्त्रमाददीयताम् ।

क्षत्रियस्यतु तन्नित्यमेव रक्षणाधिकारात्।।
(वशिष्ठस्मृति तृतीयोऽध्याय:)

अर्थात् अपनी रक्षा के समय में ब्राह्मण और वैश्य भी शस्त्रों को धारण करें, तथा क्षत्रिय को तो रक्षा का नित्य अधिकार ही है। पराशर संहिता में भी कहा है--

शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते ।
द्विजातीनां च वर्णानां विप्लवे कालकारिते।।
म. अ. ८। श्लो० ३४८)

ब्राह्मण आदि तीनों ही वर्णों को भी इन समयों पर शस्त्र ग्रहण करना चाहिए। जिस समय मनुष्य धर्म को निभाने में विघ्न डाले जाते हैं। और त्रैवर्ण तथा वर्णाश्रम का नाश करने के लिये बलवे किये जा रहे हों।

आत्मनश्च परित्राणे दक्षिणानां च संगरे ।
स्त्रीविप्राभ्युपपत्तौ च घ्नन् धर्मेण वन दुष्यति ।।(म० अ० ८। श्लो०३४।६)

और अपनी रक्षा के लिये, और दक्षिणा (पारिश्रमिक) के छीनने पर या इस पर कोई झगड़ा होने पर, और स्त्रियों तथा ब्राह्मणों की विपत्ति में धर्मानुसार शत्रुओं की हिंसा करने वाला दोष का भागी नहीं होता ।।

देशभंगे प्रवासे वा व्याधिषु व्यसनेष्वपि ।
रक्षेदेव स्वदेहादि पश्चाद्धर्म समाचरेत् ।।

अर्थात देश भंग, प्रवास, व्याधिग्रस्त आदि आपत्तियों के समय पहले अपनी रक्षा करके फिर धर्म का आचरण करे।

परन्तु ध्यान रहे कि मनु जी ने कहा है--

आपत्काल्येन यो धर्म कुरुतेनाऽपदि द्विजः ।
सनाऽप्नोति फलं तस्य परत्रेति विचारितम्।।
(मनुस्मृति ११।२८)

जो द्विज अनापत्काल में भी आपद्धर्म का अनुसरण करते हैं वे उसका फल नहीं पाते।

आजकल आततायियों का कार्य अधिक है जिसके लिये कहा है कि--

"आततयिनमायांत मपि वेदान्तपारगम्।"
"आततायिनमायांतम् हन्यदेव विचारयन् ।।'
(मनु० ८।३५)

आततायी का बध बिना विचारे ही कर देना चाहिए। वह आततायी चाहे वेदान्त पारगामी ही क्यों न हो।

और हमारा देश ऐसा है कि जिसका गौरव गान पूर्णतया नहीं किया जा सकता। जिसमें भगवान राम एवं कृष्ण स्वयं अवतीर्ण हुए भगवती जाह्नवी तथा तरणि तनुजा इसी देश में प्रवाहित होकर अपनी तरङ्गावलियों से श्रुति-विमोहन कलगान का आस्वादन कराती हैं, हिमालय के उत्तुङ्ग शिखर तथा समुद्र के अनंत विस्तार में भगवान की विराट मूर्ति का दर्शन यहीं होता है। जहां समुद्र चरणाम्बुज पखारता है जहां पर अद्वितीय ऋषियों, ज्ञानियों, महात्माओं और वीरों का प्रादुर्भाव हुआ, जिस भारत वसुन्धरा में धन धान्यादि की कभी कमी नहीं रही,

जिसकी आध्यात्मिक विद्या का प्रारम्भ उस स्थान से होता है जहां से अन्य भाषाओं की विद्या की समाप्ति होती है, जहां की भाषा का नाम ही संस्कृत है, पृथ्वी की अन्य भाषाओं का नाम भाषा है किन्तु हमारी भाषा का नाम ही संस्कृत है। अन्य भाषाओं में लिखा कुछ जाता है तथा पढ़ा कुछ जाता है किन्तु हमारी भाषा में जिस प्रकार शब्द दीर्घ ह्रस्व लिखा जाय उसी प्रकार दीर्घ ह्रस्व के अनुरूप उच्चारण होता है, वेद ध्वनि इसका प्रमाण है। इसी दृष्टि से वशिष्ठ स्मृति के छठे अध्याय में कहा गया है 'नम्लेच्छ भाषा शिक्षेत्" अर्थात् म्लेच्छों की भाषा न सीखे, क्योंकि वह अपना भाव, शिक्षा दीक्षा एवं संस्कारों पर बुरा प्रभाव डालेगी तथा हमारी भाषा में कमी ही किस बात की है। वह सर्वाङ्गपूर्ण, सर्वविद्या, सर्वज्ञात समलंकृत है। अतः हमें महाभारतादि प्राचीन इतिहास से अपना गौरव समझकर शास्त्रों से मार्ग निर्धारित कर एक अनुशासन में रह कर अपनी ही संस्कृति सभ्यता और प्राचीन गौरव को पुनः उन्नति के शिखर परलाना है। यद्यपि यह कंटकाकीर्ण मार्ग है तथापि हमें इसके लिये चाहे जितना प्रयत्न करना पड़े उसे कटिबद्ध होकर करना ही है। यदि हम अपने अन्तःकरण में अपनी इस भावना से शक्ति संचय करके प्रयत्न करें तो कुछ भी कठिन नहीं है हम भगवान की वाणी को स्मरण करें :—

"क्लैव्यं मास्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयं दौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप॥

हे पार्थ। नपुंसकता को मत प्राप्त हो, यह तेरे योग्य नहीं है, हे परंतप! तुच्छ हृदय की दुर्बलता को त्याग कर युद्ध के लिये खड़ा हो।

"उत्तिष्ठत सं नह्यध्वंमुदाराः केतुभिःसह।
सर्पा इतर जनारक्षास्य मित्रननु धावत॥"
(अथर्ववेद–११।१०।१)

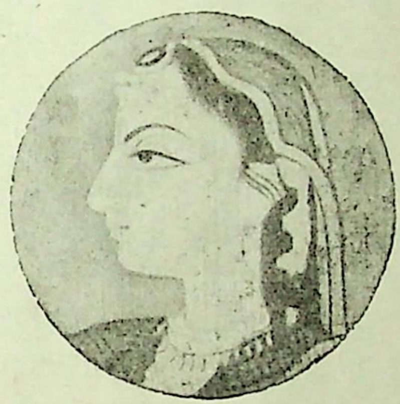
अर्थात् हे उदार पुरुषो उठो और अपने ध्वज के साथ सन्नद्ध यानि तैयार हो जावो। सर्प के समान घातक अन्य राक्षस और क्रूर जो शत्रु हैं उनको पराभूत करो। हमारे हृदय में यह भावना होनी चाहिए–

"यार्णवऽधि सलिलमग्रआसीधां माया
भिरन्वचरन्मानीषिण:।
यस्या हृदयं परमे व्योमन्त्स त्येनावृत
ममृतं पृथिव्याः।
सा नो भूमि स्त्विस बलं राष्ट्र दधातूतमे॥
(अथर्ववेद–१२।१।८')

अर्थात् प्रारंभ में जो समुद्र के ऊपर जल रूप थी और बुद्धिमान लोग जिसकी सेवा करते आए हैं जिस पृथ्वी का हृदय परम व्योम में सत्य आवृत होने के कारण अमृतस्वरूप है वह हमारी मातृभूमि हमारे उत्तम राष्ट्र में तेज और बल को धारण करे। इसके लिये हमें स्वयं ही प्रयत्न करना है और संगठित होना है क्योंकि हम एक हैं, हमारी भाषा, हमारी संस्कृति, हमारी परम्परा, हमारा स्वरूप, हमारा

इतिहास, और हमारा गौरव एक है। अतः इस एक ही राष्ट्रीय जीवन धारा में बह कर, आत्मविश्वास और दृढ़ता के साथ पौरुष और पराक्रम के आधार पर भारतीय भावना की अग्नि हृदय में सुलगा कर एक ही आशा एक ही अकांक्षा लेकर समाज का एक गौरवशाली राष्ट्रपुरुष हमें निर्माण करना है। हमारा इतिहास हमारे गौरव का परिचायक तथा हमारे पूर्वज उसके आदर्श पथ-प्रदर्शक नायक हैं।

● ●



युद्ध क्षेत्र और भारतीय नारी

भगवान दास

नारी क्या है ? यह एक ऐसा प्रश्न है जिसको सुलझाने के लिये बड़े-बड़े विद्वानों ने यथाशक्ति प्रयास किया परन्तु सफलता प्राप्त न हो सकी। किसी ने इसे घर का सुहाग, किसी ने त्याग मूर्ति, किसी ने देवी, किसी ने शक्ति, किसी ने माता और किसी ने पांव की जूती के साथ इसकी उपमा दी। परन्तु वास्तविक परिणाम पर कोई भी नहीं पहुंच पाया। समाज ने इसे हर कदम तिरस्कृत और निरादरित किया परन्तु इसके बदले में जो कुछ नारी ने समाज को दिया वह अनुपम है, बहुमूल्य है। दुःख सहती हुई और तिरस्कृत नारी ने संसार में महापुरुषों को जन्म ही नहीं दिया अपितु स्वयं वे कार्य किये हैं जिनको देख कर आश्चर्य होता है कि क्या यह वही नारी है जिसको अबला जानकर मैथिलीशरण गुप्त भी यह कहने पर विवश हो गए :—

"अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी
आंचल में है दूध और आंखों में पानी।"

आओ आज इसके कार्यक्षेत्र का थोड़ा सा अध्ययन करें। वैसे तो कोई भी देश ऐसा नहीं जहां की नारियों ने देश सेवा के लिये तन-मन-धन को न्यौछावर न किया हो किन्तु देश सेवा और देश निर्माण के कार्य में जो भाग भारतीय नारी ने लिया है उसका उदाहरण विश्व के इतिहास में भी ढूढने से न मिलेगा। उसका मनुष्य के साथ कन्धे से कन्धा मिला कर चलना, हर कठिनाई में साथ देना, हर कष्ट को हंस हंस कर झेलना और समय आने पर अपने प्राणों का त्याग करने से भी न हिचकिचाना, यहां तक कि अपने सम्मुख अपने बच्चों का वध होते देख कर भी उफ़ न करना, विधाता ने उसे शायद इसी के लिये बनाया है।

भारतीय नारी के अन्दर यह प्रेरणा, यह वस्तु कोई नई नहीं। प्राचीन इतिहास साक्षी है कि भारतीय नारी ने युद्ध क्षेत्र में अपने पति के साथ रह कर उसकी हर प्रकार से सहायता की थी। रामायण

की कथा में महाराजा दशरथ की धर्म-पत्नी, "कैकई" का रथ के पहिए में टूटे हुए धुरे की जगह अपना हाथ देकर तथा अपनी जान पर पर खेल कर महाराजा की पराजय को विजय में परिणत कर देना क्या युद्ध करने से कम महत्त्वपूर्ण है ?

कौन ऐसा भारतीय है जो दुर्गा के नाम और कार्य से अपरिचित हो। आज भी भारतीय वीर युद्धारंभ करने से पहले 'काली' (दुर्गा) की उपासना करके ही युद्ध का श्रीगणेश करते हैं।

कुछ लोगों के मतानुसार दुर्गा तो देवी थी और दैवी शक्ति से दैत्यों पर विजयी हुई थी। परन्तु मुग़ल राजाओं के विरुद्ध भारत की नारियों की शूर-वीरता से कौन इन्कार कर सकता है ? महाराणा 'रत्नसिंह राठौर' की राज-कुमारी "रत्न बाई" का अलाउद्दीन खिलजी की अगणित सेना से सामना, रानी 'साहिब कौर' पटियाला का अण्टाराव से युद्ध, महारानी झांसी की स्वर्ण अक्षरों में लिखी गई वीरता क्या भारतीय इतिहास कभी भुला सकेगा—कदापि नहीं।

यह आवश्यक नहीं कि युद्ध क्षेत्र में जाकर और तलवार पकड़ कर ही लड़ा जाये अपितु शान्तमय ढंग से वैरी पर विजय पाना, देश सेवा के लिये हर सम्भव असम्भव कष्ट सहना, क्रान्तिकारियों की सहायता या सेवा करना, अथवा स्वयं भाग लेना यह भी एक प्रकार का युद्ध करना ही तो है, क्योंकि वास्तविक उद्देश्य तो देश की रक्षा का है चाह वह किसी भी ढंग से हो। इस उद्देश्य की पूर्ति में जो भाग भारतीय नारी ने लिये वे सराहनीय हैं। पुरुषों के साथ स्वतन्त्रता संग्राम में वह जोश दिखाया है और वह बलिदान किया है कि देश वासी उस ऋण को चुकाने में असमर्थ हैं। देश का कोई भाग या प्रान्त ऐसा नहीं जहां की नारियों ने इस हवन कुण्ड में आहुति न डाली हो, पंजाब, बंगाल, गुजरात, राजस्थान, महाराष्ट्र आदि सब प्रदेशों ने यथाशक्ति बलिदान दिए तभी जाकर साम्राज्यशाही के उस राज्य की जिसमें कभी सूर्यास्त नहीं होता था, जड़ों को उखाड़ फैंकने में सफलता प्राप्त हुई।

सभ्यता के साथ साथ मनुष्य के कार्य-क्षेत्र में भी परिवर्तन होता रहता है और उसकी परिस्थितियों का मुकाबला करने के ढंग और युद्धनीतियां भी बदलती रहती हैं। जब अंग्रेज़ सरकार के विरुद्ध स्वतन्त्रता-संग्राम हो रहा था उन दिनों सारे भारत वर्ष में एक जोश सा भर आया था। जहां पुरुष उस संग्राम में भाग ले रहे थे वहां नारियों ने भी अपना कदम पीछे न होने दिया। श्री जवाहर लाल की जेल यात्रा के समय उनकी पत्नी 'कमला नेहरू की सेवा

भी सराहनीय है । सरोजनी नायडू, अरुणा आसफ अली और मौलाना आज़ाद की बूढ़ी मां ने जो भाग इस संग्राम में लिया उस का मूल्य लगाना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है । मौलाना आज़ाद का कहना है कि अगर मेरी मां न होती तो शायद मैं अपने देश के लिये कुछ भी न कर सकता ।" महात्मा गान्धी के नेतृत्त्व में विदेशी चीज़ों का बाइकाट, शराब और तम्बाकू की बन्दिश, आंदोलन में भी नारियों ने पुरुषों से अधिक कार्य किया । बल्कि यदि यह कहा जाये कि नारियों ने पुरुषों की अपेक्षा अधिक भाग लिया है तो गलत न होगा । जहां पुरुष-शक्ति व्यर्थ हो जाती थी वहां नारी-शक्ति सफल हो जाती थी क्योंकि नारी के अन्दर सहनशीलता पुरुषों की अपेक्षा कहीं अधिक होती है ।

विगत घटनाओं को छोड़िए । वर्तमान भारत-चीन युद्ध के उदाहरण को ही लीजिये । इस युद्ध में जो भाग भारतीय नारियों ने लिया है, वह किस से छिपा हुआ है ? गहना, जो नारी की सब से प्रिय वस्तु है, जिसे वह हर समय पर अपने पास रखने का प्रयत्न करती है, क्योंकि गहना उसके सौन्दर्य में वृद्धि करता है और प्रायः इसे नारी का सुहाग चिह्न समझा जाता है । मगर क्या कहने हैं भारतीय नारी के । जिसने यह सिद्ध कर दिया है कि उसे देश से बढ़ कर प्यारी कोई वस्तु नहीं । वह देश के लिए जहां अपने पति, पुत्र, भाई और पिता को बलिदान के लिये भेज सकती है या तैयार कर सकती है, वहां गहने को भी देश हित पर न्यौछावर कर सकती है । उसकी देश सेवा की यह भावना युद्ध क्षेत्र में जा कर लड़ने और शहीदी पाने वालों से ज़रा भी कम नहीं क्योंकि इस सेवा का उद्देश्य भी वही है जो युद्ध क्षेत्र में गए शूरवीरों का होता है ।

जालन्धर के शहीद होने वाले उस अफसर की मां के बलिदान को कैसे भुलाया जा सकता है जिसने अपने इकलौते बेटे के शहीद हो जाने की सूचना सुन कर ज़रा भी दुख अनुभव नहीं किया अपितु यह कहा "मुझे अफसोस है कि मेरा एक ही लड़का था ।"

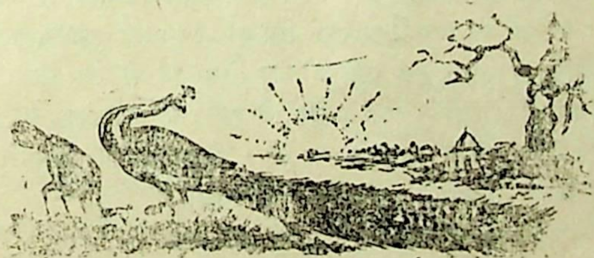
अमृतसर की वह विधवा जिसने राष्ट्रीय रक्षा कोष में अपनी ८० एकड़ भूमि जिस पर की उसका जीवन निर्भर था, दे दी । राजस्थान की वह मां जिसने अपने तीनों बेटे फौज में भरती करवा दिए और साथ ही ४० तोले सोना ५० तोले चांदी भी दान में दे दी । कालिजों तथा स्कूलों की लड़कियों का देश सेवा में बढ़ चढ़ कर भाग लेना, अपना बहुमूल्य रक्त जवानों की जानें बचाने निमित्त बिना किसी पारिश्रमिक के देना इस बात का साक्षी है कि स्त्रियों ने हर समय और

हर कठिनाई में देश सेवा से कभी मुंह नहीं मोड़ा अपितु यथाशक्ति योग प्रदान किया है और करती रहेंगी ।

यद्यपि भारतीय नारी ने वर्तमान स्थिति में भी पूरा पूरा सहयोग दिया है तथापि बहुत से कार्य ऐसे हैं जो अभी करने शेष हैं। इनकी पूर्ति के लिये उन्हें अपने आपको पूर्ण तौर पर तैयार करना होगा । वह कार्य हैं :—

प्राथमिक सहायता या चिकित्सा, गृह परिचर्या और युद्ध क्षेत्र में लड़ रहे जवानों के लिये ऊनी कपड़े बुनना इत्यादि। ये सेवाएं ऐसी हैं जो घर पर रह कर भी की जा सकती हैं । आवश्यकता केवल उत्साह और उमंग की है । इन कार्यों के अतिरिक्त इन्हें राइफल ट्रेनिंग में भी बढ़ चढ़ कर भाग लेना चाहिए, क्योंकि ईश्वर न करे, यदि युद्ध न रुका तो उन्हें होम गार्डस (Home Guards) के कर्त्तव्य का भी पालन करना पड़ेगा और देश को आन्तरिक गड़बड़ से बचाना होगा । गाड़ियां चलाने की शिक्षा भी इतनी ही आवश्यक है जितनी और शिक्षाएं, जैसा कि भारतीय सरकार का विचार है कि यह कार्य भी युद्ध के दिनों स्त्रियों द्वारा ही किया जायेगा और यह तभी संभव हो सकता है यदि वे पूर्णतया प्रशिक्षित होंगी । कारखानों और खेतों में काम करने वाली नारियां भी अपनी अपनी जगह पर रह कर अपना योग प्रदान कर सकती हैं अर्थात् अधिक परिश्रम करके तथा अधिक समय कार्य करके अधिक पैदावार उत्पन्न करके देश को निर्यात के बोझ से बचा सकती हैं जिससे देश वासियों और फौजी जवानों की आवश्यकताएं पूरी हो सकेंगी । देश में खाद्य पदार्थ और अन्य आवश्यक वस्तुएं पर्याप्त मात्रा में होने से देश दूसरे देशों के आगे हाथ फैलाने से बच जायेगा । देश जितना आत्म-निर्भर होगा उतना ही शक्तिशाली होगा । आशा है कि वर्तमान स्थिति को सम्भालने और उस पर नियन्त्रण रखने में भारतीय नारी अपना पूर्ण सहयोग देगी ।

● ● ●



महादेवी वर्मा और मिर्ज़ा ग़ालिब* के दुःखवाद का तुलनात्मक विश्लेषण

पी० एल० भोला

यद्यपि यह सत्य है कि महादेवी वर्मा और असद अल्ला खां ग़ालिब के मध्य लगभग एक सौ वर्षों की अनन्त घड़ियां दूरी का महान् मानदण्ड लिए खड़ी हैं, दोनों की धार्मिक विचार-धाराएं एवं परम्पराएं भिन्न थीं, दोनों की भाषा भिन्न थी और फलस्वरूप उन दोनों के काव्य-विषय में महान् अन्तर विद्यमान होना स्वाभाविक है, किन्तु दोनों में विद्यमान समानताएं दूरी के मानदण्डों को तोड़ कर दोनों को निकट ला देती हैं।

महादेवी वर्मा और मिर्ज़ा ग़ालिब के काव्य में करुणा का अपार सागर लहरें मारता है। दुःख और रोदन से ही प्रस्फुटित होकर उनकी कविताएं चलती हैं। कविवर पंत की ये पंक्तियां :—

वियोगी होगा पहला कवि,
आह से उपजा होगा गान।
उमड़ कर आंखों से चुपचाप,
बही होगी कविता अनजान।

महादेवी और मिर्ज़ा ग़ालिब के विषय में पूर्ण रूप से चरितार्थ हो जाती हैं।

*— आप का जन्म १७९२ ई० में हुआ। आप अभी पांच वर्ष के ही थे कि पिता का देहान्त हो गया। १३ वर्ष की आयु में आपका विवाह हो गया। आपके सात बच्चे हुए परन्तु एक भी जीवित न रहा। एक बच्चे को गोद लिया वह भी चल बसा। इनकी सारी आयु निर्धनता एवं कठिनाइयों में बीती। रोगों ने शरीर को खोखला कर दिया। अन्त में १८६५ ई० में ७३ वर्ष की आयु में चल बसे। निम्न लिखित शयर में उन के जीवन की निजी कठिनाइयां, निराशाएं एवं पीड़ाएं परिलक्षित होती हैं:—

सारी उमर जो इस तौर से गुज़री ग़ालिब,
हम भी क्या याद करेंगे कि खुदा रखते थे।

दोनों में संसार के प्रति उदासीनता का भाव स्पष्ट रूप से व्यक्त होता है। जहां मिर्जा ग़ालिब कहते हैं :—

दिले नादां तुझे हुआ क्या है ?
आखिर इस मर्ज की दवा क्या है ?

वहां महादेवी वर्मा 'बुझ जाए दीपक मेरा " और "पीड़ा का राज्य अन्धेरा" की बात करती हैं।

सूनापन दोनों के दुःखवाद की आधारशिला है। दोनों अपने सूनेपन से सन्तुष्ट ही नहीं बल्कि इस पर गर्व भी करते हैं देखिए, मिर्जा ग़ालिब किस प्रकार वीराने को घर से बेहतर समझते हैं :—

नुक्सां नहीं जनूं में बला से हो घर ख़राब,
सौ गज़ ज़मीं के बदले बियाबां गरां नहीं।

(इस शेयर में दलील से यह सिद्ध किया है कि घर उजड़ता है तो उजड़े, वीराने में जाना फायदेमन्द है। कहां तो सौ गज तक सीमित घर और कहां कोसों लम्बा चौड़ा वीराना)।

इधर महादेवी वर्मा के सूनेपन की अद्भुत होड़ देखिए जो प्रियतम की करुणा के अभिमान को भी तोड़ सकती है :—

उस से कैसे छोटा है,
मेरा यह भिक्षुक जीवन।
उन में अनन्त करूणा है
इस में असीम सूनापन।

दोनों ने साधना-पथ का सम्बल प्रेम को ही माना है। प्रेम दोनों के लिये जीवन है और प्रेम से उत्पन्न होने वाली पीड़ा दोनों के लिये केवल प्रिय ही नहीं बल्कि जीवन-दायिनी भी है। मिर्जा गालिब कहते हैं :—

इश्क से तबीयत ने ज़ीस्त का मज़ा पाया,
हर दर्द की दवा पाई, दर्द लादवा पाया।

(इश्क=प्रेम, ज़ीस्त=ज़िन्दगी, लादवा=जिसकी कोई दवा न हो। प्रेम में जीवन का आनन्द मिला है। यह हर दर्द की दवा है, परन्तु इससे जो दर्द मिलता है उसकी कोई दवा नहीं)।

इसी प्रकार महादेवी वर्मा कहती हैं :—

तुम को पीड़ा में ढूंढा
तुम में ढूंढूगी पीड़ा।

दोनों ने प्रेम-पीड़ा को जीवन की समस्त कटुताओं की औषधि माना है। दोनों ने पीड़ा को सराहा है और अपनाया है। जहां मिर्जा ग़ालिब ने—

दर्द का हद से गुजरना,
है दवा हो जाना।

अथवा

रंज से खूगर हो इनसां तो मिट जाता है रंज,
मुश्किलें मुझ पर पड़ीं इतनी कि आसां हो गईं।

(जब दुःख एवं पीड़ा सहने का किसी का स्वभाव बन जाता है तो फिर दुःख

दुःख नहीं रहता, पीड़ा पीड़ा नहीं रहती। कवि कहता है कि अब मुझे कठिनाइयां सहने की आदत पड़ गई हैं। (इस लिये मेरे लए कठिनाइयां आसान हो गई हैं।)

कहा है वहां महादेवी वर्मा ने कहा है :—

"दुःख मेरे निकट जीवन का ऐसा काव्य है जो सारे संसार को एकसूत्र में बांधे रखता है। हमारे असंख्य सुख चाहे हमें मनुष्यता की पहली सीढ़ी पर भी न पहुंचा सकें, किन्तु हमारा एक बूंद आंसू भी जीवन को मधुरता दिये बिना नहीं गिर सकता।" दुःख अथवा पीड़ा की इसी महत्ता के कारण उन्हे "पीड़ा का साम्राज्य" पा लेने पर और "नीर भरी दुःख की बदली" होने पर गर्व है।

दोनों पीड़ा के पुजारी हैं, पीड़ा बन्धन से मिलती है, इसलिये दोनों मुक्ति को त्याग कर सहर्ष बन्धन स्वीकार करते हैं अथवा मुक्ति को भी बन्धन के रूप में देखना चाहते हैं।

महादेवी वर्मा कहती हैं :—

"आज वर दो मुक्ति आवे,
बन्धनों की कामना ले।

और देखिए :—

जीवन के शत बन्धन मेरे हों,
झरते नित लोचन मेरे हों।

बन्धन-प्रियता की ऐसी ही भावना मिर्ज़ा ग़ालिब के यहां देखिए। वे कहते हैं कि सौ बार प्रेम-बन्धन से मुक्त होने के यत्न किये परन्तु क्या करें हृदय ही मुक्ति का शत्रु और सदा बन्धन में प्रसन्न है :—

सौ बार बन्दे इश्क से आज़ाद हम हुए,
पर क्या करें यह दिल ही अदू है फ़राग़ का

(फारग=बेफिकी, सुख अदू=दुश्मन)

कवि कहता है कि प्यार को हमने सौ बार छोड़ा किन्तु क्या करें दिल ही बेफिक्री या सुख का दुश्मन है फिर इसी जंजाल में फंस जाता है)।

विरह में पीड़ा है, मिलन में सुख है, इसलिये दोनों मिलन की अपेक्षा विरह को श्रेष्ठ समझते हैं। महादेवी वर्मा कहती हैं :—

काटूं वियोग पल रोते,
संयोग समय छिप जाऊं।

अथवा —

मिलन का मत नाम लें,
मैं विरह चिर हूं।

मिर्ज़ा ग़ालिब भी मिलन की लालसा रखते हुए भी इसकी उपेक्षा करते हैं चाहे कारण और बताते हैं :—

हम रश्क को अपने भी गवारा नहीं करते,
मरते हैं मगर उन की तमन्ना नहीं करते।

दोनों अपनी पीड़ा को स्थायी बनाने में प्रयत्नशील हैं। महादेवी वर्मा अपने प्रियतम की निष्ठुरता पर सन्तुष्ट हैं

क्योंकि इससे उनकी अपनी पीड़ा बनी रहती है :—

अच्छी है उनकी निष्ठुरता,
अमर रहे अपनी पीड़ा।

इधर मिर्ज़ा गालिब भी अपने दर्द के लिये दवा का मुहताज नहीं बनना चाहते और प्रेम-रोगी रहने में ही सन्तुष्ट हैं। देखिए किस भावुकता से कहते हैं :—

दर्द मिन्नत कशे दवा न हुआ,
मैं न अच्छा हुआ बुरा न हुआ।

(मिन्नत कश—एहसान उठाने वाला। किसी का एहसान उठाना भी मुसीबत है। दवा का मेरे दुःख पर कोई प्रभाव न पड़ा। इस से मुझे लाभ हुआ क्योंकि दुःख को दवा का एहसान नहीं उठाना पड़ा। यदि मैं स्वस्थ नहीं हुआ तो कोई हर्ज नहीं)

दुःख में अश्रु ही मनुष्य के साथी होते हैं। इस विषय पर दोनों ने प्रर्याप्त लिखा है। देखिए दोनों की अनुभूति मे कितना सामीप्य है। जहां महादेवी वर्मा ने यह लालसा की है कि अश्रु इनके नेत्रों में सदा उमड़े रहे, वहां मिर्ज़ा गालिब खून के आंसू बहाने के इच्छुक हैं। महादेवी वर्मा बारम्बार अश्रुओं की बात करती हैं :—

ये अश्रु इन दृगों में
करते रहें सदा क्रीड़ा।

अथवा

अश्रु-कण से उर सजाया,
त्याग हीरक हार।

और देखिए :—

ढलते लघु आंसू कण अपने में,

अथवा

झरते नित लोचन मेरे हों।

अब मिर्ज़ा गालिब को सुनिए वह मृत्यु से भी हठ कर रहे हैं कि मुझे अभी न ले चल, अभी मैंने खून के आंसू रोना है :—

खूं हो के जिगर आंख से टपका नहीं ऐ मर्ग
रहने दे मुझे यां कि अभी काम बहुत हैं।

फिर कहते हैं :—

जूए खूं आंखों से बहने दो,
कि है शामे फ़िराक।

(खून की नदी बहती है तो बहने दें क्योंकि विरह की शाम है।) और देखिए वह अश्रुओं को ही दिल और जिगर का सहारा मानते हैं :—

फिर मुझे दीदाए तर याद आया,
दिल जिगर तिशनाए फरयाद आया।

(दीदाए तर--अश्रु पूर्ण आंखें

तिशनाए फरयाद —फरयाद का प्यासा। दिल और जिगर को फरयाद के प्यासे देख कर मुझे अपनी अश्रु पूर्ण आंखे याद आ गई है क्योंकि इन्हीं से यह प्यास बुझ सकेगी। अर्थात् मैं इस लिए रोया कि दिल और जिगर कुछ हलके हो जाएं।)

बल्कि मिर्ज़ा ग़ालिब तो यहां तक समझते हैं कि रोने से मनुष्य को एक विशेष पवित्रता मिलती है :-

रोने से और इश्क में बेबाक हो गए,
धोए गए हम ऐसे कि बस पाक हो गए।

(जब आंसू फूट पड़े तो प्रेम-पीड़ा को छुपाने का विचार जाता रहा और मानों इन अश्रुओं से हम पवित्र हो गए।)

प्रेम में दोनों के हृदय जल चुके हैं। देखिए इस आग का कितना हृदय-स्पर्शी वर्णन है। महादेवी वर्मा को सुनिए :--

मधुर मधुर मेरे दीपक जल,
युग-युग प्रति दिन प्रति क्षण प्रति पल।

यहां दीपक कवियित्री के व्यक्तित्व का प्रतीक है। अपने सुकुमार कोमल शरीर को अपने जीवन के प्रत्येक अणु को वह दीपक की भांति जलाती है।

अब देखिए --मिर्ज़ा ग़ालिब कहां तक इश्क की आग में जल चुके हैं :--

दिल में ज़ौके वसल व यादे यार तक बाकी नहीं,
आग इस घर में लगी ऐसी कि जो था जल गया।

(ज़ौके वसल--मिलन--चाह
यादें-यार--प्रिय की याद

(दिल की बरबादी का वर्नन है। दिल इतना बरबाद हो गया है कि इसमें न मिलन-चाह बाकी रह गई है न प्रिय की याद। दिल में ऐसी आग लगी कि ये न मरने वाली चीज़ें भी आग ने फूंक दी हैं।)

और देखिए :--

दिल मेरा सोज़े निहां से बेमहाबा जल गया,
आतिशे खामोश की मानिन्द गोया जल गया

(आतिश-खामोश--दबी हुई आग
भाव-इस छुपी हुई आग ने मेरा सब कुछ जला दिया है।) अवश्य ही निजी दुःखों का प्रभाव काव्य पर पड़ता है। महादेवी वर्मा और मिर्ज़ा ग़ाविल दोनों को निजी दुःख का कटु अनुभव था। मिर्ज़ा ग़ालिब ने अपनी आयु बड़े दुःखों और कठिनाइयों में बिताई। वह अपने एक मित्र को पत्र लिखते हैं, "अगर मेरी औकात शवा रोज़ी और मेरे हालात आप देखें तो तुअज्जब करेंगे कि यह शख्स जीता क्यों कर है।" इसी प्रकार महादेवी वर्मा भी "निरन्तर एक स्पन्दित मृत्यु की छाया में चलते हुए अस्वस्थ शरीर और व्यस्त जीवन" से पीड़ित रही हैं जिसमें 'जीवन के अभाव एवं जग-जीवन की विषमता' सदा इन्हें खलती रही है। परन्तु व्यक्तिगत विषमताजन्य दुःख का काव्य में उदात्तीकरण (Sublimation) हो जाता है और यही वेदना, संवेदना अथवा करुणा का रूप धारण कर लेता है।

अन्त में हम यह कह सकते हैं कि महादेवी वर्मा की अनुभूति मिर्ज़ा ग़ालिब के समान ही गहन है, अनन्त है, सत्य है एवं अपनी स्वयं की व्यक्तिगत है और इसमें उतना ही माधुर्य एवं संगीत का समावेश है जितना कि करुण भावना या वेदना की टीस का। ○○

भाषा विभाग, पंजाब, पटियाला

के 'तकनीकी' अमले द्वारा किए गए कार्य की ३१–३–१९६५ को समाप्त होने वाली तिमाही के लिए प्रगति–रिपोर्ट

१–अनुवाद (पंजाबी)

राज्य के विभिन्न विभागों से प्राप्त अधिनियमों, संहिताओं, नियमों आदि के २८८५ मानक-पृष्ठों और ४८ फार्मों का पंजाबी में अनुवाद किया गया।

२–विकास (पंजाबी)

(क) साहित्यिक–प्रतियोगिताएं

रिपोर्टाधीन तिमाही के दौरान पटियाला में राज्य स्तर पर साहित्यिक प्रतियोगिताओं का आयोजन किया गया। ज़िला, मण्डल और राज्य स्तर के विजेताओं को प्रमाण पत्र दिए गए।

(ख) लेखक–गोष्ठी

पटियाला, चण्डीगढ़ और लुधियाना में क्रमशः तीन लेखक गोष्ठियां आयोजित की गई जिन में प्रो० प्रेम प्रकाश सिंह, अध्यक्ष, पंजाबी विभाग, पंजाबी, विश्व विद्यालय, डा० सुरेन्द्र सिंह कोहली, अध्यक्ष, पंजाबी विभाग, पंजाब विश्व-विद्यालय और प्रो० गुलवन्त सिंह, राजकीय महा-विद्यालय, (गवर्नमैंट कालेज) लुधियाना द्वारा विशेष रूप से लिखवाए गए क्रमशः तीन शोध-पत्र 'पंजाबी हिज्जों का मानकीकरण,' "गुरुमत साहित" और "सूफी साहित" पढ़े गये और उन पर विचार विमर्श हुआ।

(ग) योग्यता छात्र–वृत्तियां

सम्बद्ध-विद्यार्थियों को तिमाही के लिये मिडल, मैट्रिक और प्री-यूनिवर्सिटी (पूर्व विश्वविद्यालय) छात्र वृत्तियां दी गई।

(घ) पत्रिकाएं

"जन–साहित्य" और "पंजाबी–दुनिया" के नियमित रूप से तीन-तीन अंक प्रकाशित किए गए और ग्राहकों और एजन्टों को भेजे गए। दोनों पत्रिकाओं के अगले अंक के लिये डम्मियां तैयार की गई और छपने के लिये प्रेस को भेजी गई।

(ङ) कवि–दरबार

साहित्यक प्रतियोगिताओं के इलावा लोगों का उत्साह (Moral) बढ़ाने के लिये राष्ट्रीय कवि-दरबारों का आयोजन किया गया।

(च) **लेखक-निधि**

पंजाब-राज्य-लेखक कलाकार-निधि विकट परिस्थितियों वाले १६ लखकों कलाकारों को वित्तीय सहायता दी गई ।

(छ) **सर्वोत्तम प्रकाशित-साहित्य पर पुरस्कार ।**

लोक-साहित्य प्रकाशन, अमृतसर को उसकी पुस्तक "बिरहा तू सुलतान" पर, जो कि वर्ष की सर्वोत्तम प्रकाशित पुस्तक (सामान्य-साहित्य) के रूप में मानी गई, १,००० रुपये का पुरस्कार दिया गया ।

(ज) **भाषा-विज्ञान का प्रशिक्षण**

भाषा-विज्ञान-भाषण-माला के अंतर्गत 'हरियाणवी अतें पंजाबी' और 'पंजाबी पर फारसी का प्रभाव' विषयक दो भाषण आयोजित किए गए, जोकि क्रमशः डा० जगदेव सिंह, रीडर, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, और प्रो० दीवान सिंह, अमृतसर द्वारा दिए गए ।

३-विश्व-कोष

पंजाबी-विश्वकोष के संकलन के सम्बन्ध में रिपोर्टाधीन तिमाही में निम्नलिखित प्रगति हुई --

अनूदित पृष्ठों की संख्या	९३
मिलान किये गए पृष्ठों की संख्या	६३५
अन्तिम रूप दिये गए पृष्ठों की संख्या	३१६१
ऐसे पृष्ठों की संख्या, जिनके आंकड़े, वर्ण विन्यास और प्रसंगों को अन्तिम रूप दिया गया--	७३१
ऐसे पृष्ठों की संख्या जिनमें टाइप की शुद्धियां लगाई गई--	२१०४
टाइप किए गए पृष्ठों की संख्या	८३२

४-कोष रचना

पंजाबी कोष की १२९०२ शब्द-पर्चियां तैयार की गई। इसी प्रकार उर्दू-पंजाबी-हिन्दी कोष के ३,२३० शब्दों को अन्तिम रूप दिया गया ।

५-आधुनिक भारतीय-भाषाएं

"भारतीय-स्वतंत्रता-आन्दोलन दा इतिहास", "भारत विच किरसानी-जीवन" और "उर्दू-पंजाबी-हिन्दी कोष" के १६४० पृष्ठों के प्रूफ पढ़े गये और उन्हें अन्तिम रूप दिया गया । इसी प्रकार "अवचली जोत" "इबन बतूता" "रेसुर्रेक्शन" और "बोस्टान" की प्रेस प्रतियों के १२६३ पृष्ठों का मिलान किया गया । इसके इलावा "चंठियां दी वार" के ८३ पृष्ठों का उर्दू लिपि से गुरमुखी में लिप्यन्तरण (Transliteration) किया गया । "अली हैदर दी कवि रचना", "साडी सायरी" और "धनीराम चात्रिक रचनावली" के छपने के लिये प्रतियां तैयार की गई ।

६-साहित्यकार और राज्य कवियों को सम्मानित करना ।

वार्षिक साहित्य समारोह के अवसर पर प्रो० सन्त सिंह सेखों को पंजाबी

साहित्यकार के रूप में सम्मानित किया गया और उन्हें आदरी-वस्त्र और ११०० रुपये की थैली भेंट की गई । श्रीमती प्रभजोत कौर वर्तमान राज्य कवि, और श्री इन्द्र जीत सिंह, 'तुलसी' भूतपूर्व राज्य-कवि को क्रमशः ६०० रुपये और २५० रुपये की थैली भेंट की गई ।

७–सर्वोत्तम साहित्यिक और वैज्ञानिक पुस्तकों पर पुरस्कार

छः साहित्यिक और वैज्ञानिक-पुस्तकों पर वर्ष की सर्वोत्तम रचनाएं मानी जाने पर ४,४०० रुपये पुरस्कार के रूप में दिए गए ।

(१) अनुवाद (हिन्दी)

रिपोर्टाधीन तिमाही में राज्य के विभिन्न विभागों से प्राप्त २५९८ पृष्ठों और १४४ फार्मों का हिन्दी में अनुवाद किया गया ।

(२) विकास (हिन्दी)

(क) साहित्यिक–प्रतियोगिता

राज्य स्तर की साहित्यिक प्रतियोगिताओं के अन्तर्गत वाद-विवाद, नाटक और कविता प्रतियोगिताओं का पटियाला में आयोजन किया गया ।

(ख) लेखक–गोष्ठी

तीन लेखक गोष्ठियां क्रमशः चण्डीगढ़, जालन्धर और कुरुक्षेत्र में आयोजित की गईं, जिनमें डा० हज़ारी प्रसाद द्विवदी, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, पंजाब विश्व-विद्यालय, डा० संसार चन्द्र और डा० विनय मोहन शर्मा, रीडर कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, द्वारा विशेष रूप से लिखवाए गए तीन शोध-पत्र पढ़े गए और उन पर विचार-विमर्श किया गया ।

(ग) पत्रिकाएं

"सप्त सिन्धु" और "जन साहित्य" के नियमित रूप से तीन–तीन अंक प्रकाशित किए गए । अगले अंकों के लिये डम्मियां तैयार की गईं और मुद्रणार्थ भेज दी गईं ।

(घ) सर्वोत्तम प्रकाशित पुस्तकों पर पुरस्कार ।

मेहर चन्द लक्ष्मण दास द्वारा प्रकाशित "निरुक्तम" नाम की पुस्तक वर्ष की सर्वोत्तम प्रकाशित पुस्तक मानी गई और उस पर ७५० रुपये का पुरस्कार दिया गया ।

(ङ) कवि–सम्मेलन

तिमाही में साहित्यिक प्रतियोगिताओं के इलावा राष्ट्रीय कवि सम्मेलनों का आयोजन भी किया गया ।

(च) लेखक–निधि

८९६० रुपये की राशि ऐसे उन्नीस लेखकों में बांटी गई जोकि विकट परि-स्थितियों में थे ।

(छ) भाषा–विज्ञान का प्रशिक्षण

तिमाही के दौरान पंजाब विश्व-विद्यालय के श्री जगन्नाथ द्वारा "भारतीय लिपियों का उद्गम" और डा० जगदेव सिंह,

112730

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, द्वारा "भाषा योजना और हिन्दी की समस्याएं" दो भाषण दिये गए।

(ज) संस्कृत-पाठशालाओं को सरकारी सहायता

राज्य में संस्कृत की उन्नति के कार्य में लगी हुई १८ पाठशालाओं को ४०,००० रुपये की रकम बांटी गई।

३-कोष-रचना

रिपोर्टाधीन तिमाही में 'संस्कृत-हिन्दी-पंजाबी, कोष के सम्बन्ध में २१७६ नई शब्द-पर्चियां तैयार की गई और १,१५७ शब्द पर्चियों को अन्तिम रूप दिय गया। इसके इलावा पंजाबी-हिन्दी कोष के सम्बन्ध में १३०५ शब्दों को अन्तिम रूप दिया गया और २५१७ इन्द्राजों का गुरमुखी में लिप्यन्तरण किया गया

४-हिन्दी की सर्वोत्तम साहित्यिक और वैज्ञानिक रचनाएं।

वर्ष १९६४-६५ की पुरस्कार-प्रतियोगिता के लिये भेजी गई सर्वोत्तम रचनाओं पर छः लेखकों को ४६०० रुपये के पुरस्कार दिए गए।

५-साहित्यकार और राज्य कवियों को सम्मानित करना।

श्री सत्यदेव विद्यालंकार को वार्षिक साहित्य समारोह के अवसर पर हिन्दी साहित्यकार के रूप में सम्मानित किया गया और उन्हें आदरी-वस्त्र और ११०० रुपये की थैली भेंट की गई। इसके इलावा प्रो० परमानन्द, पंजाब के वर्तमान राज्य कवि और श्री देवराज दिनेश, भूतपूर्व राज्य कवि, को क्रमशः ६०० और २२५ रुपये की थैली भेंट की गई।

१-उर्दू का विकास

(क) उर्दू के साहित्यकार और राज्य कवियों को सम्मानित करना।

वार्षिक साहित्य समारोह के अवसर पर श्री किरपाल सिंह 'बेदार' को उर्दू साहित्यकार के रूप में सम्मानित किया गया और उन्हें आदरी वस्त्र और ११०० रुपये की थैली भेंट की गई। श्री अर्श मलसियानी, वर्तमान उर्दू राज्य कवि, और श्री मेला राम वफा, भूतपूर्व उर्दू राज्य कवि, को सम्मानित किया गया और उन्हें क्रमशः ६०० रुपये और २२५ रुपये की थैली भेंट की गई।

(ख) मुशायरा और पुस्तक प्रदर्शनी

राज्य-स्तर का एक उर्दू मुशायरा पटियाला में आयोजित किया गया जिसका उद्घाटन राज्यपाल, पंजाब ने किया।

(ग) लेखक-गोष्ठी

अम्बाला में एक लेखक गोष्ठी आयोजित की गई जिसमें प्रो० ए० सी० बहार ने "पंजाब में उर्दू" नामक शोध-पत्र पढ़ा।

(घ) उर्दू की सर्वोत्तम साहित्यिक पुस्तकों पर पुरस्कार ।

श्री ब्रह्म नाथ दत्त द्वारा लिखित "मेरा भाई" नाम की और श्री नरेश कुमार 'शाद' द्वारा लिखित 'मुतालये' नामक दो पुस्तकों में से प्रत्येक को वर्ष की उर्दू की सर्वोत्तम साहित्यिक पुस्तकें मानी जाने पर एक एक हज़ार रुपये के पुरस्कार दिये गए ।

१—प्रादेशिक भाषाओं का प्रचालन

सभी ज़िला मुख्यालयों पर नियुक्त ज़िला भाषा अधिकारी, ज़िला या उससे नीचे के स्तर पर स्थित कार्यालयों को मौके पर सहायता देते रहे । राज्य में ३२ केन्द्रों पर सरकारी कर्मचारियों को पंजाबी/ हिन्दी आशु-लेखन/टाइप का प्रशिक्षण दिया जाता रहा ।

२—वैज्ञानिक—शब्दावली

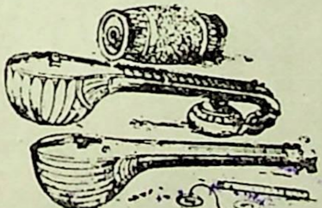
रिपोर्टाधीन अवधि में वैज्ञानिक विषयों से सम्बद्ध १५०८ शब्द और मानव-शास्त्र (Humanitics) से सम्बद्ध १२८४ शब्द बनाये गए, अपनाए गए या अनुकूलित किए गए ।

पुस्तकालय और अनुसन्धान

पंडित हरदयाल की "सारक्तावली" नामक हिन्दी पुस्तक के १०३ पृष्ठों की टीका की गई और इसकी भूमिका के २० पृष्ठ तैयार किये गए । सुखदेव द्वारा लिखित "अध्यात्म प्रकाश" के ९२ पृष्ठों का सम्पादन किया गया और गुरुमुखी लिपि से देवनागरी में लिप्यन्तरण किया गया जबकि "महिमा-प्रकाश" के २०३ पृष्ठों का सम्पादन और प्रतिलेखन किया गया । इसके इलावा १९३ दुर्लभ पुस्तकों और हस्तलेखों का पुस्तकालय के लिये मूल्यांकन किया गया ।

सन्दर्भ-पुस्तकालय में अनुसन्धान कर्त्ताओं और विद्यार्थियों को पुस्तकालय में अनुसन्धान कार्य करने की सुविधा मिलती रही ।

● ● ●



बिहार, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, राजस्थान, मैसूर, दिल्ली और पंजाब राज्य सरकारों के शिक्षा-विभाग से स्वीकृत। विद्यार्थियों और किशोरों के उपयुक्त उत्कृष्ट पठन-सामग्री देने वाला हिन्दी में अपने ढंग का एकमात्र मासिक पत्र

किशोर

सम्पादक--देव कुमार मिश्र सहकारी--जयनारायण पांडेय

- वैज्ञानिकों के अनुसन्धान-सम्बन्धी, साहसिकों के रोमांचक वर्णन एवं चरित्र-निर्माण की सामग्री से परिपूर्ण।
- भारत की संस्कृति, देश-विदेश की घटनाओं का सिंहावलोकन एवं ऐतिहासिक, भौगोलिक और विविध ज्ञानवर्द्धक सामग्री से मण्डित।
- मनोरञ्जक, उपदेशपूर्ण और साहसिक कहानियों, प्रेरक कविताओं, यात्रा-विषयक रचनाओं तथा सजीव प्रकृति-वर्णन से संपन्न।

किशोर का प्रकाशन सन् १९३८ ई० से हो रहा है।

'किशोर' एक वृहद् विशेषांक-समेत, प्रायः ५०० पृष्ठों का सचित्र, मनोरंजक, प्रेरक और ज्ञानवर्द्धक साहित्य प्रत्येक साल अपने पाठकों को देता है।

किशोर के विशेषांक--स्वाधीनता-अंक, उपकथांक, रवींद्र अंक, कालिदासांक, विक्रमांक, गाँधी-अंक, एवरष्ट-अंक, हास्यकथांक, खेल-कूद-अंक, 'नेहरू-अंक, आदि हिन्दी के किशोर-साहित्य में आदरयुक्त स्थान पा चुके हैं।

वार्षिक मूल्य ४.५०   साधारण अंक ४० पैसे

किशोर बाल शिक्षा समिति, पटना--४

भूमिरेतौ निगिरति
सर्पो बिलेशयानिव ।
राजानं चाविरोद्धारं
ब्राह्मणं चाप्रवासिनम् ॥

महाभारत अनु. पर्व अध्याय ३६ श्लोक १६

महाभारत के उपर्युक्त श्लोक का तात्पर्य यह है कि आवश्यकता पड़ने पर राजा या शासक को अपने प्रदेश तथा प्रजा की रक्षा के लिए अस्त्रों का प्रयोग अवश्य करना चाहिए क्योंकि जिस प्रकार बिल में रहने वाले जन्तुओं को सांप निगल जाता है, उसी प्रकार जो राजा युद्ध नहीं करता और जो ब्राह्मण यात्रा नहीं करता उन्हें भूमि निगल जाती है ।

Sapt Sindhu, October 1965 R. No. P. 318



हम सिद्धान्तों के लिए लड़ रहे हैं, भूमि के लिए नहीं–हम एक सैनिक तानाशाही का मुकाबला कर रहे हैं। प्रजातंत्र के हित की दृष्टि मे हमारी विजय आवश्यक है अन्यथा एशिया से स्वतंत्रता और लोकतंत्र का दीपक बुझ जायेगा।

–राष्ट्रपति राधा कृष्णन

श्री लाल सिंह, डायरैक्टर जनरल, भाषा विभाग, पंजाब, पटियाला द्वारा प्रिंटिंग एण्ड स्टेशनरी डिपार्टमैंट, पंजाब, पटियाला से छपवाकर प्रकाशित किया गया।

सम्पादक––डा० परमानन्